“अहो श्रुतज्ञानम्” ग्रंथ जीर्णोद्धार ५५

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्
स्वोपज्ञशब्दमहार्णवन्यास (बृहन्न्यास अध्याय-६)

: द्रव्य सहायक :

प.पू.तपा.गच्छाधिपति आ.भ.श्री रामसूरीश्वरजी म.सा.(डहेलावाळा)ना समुदायना प.पू. गच्छाधिपति आ.भ.श्री अभयदेवसूरीश्वरजी म.सा.ना आज्ञानुवर्तिनी पूज्य साध्वीजी श्री सूर्यप्रभाश्रीजी म.सा. तथा पूज्य साध्वीजी श्री रत्नप्रभाश्रीजी म.सा.ना शिष्या पूज्य साध्वीजी श्री अक्षयरत्नाश्रीजी म.सा.ना सदुपदेशथी श्री परमानंद जैन संघ, डिकेबीन, साबरमती श्राविकाओना उपाश्रयना ज्ञानखाताની उपजमांथी

: संयोजक :

शाह बाबुलाल सरेमल बेडावाळा
श्री आशापूरणपार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार
शा. विमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदावाद-३८०००५
(मो.) ९४२६५८५९०४ (ओ.) २२१३२५४३ (रहे.) २७५०५७२०

संवत २०६६ ई.स. २०१०

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com
शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६५ (ई. 2009) सेट नं.-१

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

क्रमांक	પુસ્તકનું નામ	કર્ત્તા-ટીકાકાર-સંપાદક	પૃષ્ઠ
001	श्री नंदीसूत्र अवचूरी	पू. विक्रमसूरिजी म.सा.	238
002	श्री उत्तराध्ययन सूत्र चूर्णी	पू. जिनदासगणि चूर्णीकार	286
003	श्री अर्हद्गीता-भगवद्गीता	पू. मेघविजयजी गणि म.सा.	84
004	श्री अर्हच्चूडामणि सारसटीकः	पू. भद्रबाहुस्वामी म.सा.	18
005	श्री यूक्ति प्रकाशसूत्रं	पू. पद्मसागरजी गणि म.सा.	48
006	श्री मानतुङ्गशास्त्रम्	पू. मानतुंगविजयजी म.सा.	54
007	अपराजितपृच्छा	श्री बी. भट्टाचार्य	810
008	शिल्प स्मृति वास्तु विद्यायाम्	श्री नंदलाल चुनिलाल सोमपुरा	850
009	शिल्परत्नम् भाग-१	श्रीकुमार के. सभात्सव शास्त्री	322
010	शिल्परत्नम् भाग-२	श्रीकुमार के. सभात्सव शास्त्री	280
011	प्रासादतिलक	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	162
012	काश्यशिल्पम्	श्री विनायक गणेश आपटे	302
013	प्रासादमञ्जरी	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	156
014	राजवल्लभ याने शिल्पशास्त्र	श्री नारायण भारती गोंसाई	352
015	शिल्पदीपक	श्री गंगाधरजी प्रणीत	120
016	वास्तुसार	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	88
017	दीपार्णव उत्तरार्ध	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	110
018	જિનપ્રાસાદ માર્તણ્ડ	શ્રી નંદલાલ ચુનીલાલ સોમપુરા	498
019	जैन ग्रंथावली	श्री जैन श्वेताम्बर कोन्फ्रन्स	502
020	હીરકલશ જૈન જ્યોતિષ	શ્રી હિમ્મતરામ મહાશંકર જાની	454
021	न्यायप्रवेशः भाग-१	श्री आनंदशंकर बी. ध्रुव	226
022	दीपार्णव पूर्वार्ध	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	640
023	अनेकान्त जयपताकाख्यं भाग-१	पू. मुनिचंद्रसूरिजी म.सा.	452
024	अनेकान्त जयपताकाख्यं भाग-२	श्री एच. आर. कापडीआ	500
025	प्राकृत व्याकरण भाषांतर सह	श्री बेचरदास जीवराज दोशी	454
026	तत्त्पोपप्लवसिंहः	श्री जयराशी भट्ट, बी. भट्टाचार्य	188
027	शक्तिवादादर्शः	श्री सुदर्शनाचार्य शास्त्री	214
028	क्षीरार्णव	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	414
029	वेधवास्तु प्रभाकर	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	192

030	**शिल्परत्नाकर**	**श्री नर्मदाशंकर शास्त्री**	**824**
031	**प्रासाद मंडन**	**पं. भगवानदास जैन**	**288**
032	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-१**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**520**
033	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-२**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**578**
034	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-३ (१)**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**278**
035	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-3 (२) (३)**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**252**
036	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-५**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**324**
037	વાસ્તુનિધંટુ	પ્રભાશંકર ઓધડભાઈ સોમપુરા	302
038	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૧	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	196
039	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૨	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	190
040	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૩	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	202
041	સપ્તસન્ધાન મહાકાવ્યમ્	પૂ. વિજયઅમૃતસૂરિશ્વરજી	480
042	સપ્તભઙ્ગીમિમાંસા	પૂ. પં. શિવાનન્દવિજયજી	228
043	ન્યાયાવતાર	સતિષચંદ્ર વિદ્યાભૂષણ	60
044	વ્યુત્પત્તિવાદ ગુઢાર્થતત્ત્વાલોક	શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ (બચ્છા ઝા)	218
045	સામાન્યનિર્યુક્તિ ગુઢાર્થતત્ત્વાલોક	શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ (બચ્છા ઝા)	190
046	સપ્તભઙ્ગીનયપ્રદીપ બાલબોધિનીવિવૃત્તિઃ	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	138
047	વ્યુત્પત્તિવાદ શાસ્ત્રાર્થકલા ટીકા	શ્રીવેણીમાધવ શાસ્ત્રી	296
048	નયોપદેશ ભાગ-૧ તરઙ્ગિણીતરણી	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	210
049	નયોપદેશ ભાગ-૨ તરઙ્ગિણીતરણી	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	274
050	ન્યાયસમુચ્ચય	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	286
051	સ્યાદ્યાર્થપ્રકાશઃ	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	216
052	દિન શુદ્ધિ પ્રકરણ	પૂ. દર્શનવિજયજી	532
053	બૃહદ્ ધારણા યંત્ર	પૂ. દર્શનવિજયજી	113
054	જ્યોતિર્મહોદય	સં. પૂ. અક્ષયવિજયજી	112

શ્રી આશાપૂરણ પાર્શ્વનાથ જૈન જ્ઞાનભંડાર

સંયોજક – બાબુલાલ સરેમલ શાહ

શાહ વીમળાબેન સરેમલ જવેરચંદજી બેડાવાળા ભવન

હીરાજૈન સોસાયટી, રામનગર, સાબરમતી, અમદાવાદ-૦૫.

(મો.) ૯૪૨૬૫૮૫૯૦૪ (ઓ) ૨૨૧૩૨૫૪૩ (ઇ-મેલ) ahoshrut.bs@gmail.com

અહો શ્રુતજ્ઞાનમ્ ગ્રંથ જીર્ણોદ્ધાર – સંવત ૨૦૬૬ (ઈ. ૨૦૧૦) – સેટ નં-૨

પ્રાયઃ જીર્ણ અપ્રાપ્ય પુસ્તકોને સ્કેન કરાવીને ડી.વી.ડી. બનાવી તેની યાદી.

આ પુસ્તકો www.ahoshrut.org વેબસાઇટ પરથી પણ ડાઉનલોડ કરી શકાશે.

ક્રમ	પુસ્તકનું નામ	ભાષા	કર્ત્તા-ટીકાકાર-સંપાદક	પૃષ્ઠ
055	**શ્રી સિદ્ધહેમ બૃહદ્‌વૃત્તિ બૃહદ્‌ન્યાસ અધ્યાય-૬**	સં	**પૂ. લાવણ્યસૂરિજી મ.સા.**	296
056	**વિવિધ તીર્થ કલ્પ**	સં	**પૂ. જિનવિજયજી મ.સા.**	160
057	ભારતીય જૈન શ્રમણ સંસ્કૃતિ અને લેખનકળા	ગુજ.	**પૂ. પૂણ્યવિજયજી મ.સા.**	164
058	**સિદ્ધાન્તલક્ષણગૂઢાર્થ તત્ત્વલોકઃ**	સં	**શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ**	202
059	**વ્યાપ્તિ પઞ્ચક વિવૃત્તિ ટીકા**	સં	**શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ**	48
060	જૈન સંગીત રાગમાળા	ગુ.	**શ્રી માંગરોળ જૈન સંગીત મંડળી**	306
061	**ચતુર્વિંશતીપ્રબન્ધ (પ્રબંધ કોશ)**	સં	**શ્રી રસિકલાલ એચ. કાપડીઆ**	322
062	**વ્યુત્પત્તિવાદ આદર્શ વ્યાખ્યયા સંપૂર્ણ ૬ અધ્યાય**	સં	**શ્રી સુદર્શનાચાર્ય**	668
063	**ચન્દ્રપ્રભા હેમકૌમુદી**	સં	**પૂ. મેઘવિજયજી ગણિ**	516
064	**વિવેક વિલાસ**	સં/ગુ.	**શ્રી દામોદર ગોવિંદાચાર્ય**	268
065	**પઞ્ચશતી પ્રબોધ પ્રબંધ**	સં	**પૂ. મૃગેન્દ્રવિજયજી મ.સા.**	456
066	**સન્મતિતત્ત્વસોપાનમ્**	સં	**પૂ. લબ્ધિસૂરિજી મ.સા.**	420
067	ઉપદેશમાલા દોઘટ્ટી ટીકા ગુર્જરાનુવાદ	ગુજ.	**પૂ. હેમસાગરસૂરિજી મ.સા.**	638
068	**મોહરાજાપરાજયમ્**	સં	**પૂ. ચતુરવિજયજી મ.સા.**	192
069	**ક્રિયાકોશ**	સં/હિં	**શ્રી મોહનલાલ બાંઠિયા**	428
070	**કાલિકાચાર્યકથાસંગ્રહ**	સં/ગુ.	**શ્રી અંબાલાલ પ્રેમચંદ**	406
071	**સામાન્યનિરુક્તિ ચંદ્રકલા કલાવિલાસ ટીકા**	સં.	**શ્રી વામાચરણ ભટ્ટાચાર્ય**	308
072	**જન્મસમુદ્રજાતક**	સં/હિં	**શ્રી ભગવાનદાસ જૈન**	128
073	**મેઘમહોદય વર્ષપ્રબોધ**	સં/હિં	**શ્રી ભગવાનદાસ જૈન**	532
074	જૈન સામુદ્રિકનાં પાંચ ગ્રંથો	ગુજ.	**શ્રી હિમ્મતરામ મહાશંકર જાની**	376

075	જૈન ચિત્ર કલ્પદ્રૂમ ભાગ-૧	ગુજ.	શ્રી સારાભાઈ નવાબ	374
076	જૈન ચિત્ર કલ્પદ્રૂમ ભાગ-૨	ગુજ.	શ્રી સારાભાઈ નવાબ	238
077	સંગીત નાટ્ય રૂપાવલી	ગુજ.	શ્રી વિદ્યા સારાભાઈ નવાબ	194
078	ભારતનાં જૈન તીર્થો અને તેનું શિલ્પસ્થાપત્ય	ગુજ.	શ્રી સારાભાઈ નવાબ	192
079	શિલ્પ ચિન્તામણિ ભાગ-૧	ગુજ.	શ્રી મનસુખલાલ ભુદરમલ	254
080	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૧	ગુજ.	શ્રી જગન્નાથ અંબારામ	260
081	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૨	ગુજ.	શ્રી જગન્નાથ અંબારામ	238
082	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૩	ગુજ.	શ્રી જગન્નાથ અંબારામ	260
083	આયુર્વેદના અનુભૂત પ્રયોગો ભાગ-૧	ગુજ.	પૂ. કાન્તિસાગરજી	114
084	કલ્યાણ કારક	ગુજ.	શ્રી વર્ધમાન પાર્શ્વનાથ શાસ્ત્રી	910
085	**વિશ્વલોચન કોશ**	સં./હિં	શ્રી નંદલાલ શર્મા	436
086	કથા રત્ન કોશ ભાગ-1	ગુજ.	શ્રી બેચરદાસ જીવરાજ દોશી	336
087	કથા રત્ન કોશ ભાગ-2	ગુજ.	શ્રી બેચરદાસ જીવરાજ દોશી	230
088	હસ્તસઞ્જીવનમ્	સં.	પૂ. મેઘવિજયજીગણિ	322
089	ઐન્દ્રચતુર્વિંશતિકા	સં.	પૂ.યશોવિજયજી, પૂ. પુણ્યવિજયજી	114
090	સમ્મતિ તર્ક મહાર્ણવાવતારિકા	સં.	આચાર્ય શ્રી વિજયદર્શનસૂરિજી	560

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com

शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६७ (ई. 2011) सेट नं.-३

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची । ***यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं ।***

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टीकाकार	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
91	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-१	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	272
92	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-२	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	240
93	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-३	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	254
94	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-४	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	282
95	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-५	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	118
96	पवित्र कल्पसूत्र	पुण्यविजयजी	सं./अं	साराभाई नवाब	466
97	समराङ्गण सूत्रधार भाग-१	भोजदेव	सं.	टी. गणपति शास्त्री	342
98	समराङ्गण सूत्रधार भाग-२	भोजदेव	सं.	टी. गणपति शास्त्री	362
99	भुवनदीपक	पद्मप्रभसूरिजी	सं.	वेंकटेश प्रेस	134
100	गाथासहस्त्री	समयसुंदरजी	सं.	सुखलालजी	70
101	भारतीय प्राचीन लिपीमाला	गौरीशंकर ओझा	हिन्दी	मुन्शीराम मनोहरराम	316
102	शब्दरत्नाकर	साधुसुन्दरजी	सं.	हरगोविन्ददास बेचरदास	224
103	सुबोधवाणी प्रकाश	न्यायविजयजी	सं./गु	हेमचंद्राचार्य जैन सभा	612
104	लघु प्रबंध संग्रह	जयंत पी. ठाकर	सं.	ओरीएन्ट इन्स्टीट्युट बरोडा	307
105	जैन स्तोत्र संचय-१-२-३	माणिक्यसागरसूरिजी	सं,	आगमोद्धारक सभा	250
106	सन्मति तर्क प्रकरण भाग-१,२,३	सिद्धसेन दिवाकर	सं.	सुखलाल संघवी	514
107	सन्मति तर्क प्रकरण भाग-४,५	सिद्धसेन दिवाकर	सं.	सुखलाल संघवी	454
108	न्यायसार – न्यायतात्पर्यदीपिका	सतिषचंद्र विद्याभूषण	सं.	एसियाटीक सोसायटी	354
109	जैन लेख संग्रह भाग-१	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	337
110	जैन लेख संग्रह भाग-२	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	354
111	जैन लेख संग्रह भाग-३	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	372
112	जैन धातु प्रतिमा लेख भाग-१	कांतिविजयजी	सं./हि	जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार	142
113	जैन प्रतिमा लेख संग्रह	दौलतसिंह लोढा	सं./हि	अरविन्द धामणिया	336
114	राधनपुर प्रतिमा लेख संदोह	विशालविजयजी	सं./गु	यशोविजयजी ग्रंथमाळा	364
115	प्राचिन लेख संग्रह-१	विजयधर्मसूरिजी	सं./गु	यशोविजयजी ग्रंथमाळा	218
116	बीकानेर जैन लेख संग्रह	अगरचंद नाहटा	सं./हि	नाहटा ब्रधर्स	656
117	प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग-१	जिनविजयजी	सं./हि	जैन आत्मानंद सभा	122
118	प्राचिन जैन लेख संग्रह भाग-२	जिनविजयजी	सं./हि	जैन आत्मानंद सभा	764
119	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-१	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	404
120	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-२	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	404
121	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-३	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	540
122	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-१	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	274
123	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-४	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	414
124	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-५	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	400
125	कलेक्शन ऑफ प्राकृत एन्ड संस्कृत इन्स्क्रीप्शन्स	पी. पीटरसन	अं.	भावनगर आर्चीऑलॉजीकल डिपा.	320
126	विजयदेव माहात्म्यम्	जिनविजयजी	सं.	जैन सत्य संशोधक	148

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com

शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६८ (ई. 2012) सेट नं.-४

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची । ***यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं ।***

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / संपादक	भाषा	प्रकाशक	पृष्ठ
127	महाप्रभाविक नवस्मरण	साराभाई नवाब	गुज.	साराभाई नवाब	754
128	जैन चित्र कल्पलता	साराभाई नवाब	गुज.	साराभाई नवाब	84
129	जैन धर्मनो प्राचीन इतिहास भाग-२	हीरालाल हंसराज	गुज.	हीरालाल हंसराज	194
130	ओपरेशन इन सर्च ओफ सं. मेन्यु. भाग-६	पी. पीटरसन	अंग्रेजी	एशियाटीक सोसायटी	171
131	जैन गणित विचार	कुंवरजी आणंदजी	गुज.	जैन धर्म प्रसारक सभा	90
132	दैवज्ञ कामधेनु (प्राचिन ज्योतिष ग्रंथ)	शील खंड	सं.	ब्रज. बी. दास बनारस	310
133	करण प्रकाशः	ब्रह्मदेव	सं./अं.	सुधाकर द्विवेदि	276
134	न्यायविशारद महो. यशोविजयजी स्वहस्तलिखित कृति संग्रह	यशोदेवसूरिजी	गुज.	यशोभारती प्रकाशन	69
135	भौगोलिक कोश-१	डाह्याभाई पीतांबरदास	गुज.	गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी	100
136	भौगोलिक कोश-२	डाह्याभाई पीतांबरदास	गुज.	गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी	136
137	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-१ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	266
138	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-१ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	244
139	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-२ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	274
140	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-२ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	168
141	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-३ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	282
142	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-३ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	182
143	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-१	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	384
144	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-२	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	376
145	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-३	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	387
146	भाषवति	शतानंद मारछता	सं./हि	एच.बी. गुप्ता एन्ड सन्स बनारस	174
147	जैन सिद्धांत कौमुदी (अर्धमागधी व्याकरण)	रत्नचंद्र स्वामी	प्रा./सं.	भैरोदान सेठीया	320
148	मंत्रराज गुणकल्प महोदधि	जयदयाल शर्मा	हिन्दी	जयदयाल शर्मा	286
149	फक्कीका रत्नमंजूषा-१, २	कनकलाल ठाकूर	सं.	हरिकृष्ण निबंध	272
150	अनुभूत सिद्ध विशायंत्र (छ कल्प संग्रह)	मेघविजयजी	सं./गुज	महावीर ग्रंथमाळा	142
151	सारावलि	कल्याण वर्धन	सं.	पांडुरंग जीवाजी	260
152	ज्योतिष सिद्धांत संग्रह	विश्वेश्वरप्रसाद द्विवेदी	सं.	ब्रीजभूषणदास बनारस	232
153	ज्ञान प्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्रम्	रामव्यास पान्डेय	सं.	जैन सिद्धांत भवन	160
	नूतन संकलन				
१	आ. चंद्रसागरसूरिजी ज्ञानभंडार – उज्जैन	हस्तप्रत सूचीपत्र	हिन्दी	श्री आशापुरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार	
२	श्री गुजराती श्वे.मू. जैन संघ-हस्तप्रत भंडार – कलकत्ता	हस्तप्रत सूचीपत्र	हिन्दी	श्री आशापुरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार	

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com

शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६९ (ई. 2013) सेट नं.-५

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची । ***यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं ।***

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / संपादक	विषय	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
154	उणादि सूत्रो ओफ हेमचंद्राचार्य	पू. हेमचंद्राचार्य	व्याकरण	संस्कृत	जोहन क्रिष्टे	304
155	उणादि गण विवृत्ति	पू. हेमचंद्राचार्य	व्याकरण	संस्कृत	पू. मनोहरविजयजी	122
156	प्राकृत प्रकाश-सटीक	भामाह	व्याकरण	प्राकृत	जय कृष्णदास गुप्ता	208
157	द्रव्य परिक्षा और धातु उत्पत्ति	ठक्कर फेरू	धातु	संस्कृत /हिन्दी	भंवरलाल नाहटा	70
158	आरम्भसिध्धि – सटीक	पू. उदयप्रभदेवसूरिजी	ज्योतीष	संस्कृत	पू. जितेन्द्रविजयजी	310
159	खंडहरो का वैभव	पू. कान्तीसागरजी	शील्प	हिन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ	462
160	बालभारत	पू. अमरचंद्रसूरिजी	काव्य	संस्कृत	पं. शीवदत्त	512
161	गिरनार माहात्म्य	दौलतचंद परषोत्तमदास	तीर्थ	संस्कृत /गुजराती	जैन पत्र	264
162	गिरनार गल्प	पू. ललितविजयजी	तीर्थ	संस्कृत/गुजराती	हंसकविजय फ्री लायब्रेरी	144
163	प्रश्नोत्तर सार्ध शतक	पू. क्षमाकल्याणविजयजी	प्रकरण	हिन्दी	साध्वीजी विचक्षणाश्रीजी	256
164	भारतिय संपादन शास्त्र	मूलराज जैन	साहित्य	हिन्दी	जैन विद्याभवन, लाहोर	75
165	विभक्त्यर्थ निर्णय	गिरिधर झा	न्याय	संस्कृत	चौखम्बा प्रकाशन	488
166	व्योम वती-१	शिवाचार्य	न्याय	संस्कृत	संपूर्णानंद संस्कृत युनिवर्सिटी	226
167	व्योम वती-२	शिवाचार्य	न्याय	संस्कृत	संपूर्णानंद संस्कृत विद्यालय	365
168	जैन न्यायखंड खाद्यम्	उपा. यशोविजयजी	न्याय	संस्कृत /हिन्दी	बद्रीनाथ शुक्ल	190
169	हरितकाव्यादि निघंटू	भाव मिश्र	आयुर्वेद	संस्कृत /हिन्दी	शीव शर्मा	480
170	योग चिंतामणि-सटीक	पू. हर्षकीर्तिसूरिजी	आयुर्वेद	संस्कृत /हिन्दी	लक्ष्मी वेंकटेश प्रेस	352
171	वसंतराज शकुनम्	पू. भानुचन्द्र गणि टीका	ज्योतिष	संस्कृत	खेमराज कृष्णदास	596
172	महाविद्या विडंबना	पू. भुवनसुन्दरसूरि टीका	ज्योतिष	संस्कृत	सेन्ट्रल लायब्रेरी	250
173	ज्योतिर्निबन्ध	शिवराज	ज्योतिष	संस्कृत	आनंद आश्रम	391
174	मेघमाला विचार	पू. विजयप्रभसूरिजी	ज्योतिष	संस्कृत/गुजराती	मेघजी हीरजी	114
175	मुहूर्त चिंतामणि-सटीक	रामकृत प्रमिताक्षय टीका	ज्योतिष	संस्कृत	अनूप मिश्र	238
176	मानसोल्लास सटीक-१	भुलाकमल्ल सोमेश्वर	ज्योतिष	संस्कृत	ओरिएन्ट इन्स्टीट्यूट	166
177	मानसोल्लास सटीक-२	भुलाकमल्ल सोमेश्वर	ज्योतिष	संस्कृत	ओरिएन्ट इन्स्टीट्यूट	368
178	ज्योतिष सार प्राकृत	भगवानदास जैन	ज्योतिष	प्राकृत/हिन्दी	भगवानदास जैन	88
179	मुहूर्त संग्रह	अंबालाल शर्मा	ज्योतिष	गुजराती	शास्त्री जगन्नाथ परशुराम द्विवेदी	356
180	हिन्दु एस्ट्रोलोजी	पिताम्बरदास त्रीभोवनदास	ज्योतिष	गुजराती	पिताम्बरदास टी. महेता	168

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543. E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com
शाह विमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-380005.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०७१ (ई. 2015) सेट नं.-६

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की डिजिटाइझेशन द्वारा डीवीडी बनाई उसकी सूची।
यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टिकाकार	विषय	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
181	काव्यप्रकाश भाग-१	पूज्य मम्मटाचार्य कृत		संस्कृत	पूज्य जिनविजयजी	364
182	काव्यप्रकाश भाग-२	पूज्य मम्मटाचार्य कृत		संस्कृत	पूज्य जिनविजयजी	222
183	काव्यप्रकाश उल्लास-२ अने ३	उपा. यशोविजयजी		संस्कृत	यशोभारति जैन प्रकाशन समिति	330
184	नृत्यरत्न कोश भाग-१	श्री कुम्भकर्ण नृपति		संस्कृत	श्री रसीकलाल छोटालाल	156
185	नृत्यरत्न कोश भाग-२	श्री कुम्भकर्ण नृपति		संस्कृत	श्री रसीकलाल छोटालाल	248
186	नृत्याध्याय	श्री अशोकमलजी		संस्कृत /हिन्दी	श्री वाचस्पति गैरोभा	504
187	संगीरत्नाकर भाग-१ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	448
188	संगीरत्नाकर भाग-२ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	444
189	संगीरत्नाकर भाग-३ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	616
190	संगीरत्नाकर भाग-४ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	632
191	संगीत मकरन्द	नारद		संस्कृत	श्री मंगेश रामकृष्ण तेलंग	84
192	संगीत नृत्य अने नाट्य संबंधी जैन ग्रंथो	श्री हीरालाल कापडीया		गुजराती	मुक्ति-कमल-जैन मोहन ग्रंथमाला	244
193	न्यायबिंदु सटीक	पूज्य धर्मोतराचार्य		संस्कृत	श्री चंद्रशेखर शास्त्री	220
194	शीघ्रबोध भाग-१ थी ५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	422
195	शीघ्रबोध भाग-६ थी १०	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	304
196	शीघ्रबोध भाग-११ थी १५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	446
197	शीघ्रबोध भाग-१६ थी २०	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	414
198	शीघ्रबोध भाग-२१ थी २५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	409
199	अध्यात्मसार सटीक	पूज्य गंभीरविजयजी		संस्कृत/गुजराती	नरोत्तमदास भानजी	476
200	छन्दोनुशासन	एच. डी. वेलनकर		संस्कृत	सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ	444
201	मग्गानुसारिया	श्री डी. एस शाह		संस्कृत/गुजराती	ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ट्रस्ट	146

॥ आशैशवशीलशालिने श्रीनेमीश्वराय नमः ॥

कुमारपालभूपालप्रतिबोधक-सुगृहीतनामधेय-कलिकालसर्वज्ञ—

श्रीहेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीतं

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ।

स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकाभिधबृहद्वृत्ति—स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकाप्रकाश-
शब्दमहार्णवन्यासाभिधबृहन्न्याससंवलितम् ।

तत्रानुसन्धानसहितः

षष्ठोऽध्यायः ।

—बृहन्न्यासानुसन्धानकारः सम्पादकश्च—
जगद्गुरु-शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्ति-तपोगच्छाधिपति-
श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कार-व्याकरण-
वाचस्पति-कविरत्न-शास्त्रविशारद-
'साहित्यसम्राट्'-इति प्रसिद्धिभाग्-जैनाचार्य
श्रीमद्विजयलावण्यसूरिमहाराजः ।

प्रकाशिका

श्री सिद्धहेम-प्रकाशन-समिति

बोटाद-सौराष्ट्र ।

"Aho Shrutgyanam"

प्रकाशक :
'श्री सिद्धहेम प्रकाशन समिति'
आ.श्री.वि. लावण्यसूरिजी ज्ञानमंदिर.
अंबाजी चोक, बोटाद, सौराष्ट्र।

—प्राप्तिस्थानानि—

१. साहित्य सम्राट् साहित्य प्रचार केन्द्र
आ.वि.लावण्यसूरिजी ज्ञानमंदिर ट्रस्ट बिल्डींग–जितेन्द्र रोड
मलाड ईस्ट मुंबई–६४ महाराष्ट्र

२. आचार्यश्रीविजयलावण्यसूरिजी
जैनज्ञानमंदिर।
अंबाजीचोक
बोटाद–सौराष्ट्र

३. श्री सरस्वती पुस्तक भंडार,
रतनपोल, हाथीखाना,
अहमदाबाद–गुजरात,

मूल्यम्—
रूप्यकाणां चत्वारिंशद (रु. ४०–००)

—मुद्रक—
राजुभाई सी. शाह
केनीमेक प्रिन्टर्स
मामुनायकनी पोल
अहमदाबाद–१

वीर सं २००७
वि. सं. २०३९
नेमि सं. ३२
लावण्य सं. १६

स्व. साहित्यसम्राट् पू. आचार्यश्रीविजय लावण्यसूरिजी महाराजश्री रचित समग्र साहित्य उपरोक्त प्रचारकेन्द्रमांथी प्राप्त थशे. वधु माहिती माटे सूचिपत्र मंगावो.

व्यवस्थापक

"Aho Shrutgyanam"

—પ્રકાશકીય નિવેદન—

કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાન્ શ્રીહેમચંદ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજાએ, તેરમી શતાબ્દીના પ્રારંભમાં ગુજરાતના સોલંકી રાજવી **સિદ્ધરાજ જયસિંહની** વિનંતીથી **'સિદ્ધ-હેમચંદ્ર શબ્દાનુશાસન'** નામનો વ્યાકરણ ગ્રંથ સર્વાંગપૂર્ણ રચ્યો છે.

આ વ્યાકરણગ્રંથ પૂર્વે અનેક વૈયાકરણોએ પોતપોતાનાં વ્યાકરણગ્રંથો રચેલા મળે જ છે, તેમાં **પાણિનીય જૈનેન્દ્ર, શાકટાયન** વગેરે મુખ્ય છે. એ બધામાં શાસ્ત્રીયદૃષ્ટિએ કેટલીક ખામીઓ હતી તેનો ખ્યાલ પૂ. આ. શ્રી. હેમચંદ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજશ્રીને હતો.

જ્યારે બ્રાહ્મણોએ જૈન સાથેના પ્રતિવાદમાં કહ્યું કે, તમારી પાસે સાહિત્ય જ શું છે? બધા સાહિત્યનું મૂળ વ્યાકરણ જ કયાં છે? અને ગુજરાતમાં તો સાહિત્ય રચનાની વાત જ નથી.' આ હકીકત સંસ્કારપ્રેમી રાજા સિદ્ધરાજના કાને પડી ત્યારે, તેણે નિર્ણય કર્યો કે, કોઈ પણ ભોગે દરેક વિષયનું સાહિત્ય ગુજરાતમાં રચાવવું જ જોઈએ. આ પ્રતિજ્ઞાથી રાજાએ એવા વિદ્વાનોની શોધ કરવા માંડી. તેમાંથી આ. શ્રી. હેમચંદ્રસૂરિજી તેમને હાથ લાગી ગયા. રાજવીએ ખૂબ નમ્રપણે આચાર્યશ્રીને વિનંતી કરી કે 'આપ સંસ્કૃત વ્યાકરણની રચના કરી આપો. તેનાથી મને યશ મળશે અને આપની ખ્યાતિ દેશોદેશમાં થશે.' આચાર્યશ્રીએ આ વિનંતિને સ્વીકારીને **'સિદ્ધ-હેમચંદ્ર-શબ્દાનુશાસન'ની રચના કરી આ રીતે આ વ્યાકરણનો જન્મ થયો.** પછી તો આચાર્યશ્રીએ **કાવ્યાનુશાસન, છંદોનુશાસન, નામમાળા, પ્રાકૃત વ્યાકરણ, સર્વ પ્રથમ એવું અપભ્રંશ વ્યાકરણ** આદિ અનેક ગ્રંથો રચીને ગુજરાતના જ્ઞાન ભંડારને ભરી દીધો. આ જોઈને આક્ષેપ કરનારાઓ ચૂપ બની ગયા.

આચાર્યશ્રીએ વ્યાકરણના નામમાં પ્રથમ 'સિદ્ધ' શબ્દ મૂકીને રાજવીના નામને યશસ્વી બનાવ્યું. તે પછી જ પોતાનું 'હેમચંદ્ર' નામ આલેખ્યું. આવી ઉદારતા અને નમ્રતાને જોટો જડવો મુશ્કેલ છે.

આ **'સિદ્ધહેમચંદ્ર શબ્દાનુશાસન'** ઉપર આચાર્યશ્રીએ **લઘુવૃત્તિ ૬૦૦૦ શ્લોકાત્મક** અને **બૃહદ્વૃત્તિ,** જેનું નામ **તત્ત્વપ્રકાશિકા** છે, તે **૧૮૦૦૦** શ્લોક પ્રમાણ રચી છે. આ વ્યાકરણ-ગ્રંથને તત્કાલીન વ્યાકરણોમાં મહાવ્યાકરણની વિશેષ ખ્યાતિ અપાવવા માટે, બૃહદ્વૃત્તિ ઉપર **૮૪૦૦૦ શ્લોકપ્રમાણ 'શબ્દમહાર્ણવ'** નામે ન્યાસ ગ્રંથ, આકરગ્રંથ છતાં વિશદ અને વિસ્તૃત ગ્રંથ રચી દીધો.

એ ન્યાસ ગ્રંથ જ્ઞાનભંડારોમાંથી મળ્યો છે, તે ગમે તે કારણે માત્ર **૧૬૦૦૦ શ્લોકાત્મક છે.** પૂરેપૂરો ગ્રંથ મળી શકયો નથી તેથી તે ખંડિત ભાગને, **સાડા આઠ લાખ શ્લોક પ્રમાણ નૂતન સંસ્કૃતસાહિત્યસર્જક સાહિત્યસમ્રાટ્ સ્વ. પૂ. આ. શ્રી. વિજયલાવણ્યસૂરીશ્વરજી મહારાજે પોતાની અનુપમ બુદ્ધિપ્રતિભાથી અનુસંધાન કરીને તૈયાર કર્યો અને એ મહાભારત કાર્ય પૂર્ણ થતાં, તેઓશ્રીનો સ્વર્ગવાસ થયો.**

આ ન્યાસ ગ્રંથને જલદી છપાવી પ્રકાશિત કરવા માટે તેમણે અનેક યોજનાઓ ઘડી કાઢી હતી. તે મુજબ કાર્ય ચાલી રહ્યું છે.

સ્વ. પ. પૂ. આચાર્યશ્રીની વિદ્યમાનતામાં બે અધ્યાય અને એક પાદ છપાઈને પ્રગટ થઈ ગયાં હતાં.

પ્રેસોમાં કંપોઝીટર અને માલિકો વચ્ચે ગજગ્રાહ થવા માંડ્યો. તેથી પ્રેસો કીડીવેગે કામ આપતા રહ્યા. છાપવાના ભાવ વધ્યા. કાગળ મોંઘાદાટ બન્યા. પ્રુફરીડીંગ માટે સ્વતંત્ર માણસની નિમણુંક પણ આર્થિક દૃષ્ટિએ અસહ્ય બની. મતલબ કે કામ થતું રહ્યું પણ, તેમાં ગમે તેવા પ્રયાસો કરવા છતાં વેગ ન આવ્યો તે નજ આવ્યો. મુંબઈ, જોધપુર, અમદાવાદના પ્રેસોમાં પ્રયત્નો કર્યા, તે પણ કારગત ન થયા. પરિણામે કામ વાયદાઓમાં અટવાતું લંબાતું ગયું. આજે અઢી વર્ષે ૪૩ ફોર્મનો આ છટ્ઠો અધ્યાય પૂરો છપાઈ જતાં પ્રકાશિત થાય છે. એ પૂર્ણતાના આનંદની વાત છે. આવી પરાધીનતામાં જવાદારીનું કામ મુશ્કેલ બન્યું છે.

હજી કેટલાક વચ્ચેના અધ્યાયો છાપવાનું બાકી છે, તે માટે અમોએ યોગ્ય વિચાર કર્યો છે. કામમાં વેગ આવે એવા પ્રયત્નો ચાલુ છે, એટલું જ નહિં કિંતુ શકય પ્રયાસો ચાલુ છે. સફલતાનાં સોપાન સર કરવામાં શાસનદેવ સહાયક બને! એજ એક કલ્યાણ કામના!!! —પ્રકાશક :

"Aho Shrutgyanam"

—પ્રસ્તાવના—

બધાં વ્યાકરણોમાં તદ્ધિત પ્રકરણ મોટી જગ્યા રોકે છે. આ વ્યાકરણમાં પણ બે અધ્યાય (છઠ્ઠી અને સાતમો અધ્યાય) પ્રમાણ જગ્યા રોકાયેલી છે. તેમાંથી છઠ્ઠો અધ્યાય અહીં પ્રકાશિત થાય છે.

વસ્તુતઃ તદ્ધિત એટલે 'તેને માટે હિતકારી' એવી સામાન્ય વ્યાખ્યા છે. કોઈ વૈયાકરણે લૌકિક અને વૈદિક સંદર્ભ માટે હિતકારી એમ કહ્યું છે. તદ્ધિત પ્રત્યય એટલે ? ભાષાનું લઘૂકરણ, એમ પણ કોઈકે કહ્યું છે. મતલબ કે, શબ્દોના અર્થમાં વિશેષતા, સચોટતા અને તેને ટૂંકાક્ષરી બનાવવી, એ તદ્ધિત પ્રત્યયનું કામ છે.

આ તદ્ધિત પ્રત્યયોને ધ્યાનમાં રાખીને વિભાગ કરીએ તો તે ત્રણ વિભાગમાં સમાવેશ પામે. (૧) સામાન્યવૃત્તિ નામ, (૨) અવ્યયસંજ્ઞક નામ અને (૩) ભાવવાચક નામ, એમ બતાવી શકાય.

ગુણવાન્, ચૂડાલ, વત્સલ, લોમશ વગેરે નામો, અપત્યાર્થક નામો, 'તે એનાથી થયું' એવા અર્થ માટે લાગેલા પ્રત્યયોવાળા નામોનો સામાન્યવૃત્તિમાં સમાવેશ થાય છે.

એતર્હિ, પુરસ્તાત્, પૂર્વેદ્યુઃ, દ્વિધા, ત્રિધા વગેરેમાં લાગેલા પ્રત્યયોથી બનેલાં નામો અવ્યયસંજ્ઞક નામોમાં આવે છે.

પટુતા, શૌર્ય, સ્તેય, સખ્ય, અધર્મ, વગેરે ભાવમાં લાગેલા પ્રત્યયોથી બનેલાં નામો ભાવવાચકમાં ગણાવી શકાય.

આ રીતે તદ્ધિતના પ્રત્યયો, અર્થ સમજાવવા માટેની ટૂંકાક્ષરી પદ્ધતિ છે, એમ માની શકાય.

આથી વિશેષ તદ્ધિત પ્રકરણ વિશે લખવાનું રહેતું નથી.

પં. શ્રી. અંબાલાલ પ્રેમચંદ શાહ

"Aho Shrutgyanam"

✠ વિશેષ ✡

કલિકાલ સર્વજ્ઞ ભગવાન શ્રી હેમચંદ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજા રચિત શ્રી સિધ્ધ હેમ ચંદ્ર શબ્દાનુશાસન નામના વ્યાકરણ વિષયક મહાન રત્ન સાગર સમ મૂલ્યવાન વ્યાકરણ શાસ્ત્રનું તેમની બુધ્ધી અને મતિને વફાદાર રહી તેનુ અનુસંધાન કરી. તેની રચના મારા દાદાગુરૂ સાહિત્ય સમ્રાટ્ વ્યાકરણ વાચસ્પતિ
પ.પૂ આચાર્ય શ્રી મદ્ વિજય લાવણ્યસૂરીશ્વરજી મહારાજા સાહેબે અત્યંત પરિશ્રમ વેઠીને માં ભગવતિ શારદા ની પરમ કૃપા પ્રાપ્ત કરીને કર્યું છે. તેવા આ મહાન શ્રી સિધ્ધહેમ શબ્દાનુશાસન ના છઠ્ઠા અધ્યાય નું પ્રકાશન થઈ રહયું છે.

ઘણા ઘણા વિધ્વાન આચાર્ય ભગવંતો મુનિ ભગવંતો તેમજ વિધ્વાન પંડિત વર્યો ની આ સાહિત્ય માટેની વારંવારની માંગણી એ આ સાહિત્યની ઉપયોગીતા પૂરવાર કરે છે. તેમાય સવિશેષ શાસન પ્રભાવક પૂ.આચાર્યશ્રી રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ.ના શિષ્ય રત્ન સાહિત્ય પ્રેમી પૂ.આચાર્ય શ્રી વિજય રાજશેખરસૂરીશ્વરજી મ.ની આ છઠ્ઠા અધ્યાયને પ્રકાશિત કરવાની પ્રેરણા હતિ.

અમદાવાદ મુકામે મારા પૂ.ગુરૂદેવ શ્રી માન વિજય દક્ષસૂરીશ્વરજી મ.સા ની પ્રેરણા માર્ગદર્શન હેઠળ પંડિત વર્ય શ્રી અંબાલાલ પ્રેમચંદ શાહ ધ્વારા શ્રી સિધ્ધ હેમ શબ્દાનુશાસન છઠ્ઠા અધ્યાય નું ટાઈપ સેટિંગ તેમજ પ્રીન્ટીંગ નું કામ ઈ.૧૯૭૫ થી ૭૮ શ્રી રાજુભાઈ કેનિમેક પ્રીન્ટર્સને ત્યાં ચાલુ હતું કાર્ય પૂર્ણ થવા આવ્યું હતું ત્યાંજ જલ પ્રલય ના કારણે છપાયેલ તમામ ફર્મા કાલ કવલીત બની ગયાં.

સદ્ભાગ્યે આ મહાન ગ્રંથના ફર્માની એક એક પ્રતિ પૂ.ગુરૂદેવ ની પાસે રહિ હતી.તેમાયં પેજ નં.૧૮૫ થી ૨૨૪ સુધી તથા ૨૩૨ થી ૨૪૦ તથા ૨૮૧ ૨૮૮ સુધી ના પૈજ ઉપલબ્ધ નથી તેનો રંજ છે. છતાં છે. તેનો આનંદ માનિ આ મૂલ્યવાન સાહિત્ય વિદવદ્ જનો સમક્ષ પ્રગટ થઈ રહયું છે.

મારા પૂ.ગુરૂદેવ કહેતા હતાં કે પૂ.ગુરૂદેવ નું આ સાહિત્ય પ્રભાકર એટલુ અણમોલ છે કે કાશી –બનારસ ના મોટા મોટા દિગ્ગજ વિધ્વાન પંડિતો આ ગ્રંથો ને જોતા અને એમ બોલી ઉઠતાં તે ***આતો મહાપુરુષ પાણીની નો અવતાર છેકે સાક્ષાત હેમચંદ્રાચાર્ય*** આવા સાહિત્ય ની રચના માટે વર્તમાન કાળ માં કોઈ સમર્થ હોય તેમ જણાતું નથી આજ છે પૂ.દાદા ગુરૂદેવ શ્રી લાવણ્યસૂરીશ્વરજી મહારાજા ની અપ્રિતમ પ્રતિભા.
સાડા આઠ લાખ શ્લોક પ્રમાણ નૂતન સંસ્કૃત સાહિત્યનું બેજોડ સર્જન પૂ.લાવણ્ય સૂરીશ્વરજી મહારાજાએ કર્યું છે.તેમના આ મહાન ગ્રંથો વિદેશ માં હાવર્ડ અને ઓક્ષફર્ડ યુનિવર્સીટી માં અભ્યાસ ક્રમ માં પણ પાઠય પુસ્તક તરીકે પ્રધાનતા પામ્યાં છે. જે અત્યંત ગૌરવાસ્પદ છે.

પૂ. દાદાગુરૂદેવ નુ અપ્રકાશિત સાહિત્ય વહેલી તકે પ્રકાશિત કરવાનીઅમારી હાર્દિક ભાવનાછે. શ્રી વિજય લાવણ્યસૂરીશ્વરજી જ્ઞાનમંદિર ટ્રસ્ટના ટ્રસ્ટીઓ શ્રી પ્રવીણભાઈ બગડીયા, શ્રી હસમુખભાઈ બગડીયા, શ્રી ધીરૂભાઈ બગડીયા, શ્રી અશોકભાઈ બગડીયા, તેમજ શ્રી મુકુંદભાઈ જે શાહ,શ્રી મહેશભાઈ એફ શેઠ.શ્રી દિલીપભાઈ જે.શાહ તેમજ ગુરૂભકતોની પણ ભાવના છે.માં ભગવતી શ્રી સરસ્વતી દેવિ કૃપા વરસાવે અને દાદા ગુરૂદેવ ગુરૂદેવ અશિ:મ આશિષ વર્ષાવે.અને આ ભગીરથ કાર્ય સંપન્ન બને.આ પ્રકાશન માં મુનિ મહાપદ્મવિજયજી મ.તથા બાલમુનિ શ્રી શ્રી પદ્મવિજયજી નો તથા પંડિત વર્ય શ્રી મહેશભાઈ એફ.શેઠ પંડિત વર્ય શ્રી જેઠાભાઈ ભારમલ શાહ નો તથા પ્રિન્ટીંગનુ સંપૂર્ણકાર્ય શ્રી હેમેન્દ્ર જે શાહ.(ઉદય પ્રિન્ટર્સ) તથા જય ભૈરવ ગ્રાફિક્સ વાળા શ્રી હિતેષભાઈ રાંકા તથા મુન સ્ટોક વાળા શ્રી તરૂણભાઈનો સહયોગ સાંપડયો છે જે સદાય સ્મરણીય રહેશે.પ્રાતેં કલિકાલ સર્વજ્ઞ ભગવાન હેમચંદ્રાચાર્યજી ના તથા સાહિત્ય સમ્રાટ્ શ્રી માન લાવણ્યસૂરીશ્વરજીના ચરણો માં શત કોટી વંદના પૂર્વક.....

શ્રી સમવસરણ મહામંદિર,પાર્શ્વનગર
૧૮૩ગાસીતીર્થ વા. વિરાર જી.થાણા મહારાષ્ટ્ર.
વિ.સં ૨૦૬૩ અશાડ સુદ.૧

‖ વર્ધતાં જિન શાસનમ્ ‖

વિજય પ્રભાકરસૂરિ
દક્ષ શિશુ

"Aho Shrutgyanam"

ॐ यत्किंचित् ✡

તિર્થંકર ભગવંતોએ ધર્મ તિર્થની સ્થાપના ભલે બિહાર કે ઉતરપ્રદેશમાં કરી પણ એ ધર્મ વધારે ફેલાયો ગુજરાત અને રાજસ્થાનમાં .આ ક્ષેત્રોમાં ધર્મ આજે પણ વિસ્તૃત પ્રમાણમાં જોવા મળે છે.એ ધર્મને ટકાવવાનું સૌભાગ્ય મલ્યું ગુર્જરદેશ ને આ ભૂમિ પર અનેક ઋષિમુનિઓ થઈ ગયા,તેમ અનેક મહાપુરુષો પણ થઈ ગયા,એ સહુએ ગુર્જરદેશને. વિશ્વના નકશામાં અમર બનાવ્યું. જૈન ધર્મ ફુલ્યો ફાલ્યો અહીંજ જોવામળે છે. આ દેશની એક વખતની રાજધાની એટલે પટ્ટણ. જે અણહિલપૂર પતન ના નામે ઓળખાતી જૈન નગરી તરીકે જે પ્રસિધ્ધિને પામેલ આ નગર માં વિક્રમ ની અગ્યારમી સદીમાં મહારાજા સિધ્ધરાજ જયસિંહ નું સામ્રાજય ચાલે. જૈનોમાં પણ તે વખતે વિધ્વાન અને પ્રતિભાવંત સાધુઓ હતા.પરસ્પર વાદ થતા.આવા કાળમાં પણ તે વખતના મહાપુરુષો એ ધધુંકા નગર ના માતા પાહિની અને પિતા ચાંચેય ના પુત્ર ચાંગદેવે પાંચ જ વર્ષની નાની વયમાં આચાર્ય પ્રવર શ્રી દેવેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ.સા પાસે દીક્ષા લઈ ઘણીજ વિધ્વતા પ્રાપ્ત કરી.જિનશાસનની શ્રેણીમાં જેમનું નામ તેજસ્વી સિતારા તરીકે સામેલ થયું .એકવીશ વર્ષની નાની વયમાં જેમને આચાર્ય પદવીથી વિભુષિત કરવામાં આવેલા.ભલભલા વાદીઓને પણજે પરાસ્ત કરતા.આ મહાપુરુષે મહારાજા સિધ્ધરાજ જયસિંહ ની વિનંતિ પ્રેરણા પામી તેમના સંપૂર્ણ સાથ અને સહયોગ ધ્વારા તત્કાલીન **પાણીની,શાકટાયન ચાન્દ્ર** આદિ **વ્યાકરણોને સન્મુખ** રાખી **સંસ્કૃત ભાષાને** સરળતા અને સંપૂર્ણતા અર્પે એવા એક પ્રકૃષ્ટ વ્યાકરણની એકજ વર્ષના ઘણાજ અલ્પ કાળમાં વૈવિધ્યસભર રચના કરી.વિવાદ સામે ટકકર ઝીલી વ્યાકરણ સુવર્ણ પરીક્ષામ પણ પાસ થયું .આથી જ જેનું નામ **સિધ્ધ હેમ શબ્દાનુશાસન** પડયું સિધ્ધ થયું છે. હેમ પરીક્ષા માં જે અથવા સિધ્ધ એટલે સિધ્ધરાજ ની પ્રેરણાથી સાકાર થયેલ હેમ એટલે હેમચન્દ્રાચાર્યે રચેલ એવું શબ્દાનુશાસન. આ ગ્રન્થ લઘુવૃતિ ,મધ્યમવૃતિ બુહદવૃતિ અને બૃહન્યાસ એમ ચાર ભાગમાં રચાયું છે.આ શબ્દાનુશાસન ની સાથે સાથે **છંદોડનુશાસન,વાદાનુશાસન, કાવ્યાનુશાસન** અને **લિંગાનુશાસન** એમ કુલ પાંચ અનુશાસનની રચના તે વખતે એકજ વર્ષના ગાળામાં તેમણે કરેલી છે.આ મહાપુરુષે આ ઉપરાંત બીજા પણ અનેક ગ્રન્થો રચેલા.

સમસ્ત વ્યાકરણ નો પ્રાણ કહેવાય તેવો બૃહન્યાસ કાળબલે લુપ્ત થવા લાગ્યો. પછીના આચાર્ય ભગવંતોનું આ બાબત લક્ષ્ય ગયું ન હોય યા કોઈપણ અગોચર કારણે વધારે ને વધારે ત્રુટિત થવા લાગ્યો. આ અંગે દીર્ઘદર્શી આચાર્ય ભગવંત શાસન સમ્રાટ્શ્રીજીને ચિંતા થઈ આવી.અલભ્ય વસ્તુ જો નષ્ટ થઈ જશે તો જૈન શાસન ને ઘણું મોટું નુકશાન સહેવું પડશે.એ ઘડીએ પોતાના શિષ્ય લાવણ્ય વિજય ને પોતાના મનની વ્યથા કહી અને આ ત્રુટિત ન્યાસને અનુસંધાન કરવા પ્રેરણા કરી.પોતાની બુધ્ધિ અને શક્તિ બહારનું કામ હોવા છતાં ગુરૂ ભગવંતનો આદેશ પામી આશિષ લઈ ભગવતી મા સરસ્વતી ની ઉપાસના કરી શાસનપતિ મહાવીરદેવની કૃપા મેળવી એ કામ હાથ ધર્યું.લગભગ આઠસો વર્ષના સુદીર્ઘ કાળમાં મહદંશે લુપ્ત થઈ ગયેલા આ બુહન્યાસને જોડવાનું ઘણું જ અઘરું અને વિરાટકાય કામ હતું તે ગુરૂકૃપાના બળે કલિકાલસર્વજ્ઞ ની શૈલીને સંપૂર્ણ વફાદાર રહી એ કામ આરંભાયું. સતત ધગશ અને ચિંતન સાથે પોતાની કાયાની પણ પરવા કર્યા વિના તન્મય બની કાર્ય આગળ વધવા લાગ્યું પોતાના બન્ને વિધ્વાન અને વિનયી શિષ્યો પૂ.દક્ષવિજયજી તથા પૂ.સુશીલ વિજયજી ના સહયોગથી આગળ વધ્યું .આ સાહિત્ય ના લખાણને મુદ્રિત કરવા ગુરૂભકતોએ ટ્રસ્ટની બોટાદ ખાતે સ્થાપના કરી.એ સંસ્થાના ઉપક્રમે એક પછી એક ગ્રન્થો બહાર પડવા લાગ્યા સાહિત્ય ક્ષેત્રે જૈન શાસન ને ચરણે અમુલ્ય નજરાણું ધરાવા લાગ્યું દિનરાત ગુરૂદેવ નું સાહિત્ય કાર્ય ચાલુ જ રહયું.લગભગ આઠ લાખ શ્લોક પ્રમાણ સાહિત્યની રચના કરી જેમાં ના કેટલાક ગ્રન્થો છપાયા.કેટલાયનું સાહિત્ય સર્જન ન કિંમતિ લખાણ હજુ અમુદ્રિત છે.આ રીતે ગુરૂદેવની અપ્રતિમ પ્રતિભા તથા શક્તિનાં સંઘને દર્શન થયા ગુરૂદેવના કાળધર્મ પછી પણ પૂ.આચાર્યશ્રી દક્ષસૂરીશ્વરજી તથા પૂ.સુશીલસૂરીશ્વરજી બન્ને બંધુ બેલડીએ પુસ્તક પ્રકાશનને આગળ ચાલુ રાખ્યું પણ કાળ બળે સમય અને સંજોગોધીન એ કાર્ય વિલંબમાં પડી ગયું. આજે પ્રશિષ્યરત્ન પૂ.આચાર્ય શ્રી વિજય પ્રભાકરસૂરીશ્વરજી મ. શ્ર શાસન ના અનેક કાર્યોમાં વ્યસ્ત હોવા છતાં આ કાર્ય હાથ ધર્યું અને જેની વરસોથી માંગ હતી અનેક આચાર્ય ભગવંતો,સાધ્વ ભગવંતો તથા પંડિતો તરફ થી વારંવારની માગણીને ધ્યાનમાં લઈને નસીબ જોગે જે ફરમાની એક જ કોપી ઉપલબ્ધ હોવાના કારણે જે રીતે મલ્યું તે રીતે અને જેટલું મલ્યું તેટલું યથાવત્ છપાવી આ બૃહન્યાસનો છઠ્ઠો અધ્યાય સંઘ તથા શાસનને ચરણે અર્પતાં આનંદ અનુભવીએ છીએ માં ભગવતી સરસ્વતી દેવિ ની પરમ કૃપા થી પૂ.દાદા ગુરૂદેવ નું અપ્રગટ સાહિત્ય શીઘ્ર પ્રકાશિત કરવાની ભાવના સફળ બને તેવિ શાસન દેવને પ્રાર્થના

ફાગણ વદ.૯ વિક્રમ સં ૨૦૬૩
સાહિત્ય સમ્રાટ્ પૂણ્ય તિથિ દિન

પં. મહેશભાઈ એફ.શેઠ
મલાડ મુંબઈ

"Aho Shrutgyanam"

श्री सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासने

षष्ठोऽध्यायस्य

सूत्रानुक्रमणिका

सूत्रम्:	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
अत इञ्	६-१-३१	पृष्ठ - ३१
अनिदम्यण पवादेच		
दित्य दित्या दित्य यम		
पत्यु तरपदाञ्ञय :	६-१-१५	पृष्ठ - १८
अजादिभ्यो धेनोः	६-१-३४	पृष्ठ - ३६
अश्वादेः	६-१-४९	पृष्ठ - ४९
अदीर्नदी- मानुषी नाम्नः	६-१-६७	पृष्ठ - ५९
अवृध्दाद दीर्नवा	६-१-११०	पृष्ठ - ८१
अदीरायनिः प्राय :	६-१-११३	पृष्ठ - ८४
अब्राह्मणात	६-१-१४१	पृष्ठ -१०७
अभक्ष्याच्छादने वामयद्	६-२-४६	पृष्ठ -१३१
अपो यज वा	६-२- ५६	पृष्ठ -१३५
अवृर्दुग्धे सीढ दस मरीसम	६-२-६४	पृष्ठ -१३९
अरीहणादेरकण	६-२-८३	पृष्ठ -१४७
अहरादीभ्योऽञ	६-२-८७	पृष्ठ -१४८
अश्वत्थादेरिकण	६-२-९७	पृष्ठ - १५०
अपीनपाद्पान्नपातस्त्रृचात	६-२-१०५	पृष्ठ -१५४
अकल्पात सूत्रात	६-२-१२०	पृष्ठ -१६०
अधर्म - क्षत्र-त्रि		
संसर्गाऽगददि विध्दयाः	६-२-१२१	पृष्ठ -१६०
अनुब्राम्हणादीन	६-२-१३०	पृष्ठ -१६२
आधात	६-१-२९	पृष्ठ - २९
आत्रेयाद भारद्वाजेः	६-१-५१	पृष्ठ - ४९
आग्रह्यायाग्य		
श्वत्थादिकण	६-२-९९	पृष्ठ -१५२
आदेश्छन्दसः प्रगाथे	६-२- ११२	पृष्ठ -१५६
ईतोऽनिज :	६-१-७	पृष्ठ - ६२
ईयःस्वसुश्रः	६-१-८९	पृष्ठ - ७०
ईनोऽहनः कृतौ	६-२- २१	पृष्ठ -१२०
उत्सादेरञ्	६-१-१९	पृष्ठ - २१
उदितगुरीर्भाद् युकेतऽष्ठे	६-२-५	पृष्ठ -१११
उद्रादकञ्	६-२-३६	पृष्ठ -१२६
उमोर्णाद् वा	६-२-३७	पृष्ठ -१२७
उत्करादेरीय	६-२-९१	पृष्ठ -१४९
उत्तरादाहञ	६-३-५	पृष्ठ -१७४
उदगग्रामा यकृल्लोम्नः	६-३-२५	पृष्ठ -१८१
उष्णादिभ्यः कालात्	६-३-३३	पृष्ठ -१८४
ऋषि-		
वृष्णयन्धक-कुरुभ्यः	६-१-६१	पृष्ठ - ५४
ऋश्यादेःकः	६-२-९४	पृष्ठ -१५०
एदोद्देशएवेयादौ	६-१-९	पृष्ठ - ८

सूत्रम्:	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
एण्याएयञ	६-२-३८	पृष्ठ -१२७
एकस्वरात	६-२-४८	पृष्ठ -१३२
एशमीह्यः श्वसीवा	६-३-१९	पृष्ठ -१७८
अः स्थाम्नः	६-१-२२	पृष्ठ - २४
कलयग्नेरेयाग	६-१-१७	पृष्ठ - २०
कपि-बोधादाङिरसे	६-१-४४	पृष्ठ - ४४
कन्या-त्रिवेण्याः		
कनीन- त्रिवागंच	६-१-६२	पृष्ठ - ५५
कल्याण्यादेरिन चान्तस्य	६-१-७७	पृष्ठ - ६३
कवचि- हस्त्यचित्ताच्चेकण्	६-२-१४	पृष्ठ -११८
कर्णादिसरम्यनिञ	६-२-९०	पृष्ठ -१४८
क-सोमादय्याग्	६-३-१०	पृष्ठ - १७५
कथाया इकाग्	६-३-२०	पृष्ठ -१७८
काशादेरिल :	६-२-८२	पृष्ठ- १४७
कालाद् भववत्	६-२-१११	पृष्ठ - १५६
कुञ्जादेर्ञायन्य :	६-१-४७	पृष्ठ - ४५
कुलरायावा	६-१-७८	पृष्ठ - ७४
कुलादीनः	६-७-९६	पृष्ठ - ७३
कर्वादिभ्यः	६-१-१००	पृष्ठ - ७४
कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम्	६-१-१२१	पृष्ठ - ९०
कुरोर्वा	६-१-११२	पृष्ठ - ९०
कुमुदादेरिकः	६-३-११	पृष्ठ -१७५
कुण्ड्यादिभ्यो यलुकूच	६-३-११	पृष्ठ -१७५
कुल- कुक्षिग्रीवा		
च्यूवास्यलङ्कारे	६-३-१२	पृष्ठ -१७५
कुसाश्वादेरीयाग्	६-२-९३	पृष्ठ -१४९
केदाराण्यश्च	६-२-१३	पृष्ठ -११८
केशाद्वा	६-२-१८	पृष्ठ -१२०
कौण्डिन्यागस्त्ययोः		
कुणण्डिनागस्तीच	६-१-१२७	पृष्ठ - ९७
कौशेयम्	६-२-३९	पृष्ठ -७२७
क्रोस्ट्ट- शलङ्कोर्लुकच	६-१-५६	पृष्ठ - ५१
कंसीयाञ ञ्यः	६-२-४१	पृष्ठ -१२८
क्वचित्	६-२-१४५	पृष्ठ -१७१
क्देहामा - व्रतसस्त्यच्	६-३-१६	पृष्ठ -१७८
खलादिभ्योलीन	६-२-२७	पृष्ठ -१२२
गर्गादियञ्	६-१-४२	पृष्ठ - ४२
गर्गभार्गविका	६-१-१३६	पृष्ठ -१०४
गणिकाया ण्यः	६-२-१७	पृष्ठ -११९
गान्धारि - सालवेयाभ्याम्	६-१-११५	पृष्ठ - ८५
गृष्टयादेः	६-१-८४	पृष्ठ - ६७.

"Aho Shrutgyanam"

सूत्रम्ः	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
गोः स्वरेय	६-१-२७	पृष्ठ - २७
गोधाया दुष्टेणारश्च	६-१-८१	पृष्ठ - ६६
गोत्रोक्ष- वत्सोष्ट्र- वृद्धाजोरभ्		
मनुष्य राजन्य राजपुत्रादकञ्	६-२-१२	पृष्ठ -११७
गोरथ-वालत् त्रल कट्टयलूलम-	६-२-२४	पृष्ठ -१२१
गोः पुरीचसे	६-२-५०	पृष्ठ -१३३
गोत्रादर्कवत्	६-२-१३४	पृष्ठ -१६८
गोत्रोत्तरपदाद् गोत्रादिवाड-		
जिव्धाकात्य-		
हरितकात्यात्	६-१-१२	पृष्ठ - १२
गौष्टी-तैकी-		
नैकेली गोमती-		
शूरसेनवाहीक		
रौमकपटच्चसत्	६-३-२६	पृष्ठ -१८१
ग्राम- जन- बन्धु -		
गज सहायात् तल्	६-२-२८	पृष्ठ -१२३
ग्रामादीनञ् च	६-३-९	पृष्ठ -१७५
ङ्गोडपत्ये	६-१-२८	पृष्ठ - २७
ङ्याप्पूर्वूङः	६-१-७०	पृष्ठ - ६१
चटकाण्डीरः स्त्रियां तुलुप्	६-१-७९	पृष्ठ - ६४
चतुष्पादभ्य एयञ	६-१-८३	पृष्ठ - ६६
चर्मि-वर्मि- गारेट-		
कार्कट्य - काक -		
लाङ्कावाकिनाश्च		
कश्चान्तोडन्त्यस्वरात्	६-७-११२	पृष्ठ - ८२
चन्द्रयुक्तात् काले		
लुत्वप्रयुक्ते	६-२-६	पृष्ठ -११२
चराणाद् धर्मवत	६-२-२३	पृष्ठ -१२०
चैत्री - कार्तिकी -		
फाल्गुण श्रवणाद्क	६-२-१००	पृष्ठ -१५२
जष्ट-प्राप्टात्	६-१-८२	पृष्ठ - ६६
जान्वा वा	६-२-६०	पृष्ठ -१३७
जालेराज्ञः	६-१-९२	पृष्ठ - ७१
जीवन्त - पर्वतादूवा	६-१-५८	पृष्ठ - ५२
जिदार्षादजिञोः	६-१-१४०	पृष्ठ - १०
डिद् वाडाग्	६-२-१३६	पृष्ठ - १६८
णश्च विश्रवसो		
विशलुक् चवा	६-१-६५	पृष्ठ - ५७
तद्धितीडणादिः	६-१-१	पृष्ठ - १
तदस्यास्ति	६-२-७०	पृष्ठ -१४२
तदेत्यधीते	६-२-११७	पृष्ठ -१५८
तत्रोद्धृते पात्रेभ्यः	६-२-१३८	पृष्ठ -१६९
तालाद् धनुषि	६-२-३२	पृष्ठ -१०५
तिकादेरायनिञ्	६-१-१०७	पृष्ठ - ७९
तिक-कितवादीद्वन्द्वे	६-१-१३१	पृष्ठ - १००
तिलयवादनाम्नि	६-२-५२	पृष्ठ -१३४
तृणादेः सलू	६-२-८१	पृष्ठ -१४७
तेन निर्वृत्तेच	६-२-७१	पृष्ठ -१४३
तेन धन्नेरथे	६-२-१३१	पृष्ठ -१६६

सूत्रम्ः	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
दगु- कोशल कर्मार च्छाग		
वृषाद्या दि	६-१-१०८	पृष्ठ - ८०
दघ्न इकण	६-२-१४३	पृष्ठ - १७
दक्षिणा पश्चात पुरसस्त्याग	६-३-१३	पृष्ठ -१७६
दितेश्चैयण् वा	६-१-६९	पृष्ठ - ६०
दिक्पूर्वपदादनाम्नः	६-३-२३	पृष्ठ -१८०
दुष्कुलादेयण वा	६-१-९८	पृष्ठ - ७४
दुनादि- कुर्वित्		
कोशलाजादाञ्ज्यः	६-१-११८	पृष्ठ - ८८
दूसदेत्यः	६-३-४	पृष्ठ -१७४
दृष्टे साम्निनाम्नि	६-२-१३३	पृष्ठ -१६७
देवाद्यञ च	६-१-२१	पृष्ठ - २३
देवता	६-२-१०१	पृष्ठ -१५२
दोरप्राणिन	६-२-४९	पृष्ठ -१३२
दीरीयः	६-३-३२	पृष्ठ -१८४
द्वन्द्वादीयः	६-२-७	पृष्ठ -११३
द्व्यादेस्तथा	६-१३२	पृष्ठ -१०१
द्रीञोवा	६-१-१३९	पृष्ठ -१०६
द्रेरञणोडप्राच्यभगादिः	६-१-१२३	पृष्ठ - ९०
द्रोर्णाद्वा	६-२-५९	पृष्ठ - ५२
द्रोर्वयः	६-२-४३	पृष्ठ -१२९
द्यप्रागपागुदक् प्रतीचे । यः	६-३-८	पृष्ठ -१७४
द्वयेकेषुषदूत्या		
स्तत्पुररुषेयञादेर्वा	६-१-१३४	पृष्ठ -१०२
द्यावापृथिवी-		
शुकसीराग्नीषोम		
मरुत्वद् वास्तोष्पति		
ग्रहमेघादीय- यौ	६-२-१०८	पृष्ठ -१५४
द्विगोरनपत्ये य-		
स्वरादेर्लुबद्वि :	६-१-२४	पृष्ठ - २४
द्विस्वरादनूद्यः	६-१-७१	पृष्ठ - ६१
द्विस्वरादाण	६-१-१०९	पृष्ठ - ८१
धनादे : पत्युः	६-१-१४	पृष्ठ - १६
धेनोरनञः	६-२-१५	पृष्ठ -११८
नडादिभ्य आयनाग्	६-१-५३	पृष्ठ - ४९
न प्राग्जितीये स्वरे	६-१-१३५	पृष्ठ - १०३
नद्विरदुवय- गोमयफलात्	६-२-६१	पृष्ठ -१३७
न द्यां मतुः	६-२-७२	पृष्ठ -११४
नड-कुमुद- वेतस महिषाड्डीत	६-२-७४	पृष्ठ -१४५
नडा-शादाद् वलः	६-२-७५	पृष्ठ - १४५
नडादेः कीयः	६-२-१२	पृष्ठ -१४८
त्रपु-जतोः षोडन्तीश्च	६-२-३३	पृष्ठ -१२६
त्यदादि	६-१-७	पृष्ठ - ६
त्ये वा	६-१-२५	पृष्ठ - २७
नूद्यादेरेयण	६-३-२	पृष्ठ -१७३
नद्विस्वरात प्रागभरतात	६-३-३९	पृष्ठ -१८३
नाम्निकः	६-३-५४	पृष्ठ -१३४
निवासादूरभवे इति		
देशे नाम्नि	६-२-६९	पृष्ठ -१४

"Aho Shrutgyanam"

सूत्रम्:	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
निमीगते	६-३-१८	पृष्ठ-१७८
नील पीतादकम	६-२-४	पृष्ठ-१९०
नौर्ध्वे	६-३-१७	पृष्ठ १७८
न्यायादेरिकण्	६-२-११८	पृष्ठ- १५
पदोत्तरपदेभ्य इकः	६-२-१२५	पृष्ठ-१६२
पद क्रम शिक्षा मीमासा साम्नीऽकः	६-२-१२५	पृष्ठ-१५२
परजन रागीऽकीयः	६-३-३१	पृष्ठ-१८४
परस्त्रियाःपरशुश्च सावार्ण्ये	६-१-४०	पृष्ठ- ४०
पर्श्वा ऽवागू	६-२-२	पृष्ठ-१२०
पयो द्रोर्यः	६-३-५	पृष्ठ-१२६
परशव्याद यलुक् च	६-२-४०	पृष्ठ-१२७
पन्थ्यादेरायनण्	६-२-८९	पृष्ठ-१४८
पद कल्प लक्षणान्त क्रत्वाख्यानाऽऽ		
ख्यायिकात्	६-२-११९	पृष्ठ-१५९
पाण्टाहृति- मिमताण्णश्च	६-१-११४	पृष्ठ- ७८
पाण्डोऽर्ज्यण्	६-१-११९	पृष्ठ- ८८
पाण्डीढ्ढर्ज्यण	६-१-२४	पृष्ठ-१२१
पाशादेश्च लयः	६-२-२५	पृष्ठ-१२१
पाण्डुकम्बलादिन	६-२-१३२	पृष्ठ-१६७
पारावारादीनः	६-३-६	पृष्ठ-१७४
पिष्टात्	६-२-५३	पृष्ठ-१३४
पितृमातृर्च्यङुलं भ्रातरि	६-२-६१	पृष्ठ-१३८
पित्रीर्ऽा महट्	६-२-६३	पृष्ठ-१३८
पीला सालवा माडुकादवा	६-१-६८	पृष्ठ- ६०
पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्दुरनन्तरेऽञ्	६-१-३९	पृष्ठ- ३९
पुत्रान्तात	६-१-११९	पृष्ठ- ८२
पुरुमगध कलिङ्ग शुरमस द्विस्वरादाण	६-१-११६	पृष्ठ- ८६
पुरुषात्कृत द्वित वद्य विकारे चैयञ्	६-२-२२९	पृष्ठ-१२३
पृथियाञाञ	६-१-१८	पृष्ठ- २१
पृष्ठाद् यः	६-२-२२	पृष्ठ-१२०
पैलादेः	६-१-१४२	पृष्ठ-१०७
पौडगाक्षी पुत्रा देरीयः	६-२-१०२	पृष्ठ-१५३
पौत्रादि वृद्धम	६-१-२	पृष्ठ- २
प्लक्षादेरण	६-२-५९	पृष्ठ-१३६
प्रहरागात् क्रीडायांण	६-२-११६	पृष्ठ-१५८
प्राग्देशे	६-१-१०	पृष्ठ- ९
प्राग्जितादेण्	६-१-१३	पृष्ठ- १३
प्राग्वतः स्त्रीपुंसा द् नञ स्नञ	६-१-१२५	पृष्ठ- २६
प्राग्भरते बहुस्वरादिञः	६-१-१२९	पृष्ठ- ११
प्राच्येञो ऽतालव ल् यादेः	६-१-१४३	पृष्ठ-१०८
प्राण्योषधि -वृक्षेभ्योऽवयवेच	६-२-३१	पृष्ठ-१२४
प्रेक्षादेरीन	६-२-८०	पृष्ठ-१४७
प्रोक्तात	६-२-१२९	पृष्ठ-१६४

सूत्रम्:	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
फले	६-२-५८	पृष्ठ-१३६
बह्विषष्टीक ण च	६-१-१६	पृष्ठ- २०
बष्कयादसमासे	६-१-२०	पृष्ठ- २३
बहुस्व स्त्रियाम्	६-१-१२४	पृष्ठ- ९३
बलादेर्यः	६-२-८६	पृष्ठ-१४९
बाह्वादिभ्यो गोत्रे	६-१-३२	पृष्ठ- ३१
बिदादेवृद्धे	६-१-४१	पृष्ठ- ४०
ब्राह्मणाद् वा	६-१-३५	पृष्ठ- ३७
ब्राह्मण-माणव वाऽवाद्यः	६-२-१६	पृष्ठ-११९
भर्गात त्रैगर्ते	६-१-५१	पृष्ठ- ४९
भवतीरिकणीय सौ	६-३-३०	पृष्ठ-१८३
भागावित्ति - तार्ण बिन्द वाकशापेयान्निन्दायामिकण् वा	१-१-१०५	पृष्ठ- १८
भाव घञोऽस्यां णः	६-२-११४	पृष्ठ-१५७
भिक्षादे :	६-२-९०	पृष्ठ-११५
भूयः संभूयोऽभ्योऽमि तौजसा स्लुक् च	६-१-३६	पृष्ठ- ३७
भृगवङ्गिरस् -कुत्स-वसिष्ठ - गोतमात्रेः	६-१-१२८	पृष्ठ- ८८
भौरिक्यैशु कार्यादिर्विध - भक्तम	६-२-६८	पृष्ठ-१४०
भ्रातुर्व्य :	६-१-८८	पृष्ठ- ६८
भुवो भुवच	६-१-७६	पृष्ठ- ६३
मधु बभ्रोर्ब्राह्मण - कौशिके	६-१-४३	पृष्ठ- ४३
मनीर्यागौषश्चान्तः	६-७-९४	पृष्ठ- ७२
महाकुलाद् वाऽञीनञौ	६-१-९९	पृष्ठ- ७४
मगवादेः	६-२-७३	पृष्ठ-१४५
महेन्द्राद् वा	६-२-१०६	पृष्ठ-१५४
महाराज प्रोष्ठपदादिकण	६-२-११०	पृष्ठ-१५५
मदादञ	६-३-२४	पृष्ठ-१८०
मातृ पित्रादेर्याणी याणौ	६-१-९०	पृष्ठ- ७०
मानव कुत्सायाम	६-१-९५	पृष्ठ- ७२
मानात् क्रीतपत्	६-२-४४	पृष्ठ-१२९
यञिञः	६-१-५४	पृष्ठ- ५०
यस्कादेर्गोत्री	६-१-१२४	पृष्ठ- ९४
यञञोऽश्यापार्गान्त गोपवनादे	६-१-१२५	पृष्ठ- ९५
याज्ञिकौकिथक लौकादितिकम	६-२-१२२	पृष्ठ-१६७
यूनि लुप्	६-१-१३७	पृष्ठ-१०५
युव वृद्ध कुत्सार्चे वा	६-१-५	पृष्ठ- ५
यैयकञासमासे वा	६-१-९७	पृष्ठ- ७३
योद्ध प्रयोजनाद् युद्धे	६-२-११३	पृष्ठ-१५६
व्यस्तव्यत्य स्तात्	६-३-७	पृष्ठ-१७४
रङ्कोः प्राणिनि वा	६-३-१५	पृष्ठ-१७७
रागाट्टी रक्ते	६-२-१	पृष्ठ-१०९
राष्ट्र- क्षत्रियात सरुपाद् राजापत्ये दिरञ्	६-१-११४	पृष्ठ- ८४
राष्ट्रेऽनडगादिभ्य :	६-२-६५	पृष्ठ-१३९
राजन्यादिभ्योऽकञ	६-२-६६	पृष्ठ-१३९
राष्ट्रादियः	६-३-३	पृष्ठ-१७३

"Aho Shrutgyanam"

सूत्रम्:	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
रुप्योत्तर पदारण्याण्णः	६-३-२२	पृष्ठ -१७४
र वेत्यादेरिकण	६-१-८६	पृष्ठ - ६८
रीङश्मादेः	६-२-७९	पृष्ठ -१२६
लाक्षा-रोचनादिकण्	६-२-२	पृष्ठ - ११०
लुपूबद्बुलं पुष्पमूले	६-२-५७	पृष्ठ - १३५
लोम्नोऽपत्येषु	६-१-२३	पृष्ठ - २४
वर्मणोऽचक्रात	६-१-३३	पृष्ठ - ३६
वतण्डात्	६-१-४५	पृष्ठ - ४५
वमातेर्वा	६-२-६७	पृष्ठ -१४०
वराहादेः काण्	६-२-९५	पृष्ठ -१५०
वल्हयूर्दि-पर्दि-		
कापिश्याष्टायनण्	६-३-१४	पृष्ठ -१७७
वार्गविकञ्	६-३-२१	पृष्ठ -१७१
वाजाते द्विः	६-२-१३७	पृष्ठ -१६९
वामदेवादयः	६-२-१३५	पृष्ठ -१६८
वाधात्	६-१-११	पृष्ठ - १०
वाडवेयी वृषे	६-१-८५	पृष्ठ - ६७
वाडन्येन	६-१-१३३	पृष्ठ -१०२
वायनणाय निञोः	६-१-१३८	पृष्ठ -१०५
वाडश्वादीय :	६-२-१९	पृष्ठ -१२०
वाय्वृतु- पित्रुषसो य :	६-२-१०९	पृष्ठ -१५५
विकर्ण - च्छगलाद्		
कत्न्यात्रेये	६-१-६४	पृष्ठ - ५७
विकर्ण-कुषीतकाद् काश्यपे	६-१-७५	पृष्ठ - ६३
विकारे	६-२-३०	पृष्ठ -१२३
वृद्धिर्यस्य स्वरेस्वादि :	६-१-८	पृष्ठ - ७
वृद्धाद यूनि	६-१-३०	पृष्ठ - ३०
वृद्धस्त्रियाः क्षेपेश्च	६-१-८७	पृष्ठ - ६८
वृद्धेत्र :	६-३-२८	पृष्ठ -१८२
वेदेन ब्राह्मणमत्रैव	६-२-१३०	पृष्ठ -१६४
वोपकादेः	६-१-१३०	पृष्ठ -१३१
वोदश्वितः	६-२-१४४	पृष्ठ -१७१
वंश्यज्यायो भ्रात्रोर्जीवति		
प्रपौत्राद्य स्त्री युवा	६-१-३	पृष्ठ - ३
व्यास-वरुट- सुधातृ -		
निषाद बिम्ब चण्डालादन्त्य		
स्य चाक्	६-१-३८	पृष्ठ - ३८
कहेः पुरोडाशे	६-२-५१	पृष्ठ -१३४
शकलादेर्यत्रः	६३-२-२७	पृष्ठ -१८२
शतषाडेः पथ इकट्	६-२-१२४	पृष्ठ -१६२
शप. भरद्वाजात्रेये	६-१-५०	पृष्ठ - ४८
शकादिभ्यो देर्लुप	६-१-१२०	पृष्ठ - ८९
शकल कर्दमाद् वा	६-२-३	पृष्ठ -११०
शम्याश्च लः	६-२-३४	पृष्ठ -१२६
शम्दर्भ कूर्दा		
तृण सोम- बलवजात्	६-२-४७	पृष्ठ -१३२
शर्कराया इकागनीयाण् च	६-२-७८	पृष्ठ -१४६
शत रुदात तो	६-२-१०४	पृष्ठ -१५३

सूत्रम्:	सूत्राङ्कः	पृष्ठः
शालङ्कयौदि-साडि-		
वाड्वलि	६-१-३७	पृष्ठ - ३७
शिखायाः	६-२-७६	पृष्ठ -१४६
शिवादेराण्	६-१-६०	पृष्ठ - ५२
शिरीषादिक कणौ	६-२-७७	पृष्ठ -१४६
शुङ्गाभ्यां भारद्वाजे	६-१-६३	पृष्ठ - ५६
शुभ्रादिभ्यः	६-१-७३	पृष्ठ - ६२
शुक्रादियः	६-२-१०३	पृष्ठ -१५३
शूलोखाद् यः	६-२-१४२	पृष्ठ -१७०
शे षे.	६-३-१	पृष्ठ -१७१
श्याम लक्षणाद् वासिष्ठे	६-१-७४	पृष्ठ - ६३
श्वशुराद् यः	६-१-९१	पृष्ठ - ७१
श्वणाश्वत्थान्नाम्यः	६-२-८	पृष्ठ -११४
श्वदिभ्योऽञ्	६-२-८	पृष्ठ -१२२
श्वैनंपाता तैलंपाता	६-२-११५	पृष्ठ -१५७
षष्ठयाः समूहे	६-२-९	पृष्ठ -११४
सपिण्डे वयः स्थानाधिके		
जीवद् व	६-१-४	पृष्ठ - ४
सम्राजः क्षत्रिये	६-१-१०१	पृष्ठ - ७६
सख्यादेरेयाण	६-२-८८	पृष्ठ -१४८
ससर्वपूर्वाल्लुप्	६-२-१२७	पृष्ठ -१६३
साल्वांश प्रत्यग्रथ		
कलकूटाश्मकादिञ्	६-१-१७	पृष्ठ - ८७
सास्यपौर्णमासी	६-२-९८	पृष्ठ -१५०
स्त्रियां लुप्	६-१-४५	पृष्ठ - ४५
स्त्री बहुष्वायनञ्	६-१-४८	पृष्ठ - ४९
सुयाम्नः सौवीरेष्वायनिञ्	६-१-१०३	पृष्ठ - ७८
सुपन्थ्यादेर्ज्यः	६-२-८४	पृष्ठ -१४७
सुतङ्ग मादेरिञ्	६-२-८५	पृष्ठ -१४७
सेनान्त - कारु -		
लक्षमणादिञ्च	६-१-१०२	पृष्ठ - ७७
सौयामायनि यामुन्दायनि-		
बार्ष्यर्योणि रीयश्वा	६-१-१०६	पृष्ठ - ७९
संज्ञा दुर्वा	६-१-६	पृष्ठ - ६
संख्यासंभदान्मातुर्मातर् च	६-१-७६	पृष्ठ - ५७
संख्याकात् सूत्रे	६-२-१२८	पृष्ठ -१६३
संस्कृते भक्ष्ये	६-२-१४०	पृष्ठ -१७०
स्थण्डिलाच्छेते व्रती	६-२-१३९	पृष्ठ -१६९
हरितादेरञः	६-१-५५	पृष्ठ -१५६
हेमार्थान्माने	६-२-४२	पृष्ठ -१२८
हेमादिभ्योऽञ्	६-२-४५	पृष्ठ -१३०
ह्योगोदोहादीनञ्		
ह्यिङ्गुश्चास्य	६-२-५५	पृष्ठ -१३४
क्षत्रादिभ्यः	६-१-९३	पृष्ठ - ७५
क्षीरादेयण्	६-२-१४२	पृष्ठ -१७०
क्षुद्राभ्य एरण् वा	६-१-८०	पृष्ठ - ६५
क्षुद्रक- मालवात सेनानाम्नि	६-२-११	पृष्ठ -११६

"Aho Shrutgyanam"

॥ अर्हँ ॥

आशैशवशीलशालिने श्रीनेमीश्वराय नमो नमः।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीतं

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ।

स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकाभिधबृहद्वृत्ति—स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकाप्रकाश-शब्दमहार्णवन्यासाभिधबृहन्न्याससंवलितम् ।

॥ अर्हँ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमपादः ।

तद्धितोऽणादिः ॥ ६ । १ । १ ॥

त० प्र०—अणादिः प्रत्ययो य इत ऊर्ध्वं वक्ष्यते स तद्धितसंज्ञो विज्ञेयः । औपगवः । कापटवः । तद्धितप्रदेशाः 'ऋतो रस्तद्धिते' [१.२.२६.] इत्यादयः ॥१॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तद्धितो० । सकलनामप्रकृतिभूतधातुसंबद्धप्रत्ययान् उक्त्वाऽग्रे नामसंबद्धप्रत्ययान् आचक्षाणस्तेषामेकरूपेण निर्देशाय तत्संज्ञामाह—**तद्धितोऽणादिरि**ति । नात्र व्याकरणान्तरवत् तद्धिताधिकारः, मध्येऽन्यप्रकरणानामपि सत्त्वात्, किन्तु वक्ष्यमाणान् अणादीन् प्रत्ययान् उद्दिश्य संज्ञाविशेषोऽनेन विधीयते । तदाह—**अणादिः प्रत्ययो य** इत्यादिना, अण् आदिर्यस्येत्यणादिरिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । अण् चैतत्प्रकरणस्थः 'प्राग् जितादण्' [६.१.१३.] इत्यधिकृत एव गृह्यते प्रकरणाद् व्याख्यानाच्च, न तु 'कर्मणोऽण्' [५.१.७२.] इत्यादिना विहितः, तेन च नातिप्रसङ्गः । तदेव ध्वनयन्नाह—**इत ऊर्ध्वं वक्ष्यते** इति । '**तद्धित-**' **संज्ञो विज्ञेय** इति—विशिष्य ज्ञेयो विज्ञेयः, एतेन तद्धितशब्दार्थ एष्वनुगत इति महासंज्ञेयमन्वर्था संज्ञेति यावदिति सूचयति । तद्धितशब्दव्युत्पत्तिमाह न्यासकारः—'महत्याः संज्ञायाः करणं एतत्प्रयोजनम्'—अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत 'तेभ्यो हितास्तद्धिताः' इति । तदित्यनेन लौकिका वैदिकाश्च शब्दाः प्रत्यवमृश्यन्ते, तेषां व्युत्पाद्यत्वेन प्रकृतत्वात्, तेन तत्रैव भवन्त्यणादयो यत्र भवन्तस्तेषामुपकारिणो भवन्ति, नान्यत्रेति, तेनाभिधानलक्षणत्वं तद्धितानामुपपन्नं भवतीति ['तद्धिताः' पा०सू० ४.१.७६.] जैनेन्द्रस्तु—'तस्मै लौकिक-वैदिकसन्दर्भाय हितास्तद्धिताः' इत्याह । उत्पलस्तु—'ताभ्यः प्रकृतिभ्यो हितास्तद्धिताः' इत्याचष्टे । 'हितादिभिः' [३.१.७१.] इति समासेन चास्य तद्धितशब्दस्य निष्पत्तिः । स्यादेतत्—अणादिरित्येकवचनान्तविशेषणेन प्रत्यय इत्येकवचनान्त एव विशेष्यमध्याहार्यम्, ततश्च तद्गुणसंविज्ञानेऽप्यणू—ञ्योरेव तद्धितसंज्ञा स्यान्नान्येषामुद्देश्यकोटावप्रवेशादिति चेत् ? न, जातावेकत्वस्याव्ययविवक्षणात्, प्रत्ययपदोत्तरस्यार्थभूतमेकत्वं प्रकृत्यर्थतावच्छेदके प्रत्ययत्वेऽन्वेतीति तात्पर्यात् । तथा चाण्प्रभृतिः प्रत्ययत्वावच्छिन्न उद्देश्य इति नाव्यापकत्वं लक्षणस्य । ननु विवक्षा हि तेन रूपेण वक्तुं वक्तुरिच्छा, सा चोच्चारिते पदे एव भवितुमर्हति, प्रत्ययपदं च नोच्चरितं, किन्तु विशेषणबलाध्याहृतम्, तथा च कथं तत्र वक्तुर्जातिविवक्षा निश्चेतुं शक्येति चेत् ? न, साभिप्रायविशेषणेन लक्ष्यानुरोधेन चानुच्चारितेऽपि वक्तुरिच्छावधारणात् । न च 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन' इति व्युत्पत्त्या सिपदार्थस्यैकत्वस्य प्रत्ययपदार्थैकदेशे प्रत्यये कथमन्वय इति वाच्यम्, बहुतरप्रामाणिकप्रयोगानुरोधेन

यद्यत्पदार्थपदार्थतावच्छेदकयोरन्वयबोधः प्रामाणिकस्तदूभेदकूटत्वत्त्वस्य नियमघटकीभूतपदे निवेशस्यावश्यकत्वात् । तथा चात्यत्र पदार्थयोर्नियमघटकत्वाभावान्न दोष इति विमर्शः ।

संज्ञाफलमुदाहरति—**औपगवः** इति—उपगता गावो यस्यासौ—उपगुः, कश्चित् परमप्रकृतिः, तस्यापत्यमित्यर्थे विहितस्याणस्तद्धितसंज्ञया 'वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञिति तद्धिते' [७.४.१.] इत्यादिस्वरस्य **वृद्धौ**—औपगवः; एवं कपटुर्नाम कश्चित् परमप्रकृतिः, तस्यापत्यमित्यर्थेऽणि तद्धितसंज्ञयाऽऽद्यस्वरवृद्धौ—**कापटवः** इति, उभयत्र तद्धितसंज्ञयाऽणि परे उवर्णस्यावादेशः । संज्ञासूत्राणां विधिप्रदेशोपकारकत्वेन तद्धितप्रदेशान्—तद्धितसंज्ञाचिह्नितविधिप्रदेशान् दर्शयति—**तद्धितप्रदेशाः**—**"ऋतो रस्तद्धिते" [१.२.२६.] इत्यादयः** इति । अयमाशयः—संज्ञासूत्राणां विधिसूत्रोपकारकत्वेन विधिसूत्रेण सहैकवाक्यतया बोधकत्वम्, तथा च 'ऋतो रस्तद्धिते' इत्यादिविधिप्रदेशे 'तद्धितोऽणादिः' इत्यस्योपस्थित्या—अणादिप्रत्ययाभिन्नतद्धितसंज्ञकप्रत्ययाव्यवहितपूर्वस्य ऋतो रो भवतीत्यादिक्रमेण लक्ष्यसंस्कारको वाक्यार्थबोधः । एतेन संज्ञाकरणस्य प्रयोजनमपि प्रतिपादितं भवति । 'लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्' इति भाष्याद्युक्तया लघुनोपायेन महतः प्रत्ययसमूहस्य तत्तद्विधिप्रदेशेषु समुपस्थापनार्था तद्धितसंज्ञेति पर्यवसितम् ॥ ६।१।१ ॥

पौत्रादि वृद्धम् ॥६।१।२॥

त०प्र०—परमप्रकृतेः अपत्यवतो यत् पौत्राद्यपत्यं तद् वृद्धसंज्ञं भवति । गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः । एवम् वात्स्यः । पौत्रादीति किम् ? अनन्तरापत्ये गार्गिः, वात्सिः इत्येव भवति । पौत्रस्यापत्यत्वात् तदाद्यपत्यमेव विज्ञायते । वृद्धप्रदेशाः 'वृद्धाद् युनि' [६.१.३०.] इत्यादयः ॥२॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—पौत्रा० । तद्धितप्रत्ययानां प्रकृतिसम्बद्धार्थबोधकत्वेन सम्बन्धेषु च जन्यजनकभावाख्यापत्यसंबन्धस्य सर्वाभ्यर्हितत्वेनापत्यार्थका एव प्रत्ययाः पूर्वं वक्ष्यन्ते । अपत्यसंबन्धस्य सान्तरान्तराभेदेन द्विधा समुपलभ्यमानत्वात् तदनुरूपं वृद्ध-युवसंज्ञाद्वयं व्याचक्षाणः आदौ परमप्रकृतिनिबन्धनत्वेनाभ्यर्हितां वृद्धसंज्ञामाह—**पौत्रादि वृद्धम्** इति—पौत्र आदिर्यस्य तत् पौत्रादि, तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, पौत्रश्चापत्यमतस्तदादि अपत्यमेव गृह्यते । अपत्यशब्दश्च सम्बन्धवाची सम्बन्धिनमाक्षिपति, संबन्धी चापत्यवान्, स च पौत्रेण प्रत्यासत्त्या परमप्रकृतिरिति विज्ञायते, पौत्रादीति विशेषणं चापत्यमाक्षिपतीत्युक्तम्, तदेव चोद्देश्यम्, तथा च परमप्रकृतिनिरूपितापत्यत्ववतः पौत्रादीनुद्दिश्य वृद्धसंज्ञाऽनेन विधीयते इति लभ्यते, तदाह—**परमप्रकृतेरित्यस्य** विशेष्यत्वे हि विशेषणभूतस्यापत्यापत्यवच्छब्दस्य विशेष्य पारतन्त्र्येण स्त्रीत्वापत्त्या 'अपत्यवत्याः' इति प्रयोक्तव्यं स्यात् । परमा प्रकृष्टा प्रकृतिः परमप्रकृतिः, यतः पुरुषात् परोऽन्यो न ज्ञायते स परमप्रकृतिरिति व्यपदिश्यते । यद्यपि पितामहप्रपितामहादिपरम्पराभेदेन वृद्धसन्तानस्यानन्त्यं तथापि यन्नाम्ना कुलं व्यपदिश्यते सैव परमप्रकृतिरिति व्यपदिश्यते ततः पूर्वेषां पुरुषाणामसंनिहितत्वात् परेषां च परमत्वेनाविवक्षितत्वात्, एतत्संज्ञायां च विवक्षाया एव तन्त्रत्वात् ।

उक्तं हि भाष्ये [४.१.१६२.] 'पौत्रप्रभृतेर्गोत्रसंज्ञायां यस्यापत्यं विवक्ष्यते तस्य पौत्रप्रभृति गोत्रसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्' इति [वृद्धस्यैव गोत्रसंज्ञा पाणिनीयानाम्] एतदाशयो भट्टोजिदीक्षितेन प्रकटीकृतः शब्दकौस्तुभे—'अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् [इति वक्तव्यम्] अपत्यत्वेन विविक्षितं [इति] किम् ? वस्तुतः पौत्रप्रभृतेर्गर्गस्य मा भूत्' इति । [सोऽपि हि कस्यचित् पौत्र इति संज्ञाप्राप्तिरित्याशयः] नन्वस्तु गर्गस्यापि वृद्धसंज्ञा का हानिरिति चेत् ? न, तस्मादनन्तरापत्ये [युवापत्ये] प्रत्ययो न स्यात्, "आद्यात्" [६.१.२९.] इति नियमात्, तस्माद् यः परमप्रकृतित्वेन विवक्षितस्तत् पौत्रादिरेव वृद्धसंज्ञेति मन्तव्यम्। ननु—

"आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां स्वमी ।
आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे ॥"

इत्यादिकोशादपत्यशब्दस्य पुत्रार्थे रूढत्वेन कथं **'पौत्रादि अपत्यम्'** इति सामानाधिकरण्येन निर्देष्टुं शक्यत इति चेत् ? न, अपत्यशब्दस्य यौगिकत्वेन तादृशयोगार्थस्य पौत्रादिसाधारण्येन सामानाधिकरण्यनिर्देशस्योचितत्वात्, यद् भाष्यम्—अपतनादपत्यमिति, न पतन्त्यनेन नरके पूर्वजास्तदपत्यमित्यर्थः, पितामहादयोऽप्यपत्येन संबध्यन्ते, पौत्रादयोऽपि हि नरकादुद्धर्तार इति। एवं च वृत्त्युक्तोऽर्थः सूपपन्नः ।

उदाहरति—**गार्ग्य** इति—गर्गस्यापत्यं पौत्रादीत्यर्थे

"Aho Shrutgyanam"

गर्गस्य गोत्रप्रवर्तकत्वाद् बाह्वादिगणपठितत्वाच्च 'बाह्वादिभ्यो गोत्रे' [६.१.३२.] इतीञ् प्राप्तः, परत्वाद् विशेषविहितत्वाच्च 'गर्गादेर्यञ्' [६.१.४२.] इति यञि आद्यस्वरवृद्धौ 'अवर्णेवर्णस्य' [७.४.६८.] इत्यवर्णस्य लोपे गार्ग्यः, अत्र गर्गस्यापत्यं पौत्रादि विवक्षितमिति वृद्धसंज्ञायां तन्निबन्धन एव प्रत्ययो न्याय्यः, न तु लोकप्रसिद्धगोत्रनिबन्धनः । अतिदिशति—एवं **वात्स्य** इति—वत्सस्यापत्यं पौत्रादीति वाक्यं, शेषं प्राग्वत् ।

पदकृत्यं पृच्छति—**पौत्रादीति किमिति**—अपत्यमात्रस्य वृद्धसंज्ञा विधीयतामिति प्रष्टुराकूतम् । **अनन्तरापत्ये** युवापत्ये गर्गशब्दाद् वत्सशब्दाच्च 'अत इञ्' [६.१.३१.] इतीञ् प्राप्तः तस्य च 'ऋषि—वृष्ण्यन्धक—कुरुभ्यः' [६.१.६१.] इति बाधकम्, तदपि 'बाह्वादिभ्यो गोत्रे' [६.१.३२.] इति विशेषविहितेनेञा बाध्यते, ततश्च 'गार्गिः, वात्सिः' इति भवति, गर्गो वत्सश्च गोत्रप्रवर्तकः, भवन्ति च तदपत्यानि सर्वाण्येव तद्गोत्रव्यपदेशभाञ्जि, अत्रापत्यसाधारण्येन वृद्धसंज्ञाविधानेऽनन्तरापत्यस्यापि वृद्धत्वेन तत्र 'गर्गादेर्यञ्' [६.१.४२.] इति यञ् स्यात्, तच्चानिष्टमिति पौत्रादिग्रहणमावश्यकमिति प्रत्युदाहरति—**अनन्तरापत्ये—गार्गिः, वात्सिरित्येव भवतीति**—गर्गस्य वत्सस्य चानन्तरापत्यमिति वाक्यम् । पौत्रादिपदेन यथापत्यार्थाक्षेपस्तद् विशदयति—**पौत्रस्यापत्यत्वात् तदादि अपत्यमेव विज्ञायते** इति—एतच्च पूर्वमेव प्रकटीकृतम् । वृद्धसंज्ञायाः फलमाह—**वृद्धप्रदेशाः—'वृद्धाद् यूनि' [६.१.३०] इत्यादय** इति—आदिपदेन 'वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च' [६.१.८७.] 'वृद्धो यूना तन्मात्रभेदे' [३.१.१२४.] इत्यादयो वृद्धप्रदेशा ग्राह्याः, तथा चैषु विवक्षितापत्यविशेषस्य निर्देशे गौरवं स्यादिति संज्ञाकरणमावश्यकमिति भावः ॥६।१।२॥

वंश्यज्यायोभ्रात्रोर्जीवति प्रपौत्राद्यस्त्री युवा ॥६।१।३॥

त०प्र०—वंशे भवो वंश्यः पित्रादिरात्मनः कारणम् । ज्यायान् भ्राता वयोऽधिक एकपितृक एकमातृको वा । प्रपौत्रः पौत्रापत्यम् परमप्रकृतेश्चतुर्थः । स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं जीवति वंश्ये ज्यायोभ्रातरि वा युवसंज्ञं भवति । गार्ग्यायणः । वात्स्यायनः । वंश्यज्यायोभ्रात्रोरिति किम् ? अन्यस्मिन् जीवति गार्ग्यः । ज्यायोग्रहणं किम् ? कनीयसि भ्रातरि गार्ग्यः । जीवतीति किम् ? मृते गार्ग्यः । प्रपौत्रादीति किम् ? पौत्रो गार्ग्यः । अस्त्रीति किम् ? स्त्री गार्गी । वचनभेदः पृथग् निमित्तत्वद्योतनार्थः ॥ ३ ॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—वंश्य० । पूर्वसूत्रेण पौत्रादीनां सर्वेषां परमप्रकृतेरपत्यानां वृद्धसंज्ञा प्राप्ता, तस्या अपवादमाह—**वंश्येति** । तत्र वंश्यशब्दस्येह योऽर्थः समुपयुक्तस्तमाह—**वंशे भवो वंश्यः पित्रादिरात्मनः कारणमिति**, अयमाशयः वंशप्रादुर्भूतत्वेन स्वपूर्वेषां स्वसमानकालिकानां स्वावरेषां च सर्वेषां ग्रहणप्रसक्तौ अव्यावर्तकत्वापातात् ज्यायोभ्रातुः पृथग्ग्रहणाच्च वंश्यपदेनेह स्वकारणं परमप्रकृतेरवरः पितृ-पितामहादिरेव गृह्यते । अतिशयेन प्रशस्यो वृद्धो वेति वाक्ये ईयसुप्रत्यये **'वृद्धस्य च ज्यः'** [७.४.३५.] इति ज्यादेशे **'ज्यायान्'** [७.४.३६.] इतीयसोरीत आकारे—'ज्यायान्' इति, तथा च **'ज्यायस्'**-शब्दस्य प्रशस्यतम—वृद्धतमाद्यर्थकत्वेन, भ्रातृशब्दस्यापि सोदरासोदरादिभेदेनानेकार्थोऽभिमतस्तमाह — **ज्यायान् भ्राता—वयोऽधिक एकपितृक एकमातृको वेति**—भ्रातेति च भ्राजते इत्यर्थे 'मानि-भ्राजोर्लुक् च' [उणा० ८५९.] इत्यौणादिके तृप्रत्यये जकारलुकि च सिध्यति, रूढ्या च भ्रातृशब्दः सम्बन्धविशेषवाची, भवति हि भ्रातॄणां परस्परालोकनेन दीप्तिबाहुल्यमिति प्रकृत्यर्थानुगमस्तत्र ज्यायःशब्दस्यार्थमाह—वयोऽधिक इति—वयसाऽधिक इति तृतीयासमासः, अधिकं वयो यस्येति वाक्ये तु 'आसन्नदूराधिक०' [३.१.२०.] इति समासेऽधिकवया इत्यापत्तेः । भ्रातृशब्दार्थमाह—**एकपितृक इति**—एकः समानः पिता यस्य स इत्यर्थः ।

'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥'

इति कोशादेकशब्दस्य समानार्थत्वावगतेः, संख्यार्थत्वे त्विहाव्यावर्तकत्वं स्यात्, सर्वस्याप्येकपितृत्वेन भ्रातृत्वापत्तेः । एवं च समानपितृकस्य विभिन्नमातृकस्य संग्रहेऽपि, विभिन्नपितृकस्य समानमातृकस्य संग्रहायाह—**एकमातृको वेति**—एका समाना माता यस्य स इत्यर्थः, उभयत्र बहुव्रीहे कच् । एवं च समानपितृकत्वे सति समानमातृको विभिन्नमातृको वा, एवं समानमातृकत्वे सति समानपितृको विभिन्नपितृको वा ज्येष्ठो भ्राताऽत्र ग्राह्यः इति फलितम् ।

"Aho Shrutgyanam"

प्रपौत्रशब्दस्यार्थमाह—**प्रपौत्रः पौत्रापत्यमिति**—पुत्रस्यापत्यं पौत्रः, प्रगतः कारणत्रया पौत्रमिति प्रपौत्र इति व्युत्पत्त्या प्रपौत्रपदं पौत्रापत्ये योगरूढमिति भावः । परमप्रकृतेः पौत्रस्यापि कस्यचित् प्रपौत्रत्वात् तद्व्यावृत्तये आह—परमप्रकृतेश्चतुर्थ इति । **अस्त्री**ति—नञन्तपर्युदासार्थक इत्याह—**स्त्रीवर्जितमिति** । तथा च योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह—स्त्रीवर्जितमित्यादिना भवतीत्यन्तेन ।

उदाहरति—**गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः** इति—गर्गस्य वत्सस्य चापत्यं युवेत्यर्थे 'वृद्धाद् यूनि' [६.१.३०] इति नियमात् पूर्वं वृद्धार्थके 'गर्गादेर्यञ्' [६.१.४२] इति यञि, ततो यूनि 'यञिञः' [६.१.५४.] इत्यायनणि—गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः । वंश्य—ज्यायोभ्रात्रोर्ग्रहणस्य फलमाह—**अन्यस्मिन् जीवति—गार्ग्यः** इति—तयोरजीवतोरन्यस्मिन् जीवत्यपि वृद्धव्यपदेश एव भवति स न स्यादित्यर्थः । ज्यायोग्रहणस्य फलमाह—**कनीयसि भ्रातरि—गार्ग्य** इति—जीवतीति शेषः । जीवतीत्यस्य फलमाह—मृते—गार्ग्यः इति—जीवतीत्यत्र 'यद्भावो भावलक्षणम्' [२.२.१०६.] इति सति सप्तमी, तदनुसारं 'मृते' इत्यपि सति सप्तम्यन्तम्, वैश्ये ज्यायोभ्रातरि च मृते सति मा भूद् युवसंज्ञेति तात्पर्यम्, प्रपौत्रादिग्रहणस्य फलमाह—**पौत्रो गार्ग्यः** इति—अत्र परमप्रकृतेस्तृतीयः पुरुषो विवक्षित इति पौत्रत्वमेव, न तु प्रपौत्रत्वमित्यर्थः । स्त्रीवर्जनस्य फलमाह—**स्त्री गार्गी**ति—अत्र वृद्धार्थे यञि गार्ग्यशब्दात् स्त्रियां 'यञो डायन् च वा' इति ङ्यां वैकल्पिकत्वात् डायनागमाभावे 'अस्य-ङ्यां लुक्' [२.४.८६.] इत्यकारलोपे 'व्यञ्जनात् तद्धितस्य' [२.४.८७.] इति यकारलोपे च—गार्गीति । सर्वत्र प्रत्युदाहरणे वृद्धापत्ययनिमित्तक एव प्रत्ययो न युवापत्ययनिमित्तक इति तत्तत्पदाभावे न स्यादिति समुदिताशयः ।

स्यादेतत्—विशेष्य-विशेषणवाचकपदयोरसति विशेषानुशासने समानवचनकत्वनियमाद् वंश्य—ज्यायोभ्रात्रोरित्यस्य द्विवचनान्तत्वेन तद्विशेषणीभूतस्य जीवत्पदस्यापि द्विवचनान्तत्वमेव युक्तमिति कथमेकवचनेन निर्देशः कृतः, 'शतं ब्राह्मणाः' इत्यादेः प्रयोगस्य ।

'विंशत्याद्या शताद् द्वन्द्वे सा चैक्ये द्वन्द्वमेययोः ।'

इति लिङ्गानुशासनानुकूल्यात्, नियमे 'असति विशेषानुशासने' इति पदोपादनमिति, नेह तादृश किमप्यनुकूलमनुशासनमिति चेत् ? न, यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याविरुद्धसंख्यायाः विशेषणवाचकपदोत्तरविभक्त्या अविवक्षितत्वं तत्रैव समानवचनकत्वस्वीकारात्, अन्यथा पूर्वोक्तनियमानुसारं 'वेदाः प्रमाणम्' इत्यादेरपि साधुत्वं न स्यात्, अस्ति चात्र विशेष्यवाचकवेदपदोत्तरजस्विभक्तितात्पर्यविषयबहुत्वसंख्याविरुद्धैकत्वसंख्यायाः विशेषणवाचकप्रमाणपदोत्तरसिविभक्त्या विवक्षितत्वम्, तत्र हि स्यर्थैकत्वस्य सकलवेदनिष्ठायां प्रकृत्यर्थतावच्छेदिकायां प्रमितिकरणतायामन्वयस्य विवक्षितत्वात् । एवमेव 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति भाष्यप्रयोगः, 'इति त्रयः समुदिता हेतुः' इति काव्यप्रकाशादिप्रयोगाश्च समर्थनीयाः । सैव गतिरिहापीत्याह—वचनभेदः पृथगुनिमित्तत्वद्योतनार्थः इति । अयमाशयः—वंश्य-ज्यायोभ्रात्रोर्जीवतोरित्युक्तावुभयत्र सहैव निमित्तत्वं स्यात्, तथा च नैकस्मिन् जीवति युवसंज्ञा स्यात्, इष्यते चैकस्मिन्नपि जीवति, कृते च विशेषणवाचकपदोत्तरैकवचने तस्य प्रत्येकस्मिन्नन्वयस्य विवक्षितत्वेन भवति प्रत्येकस्य पार्थक्येन युवत्वव्यपदेशहेतुत्वम् । एवं च विशेष्यवाचकवंश्यज्यायोभ्रातृपदोत्तरौसुविभक्तितात्पर्यविषयद्वित्व—संख्याविरुद्धैकत्वसंख्याया विशेषणवाचकजीवत्पदोत्तरङि-विभक्त्या विवक्षितत्वेन नेह विशेष्य-विशेषणवाचकपदसमानवचनकत्वनियमप्रसर इति हृदयम् ॥६।१।३॥

सपिण्डे वयःस्थानाधिके जीवद् वा ॥६।१।४॥

त०प्र०—ययोरेकः पूर्वः सप्तमः पुरुषस्तावन्योऽन्यस्य सपिण्डौ । वयो यौवनादि । स्थानं पिता पुत्र इत्यादि । परमप्रकृतेः स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं वयःस्थानाभ्यां द्वाभ्यामप्यधिके सपिण्डे जीवति जीवद्वेव युवसंज्ञं वा भवति । पितृव्ये पितामहस्य भ्रातरि वा वयोऽधिके जीवति जीवद् । गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यः गार्ग्यायणो वा । एवं वात्स्यः, वात्स्यायनो वा । सपिण्ड इति किम् ? अन्यत्र गार्ग्यः । वयःस्थानाधिक इति किम् ? द्वाभ्यामन्यतरेण वा न्यूने गार्ग्यः । जीवदिति किम् ? मृतो गार्ग्यः जीवतीत्येव ? मृते गार्ग्यः । प्रपौत्रादीत्येव ? पौत्रो गार्ग्यः । अस्त्रीत्येव ? स्त्री गार्गी ॥४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सपिण्डे० ।

"Aho Shrutgyanam"

पित्रादावात्मनः कारणे ज्येष्ठे भ्रातरि च जीवति, जीवतो मृतस्य वा प्रपौत्रादेर्युवसंज्ञा नियता पूर्वसूत्रेण प्रत्यपादि, सांप्रतं तयोरन्यस्मिन् सपिण्डे जीवति जीवतः पाक्षिकीं युवसंज्ञामाख्यातुं सूत्रमिदम् । तत्र **'सपिण्डे' 'वयः-स्थानाधिके'** इति पदयोर्व्याख्यानमाह—**ययोरेक** इत्यादिना, ययोः सपिण्डत्वेन ग्राह्ययोः, पूर्वः—पूर्वजः, **सप्तमः पुरुषः**, एकः—समानः, तौ अन्योऽन्यस्य, सपिण्डौ—सपिण्डत्वेन व्यवहार्यौ । सप्तम इति सपिण्डताया अवधिकथनम्, यदाह मनुः 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।' इति, अयमाशयः स्वत आरभ्य पूर्वसप्तम-पुरुषपर्यन्तं येन सह यस्य समानपुरुषत्वं भवति स तस्य सपिण्डः, ततोऽग्रे दशपुरुषपर्यन्तं समानोदकः, ततो यावत् जन्म-नामादि ज्ञायते—'अयं मद्वंश्यस्यामुकस्य पुत्रादिः' इति तावत् सकुल्यत्वम्, ततोऽप्यग्रे सगोत्रत्वव्यवहार इति धर्मशास्त्रव्यवस्था मनुस्मृत्यादौ विस्तरशः प्रतिपादिता । समानः पिण्डो यस्य स सपिण्डः, पिण्डो हि पितृभ्यो देयो वर्तुलाकारोऽन्नमयः पदार्थः, प्रेतस्य नरस्य दशभिः पिण्डैः [पिण्डान्तरं] शरीरान्तरमुत्पादयति, तदेव च शरीरमाविश्य प्रेतो जीव एकदशाहादिश्राद्धं स्वीकरोति, ततो द्वादशेऽहनि पूर्वजेभ्य उद्दिश्य पिण्डा दीयन्ते, तेषां च पिण्डानामेतत्प्रेतपिण्डेन सह मेलनं भवतीत्येवैव सपिण्डता स्मार्तानाम्, सा च सप्तमपुरुषपर्यन्तमेव भवतीति ।

वयसा स्थानेन चाधिकः—श्रेष्ठो वयःशब्दस्यानेकार्थत्वादिह ग्राह्यमर्थमाह—**वयो यौवनादीति** । स्थानपदार्थमपि विविच्य दर्शयति—**स्थानं पिता पुत्र इत्यादीति**—यद्यपि स्थानशब्दोऽत्र शास्त्रे प्रसङ्गादिषु प्रयुक्तस्तथाप्यत्र सूत्रे स सम्बन्धवाची, अस्ति च संबन्धानुसारिण्यां स्थितौ स्थानशब्दो लोके प्रयुक्तः, यथा अयं मम पितृस्थानीयोऽयं मम पुत्रस्थानीय इत्यादि, केवलं वयसाऽधिकस्य ग्रहणे यः किल वयसाऽधिकः सम्बन्धेन न्यूनस्थानीयस्तस्मिन्नपि जीवति परमप्रकृतिप्रपौत्रादेर्युवसंज्ञा स्यादिति स्थानाधिकस्यापि ग्रहणमकारि, एवं स्थानाधिकग्रहणे च । एतच्च पदकृत्यप्रदर्शनसमये ग्रन्थकारः स्वयमेव स्पष्टयिष्यति । अत्र पूर्वसूत्रात् 'जीवति' 'प्रपौत्रादि' 'अस्त्री' 'युवा' इति पदचतुष्टयमनुवर्तते, प्रपौत्रादि पदं चापत्यपमाक्षिपति, तथा च परमप्रकृतेरित्यादिवृत्त्युक्तोऽर्थः सम्पन्नः । पूर्वसूत्रे वंश्य-ज्यायोभ्रात्रोः सपिण्डयोर्जीवतोः परमप्रकृतिप्रपौत्रादेर्नित्यं संज्ञाविधानाद् इह सामर्थ्यात् सपिण्डपदं तदितरसपिण्डपरमिति लभ्यते एवेति 'अन्यस्मिन्' ग्रहणं न कृतम् । तथा च स्वपितृ-पितामहादौ, स्वसमानमातृके स्वसमानपितृके वा ज्येष्ठ-भ्रातरि जीवति चतुर्थादेर्नित्यं युवसंज्ञा, पितृव्ये पितामहस्य भ्रातरि तादृशस्थानीये वाऽन्यस्मिन् वयोऽधिके **सपिण्डे जीवति** विकल्पेन युवसंज्ञेति विषयविभागः । न च पितृव्य-पितामह-भ्रात्रादेर्वा वंश्यत्वेन ग्रहणस्योचिततया तद्विषये पूर्वेण नित्यैव संज्ञा कुतो नेति वाच्यम्, तत्र वंश्यपदेन पित्रादिरात्मनः कारणमेव गृह्यते इति व्याख्यातत्वात् ।

उदाहरति—**पितृव्ये पितामहस्य भ्रातरि वा वयोऽधिके जीवति जीवद्गार्ग्यस्यापत्यं-गार्ग्यः, गार्ग्यायणो वेति**—तत्र सत्यां युवसंज्ञायां "वृद्धाद् यूनि" [६.१.३०.] इति नियमात् पूर्वं वृद्धार्थके "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि ततो यूनि "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनणि—गार्ग्यायण इति, पक्षे "पौत्रादि वृद्धम्" [६.१.५४.] इत्यायनणि—गार्ग्यायण इति, पक्षे 'पौत्रादि वृद्धम्" [६.१.२.] इति वृद्धसंज्ञया वृद्धार्थमात्रे प्रत्यये गार्ग्यः इति । अतिदिशति—**एवं वात्स्यः, वात्स्यायनो वेति** ।

पदकृत्यं पृच्छति—**सपिण्ड इति किमिति**, उत्तरयति—**अन्यत्र गार्ग्यः** इति—सपिण्डादन्यत्र वयः-स्थानाधिके मातुलादौ जीवति सत्यपि वृद्धसंज्ञैव भवति, न युवसंज्ञा, सपिण्डपदाभावे च विकल्पेन युवसंज्ञा स्यादिति भावः । **'वयः-स्थानाधिके'** इति पदस्य प्रयोजनमाह—**द्वाभ्यामन्यतरेण वा न्यूने—गार्ग्यः** इति—द्वाभ्यां वयःस्थानाभ्यामन्यतरेण द्वयोरेकेन वयसा स्थानेन वा न्यूने वृद्धसंज्ञैव भवतीति तात्पर्यम् । जीवत्पदस्य फलमाह—**मृते गार्ग्यः** इति—प्रपौत्रादिर्मृतश्चेत् स तादृशे सपिण्डे जीवत्यपि न युवा, किन्तु वृद्ध एव । जीवतीत्यनुवृत्तेर्व्यावृत्तिमाह—**मृतो गार्ग्यः** इति—तादृशे सपिण्डे मृते सति जीवन्नपि चतुर्थादिर्गार्ग्य एव, वृद्धप्रत्ययान्त एव, न युवप्रत्ययान्तः स्यात्, इत्यर्थः । व्यावृत्तिमाह—**प्रपौत्रादीत्येव—पौत्रो गार्ग्यः** इति तादृशे सपिण्डे जीवति मृते वा जीवन् मृतो वा पौत्रो गार्ग्य एव भवतीत्यर्थः । **अस्त्रीत्येव—स्त्री गार्गीति**—प्राग्वद् भावना ॥६।१।४॥

युव-वृद्धं कुत्सार्चे वा ॥६।१।५॥

त०प्र०—युवा च वृद्धं चापत्यं यथासंख्यं कुत्सायामर्चायां च विषये युवसंज्ञं वा भवति ।

"Aho Shrutgyanam"

यूनः कुत्सायां पक्षे युवत्वं निवर्त्यते तत्र वृद्धप्रत्ययेनाभिधानं भवति। गार्ग्यस्यापत्ययुवा कुत्सितो गार्ग्यः गार्ग्यायणो वा जाल्मः। गुर्वायत्तो भूत्वा स्वतन्त्रो यः स एवमुच्यते। कुत्साया अन्यत्र गार्ग्यायण एव। वृद्धस्य चार्चायां पक्षे युवत्वं प्राप्यते। तत्र युवप्रत्ययेनाभिधानं भवति। गर्गस्यापत्यं वृद्धमर्चितं तत्रभवान् गार्ग्यायणः गार्ग्यो वा। अर्चाया अन्यत्र गार्ग्य एव। अस्त्रीत्येव? गर्गस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री गार्गी ॥५॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—युव०। युवा च वृद्धं चानयोः समाहारः—युववृद्धम्, कुत्सा चार्चा चानयोः समाहारः कुत्सार्चम्, तस्मिन् **कुत्सार्चे**, अत्र यथासंख्यमन्वयात्—**यूनः कुत्सायाम्**, वृद्धस्य चार्चायां वैकल्पिकी युवसंज्ञा विधीयते, तेन यूनः पक्षे वृद्धसंज्ञायां तस्मिन् निमित्तक एव प्रत्ययः, युवत्वं हि स्ववंश्ये ज्यायोभ्रातरि अन्यस्मिन् वा वयःस्थानाधिके सपिण्डे जीवति विधीयते, तत्र यूनः स्ववंश्यादिगुरुजनानुकूलमाचरणं प्रशस्यं तद्विपरीताचरणं निन्द्यम्। तथा च गुरुजनप्रतिकूलाचरणात् स तान् मृतानिव सम्भावयति, ततश्च तेषु मृतेषु तस्य वृद्धसंज्ञैवोचितेति पक्षे स विज्ञायते। वृद्धश्च गुरुजनाभावात् स्वतन्त्र एव, तस्य गुरुजनाभावेऽपि तत्सत्तायामिव तदाज्ञयेव व्यवहरणं—पूजा प्रशंसा, ततश्च स गुरुजनान् जीवत इव सम्भावयतीति तेषु जीवत्सु तस्य युवसंज्ञोचितेति पाक्षिकी सा प्राप्यते। इदं च सर्वं वृत्तौ सुस्पष्टमुदाहरणेषु प्रतिपादितमिति व्याख्यानापेक्षम् ॥६।१।५॥

संज्ञा दुर्वा ॥६।१।६॥

त०प्र०—या संज्ञा संव्यवहाराय हठान्नियुज्यते सा दुसंज्ञा वा भवति। देवदत्तीयाः, दैवदत्ताः,। सिद्धसेनीयाः, सैद्धसेनाः। दुप्रदेशा 'दोरीयः' [६.३.३१.] इत्यादयः ॥६॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्–संज्ञा०। अपत्यार्थसम्बद्धे युव-वृद्धसंज्ञे विधाय शब्दसम्बद्धां संज्ञामाख्यातुमुपक्रमतेऽनेन सूत्रेण। तत्र संज्ञायतेऽनयेति करणेऽर्थे स्थादित्वात् के सम्यग् ज्ञानमित्यर्थे "उपसर्गादातो०" [५.१.५६.] इति भावेऽङि स्त्रियां संज्ञाशब्दनिष्पत्तिः। अत्र लक्ष्यानुरोधात् पूर्वैव व्याख्या संज्ञाशब्दस्यापेक्षितेति सूचयन्नाह वृत्तिकृत्–**या संज्ञेत्यादि**। **संव्यवहारायेति**—सम्यग् व्यवहारः संव्यवहारोऽसंदिग्धो व्यपदेशस्तस्मै, सम्यक्तया व्यवहर्तुमित्यर्थः "तुमोऽर्थे भाववचनात्" [२.२.६१.] इति चतुर्थी, अस्ति च संव्यवहरणमित्यर्थे भावघञन्तः संव्यवहारशब्दः। **हठान्नियुज्यते** इति—नामवेयगतं यौगिकमर्थं संज्ञिनि घटमानमनपेक्ष्य स्वेच्छया स्वपुत्रादिकं व्यवहारार्थं [आह्वानार्थं] कयाचित् संज्ञया योजयति जनकः, सा संज्ञा हठान्नियुक्तेति मन्यन्ते। तामेवोद्दिश्य दुसंज्ञा विधीयत इत्याह—**सा दुसंज्ञा वा भवतीति**। संज्ञाफलमुदाहरणमुखेनाह–**देवदत्तीयाः, दैवदत्ताः** इति, यद्यपि देवा अस्मै देयासुरित्याशीर्वादात्मको योगार्थोऽप्यत्र देवदत्तशब्दस्य सम्भवति, तथापि तमनपेक्ष्य केनचित् पित्रा स्वपुत्रो देवदत्तसंज्ञया व्यपदिश्यत इति भवति तत्र देवदत्तशब्दो हठान्नियुक्तः। 'देवदत्तस्य इमे' इत्यर्थे शेषाधिकारीयेण "दोरीयः" [६.३.३२.] इत्यनेन ईयप्रत्यये—'देवदत्तीयाः' इति, पक्षेऽणि—'देवदत्ताः' इति रूपद्वयं न सिध्यति। एवं-**सिद्धसेनीयाः, सैद्धसेनाः** इति–अत्रापि सिद्धा सर्वस्मिन् संग्रामे विजयिनी सेना यस्येति सिद्धसेनशब्दोऽपि योगार्थेनापि युज्यते, तथापि सेनायां स्वनियुक्तयोग्यतयाऽपि शून्यः सर्वथाऽसम्भाविततदर्थवृत्तिमपि पुत्रं सिद्धसेननाम्नाऽऽह्वयति दरिद्रतरोऽपि जनक इति हठादेव नियोगोऽस्य शब्दस्य। अस्य च न केनापि प्राप्तेत्यप्राप्तैव सा विधीयते। दुसंज्ञाविधानस्य फलं प्रकटयितुं दुसंज्ञाचिह्नितान् प्रदेशान् [विधिसूत्राणि] दर्शयति—**"दोरीयः" [६.३.३२.] इत्यादयः इति**, 'अवृद्धाद् दोर्नवा' [६.१.११०.] इत्यादय आदिपदग्राह्याः ॥६।१।६॥

त्यदादिः ॥६।१।७॥

त०प्र०—सर्वाद्यन्तर्गतास्त्यदादयो दुसंज्ञा भवन्ति। त्यदीयम्। तदीयम्। यदीयम्। इदमीयम्। अदसीयम्। एतदीयम्। एकीयम्। द्वीयम्। युष्मदीयम्। अस्मदीयम्। किमीयम्। त्यादायनिः। यादायनिः ॥७॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–त्यदा०। दुरित्यनुवर्तते। **त्यदादिरिति**–एकवचनं शब्दसमुदायापेक्षम्, त्यद्शब्द आदिर्यस्य स त्यदादिः आदिपदमवयवपरम्, तेन तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिर्लभ्यते। त्यदादिः कुत्र पठित इत्याकाङ्क्षायामाह–**सर्वाद्यन्तर्गतास्त्यदादयः** इति—

"Aho Shrutgyanam"

सर्व आदिः प्रथमो येषां शब्दानां ते सर्वादयः, तेषामन्तः-मध्ये गताः—पठिता इत्यर्थः, तथा च सर्वादिगणपठितेषु त्यद्शब्दमारभ्य गणान्तं यावत् [किमूशब्दपर्यन्तमिति यावत्] शब्दसमुदायस्त्यदादिपदेनोच्यते, तमुद्दिश्यात्र दुसंज्ञा विधीयत इत्यर्थः । त्यदादयश्च सर्वेषां नामानि—सर्वनामानीत्यन्वर्थसंज्ञकत्वात् सर्वनामधेयानीति [स्वमते सर्वमादीयत एभिरिति सर्वादय इति] संज्ञात्वाभावात् पूर्वेणाप्राप्ता तेषां संज्ञाऽनेन विधीयते ।

उदाहरति—**त्यदीयमि**त्यादिना, त्यस्य, त्ययोः, त्येषां वा इदमिति—त्यदीयमिति, एवंरूपेणाग्रेऽपि विग्रहः दुसंज्ञाप्रसिद्धं शैषिकमीयप्रत्ययमुदाहृत्यापत्याधिकारस्थमपि स्मृतिविषयभूतमुदाहरति—**त्यादायनिरि**त्यादिना—यस्यापत्यमित्यार्थे "अवृद्धाद् दोर्नवा" [६.१.११०.] इत्यायनिञ्प्रत्यये आद्यस्वरवृद्धौ त्यादायनिरित्यादयः साधवः । अत्रोदाहरणसमूहमध्ये भवदीयमिति नोदाहृतं तत्र दुसंज्ञानिमित्तकेयप्रत्ययाभावात्, तत्र हि 'भवतोरिकणीयसौ' [६.३.३०.] इति प्रतिपदोक्तस्येयसो विधानात्, ईयप्रत्यये च पदत्वाभावात् "धुत्स्तृतीयः" [२.१.७६.] इति तृतीयो न स्यात्, ईयसि च सित्त्वात् "नाम सिदव्यञ्जने" [१.१.२१.] इति पदत्वं भवति, अपत्ये तु भावतायनिरिति भविष्यत्येव यद्यभिधानमस्तीति ज्ञेयम् ॥६।१।७॥

वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः ॥६।१।८॥

त०प्र०—यस्य शब्दस्य स्वरेषु मध्ये आदिः स्वरो वृद्धसंज्ञो भवति स शब्दो दुसंज्ञो भवति । आम्रगुप्तायनिः । शालगुप्तायनिः । आम्बष्ठ्यः । शालीयः । मालीयः । पेतीकायनीयः। औपगवीयः। वृद्धिरिति किम्? दत्तस्येमे दात्ताः । अत्र स्वरेष्वादिः अकारोऽस्तीति दुसंज्ञा स्यात्, शालीया इत्यादिषु तु न स्यादिति वृद्धिग्रहणम् । यस्येति संज्ञिनिर्देशार्थम् । अनेन हि स इत्याक्षिप्यते । स्वरेष्विति व्यञ्जनानपेक्षया बुद्धिसंनिकृष्टस्वरसंनिवेशापेक्षमादित्वं यथा विज्ञायेतेत्येवमर्थम् । तेन व्यञ्जनादेरपि दुसंज्ञा सिद्धा भवति । आदिरिति किम्? सभासन्नयने भवः साभासन्नयनः ॥८॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्—**वृद्धि०** । **यस्ये**ति—सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, **स्वरेष्वि**ति "सप्तमी चाविभागे०" [२.२.१०९.] इति विहिता निर्धारणार्था सप्तमी, तथा च योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह—**यस्य शब्दस्ये**ति, अयमाशयः—यस्य शब्दस्य सम्बन्धिषु **स्वरेषु मध्ये आदिः स्वरो वृद्धिसंज्ञको भवति स दुसंज्ञ** इत्युक्त्या नियमतः प्रतीयते यत् कस्यचन समुदायस्येयं संज्ञा विधीयत इति । आदिशब्द इहोपक्रमार्थो वर्तते, उपक्रम्यत इत्युपक्रमः प्रथमत उच्चारित इत्यर्थः । ननु स्वरेष्विति बहुवचननिर्देशाद् यस्मिन् समुदाये बहवः स्वराः स्युस्तत्रैवेयं संज्ञा प्रवर्तेत, न तु शालादिशब्देषु तेषां द्विस्वरत्वादिति चेत्, न, स्वरौ च स्वराश्चेति द्विवचन-बहुवचनयोरुभयोरप्येकशेषेण निर्दिष्टत्वात्, तेनैकस्वरस्यापि नाम्नो व्यपदेशिवद्भावेन दुसंज्ञा भवति, ज्ञा ब्राह्मणी तस्या अयमित्यर्थे 'ज्ञीयः' इति शब्दकौस्तुभकारः ।

उदाहरति—**आम्रगुप्तायनिरि**ति—आम्रगुप्तस्यापत्यमिति "अवृद्धाद् दोर्नवा" [६.१.११०.] इत्यायनिञ्, एवं—शालागुप्तस्यापत्यं—**शालागुप्तायनिः** । आम्बष्ठानां राष्ट्रस्य राजा, आम्बष्ठस्य राज्ञोऽपत्यं वेति "दुनादि०" [६.१.११८.] इति ष्ये—**आम्बष्ठ्यः** । शालायां भवो जातो वेति "दोरीयः" [६.३.३२.] इति शैषिके ईये—**शालीयः**, एवं मालायां भवो जातो वा—मालीयः । इतिकस्यापत्यं वृद्धमिति नडाद्यायनण्, तस्य छात्र इति कृते "गोत्राददण्ड०" [६.३.१६९.] इत्यकञ् न शिष्यवर्जनात्, ततो "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीये—**पेतिकायनीयः**, एवं हि उपगोरपत्यमित्यणि—औपगवः, तस्यायं छात्र इति—**औपगवीयः** इति ।

पदकृत्यं पृच्छति—**वृद्धिरिति किमिति**—'यस्य स्वरस्यादिः' इत्येतावदेव सूत्रमस्त्विति शङ्का । एवं सति निर्धारणत्वोपपत्तये आदिरित्यावर्तते—यस्य स्वरेष्वादिः [अकारः] आदिः स्यादित्येवार्थः स्यात्, तथा च दत्तस्येमे दात्ता इत्यादौ दत्तशब्दस्य दुसंज्ञा स्यात्, न तु शालादिशब्दस्येति शालीयाद्यसिद्धिः स्यादित्याशयेनोत्तरयति दत्तस्येमे इत्यादिना । नन्वेवमपि शालादिशब्दानां कथं दुसंज्ञा भवति, न ह्येषां वृद्धिसंज्ञक आदिः, किं तर्हि ? व्यञ्जनमिति चेत्? अत्राह—**स्वरेष्विति व्यञ्जनानपेक्षयेत्यादिना**, अयं भावः—समुदाये सतामपि व्यञ्जनानामविद्यमानवद् बुद्धिमाश्रित्य केवलं स्वरसन्निवेशमेव बुद्ध्या परिकल्प्य तस्य सन्निवेशस्यादित्वं प्रथमत्वं वृद्धि-

"Aho Shrutgyanam"

संशस्य विज्ञायेतेत्येतदर्थमेव स्वरेष्विति क्रियत इत्याशयः, अन्यथा 'यस्य वृद्धिरादिः' इतीयतैव सिद्धेः वृद्धिसंज्ञायाः स्वरमात्रस्य विधानात् । **आदिरिति किमिति**—'वृद्धिर्यस्य स्वरेषु' इतीयदेव सूत्रमस्त्विति भावः । तथा च यस्य समुदायस्य यत्र क्वापि वृद्धिः स्यात् तस्य दुसंज्ञा स्यात्, एवं च '**सभास्तन्त्रयन**'शब्दस्य दुसंज्ञायां भवाद्यर्थे "दोरीयः" इति ख्यादिति दोषः, ततश्च सर्वाणि पदानीह सार्थकानीति तात्पर्यम् ॥६।१।८॥

एदोदेश एवेयादौ ॥६।१।९॥

तं०प्र०—देश एव वर्त्तमानस्य **यस्य शब्दस्य स्वरेष्वादिः स्वर एकार ओकारो वा भवति स ईयादौ प्रत्यये विधातव्ये दुसंज्ञो भवति । सैपुरिका, सैपुरिकी । स्कौनगरिका, स्कौनगरिकी । सेपुरं स्कोनगरं च वाहीकग्रामौ । देश इति किम् ? दैववाचकं नन्द्यध्ययनम् । एवकारोऽन्यत्र वृत्तिव्यवच्छेदार्थः । तेन देशेऽन्यत्र च वर्त्तमानस्य न भवति । क्रोडं नामोदग्रामस्तत्र भवः क्रौडः । देवदत्तं नाम वाहीकग्रामस्तत्र भवः दैवदत्तः । क्रोडशब्दः स्वाङ्गेऽपि वर्तते । देवदत्तशब्दः पुंस्यपि क्रियाशब्दश्च । ईयादाविति किम् ? आयनिञादौ न भवति ॥९॥**

श०म० न्यासानुसन्धानम्—एदो० । एच्च ओच्चानयोः समाहारः—एदोत्, 'वृद्धिः स्वरेष्वादिः' 'दुः' इति चानुवर्तते । देशे इति वृत्त्यपेक्षमधिकरणमित्याह—**वर्तमानस्येति** । **ईयादाविति**—ईय आदिः प्रथमो यस्य स ईयादिस्तस्मिन्, ईयप्रभृतौ शैषिके प्रत्यये एव विधातव्येऽनेन संज्ञा भवतीत्यर्थः । तत्फलं पदकृत्यप्रदर्शनावसरे स्वयमेव प्रकटयिष्यति । उदाहरति—**सैपुरिका, सैपुरिकी** इति—सिन्वन्तीति विचि गुणे च—सेशब्दः, सयां पुरं—सेपुरम्, तत्र भवा "व्यादिभ्यो णिकेकणौ" [६.३.३४.] इत्यधिकारे "वाहीकेषु ग्रामात् [६.३.३६.] इति णिके—सैपुरिका, इकणि च ङ्यां—सैपुरिकीति । एवं—स्कोनगरे भवा—**स्कौनगरिका, स्कौनगरिकी** । उदाहरणस्य देशार्थत्वं दर्शयति—**सेपुरं स्कोनगरं च वाहीकग्रामौ** इति । वाहीकदेशश्च महाभारते कर्णपर्वणीत्थमुक्तः—

"पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः ।
वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत् ॥" इति ।

एतेन धर्मबहिर्भूतत्वात् तस्य वाहीकत्वं यौगिकमपि बहिषष्टीकण् चेत्यनुशासनात् । श्लोकार्थस्तु—सिन्धुर्नदः षष्ठो यासां तथाभूतानां पञ्चानां शतद्रूविपाशेरावती वितस्ता चन्द्रभागेति नामभिः ख्यातानां नदीनामन्तरं मध्यभागं ये समाश्रितास्तत्र स्थिता इत्यर्थः, ते देशा वाहीकाः, नामेति वाक्यालङ्कारे, तत्र—तेषु देशेषु दिवसं न वसेत्—एकदिनमात्रमपि निवासं न कुर्यात्, एकदिननिवासेनापि तदीयसंसर्गाद् धर्महानिः सम्भवति, का कथाऽधिकनिवासस्य ? वाहीकशब्दस्य व्युत्पत्त्यन्तरं तस्य देशस्यापवित्रकारणदर्शनपरं तत्रैव [महाभारते कर्णपर्वणि] दर्शितम्, तथाहि—

"बहिकश्च वाहीकश्च विपाशायां पिशाचकौ ।
तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः ॥"

तथा च विपाशानदीतटनिवासिपिशाचप्रसूतत्वाद् वाहीकदेशो धर्मबाह्य इति तात्पर्यम् ।

पदकृत्यं पृच्छति—**देश इति किमिति**, उत्तरयति—**दैववाचकं नन्द्यध्ययनमिति**—देवान् वक्तीति कर्मण्युपपदे बाहुलकाण्णप्रत्यये—देववाचक इति, देववाचकनामा नन्दीसूत्रप्रणेता पूर्वधरः, तेन कृते प्रोक्ते वाऽर्थेऽस्याप्राप्त्या दुसंज्ञाभावेऽपि दैववाचकमिति भवति, देशग्रहणाभावेऽपि दुसंज्ञायामीयापत्तेरिति भावः । देशवाचकत्वाभावबोधनायैव विशेष्यं निर्दिशति—**नन्द्यध्ययनमिति**—'टुनदु समृद्धौ' पञ्चज्ञानात्मिका समृद्धिः—नन्दी पञ्चज्ञानात्मकसमृद्धिप्रतिपादकं शास्त्रं नन्दी, तदात्मकमध्ययनमिति नन्द्यध्ययनमित्यर्थः । ननु विनाऽप्येवकारं देशवाचकस्यैव संज्ञा भविष्यतीत्येवकारो व्यर्थ इत्यत्राह—**एवकारोऽन्यत्र वृत्तिव्यवच्छेदार्थः** इति—अन्यत्र—अन्यस्मिन्नर्थे, वृत्तिः वर्त्तनं पद-पदार्थयोः सम्बन्धविशेषो वा, व्यवच्छेदो व्यावर्तनम्, अन्यत्र वृत्तेर्व्यवच्छेदोऽन्यत्र वृत्तिव्यवच्छेदः, स एवार्थः प्रयोजनं यस्येत्यर्थे एकमेव पदम्, पृथक् पदत्वेऽन्येनान्वयस्य वृत्त्या सहानन्वयापत्तेः, वृत्तिपदस्य पदान्तरेण सहान्वयेऽभ्युपगम्यमाने व्यवच्छेदेन सहासामर्थ्यात् समासो न स्यात् 'सापेक्षमसमर्थम्' इति न्यायात्, पदान्तरसापेक्षं पदं समासादिपदविधीन् प्राप्तुं नालम्, यथा—श्रद्धस्य राज्ञः पुरुषः इति, अत्र राजशब्दस्य श्रद्धविशेषणसापेक्षत्वात्

"Aho Shrutgyanam"

पुरुषशब्देन सह न समासः "समर्थः पदविधिः" [७.४.१२२.] इति परिभाषासामर्थ्याभावे पदविधिर्नेति फल्गितार्थयति, सामर्थ्यं चात्रैकार्थीभावः, पृथगर्थानां पदानामेकोपस्थितिजनकत्वमिति यावत् । 'रंसृष्टार्थं समर्थम्' इति भाष्यात्, अन्येन सहान्वये हि समस्यमानपदान्तरेण सह तस्य निराकाङ्क्षान्वयाभावात् संसर्गाभावः सुतराम्, संसर्गाभावे एकोपस्थितिजनकत्वम्, तदभावे चासामर्थ्यमेवेति सिद्धं—सापेक्षमसमर्थमिति । यद्यपि न्यायोऽयं विसंवादी तेन च देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिप्रयोगाः संगच्छन्ते, तथापि तस्यागतिकगतित्वादत्र गत्यन्तरसंभावनायां तदनादरात् । तथा च देशान्यनिरूपितवृत्तित्वाभावे सति देशार्थनिरूपितवृत्तिमतो ग्रहणायात्रैवकार इति फलितम् । फलं दर्शयति—**तेने**त्यादिना **क्रियाशब्दश्चे**त्यन्तेन, अयमाशयः——क्रोड-देवदत्तशब्दयोर्देशविशेषवाचित्वेऽपि देशान्यनिरूपितवृत्तिमत्त्वाभावान्नात्र दुसंज्ञा । पुनः पृच्छति **ईयादाविति किमि**ति—प्रत्ययविशेषनियमः कुत इत्यर्थः ? उत्तरयति—**आयनिञादौ न भवती**ति देशविशेषपरस्यापि सेपुरादेर्व्यक्तिपरत्वोपचारात् ततोऽपत्यार्थे दुसंज्ञाभावात् "अवृद्धाद् दोनवा" [६.१.११०.] इत्यायनिञ् न भवति, अत्र प्रत्ययनिर्देशाभावे च स स्यात्, अत्र तस्य व्यक्तिपरत्वेऽपि देशार्थमात्रे मुख्यवृत्तिसत्त्वादिति ॥६।१।९॥

प्राग्देशे ॥६।१।१०॥

त०प्र०—प्राग्देशे वर्त्तमानस्य यस्य शब्दस्य स्वरेष्वादिः स्वर एकार ओकारो वा भवति, स ईयादौ प्रत्यये विधातव्ये दुसंज्ञो भवति । कः पुनः प्राग्देशः ? यः शरावत्याः सरितः पूर्वोत्तरेण वहन्त्याः पूर्वतो दक्षिणतो वा भवति । यस्तु पश्चिमत उत्तरतो वा स उदक् । यदाहुः—

'प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा ।
विदुषां शब्दसिद्धयै या
सा वः पायाच्छरावती ॥१॥

एणीपचने भवः एणीपचनीयः । गोनर्दीयः । भोजकटीयः । कोशवृक्षीयः । गोमयद्रूदीयः । एकचक्रकः । क्रोडं नाम प्राग्ग्रामस्तत्र भवः क्रोडीयः । देवदत्तं नाम प्राग्ग्रामस्तस्य काश्यादिपाठात् णिकेकणौ । दैवदत्तिका, दैवदत्तिकी ।

पूर्वकं देशग्रहणम्, एवकारेण संबद्धमिति पुनरिह देशग्रहणम् । देश एवेति नियमनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥१०॥

श०म० न्यासानुसन्धाम्—प्राग्० । प्राङ् चासौ देशश्च प्राग्देशः, तस्मिन्—**प्राग्देशे** इति—वृत्त्यधिकरणत्वात् सप्तमी, तदुक्तम्—प्राग्देशे वर्तमानस्येति । 'दुः' 'यस्य स्वरेष्वादिः' 'एदोत्' 'ईयादौ' इति पदान्तराणि सूत्रान्तरेभ्योऽनुवर्तन्ते । तथा च नियमरहितः पूर्वसूत्रवदस्याप्यर्थः, तमेव वृत्त्या विवृणोति—**प्राग्देशे वर्तमानस्य यस्ये**त्यादिना, यस्येति संज्ञिनिर्देशपरं पूर्ववत्, संज्ञा च शब्दस्वरूपस्यैवेत्याह—**शब्दस्ये**ति । प्राग्देशस्य निरवधिकस्येह निर्देशात् सन्देह उदेति, सर्वो हि कञ्चिद् देशं प्रति प्राग् भवति, कञ्चित् प्रति प्रत्यक् स एव, न चावधिनिर्देशं विनाऽस्यार्थस्य निर्णय इत्याशङ्कायां तस्य रूढत्वमित्याह—**कः प्राग्देश** इत्यादिना, 'कः प्राग्देशः' इति शङ्कापरम्, **कः प्राग्देश** इत्यनेन ग्राह्य इत्यर्थकम्, उत्तरयति—**यः शरावत्या** इत्यादिना, अस्यादौ 'अत्रोत्तरम्' इति पूरणीयम्, पूर्वं च उत्तरं च—पूर्वोत्तरे, पूर्वोत्तरयोः समीपमित्यर्थे "अदूरे एनः" [७.२.१२२.] इत्येनप्रत्यये—'**पूर्वोत्तरेण**' इति साधुः । तथा च पूर्वोत्तरयोर्मध्यदेशमीशानकोणं प्रति वहन्त्या गच्छन्त्याः शरावत्याः—एतन्नामिकायां नद्यां, यो देशः **पूर्वतः**—पूर्वभागे, **दक्षिणतः**—दक्षिणभागे, भवति स प्राग्देश इत्यर्थः, यः पश्चिमतः—पश्चिमदिशि, **उत्तरतः** उत्तरदिशि वा भवति स **उदग्देशः** । अत्र प्रमाणं दर्शयति—**प्रागुदञ्चाविति**, या, विदुषां—वैयाकरणानां [शब्दसिद्धिं प्रति तेषामेवार्थित्वात् कर्तृत्वाच्च] शब्दसिद्धयै शब्दसाधनाय, प्रागुदञ्चौ—प्राग्देशोदग्दिशौ, विभजते—विभज्य ग्राहयति, सा शरावती नाम्नी नदी, वः—युष्मान् पातु—पूततमस्व-सलिलदर्शन-स्पर्शनादिद्वारा दुरितमलनिबर्हणेन रक्षतु, प्रागुदग्देशविभजने दृष्टान्तमाह—**हंसः क्षीरोदकं यथे**ति क्षीरं चोदकं चानयोः समाहारः क्षीरोदकम्, अयमाशयः—हंसो यथा क्षीरोदकमेकीकृतं स्वपाटवेन पृथक् करोति—उदकं त्यक्त्वा क्षीरं पिबतीति तस्य स्वाभावसिद्धो गुणो न तत्र कमप्यन्यमपेक्षते, न च स गुणः केनापि ततो हर्तुं शक्यते, उक्तं च—

"अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।

"Aho Shrutgyanam"

न स्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहन्तुमसौ समर्थः ॥ " इति ।

तथैव शरावत्या नद्या अपि स स्वभावो येन सा प्रागुदगूदेशौ विभज्य ग्राहयति । न तत्र कमप्यन्यमपेक्षते, सदा पश्चिम-दक्षिणकोणतः समारभ्य पूर्वोत्तरकोणं प्रति प्रवहणात् । **अमरसिंहो**ऽप्याह—

" लोकोऽयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः ।
देशः प्रागुदक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः ॥ " इति ।

प्रथमपाद इहानुपयुक्तः पूर्वान्वयी, पादत्रयमिहोपयुक्तम् । अवधेः—अवधिभूतायाः शरावत्याः प्रागुदक्षिणो देशः, प्राच्यः—प्राच्यपदेन व्यवहर्तव्यः, [यः] पश्चिमोत्तरः स उदीच्यः—उदीच्यशब्देन व्यवहर्तव्य इत्यर्थः, केचनामरव्याख्यातारस्तु—ऐशानीतो नैर्ऋत्यं प्रति वहन्ती पश्चिमाब्धिगामिनी शरावतीति वर्णयन्ति, वृत्तिग्रन्थात् तु—नैर्ऋत्याद् ऐशानीं प्रति वहन्ती पूर्वसमुद्रगामिनीति लभ्यते, उभयथापि प्रागुदगूगामित्वेन विवाद इति, एतेन व्याख्यातमेतद् यत् शरावत्याः प्रागुदक्षिणपार्श्वस्थो देशः प्रागूदेश इति ।

उदाहरति—**एणीपचनीय** इत्यादिना, एणीपचने भवः—एणीपचनीयः, " दोरीयः " [६.३.३२.] इति ईयः । एवं गोनर्दे भवः—**गोनर्दीयः**, भोजकटे भवः **भोजकटीयः**, कोशवृक्षे भवः—**कोशवृक्षीयः**, गोमयह्रदे भवः—**गोमयह्रदीयः**, वाहीकेषु बाधकः " क-खोपान्त्य० " [६.३.५९.] इतीयः । एकचक्रे भवः **एकचक्रकः**, "रोपान्त्यात् " [६.३.४२.] इत्यकञ् । क्रोडशब्दस्य स्वाङ्गवाचित्वेऽपि प्राग्देशे वर्तमानस्य दुसंज्ञा भवतीति दर्शयितुमाह—**क्रोडं नाम प्राग्ग्रामस्तत्र भवः क्रोडीयः**, एवं देवदत्तशब्दस्य पुंसि वर्तमानत्वेऽपि प्राग्देशे वर्तमानस्य दुसंज्ञा भवति, तदाह—**देवदत्तं नाम प्राग्ग्रामः**, इति, देवदत्ते भवा इति वाक्ये " काश्यादेः " [६.३.३५.] इति णिके दैवदत्तिका, इकणि च—दैवदत्तिकी इति भवति, तदाह—**देवदत्तं नाम प्राग्ग्राम** इत्यादि ।

नन्वत्र " प्राचि " इत्येतावदेव सूत्र्यतां देशग्रहणं व्यर्थं पूर्वसूत्रादेव तदनुवृत्तिलाभादित्यत आह—**पूर्वकं देश ग्रहणमित्यादि, एवकारेण सम्बद्धमिति**—देश एव वर्तमानस्येत्यर्थे हि देशैवकारयोः सम्बन्धो नियतः, तत्र देशपदानुवृत्तावेवकारोऽप्यनुवर्तेत एकार्थेन युक्तत्वात्, ततश्च तन्निवृत्त्यर्थं देशग्रहणम् । ननु "प्राचि" इति पृथग्योगकरणसामर्थ्यात् एवकाररहितमेव 'देशे' इति पदमनुवर्तिष्यते, किं तदननुवृत्तिफलकेन, देशग्रहणेनेह कृतेनेति, यदि ह्येवकारसम्बद्धं देशग्रहणमिहानुवर्तेत, तदा 'प्राचि' इति पृथग्योगकरणमेव निरर्थकं स्यात्, पूर्वेण सामान्यतो देशमात्रे दुसंज्ञाविधानादिति चेत् ? सत्यम्—'प्राचि' इति कृते सूत्रसामर्थ्यात् प्राचि कालेऽपि वर्तमानस्य दुसंज्ञायां भवाद्यर्थे " दोरीयः " [६.३.३२.] इति स्यादित्याशङ्कानिवृत्तये देशग्रहणस्यावश्यकत्वात् । यद्यपि प्राक्कालवाची न कोऽपि तादृशः शब्दः समुपलभ्यते यस्य स्वरेष्यादिरेदोद् भवेत्, ततश्चानिष्टप्रसङ्गाभावेन देशग्रहणमनावश्यकमिति वक्तुं शक्यते, यथापि प्राकूपदस्य कालदेशोभयवाचकस्य दर्शनात् संदेहः स्यात्—इह कस्य ग्रहणमिति, तन्निरत्यर्थं देशग्रहणस्यावश्यकत्वमेवेति तात्पर्यम् । ननु पूर्वसूत्रेण सामान्यतो देशार्थे वर्तमानस्य दुसंज्ञा विहितैव, सामान्यमध्ये च विशेषसमुदायस्य प्रविष्टत्वात् तेनैव सिद्धे किमनेन सूत्रेणेत्यत आह—**देश एवेति नियमनिवृत्त्यर्थं वचनमिति**, अयमाशयः—पूर्वसूत्रेण देशमात्रार्थनिरूपितवृत्तिमत्त्वाभावत एव देशवाचकस्य संज्ञाविधानात् क्रोड-देवतादिशब्दानां च देशादेशोभयवृत्तित्वात् तेन संज्ञा न स्यात्, इत्येतादृशप्राग्देशवाचिशब्दानां संज्ञासिद्ध्यर्थमस्य वचनस्यावश्यकत्वात् । **प्राणिनीयास्तु** " एङ् प्राचां देशे " [१.१.७५.] इति सूत्रे प्राचां ग्रहणस्य प्रागाचार्यपरत्वमाश्रित्य सामान्यतो [देशमात्रवृत्तेः] एदोदादेः शब्दस्य दु[वृद्ध]संज्ञां साधयन्ति । जयादित्यस्तु [काशिकाकर्ता] प्राचामित्यस्याचार्यपरत्वे तस्य सम्बन्धाय मतेनेति पदमध्याहरणीयमिति गौरवमिति प्राचां ग्रहस्य देशविशेषणत्वमेवेति मन्यन्ते, तन्मते च पूर्वसूत्रोदाहरणीभूतवाहीकोदग्ग्रामादीनां संज्ञा न सिध्यतीति न्यूनता, तत् सर्वमालोच्याचार्यहेमचन्द्रसूरीशेन सूत्रद्वयेन सर्वं संगृहीतमिति विशदं प्रतिभातितराम् ॥६.१.१०.॥

वाद्यात् ॥६।१।११॥

त०प्र०—**या इति च आद्यादिति च द्वितयमधिकृतं वेदितव्यम् । तत्र वाऽधिकारादित ऊर्ध्वं वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विकल्प्यन्ते । तेन पक्षे यथाप्राप्तं समासश्च भवति । उपगोरपत्यम् उपगवपत्यम् इति । उत्सर्गरूपस्तु तद्धितोऽपवादविषये 'पीलासाल्वामण्डूकदा**

"Aho Shrutgyanam"

वा' [३.१.६८.] इत्यादौ वाग्रहणान्न भवति । 'आद्यात्' इत्यधिकारात् सूत्रे यदादौ निर्दिष्टं तस्मात् प्रत्ययो भवति नान्यस्मात्, तेन 'सास्य०' [६.२.९८.] इत्यधिकारे देवतेत्यादौ सेति प्रकृतिरस्येति प्रत्ययार्थो व्यवस्थितो भवति । इन्द्रो देवताऽस्य ऐन्द्रं हविः । ऐन्द्रो मन्त्रः ॥११॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—वा० । इतः पूर्वं संज्ञाप्रकरणम्, अग्रे च प्रत्ययप्रकरणात्, अत्र चोद्देश्य-विधेयबोधकपदाभावात्, पारिशेष्यादिदमधिकारसूत्रमिति निश्चीयते । सूत्रे च पदद्वयं—**'वा' इति, 'आद्यात्' इति च,** तथा च तयोर्द्वयोरिति ऊर्ध्वं—स्वप्रकृत्यर्थमात्रार्थकान् विभक्त्यर्थकान् वा प्रत्ययानभिव्याप्याधिकार इति पर्यवस्यति । तदाह—**'वा' इति च, 'आद्यात्' इति च द्वितयमधिकृतं वेदितव्यमिति** । उभयोः पदयोरधिकारस्य फलमाह—**तत्र वाऽधिकारादित्यादिना** अयमाशयः—"समर्थः पदविधिः" [७.४.११२.] इति परिभाषया पदसम्बन्धविधानस्य समर्थाश्रितत्वं बोधितम् । "यां यां विभक्तिमाश्रित्य बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या" इति भाष्यात् पदविधिरित्यत्र योग्यसर्वविभक्त्या समाश्रयणात् पदात् पदे पदस्य पदयोः पदानां वा विधिः सर्वोऽपि संगच्छते, तथा च तत्र सर्वत्र समर्थाश्रितत्वं वेदितव्यम् । सामर्थ्यं च द्विधा भवति—व्यपेक्षा एकार्थीभावश्च, सम्बद्धार्थं संसृष्टार्थं वेति समर्थशब्दस्य व्युत्पत्तिभेदात्, आद्या व्युत्पत्तिर्व्यपेक्षापेक्षया, द्वितीया चैकार्थीभावानुसारिणी । पदविधित्वं च पञ्चस्वपि समासादिवृत्तिष्वनुगतं, तद्धितप्रत्ययविधानस्यापि तदन्तर्गततया पदविधित्वं सुस्पष्टमेव । अत्रापि समर्थाश्रितत्वमेषितव्यम्, अन्यथा वस्त्रमुपगोरपत्यं चैत्रस्येत्यादावपि तद्धितप्रत्ययप्रसक्तिः । एवं च उपगोरपत्यमित्यर्थे षष्ठीसमास-तद्धितार्थसमासयोः प्राप्तौ विशेषविहितस्तद्धितार्थसमासो बाधते, ततश्च तद्धितार्थसमासे जातेऽणादयो भवन्ति, वाऽधिकाराच्च सर्वेषामणादीनां वैकल्पिकत्वेन पक्षे षष्ठीसमासादिः प्रवर्तत इत्याह—**समासश्च भवतीति** ।

नन्वेवं तद्धितेषु सर्वत्र वाऽधिकारात् तेषां विकल्पनात् तदभावे उत्सर्गविधयः कथं न भवन्तीति शङ्कायामाह—उत्सर्गरूपस्तु तद्धित इत्यादि । **वाग्रहणान्न भवतीति** अयमाशयः—अत्र सूत्रे वाग्रहणाभावेऽपि वाऽधिकारात्, एतस्यापि वैकल्पिकत्वे सिद्धे, एतदभावे पीला-सास्वा-शब्दाभ्यां द्विस्वरनैमित्तिकैयणि, मण्डूकशब्दादिञि च सिद्धेऽत्रेयं वाग्रहणं व्यर्थीभूय ज्ञापयति—'उत्सर्गेण मुक्ते विषयेऽपवादो न प्रवर्तते' इति । स्वांशे चारितार्थ्याय च ज्ञापनस्याधिकारिकवाग्रहणपरत्वमुपेत्य स्वेन मुक्ते विषये उत्सर्गप्रवृत्तिरभ्यनुज्ञायते । अत्रत्यद्वितीयपदस्याधिकारे फलमाह—**आद्यादित्यधिकारादिति** । फलमाह—तेनेति । अत्रेदं विचार्यते—इह 'आद्यात्' इति विशेषणं प्रयोगवाक्यान्तर्गतस्य लक्षणवाक्यान्तर्गतस्य वा ? नाद्यः, लौकिकवाक्ये पदप्रयोगस्यानियतत्वेन 'पात्रमाहर, आहर पात्रम्' इतिवत्, 'इन्द्रो देवताऽस्य, अस्य देवतेन्द्रः' इति वाक्यद्वयस्यापि विवक्षाधीनत्वेन पूर्वस्मिन् वाक्ये दोषाभावेऽप्युत्तरस्मिन् वाक्येऽन्यपदार्थस्यैव प्राथम्येनोपस्थितत्वात् ततः प्रत्ययः स्यादिति द्वितीय एव पक्ष इत्याह—**सूत्रे यद् आदौ निर्दिष्टमिति** । तथा च साऽस्य देवतेत्यादौ षष्ठयन्ताद् देवतार्थे प्रत्ययो मा भूदिति सन्देहनिवृत्त्यर्थमाद्यादित्यधिकार इति फलितम्, सति चास्मिन्नधिकृते सूत्रे आद्यं पदं 'सा' इति, तद् बोध्यश्च प्रथमान्तः, तस्यैव विशेषणं देवतेति, तथा च प्रथमान्ताद् देवतावाचिनोऽस्येति षष्ठ्यर्थेऽण्प्रत्ययः सिद्धो भवति । उदाहरति—इन्द्रो देवताऽस्येति—तथा चात्र प्रथमान्तो देवतावाचीन्द्रशब्द एव, तस्मादेवाण्प्रत्ययो भवतीति तात्पर्यम् । एवमेव "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यादावपि बोध्यम्, यथा उपगोरपत्यमित्यर्थे ङसन्ताद्उपगुशब्दादेवाण् भवति, न त्वपत्यशब्दादिति, एवं च पदद्वयस्याप्यधिकारः सप्रयोजन इत्यवसितं भवति ।

नन्वत्रैकार्थीभावसामर्थ्यस्य विवक्षायां तद्धितप्रत्ययाः, व्यपेक्षाविवक्षायां वाक्यं च स्यात्, समासस्तु न स्यादित्येतदर्थं वाऽधिकारस्यावश्यकत्वेऽपि 'आद्यात्' इत्यधिकारो व्यर्थः, साऽस्य देवतेत्यादौ षष्ठयन्तात् प्रत्ययविधानेऽर्थस्याभिधानाभावात् तद्धितसंज्ञालब्धार्थाप्रतीतेराद्यादेव प्रत्ययो भविष्यति, नहि 'ऐन्द्री दिग्' इतिवत् 'दैश इन्द्रः' इति प्रयोगार्थप्रतीतिर्भवति, ततश्च व्याख्यानादेवाद्यादेव प्रत्ययो भविष्यति, कोऽर्थ आद्यादित्यधिकारेणेति चेत् ? न, व्याख्यानाद् वरं कारणम्' इति भाष्ये षष्ठ्याधिकारस्यैव युक्तत्वात् । स्यादेतत्, कृतेऽपि पदद्वयाधिकारे शोभनमुत्थितं यस्य तस्यापत्यमित्यर्थे 'सु-उत्थित'शब्दात् "अत इञ्" [६.१.३१.]

"Aho Shrutgyanam"

इति इञि "समानानां तेन दीर्घः" [१.२.१.] इति सूत्रं परत्वाद् बाधित्वा "वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञिति णिति तद्धिते" [७.४.१] इत्याद्यस्वरवृद्धावपि सावुत्थितिरिति रूपं स्यात्, तन्मा भूदित्येतदर्थं, परिनिष्ठितं—कृतवर्णानुपूर्वीनिमित्तकमित्यर्थकं समर्थपदं पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं वाऽधिकार्यम्, ततश्च कृतवर्णानुपूर्वीनिमित्ताद् आद्यात् प्रत्ययोत्पत्तिः, वा कृतवर्णानुपूर्वीनिमित्तकस्यैवेह प्रत्ययोद्देश्यत्वमित्यर्थावगतौ 'सु—उत्थित' इत्यवस्थायां न प्रत्ययोत्पत्तिः, किन्तु दीर्घे कृते एवेति । अत एव च पाणिनीयनये 'समर्थानां प्रथमाद् वा' [४.१.८२.] इति समर्थानामित्यधिक्रियत इति न्यूनतेति चेत् ? अत्रोच्यते 'सु—उत्थित' इत्यवस्थायां पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात् पूर्वं दीर्घे ततस्तद्धितोत्पत्तौ वृद्धिरिति समर्थाधिकारस्यानावश्यकत्वात् । अत एव पाणिनीयनयेऽपि तस्य वैयर्थ्येनाकृतव्यूहपरिभाषाज्ञापकत्वमुक्तम्, भाष्ये तु तत्परिभाषानादरणात् समर्थानामित्यधिकारफलं मृग्यमेवेति सुधीभिराकरे द्रष्टव्यम् ।

ननु आद्यादित्यधिकारात् सूत्रेषु प्रथमगृहीतान्नाम्नः प्रत्ययो भवतीत्येतस्मिन्नर्थे सिद्धेऽपि 'साऽस्य देवता' इत्यादौ 'सा' इत्येतत् सर्वनाम सामान्यवाचि प्रथमं निर्दिष्टमिति देवता सामान्यवाचिभ्य एव सुरामर-निर्जरादिशब्देभ्यः प्रत्ययः स्यात्, न तु देवविशेषवाचीन्द्रादिभ्यः, तेषां सूत्रे प्रथमनिर्दिष्टत्वाभावादिति चेत् ? न, इह सामान्यग्रहणस्य विशेषोपलक्षणार्थत्वात्, सर्वनाम हि प्रधानपरामर्शि, प्राधान्यं च विशेषाणामेव भवति, न सामान्यानाम्, ततश्च विशेषादेव प्रत्ययोत्पत्तिर्न सामान्यादित्यलमित्यधिकेन ॥ ६.१.११. ॥

गौत्रोत्तरपदाद् गोत्रादिवाऽजिह्माकात्य-हरितकात्यात् ॥६।१।१२॥

त०प्र०—गोत्रमपत्यम् । जिह्वाकात्य-हरितकात्यवर्जिताद् गोत्रप्रत्ययान्तोत्तरपदाद् यद् गोत्रमपत्ययान्तमुत्तरपदं तस्मादिव वक्ष्यमाणः प्रत्ययो भवति । यथेह ईयो भवति, चारायणीयाः, पाणिनीयाः, जैमिनीयाः, रौढीयाः, तथा—कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः कडारजैमिनीयाः, घृतरौढीया इत्यादावपि भवति । यथा चेहाञ् भवति—शाकलाः, काण्वाः, दाक्षाः, पान्नागाराः, तथा—त्रैहिशाकलाः, प्रैङ्गलकाण्वाः, कापिलदाक्षाः, क्षैरपान्नागारा इत्यत्रापि भवति । अजिह्वाकात्य-हरितकात्यादिति किम् ? यथेहेयो भवति काल्यस्य छात्राः, कातीयास्तद्वदिह न भवति । जिह्वाचपलः कात्यो जिह्वाकात्यः । हरितभक्षः कात्यो हरितकात्यः तस्येमे छात्राः जैह्वाकाताः हारितकाताः ॥१२॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—गोत्रो० । गोत्रा[वृद्ध-युवसाधारणा]त्यप्रत्ययान्तमुत्तरपदं यस्य तस्माद् गोत्रोत्तरपदात् । गोत्रपदं गोत्रप्रत्ययान्तपरम् । जिह्वाकात्यश्च हरितकात्यश्चानयोः समाहारो **जिह्वाकात्य-हरितकात्यम्**, न जिह्वाकात्य-हरितकात्यमजिह्वाकात्य—हरितकात्यं तस्मात्—अजिह्वाकात्यहरितकात्यादिति—अत्र नञ्पर्युदासपरः समस्तत्वात्, तेन च **जिह्वाकात्य-हरितकात्यवर्जितादित्यर्थो** भवति, गोत्रोत्तरपदादित्यस्य विशेषणमिदं पदम् । गोत्रशब्दस्य च लोकशास्त्रयोरनेकार्थेषु व्यवहृतत्वादत्र गोत्रशब्देन किं ग्राह्यमिति संशये आह—**गोत्रमपत्यमिति**, न तु गोत्राध्यायप्रसिद्धं लौकिकं गोत्रमिति भावः, अपत्यं चेह सामान्यतोऽपत्यमात्रपरम्, गोत्रस्यात्र पारिभाषितत्वाभावेन, 'संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इति कोशाद् गोत्रपदस्य सन्ततिमात्रपरत्वस्यैव ग्राह्यत्वात् । तथा च योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह—**जिह्वाकात्येत्यादिना**।

किमविशेषेण गोत्रप्रत्ययान्ताद् यो यः प्रत्ययो दृष्टः स इहातिदिश्यते ? नेत्याह—यद् गोत्रप्रत्ययान्तमुत्तरपदं तस्मादिवेति । ननु तथापि गार्ग्यशब्दाद् युवापत्ये "यञिञः" [६.१.५४.]इत्यायनण् भवति, स इहापि स्यात्, परमश्चासौ गार्ग्यश्च परमगार्ग्यः, तस्य युवापत्यं—पारमगार्ग्यायण इति स्यात्, इष्यते तु परमगार्ग्यायण इति चेत् ? न, वक्ष्यमाणः प्रत्ययः इत्यनेन शैषिकप्रत्ययस्य विवक्षितत्वात् । पूर्वत्रेयादिरित्यधिकृतम्, तच्च यद्यपि "वाऽऽद्यात्" [६.१.११.] इत्यनेन व्यवहितं तथापि 'मण्डूकगतयोऽधिकाराः" इति सिद्धान्तान्मण्डूकप्लुत्येहाप्यधिक्रियते, तत्र च तत्पुरुष-बहुव्रीह्योरुभयोराश्रयणम्, ईयस्यादिरीयादिः ईय आदिर्यस्य वा सोऽयमीयादिरिति, तत्पुरुषसमासेन "शाकलादेर्यञः" [६.३.२७.] इत्यपि संगृह्यते । न चैवमपत्याधिकारस्थोऽपि ईयस्यादावेवास्तीति वाच्यम्, आदिशब्दस्य पूर्वसमीपबोधकत्वात्, अपत्याधिकारस्थानां च शेषाधिकारबहिर्भूतत्वेन विप्रकर्षात् ।

"Aho Shrutgyanam"

उदाहरति-**चारायणीयाः** इति-चरस्य वृद्धमपत्यमिति "नडादिभ्य आयनण्" [६. १. ५३.] इत्यायनणि-चारायणः, तस्येमे छात्रा इति "दोरीयः" [६. ३.३२.] इतीये-चारायणीयाः, एवं **पाणिनीयाः** इति-"पणि व्यवहार-स्तुत्योः' पणनं पणः, "पणेर्मानि" [५. ३.३२.] इत्यङ्, पणोऽस्यास्तीति पणी "अतोऽनेकस्वरात्" [७.२.६.] इति इन्, पणिनोऽपत्यं वृद्धमिति पणिनः "ङ्सोऽपत्ये" [६.१.२८.] इति अण्, पाणिनस्यापत्यं युवा-पाणिनिः "अत इञ्" [६.१.३१.] इति इञ्, पाणिनेः इमे छात्रा इति ईयविषये "यूनि लुप्" [६.१.१३७.] इति इञो लुपि-पाणिनीयाः, दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयः। एवं जैमिनेः, रौढेश्चेमे छात्राः-**जैमिनीयाः, रौढीयाः** इति। यथेह चारायणीयादिषु गोत्रप्रत्ययान्ताद् दुर्संज्ञकाच्च चारायणादेरीयप्रत्ययो भवति, तथा तदन्तादपि भवतीत्याह-तथा **कम्बलचारायणाः** इत्यादिना, कम्बलप्रियश्चासौ चारायणश्च-कम्बलचारायण इति मध्यमपदलोपी समासः, ओदनप्रियः पाणिनिः-ओदनपाणिनिः, कडारश्चासौ जैमिनिश्च कडारजैमिनिः घृतप्रियो रौढिः-घृतरौढिः, तेषामिमे छात्रा इति तथा। एवमञो विषयेऽपि ज्ञेयमित्याह-यथा चेहाञ् भवतीति, कैत्याह-शाकलाः इति-शकलस्य वृद्धमपत्यमिति गर्गादित्वाद् यञि शाकल्यः, तस्येमे छात्राः **शाकलाः** "शकलादेर्यञः" [६.३.२७.] इति अञि "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इत्यनेनाकारलोपे "तद्धितयस्वरे०" [२.४.८२.] इति यलोपः' एवं कण्वस्य वृद्धमपत्यमिति काण्व्यः, तस्येमे छात्राः-**काण्वाः**, दक्षस्य वृद्धमपत्यं दाक्षिः, तस्य छात्राः-**दाक्षाः** "वृद्धेऽञः" [६.३.२८.] इत्यञ्प्रत्ययः। एवं-पन्नागारस्य वृद्धमपत्यं-पान्नागारिः, तस्य छात्राः **पान्नागाराः**। यथाऽत्र शाकल्यादेरञ् भवति तथा तदन्तादपि भवतीत्याह-तथा **व्रैहिशाकलाः** इत्यादिः, व्रीहिप्रियः शाकल्यः-व्रीहिशाकल्यः, पिङ्गलश्चासौ काण्व्यश्च-पिङ्गलकाण्व्यः, कपिलश्चासौ दाक्षिश्च-कपिलदाक्षिः, क्षीरप्रियः, पान्नागारिः-क्षीरपान्नागारिः, तेषामिमे छात्रा इति तथा।

पदकृत्यं पृच्छति-**अजिह्माकात्य-हरितकात्यादिति किमिति**-गोत्रप्रत्ययान्तोत्तरपदेषु मध्ये एतयोरेव वर्जनं कुतः कृतमिति प्रश्नः, लक्ष्यानुरोधादित्याशयेनोत्तरयति-**यथेह भवतीत्यादिना**, कृतस्य गोत्रापत्यं-कात्यः, तस्य छात्रा इत्यर्थे "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयो भवति, किन्तु जिह्माचपलः कात्यो जिह्माकात्यः, मध्यमपदलोपी समासः, तस्य छात्रा इत्यर्थे शैषिकोऽणेव भवति, ततश्चाद्यस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे "तद्धितयस्वरे०" [२.४.९२.] इति यलोपे-**जैह्माकात्राः**, एवं हरितभक्षः कात्यो हरितकात्यस्तस्य छात्रा इत्यर्थे-**हारितकाता** इति भवति, यदीहेतयोर्वर्जनं न स्यात् तदा गोत्रप्रत्ययान्तस्य कात्यशब्दस्य दुर्संज्ञत्वेन "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयो भवति स चेहापि स्यादिति 'जिह्माकातीयाः, हरितकातीयाः' इति च स्यादत एतयोः पर्युदास आवश्यक इति समाधातुराशय इति संक्षेपः ॥६.१.१२.॥

प्राग् जितादण् ॥६।१।१३॥

त०प्र०—**प्राग्जितशब्दसंकीर्तनात् पादत्रयं यावद् येऽर्था अपत्यादयस्तेष्वपवादविषयं परित्यज्य अण् प्रत्ययो वा भवति। उपगोरपत्यमौपगवः। मञ्जिष्ठया रक्तं वस्त्रं माञ्जिष्ठम्। भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। अश्मनो विकारः आश्मः। स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः। णकारो वृद्ध्यर्थः। अधिकारः परिभाषा विधिर्वाऽयम्। अधिकारपक्षे 'प्राग्जितात्' इत्युत्तरार्थम्। अन्यथा 'इकण्' इत्यादि यद् 'अण्' इत्येव सिद्धम् ॥१३॥**

श०म० न्यासानुसन्धानम्—**प्राग्०**। पदत्रयात्मकं सूत्रम्-'प्राक्-जिताद्-अण्' इति। तत्र प्रागिति देशवाचकमपि पदं दिशि दृष्टत्वाद् दिग्वाचकमपीति 'जिताद्' इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी भवति। 'अण्' इति विधेयत्वेन प्रथमान्तम्। जितपदं च स्वोच्चारणपरम्, तथा च जितशब्दोच्चारणं यावत् इति प्राग्जिता-दिति पदद्वयस्यार्थः, तदाह-**प्राग्जितशब्दसंकीर्तनाद्** इति। जिताभिन्नस्वरूपः शब्दो जितशब्दः, सम्यक् कीर्तनम्-कथनं च संकीर्तनम्, जितशब्दस्य संकीर्तनम्, जितसंकीर्तनम्-तस्मात् तमवधीकृत्य ततः पूर्वप्रदेशोक्तार्थपर्यन्तमिति प्राग्जितादित्यस्यार्थः। 'तेन जित-ञयद्-दीव्य०" [६.४.२.] इति सूत्रे हि जितशब्दस्य संकीर्तनम्-उच्चारणं क्रियते। तस्मात् सूत्रात् प्राक् येऽर्था उक्ताः, त एवात्र व्याप्यत्वेन विवक्षिताः, न तु तत्पर्यन्तविहितप्रत्ययाः सूत्राणि वा। यदि हि ते ते तानि वा व्याप्यत्वेन विवक्षितानि स्युः, तर्हि "प्राग्विकणोऽण्" इत्येव सूत्रयेत्। कोऽर्थोऽर्थस्यावधित्वविवक्षया स्यात्। करोति चार्थस्यावधित्वविवक्षाम्, ततश्च अर्था एवाभि-

"Aho Shrutgyanam"

व्याप्यत्वेन विवक्षिता आचार्यस्येति गम्यते। तदाह वृत्तिकृत्—**पादत्रयं यावद् येऽर्था** इति। परोऽवधिरुक्तः प्रारम्भावधिस्तु स्पष्टोऽपि पुनः स्पष्टीकृतः—**अपत्यादय** इति। "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यत एव हि तद्धितप्रत्ययानामर्थाः प्रारब्धा इति तदादिरेव जितावधिरर्थसमुदायो ग्राह्य इति भावः। किमतः परं प्रागूजिताद् ये येऽर्था अभिहितास्तेष्वर्थेषु सर्वाभ्योऽपि प्रकृतिभ्योऽणेव भविष्यति, नान्ये प्रत्यया भविष्यन्तीति चेदत्राह—अपवादविषयं परित्यज्येति *प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते*, *पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः *इति न्यायाभ्यामपवादविषयपरित्यागेन तदनवरुद्धेऽर्थे तदनवरुद्धाभ्यश्च प्रकृतिभ्योऽणेव भविष्यतीत्यर्थः।

अत्रायमभिसन्धिः—उत्सर्गशास्त्राणि हि व्यापकानि, अपवादशास्त्राणि च व्याप्यानि, तथा चापवादत्वेनाभिमतस्य शास्त्रस्य निरवकाशता स्यादिति तस्य बलवत्त्वं भवति, उत्सर्गशास्त्रादपवादशास्त्रस्य बलवत्त्वं तु * उत्सर्गादपवादः* इति न्यायेनैव प्रतिपादितम्। उत्सर्गशास्त्रादपवादशास्त्रं बलवद् भवति इति तदर्थः। उत्सर्गापवादशास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावस्तु येन नाप्राप्ते नाप्राप्तन्यायमूलकोऽपि। तन्न्यायस्वरूपं तु * येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः * इति। अत्र येनेति कर्तरि तृतीया प्राप्तेति भावे क्तः। यत्कर्तृकावश्यकप्राप्तौ सत्यामारभ्यमाण यो विधिः स तस्यैव बाधको भवतीत्यर्थः। बाधकत्वबीजानि च मतभेदेन एक-द्वि-त्रि-चतुःसंख्यकानि इति निरूपितपूर्वं "ऋणे प्रदशार्ण–वसन०" [१.२.७.] इति सूत्रे। ततश्च "प्रागूजितादण्" [६.१.१३.] इति स्वाधिकारान्तर्गतेषु सर्वेष्वर्थेषु सर्वाभ्यः प्रकृतिभ्यः प्राप्तम् इति व्यापकम्, अन्ये च प्रत्यया नाप्तेऽस्मिन् विहिता इति तेऽस्य बाधकाः। किञ्च सर्वोऽपि विषयोऽनेन व्याप्त इति अग्रेतनानां प्रत्ययविधिशास्त्राणां निरवकाशत्वेनापवादत्वमिति। अपवादशास्त्रस्य च बलवत्त्वम्। *उत्सर्गादपवादः * इति न्यायमूलकमित्युक्तमेव। किन्तूत्सर्गशास्त्रैः सकलानि लक्ष्याणि स्वकार्यद्वारा व्याप्तानि। सांप्रतं चापवादशास्त्रं प्रवृत्तमपि रूपान्तरमेव कल्पयेदिति विकल्पापत्तिरिति पूर्वोक्तन्यायद्वयस्य [* प्रकल्प्यविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते *, * पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते तत उत्सर्गाः *] समुत्थानम्। तत्र प्रथमः लक्ष्यैकचक्षुष्कशास्त्रकारविषयः। स हि लक्ष्याणि पश्यन् तदनुसारमपवादशास्त्रपर्यालोचनं विनापि तद्विषयलक्ष्याणि परित्यज्योत्सर्गशास्त्रेण शेषाणि लक्ष्याणि संस्करोति। ननु यद्ययं लक्ष्यैकचक्षुष्कः तर्हि लक्ष्यसंस्कारायास्य का शास्त्रापेक्षेति चेन्न; तस्यापि शास्त्रज्ञानपूर्वक एव प्रयोगे धर्मोपपत्तेः। ततश्च अपवादा अप्युत्सर्गशास्त्रपरित्यक्ते विषये प्रवर्तन्ते इति न विकल्पापत्तिः, न वा शास्त्रजबोधेऽप्रामाण्यशङ्कापत्तिः। (लक्ष्यैकचक्षुष्काणां कृते) उत्सर्गः उत्सर्गशास्त्रम्, अपवादविषयं-अपवादत्वेनाभिमतशास्त्रलक्ष्यं–प्रकल्प्य, परित्यज्य ततः—अपवादशास्त्रपर्यालोचनात् प्रागपि, अभिनिविशते–लक्ष्येषु प्रवर्तत इति प्रथमन्यायार्थः।

द्वितीयो न्यायश्च लक्षणैकचक्षुष्कप्रतिपतृविषयः, स हि अपवादशास्त्रविषयं पर्यालोच्य लक्ष्यविशेषे तद्विषयत्वाभावनिश्चये जाते उत्सर्गशास्त्रेण तत् लक्ष्यं संस्करोति। ततश्च न विकल्पापत्तिः। लक्षणमात्राधीनज्ञानवान् पुरुषः पूर्वमुत्सर्गशास्त्रवाक्यार्थबोधे जातेऽपि, संदिहानोऽपवादशास्त्राणि पर्यालोचयति, ततश्चापवादशास्त्रविषयातिरिक्तानि लक्ष्याणि उत्सर्गशास्त्रेण, अपवादशास्त्रविषयाणि चापवादशास्त्रेण संस्करोतीति विवेकः। न्यायार्थस्तु (लक्षणैकचक्षुष्काणां कृते) पूर्वम्—उत्सर्गशास्त्रेण लक्ष्यसंस्कारकरणात् प्रागेव हि, यतः अपवादः-अपवादशास्त्राणि अभिनिविशन्ते बुद्ध्यारूढानि भवन्ति, पश्चात्—अपवादशास्त्रविषयपर्यालोचनान्तरम्, उत्सर्गाः—उत्सर्गशास्त्राणि प्रवर्तन्त इति शेष इति। एतावानेतयोर्न्याययोर्विशेषः—लक्ष्यैकचतुष्को यथालक्ष्यं संस्कारं कर्तुं समर्थ इति विनाप्युत्सर्गापवादपर्यालोचनम्। उत्सर्गशास्त्रलक्ष्याणि उत्सर्गेण, अपवादशास्त्रलक्ष्याणि च अपवादशास्त्रेण संस्कर्तुं समर्थ इति अपवादशास्त्रज्ञानात् प्रागपि तस्य तद्विषयपरित्यागः सुकरः, लक्षणैकचक्षुष्कस्तु विना लक्षणं किमपि लक्ष्यं संस्कर्तुमसमर्थ इति पूर्वं सर्वाणि लक्षणानि पर्यालोचयति; ततश्चापवादशास्त्रं पर्यालोच्यैव तद्विषयलक्ष्यं विवेचयितुमर्हतीति।

प्रकृतमनुसरामः—उभयथाऽपि अपवादशास्त्रविषयत्याग एवोचित इति सम्यगुक्तम्—अपवादविषयं परित्यज्येति।

उदाहरति—**उपगोरपत्यम्–औपगव** इति। "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इति सूत्रमर्थमात्रनिर्देशपरम्। षष्ठ्यन्तान्नाम्नोऽपत्येऽर्थे यथाप्राप्तप्रत्ययविधायकम्। उपगोश्चापत्ये न केनापि सूत्रेण विशिष्य प्रत्ययो विहित इति, अपवादशास्त्रविषयाभावाद् उत्सर्गेणानेनैवाणप्रत्ययः भवतीति आदिस्वरवृद्ध्यादिषु सत्सु औपगव इति रूपं संपद्यते। अपत्यार्थाधिकारस्थमुत्सर्गशास्त्रलक्ष्यं प्रदर्श्य रक्ता-

"Aho Shrutgyanam"

र्थाधिकारस्थं लक्ष्यमाह—**माञ्जिष्ठया रक्तं वस्त्रं माञ्जिष्ठमिति** । मञ्जिष्ठा रञ्जनद्रव्यम्, तद्रागविशिष्टीकृतमित्यर्थः । "रागाद्दो रक्ते" [६.२.१.] इति सूत्रेण रागवाचिनस्तृतीयान्तादू रक्तेऽर्थे यथाविहिताः प्रत्यया अनुप्रशिष्टाः । न च मञ्जिष्ठाशब्दात् कोऽपि प्रत्ययो रक्तेऽर्थे विशिष्य विहित इति तत्रैतदधिकारसूत्रप्राप्त एव अण् भवति । आदिस्वरवृद्धौ "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इत्याकारलोपे माञ्जिष्ठशब्दसिद्धिः । **भिक्षाणां समूहो भैक्षम्** इति । भिक्षाशब्दात् समूहेऽर्थे "भिक्षादेः" [६.२.१०.] इति यथाप्राप्त एव प्रत्ययोऽभ्यनुज्ञायते । स च प्रकृतसूत्रलभ्योऽणेव, विशिष्य प्रत्ययान्तरविधानाभावात् दिति अणि सति आदिस्वरवृद्धावाकारलोपे च भैक्षशब्दसिद्धिः । **अश्मनो विकार आश्म** इति । "विकारे" [६.२.३०.] इति सूत्रेण विकारार्थे यथाविहितं प्रत्यया अभ्यनुज्ञाताः, न चाश्मनो विकारे कोऽपि प्रत्ययो विशिष्यानुशिष्ट इति सामान्यतोऽनेनाधिकृतोऽणेव भवति, आदिस्वरवृद्धौ अन्त्यस्वरादिलोपे आश्म इति सिध्यति ।

अथ शेषाधिकारस्थेऽप्यर्थे स्थालीपुलाकन्यायेनोदाहरति—**स्रुघ्ने भवः स्रौघ्न** इति । स्रुघ्नो पुरा प्रसिद्धो देशः तत्रोत्पन्न इत्यर्थः । "भवे" [६.३.१२३.] इति सूत्रेण सप्तम्यन्ताद् भवार्थे यथाविहितं प्रत्यया अनुशिष्टा इति तत्राप्येतत्सूत्रप्राप्तोऽणेव भवति, स्रुघ्नशब्दाद् भवार्थे विशिष्य प्रत्ययान्तरानुशासनविरहात् ।

ननु अकारमात्रस्य प्रत्यये श्रवणाद् णकारस्य क्वापि लक्ष्येऽनुपलम्भात् किमर्थमयं प्रत्ययेऽनुबध्यते इत्याशङ्क्यायां तत्सार्थक्यमाह—**णकारो वृद्ध्यर्थ** इति । वृद्धिः अर्थः प्रयोजनं यस्य तादृशः, वृद्धये वाऽयमिति तादर्थ्ये चतुर्थ्या वा समासः । पूर्वत्र विग्रहे बहुव्रीहिः, परत्र च तत्पुरुषः । तथा च "वृद्धिः स्वरेष्वादे०" [७.४.१.] इति सूत्रेण णकारेत्संज्ञके तद्धितप्रत्यये परतो विधीयमाना वृद्धिरेतत् प्रकृतेरप्यादिस्वरे यथा प्रवर्तेत तदर्थोऽयं णकार इति भावः । ननु—

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
प्रतिषेधोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥"

इत्यभियुक्तोक्तेषु [क्वचिच्च दशविधत्वमपि सूत्राणामुच्यते, तच्च ग्रन्थादावेव निरूपितमितीह नोक्तम् ।] सूत्रभेदेषु कस्मिन् प्रभेदे सूत्रमिदमन्तर्भवतीति शङ्कायामाह—**अधिकारः परिभाषा विधिर्वाऽयमिति** । तत्र स्वदेशे लक्ष्यसंस्कारबोधशून्यत्वे सति विधिसूत्रेण सह साक्षादेकवाक्यतया लक्ष्यसंस्कारकबोधोपयोगित्वम् अधिकारसूत्रत्वम् । तथा चास्य सूत्रस्य सत्यपि स्वदेशे वाक्यार्थबोधे न स बोधो लक्ष्यसंस्कारकः किन्तु "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यादिविधिः सूत्रैः सह साक्षादेकवाक्यतया संपन्न एव बोधो लक्ष्यसंस्कार इति भवत्यस्य अधिकारसूत्रत्वम् । परं त्वस्मिन् पक्षे केवलम् 'अण्' इत्येतावदेवावधि 'प्राग्जितात्' इत्यवधिनिर्देशार्थम्, उत्तरसूत्रैरपि सामान्यतः [अर्थविशेषमनिमित्तीकृत्य नाममालात्, नामविशेषाद् वा] विहितानां प्रत्ययानामवधिनिर्देशाय तेष्वनुवर्तनार्थं च । वक्ष्यति च स्वयमेव ग्रन्थकारः **अधिकारपक्षे** इत्यादिना । तच्चाग्रे व्याख्यास्यत एव ।

नन्वधिकारस्य नदीधारा प्रवाहरूपतया निरन्तरगतेः मध्ये प्रत्ययान्तरैर्व्यवहिततया कथमधिकारत्वमिति चेदत्राह—**परिभाषेति** । अनियमे नियमकारिणीत्विमिति परिभाषायाः सामान्यलक्षणम् । इतोऽग्रे स्थितेषु "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] "देवता" [६.२.१०१.] इत्यादिसूत्रेषु प्रत्ययानिर्देशात् कः प्रत्ययोऽनेनास्मिन्नर्थे सामान्येन विधीयत इत्यनियमप्रसङ्गे सूत्रमिदं नियमयति अणेव भवतीति । स च नियमः विशिष्य विहितेन प्रत्ययेन बाध्यतेऽनवकाशत्वादित्यन्यदेतत् । परिभाषाणां च गतेर्व्यवहिताव्यवहितसाधारणतया मध्ये विहितैः प्रत्ययैर्व्यवधानेऽपि नानियमाशङ्का । अत एव षष्ठी "स्थाने यो०" [पा.सू. १.१.४९.] इति सूत्रे महाभाष्ये अधिकारो नाम त्रिप्रकारः, कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति; यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति इत्युक्तम् । अत्र कश्चिदित्यस्य परिभाषारूपः इत्यर्थ कैयट आह । अधिकारशब्देन पारार्थ्यरूपसाम्यात् परिभाषाऽप्युच्यत इति नागेशेन व्याख्यातम् ।

अत्रेदं विचार्यते—अनियमे नियमकारिणीत्वं परिभाषात्वमिति परिभाषालक्षणं न सम्यक्, तथासति नियमसूत्राणामपि परिभाषात्वप्रसक्तौ षड्विधसूत्रेषु नियमसूत्रस्य पृथगुल्लेखानौचित्यप्रसङ्गात् । किं तर्हि परिभाषात्वमिति चेत्, शृणु, साक्ष्याल्लक्ष्यधर्मिकसाधुत्वाप्रकारकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितविधिशास्त्रजन्यशाब्दबोधीयन्यूनाधिक-वृत्तिसङ्कोचकत्वं परिभाषात्वमिति स्वीकारेणादोषात् । परिभाषासूत्रं "पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य" [७.४.१०४.] इति । तत्र लक्षणसङ्गतिश्चेत्थम्—इयं परिभाषा "भिस ऐस्" [१.४.२.] इत्यत्र प्रवर्तते, अत्र 'अतः' 'स्यादौ' इति

"Aho Shrutgyanam"

चानुवर्तते, तथा च अतः—अकारान्ताद् देवादिशब्दाद् व्यवहिताव्यवहितसाधारणस्य भिसः प्रसङ्गे ऐस् भवति, स च साधुर्भवति इति लक्ष्यधार्मिकोऽप्रामाण्यज्ञानानारूढो बोधः । एवं च ग्रामपतिभिः इत्यादावपि अकारान्ताद् ग्रामशब्दात् पतिशब्दव्यवहितो भिस् अस्त्येवेति तस्यापि ऐस्प्रसङ्गः स्यादिति परिभाषासूत्रं ["पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य" [७.४.१०४.] प्रवृत्त्या अव्यवहितस्यैव भिस इत्यर्थलाभे सङ्कोचो जायते इति न दोषो भवति—एवं च अकारान्तशब्दाद् व्यवहितपरस्य स्यादेर्भिसः प्रसङ्गे ऐस् भवति, स च साधुर्भवतीत्येवंप्रकारको बोधोऽप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितः, तादृशसङ्कोचे चोक्तपरिभाषा साक्षादेव प्रयोजिकेति भवति लक्षणसमन्वयः । नियमनिषेधापवादसूत्राणां विषयसङ्कोचकत्वेन शाब्दबोधीयन्यूनाधिकवृत्तिसङ्कोचकत्वाभावाद् नातिव्याप्तिः । संज्ञाशास्त्रस्य च परम्परया शाब्दबोधीयवृत्तिसङ्कोचकत्वमिति तत्रातिव्याप्तिवारणाय साक्षादिति पदं लक्षणे प्रवेशितम् । अधिकारे च सङ्कोचकत्वमेव नेति न कोऽपि दोषः । परन्तु प्रकृतसूत्रे तु नैतल्लक्षणं संघटते, यतो नेदं सूत्रं कस्यापि शास्त्रस्य शाब्दबोधे न्यूनवृत्तितामधिकृतवृत्तितां वा सङ्कोचयति । उत्तरानुवृत्तं प्राग्जितादिति पदं तत्तत्प्रत्ययानामवधिं दर्शयति, न तु साक्षात् संकोचकं, नापि च तत्रास्य स्वातन्त्र्यम्, किन्तु तत्तत्सूत्रसहकारविधया परम्परयैवेति नेदं सूत्रं परिभाषात्वेन व्यवहर्तुं शक्यमित्यरुचेराह—**विधिर्वे**ति ।

अज्ञातज्ञापकं शास्त्रं विधिरिति विधेः सामान्य लक्षणम् । तथा चातः परतः स्थितेषु अर्थेषु तत्तत्सूत्रैः केवलमर्थप्रकृत्योर्निर्देशात् प्रत्ययाप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदं शास्त्रं 'अण्' भवतीति प्रतिपादयतीति अज्ञातज्ञापकत्वमस्य सिद्धमिति विधिसूत्रमिदम्, न च तेषां सूत्राणामिहासंनिधानात् कथं तत्तत्सूत्रसम्बन्धिप्रत्ययः प्रतिपादयितुमनेन शक्य इति वाच्यम्, देशतोऽसन्निहितानामपि बुद्धया संनिधानात्, तत्तदर्थेषु प्रत्ययविधानसंभवात् । अत एव वृत्तौ विधिपरत्वेनैव व्याख्यानं कृतम्—अणप्रत्ययो भवतीति । अधिकारपक्षेऽरुचेः किञ्चित् कारणं स्फोरयति—**अधिकारपक्षे प्राग्जितादित्युत्तरार्थमि**ति । उत्तरार्थस्य तत्रैव वक्तव्यत्वे इह कारणस्य फलेनावश्यंभाव्यमिति तदभावेन नाधिकारपक्षः सङ्गत इति सूचितम् । उत्तरार्थत्वे प्रमाणप्रदर्शनपुरःसरमधिकारत्वाभावं प्रकारान्तरेणाह—**अन्यथा 'इकण्' इत्यादिवद् 'अण्' इत्येव सिद्धमि**ति । उत्तरार्थमत्र प्राग्जितादित्यस्याभावे अधिकारत्वे चेत्यन्यथाशब्दार्थः । **'इकण्' इत्यादिवदि**ति—अयमाशयः—यथा "इकण्" [६.४.१.] इति विनाप्यवधिनिर्देशं यावत् प्रत्ययान्तरविधानं न भवति तावत्पर्यन्तमधिक्रियते, तथा 'अण्' इत्यपि अधिकृतं स्यादेवेति किं प्राग्जितादित्यवधिनिर्देशेनेति ॥ ६.१.१३ ॥

धनादेः पत्युः ॥६।१।१४॥

त०प्र०—धनादेर्गणात् परो यः पतिशब्दस्तदन्ताद् धनपतीत्येवमादेः प्राग्जितीयेऽर्थेऽण् प्रत्ययो वा भवति । धनपतेरपत्यं तत्र भवस्तत आगतो वा धानपतः । आश्वपतः । राष्ट्रपतेरिदं राष्ट्रपतम् । धान्यपतम् । प्राणपतम् ।

धन अश्व गज शत गण कुल गृह पशु धर्म धन्वन् सभा सेना क्षेत्र अधि राष्ट्र धान्य प्राण इति धनादिः ।

केचित् तु गृह-सेनाशब्दौ न पठन्ति । तन्मते गार्हपत्यम्, सैनापत्यम् इत्युत्तरेण ञ्य एव । पत्युत्तरपदलक्षणस्य ञ्यस्य राष्ट्रादिषु त्रिषु 'दोरीयः' [६.३.३१.] इतीयस्यं चापवादोऽयम् ॥१४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—धनादे० । धनशब्द आदिरस्य शब्दसमूहस्य स धनादिर्गणविशेषः, तस्माद् धनादेः । "पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य" [७.४.१०४.] इति परिभाषया अव्यवहितपरस्येति षष्ठ्यन्तं पदमुपस्थितमपि पत्युरिति पञ्चम्यन्तविशेष्यमहिम्ना पञ्चम्यन्ततया विपरिणमति । पत्युरिति च शब्दस्वरूपविशेषणम्, तदप्यत्र प्रत्ययविधिविषये पञ्चम्यन्तमेव । प्रत्ययविधौ हि दिगूवाचकपरशब्दयोगे पञ्चमी भवति । "विशेषणमन्तः" [७.४.११३.] इति परिभाषया च तदन्तार्थलाभे योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह—**धनादेर्गणात् परो यः पतिशब्द** इत्यादिना ।

ननु धनादेः शब्दात् परो यः पतिशब्दस्तदन्तादित्युक्ते धनपत्यादिशब्दान्तस्य ग्रहणं स्यात्, न तु केवलधनपत्यादिशब्दस्येति नाभीष्टसिद्धिरनिष्टापत्तिश्चेत्यति चेदतोऽत्र प्रकृतित्वेन ग्राह्यं शब्दस्वरूपं दर्शयति—**धनपतीत्येवमादेरि**ति । अयमाशयः धनादेः परो यः पतिशब्दः स एव अन्तो यस्येति विग्रहेऽपि धनादेरित्यत्रादिपदे तन्त्रेण धनादिगणान्तर्गत शब्द आदिर्यस्य पतिशब्दश्चान्ते यस्य तादृशादेव शब्दात् प्रत्ययो भवतीति लभ्यते इति,

"Aho Shrutgyanam"

तादृशश्च शब्दो धनपत्यादिशब्द एवेति पूर्वसूत्रात् प्राग्-जितादित्यधिकृतं तत्सामर्थ्यलब्धमर्थमाह—**प्राग्जितीयेऽर्थे** इति। जितशब्दात् प्रागित्यर्थे "पर्यपाङ् बहिरञ्च पञ्चम्या" [३.१.३२.] इति समासे प्राग्जितमित्यव्ययीभावः, प्राग्जिते भवः इत्यर्थे "दोरीयः" [६.३.३२.] इति ईये प्राग्जितीयपदसिद्धिः। जितशब्दश्च तत्र सूत्रेऽर्थनिर्देशपर इति प्रत्यासत्त्या प्राग्जितीयोऽर्थ एव गृह्यते। पूर्वतः 'अण्' इत्यधिकृतम्, तदाह—**अण् प्रत्ययो भवतीति**। वा इति तु पूर्वतरमेवानुवृत्तमधिकृतं वा।

उदाहरति—**धनपतेरपत्यं तत्र भवस्तत आगतो वा धानपत** इति। अपत्यादिप्राग्जितीयेष्वर्थेषु अपत्य-भव-जाता एवार्था विशेषतः प्रकृतप्रयोगात् प्रतीयन्त इत्याशयेन विग्रहप्रदर्शनमिदं दिग्मात्रविषया। सम्बन्धार्थोऽपि प्रतीयत एव—धनपतेरयं धानपत इति। एवं चान्येऽपि प्राग्जितीया अर्था यथासंभवं योज्याः। धनपतिशब्दाद् अपि सति "वृद्धिः स्वरेष्वादेः" [७. ४. १.] इत्यादि स्वरवृद्धौ "अवर्णेवर्णस्य" [७. ४. ६८.] इतीकारलोपे धानपतशब्दसिद्धिः। **आश्वपत** इति, अश्वपतेरपत्यम्, तत्र भवः, तत आगतः, तस्यायमित्येवंरूपेणेहापि विग्रहः प्रदर्शनीयः। रूपसिद्धिश्च पूर्ववदेव बोध्या। **राष्ट्रपतेरिदं राष्ट्रपतमिति**। राष्ट्रपतेः प्रायः स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध एवाधिक्यतया प्रयुज्यते इति तदर्थं यत्र विग्रहमाह, अपत्यार्थे च स न राष्ट्रपतित्वेन सम्बद्धोऽपि तु तद्व्यक्ति-त्वेनेति तत्र नाम्नैव प्रातिस्विकेन विग्रहो भवति। धन-पत्यादिशब्दाश्च नामपरा अपि भवन्त्येवेति त्वन्यत्। एवं धान्यपतेरिदं धान्यपतम्, प्राणपतेरिदं प्राणपतमित्यादौ विग्रहो बोध्यः, रूपसिद्धिश्च पूर्वोक्तैव। धनादेरिति गणनिर्दिष्टं शब्दसमूहं कण्ठत आह—**धन अश्व गज** इत्यादिना।

गणपाठविषये व्याकरणान्तराद् भेदं दर्शयति—**केचित् तु गृह-सेनाशब्दौ न पठन्ति** इति। ननु ते शब्दाविमौ गणे मा पठन्तु, तथापि सामान्यविहितोऽयं तदुत्तरपतिशब्दान्तानाम्नः स्यादेव तादृशाद् विशिष्य प्रत्ययान्तरविधानाभावादिति चेदत्राह—तन्मते इत्यादिना गणे गृह-सेनाशब्दयोः पाठाभावेन उत्तरसूत्रेण, "अनिद-म्यणपवादे च" [६.१.१५.] इत्यनेन विशिष्य पत्युत्तर-पदाद् विहितो ञ्योऽस्य बाधको भविष्यति परत्वादिति गृहपतेः सेनापतेश्चापत्यादाविदमर्थवर्जिते प्राग्जितीयेऽर्थे ञ्य एव भविष्यतीति भावः। रूपं निर्दिशति—**गार्हपत्यम्** सैनापत्यमिति। क्लीवनिर्देशाद् यद्यपि इदमर्थे रूपमिदमिति प्रतिभाति तथापीदमर्थस्योत्तरत्र पर्युदस्तत्वेन अपत्याद्यर्थ एवलिङ्गसामान्यविवक्षया रूपाविमाविति ज्ञेयम्। गृहपति-सेनापतिशब्दाभ्यां ञ्ये आदिस्वरवृद्धौ इकारलोपे च रूपसिद्धिर्विज्ञेया। अत्रेदं विचारणीयं गणपाठेषु पाठभेदो बहुशः समुपलभ्यते। पाणिनीयव्याकरणे प्रकृतसूत्रस्थानीयं सूत्रम् "अश्वपत्यादिभ्यः" [पा.सू.४.१.८४.]इति, तदनु-सारिण्यश्वपत्यादिगणे शब्दकौस्तुभ-काशिकाकारयोर्मते शब्द-संख्याया एक्येऽपि कश्चन शब्देषु भेदो दृश्यते। सिद्धा-न्तकौमुदीपरिशिष्टादौ प्रदर्शितगणपाठे च शब्दसंख्याऽधिका भिन्ना च दृश्यते। अतोऽनुमीयतेऽयमपि प्राय आकृति-गण एव पर्यन्ताद्यस्माद् यस्माच्छब्दात् शिष्टैरणू प्रयुज्यते, ते यथादर्शनं तैस्तैराचार्यैर्दर्शिताः। अतश्चान्येऽपि यदि शिष्टैः प्रत्युत्तरपदाः शब्दा अणूप्रत्ययान्ताः प्रयुक्ताः स्युस्तर्हि तेऽप्यत्र गणेऽन्तर्गता इति विज्ञेयम्।

किञ्च, येऽत्र गणे पठितास्तदुत्तरमपि क्वचिद् यदि शिष्टप्रयोगेषु ञ्यो श्रूयेत तर्हि तस्य गणे वैकल्पिकः पाठः कल्पनीयः स्यात्, व्याकरणानुशासनस्य शिष्टप्रयोगसाधुत्व-विधानार्थत्वेन प्रवृत्तत्वात्, उभयविधानुशासनलाभे प्रयोग-वैकल्पिकत्वाभ्युपगमस्य सकलतन्त्रसिद्धान्तत्वात्—

"स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ॥"

इति न्यायात्। ननु चात्र गणे पठितशब्देभ्यः पत्य-न्तेभ्यः, परत्वात् पत्युत्तरपदलक्षणोऽग्रिमसूत्रविहितो ञ्य एव स्यात्, अथवोभयसूत्रप्रामाण्यानुरोधेन तेभ्योऽणा सह ञ्यो विकल्पेन स्यादिति। किञ्च, राष्ट्रपत्यादिदुसंज्ञकशब्देभ्यः "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीय एव स्यात् विकल्पेनेऽपि वा स्याताम्, इति चेदत्राह—**पत्युत्तरपद-लक्षणस्येत्यादिना**। नाप्राप्ते पत्युत्तरपदलक्षणे ञ्येऽयं विधीयत इति तस्य बाधकोऽयं तदप्राप्तियोग्ये लक्ष्ये-ऽचारितार्थात्* येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति* इति न्यायात्। न चानुत्पन्ने पत्युत्तर-पदलक्षणे ञ्येऽयं विधीयत इत्यसञ्जातविरोधित्वात् पूर्वं प्रवर्तिष्यते, पश्चाच्च विधीयमानो ञ्योऽपि विधानसामर्थ्यात् प्रवर्तेतेति, विकल्पापत्तिर्दुर्वारेति वाच्यम्* प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते* इति न्यायेना-पवादभूतपूर्वसूत्रविषयं परित्यज्यैव उत्तरसूत्रेण स्वविषयता परिकल्प्यत इति विकल्पभावानवकाशात्। उपपादितश्चायं न्यायः पूर्वसूत्रव्याख्यायामिति नेहोपपाद्यते। एवं "दोरीयः"

"Aho Shrutgyanam"

[६.३.३२.] इत्यस्यापि, राष्ट्रपति-धान्यपति-प्राणपति-शब्देभ्यः प्राप्तस्यायमपवाद एवोक्तयुक्तेरिति नैतद्विषये प्राग्जितीयप्रत्ययान्तरोत्पत्तिसम्भावनेत्यलम् ॥६.१.१४.॥

अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्यय-मपत्युत्तरपदाञ्ज्यः ॥६।१।१५॥

त०प्र०—दिति-अदिति-आदित्य-यमशब्देभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्जितीयेऽर्थे इदमर्थवर्जिते-ऽपत्यादावर्थे योऽणोऽपवादः प्रत्ययस्तद्विषये च ञ्यः प्रत्ययो भवति । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरपत्यमादित्यः । दितिः, अदितिः आदित्यो वा देवताऽस्य दैत्यम्, आदित्यम्, आदित्य्यम् । यमम् याम्यम् । पत्युत्तरपद—बृहस्पतेरपत्यं बार्हस्पत्यः । प्राजापत्यः । बृहस्पतिर्देवताऽस्य बार्हस्पत्यम् । एवं प्राजापत्यम् । अणपवादे च आदित्यस्यापत्यमादित्यः । यमस्यापत्यं याम्यः । अत्र परत्वात् 'अत इञ्' [६.१.३१.] इतीञ् स्यात् । वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम् । अत्राचित्तलक्षण इकण् स्यात् । ञ्यो हि प्राग्जितीयमणं बाधित्वा सावकाश इति अणपवादग्रहणम् । अण्ग्रहणं किम् ? वास्तोष्पत्यभार्यः । असत्यणग्रहणे स्वापवाद-विषयेऽप्यस्य समावेशे सति 'तद्धितः स्वर-वृद्धिहेतुः' [३.२.५५.] इत्यादिना पुंवद्भाव-निषेधात् वास्तोष्पत्याभार्य इति स्यात् । अनि-दमीति किम् ? आदित्यस्येदमादितीयम् । उष्ट्रपतिर्नाम वाहनम् तस्येदमौष्ट्रपतम् । 'वा-हनात्०' [६.३.१७६.] इत्यञ् । अकारस्य वृद्धिः 'जिदाद्यादिणिञोः' [६.१.१४०.] इति च प्रयो-जनम् ॥१५॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—अनिदम्० । न इदम् अनिदं तस्मिन् अनिदमि । इदमित्यनेन "तस्येदम्" [६.३.१६०.] इति सूत्रनिर्दिष्ट इदमर्थो गृह्यते, तत्रा च भेद उच्यते, तथा चेदमर्थवर्जिते इत्यर्थो लब्धः । अणोऽपवादोऽणपवादस्तस्मिन् अणपवादे इति । पतिः पतिशब्द उत्तरपदं यस्य सोऽयं पत्युत्तरपदः । दितिश्च अदितिश्च आदित्यश्च यमश्च पत्युत्तरपदश्चेतेषां समाहारः दित्यदित्यादित्य-यम-पत्युत्तरपदं तस्मात्—दित्य-दित्यादित्य-यम-पत्युत्तरपदात् पूर्वं पतिशब्दान्तद्वन्द्व विधाय तत उत्तरपदशब्देन बहुव्रीहौ तु उत्तरपदशब्दस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणतया प्रत्येकं संबन्धे सति दित्यादुत्तर-पदादपि ञ्यः स्यादिति, केवलं पतिशब्देन सहैवोत्तरपद-शब्दस्य समासो दर्शितः । प्राग्जितादिति चाधिक्रियते तथा च योऽर्थः समुपलभ्यते तमाह—**दिति—अदिति** इत्यादिना । **इदमर्थवर्जितेऽपत्यादावर्थे** इति—अयमत्राभिसन्धिः—'प्राग्जितात्' इत्यनेन जितशब्द-संकीर्तनं यावत् येऽर्था उक्तास्ते व्याप्यन्ते तथा चेदम-र्थोऽपि तन्मध्यपतित इति तस्मिन्नप्यर्थेऽयमेव प्रत्यय एभ्यः शब्देभ्यः स्यात्, स च नेष्ट इति तद्वर्जनमावश्यकम् । **अणोऽपवादः प्रत्यय** इति—अयमर्थः अर्थविशेषेषु ये प्रत्ययाः सामान्येन विहिताः तेऽर्थसामान्ये विहितं प्राग्-जितात् इत्यणं बाधन्त एव, तथा च तेऽणपवादाः, तद्विषयेऽपि दित्यादिभ्यो ञ्य एव स्यादिति । स्फोरयिष्यति चैतत् प्रयोजनं स्वयमेव वृत्तिकृत् ।

उदाहरति—दितेरपत्यं दैत्य इति । दितिरदितिश्च कश्यप-भार्ये इति पौराणिकी प्रसिद्धिः । दितेरपत्यत्वेन प्रसिद्धा दैत्यजातिर्देवयोनिषु अमरकोशादौ पठिता । दितिशब्दाद् ञ्येऽनुबन्धविगमे आदिस्वरवृद्धौ "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इतीकारलोपे दैत्य इति । अदितेरपत्यमित्यर्थे-ऽदितिशब्दात् ञ्ये पूर्ववदादिस्वरवृद्ध्यादिकार्ये आदित्य इति । अपत्यार्थे विगृह्य देवतार्थे विग्रहे सर्वेभ्य एभ्यः प्रत्ययमुदाहरति—**दितिरदितिरादित्यो वा देवता-ऽस्येति** । दितिरदितिश्च पूर्वोक्ते एव आदित्यश्च साधारणतो देवजातिः सर्वोऽपि, विशेषतश्च सूर्य एवानेन शब्देन प्रतिपाद्यते । तेषां सर्वेषां तत्तद्द्रव्यात्माधिष्ठातृत्वेन तत्तज्जीवविशेषाराध्यत्वेन च देवतात्वम् । तद्धित्यं च "आदित्यम्" । दिति-अदितिशब्दाभ्यामादित्यशब्दसिद्धिस्तु पूर्वप्रदर्शितैव । आदित्यशब्दाच्च ञ्ये पूर्वयकारस्य आपत्य-त्वपक्षे "तद्धितयस्वरेऽनाति" [२.४.९२.] इति लोपे आदित्यम्, इत्येव रूपम् । देवतार्थेऽदितिशब्दाद् ञ्ये कृते निष्पन्नस्यादित्यशब्दस्य, अपत्यार्थे ञ्ये तु न यलोपः, तस्यापत्यत्वाभावादिति तत्र आदित्य्यः इति रूपम् । अपत्यार्थञ्यन्तस्यापि देवतार्थे ञ्ये सति यलोपे सत्यपि "ततोऽस्याः" [१.३.३४.] इत्यन्तस्थाया द्वित्वे आदित्य्यम् इति विकल्पिकं रूपं भवत्येव । यमो देवता-ऽस्येत्यर्थे ञ्ये याम्यम् । यमस्यापत्यमित्यर्थेऽपि याम्य इत्येव रूपम् ।

शिष्टं पत्युत्तरपदमुदाहर्तुं प्रतीकयति—**पत्युत्तर-**

"Aho Shrutgyanam"

पदेति। बृहतां पतिः बृहस्पतिः, प्रजानां पतिः प्रजापतिः, तयोरपत्यार्थे ञ्ये आदिस्वरवृद्धौ, इकारलोपे च बार्हस्पत्य प्राजापत्य इति। एवं देवतार्थेऽपि ज्ञेयम्। एष्यणपवादबाधनं व्याचष्टे—**अत्र परत्वाद् "अत इञ्"** [६.१.३१.] **इतीञ् स्यादिति**। आदित्यशब्दाद् यमशब्दाच्चापत्ये ऽणपवाद इञ्प्राप्तः। तं बाधित्वा ञ्य एवेति भावः। यद्यपि आदित्यशब्दात् "अश्वबृद्धाद् दोर्नवा" [६.१.११०.] इति आयनिः प्राप्नोति तथापि तस्य वैकल्पिकत्वेन पक्षे "अत इञ्" [३.१.३१.] इत्यस्यापि प्राप्तिरस्त्येवेति तन्मुक्तायकाशाभावात् तस्यैवाणपवादत्वकथनमुचितम्। एवं समूहार्थेऽपि अणपवादत्वकथनमुचितम्। एवं समूहार्थेऽपि अणपवादबाधनमुदाहरति—**वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यमिति**। वनस्य पतिरिव वनस्पतिः पुष्पं विना फलयुक्तो वृक्षः तेषां समूह इत्यर्थे प्राग्जितीयाणोऽपवादः "क्वचि-दस्त्यचित्ता०" [६.२.१४.] इतीकण् प्राप्नोति तद्विषयेऽनेन सूत्रेण ञ्ये आदिस्वरवृद्ध्यादौ वानस्पत्यमिति। तदाह—**अत्राचित्तलक्षण इकण् स्यादिति**। अणपवादग्रहणस्य फलमाह—**ञ्यो हि प्रागूजितीयमणं बाधित्वेत्यादि**। इदमत्राकूतम्—अस्त्यपि णपवादग्रहणे अदित्यदित्यादिभ्यः प्रकृतसूत्रोक्तेभ्योऽयमेव ञ्यो विष्यति भविशेषविहितत्वान्निरवकाशत्वाच्च। तथापि सर्वोऽप्यस्य विषयस्तदर्थेषु येन केनापि सामान्यविहितेन विशेषविहितेन वा प्रत्ययेन व्याप्तः, तथा चायमनवकाशः स्यादिति प्राग्जितीयेष्वर्थेषु प्रवर्तेतेवेति अणपवादग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—यत् प्राग्जितीयेष्वर्थेष्वपवादविषयं परित्यज्य प्राग्जितादित्यनेनाण् विहितः। यत्र चाणोऽपवादः कोऽपि प्रत्ययो नास्ति तत्राणं बाधित्वा ञ्यः सावकाशः। यत्र चास्मात् परोऽणोऽपवादश्च प्रत्ययः प्राप्तः—यथा आदित्यस्यापत्यमित्यर्थे इञ्, वनस्पतीनां समूह इत्यर्थे इकण् इत्यादयः—तत्र परत्वात् त एव स्युरिति तन्मा भूदित्येतदर्थमिहाणपवादग्रहणमावश्यकम्। तथा चाणोऽपवादः सर्वोऽपि प्रत्ययोऽस्य विषय इति सर्वत्रेदमेव प्रवर्तते नान्ये प्रत्यया इत्यस्याणपवादग्रहणस्य चारितार्थ्यम्।

नन्वेवं सामान्यत एव सर्वस्यापि अपवादशास्त्रस्य बाधोऽस्तु तथा चाणग्रहणमिहानावश्यकमिति शङ्कते—**अणग्रहणं किमिति**। प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति—वास्तोष्पत्यभार्य इति। वास्तोष्पतिर्देवविशेषः, स देवता अस्या इत्यर्थे "द्यावापृथिवी-शुनासीरा०" [६.२.१०८.] इति ये "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इतीकारलोपे स्त्रियामापि वास्तोष्पत्या, सा भार्या यस्येत्यर्थे बहुव्रीहिसमासे "परतः स्त्री पुंवत्" [३.२.४९.] इति पुंवद्भावस्य "तद्धितः स्ववृद्धिहेतु०" [३.२.५५.] इति निषेधो न भवति, इति पुंवद्भावे सति वास्तोष्पत्यभार्यः इति सिद्ध्यति। असतीहाणग्रहणे एतद्धितस्य ञ्यस्यापवादो "द्यावापृथिवी०" [६.२.१०८.] इति योऽप्यनेन बाध्येतेति ञ्ये सति, तस्य स्वरवृद्धिहेतुत्वात् "तद्धितः स्वरवृद्धि०" [३.२.५५.] इति पुंवद्भावनिषेधे वास्तोष्पत्या भार्य इति रूपं स्यात्। अणग्रहणे कृते च अणपवादविषय एवेदं प्रवर्तते, न तु स्वापवादविषय इति वास्तोष्पतिर्देवताऽस्या इत्यर्थे न प्रवर्तते तत्र स्वापवादस्य "द्यावापृथिवी०" [६.२.१०८.] इति यस्य विषयत्वाद् इति भावः। तदेवाह—**असत्यणग्रहणे** इत्यादि—वृत्तिग्रन्थेन। अनिदमीति पदस्य कृत्यमाह—**अनिदमीति किमिति** प्रश्नपूर्वकम्। प्रयोजनमाह—**आदित्यस्येदमिति**। अदितेरपत्यमित्यर्थेऽनेन ञ्ये आदित्यशब्दो निष्पन्नः ततो इदमर्थे "दौरीयः" [६.३.३२.] इतीये अवर्णलोपे "तद्धितयस्वरेऽनाति" [२.४.९२.] इति यलोपे सति आदितीयमिति भवति। अनिदमीत्यस्याभावे चात्रापि ञ्य एव स्यादिति आदित्यमित्येव रूपं स्यात्। अनिदमीति कृते तु इदमर्थेऽस्य प्रवृत्तिरेव न भवतीति न दोषः।

न च सिद्धान्तेऽपि—प्रकृते "गोत्राददण्डमाणव०" [६.३.१६९.] इत्यनेनेयापवादोऽकणेव स्यादिति वाच्यम्, "पुनर्भू-पुत्र-दुहितृ०" [६.१.३९.] इति सूत्रे स्वापत्यसन्तानस्य गोत्रत्वाभावकथनेनादितेरपत्यस्य गोत्रत्वाभावात्। पत्युत्तरपदविषयमपि प्रत्युदाहरणमाह—**उष्ट्रपतिनाम वाहनमित्यादिना**। तथा चात्राप्यणपवादमञं बाधित्वा ञ्य एव स्यात् तन्मा भूदित्येतदपि अनिदमीत्यस्य प्रयोजनमिति भावः। ञ्ये ञकारानुबन्धफलमाह—**ञकारस्य वृद्धिः, "ञिदार्षादणिञोः"** [६.१.१४०.] **इति प्रयोजनमिति**। ञकारानुबन्धकरणाद् ञित्वनिबन्धना आदिस्वरवृद्धिः प्रयोजनम्, किञ्च यद्यपि सा णकारानुबन्धेऽपि स्यादेव, तथापि "ञिदार्षाद०" [६.१.१४०.]इत्यनेन ञ्यन्ताद्युवापत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् भवतीत्यपि **प्रयोजनं** सिद्ध्यति, तच्च णित्वे न सिद्ध्येतेति भावः। तत्फलं च यमस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थेऽनेन ञ्ये याम्य इति रूपम्, ततश्च युवापत्येऽर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञो लुपि याम्य इत्येव रूपं भवतीति ॥६.१.१५.॥

"Aho Shrutgyanam"

बहिष्टीकण् च ॥६।१।१६॥

त०प्र०—बहिस् इत्येतस्मात् प्राग्जितीयेऽर्थे टीकण् प्रत्ययो भवति, चकाराद् ञ्यश्च । बहिर्जातो बाहीकः । बाह्यः । बाह्या । 'प्रायोऽव्ययस्य' [७.४.६५.] इति अन्त्यस्वरादिलोपः। टकारो ङ्यर्थः । बाहीकी । णकारो णित्कार्यार्थः ॥१६॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—बहिष० । बहिस् इत्यव्ययं तथापीह शब्दस्वरूपपरत्वेनानव्ययत्वात् ततो विहितायाः विभक्तेः स्यादेः "अव्ययस्य" [३.१.७.] इति लुप् न भवति । प्राग्जितादित्यनुवर्तते । चकारश्च ञ्यस्य समुच्चयार्थः तथा चार्थमाह—**'बहिस्' इत्येतस्मादित्यादिना** । बहिर्जात इति—बहिःशब्दो बाह्यदेशादिवाची अधिकरणार्थप्रधानः तथा च प्रकृतप्रदेशात्, प्रकृतजात्यादेर्वाऽनभ्यन्तरे प्रदेशे जात्यादौ वा उत्पन्नः **बाहीकः बाह्यश्च** । टीकणि टकारस्य णकारस्य चाप्रयोगित्वाद् 'ईक' इत्येतावदेव प्रत्ययस्वरूपम् । आदिस्वरवृद्धौ "प्रायोऽव्ययस्य" [७.४.६५.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे च बाहीकः, स्त्रियां च टित्त्वात् "अणञ्येयेकण्" [२.४.२०] इति ङ्यां बाहीकीति । ञ्ये चाद्यस्वरवृद्धावन्त्यस्वरादिलोपे च बाह्य इति, स्त्रियामपि बाह्या इति ।

अनुबन्धफलं स्वयमाह—टकारो ङ्यर्थ इति, टित्त्वात् "अणञ्येयेकण्" [२.४.२०.] इति विहिता ङीः, अर्थः प्रयोजनं यस्येति तादृशः । णकारो णित्कार्यार्थ इति । णित्कार्यं च "वृद्धिः स्वरेष्वादेः०" [७.४.१.] इति वृद्धिः सैवार्थः प्रयोजनं यस्य तादृश इति भावः । भावार्थं तु "गम्भीरान्ञ्जन०" [६.३.१३५.] इति विशिष्य विहितो ञ्य एव भविष्यतीति बाह्य इत्येव रूपम्, न तु बाहीक इति विशेषो बोध्यः ॥६।१।१६॥

कल्यग्नेरेयण् ॥६।१।१७॥

त०प्र०—कलि, अग्नि इत्येताभ्यां प्राग्जितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे च एयणप्रत्ययो भवति । कलिर्देवताऽस्य कालेयम् । आग्नेयम् । कलौ भवं कालेयम् । आग्नेयम् । कलेरिदम् कालेयम् । आग्नेयम् । अणपवादे च, कलेरागतं कालेयम् । आग्नेयम् । अत्र 'नृ-हेतुभ्यः' [६.३.१५५.] इत्यादिना रूप्य-मयटौ स्याताम् । अन्ये तु जितार्थात् परेष्वपि प्राग्वतीयेष्वर्थेष्वेयणमिच्छन्ति । कलये हितं कालेयम् । आग्नेयम् । कलेर्निमित्तं उत्पातः संयोगो वा कालेयः । आग्नेयः ॥१७॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—कलि० । कलिश्चाग्निश्चेत्यनयोः समाहारः कल्यग्नि, तस्मात् कल्यग्नेः, अत्र च पूर्वतः प्राग्जितात् अनिदमि अणपवादे इति पदत्रयमनुवृत्तमिति योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह वृत्तिकृत् 'अग्निकलि' इत्येताभ्यामित्यादिना । उदाहरति—कलिर्देवताऽस्येति कलिः कालविशेषश्चतुर्षु युगेष्वन्तिमः । तत्कालविशेषाधिष्ठातृत्वेन ख्यातश्चेतनविशेषोऽपि कलिः स देवता उपस्योऽधिष्ठाता वा यस्य तत् कालेयम् । अत्र कलिशब्दाद् एयणि णित्त्वादादिस्वरवृद्धौ इवर्णलोपे कालेयशब्दसिद्धिः । अग्निः तेजोमयद्रव्यदेवताविशेषः स देवताऽस्येत्यर्थेऽग्निशब्दाद् एयणि णित्त्वादादिस्वरवृद्धौ इवर्णलोपे आग्नेयशब्दसिद्धिः। 'अग्निर्माणवकः' इत्यादिषु गौणलक्षणया प्रयुक्तादग्निशब्दात् तु अयं प्रत्ययो न भवतीति परिभाषावृत्तिकृद् भोजराज आह । भवाद्यर्थेष्वप्येवमेव रूपमित्याह—**कलौ भवम् इत्यादिना** । अत्र कलिशब्दः कलाविशेषपर एव । अनिदमीति चेह धाराप्रवाहानुवृत्तमिति वृत्तौ गृहीतम्, किन्त्वव्यावर्त्तकमेव, अग्निशब्दात् कलिशब्दाच्चेदमर्थे प्रत्ययान्तरविधानाभावादणश्चायमपवाद एवेति तत्राप्यर्थे कालेयमित्येव रूपम् । आवादग्रहणस्य व्यावर्त्यमाह—**अपवादे च, कलेरागतमित्यादि** । अत्र कस्यापवादप्रत्ययस्य बाधनार्थमिति चेदत्राह—अत्र **"नृहेतुभ्यः"[६.३.१५५.] इत्यादिना रूप्य-मयटौ स्याताम्** इति ।

अयमाशयः—आगतार्थं पुमर्थाद् हेत्वर्थाच्च विशिष्य रूप्य-मयटौ विहितौ तौ च सामान्यविहितस्याणोऽपवादाविति अणपवादग्रहणाभावे कल्यग्निशब्दाभ्यामपि तावेव स्यातामिति कलिमयम्, कलिरूपम्; अग्निमयम्, अग्निरूपं चेति रूपाणि स्युरित्यणपवादग्रहणे कृते तद्विषयेऽप्येयणेव भवति ।

मतान्तरमाह—**अन्ये तु जितार्थात् परेष्वपि प्राग्वतीयेष्वर्थेष्वेयणमिच्छन्तीति** । अन्ये पाणिनीयवैयाकरणादयः । तेषां मते सर्वेष्वर्थेषु प्राग्वतीयेषु अग्नि-कलिभ्यां ढक् (इयण्) एव भवति। तथाहि "अग्नेर्ढक्" [पा० सू० ४.२.३३.] इति सूत्रे सर्वत्राग्नि-कलिभ्यां ढक् इति वार्तिकम् । सूत्रकृता हि 'साऽस्य देवता' इत्याधिकारेऽग्निशब्दात् "अग्नेर्ढक्" [पा० सू० ४.२.३३.] इति सूत्रेण ढक् (एयण्)

"Aho Shrutgyanam"

विहितः कलिशब्दादपि दृष्टं सामेत्यधिकारे "कलेर्ढक्" [पा०सू० ४.२.८.] इति सूत्रेण ढक् (एयण्) विहितः स एव प्राग्वतीयेषु सर्वेष्वर्थेषु विहित इति—इदमर्थं आगतार्थेऽन्यत्र च सर्वत्र स एव वाच्यः इति वार्तिककृदाशयः। तथा च प्रायः स्वमतेऽपि अग्निशब्दात् कलिशब्दाच्च प्राग्वतीये काप्यर्थे प्रत्ययान्तरस्य विधानं दृश्यते इति एयण एव प्रयोग उचित इति प्रतिभाति। अत एवेदमर्थेऽपि एयणेवोदाहृतो वृत्तौ। प्राग्वतीयेष्वर्थेषु एयणन्तयोरेतयोः प्रयोगमुदाहरति—**कलये हितमित्यादिना** ॥ ६।१।१७॥

पृथिव्या आञ् ॥६।१।१८॥

त०प्र०—पृथिवीशब्दात् प्राग्जितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे च आञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। पृथिव्यां भवः पार्थिवः। आञोः स्त्रियां विशेषः। पार्थिवा। पार्थिवी। अणपवादे च पृथिव्या अपत्यं पार्थिवः। पार्थिवा। पार्थिवी। अत्र एयण् स्यात्। ङीबहुषु लुप् संघादिष्वणिति प्रयोजनमञ्विधानस्य ॥१८॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—पृथिव्या०। प्राग्जिताद् अनिदमि अणपवादे इति पदत्रयमनुवर्तत एव। तथा च सूत्रार्थमाह—**पृथिवीशब्दादिति**। उदाहरति—**पृथिव्यां भव** इत्यादिना। पृथिवीशब्दाद् भवार्थे ञे अञि च पुंसि स्त्र्याविशेष इति प्रत्ययभेदविधानं किमर्थमित्याशङ्क्योत्तरयति—**आञोः स्त्रियां विशेष** इति। आन्तस्य स्त्रियां "आत्" [२.४.१८.] इत्यापि पार्थिवा इति रूपम्। अञन्तस्य तु "अणञेयेकण्" [२.४.२०.] इति ङ्यां पार्थिवीति रूपमित्युभयसिद्ध्यर्थमुभयोर्विधानमिति भावः। अणपवादग्रहणव्यावर्त्यमाह—**अणपवादे च पृथिव्या अपत्यं पार्थिव** इति। अपत्यार्थे पृथिवीशब्दाद् अणपवादे "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" [६.१.७०.] इत्येयणि प्राप्ते तस्य बाधनार्थमिञाणपवादग्रहणमावश्यकमिति भावः। तदाह—**अत्रैयण् स्यादिति** आञोः स्त्रियां रूपे विशेषस्योक्तत्वेऽप्यञ्विधानस्य प्रयोजनान्तराण्यपीत्याह—**ङी बहुषु लुप्, संघादिष्वण् इति प्रयोजनमञ्विधानस्येति** ङीः "अणञेयण्०" [२.४.२०.] इत्यनेनोक्त एव, पृथिव्या अपत्यानीत्यर्थे विहितस्याञो "यञञोऽस्यापर्णान्त०" [६.१.१२६.] इति लुपि, गौरादिषु पृथिवीति पाठात् "ङ्यादेर्गौणस्य०" [२.४.९५.] इति ङीलुग् न भवति, "गोधान्ते ह्रस्वो०" [२.४.९६.] इति ह्रस्वे, पृथिवयः इति रूपं भवति। एवं पृथिव्या अपत्यानां सङ्घ इति विग्रहे अनेनाञि, तस्य "सङ्घ-घोषाऽङ्क०" [६.३.१७२.] इत्यणो विषये "यञञोऽस्या पर्णान्त०" [६.१.१२६.] इति लुपः "न प्राग्जितीये" [६.१.१३५.] इति निषेधे सङ्घार्थेऽणि पार्थिव इति रूपं भवतीति प्रयोजनमञ्विधानस्य। अन्यथा "गोत्राददण्ड०" [६.१.१६९.] इत्यकञ् स्यादिति भावः ॥६।१।१८॥

उत्सादेरञ् ॥६।१।१९॥

त०प्र०—उत्स इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यः प्राग्जितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे चाञ्प्रत्ययो भवति। उत्सस्येदमौत्सम्। औदपानम्। अणपवादे च, उत्सस्यापत्यम् औत्सः। औदपानः। तरुण्या अपत्यं तारुणः। तालुनः। पञ्चालेषु भवः पाञ्चालः। अत्र इञ् एयण् अकञ् च प्राप्नुवन्ति। कुरोरपत्यं कौरव्य इति ण्यविधौ कुरुशब्दोपादानस्यानवकाशत्वाद् भवति। कौरव इति त्वपत्यस्यापीदमर्थविवक्षायां भविष्यति। उत्तरत्र वष्कयशब्दस्य सभासे प्रतिषेधादुत्साद्यन्तस्यापीह प्रत्ययः। तेन गोधनुभ्य आगतं गौधेनवमिति सिद्धम्। अन्यथा रूप्य-मयटौ स्याताम्।

उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महाप्राण महाप्रयाण तरुण तलुन धेनु पङ्क्ति जगती बृहती त्रिष्टुभ् अनुष्टुभ् जनपद भरत उशीनर ग्रीष्म अच्छन्दसि पीलुकण उदस्थान देशे वृषद् अंशे वृषदंश इत्यन्ये। भल्लकीय रथन्तर मध्यंदिन बृहत् महिमन् मिहदित्यपि केचित्।

सत्वत सच्छब्दो मत्वन्तः। सत्वतोऽपत्यं तत्र भवो वा सात्वतः। अन्ये तु नागममिच्छन्ति। सात्वन्तः।

कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णिह् ककुभ् अकारान्तावेताविति अन्ये। सुवर्ण हंसपथ वर्धमान इति उत्सादिः ॥ १९ ॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—उत्सादेः०। उत्सशब्द आदौ यस्य शब्दसमूहस्य स उत्सादिः, तस्मात्।

"Aho Shrutgyanam"

दैवम्। यञन्तादञन्ताच्च ङ्यां दैवी वाक्। केचित् तु ञ्यप्रत्ययमपीच्छन्ति। तन्मते दैव्या ॥२१॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–दैवात्०। प्राग्जिताद्, अनिदमि, अणपवादे इति पदत्रयं पूर्ववदनुवृत्तम्। तथा चार्थमाह—देवशब्दाद् इत्यादिना। दीव्यतीति अचि देवः। अपत्यार्थे देवशब्दप्रयोगस्यादृष्टतया इदमर्थादिषूदाहरति–देवस्येदम्–इत्यादिना। देवशब्दाद् यञि, आदेस्वरवृद्धौ ऊकारलोपे दैव्यमिति, चकारादञि दैवमिति। स्त्रियामुभयोरैकरूप्यमाह–यञन्तादञन्ताच्चेति। यञन्ताद् "यञो ञ्यङ् च वा" [२.४.६७.] इति ङीः, यकारलोपे सति "व्यञ्जनात् तद्धितस्य" [२.४.९०.] इति यलोपे दैवीति, ङ्यङ्, पक्षे च दैव्यानीति। अञि सति तदन्तस्य स्त्रियां "अणञ्येयेकण्" [२.४.२०.] इति ङ्यां दैवीति रूपसाम्यम्। मतान्तरमाह–केचित् तु ञ्यप्रत्ययमपीच्छन्तीति। यञ्-ञ्ययोश्च पुंसि क्लीबे च रूपसाम्येऽपि स्त्रियां भेद इत्याह–तन्मते दैव्येति। ञ्यन्तादेव न तु ङीरिति भावः ॥६।१।२१॥

अः स्थाम्नः ॥६।१।२२॥

त०प्र०—स्थामनशब्दात् प्राग्जितीयेऽर्थे अः प्रत्ययो भवति। अश्वत्थाम्नोऽपत्यमश्वत्थामः ॥२२॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्– अः स्थाम्नः। तिष्ठते "मन् वन् क्निप्" [५.१.१४७.] इति कर्तरि मनि स्थामन् शब्दो बलार्थकः। ततः केवलात् प्रत्ययेनेष्टः, तस्यामत्याद्यर्थसंबन्धासम्भवेऽपीति तदन्तादयं विधिर्भवति। तथापि सूत्राक्षरानुसारमेवार्थमाह–स्थामनशब्दादिति अश्वत्थाम्न इति। अश्व इव तिष्ठतीति, अश्वस्येव स्थाम बलं यस्येति वा विग्रहे अश्वत्थामशब्दो निष्पद्यते। पृषोदरादित्वात् सस्य तः। ततोऽपत्यार्थेऽकारप्रत्यये "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१] इत्यन्त्यस्वरादेर्लुकि अश्वत्थाम इति भवति ॥६।१।२२॥

लोम्नोऽपत्येषु ॥६।१।२३॥

त०प्र०—लोमनशब्दात् प्राग्जितीयेऽपत्यलक्षणेऽर्थे अः प्रत्ययो भवति। उडुलोम्नोऽपत्यानि उडुलोमाः। शरलोमाः। उडुलोमैः शरलोमैः। अपत्येष्विति बहुवचनाद् एकस्मिन्नपत्ये द्वयोश्च बाह्वादित्वाद् इञेव। औडुलोमिना, औडुलोमिभ्याम् ॥२३॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–लोम्नः०। लोमशब्दः शरीरावस्थितरोमवाची। तस्य चापत्यार्थेन सम्बन्धासंभवात् तदन्तादेवायमपि विधिरिष्ट इति स्थितिः, तथापि वृत्तौ न्यायलभ्यमेवार्थमाह–लोमन्शब्दादिति। उदाहरति–उडुलोम्नोऽपत्यानीति। उडूनि नक्षत्राणीव लोमानि यस्यासौ उडुलोमा तस्येत्यर्थः। आकाशे नक्षत्राणीव यस्य शरीरे स्फुरन्ति लोमानि स्युः स, एतन्नामकः कश्चिदन्यो वा जन एतच्छब्देनोच्यते, एतन्नामकः कश्चिन्मुनिरप्यासीदिति श्रूयते, ततोऽपत्यार्थे परमपि "बाह्वादिभ्यो गोत्रे" [६.१.३२.] इतीञ् बाधित्वाऽनेनाकारप्रत्यये "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६०.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे उडुलोमा इति। बहुवचने एवं रूपाणि स्युरिति बोधनाय उडुलोमैरिति तृतीयाबहुवचनमप्युदाहृतम्। बहुवचन एवास्य प्रवृत्तिः कुत इति शङ्कामपाकुर्वन्नाह—अपत्येष्विति बहुवचनादित्यादिना।

अयमाशयः—लोम्नोऽपत्ये इत्येवमेकवचनान्तत्वेनार्थोक्तौ सत्यामपि, द्वित्व-बहुत्वयोरपि स्वभावत एव प्रत्ययप्रवृत्तौ सिद्धायां बहुवचनान्तत्वेनार्थनिर्देशः सूचयति यदपत्यगतबहुत्वविवक्षायामेवाकारप्रत्ययोऽयं विधीयते, एकत्वद्वित्वयोर्विवक्षायां च यथाप्राप्तमेव प्रत्ययः स्यादिति उडुलोम्नोऽपत्यम् अपत्ये वा इति एकवचनेन द्विवचनेन वा विग्रहे बाह्वादित्वादिञि आद्यस्वरवृद्धौ अन्त्यस्वरादिलोपे औडुलोमिः, औडुलोमी इत्येवमेव रूपाणि भविष्यन्तीति बोधनाय तृतीयैकवचनान्तरूपमपि निर्दिष्टम्। तथा चैकवचन-बहुवचनयोः साम्यम्, बहुवचन एवाकारान्तानि रूपाणीति विज्ञेयम् ॥६।१।२३॥

द्विगोरनपत्ये य-स्वरादेर्लुबद्विः ॥६।१।२४॥

त०प्र०—अपत्यार्थादन्यस्मिन् प्राग्जितीयेऽर्थे उत्पन्नस्य द्विगोः परस्य यकारादेः स्वरादेश्च प्रत्ययस्य सकृल्लुप् भवति, न तु द्विः। द्वयो रथयोर्द्विरथ्या वाऽयं वोढा द्विरथः। 'रथात् सादेश्च वोढृडे' इत्यर्थे 'यः' [६.३.१७६.] इति यः। पञ्चसु कपालेषु पञ्चकपाल्यां वा संस्कृतः पञ्चकपालः। पञ्चेन्द्राण्यः पञ्चेन्द्राणि वा देवताऽस्य पञ्चेन्द्रः। चतुरोऽनुयोगान् चतुरनुयोगी वाऽधीते चतुरनुयोगः।

"Aho Shrutgyanam"

एवं त्रिवेदः । एकवण् । द्विगोरिति किम् ? पूर्वशालायां भवः पौर्वशालः । त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या तामधीते त्रैविद्यः । अनपत्य इति किम् ? द्वयोर्मातुरः । पाञ्चनापितिः । य-स्वरादेरिति किम् ? पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गमयम् । अद्विरिति किम् ? पञ्चसु कपालेषु संस्कृतं पञ्चकपालं तस्येदं पाञ्चकपालम् । एवं त्रैवेदम् । प्रागजितादित्येव ? द्वौ रथौ वहति द्विरथ्यः । 'वहति' [७.१.२.] इत्यादिना यः । द्वाभ्यां नौभ्यां तरति द्वैनाविकः ॥२४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—द्विगो० । प्राग्जितादित्यनुवर्तत एव । तेन च प्राग्जितीयोऽर्थ उच्यते, तत्र चापत्यार्थोऽपि सन्निविष्ट एवेति तद्वर्जनाय अनपत्य इति । न अपत्यमनपत्यं, तस्मिन्, नञोऽत्र समस्तत्वेन पर्युदासबोधकत्वमिति अनपत्य इत्यस्य अपत्यभिन्ने इत्यर्थः । अपत्यं चार्थः, तथा च तद्भिन्नोऽप्यर्थ एव गृह्यते *नञ्युक्तं तत्सदृशे *इति न्यायात् । तथा च प्राग्जितीय इत्यस्यार्थोपलक्षणत्वेनाप्यर्थस्य प्रतियोगिनो लाभ इत्यपत्यभिन्नेऽर्थे इत्यायाति । प्रत्ययोत्पत्तिक्रियां प्रत्यर्थस्याधिकरणत्वमिति सप्तमी । द्विगुश्च तत्पुरुषान्तर्गतः संख्यापूर्वः समासः । तस्माद्—**द्विगोः** । यश्च स्वरस्यादिर्यस्य स यस्वरादिस्तस्य यस्वरादेः । * द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते * इति न्यायादादिपदस्य द्वयोरपि संबन्ध इति यकारादिः स्वरादिश्चेत्यर्थः । अपत्यार्थे वाचकत्वेन प्रत्ययस्योत्पत्तिरिति तद्भिन्नेऽर्थेऽप्युत्पन्नः प्रत्यय एव गृह्यते । स च यस्वरादेरित्यस्य विशेष्यम् । द्विवारमिति द्विः, न द्विरद्विः, एकवारमित्यर्थः । यद्यपि त्रित्वादिसंख्याऽपि द्वित्वभिन्ना, तथापि प्रथमत्यागे मानाभावात्, पूर्वोपस्थितत्वादेकत्वमेव द्वित्वभिन्नत्वेनेह गृह्यतेऽत आह—**सकृदिति** । लुबितिशब्देन प्रत्ययस्य तत्कृतमदर्शनमुच्यते तथा च वृत्युक्तोऽर्थः सम्पन्नः । द्विगुशब्देन तद्धितार्थद्विगुः समाहारद्विगुश्चाभिधीयते । तदनुसारमेवोदाहरणानामुभयथा विग्रहः प्रतिपाद्यते—द्वयोरर्थयोः वोढा इति तद्धितार्थे समासे कृते ततः द्विगुसंज्ञा, ततश्च षष्ठ्यन्तादिदमर्थे "रथात् सादेश्च वोढ्रक्षे" [६.३.१७५.] इति ये तस्यानेन लुप्-**द्विरथः**—अधः । द्वयो रथयोः समाहार इत्यर्थे "संख्या समाहारे०" [३.१.९९.] इति समासे द्विगुसंज्ञायां स्त्रीत्वे "द्विगोः समाहारात्" [२.४.२२.] इति ङ्यां द्विरथी इति । तस्या अयं वोढेत्यर्थे पूर्ववत् यप्रत्यये, तस्यानेन लुपि, "ङ्यादेर्गौणस्य०" [२.४.९५.] इति ङालुकि द्विरथ्य इति । एवं सर्वत्र पञ्चकपालादिषु साधनिका योजनीया ।

पाणिनीयास्तु "द्विगोर्लुगनपत्ये" [पा०सू० ४.१.८८.] इति सूत्रस्थभाष्यरीत्या समाहारेण विग्रहे वाक्यमेव तिष्ठतीति मन्यन्ते, तत्र न प्रत्ययोत्पत्तिर्नापि लुप् । द्विगोरित्यत्र हि षष्ठीमाश्रयन्ति, सा च निमित्तयोगे, तथा च द्विगोर्निमित्ते यस्तद्धित इत्यर्थाश्रयणेन यत्र तद्धितार्थ एव द्विगुसमासः तत्रैवास्य प्रवृत्तिः । समाहारे तु स तद्धितो न द्विगोर्निमित्तमिति न तत्रास्य प्रवृत्तिः । किञ्च, प्रथमप्रत्ययस्यैव द्विगुनिमित्तत्वमिति तस्यैव लुग् भवति, न तु ततोऽपीदमर्थादौ विहितस्य प्रत्ययस्येति तन्मते 'अद्विः' इत्यस्यापि नावश्यकतेति विशेषः । किञ्च, तन्मते स्वरादेरेव प्रत्ययस्य लुग् व्याख्यातो न तु यकारादेरिति हैमानुशासनाद् भेदः ।

शङ्कते—द्विगोरिति किमिति ? सामान्यत एव लुप् विधीयतामिति शङ्काशयः, प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति—पूर्वस्यां शालायां भव इत्यादिना । तद्धितार्थे समासः, भवार्थोऽण्प्रत्यय आदिस्वरवृद्धौ आकारलोपे, "सर्वादेरस्यादौ" [३.२.६१.] इति पूर्वाशब्दस्य पुंवद्भावात् **पौर्वशाल** इति । द्विगोरित्यस्याभावेऽत्रापि लुप् स्यादिति तदवश्यं वक्तव्यमित्यर्थः । प्रत्युदाहरणान्तरमाह—**त्र्यवयवा विद्येत्यादिना** । मध्यमपदलोपी समासः ततः "तद्वेत्त्यधीते" [६.२.११७.] इत्यण आदिस्वरवृद्धावाकारलोपे त्रैविद्य इति । अत्रापि प्रत्ययलोपे त्रिविद्य इति स्यादिति भावः । पुनः शङ्कते—**अनपत्य इति किमिति**—अपत्यार्थप्रत्ययवर्जनस्य व्यावर्त्यं किमिति प्रश्नाशयः । उत्तरयति—**द्वैमातुर** इति । द्वयोः मात्रोरपत्यमित्यर्थे तद्धितार्थे समासः, ततोऽपत्यार्थोऽणि मातुरादेशश्च मातृ. "संख्या-सं-भद्रात्०" [६.१.६६.] इति सूत्रेण । अत्र द्विगोः परस्यापत्यार्थस्याप्णो लुग् स्यादित्यपत्यार्थवर्जनमावश्यकम् ।

एवं पञ्चानां नापितानामपत्यमित्यर्थे तद्धितार्थसमासे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञ् आदिस्वरवृद्धिरवर्णलोपश्च । अत्रापि द्विगोः परस्यापत्यार्थस्येञो लुप् स्यात् ।

पुनः शङ्कते—**यस्वरादेरिति किमिति ?** प्रायः प्रागूजितीयेषु यस्वरादेरेव प्रत्ययस्य दर्शनादव्यावर्तकत्वमस्येति

"Aho Shrutgyanam"

प्रभाशयः । प्रत्युदाहरति—पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतमिति । अत्र "नृहेतुभ्यः" [६. ३. १५६.] इति मयटि तस्य लुर् मा भूदिति यस्वरादेरित्यावश्यकमिति भावः । **अद्विरिति किमिति ?** * लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते * इति न्यायेनैकस्य सूत्रस्यैकस्मिन् लक्ष्ये सकृदेव प्रवृत्तिः स्यादिति द्विवारं तस्य न्यायत एव न प्रवृत्तिरिति अद्विरित्यव्यावर्तकमिति प्रभाशयः । संस्कृतार्थे विहितादणः इदमर्थे विहितोऽण् भिन्न एवेति लक्ष्यस्य प्रवृत्तिविषयभूतस्य भेदोऽस्तीति लक्ष्यभेदान्नास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति न तेन वाग्गसंभवः इत्याशयेन प्रत्युदाहरति—**पञ्चसु कपालेषु संस्कृतमित्यादिना** । अत्र तद्धितार्थे समासे कृते संस्कृतार्थे विहितस्याणोऽनेन लुपि **पञ्चकपालमिति** । ततः इदमर्थेऽपि आदिस्वरवृद्धौ "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.८६.] इत्याकारलोपे पाञ्चकपालमिति भवति, अद्विरित्यस्याभावेऽत्राप्यणो लुर् स्यादिति तद्ग्रहणमावश्यकमिति भावः । अत्र * प्रत्ययलोपेऽपि तन्निमित्तं कार्यं विज्ञायते * इति न्यायेन लुप्तप्रत्ययस्य स्थानित्वेन व्यवधानात् द्विः प्रवृत्तिर्न स्यात् इत्याशयेन प्रश्नः, तस्य न्यायस्यानित्यत्वेन समाधानमिति केषाञ्चिद् व्याख्यानं नोचितं प्रतिभाति * लुप्तप्रत्ययान्तनिर्दिष्टकार्याणामनुमत्यर्थोऽयं न्यायः * इति **न्यायसंग्रहोक्तया** साक्षाल्लुप्तप्रत्ययनिमित्तकार्ये एव तन्न्यायप्रवृत्तेः स्वीकारादिह तस्य प्रसराभावात्, तदनित्यत्वाश्रयणस्य सुतरामनाश्रयणीयत्वात् । किञ्चानित्यत्वाश्रयणेनेष्टलक्ष्यसिद्धिरेवाभिमता भवति न त्वनिष्टापादनमिति सर्वमिदमसमञ्जसमेव प्रतिभाति । तस्मात् * लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते * इति न्यायेन प्रश्नः, अर्थभेदेन प्रत्ययभेदाद् लक्ष्यभेद इत्याश्रयणेन समाधानमित्येव युक्तं प्रतिभाति । प्राग्जितादित्यस्यापि संबन्ध आवश्यक एवेति प्रतिपादयति—**प्राग्जितादित्येवेति** । व्याकर्यमाह—**द्वौ रथौ वहति द्विरथ्य** इति । अत्रापि तद्धितार्थे समासे "वहति रथ०" [७.१.२.] इत्यादिना ये अवर्णलोपे द्विरथ्य इति भवति, अयं हि यः "तेन जित०" [६.४.२.] इत्यतः पश्चादुक्ते वहत्यर्थे विहित इति न प्राग्जितीय इति नास्य लुप् भवति, प्राग्जितादित्यस्याभावे तु स्यादेवेत्यनिष्टापत्तिरिति भावः । एवं 'द्वाभ्यां नौभ्यां तरति' इत्यर्थे तद्धितार्थे समासे "नावः" [७.३.१०४.] इत्यटि "तरति" [६.४.९.] इतीकणि आदिस्वरवृद्धौ द्वैनाविक इति भवति, प्राग्जितादित्यस्याभावे चेहापीकणो लुप् स्यादिति भावः ॥६.१.२४॥

प्राग्वतः स्त्रीपुंसाद् नञ् स्नञ् ॥६।१।२५॥

त०प्र०—प्राग्वतो येऽर्थास्तेष्वनिदम्यणपवादे च स्त्रीशब्दात् पुंसशब्दाच्च यथासंख्यं नञ्-स्नञ्प्रत्ययौ भवतः । स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः । पौंस्नः । स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम् । पौंस्नम् । स्त्रीषु भवं स्त्रैणम् । पौंस्नम् । स्त्रीणामियं स्त्रैणी । पौंस्नी । स्त्रीणां निमित्तं संयोग उत्पातो वा स्त्रैणः । पौंस्नः । स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम् । पौंस्नम् । प्राग्वत इति किम् ? स्त्रिया अर्हं कृत्यम् । स्त्रिया तुल्यं वर्तते इति वा, स्त्रीवत् । पुंवत् । अकारो ञित्कार्यार्थः ॥२५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्— प्राग्वतः० । वत इत्यत्र दिग्योगलक्षणा पञ्चमी । 'वत्'शब्देन "तस्याहेति क्रियायां वत्" [७.१.५१.] इति विहितो वत्प्रत्ययो गृह्यते, ततः प्राक्—पूर्वम् इमौ प्रत्ययावाभ्यां शब्दाभ्यां विधीयेते । वत्प्रत्ययात् पूर्वमाभ्यां शब्दाभ्यां प्रत्ययाविमौ विधीयेते । इत्यर्थाश्रयणे च यत्र वत्प्रत्ययो विधातव्य आभ्यां शब्दाभ्यां, तत्र वत्प्रत्ययविधानात् पूर्वं नञ्-स्नञौ स्याताम् मित्यायाति, ततश्च नेष्टसिद्धिरनिष्टापत्तिश्चेति मत्वा वत्शब्दस्य स्वार्थोपलक्षत्वमाश्रित्य प्राग्वत इत्यस्यार्थमाह— **प्राग्वतो येऽर्था** इति । तथा च यदर्थे वत्प्रत्ययो विधीयते तदर्थात् प्राग्ये ऽर्थाः तेषु सर्वेष्वर्थेषु अनिदमिदमर्थविहितभिन्नेऽणपवाद प्रत्ययविषये च स्त्री-पुंसशब्दाभ्यां क्रमशो नञ्—स्नञौ प्रत्ययौ भवतः । स्त्री च पुमाँश्चानयोः समाहारः स्त्री-पुंसम् "स्त्रियाः पुंसो द्वन्द्वाच्च" [७.३.९६.] इति अति, स्त्री-पुंसमिति तस्मात् स्त्री-पुंसात् । उदाहरति—**स्त्रिया अपत्यमिति** । यद्यपि सर्वोऽपि स्त्रिया अपत्यं भवत्येव तथापि यः स्त्रीभावमेव विशेषतो व्यनक्ति, न तु पौरुषमिति सोऽयं स्त्रिया अपत्यत्वेन विवक्षितः । नञ्प्रत्यये आदिस्वरवृद्धौ णत्वे च स्त्रैणशब्दस्य सिद्धिः । एवं पुंसोऽपत्यं **पौंस्न** इति । अत्र यद्यपि नञ्प्रत्ययेनैकेनैव रूपसिद्धिः स्यादिति संभाव्यते तथा च सकारविशिष्टप्रत्ययान्तरविधानं किमर्थमिति शङ्कोदेति तथापि पुंसोऽपत्यमित्यर्थे नञि प्रत्यये विहिते 'पुंस'शब्दस्यान्तर्वर्तिविभक्तेरयाः प्रत्ययलक्षणेनानयनात् पदत्वेन "पदस्य" [२.१.८९.] इति सकारस्य संयोगान्तलोपः स्यादिति सकारश्रवणं न संभाव्यते इति सकार-

"Aho Shrutgyanam"

विशिष्टप्रत्ययान्तरविधानमावश्यकमिति विज्ञेयम् । अर्थान्तरेष्वपि प्राग्वतीयेषूदाहरति, **स्त्रीणां समूहः**, स्त्रीषु भवम्, स्त्रीणामियमित्यादिरूपेण । स्त्रियां "अणञेयेकण्-नञ्०" [२.४.२०.] इति ङ्यां स्त्रैणी, **पौंस्नीति** ।

पदकृत्यं पृच्छति—**प्राग्वत इति किमिति** । प्राग्जितादित्यधिकारस्य सत्त्वात् तेनैवापत्यसमूह-भवाद्यर्थेषु व्याप्तिरिति अर्थान्तरावधिकरणं किमर्थमिति प्रश्नाशयः । प्राग्जिताद् बहिर्गतेऽर्हाद्यर्थेऽपि प्रत्ययाविमौ स्यातामित्यनिष्पत्तिरिति तद्वारणाय प्राग्वतेरित्यावश्यकमिति प्रत्युदाहरणेनाह—**स्त्रिया अर्हं कृत्यमित्यादिना** । अकारस्य प्रयोगेऽश्रवणात् तत्फलं किमिति प्रश्नं शिष्यमनसि संभाव्योत्तरयति—अकारो ञित्कार्यार्थ इति । ञित्कार्यमाद्यस्वरवृद्धिः सैव प्रयोजनमस्येति तथाभूत इत्यर्थः ॥ ६. १. २५.॥

त्वे वा ॥६।१।२६॥

त०प्र०—**स्त्रीशब्दात् पुंस्शब्दाच्च त्वे त्वप्रत्ययविषये भावे यथासंख्यं नञ्-स्नञ्-प्रत्ययौ वा भवतः । स्त्रिया भावः स्त्रैणं, स्त्रीत्वं, स्त्रीता । पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता । पुनर्वाग्रहणं प्रत्ययविकल्पार्थम् ॥२६॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**त्वे वा** । त्वे इति विषयसप्तमी । विषयश्च प्रत्ययस्यार्थ एवेति त्वप्रत्ययार्थे इत्यर्थे लभ्यते । त्वप्रत्ययार्थश्च "भावे त्व-तल्" [७. १. ५५.] इति सूत्रानुसारं भाव एव । पूर्वसूत्रं संपूर्णमनुवर्त्ततेऽवधिबोधक 'प्राग्वतः' इति शब्दवर्जम् । तस्यात्रानुपयोगात् तथा च वृत्त्युक्तोऽर्थः सम्पन्नः । भावश्च प्रकृत्यर्थं प्रति विशेषणीभूतो धर्मः । उदाहरति—**स्त्रिया भावः स्त्रैणमित्यादि** । रूपसिद्धिरुक्तैव । "वाद्यात्" [६.१.११.] इति सूत्राद् वाग्रहणस्य तद्धितेषु सर्वत्रैवाधिकारात् प्रत्ययस्य पाक्षिकत्वे सिद्धे पुनरिह वाग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्य संभाव्याह—**पुनर्वाग्रहणं प्रत्ययविकल्पार्थमिति** । "वाद्यात्" [६.१.११.] इति सूत्रादधिकृतं वाग्रहणं पक्षे वाक्य-समासयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति तत्रैव प्रतिपादितम् । इह च पुनः क्रियमाणं वाग्रहणं नञ्-स्नञ्प्रत्ययोः पाक्षिकत्वं बोधयतीति तत्परित्यक्तपक्षे त्व-तलावपि स्यातामित्येतदर्थमिति । तथा च नञ्-स्नञाभ्यां सह तयोः समावेशार्थं वाग्रहणमिति फलति, अन्यथा नञ्-स्नञावेव भावेऽपि स्यातां विशेषविहितत्वाद् न तु त्व-तलाविति भावः ॥६.१.२६.॥

गोः स्वरे यः ॥६।१।२७॥

त०प्र०—**गोशब्दात् स्वरादितद्धितप्रसङ्गे यः प्रत्ययो भवति । गोरिदं गव्यम् । गोरपत्यं गव्यः । गवि भवं गव्यम् । गौर्देवताऽस्य गव्यः । गवा चरति गव्यः । स्वर इति किम् ? गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यम् । गोमयः ॥२७॥**

श० म० न्यासानुसन्धाम्—**गोः०** । स्वर इत्यत्रापि विषयसप्तमी । "सप्तम्या आदिः" [७.४. ११४.] इति परिभाषया स्वरे इत्यस्य स्वरादावित्यर्थः । तथा च सूत्रार्थमाह—**गोशब्दात् स्वरादितद्धितप्रसङ्गे** इति । स्वरादिप्रत्ययाश्च अणादय एव, ते चापत्यादारभ्याग्वतोऽर्थात्—ये प्राप्तास्तेषां विषये य एव भवति । स्वरे इत्यनेन सामान्यत एव स्वरादिप्रत्ययस्य ग्रहणे स्यादयोऽपि, केचित् स्वरादय इति तेषामपि प्रसङ्गे य एव स्यादिति शङ्कापनोदाय स्वरादितद्धितप्रसङ्गे इत्युक्तम् । एष च प्रकरणलभ्योऽर्थः । तद्धितप्रकरणे तस्यैव ग्रहणस्यौचित्यात् । उदाहरति—**गोरिदं गव्यमिति** । गोशब्दाद् इदमर्थेऽनेन ये "य्यक्ये" [१.२.२५.] इत्यवादेशे गव्यम् इति । एवमेव सर्वत्र सिद्धिः । अत्रेदमर्थेऽण् स्वरादिः प्राप्तः स बाध्यते । गोरपत्यमित्यर्थे "चतुष्पाद्भ्य एयञ्" [६.१.८३.] इत्येयञ् स्वरादिः प्राप्तः । देवतार्थेऽणेव प्राप्तः । चरति इत्यर्थे इकणोऽधिकारे "चरति" [६.१.११.] इति पाठादिकण् स्वरादिः प्रत्ययः प्राप्त इति सर्वेषां प्रसङ्गे य एव भवति ।

स्वर इति किमिति ? प्रायः प्रत्ययादौ स्वरो यकारो वा श्रूयते, यकारश्चेह विधेय एवेति स्वरादिप्रत्ययस्यैवायमपवादः स्यादिति स्वरे इत्यव्यावर्तकमित्याशयेन प्रश्नः । रूप्य-मयटौ न स्वरादी इति तयोः प्रसङ्गेऽयं मा भूदिति तदर्थं स्वरे इत्यावश्यकमित्याह प्रत्युदाहरणेन **गोभ्यो हेतुभ्य** इति "तृहेतुभ्यः" [६.३.१५६.] इति रूप्य-मयटावेव भवत इति **गोरूप्यम्, गोमयमिति** ॥६.१.२७.॥

ङसोऽपत्ये ॥६।१।२८॥

त०प्र०—**अणादयोऽनुवर्त्तन्ते । ङसः षष्ठ्यन्तान्नाम्नोऽपत्येऽर्थे यथाभिहितमणादयः**

"Aho Shrutgyanam"

प्रत्यया भवन्ति । उपगोरपत्यमौपगवः । धानपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः । अपत्य इत्यपत्यमात्रं विवक्षितं न लिङ्गसंख्यादि । तेन द्वयोर्बहुषु स्त्रीलिङ्गादौ च भवति । औपगवौ । औपगवाः । औपगवी इत्यादि । ङस इति किम् ? देवदत्तेऽपत्यम् । अपत्य इति किम् ? भानोरयं भानवीयः । श्यामगवीयः । 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्येषाऽऽदिसिद्धौ अपत्यविवक्षायां तदपवादबाधनार्थं वचनम् । तेन भानोरपत्यं भानवः । श्यामगवः । अत्र 'दोरीयः' [६.३.३१.] इतीयो न भवति । कम्बल उपगोः अपत्यं देवदत्तस्येत्यत्र तु असामर्थ्यान्न भवति ॥२८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–ङसः० । ङस इति प्रकृतिनिर्देशपरम्, स्वघटितत्वसम्बन्धेन षष्ठीविभक्तिलक्षकं च । नाम चेह विशेष्यम्, ङसः इति विशेषणम्, ततश्च "विशेषणमन्तः" [७.४.११३.] इति बलात् तदन्तबोधात् षष्ठ्यन्तान्नाम्न इत्यर्थो भवति । अपत्य इति प्रत्ययार्थनिरूपणम्, प्रत्ययाश्चाणादयोऽनुवृत्त्या लभ्या इत्याह–**अणादयोऽनुवर्तन्त** इति । किमणादयः सर्वे प्रत्यया अपत्येऽर्थे सर्वाभ्यः प्रकृतिभ्यो भवन्ति उतास्ति किञ्चित् तत्र विनिगमकमित्याह–**यथाविहितमिति** । याभ्यः प्रकृतिभ्यो ये प्रत्यया विशिष्यार्थसामान्ये पूर्वं विहिता ये चापत्यार्थेऽप्यग्रे वक्ष्यन्ते तेऽपत्यार्थे षष्ठ्यन्तान्नाम्नो भवन्तीत्याशयः । विहितं–विधानम्, अनतिक्रम्येऽति यथाविहितम्, अर्थानतिवृत्तावव्ययीभावसमासः ।

उदाहरति—**उपगोरपत्यमि**त्यादिना । उपगता गावो यमित्यर्थे बहुव्रीहिसमासे "गोश्वान्ते०" [२.४.९६.] इति ह्रस्वे उपगुरिति कश्चिदृषिविशेषः परमप्रकृतिः । तस्मादपत्यार्थेऽनेनाणि आदिस्वरवृद्धौ "अस्त्र्यंभुवोऽवू" [७.४.७०.]इत्यवादेशे **औपगव** इति । धनपतेरपत्यमित्यर्थे "धनादेः पत्युः" [६.१.१४.] इत्यण् आदिस्वरवृद्धौ इकारलोपे **धानपत** इति । दितेरपत्यमित्यर्थे "अनिदम्यणपवादे०" [६.१.१५.] इति ण्ये आदिस्वरवृद्ध्यादौ **दैत्य** इति । उत्सस्यापत्यमित्यर्थे"उत्सादेरञ्" [६.१.१९.] इत्यञ्, आदिस्वरवृद्ध्यादौ **औत्स** इति । स्त्रियाः पुंसोऽपत्यमित्यर्थे नञ्-स्नञौ पूर्वोक्तावेव । ननु "ङसोऽपत्ये" इत्यत्र अपत्यशब्दे क्लीबत्वस्यैकत्वस्य च विवक्षणे पुं-स्त्रियोरपत्ययोः, द्वित्व-बहुत्वयोश्चापत्यगतयोर्विवक्षणेऽनेन प्रत्ययो न स्यात्, तथा च उपगोरपत्ये पुमांसौ, उपगोरपत्यं स्त्री इत्यादि विग्रहे कथं रूपसिद्धिरित्याशङ्क्यायामाह–**अपत्य इत्यत्रापत्यमात्रं विवक्षितमि**त्यादि । न पतन्त्यनेनेति व्युत्पत्त्याऽपत्यशब्दः सन्ततिमात्रवाचक इह गृह्यते, न तु क्लीबत्वैकत्वमात्रविशिष्टा सन्ततिरिति अपत्यशब्दे सामान्यविवक्षयैव क्लीवता प्रथमोपस्थितत्वाच्चैकवचनप्रयोगो, न तु तद्विवक्षायां तात्पर्यमिति भावः । तेनापत्ये द्वित्वे बहुत्वे वा विवक्षिते पुंस्त्वे स्त्रीत्वे वा विवक्षितेऽपि प्रत्ययोऽयं भवत्येवेति भावः ।

तदनुसारमुदाहरति–**औपगवौ, औपगवाः, औपगवी**त्यादि इति । आद्ययोर्द्वित्व–बहुत्वविवक्षा अन्त्ये च स्त्रीत्वविवक्षा, तथापि प्रत्ययो भवत्येव रूपसिद्धिश्च पूर्वोक्तैव । स्त्रियां "अणत्रेयेकण्०" [२.४.२०.] इति ङीर्भवतीति विशेषः । **ङस इति किम्** ? विभक्तिविशेषविशिष्टस्य प्रकृतित्वाश्रयणेन किं व्यावर्त्यमिति प्रश्नाशयः । **देवदत्तेऽपत्यमि**ति आधारादिविवक्षायां वाक्यमेव तिष्ठेद् न प्रत्यय उत्पद्यतामित्येदर्थं विभक्तिविशेषविशिष्टस्य प्रकृतित्वाश्रयणमिति भावः । **अपत्य इति किमि**ति सामान्यतः संबन्धवाचिनो नाम्नोऽण् विधीयतामर्थविशेषाश्रयणं किमर्थमिति प्रश्नाशयः । **भानोरयं भानवीय** इति–इदमर्थेऽप्यस्य प्रवृत्तौ "दोरीयः" [६.३.३२] इति विहितमीयं बाधित्वाऽणेव स्यादिति तद्बाधनार्थमपत्य इत्यर्थविशेषोपादानमावश्यकमिति भावः । श्यामगवीय इति–श्यामश्चासौ गौश्चेति विग्रहे विशेषणसमासे "गोस्तत्पुरुषात्" [७.३.१०५.] इत्यटि श्यामगव इति, श्यामा चासौ गौश्चेति विग्रहे पूर्ववत् समासे समासान्तेऽटि च ङित्वाद् ङीयि श्यामगवीति ! श्यामा गौर्यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे "गोश्वान्ते०" [३.४.९६.] इति ह्रस्वे श्यामगुरिति तस्य तस्याश्चायमिति विग्रहे "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीये श्यामगवीय इति भवति; अत्राप्यणेव स्यादिति भावः । वस्तुतस्तु अपत्ये इति किमित्यस्य सूत्रमेव किमर्थमित्याशयः, तदेव स्फोरयति **तस्येदमित्येवाणादिसिद्धाविति** ।

अयमाशयः—इदमर्थस्य सामान्यतया, तत्रापत्यार्थस्याप्यन्तर्भूतत्वात् "तस्येदम्" [६.४.१५९] इत्यनेनैवापत्यार्थेऽपि यथाविहितप्रत्ययसिद्धौ सूत्रमिदनर्थकमिति चेन्न, अपत्यविवक्षायां तदपवादबाधनार्थं पृथग्वचनस्यावश्यकत्वात् । तस्येदमित्यर्थे विहितस्याणो "दोरीयः" [६.३.३२.]

"Aho Shrutgyanam"

इत्यपवादस्तस्य बाधनार्थं स्वातन्त्र्येणापत्यार्थेऽणो विधानमित्यर्थः । न च तस्येदम् "दोरीयः" [६.३.३२.] इत्यादीनां शेषाधिकारस्थत्वेन शेषस्य च 'उक्तादन्यः शेषः' इति विवरणदर्शनेनापत्यार्थस्य च ततः पूर्वमेवापत्याधिकारे उक्तत्वादुक्तादन्यत्वाभावेन तत्र "दोरीयः" [६.३.३२] इत्यस्य न प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । येभ्यो नामभ्योऽपत्यार्थे प्रत्यया विहितास्तत्संबद्धापत्यार्थस्योक्तत्वेऽपि येभ्य उपग्वादिनामभ्योऽपत्यार्थे प्रत्यया नोक्तास्तत्संबद्धापत्यार्थस्यानुक्तत्वाक्षतेः शेषत्वसत्त्वात् तत्र तस्येदमित्यणा सिद्धावपि दुर्संज्ञकाद् "दोरीयः" [६.३.३२.] इत्यस्य दुर्वारत्वेन भानोरपत्यं भानवः, श्यामगोरपत्यं श्यामगव इति न सिद्ध्येत्, किन्तु भानर्वीयः, श्यामगवीय इत्येव स्यादिति तद्वारणार्थं 'ङसोऽपत्ये' इत्यस्यावश्यकत्वात् ।

"समर्थः पदविधिः" [७.४.१२०.] इति परिभाषालब्धार्थमाश्रित्यातिप्रसङ्गं वारयितुमाह—**कम्बल उपगोः, अपत्यं देवदत्तस्ये**त्यादिना । अयमाशयः—समर्थः पदविधिरिति परिभाषासूत्रेण पदविधित्वावच्छेदेन समर्थाश्रितत्वं बोधितम् । पदविधित्वं च साक्षात्पदनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयत्वम् । तथा च स्याद्यन्तनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयस्य तद्धितप्रत्ययविधेः पदविधित्वमक्षतमेव । तस्य च समर्थाश्रितत्वं परिभाषया बोधितमिति **कम्बल उपगोः, अपत्यं देवदत्तस्ये**ति विग्रहवाक्ये सामर्थ्याभावान्न तस्य समर्थत्वम् । सामर्थ्यं हि व्यपेक्षारूपमेकार्थीभावरूपं च । पृथगर्थानां पदानामाकाङ्क्षावशात् परस्परं संबन्धो व्यपेक्षा । तादृशानामेव पदानां वृत्तिवशादेकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभावः । सर्वत्र वृत्तिविषये चेदमेव सामर्थ्यम् । यद्यपि मुख्यं सामर्थ्यं विग्रहवाक्य एव, तत्रैव पदानां पृथगवस्थानात्, परस्परमन्वयपूर्वकैकोपस्थितिजनकत्वात्, तथापि तत्र विद्यमानं सामर्थ्यम्, अलौकिकप्रक्रियावाक्ये उपगु + अस् इत्यादौ कल्पयित्वा शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहः । एवं चात्र वाक्ये उपगोरपत्येन, देवदत्तस्य च कम्बलेनान्वयस्य प्रतिपिपायिषितत्वात्, यथाश्रुतवाक्ये च तदप्रतीतेः सर्वेषां पदानां परस्परमन्वयसत्त्वात् नास्य विग्रहवाक्यत्वमिति न प्रत्ययोत्पत्तिरिति ॥६।१।२८॥

आद्यात् ॥६।१।२९॥

त०प्र०—अपत्ये येऽणादयः प्रत्ययास्ते आद्यात् परमप्रकृतेरेव भवन्ति । पौत्राद्यपत्यं सर्वपूर्वजानामा परमप्रकृतेः पारम्पर्येण संबन्धादपत्यं भवति । तत्र तैस्तैः संबन्धविवक्षायामनन्तरवृद्धयुवभ्योऽपि प्रत्ययः प्राप्नोतीति नियमार्थे आरम्भः । उपगोरपत्यमनन्तरं वृद्धं वा औपगवः । तस्याप्यौपगविः । औपगवस्यापत्यौपगवः । गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः । गार्गेरपि गार्ग्यः । गार्ग्यस्यापि गार्ग्यः । गार्ग्यायणस्यापि गार्ग्यः । अनन्तरादयोऽपि परमप्रकृतिरूपेणैवापत्ये प्रत्ययमुत्पादयन्ति ॥२९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—आद्यात् । 'अपत्ये' इत्यनुवर्तते पूर्वसूत्रात् । अपत्यपदं चात्र वृद्धापत्यपरम् । आद्यपदं च परमप्रकृतिपरम् । तथा चापत्यार्थेऽणादयः प्रत्यया विधीयमानाः आद्यात्—परमप्रकृतेर्भवन्तीति सूत्रार्थः । तत्राद्यात् प्रत्ययस्य प्राप्तत्वाद् नियमो गम्यते, आद्यादेव नान्यस्मादिति । तद्दर्शयति **नियमार्थं आरम्भ** इति, अत्र नियमो द्विविधः, प्रत्ययनियमः, प्रकृतिनियमश्च । सर्वस्मिन् व्यवहितजनितेऽपि वृद्धापत्ये गर्गशब्दाद् यञेव भवतीति प्रत्ययनियमः । अथवा वृद्धापत्ये विवक्षिते एक एव शब्दः परमप्रकृतिरेव प्रत्ययमुत्पादयति नान्य इति प्रकृतिनियमः । इहापत्यशब्दविषये पक्षद्वयम् अपत्यशब्दो जन्यपरः, तेन यस्माद् यो जन्यते तस्यैव तदपत्यमिति, स एवापत्यार्थेन युज्यते । तथा च लोके पितामहस्याङ्के स्थितं शिशुं समवलोक्य कश्चिद् यदि पितामहं पृच्छति कस्येदमपत्यमिति, स चैत्रस्य मैत्रस्य वेति कथयन् स्वपुत्रमेवैतेनापत्येन संबन्धयति, न त्वात्मानम् । अमरकोशोऽपि तत्रैव शक्तिं ग्राहयति—

"आत्मनस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी ।
आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं स्तोकं तयोः समे ॥" इति ।

परन्त्वत्र पक्षे "पौत्रादि वृद्धम्" [६.१.२.] इति सूत्रेण पौत्राद्यपत्यस्य वृद्धसंज्ञा विधीयमाना कथं संगच्छताम्, पौत्रादेरपत्यत्वभावात् । ततश्चापत्यशब्दः प्रयोज्यापत्यपरः, न पतन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्भाष्यादौ दर्शितत्वात् । ततश्चापत्येन पौत्रादिना सर्वेषां पूर्वजानां सम्बन्धो भवतीत्याह—**पौत्राद्यपत्यमि**त्यादिना । तथा च परमप्रकृत्यनन्तरापत्य—वृद्धापत्य-युवापत्यादिरूपाणां गर्ग- गार्गि-गार्ग्य-गार्ग्यायणादीनां सर्वेषामपत्येन योगादेतेषामन्यतमस्य यदपत्यं तत् सर्वेषामपत्यं भवतीति परमप्रकृतेरनन्तरगोत्रयुवलक्षणाः प्रत्ययाः प्राप्नुवन्ति । गर्गस्य यदपत्यं तत् सर्वेषामेव गार्गि—गार्ग्य-

"Aho Shrutgyanam"

गार्ग्यायणानां सम्बन्धि भवति । एवं तुल्यन्यायाद् गार्गि-गार्ग्य–गार्गायणानांमन्यतमस्य यदपत्यं तत् सर्वेषां गर्ग-(परमप्रकृति)प्रभृतीनां संबन्धि भवति । तथा चात्र यद्यपि गर्गस्यापत्यमिति गर्गशब्देन विग्रहः क्रियते तथापि नायं नियमो लभ्यते, गर्गशब्दादेव प्रत्ययोत्पत्तिरिति, अपि तु कामचारः । ततश्च यदा गर्गशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तिर्भवति तदा "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञ् भवति । यदानन्तरापत्यविवक्षया "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञन्ताद् गार्गिशब्दात् प्रत्यय उत्पद्यते तदा "यञिञः" [६.१.५४.] इति आयनण् । यदा गार्ग्यशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तिस्तदापि आयनणेव । यदा गार्ग्यायणस्यापत्यमिति विग्रहस्तदा "अत इञ्" [६.१.३१.] इति–गार्ग्यायणिरिति । एवं प्रत्यपत्यं विभागेन प्रत्ययानामुत्पत्तौ प्रसक्तायामनेन नियमः क्रियते, तदाह–**तैस्तैः संबन्धविवक्षायामनन्तरवृद्ध-युवभ्योऽपि (गार्गि-गार्ग्य-गार्ग्यायणेभ्यः) प्रत्ययः प्राप्नोतीति नियमार्थ आरम्भ** इति, नियमप्रकारश्च द्विरूपः पूर्वं प्रदर्शित एव । एवं चेदं लब्धं भवति–गर्गस्यापत्यमनन्तरं गार्गिरितीञन्तस्य, गर्गस्य वृद्धापत्यं गार्ग्य इति यञन्तस्य गार्ग्यस्य युवापत्यमित्यर्थे गार्ग्यायण इत्यायनणन्तस्य वाच्यानामपत्यार्थानां तत्र परमप्रकृतौ संबन्धो विवक्ष्यते चेत् तदा गार्ग्यादिभ्योऽपि प्रत्यया मा भूवन् किन्तु या मूलप्रकृतिरूपा गर्गादिलक्षणा तस्या एवापत्यार्थे समुत्पन्नेन प्रत्ययेन सर्वेषामपत्यानां बोधः स्यादिति । तथा च सर्वेषामेव गर्ग–गार्गि-गार्ग्य–गार्ग्यायणादीनां पौत्राद्यपत्यं गार्ग्य एव भवति । यदि चानन्तरापत्य–युवापत्ययोर्विवक्षा तदा गार्गि-गार्ग्यायणावपीष्यावेव । किन्तु यदि वृद्धापत्यविवक्षा तदा गार्ग्यादयोऽपि गर्गरूपतामापन्ना एव प्रत्ययमुत्पादयन्ति । तद्वक्ष्यति–**अनन्तरादयोऽपि परमप्रकृतिरूपेणैवापत्ये प्रत्ययमुत्पादयन्ती**ति । तदेवोदाहरणद्वारा स्पष्टयति—**उपगोरपत्यमनन्तरं वृद्धं वा औपगव** इति । उपगुशब्दात् साक्षात् कस्मिन्नप्यपत्येऽणेव भवतीति औपगव इत्येव रूपमिति भावः । औपगवस्यानन्तरापत्यं युवापत्यं वा औपगविः, "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञि रूपम् । औपगवेः औपगवयुवापत्यस्यापि वृद्धापत्यम्–औपगव एव–न तु औपगवेरिञन्तात् "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनण् किन्तु परमप्रकृतेरुपगोरेवाण् भवतीति भावः । एवं गर्गशब्दविषयेऽपि स्पष्टमुदाहरतिगर्गस्यापत्यं पौत्रादि इत्यर्थे गर्गादित्वाद् यञि गार्ग्य इति । गर्गस्यानन्तरापत्यस्य गार्गेरप्यपत्यं गार्ग्य एव, तदर्थेऽपि मूलप्रकृतेरेव प्रत्ययोत्पत्तेः । गार्ग्यस्य गर्गवृद्धापत्यस्याप्यपत्यं (वृद्धं) गार्ग्य एव । गार्ग्यस्य युवापत्यस्य–गार्ग्यायणस्यापि–अपत्यं गार्ग्य एवेति–सर्वेष्वपत्यार्थेषु परमप्रकृतेरेव यत्रिति भावः । न तु प्रत्ययान्तेभ्यः पुनः प्रत्ययान्तरोत्पत्तिरिति तत्त्वम् । अन्यथा मूलाच्छततमेऽपत्ये पितुरेवापत्येन सम्बन्ध इति मते एकोनशतप्रत्ययानाम्, ततः पूर्वजानामपत्येन परम्परया सम्बन्ध इति मतेऽष्टनवतिप्रत्ययानां च परम्परा स्यादिति ।

अयमत्र संग्रहः—

"अपत्यं पितुरेव ततः प्राचामपीति वा ।
आद्ये पक्षे तृतीये द्वौ चतुर्थे त्रय इत्यपि ॥१॥

"एकोनाः प्रत्ययाः प्राप्ता वृद्धं यावतिथं ततः ।
द्व्यूनेभ्यस्तु द्वितीये (पक्षे) स्युरनिष्टाः प्रत्ययास्ततः ॥२॥

आरब्धो नियमो वृद्धेऽप्यत्ये परममूलतः ।
प्रत्ययः स्यात् ततो नष्टाऽनवस्था प्रत्ययैः कृता ॥३॥

ननु पूर्वजानामपि वृद्धेनापत्येन सह संबन्ध इति मतेऽस्तु नाम प्रत्ययानां परम्परा प्राप्ता, तन्निवारणार्थं नियमस्यावश्यकत्वमिति सूत्रमिदं नियमार्थम्; किन्तु 'उत्पादयितैवापत्येन संबध्यते' इति मते वृद्धस्यापत्यत्वाभावात् तत्र वाच्ये "आद्यात्" (परमप्रकृतेः) प्रत्ययस्याप्राप्ततया विध्यर्थमेव भविष्यतीति कथं तत्र पक्षेऽस्य नियमार्थत्वमुक्तमिति चेन्न, वृद्धे बोधनीये क्रमेणानेकप्रकृतिभ्योऽनेकेषां प्रत्ययानां प्राप्तावाद्यादेवैक एव प्रत्ययः स्यादिति नियमस्य विवक्षितत्वात् । अस्मिन् पक्षे पौत्रादेर्वृद्धसंज्ञाविधानसामर्थ्यात् परम्परासंबन्धाश्रयेण परमप्रकृतिपर्यन्तानामपत्येन सम्बन्धस्य स्वीकरणीयत्वादिति कृतमधिकविचारणया ॥६।१।२९॥

वृद्धाद् यूनि ॥६।१।३०॥

त०प्र०—**यून्यपत्ये विवक्षिते यः प्रत्ययः स आद्याद् वृद्धात् परमप्रकृतेर्यो वृद्धप्रत्ययस्तदन्ताद् भवति । 'आद्यात्' [६.१.२९.] इत्यस्यापवादः । वृद्धादिति यूनि प्रकृतिर्विधीयते । गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्यः । तस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । दक्षस्यापत्यं पौत्रादि दाक्षिः तस्यापत्यं पौत्रादि दाक्षिः, तस्यापत्यं युवा दाक्षायणः । नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायनः;**

"Aho Shrutgyanam"

तस्यापत्यं युवा नाडायनिः । यूनीति किम् ? गार्ग्यः । नाडायनः । आद्याद् इत्येव । उपगोरपत्यं वृद्धमौपगवः, तस्यापत्यं युवा औपगविः । गार्ग्यायणस्य अपत्यं युवा गार्ग्यायणः । अत्रायनण् इञ् च न भवति ॥३०॥

श० म० न्यासानुसाधानम्–वृद्धाद्० । पूर्वसूत्रे पौत्राद्यपत्यविवक्षायां साधारणतः परमप्रकृतेरेव प्रकृतित्वं विहितम् । तत्र यून्यपत्ये विशेषविधानार्थं सूत्रमिदं यूनीति - युवापत्यपरम् । विवक्षिते इत्याक्षिप्यते । 'आद्यात्'इत्यनुवर्तते । तच्च वृद्धादित्यस्य विहितविशेषणम् । वृद्धादिति च वृद्धार्थे विहितप्रत्ययपरम् । तथा च योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह वृत्त्या **यून्यपत्ये विवक्षित** इत्यादि । **"आद्यात्"** [६. १.२९.] **इत्यस्यापवाद** इति । यद्यपि आद्यादित्यतोऽस्य भिन्नविषयता **यतश्चाद्यादिति** सामान्यतः **पौत्रादिवृद्धापत्ये प्रवर्तते, इदं च यून्यपत्ये, इति भिन्नविषयतया बाध्य-बाधकभावायोगात्, तथापि प्रत्ययार्थद्वारा बाध्य-बाधकभावो बोध्यः । वृद्धस्यैव वंश्ये ज्येष्ठभ्रातरि च जीवति युवसंज्ञा विधीयते, तथा च युवसंज्ञा वृद्धसंज्ञाया अपवादः तदप्रवृत्तिविषयेऽचारितार्थ्यात् । एवं च व्यापकवृद्धापत्यार्थविषयकं पूर्वसूत्रं व्याप्ययुवापत्यार्थविषयकं चेदम्, इत्यनेन सूत्रेण पूर्वसूत्रस्य बाधो युक्त एव । वृद्धादिति यूनि प्रकृतिर्विधीयते** इति । युवापत्ये विवक्षिते, तत्र च प्रत्यये विधातव्ये वृद्धप्रत्ययान्तः प्रकृतिरिति पूर्वाप्राप्तं विधीयते इत्यर्थः । उदाहरति–**गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्य** इति । तथा च तृतीये विवक्षिते वृद्धापत्ये "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि गार्ग्य इति, तस्यापत्यं तृतीयो जीवद्वंश्यत्वेन युवा गार्ग्यायणः, "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनण् । अयं च गर्गात् पञ्चमः ।

तस्मिन् विवक्षिते वृद्धप्रत्ययान्ताद् गार्ग्यादेव प्रत्ययो भवति–नान्तरापत्यार्थे विहितेऽन्तात्, गार्गिशब्दात्, नवा युवापत्ये विहितेऽन्ताद् गार्गिशब्दात् । तथा सति हि गर्गस्य पञ्चमादिषु वाच्येषु गार्गेरिञन्तादायनणि गार्गायण इत्यपि रूपं पाक्षिकं स्यात्, तन्मा भूत्, किन्तु गार्ग्यायण इत्येवास्त्विति सूत्रस्यास्य प्रयोजनम् । तथा च फलतो नियम एव पर्यवस्यतीति पाणिनीयाः सूत्रं नियमार्थमेव मन्यन्ते 'नियमः पाक्षिके सति' इति सिद्धान्तात् । न चापत्यशब्दः पुत्र एव रूढ इति पक्षे पञ्चमादौ यूनि चतुर्थाद्यपत्यप्रत्ययान्तात् (अनन्तरापत्यत्वेन विवक्षितात्) एव प्रत्ययः स्यात्, न तु तृतीयापत्यवाचिवृद्धप्रत्ययान्तात्, तस्य ह्यपत्यत्वाभावात्, इति वृद्धाद् युवप्रत्ययस्यात्यन्तमप्राप्ततया विधिरेवार्थं न नियम इति वाच्यम्, पुत्र-पौत्रादिसाधारणोऽपत्यशब्द इत्येव भाष्यादिषु सिद्धान्तितत्वेन तृतीयादेर्वृद्धसंज्ञाविधानार्थं च तन्मतस्यैवाश्रयणीयत्वेन, तृतीयस्याप्यपत्यत्वाक्षतेर्नियमत्वानपायात् । उदाहरति–**गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्य** इति । अत्र वृद्धापत्ये वाच्ये "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि गार्ग्य इति भवति । तस्यापत्यं युवेत्यर्थे च "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनण् भवति । तथा च युवापत्यार्थे वृद्धप्रत्ययान्तादेवायनण्, न त्वनन्तरापत्येऽर्थे इञि कृते तदन्तात् । एवं दक्षस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञन्तो दाक्षिशब्दः, तस्माद् युवापत्येऽर्थे "यञिञः" [६.१.५४] इति आयनण्, न तु दक्षादेव पञ्चमेऽपत्ये वाच्ये इञ् भवति । एवं नडस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे "नडादिभ्य आयनण्" [६.१.५३.] इत्यायनण्, ततश्च युवापत्यार्थे इञ्, न तु साक्षादेव नडस्य पञ्चमे वाच्ये इञ् । **यूनीति किमिति** वृद्धप्रत्ययान्तादाद्यादेवापत्यान्तरे प्रत्यय इत्येवेत्युक्तामिति प्रश्नाशयः ।

उत्तरयति प्रत्युदाहरणेन, **गार्ग्यः, नाडायन** इति । वृद्धापत्येऽपि वृद्धापत्यान्तादेव प्रत्ययः स्यादिति तत्रापि गार्ग्यायणः, नाडायनिः इति रूपापत्तिरिति भावः । आद्यादित्यस्याप्यनुवृत्तिरावश्यकैवेत्याह – **आद्यादित्येवेति** । व्यावर्त्यमाह–**उपगोरपत्यं वृद्धमौपगव** इति । अस्माद् वृद्धप्रत्ययान्तादेव युवापत्ये इञ् भवति **ओपगविः इति**, न त्वौपगवस्य वृद्धापत्यार्थे इञं विधाय तत आयनण् भवति । एवं गर्गस्य युवापत्यं **गार्ग्यायण** इति, तस्य युवापत्यविवक्षायामपि गार्ग्यायण इत्येव भवति, न तु गार्ग्यायणिरितीञन्तम् । आद्यादित्यस्याभावे च युवापत्यप्रत्ययान्तादपि द्वितीये युवापत्ये विवक्षिते प्रत्ययो दुर्वारः स्यात् । इत्येवं प्रत्ययानां परम्परा न विच्छिद्येत । आद्यादिति अनुवृत्ते तु आद्याद् वृद्धप्रत्ययान्तादेव सर्वोऽपि युवापत्ये प्रत्ययो भवतीति न दोषः । एवं च सर्वेषां पदानां कृत्यं स्पष्टमेव ॥६।१।३०॥

अत इञ् ॥६।१।३१॥

ङसोऽपत्य इति वर्त्तते । अकारान्ताद् ङसन्तान्नाम्नोऽपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । दक्षस्यापत्यं दाक्षिः । अस्यापत्यम् इः । अत इति किम् ? शौभ्यः ।

"Aho Shrutgyanam"

कैलालपः । केचित तु शुभंया-कीलालपा शब्दाभ्यामणमपि नेच्छन्ति । कथम्-

'त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं
भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम् ।
प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥'

तस्येदमिति विवक्षायामण् भविष्यति । अपत्यविवक्षायां तु दाशरथिरित्येव भवति । अथ काक-बक-शुकादेः कस्मान्न भवति ? जात्यैवापत्यार्थस्य पौत्रादेरनन्तरस्य चाभिहितत्वात् । यत्र त्वर्थप्रकरणादेर्विशेषप्रतीतिरस्ति तत्र भवत्येव । यथा-

'कुतश्चरति माथुरैः केन कापिञ्जलिः कृशः ।'

एतेन काक्यादिभ्य एयणादयोऽपि व्याख्याताः । कथं तर्हि कौश्वः, कौकिलः, गौधेरः, चाटकैर इति ?-जातिशब्दा एवैते यथाकथञ्चिद व्युत्पाद्यन्ते । यथा-क्षत्रम्, क्षत्रियः; राजा, राजन्यः, मनुः, मनुष्यो मानुषः इति । अनभिधानाच्च शतसर्ववृद्धकारकराजपुरुषमाथुरकुञ्जरादिभ्यो न भवति । अकारो ञित्कार्यार्थः ॥३१॥

शब्दमहान्यासानुसन्धानम्-अतः० । वक्ष्यमाणार्थसम्पत्त्यर्थमाह-ङसोऽपत्य इति वर्तते । अत इति च नाम्न इत्यस्य विशेषणं, तस्यैव सर्वत्र तद्धितप्रत्ययविधौ प्रकृतित्वेन विवक्षितत्वात् तथा च "विशेषणमन्तः" [७.४.११३.] इति परिभाषया तदन्तविधिरिति अकारान्तादित्यर्थत्वलाभः । तदाह-अकारान्ताद् ङसन्तादित्यादिना । अणोऽपवाद इति । "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इति विहितोऽण् व्यापकः स ह्यकारान्तेष्वनकारान्तेषु सर्वत्र नामसु लब्धप्रसरः, इदं तु सूत्रमकारान्तेष्वेव प्रवर्तते इत्यल्पविषयत्वाद् व्याप्यमिति व्यापकाण्प्रवृत्तौ निरवकाशं स्यादिति निरवकाशो विधिरपवाद इति तदपवाद इति भावः ।

उदाहरति-दक्षस्यापत्यं दाक्षिः । दक्षः प्रजापतिषु प्रथमः, तस्यापत्ये वृद्धेऽनन्तरे वा इञेव भवति, इञि सति आदिस्वरवृद्धौ "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इत्यवर्णलोपे दाक्षिरिति, अस्यापत्यम्-इरिति । 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इत्येकाक्षरकोशानुसारमकारो वृष्णिवंश्यवसुदेवस्यापत्यवाचक इति वृष्णित्वाद् विशेषविहितोऽण् इह प्राप्नोतीति न वाच्यम् । अत्र कोशे वासुदेवशब्दस्य परमात्मनि विष्णौ रूढत्वात्, न तु तस्य वसुदेवापत्यपरत्वात् । स हि वस्धातोरौणादिकोऽण्प्रत्ययेन निष्पन्नवासुदेवशब्देन देवशब्दस्य समानाधिकरणविशेषणसमासे निष्पद्यते इति सर्वव्यापकविष्णुवाचको न तु वसुदेवापत्यरूपतदवतारवाचक इति वृष्णित्वाभावात् । 'अ'शब्दाद् इञि "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इत्यकारलोपे प्रत्ययमात्रस्यैवावशिष्टत्वाद् इरिति ।

पदकृत्यं वक्तुं शङ्कते-अत इति किमिति-तपरकरणं किमर्थमित्याशयात् 'आत् इञ्' इत्येव क्रियताम् इति, प्रभुरभिप्रायं ज्ञात्वा प्रत्युदाहरति-शौभंयः, कीलालप इति । शुभं याति इत्यर्थे विचि शुभंया इति, कीलालं पिबतीति विचि कीलालपा इति तस्य तस्य चापत्यमित्यर्थे तपरकरणाद् इञ् न भवति, किन्तु "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इति अणेव भवति, आदिस्वरवृद्धौ आकारलोपे शौभंयः, कीलालप इति । 'आत्' इत्युक्तौ तु इञेव स्यादित्यनिष्टापत्तिरित्यर्थः । अत्र मतान्तरमाह-केचित् त्विति । अणमपि नेच्छन्तीति तथा च तत्र वाक्यमेव तिष्ठति, न तु प्रत्यय उत्पद्यते इति भावः ।

यदुक्तमणोऽपवाद इति तस्य व्यभिचारं दर्शयति-कथं 'त्यजस्व कोपम्' इत्यादिना । वाल्मीकीयरामायणे युद्धकाण्डे रावणं प्रति तत्कनिष्ठभ्रातुर्विभीषणस्य वचनमिदम्, "कुलकीर्तिनाशनम्"-कुलं च कीर्तिश्चेति कुलकीर्ती तयोर्नाशनम्-समापकम्, अनेन कोपेन सर्वराक्षससंहारे कुलस्य नाशः, परदारकारणादियं दुर्दशेति-कीर्तेश्च नाश इति तथाभूतम्, अथवा कुलस्य वंशस्य कीर्तिः, तस्या नाशनम्, त्वं विश्रवसोऽपत्यमिति तस्य कुलस्य या सदाचारजन्या कीर्तिः, तस्यास्त्वदीयैतद्दुराचारेण नाशः स्पष्ट एवेति तथाभूतं कोपं जानकीस्वयंवर-कालिकापमानेन शूर्पणखानासिकोच्छेद-खर-दूषणादिनिधन-मुनिजनत्राणादिजन्यद्वेषसमुद्भवं क्रोधं त्यजस्व-परिहर इदं च सीता प्रत्यर्पणाभावे, यदि च तां प्रत्यर्पयसि तदा कुलस्य कीर्तेश्च वर्धनम्, विकाशकम्, धर्मं सदाचरणरूपं परस्त्रीप्रत्यर्पणं भजस्व-कुरु, मम कथने प्रसीद, प्रसादेन सह वर्तस्व, येन सबान्धवाः सर्वबन्धुजनसहिता वयं जीवेम-प्राणान् धारयेम, किं करणीयमिति चेत् तत्राह,-

'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली' इति । दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथस्तस्मै रामाय मैथिली—मिथिलायाः राजा मैथिलस्तदपत्यं स्त्री मैथिली प्रदीयताम्—प्रत्यर्प्यताम् । यद्यप्ययं श्लोकः सम्प्रति समुपलभ्यमानेषु वाल्मीकीयरामायणपुस्तकेषु इत्थं समुपलभ्यते—

"त्यजाशु कोपं सुख-धर्मनाशनं,
भजस्व धर्मं रति-कीर्तिवर्धनम् ।
प्रसीद जीवेम सपुत्र-बान्धवाः,
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली" ॥ इति ।

(—वा०रा० युद्धकाण्डे नवमसर्गे द्वाविंशतिमं पद्यम् ।)

तथापि यथावृत्तौ स्थितः पाठो व्याख्यातः । इदमपि पद्यं पूर्वोक्ताशयकमेवेति न पुनर्व्याख्यायते ।

अत्र चादन्तदशरथशब्दादपत्यार्थेऽनेनेञा भवितव्यमिति कथमणन्तप्रयोगः, अणोऽपवाद इत्युक्तत्वादिति शङ्कितुराशयः । समाधत्ते—**तस्येदमिति विवक्षायामण् भविष्यतीति** ।

अयमाशयः—यदाऽपत्यस्यापत्यत्वेन विवक्षा तदा अपत्याधिकारस्यसूत्राणां प्रवृत्तिः, इह च नापत्यत्वेन विवक्षा किन्तु साधारणतो दशरथसंबन्धमात्रविवक्षा, यतो हि विभीषणो रामभक्तः स रामं परमात्मत्वेनाजं जानाति, ततश्च तस्यायमाशयो यत् त्वं रामं दशरथकुलसंबन्धमात्रव्यपदेश्यं परमात्मानं जानीहि, या तव तत्र दशरथापत्यत्वमूलिका साधारणमानवमात्रबुद्धिः साऽनुचितेति सीताप्रदानपूर्वक-तदनुकूलाचरणे गूढतया हेतुप्रदर्शनायैवात्र तथाप्रयोग इति न व्यभिचारशङ्का । यदि चापत्यत्वेन विवक्ष्येत तदा दाशरथिरित्येव युक्तमित्याह—**अपत्यविवक्षायां दाशरथिरित्येव भवतीति** ।

ननु जातिवाचकशब्देभ्यः काकादिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो वाऽपत्यार्थविवक्षायां काकिः बाकिः, शौकिः, ब्राह्मणिः इत्यादयः प्रयोगाः कुतो न भवन्ति न चेदिष्टास्तथाप्रयोगास्तर्हि तदर्थं यत्नः कर्तव्यो येन तथाप्रयोगा न स्युरिति शङ्कते, **अथ काक-बक-शुकादेः कस्मान्न भवतीति** । उत्तरयति—**जात्यैवेत्यादि** । काकादीनां पौत्रादयोऽनन्तरापत्यादयश्च काकत्वेन जातिरूपेणैव प्रसिद्धाः, न तु तत्र काक्याद्यपत्यत्वविवक्षेति, न तत्रापत्यार्थप्रत्ययः । अनभिहितार्थाभिधानायैव हि वृत्तिः क्रियते स चेदर्थोऽन्यथा प्रतीयेताल्पमयत्नसिद्धेऽर्थे यत्नेन । काकादिशब्दैरेव च पौत्रादिरनन्तरो युवा वाऽभिहित एवेति न तत्र प्रत्ययोत्पत्तिः ।

यत्र च कस्येदमपत्यमिति विशेषजिज्ञासा भवति, तत्र तत्प्रकृतिक-तदपत्यबोधकशब्देन सोऽर्थः प्रत्याय्यते । सा च जिज्ञासा नियमेन व्यक्तिविषयिण्येव भवति । नहि ब्राह्मण इति विज्ञाते किंजातीयस्यायं पौत्रादिरिति जिज्ञासा भवति, ब्राह्मणत्वमात्रज्ञानेन तस्य ब्राह्मणापत्यत्वं विज्ञायत एवेति न तज्जिज्ञासेति पर्यवसितम् । एवं च प्रत्यक्षेण काकादिषु काकत्वाद्यवगमात् न तत्र जिज्ञासोदेति किंजातीयकस्येदमपत्यमिति कुतः ? जात्यैव प्रत्यक्षगृहीतया तस्य तज्जातीयनिरूपितापत्यत्वस्यासंदिग्धं प्रत्यवभासात् । तथा च न तत्र तद्बोधकप्रत्ययोत्पत्तिशङ्का * उक्तार्थानामप्रयोगः * इति नियमात् । यत्र तु तादृशशब्देष्वपत्यार्थो विशेषकारणवशात् प्रकरणान्तरेषु विवक्ष्यते, प्रतीयते च तत्र भवत्येव प्रत्ययो विवक्षाधीनत्वादस्यार्थस्येत्याह—**यत्र त्वर्थप्रकरणादेरिति** । उदाहरति—**यथेत्यादि** ।

पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्ये चतुर्थाध्यायप्रथमपादे "एको गोत्रे" [पा०सू० ४.१.९३.] इति सूत्रव्याख्यावसरेऽयं श्लोक इत्थं दृश्यते—

"कुतश्चरति मायूरिः केन कापिञ्जलिः कृशः ।
आहेयेन च दष्टस्य पाञ्चिः सुतसमो मतः ॥" इति ।

अत्र मयूरस्यापत्यं, कपिञ्जलस्यापत्यमित्यनयोरर्थयोरिञि मायूरिः, कापिञ्जलिरिति । अहेरपत्यमित्यर्थे "इतोऽनिञः" [६.१.७३.] इत्येयणि आहेय इति । पञ्चानामपत्यमित्यर्थे "बाह्वादिभ्यो गोत्रे" [६.१.३२.] इतीञि पाञ्चिरिति । मयूर-कपिञ्जलौ पक्षिजातिविशेषवाचिनौ, अहिः सर्पः; पञ्चन् संख्यावाची, तथा च जातिसंख्यादिवाचिभ्योऽपत्यार्थे प्रत्ययः प्रयुज्यते यदि विवक्ष्यते इत्येतन्मात्रपरमेतत् पद्यं नार्थविशेषाभिप्रायकम् ।

एवं च जातिवाचिभ्य इव स्त्रीत्वादिविशिष्टेभ्योऽपि प्रत्ययविशेषा उत्पद्यन्त एव यदि विवक्ष्यन्ते इति प्रतिपादयति—**एतेन काक्यादिभ्य एयणादिभ्योऽपि व्याख्यात** इति । एयणादयो "ङ्याप्-त्यूङः" [६.१.७०.] इत्यादि सूत्रैर्विहिताः, व्याख्याताः, पूर्वोक्तन्यायेन भवन्ति, न भवति वेति कथितप्राया विशेषविवक्षा चेदेयणादयो भवन्त्येव, काक्या अपत्यं काकेय इत्यादिरूपेण विग्रहादिविज्ञानात् । यदि च जातिमात्रविवक्षा तदा न भवन्ति इति भावः । ननु यदि जातिशब्देभ्यो नापत्यप्रत्ययस्यार्थबोधनायोत्पत्तिस्ततः कथं शास्त्रे एते व्युत्पाद्यन्ते इत्याशङ्कते—**कथं तर्हीति**—**कौञ्चः**—कुञ्चशब्दोऽजादिः,

"Aho Shrutgyanam"

स्त्रियामपि क्रौञ्चेति तस्या अपत्यमित्यर्थे "शिवादेः०" [६.१.६०.] इत्यणि क्रौञ्च इति, कौकिल:-कोकिला-कोकिलजातिस्त्री, अजादित्वादाप्। तस्या अपत्यमित्यर्थे शिवाद्यणि कौकिल इति। गौधेरः—गोधाया अपत्यं दुष्टमित्यर्थे "गोधाया दुष्टे णारश्च" [६.१.८१.] इत्येरण् गौधेर इति। चाटकैरः— चटकाया अपत्यमित्यर्थे "चटकाण्णैरः स्त्रियां तु लुप्" [६.१ ७९.] इति णैरप्रत्यये चाटकैर इति। कुत एभ्यो विभिन्नप्रत्ययव्युत्पादनमिति प्रभाशयः।

समाधत्ते **जातिशब्दा एवैते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते** इति। अयमाशयः—यद्यपि प्रत्ययं विनापि भवति तदर्थप्रतीतिर्जातिवाचकत्वात्, तथापि तत्र तत्र तादृशप्रयोगाणामपत्यविवक्षया प्रयुक्तत्वात् शास्त्रेण ते व्युत्पाद्यन्ते शिष्टप्रयोगानुशासनार्थं शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वात्। तत्र दृष्टान्तयति—**यथाक्षत्रमित्यादिना**। इदमत्राकूतम्—क्षतात् त्रायते इति क्षत्रम्—क्षत्रियजातिः, अथवा क्षणनं क्षत् भावे क्विप् "गमां कौ" [४.२.५८.] इति नलोपः, क्षतत्रायते इति क्षत्रम् सैव जातिः। पूर्वत्र निपातनादकारलोपः। एवं च क्षत्रशब्दस्य जातिवाचकत्वे प्रसिद्धेऽपि तस्मादेव शब्दात् "क्षत्रादियः" [६.१.९३.] इति जात्यर्थवाचक इयः प्रत्ययो विधीयते क्षत्रियशब्दव्युत्पादनार्थम्; एवं राजन्शब्दोऽपि मूर्धाभिषिक्तक्षत्रियजातिपर इति, ततोऽपि जातिवाचकः प्रत्ययः "जातौ राज्ञः" [६.१.९२.] इति विधीयते राजन्यशब्दव्युत्पादनार्थम्।

एवं मनु-मनुष्य-मानुषशब्दा जात्यर्थे पृथक् पृथक् व्युत्पाद्यन्ते—मनुशब्दादेव "मनोर्याणौ षश्चान्तः" [६.१.९४.] इति सूत्रेण, तत् कस्य हेतोः? पूर्वशिष्टप्रयोगव्युत्पादनार्थमेव। यद्यपि मनुर्नामा कश्चनादिपुरुषस्तदपत्यत्वेनेयं जातिर्मनुष्य-मानुषादिशब्दैः प्रतिपाद्यते तथा च मनुशब्दान्मनुष्यादिशब्दार्थो भिन्न एव, भवति च तत्रापत्यार्थप्रतीतिः, तथापि या जातिर्मनौ प्रतीयते न ततो विशिष्टा काऽपि तदपत्येष्विति भवति, क्षत्र-क्षत्रियादिशब्दवत् समानार्थकत्वमिति निदर्शनमुपपन्नम्। तथा चाभिधानसामर्थ्यमेव प्रयोगविशेषव्युत्पत्तिनिमित्तमिति स्वीकर्तव्यम्। अभिधानाभावाच्चान्येभ्योऽपि नापत्यार्थप्रत्ययोत्पत्तिरित्याह — **अनभिधानाच्च शत-सर्व-वृद्ध-कारक-राजपुरुष-माथुर-कुरुरादिभ्यो न भवतीति**। तथा चापत्यार्थस्य विवक्षायां शतादिशब्देभ्यः प्रत्ययानुत्पत्तौ—शतस्यापत्यमित्यादिरूपं वाक्यमेव तिष्ठतीति भावः। **अकारो ञित्कार्यार्थ** इति। प्रयोगे इकारमात्रश्रुतावपि—अकारस्य ञित्कार्यमादिस्वरवृद्धिरेवार्थः प्रयोजनमिति भावः॥ ६।१।३१॥

बाह्वादिभ्यो गोत्रे ॥६।१।३२॥

स्वापत्यसंतानस्य स्वव्यपदेश कारणमृषिरनृषिर्वा यः प्रथमः पुरुषस्तदपत्यं गोत्रम्। बाह्वादिभ्यो ङसन्तेभ्यो गोत्रेऽपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति। अनकारान्तार्थो बाधक-बाधनार्थश्चारम्भः। बाहोरपत्यं बाहविः। औपवाकविः। नैवाकविः। औदञ्चिः। इहोदञ्चिति पैलादिषु चोदञ्चीति सनकारस्य पाठादनर्चायामपि नलोपाभावः। गोत्र इति किम्? योऽयत्वे बाहुर्नाम तस्यापत्यं बाहवः। संभवापेक्षं च गोत्रग्रहणम्। तेन पञ्चानामपत्यं पाञ्चिः, साप्तिः, आप्टिः इत्यादि सिद्धम्।

बाहु उपवाकु निवाकु वटाकु चटाकु उपविन्दु चाटाकु वृकला कृकला चूडा बलाका जङ्घा छगला भगला लगहा ध्रुवका ध्रुवका मूषिका सुमित्रा दुर्मित्रा। वृकलादिभ्यो यथासंभवमेयणो मानुषीनामलक्षणस्य चाणोऽपवादोऽयमिञ्।

युधिष्ठिर अर्जुन राम संकर्षण कृष्ण गद प्रद्युम्न शाम्ब सत्यक शूर अक्रूर अजीगर्त मध्यंदिन।

एषु ऋष्यादिलक्षणस्याणोऽपवादः।

सुयावन् स्वधावत् पुष्करसद् अनुहरत् अनड्वह पञ्चन् सप्तन् अष्टन् क्षेमधन्विन् माषशिरोविन् शुङ्खलतोदिन् खरनादिन् प्राकारमर्दिन् नगरमर्दिन् इन्द्रशर्मन् मद्रशर्मन अग्निशर्मन् देवशर्मन् उपदञ्च उदञ्च कुनामन् सुनामन् सुदामन् शिरस् लोमन् एतौ तदन्तौ। हस्तिशिरसोऽपत्यं हास्तिशीर्षिः। औडुलोमिः। शारलोमिः इति बाह्वादयः।

बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। तेन सख्युरपत्यं साखिः। संवेशिनः सांवेशिः। उदङ्कस्य औदङ्किः। एवम् औद्दालकिः, वाल्मीकिः, आरुणिः इत्यादि सिद्धं भवति।

"Aho Shrutgyanam"

शिवादेश्च प्राग् येऽकारान्ता बिदादयस्तेभ्य ञ्यण्णं बाधित्वा उक्तादर्थादन्यत्रानेनैवेञ्। बिदादेर्वृद्धेऽञ् वक्ष्यते । बिदस्यापत्यमनन्तरं बैदिः । और्विः । गर्गादेर्यञ् गार्गिः । वात्सिः । कुञ्चादेर्ढायन्यः । कौञ्चिः । ब्राध्निः । अश्वादेरायनञ् आश्विः । आर्किः । नडादिभ्य आयनण् नाडिः । मौञ्जिः । अनकारान्तेभ्यस्त्वणेव औपमन्यवः । जामदग्नः । सौमनसः । भास्मः । लैगवः । शारद्वतः । इतः प्रभृति गोत्र इत्यधिकाराद् गोत्रे संभवति ततोऽन्यत्र प्रतिषेधः ॥३२॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—बाह्वा० । 'बाहु'शब्द आदिर्येषां क्रमपठितशब्दानां ते बाह्वादयस्तेभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तथा च बाहुशब्दोऽपि बाह्वादिगणपठितं कार्यं लभते । गोत्रशब्दोऽनेकार्थेषु व्यवहृतः । व्याकरणेऽपि पाणिनीयनये पौत्राद्यपत्यस्य (स्वमातानुसारं वृद्धापत्यस्य) अपि गोत्रसंज्ञा विधीयते, अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम् [पा. सू.] इति सूत्रेण । किन्तु बाह्वादिकार्ये प्रवराध्यायप्रसिद्धगोत्रस्यैव तत्रापि ग्रहणम् । तत् 'संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इति कोशप्रसिद्धमेवेति प्रकाशयति, स्वापत्यसन्तानस्य स्वव्यपदेशकारणमित्यादिना । स्वं प्रथमपुरुषः तस्यापत्यानां संतानः—परम्परा, तस्य स्वापत्यपरम्परान्तर्गतजनसमूहस्येति भावः । विशिष्टोऽपदेशः व्यपदेशः मुख्यो व्यवहारः, स्वेन परम पुरुषेण व्यपदेशः स्वव्यपदेशस्तस्य कारणम्—निमित्तम्, यन्नाम्ना ततः प्रभृतिवर्तमानापत्यपर्यन्तः समूहो मुख्यतया व्यवह्रियते स एव गोत्रमित्युच्यते । तस्य प्रायेण प्रकारद्वयमित्याह—ऋषिरनृषिर्वेति । ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा, अनृषिः साधारणो वंशव्यपदेशकारणभूतः परमपुरुषः । तथा च गोत्राध्यायप्रसिद्धं प्रवरमूलकं गोत्रमिह गृह्यते इति भावः । तस्य प्रथमपुरुषस्यापत्यं तद् गोत्रमित्युच्यते । "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.], 'इञ्' इति च पदत्रयमनुवर्तते । ङस् इति च प्रत्ययस्तदन्तग्रहणम् । तथा च सूत्रार्थमाह—**बाह्वादिभ्यो ङसन्तेभ्य** इत्यादिना ।

गणपठितेषु केचनाकारान्ता अपि सन्ति, तेभ्यश्च पूर्वसूत्रेण प्राप्त एवेञ् इति तेषां ग्रहणमिह व्यर्थम् । किञ्चानकारान्तमात्रे गणपठितेऽस्य सार्थकत्वेऽपि पृथग्योगकरणस्य वैयर्थ्यमेव, पूर्वसूत्र एव बाह्वादीनामपि पाठस्य सुकरत्वाद् इत्याशङ्कां मनसि निधाय समाधानमाह—**अनकारान्तार्थो बाधक-बाधनार्थश्चारम्भ** इति । अनकारान्तेषु विध्यर्थः, अकारान्तेषु बाधकानामग्रे वक्ष्यमाणप्रत्ययानां विशेषविहितानां बाधनार्थश्च पृथक्सूत्रारम्भ इति भावः । उदाहरति—**बाहोरपत्यं बाहविरि**ति । बाहुर्नाम कश्चिद् गोत्रप्रवरेषु प्रथमः पुरुषस्तस्यापत्यं वृद्धापत्यादपि बहुविप्रकृष्टमतिसंनिकृष्टं वा साधारण्येन तत्परम्पराप्राप्तमित्यर्थः । बाहुशब्दाद् इञि "अस्वयंभुवोऽञ्" [७.४.७०.] इत्यादेशे बाहविरिति । **औपवाकविः** उपवाकुर्नाम कश्चिद् गोत्रप्रवर्तकः प्रथमपुरुषस्तस्यापत्यं साधारणम् इत्यर्थे उपवाकुशब्दादिञि आदिस्वरवृद्धौ अवादेशे च औपवाकविः । नैवाकविः, निवाकुर्नाम कश्चन गोत्रप्रवर्तकस्तस्यापत्यं साधारणमिति विग्रहे निवाकुशब्दादिञि पूर्ववत् साधनिकायां नैवाकविरिति ।

औदञ्चितिः—उच्चैरञ्चतीति शतरि उदञ्चन् कश्चिद् गोत्रप्रवर्तकः, तस्यापत्यं साधारणमित्यर्थे ऽनेनेञि आदिस्वरवृद्धौ औदञ्चितिरिति । अत्रेञि सति पदत्वाभावेन नलोपादिषु औदीचितिरितिरूपेण भवितव्यम्, कथमौदञ्चितिरिति शङ्कायामाह—**इहोदञ्चदि**त्यादि । इह गणे 'उदञ्चत्' नकारविशिष्यपाठात् "पैलादेः" [६.१.१४२.] इति सूत्रपठितगणे 'उदञ्चि' इति पाठेन च "अञ्चोऽनर्चायाम्" [४.२.४६.] इति नियमप्राप्तोऽनर्चायामपि नलोपो न भवतीत्याशयः ।

पदकृत्यं पृच्छति—**गोत्र इति किमि**ति । अयमाशयः—गणे यावन्तः शब्दाः पठितास्ते गोत्रव्यपदेशकारणान्येव, तत एव च तेभ्यो गोत्रे एवापत्यप्रत्ययः स्यादेवेत्यावर्तकमिदं पदमिति गोत्रग्रहणमन्तराऽपि न फलभेद इति । उत्तरयति—**योऽद्यत्व** इति । ये गोत्रप्रवर्तकाः पुरुषास्तन्नामक एव चेत् कश्चिदाधुनिकः पुरुषः स्यात्, ततोऽपि गोत्रापत्ययो मा भूदित्येतदर्थमिह गोत्रग्रहणमावश्यकमिति भावः, तथा च बाहुर्नाम कश्चित् सांप्रतिकः पुमान् तस्यापत्यमित्यर्थे ऽणेव भवति नेञिति, आद्यस्वरवृद्धौ अबि बाहव इत्येव भवति । गोत्रग्रहणाभावे चानेनेञेव स्यात् विशेषविहितत्वात् । **सम्भवापेक्षं च गोत्रग्रहण**मिति । अयमभिसन्धिः, ये गोत्रप्रवर्तका इह पठितास्तेभ्यो गोत्रार्थे प्रत्ययविधिः, किन्तु येऽत्र संख्यावाचकाः, गुणवाचका वा पठितास्तेभ्यः साधारणापत्यार्थे एव प्रत्ययविधानमाश्रयणीयम् । यथा पञ्चन्-सप्तन्-अष्टन् शब्दा गणे पठिताः संख्यावाचकाः, न चैतैः शब्दैः किमपि गोत्रं व्यपदिश्यते-ऽतस्तादृशशब्देभ्योऽपत्यमात्रार्थे ऽनेनेञ्प्रत्यय इति । केचित् तु पञ्चन्—आदीनामपि गोत्रव्यपदेशकारणत्वमभ्युपयन्ति,

"Aho Shrutgyanam"

संप्रति तादृशगोत्राणामश्रवणेऽपि कदाचित् तत्सत्त्वमनुमिनते, तन्मते गोत्रादन्यस्मिन्नर्थे यथायथमन्य एव प्रत्ययाः स्युर्नेञ्मिति निगमयति-तेन पाञ्चिः साप्तिराश्विरित्यादि सिद्धमिति ।

गणपाठं निर्दिशति-बाह्व उपवाक्व इत्यादि-दुर्मित्रापर्यन्तमनकारान्ताः । अत्र बाधकबाधनार्थत्वमाह-**वृकलादिभ्यो यथासंभवमेयण्** इति । वृकलादय आबन्ता इति तेभ्योऽपत्यार्थे "**ङ्याप्प्रातिपदिकात्**" [६.१.७०.] इत्येयण् प्राप्नोति, ये च शब्दा एषु मानुषीनामवचनास्तेभ्यः "**अदोनदी-मानुषीनाम्नः**" [६.१.५७.] इत्यणि च प्राप्ते तद्बाधनार्थमपि गणे पाठ इति भावः । युधिष्ठिरादारभ्य मध्यन्दिनपर्यन्तमकारान्ताः, तेभ्यः पूर्वसूत्रेणेञि सिद्धेऽपि तद्बाधकस्य विशेषविहितस्य "**ऋषि-वृष्ण्यन्धक०**" [६.१.६१.] इति ऋष्यादिलक्षणस्याणो बाधनार्थमेषां गणे पाठ इति बोधयति । एषु ऋष्यादिलक्षणस्याणोऽपवाद इति । **सुधावन्** इत्यारभ्य सुदामन् इत्यन्ता व्यञ्जनान्तास्तेभ्योऽप्राप्तस्येञो विधानार्थस्तेषां गणे पाठ इति । शिरस्-लोमन् इत्यनयोः केवलयोरपत्यार्थेन संबन्धासंभवादाह-**एतौ तदन्तावि**ति । एतदन्तानां शब्दानामेव गणान्तर्गतनिबन्धनः प्रत्यय इति भावः । उदाहरति-हस्ति-शिरसोऽपत्यं हास्तिशीर्षिरिति । हस्तिशिरस्शब्दादपत्यार्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ शिरसः शीर्षादेशेऽवर्णलोपे हास्तिशीर्षिरिति । उडुलोम्नोऽपत्यमित्यर्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ "**नोऽपदस्य**" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे औडुलोमिरिति । बहुत्वे तु "**लोम्नोऽपत्येषु**" [६.१.२३.] इत्यकारप्रत्यये उडुलोमा इति । एवं शारलोमिरिति साधनीयम् ।

बाह्वादेरित्येकवचनान्तप्रयोग एवोचितः, गणगतस्यैकत्वस्य विवक्षया एकवचनस्यैवौचित्याद् इति बहुवचनेन निर्देशः किमर्थ इत्याशङ्कामपनयति-**बहुवचनमाकृतिगणार्थमि**ति । तत्फलमाह-तेन **सख्युरपत्यं साखिरि**ति । सखिशब्दादपत्यार्थेऽनेनेञ् । एवं सांवेशिरित्याद्यपि विज्ञेयम् । **औदङ्गिरित्यारभ्यारुणिः** इत्यन्तेषु ऋष्यणं बाधित्वाऽनेनेञ् इति औदङ्गिरित्यादि भवति । **शिवादेश्च प्रागिति**-बिदादयः शिवादिभ्यः प्राक्पठिता ऋषिवाचकाश्च तेभ्योऽकारेन्तेभ्यः वृद्धापत्यादन्यस्मिन्नपत्ये बिदाद्यञं बाधित्वाऽनेनेञेव भवतीत्याशयस्तदेव स्पष्टयति-"बिदादेर्वृद्धे" [६.१.४१.] इत्यञ् वक्ष्यते इत्यादिना, "नडादिभ्य आयनण्" [६.१.५३.] इत्यन्तेन । ये चानकारान्तास्तेभ्यो वृद्धापत्यर्थे ऋष्यणेवेत्याह-अनकारान्तेभ्योऽणेवेत्याशयः । **इतः प्रभृतिगोत्रे** इत्याद्यधिकारादिति । इतः प्रभृति सर्वत्र 'सूत्रेषु गोत्र इत्यधिक्रियते', तत्र ये शब्दा गोत्रेऽगोत्रे च वर्तन्ते तेभ्यो गोत्र एव प्रत्ययो भवति, न त्वगोत्रे, ये च गोत्रार्थे न संभाव्यन्ते ततोऽगोत्रार्थेऽपीञ् भवत्येव विधानसामर्थ्यात् । संभवापेक्षं च गोत्रग्रहणमिति पूर्वमुक्तस्यैवार्थस्यायं प्रपञ्च इति वेदितव्यम् । ॥६।१।३२॥

वर्मणोऽचक्रात् ॥६।१।३३॥

चक्रशब्दवर्जितात् परो यो वर्मनशब्दस्तदन्तादपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययो भवति । इन्द्रवर्मणोऽपत्यम् ऐन्द्रवर्मिः । अचक्रादिति किम् ? चाक्रवर्मणः ॥३३॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्-वर्मणो० । केवलस्य वर्मनशब्दस्यापत्यार्थे नायोगात् तदन्तादेव विधिर्भविष्यति । तत्र यस्मात् पूर्ववत्सूत्रात् परात्वर्मनशब्दादिञ् नेष्टस्तं वर्जयति अचक्रादिति सूत्रस्थं पदम् । तथा चात्र नञ्पर्युदासपरः, तदाह-**चक्रशब्दवर्जितात् परो यो वर्मनशब्द** इत्यादिना । 'ङसोऽपत्ये इञ्' इति पदत्रयं पूर्वतोऽनुसृतम् । तथा च वृत्युक्तोऽर्थो निष्पन्नः । इन्द्रस्येव वर्म यस्यासौ इन्द्रवर्मा, तस्यापत्यमित्यर्थेऽनेनेञि आदिस्वरवृद्धौ "नोऽपदस्य तद्धिते" [७. ४. ६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे ऐन्द्रवर्मिः ।

पदकृत्यमाख्यातुं शङ्कते-**अचक्रादितिकिमि**ति । वर्मण इत्येतावत्युक्ते केवलस्य वर्मणोऽपत्यार्थायोगित्वात् तदन्तादेव प्रत्ययोऽस्तु किं चक्रपूर्वपदवर्जनेन फलमिति पृच्छा प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति-**चाक्रवर्मण** इति । चक्रमिव वर्म यस्येत्यर्थे चक्रवर्मनशब्दः, तस्यापत्यमित्यर्थेऽस्य सूत्रस्याप्रवृत्तेः साधारणेऽणि "नोऽपदस्य०" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे प्राप्ते "अणि" [७.४.५२.] इति प्रतिषेधः । चाक्रवर्मण इति सिद्धम् । अत्र सूत्रेऽचक्रादित्यनुक्तौ तु अणं बाधित्वेञेव प्रसज्येतेति तद्वारणायाचक्रादित्यावश्यकमेव ॥६।१।३३॥

अजादिभ्यो धेनोः ॥६।१।३४॥

अजादिभ्यः परो यो धेनुशब्दस्तदन्तादपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययो भवति । आजधेनविः । बाष्कधेनविः । अजादयः प्रयोगतोऽनुसर्त्तव्याः ॥३४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्-अजा० । अजाशब्द आदि र्यस्य गणस्य सोऽयमजादिः, अथवाऽजादिशब्द आदौ

येषां शब्दानां तेऽजादयः शब्दास्तेभ्यः परात् धेनुशब्दात् इत्यर्थविवक्षया वृत्तिमाह–**अजादिभ्यः परो यो धेनुशब्द** इत्यादिना । धेनुर्नवप्रसूतिका । अजा चासौ धेनुः, "पोटायुवति०" [३.१.११.] इति समासे पुंवद्भावः । तस्या अपत्यमित्यर्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.]इत्यवादेशे **आजधेनविरिति, वष्का** तरुणवत्सा **धेनुः वष्कधेनुस्तस्या अपत्यमित्यर्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ अवादेशे वास्कधेनविरिति** । अजादिगणमपठित्वा तत्संग्रहोपायमाह–**अजादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्या** इति । यस्माद् यस्माच्छब्दात् पराद्धेनुशब्दादपत्येऽर्थे इञ् प्रयुक्तः स सर्वोऽप्यजादौ द्रष्टव्य इति भावः ॥६।१।३४॥

ब्राह्मणाद् वा ॥६।१।३५॥

ब्राह्मणशब्दात् परो यो धेनुशब्दस्तदन्तादपत्येऽर्थे इञ् वा भवति । ब्राह्मणधेनविः ब्राह्मणधेनवः ॥३५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–ब्राह्म० । धेनोरिति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तथा चार्थमाह वृत्तौ ब्राह्मणशब्दात् परो धेनुशब्द इत्यादिना । इञि सति अवादेशे '**ब्राह्मणधेनविः**' इति, पक्षे औत्सर्गिके "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इति अणि अवादेशे '**ब्राह्मणधेनवः**' इति । ब्राह्मणस्य धेनुः ब्राह्मणधेनुस्तस्या अपत्यमिति विग्रहः ॥६।१।३५॥

भूयःसंभूयेऽम्भोऽमितौजसः स्लुक् च ॥६।१।३६॥

भूयस्, संभूयस् अम्भस् अमितौजस् इत्येतेभ्योऽपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययो भवति, सकारलोपश्चैषाम् । भूयसोऽपत्यम् भौयिः । एवम् सांभूयिः । आम्भिः । आमितौजिः । भूयसो नेच्छन्त्यन्ये । अकतसोऽपीच्छन्त्येके आकतिः ॥३५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–भूयः० । भूय आदयः सकारान्ताः आद्यास्त्रयो यद्यपि अपत्यार्थसंबन्धायोग्यास्तथापि तन्नाम्ना ख्यातः कश्चित् प्राणभृदपि संभाव्यत इति तेषामपत्यार्थसंबन्धसंभावनाऽस्त्येवेति तदर्थे प्रत्ययविधानौचित्यमस्त्येव । सूत्रार्थो वृत्तौ स्पष्ट एव । अतिशयेन बहुरिति भूयान्, तस्यापत्यमित्यर्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ अनेनैव सूत्रेण सलोपे "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इत्यकारलोपे भौयिरिति । सम्यग्भूयान् संभूयान् तस्यापत्यमित्यर्थे पूर्ववदिञि आद्यस्वरवृद्ध्यादौ सांभूयिरिति । अम्भो जलम्, तन्नाम्ना कश्चित् प्राणभृद्वा । तस्यापत्यमित्यर्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ सलोपेऽवर्णलोपे च आम्भिरिति । अमितमपरिच्छिन्नमोजो बलं यस्य सोऽयममितौजाः, तस्यापत्यमित्यर्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ सलोपेऽवर्णलोपे च आमितौजिरिति । मतान्तरविशेषमाह–भूयसो नेच्छन्त्येके इति । तैस्तथाविधिप्रयोगदर्शनान्न ततः प्रत्ययविधानमेषां मत इति भावः । अकतसोऽपीच्छन्त्येक इति । एकेषां मते येऽत्र सूत्रे पठितास्तदतिरिक्तोऽकतस्शब्दोऽपि पठ्यत इति भावः । अकता नाम कश्चिदपत्यं पुमानित्यर्थे इञि आदिस्वरवृद्धौ सिलोपेऽवर्णलोपे च अकितिरिति तन्मतेऽधिकः सिद्ध्यतीति भावः ॥६।१।३६॥

शालङ्कयौदि-षाडि-वाड्वलि ॥६।१।३७॥

शालङ्कि औदि षाडि वाड्वलि इत्येते शब्दा अपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः । अत्रेञ्प्रत्यय उकारलोपश्च निपात्यते । उदकस्यौदिः । अत्रोञ् कलोपश्च । षण्णां षाडिः । अत्रोञ् अन्त्यस्य च डत्वम् । वाचं वदति वाग्वादस्तस्यापत्यं वाड्वलिः । अत्रेञि वाचोऽन्तस्य डत्वं वलभावश्चोत्तरपदस्य ॥३७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–शाल० । निपातनपरमिदं सूत्रम्, तदाह–शालङ्कि इत्यादिना । लक्षणान्तरा प्राप्तकार्याणां लाभार्थं हि निपातनमाश्रीयते, अपत्यार्थे इञ् प्रत्ययलाभस्तु बाह्वादिगणे पाठेनापि सम्भवति । तत्र, कुत्र, किं निपातनीयमिति प्रतिपादयितुं प्रतिलक्ष्यं विग्रहादिप्रदर्शनपूर्वकमाह–**शलङ्कोरपत्यमित्यादिना** । शलङ्कः कश्चित्, तस्यापत्येऽभिवेये इञि उकारलोपे निपातिते आद्यस्वरवृद्धौ शालङ्किरिति । उदकस्यापत्यमित्यर्थे इञि कलोपे निपातिते आद्यस्वरवृद्धौ औदिरिति । षण्णां जनानां (केनापि संबन्धेन) अपत्यमित्यर्थे इञि षण्णः अन्त्यस्य षकारस्य डत्वे आद्यस्वरवृद्धौ षाडिरिति । वाड्वलिं साधयितुं पूर्वप्रकृतिं व्युत्पादयति–**वाचं वदतीत्यादिना** । वाचि कर्मणि उपपदे "कर्मणोऽण्" [५.१.७२.] इत्यणि उपान्त्यवृद्धौ वाग्वाद इति । तस्यापत्यमित्यर्थे इञि वाचश्चस्य डत्वे उत्तरपदस्य वादशब्दस्य वलादेशे च निपातिते अवर्णलोपे च वाड्वलिरिति ॥६।१।३७॥

"Aho Shrutgyanam"

व्यास-वरुट-सुधातृ-निषाद-बिम्ब-चण्डालादन्त्यस्य चाक् ॥६।१।३८॥

व्यासादिभ्योऽपत्येऽर्थे इञ्प्रत्ययो भवति। तत्संनियोगे चैषामक् इत्ययमन्तादेशो भवति। व्यासस्यापत्यं वैयासकिः। वरुटस्य वारुटकिः। सुधातुः सौधातकिः। निषादस्य नैषादकिः। वृद्धे तु परत्वाद् बिदादिलक्षणोऽञ्। नैषादः। बिम्बस्य बैम्बकिः। चण्डालस्य चाण्डालकिः। सुधातृ-व्यासाभ्यामणोऽपवादः। वरुटात् कारुव्यस्यापवादः। शेषेभ्योऽस्त्येव। कर्मार-व्याघ्राग्नि-शर्मभ्योऽपीच्छन्त्येके। कार्मारकिः। वैयाघ्रकिः। आग्निशर्मकिः ॥३८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-व्यास०। इदमपि सूत्रं विशेषकार्यविधानार्थमेव। प्रत्ययमात्रस्य गणे पाठेनापि लाभसम्भवात्। तथा च सूत्रार्थमाह—**व्यासवरुट** इत्यादिना। व्यस्यति विस्तारयति वाचमिति व्यासः, बाहुलकात् कर्मोपपदत्वाभावेऽप्यण्। एतन्नाम्ना विख्यातो महाभारतादिकर्ता मुनिविशेषः। तस्यापत्यमित्यर्थे इञ्प्रत्ययसन्नियोगेनान्त्यस्याकारस्य 'अक्' आदेशे यवः पदान्तात् "प्रागदीव्यतोऽण्" [७.४.५.] इति ऐति **वैयासकिरिति**। वरुटो नाम कश्चित् तस्यापत्यमित्यर्थे इञ्सन्नियोगेनान्त्यस्याकादेशे आद्यस्वरवृद्धौ **वारुटकिरिति**।

केचित् तु 'वरुट' इत्यस्य स्थाने 'वरुड' इति पठन्ति। वरुटः वंशपात्रशिल्पी, स वरुडोऽपि स्यात्, उभयमर्हति अव्युत्पन्नशब्देषु स्वरूपनिर्णयस्य व्यवहाराधीनत्वात्। **सुधातुरपत्यमित्यर्थे** इञ्प्रत्ययसन्नियोगेनान्त्यस्याकादेशे आद्यस्वरवृद्धौ **सौधातकिरिति**। निषादोऽन्त्यजः, तस्यापत्यमित्यर्थे **नैषादकिरिति** पूर्ववदेव साध्यः। अस्यसामान्येऽयं प्रयोगो, वृद्धापत्ये तु विशेषमाह—**वृद्धे तु परत्वादि**त्यादिना। निषादशब्दस्य बिदादिगणे पाठाद् वृद्धापत्यार्थे परत्वाद् "बिदादेर्वृद्धे" [६.१.४१.] इत्यञेव प्रवर्तते। तस्मिन् सति आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **नैषाद** इत्येव रूपं भवतीति भावः।

बिम्बो नाम कश्चित्, तस्यापत्यमित्यर्थे इञ्सन्नियोगेनान्त्यस्याकादेशे आदिस्वरवृद्धौ **बैम्बकिरिति** चण्डालोऽप्यन्त्यजविशेषः, तस्यापत्यमित्यर्थे पूर्ववत् प्रत्ययादौ **चाण्डालकिरिति**। अत्र पठितेभ्यो बहुभ्योऽदन्तलक्षण इञ्प्राप्त एवेति विशिष्यविधानं व्यर्थम्, केवलमन्त्यस्याकादेशो विधीयतामित्याशङ्कामपनेतुमाह—सुधातृ-व्यासाभ्यामणोऽपवाद इत्यादि। सुधातृव्यासावृषी ताभ्यां "ऋषिवृष्यन्धक-कुरुभ्यः" [६.१.६१.] इत्यणि प्राप्ते तदपबाधनार्थं विशिष्येञो विधानमिति भावः।

वरुटात् कारुव्यस्यापवाद इति। वरुटः कारुविशेषस्तस्मात् "सेनान्त-कारु" [६.१.१०३] इति कारुलक्षणो व्यः प्राप्तस्तस्य बाधनार्थमिञो विशेष्यविधानमित्यर्थः। **शेषेभ्योऽस्त्येवेति**, अन्ये च शब्दा अदन्तास्तेभ्यः "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञ् प्राप्त एवेति तत्संनियोगेनान्त्यस्याकादेशविधानमात्रमिह क्रियत इति भावः। मतान्तरविशेषमाह—कर्मार-व्याघ्राग्नि-शर्मभ्योऽपीति। इञ्संनियोगेनान्त्यस्याकादेशमिति शेषः। कर्मारस्तक्षा तस्यापत्यमित्यर्थे **इञ्संनियोगेनान्त्यस्याकादेशे आदिस्वरवृद्धौ कार्मारकिरिति**। व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः श्वापदविशेषस्तस्यापत्यं **वैयाघ्रकिः**। इञ्संनियोगेनान्त्यस्याकादेशे "व्यः पदान्तम्" [७.४.५२.] इत्यैति सिद्धम्। अग्निशर्मा नाम कश्चित् तस्यापत्यम् **आग्निशर्मकिः**। इञ्संनियोगेनान्त्यस्याकादेशे आदिस्वरवृद्धौ सिद्धमिदं रूपम्।

पाणिनीयनयेऽत्र सूत्रे पठितेषु केवलं सुधातृशब्द एव वाह्वादिगणशेषसूत्रेण "सुधातुरकङ्" [पा०सू० ४.१.९७.] चेत्यनेन संग्रहीतः। अन्ये च 'व्यास—वरुड—चाण्डाल—बिम्बानां' चेति वार्तिकेन। तच्च वार्तिकं भाष्यकृता प्रत्याख्यातम्। प्रत्याख्यानप्रकारश्चायम्—स्वार्थिकप्रत्ययान्तेभ्य एभ्यः शब्देभ्य "अत इञ्" [६.१.३१.] इत्यनेनैवेत्रा वैयासकिरित्यादिरूपाणां सिद्धिः स्यादेवेति तदर्थं वार्तिकं नारम्भणीयम्। न च तथा सति केवलेभ्यो व्यासादिभ्योऽपि अत इञि वैयासकिरित्यादयोऽपि प्रयोगाः स्युरिति वाच्यम्; अव्यक्तिकन्यायाश्रयणात्। अयमाशयः—यथाऽवीनां समूह इत्यर्थे—स्वार्थिकप्रत्ययान्तादेवाविशब्दात् समूहार्थेऽण् भवतीत्यभिधानस्वाभाव्यादाश्रीयते सांप्रदायिकैरिति आविकम् इत्येव रूपं भवति, न तु आवमिति, तथाऽत्रापि स्वार्थिकप्रत्ययान्तेभ्य एव व्यासादिशब्देभ्योऽपत्यार्थे इञ्प्रत्ययो भवतीत्याश्रयिष्यते। न चान्यशब्देभ्यस्तथाऽस्तु, व्यासशब्दस्तु स्वार्थिकप्रत्ययान्तोऽपि ऋषिवाच्येवेति ततः स्वाभाविकमिञं प्रबाध्य ऋषिलक्षणोऽण् स्यादिति वाच्यम्, वाह्वादिषु पाठं परिकल्प्य ऋष्यणो बाधस्य सुलभत्वात्। स्वमते तु एतावत्कल्पनातो वरं सूत्रकरणमेवेति मत्वा सूत्रमेव पठितमिति ॥६।१।३८॥

"Aho Shrutgyanam"

पुनर्भू-पुत्र-दुहितृ-ननान्दुरनन्तरेऽञ्

॥६।१।३९॥

पुनर्भू-पुत्र-दुहितृ-ननान्दृ इत्येतेभ्यो ङसन्तेभ्योऽनन्तरेऽपत्येऽर्थे अञ्प्रत्ययो भवति। पुनर्भ्वा अनन्तरमपत्यं पौनर्भवः। पौनर्भवौ। पौनर्भवाः। पौत्रः। दौहित्रः। नानान्द्रः। अनन्तर इति किम्? वृद्धेऽञ् न भवति। अञो ञित्करणमुत्तरार्थम्। इह तु सूत्रेऽञि अणि वा नास्ति विशेषः। नन्वस्त्येव विशेषः। अञि हि 'यञञो ऽस्यापर्ण०' [६.१.१२६.] इत्यादिनाऽञो बहुषु लुप् स्यात्, यथा बैदः, बैदौ बिदा इति। तथा संघादिष्वर्थेषु 'संघघोषाङ्' [६.३.१३१] इत्यादिनाञः परोऽण् स्यात्, यथा बैदम् इति। अणि तु तदुभयमपि न भवति यथौपगवाः, औपगवकम् इति। तथा पुत्रशब्दादञ्प्रत्ययान्तात् ततोऽप्यपत्यविवक्षायाम् 'अत इञ्' [६.१.३१.] इतीञि 'ञिदार्षादणिञोः' [६.१.१४०.] इति तस्य लुपि पौत्र इति स्यात्, यथा बैदः पिता, बैदः पुत्रः। अणि तु 'द्विस्वरादणः' [६.१.१०९.] इत्यायनिञ् स्यात्, यथा कार्त्तायणिरिति। उच्यते पुनर्भ्वाद्यपत्यस्यागोत्रत्वाद् गोत्राधिकारविहिता लुप् संघाद्यण् च न भविष्यति। पौत्रशब्दाच्चावृद्धप्रत्ययान्तत्वादञ्यणि च इञ् आयनिञ् च न भविष्यतीति। विशेषाभाव एव। केचित् तु पुनर्भ्व इति लुपमप्युदाहरन्ति। तेषां पुनर्भूरिति गोत्रं तत्रोहाप्यस्ति विशेषः ॥३९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पुनर्भू०। स्पष्टं सूत्रार्थमाह—पुनर्भू-दुहितृ इत्यादिना। पुनर्भूः पुनरूढा स्त्री। दुहिता कन्या। पुत्र· प्रसिद्ध एव। ननान्दा पतिभगिनी एषां गोत्रत्वाभावः स्पष्ट एवेति। युवापत्य-वृद्धापत्ययोर्व्युदासार्थमनन्तरापत्ये प्रत्ययविधिः। पुनर्भू शब्दादञि आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयम्भुवोऽञ्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे **पौनर्भवः** इति। "यञञोऽस्यापर्ण०" [६.१.१२६.] इति लुगोऽभावस्य सूचनाय बहुलवचनपर्यन्तं रूपप्रदर्शनम्, पौनर्भवौ, पौनर्भवा इति।

पुत्रस्यानन्तरमपत्यमित्यर्थेऽञि सति आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे पौत्र इति। दुहितुरनन्तरमपत्यं दौहित्रः। अञि सति आदिस्वरवृद्धौ ऋकारस्य रादेशे सिद्धम्। ननान्दुरपत्यमनन्तरमित्यर्थेऽञि आदिस्वरवृद्धौ ऋकारस्य रादेशे **नानान्द्र** इति।

पदकृत्यमाह—**अनन्तर इति किम्?** वृद्धेऽञ् न भवतीति। एषां पौत्राद्यपत्ये विवक्षितेऽञ् न भवति किन्तु अणेव भविष्यतीति भावः। यद्यपि अञि अणि च सति रूपे भेदाभाव इति स्वयमेव वक्ष्यते, तथापि वृद्धे एभ्यः प्रत्ययोत्पत्तिरेव न भवति किन्तु वाक्यमेव तिष्ठतीति तात्पर्यम्। अणि प्रकृते अञो विधानं किमर्थमित्याशङ्कायामाह—अञो ञित्करणमुत्तरार्थम्—इति। उत्तरत्र अञि अणि च विशेषस्य सत्त्वेनाञ् एव कर्तव्यत्वेन तदर्थमेवानुवृत्त्यर्थमिहैवाञ् पठित इति भावः। तदेव स्पष्टयति— **इह तु सूत्रेऽञि अणि च नास्ति विशेष** इति। अञि अणि च रूपे विशेषाभावः स्पष्ट एव। अञ्संबद्धस्य च कार्यान्तरस्याभावेन नास्ति तयोर्विधाने कोऽपि भेद इत्याशयः। * स्थूणाखननन्यायेन विशेषाभावमेव द्रढयितुं शङ्कते—**नन्वस्त्येव विशेष** इति। यदुक्तं अञि अणि च विशेषाभाव इति तन्न युक्तम्, वक्ष्यमाणरीत्या अञि विशेषस्य सम्भवादिति प्रश्नाशय। तमेव विशेषं विविच्य दर्शयितुमाह—**अञि हि** इत्यादिना।

यथा बिदस्यापत्यानीत्यर्थे "बिदादेर्वृद्धे" [६.१.४१.] इत्यञि तस्य बहुत्वे "यञञोऽस्यापर्ण०" [६.१.१२६.] इति लुपि बिदा इति रूपं भवति तथैवेहापि पुनर्भ्वा अपत्यानीत्यर्थेऽञि पुनर्भ इत्येव रूपं स्यात्, अणि तु पौनर्भवा इति विशेषः स्पष्ट एव। एवं संघादिष्वर्थेषु बिदानां संघः घोषः अङ्को वेत्यर्थे "संघ-घोषाङ्क०" [६.३.१७२.] इति अणि सति बैदमिति भवति, अणि तु सति "गोत्राददण्डमाणवशिष्ये" [६.३.१६९.] इत्यकञ् भविष्यतीति तथा पौनर्भवमित्यस्य स्थाने पौनर्भवकमिति स्यादिति।

एवं पुत्रस्यानन्तरमपत्यं पौत्रः, तस्यापत्यमित्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञि तस्य "ञिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुपि पौत्र इत्येव स्यात्, अणि तु सति लुगोऽप्राप्त्या "द्विस्वरादणः" [६.१.१०९.] इत्यायनिञि पौत्रायणिरिति स्यादिति भूयान् विशेष इति भावः।

उत्तरयितुं प्रक्रमते—**उच्यते** इति। रूपे कथं विशेषाभाव इति प्रतिपाद्यते इति भावः। तदेवाह—**पुनर्भ्वाद्यपत्यस्यागोत्रत्वादिति।** "यञञोऽस्यापर्ण०" [६.

१.१२६.] इति लुप्, "संघघोषाङ्क०" [६.३.१७१.] इत्यण् च अस्ति सति विशेषत्वेन भवता प्रतिपादितौ, तौ च गोत्रार्थे विहितस्यैवाञः तदन्तादेव च भवत इति पुनर्भ्वादीनामपत्यस्यागोत्रत्वात् तद्विषये न भविष्यत इति। किञ्चाञ्प्रत्ययान्तात् पुत्रशब्दादपत्यऽर्थे विहितस्येनो लुप्, अणन्तात् तु आयनिञ् इति यो विशेष उक्तः सोऽपि न संभवत्येव। वृद्धप्रत्ययान्तादेव युवापत्ये प्रत्ययविधानस्य "वृद्धाद् यूनि" [६.१.३०.] इति नियमितत्वेनानन्तरापत्यप्रत्ययान्तादपत्यान्तार्थे प्रत्ययाप्राप्तेः। इत्थं च अञणोर्विशेषाभावः स्पष्ट एवेति सिद्धम्। ननु तर्हि पुनर्भू-दुहितृ-ननान्दृभ्यः प्रत्ययविधानस्य वयर्थ्यम्। ततो "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्येवाणा रूपसिद्धेः। पुत्रात् तु इञो बाधनार्थम् 'पुत्रादञ्' इत्येतावदेवात्र क्रियतामिति चेन्न, मतान्तरे पुनर्भ्वादीनां गोत्रापत्यार्थसम्बन्धस्याभिमततया तत्राञणोर्विशेषस्य सत्त्वेन तत्संग्रहायैवेत्थं बृहत्सूत्रारम्भस्यावश्यकत्वात्। तदेव सूचयितुमाह—केचित् तु पुनर्भ्व इति लुपमप्युदाहरन्तीत्यादिना ॥६।१।३९॥

परस्त्रियाः परशुश्चासावर्ण्ये ॥६।१।४०॥

परस्त्रीशब्दादनन्तरेऽपत्येऽञ्प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे परस्त्रीशब्दस्य परशुभावश्चासावर्ण्ये न चेत् पुरुषेण सह समानो वर्णो ब्राह्मणत्वादिस्तस्या भवति। परा पुरुषाद् भिन्नवर्णा स्त्री परस्त्री। तस्या अनन्तरापत्यं पारशवः। असावर्ण्य इति किम्? परस्य स्त्री परस्त्री, तस्या अनन्तरापत्यं पारस्त्रैणेयः। कल्याणादिपाठाद् ढेयण् अन्तस्य चेनादेशः। अनुशतिकादिपाठादुभयपदवृद्धिश्च ॥४०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—परस्त्रियाः०। अनन्तरे अञ् इति पदद्वयमनुवृत्तम्। ततश्च यः सूत्रार्थः संपन्नस्तमाह—**परस्त्रीशब्दादि**त्यादिना। असावर्ण्यपदं व्याख्याति—**न चेत् पुरुषेण सहे**त्यादिना। समानो वर्णः ब्राह्मणत्वादिर्ययोस्तौ सवर्णौ तयोर्भावः सावर्ण्यम्, न सावर्ण्यमसावर्ण्यमिति विग्रहः। अपत्यं हि पुं—स्त्रियोः संबन्धादेव भवतीति प्रत्यासत्त्या तयोरेव सावर्ण्यमिह पर्युदसनीयम्। यद्यपि परा असवर्णा स्त्री परस्त्रीति कर्मधारयसमासे गृहीते (व्याख्यानादेव) असावर्ण्य प्राप्नोति, तत एव च पाणिनीयनये बिदादिगणपठिते 'परस्त्री परशुं च' इति सूत्रे असावर्ण्ये इति नोच्यतेऽव्यावर्तकत्वात् परकीयस्त्रियां जनितस्यापत्यस्य परकीयत्वस्यैव संभवात् बीज-क्षेत्रयोरुभयोरेकस्वामित्व एवापत्यत्वसम्बन्धस्य स्वीकारात्। तथापि जात्यन्तरत्वस्य स्पष्टप्रतिपत्तयेऽसावर्ण्यपदोपादानस्यावश्यकत्वमिति मत्वा तदुपादानं क्रियते इति बोध्यम्।

विग्रहप्रदर्शनेनासावर्ण्यं ग्राहयति—**परा पुरुषाद् भिन्नवर्णा** अन्यजातीया **स्त्री परस्त्री**ति। तस्या अनन्तरापत्यमित्यर्थे अञि परस्त्रीशब्दस्य परशुशब्दादेशे आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽवू" [७.४.७०.] इत्यूवादेशे **पारशव** इति। ननु परस्त्रीशब्दस्य अनुशतिकादिगणे पाठात् तदादेशस्यापि स्थानित्वात् "अनुशतिकादीनाम्" [७.४.२७.] इत्युभयपदवृद्धिः कुतो नेति चेन्न, समुदायस्यादेशे पूर्वोत्तरपदसंमोहात किमत्र पूर्वपदं किमुत्तरपदमिति विविच्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। असावर्ण्यपदव्यावर्त्यमाख्यातुं पृच्छति **असावर्ण्य इति किमि**ति। परा स्त्रीति विग्रहप्रदर्शनेनैवासावर्ण्ये लब्धे तदव्यावर्तकमिति प्रष्टुराशयः परस्य स्त्री परस्त्रीत्यपि विग्रहीतुं शक्यत्वेन तस्याश्च सवर्णाया अपि संभवेन ततः प्रत्ययोऽयं मा भूदिति **असावर्ण्य**ग्रहणमावश्यकमित्याशयेन प्रत्युदाहरति—**परस्य स्त्री परस्त्री**त्यादिना।

रूपसिद्ध्युपायमाह—कल्याणादिपाठेनेत्यादिना। "कल्याणादेरिन्०" [६.१.७७.] इति सूत्रे कल्याणादिगणे परस्त्रीशब्दस्य पाठेन एयणि अन्तस्येकारस्येति अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धौ पारस्त्रैणेय इति रूपं भवतीति भावः। 'पारस्त्रेणेय' इति पाठस्तु प्रामादिकः क्वचित् प्राप्यते ॥६।१।४०॥

बिदादेवृद्धे ॥६।१।४१॥

बिदादिभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे अञ्प्रत्ययो भवति। बिदस्यापत्यं वृद्धं बैदः, बैदौ, बिदाः। और्वः, और्वौ, उर्वाः। काश्यपः, काश्यपौ, काश्यपाः। भारद्वाजः, भारद्वाजौ, भरद्वाजाः। अथेन्द्रद्यूः सप्तमः काश्यपानाम्, भारद्वाजानां कतमोऽसि, इत्यत्र बहुषु लुप् कस्मान्न भवति। नायमञ् किन्तु अस्येदम् इति विवक्षायामण्। सर्वेषामपि हि पितरोऽभेदोपचारेण काश्यपाः। यथा बभ्रुः मण्डुः लमक इति। वृद्ध इति किम्? बिदस्यापत्यमनन्तरं बैदिः।

बिद उर्व काश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात कीदर्भ विश्वानर ऋष्टिषेण ऋतभाग

"Aho Shrutgyanam"

हर्यश्व प्रियक पियक अपस्तम्भ कुवाचार कूवाचर शरद्वत शुनक धेनु ।

उत्सादिष्वपि धेनुशब्दः पठ्यते । स प्रत्यग्रप्रसवगव्यादिवाचकः । अयमृषिवचनः ।

अश्व शङ्ख गोपवन शिशु बिन्दु ताजम अश्वावतान श्यामाक श्यापर्ण हरित किन्दास वयस्क अर्कलुश वध्योग विष्णुवृद्ध वृष्णिवृद्ध प्रतिबोध रथीतर रथन्तर गविष्ठिर गर्गिष्ठिल निषाद शबर मठर सृदाकु पृदाकु ।

केचिदेतौ हरितादेः प्राक् पठन्ति । तन्मते 'हरितादेरञः' [६.१.५५.] इत्यायनण् न भवति । मठरशब्दं गोपवनादावपि अञो लुबभावार्थं केचित् पठन्ति । अन्ये तु मठराद्यकारादिञमिच्छन्ति । माठर्यः, माठर्यौ । बहुष्वञो लुपि संनियोगशिष्टत्वाद् यस्यापि निवृत्तिरिति मठराः ॥ ४१ ॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–बिदादेः० । बिदशब्द आदिर्यस्य शब्दसमूहस्य सोऽयं बिदादिस्तस्मात् । वृद्धमिति पौत्राद्यपत्यं संज्ञायते । अञ् इत्यनुवृत्तम्, तदाह सूत्रार्थम्–**बिदादिभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे अञ्प्रत्ययो भवतीति**। बिन्दति स्वापत्यसन्तानरूपेणावयवी भवतीति बिदः मुनिविशेषः, तस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे अञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **वैद** इति । बहुषु वक्ष्यमाणेन "यञञोऽश्यापर्ण०" [६.१.१२६.] इति सूत्रेणाञो लुपि प्रकृतिमात्रं प्रयुज्यते इति सूचनार्थं **बैदौ बिदा** इति रूपप्रदर्शनम् । एवं सर्वत्र । **और्व** इति–उर्वो नाम ऋषिविशेषः, तस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थेऽञि पूर्ववदादिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **और्व** इति । बहुषु अञो लुपि **उर्वा** इति । एवं कश्यपस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे काश्यप इति, बहुत्वे कश्यपाः इति । एवं भारद्वाजस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे **भारद्वाज** इति, बहुत्वेऽञो लुपि **भरद्वाजा** इति ।

क्वचिद् बहुत्वेऽप्यञो लुबभावो दृश्यते तत् कथं संगच्छत इति पृच्छति, अथ **इन्द्रहूः सप्तमः काश्यपानामिति** । कश्यपवृद्धापत्यानां मध्ये इन्द्रहूर्नाम सप्तम इति विज्ञातपूर्वम्, त्वं भरद्वाज वृद्धापत्यानां मध्ये कां संख्यां पूरयसीति वाक्यार्थः । अत्र बहुत्वे सत्यपि "यञञोऽश्यापर्ण०" [६.१.१२६.] इति लुपोऽभावः कथमिति प्रश्नाशयः । उत्तरयति–**नायमञ्** इत्यादिना । नायं कश्यपवृद्धापत्यसंबद्धोऽञ् किन्तु कश्यपसंबन्धसामान्यविवक्षायां शैषिकोऽण् इति नास्ति बहुत्वेऽपि लुबिति समाधानाशयः । 40

ननु सम्बन्धमात्रविवक्षायामपि कथं सर्वेष्वपि साक्षात्कश्यपसम्बन्धित्वम्, प्रत्येकं भिन्नपितृकत्वस्यापि सम्भवादित्याशङ्कायामाह–**सर्वेषामपि पितरोऽभेदोपचारेण कश्यपा** इति । यद्यपि येऽत्र ऋषयो विवक्षितास्तेषां सर्वेषामपि कश्यपसम्बन्धस्य तद्गोत्रसम्बन्धेन सत्त्वात् **कश्यपत्वेनोपचारस्य** संभवात् सर्वेऽभिन्ना एवेति औपचारिकमभेदमादाय तथा व्यवहारस्य संभवोऽस्त्येवेति भावः । तत्र दृष्टान्ततया व्यवहारान्तरं प्रमाणयति–**यथा बभ्रुः, मण्डुः, लमक** इति । 45

एते सर्वेऽपि गोत्रवाचिनः शब्दास्तद्गोत्रीयेषु सर्वेष्वपि अभिन्नत्वेन प्रयुज्यन्ते यथा, तथा कश्यपशब्दोऽपि बहुष्वपि भिन्नेषु प्रयुज्यत इति भावः, तथा च न काश्यपीया इत्यादयः **प्रयोगा** भवन्ति । 50

पदकृत्यं पृच्छति–**वृद्धे इति किमिति** । उत्तरयति प्रत्युदाहरणेन । **बिदस्यानन्तरमपत्यं बैदिरिति** । अनन्तरापत्ये इञेव भवति, नाञ् । वृद्धे इत्यस्याभावे चानन्तरे इति पूर्वसूत्रस्थं संबद्धं स्यादिति अनन्तरे एवाञ् स्यात् वृद्धे इञ् इति विपरीतमप्यापद्येतेति वृद्धे इत्यावश्यकमिति भावः । 55

अथ बिदादिगणं निर्दिशति—**बिद उर्व** इत्यादिना । गणे पठिताः शब्दा व्याकृता लघुन्यासे इति न तदर्थं प्रयत्यते । गणे पाठभेदं तत्कृतं फलभेदं च प्रदर्शयति—**केचिदेताविति**त्यादिना । केचिदाचार्याः एतौ सृदाकु–पृदाकुशब्दौ हरितादेः प्रकृतगणान्तर्गतात् हरितशब्दादारभ्य कल्पिताद् हरितादिगणात् "हरितादेरञः" [६.१.५५.] इति सूत्रगृहीतात् प्राक् पूर्वमेव पठन्ति हरितादिगणात् तौ बहिष्कुर्वन्ति । तथा च फले यो भेदस्तमाह–**तन्मते** इत्यादिना । तन्मते वृद्धप्रत्ययान्ताभ्यां सदाकु-पृदाकुशब्दाभ्यां युवापत्ये "हरितादेरञः" [६.१.५५.] इति विधीयमान आयनण् न भवति किन्तु इञेव भवतीति भावः । विशेषान्तरमाह—**मठरशब्दमित्यादिना** । गोपवनादावपि इति कथनेन हरितादिपाठोऽपि समुच्चीयते इति लघुन्यासकृतः । तथा च मठरशब्दस्य बिदादिगणे द्विधा पाठ इत्यायाति । तत्फलं चोभयगणप्रयुक्तकार्यलाभ एव स्यादिति वृद्धापत्यार्थाञन्ताद् मठरशब्दाद् युवापत्ये "हरितादेरञः" [६.१.५५.] इत्यायनण्, वृद्धाञो 60 65 70 75

"Aho Shrutgyanam"

बहुषु लुबभावश्च, "यञञोऽस्यापर्ण-गोपवनादिभ्यः" [६.१.१२६.] इति सूत्रे गोपवनादिपर्युदासात् सिद्धः। एतद्विषय एव विशेषान्तरमप्याह—**मठराद् यकारादिमञमिच्छन्ति** इति। ते च गोपवनादौ तस्य पाठं न कल्पयन्तीत्यपि विशेयम्। अत एवाग्रे **बहुष्वञो लुपि सन्नियोगशिष्टत्वात् यस्यापि निवृत्तिरित्युक्तम्**। गोपवनादिपाठे च अञः लुप् न स्यात्। इष्यते च **मठराः** इत्येव रूपमिति एकधैव मठरशब्दो हरितादावेव तन्मतानुकूलं पठित इति सिद्धम्। वृद्धप्रत्ययान्तान्माठर्य इत्यस्मात् "हरितादेरञः" [६.१.५५.] इत्यायनण् युवापत्ये स्यादेव। अञ् एव यकारादित्वस्य विधानाद-ञ्ग्रहणेनैव यञोऽपि ग्रहणात्। अत एव च स गर्गादिगणे न पठितः, **इहैव** पाठेनोभयकार्यसिद्धेरिति ॥६। १।४१॥

गर्गादेर्यञ् ॥६।१।४२॥

गर्गादिभ्यो ङसन्तेभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे यञ् प्रत्ययो भवति। गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्यः। वात्स्यः। वृद्ध इत्येव? गर्गस्यापत्यमनन्तरं गार्गिः। गोत्र इत्येव? गर्गो नाम कश्चित् तस्यापत्यं वृद्धं गार्गिः। ननु मनोरत्र पाठाल्लोहितादित्वात् स्त्रियां नित्यं ङायनि ङ्यां च मानव्यायनी इति स्यात्, तत् कथं मानवी प्रजा इति? उच्यते, अपत्यसामान्यविवक्षायां 'ङसोऽपत्ये' [६.१.२८.] इत्यणि भविष्यति। कथम् अनन्तरो रामो जामदग्न्यः व्यासः पाराशर्यः। पुत्रेऽपि पौत्रादिकार्यकरणात् तथोच्यते। अनन्तरापत्यविवक्षायां जामदग्नः, पाराशरिः। कथं पाराशरः? तस्येदम् इति विवक्षायां भविष्यति।

गर्ग वत्स बाज अज संकृति व्याघ्रपाद् विदभृत् पितृषध प्राचीनयोग पुलस्ति रेभ अग्निवेश शङ्ख शट धूम अवट नमस चमस धनञ्जय तृक्ष विश्वावसु जरमाण कुरुकत अनडुह लोहित संशित वक्र बभ्रु बभ्लु मण्डु मङ्क्षु मङ्खु शस्थु शङ्कु लतु लिगु ग्रहलु जिगीषु मनु तन्तु मनुतन्तु मनायी।

अणेयणोः प्राप्तावस्य पाठः। पुंवद्भावस्तु 'कौण्डिन्यागस्त्ययोः०' [६.१.१२७.] इति कौण्डिन्यनिर्देशादनित्य इति न भवति।

स्नु स्नुव कच्छक ऋक्ष रुक्ष रूक्ष तरुक्ष तलुक्ष तण्डिन् वतण्ड कपि कत शकल कण्व वामरथ गोकक्ष कुण्डिनी यज्ञवल्क पर्णवल्क अभयजात विरोहित वृषगण रहोगण शण्डिल मुद्गर मुद्गल मुसर मुसल पराशर जतूकर्ण मन्त्रित अश्मरथ शर्कराक्ष प्रतिमाष स्थूर स्थूरा अरराका पिङ्ग पिङ्गल कृष्ण गोलुन्द उलूक तितिम्भ भिष भिषज भिष्णज भण्डित भडित दलभ चिकित देवहू इन्द्रहू एकलू पिप्पल्लु पत्यलू बृहलू पप्फलू बृहदग्नि जमदग्नि सुलामिन कुटीगु उक्थ कुटील चणक चुलुक कर्कट अलापिन् सुवर्ण सुलाभिन् इति गर्गादिः ॥४२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-गर्गादेः०। वृद्धेरित्यनुवर्तते। तथा च सूत्रार्थमाह-**गर्गादिभ्यो ङसन्तेभ्य** इत्यादिना। गणपाठेषु सर्वत्र तदगुणसंविज्ञानबहुव्रीहिस्वीकाराद् गर्गादेः शब्दस्यापि ग्रहणमिति पूर्वत्रावेदितमेव। तथा चोदाहरति-**गर्गस्यापत्यं वृद्धमिति**। अत्रार्थे यञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे गार्ग्य इति रूपम्। वत्सस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे यञि पूर्ववत् **वात्स्य** इति रूपम्। वृद्धे इत्यनुवृत्तेरावश्यकत्वमित्याह—**वृद्ध इत्येवेति**। तथा च व्यावर्त्यमाह—**गर्गस्यापत्यमनन्तरमिति**। तथा च वृद्धग्रहणाभावेऽनन्तरापत्येऽपि यञेव स्यादिति वृद्धापत्यानन्तरापत्यार्थयो रूपे विशेषो न स्यात्।

किञ्च, पूर्वमनन्तरे प्रत्ययो विहितः, तत्संबन्धोऽपि संभाव्यत इति तत्रैवार्थे यञ् स्याद्, वृद्धार्थे इञेव स्यादित्यपरमनिष्टमापद्येतेति वृद्ध इत्यस्य सम्बन्ध आवश्यक इति भावः। **गोत्र इत्येवेति**—परमप्रकृतेर्यदपत्यं पौत्रादि तदेव वृद्धसंज्ञम्, सा च परमप्रकृतिर्लौकिकगोत्रत्वेन प्रसिद्धा एवं ग्राह्या इति भावः। तद्व्यावर्त्यमाह—**गर्गो नाम कश्चिदिति**। कश्चिदित्यनेन गोत्रत्वेन प्रसिद्धादन्यः सांप्रतिक इति लभ्यते। तस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे "अत इञ्" [३.१.३१.] इत्येव भवतीति भावः। अत्र गणे मनुशब्दः पठ्यते। स च प्रकृतगणान्तर्भूतलोहितादिगणे पठितः। तस्माच्च स्त्र्यपत्ये वृद्धे विवक्षिते यञि सति स्त्रियां "लोहितादिशकलान्तात्" [२.४.६८.] इति ङायनन्तो ङीः स्यादिति **मानव्यायनी**ति रूपेण भवितव्यम्—इति **मानवी प्रजे**ति लोकप्रसिद्धिः कथं संगच्छत इति पृच्छति।

ननु **मनोरत्र पाठादि**त्यादिना। उत्तरयति-

"Aho Shrutgyanam"

उच्यते इत्यादिना । यथा संप्रयोगो भवति तथोच्यते इति भावः । तदेव प्रदर्शयति-**अपत्यसामान्यविवक्षायामित्यादिना** । अयमाशयः-प्रकृतसूत्रं वृद्धापत्यविवक्षायामेव प्रवर्तते । यत्र च वृद्धापत्यमपि न तत्त्वेन (वृद्धापत्यत्वेन) विवक्षितमपि तु सामान्यतोऽपत्यत्वेन विवक्षितं तत्र प्रकृतसूत्रस्याप्रवृत्त्या सामान्येन "ञसोऽपत्ये" [६.१.२८] इति सूत्रेणाणि आद्यस्वरवृद्धौ अवादेशे स्त्रियामणन्तत्वाद् ङ्यां मानवीति रूपस्य सम्भव इति । ननु यद्यत्र सूत्रे वृद्ध इत्यस्य सम्बन्धोऽवश्यमभिप्रेतस्तर्हि जमदग्नेरन्तरापत्यं परशुरामः 'जामदग्न्यः' इति पराशरस्यानन्तरापत्यं व्यासः पाराशर्य इति कथमुच्यते इत्याशङ्कते, ननु **कथमनन्तरो रामो जामदग्न्य** इत्यादिना । उत्तरयति-**पुत्रेऽपि पौत्रादिकार्यकरणादिति** । अयमाशयः-अनन्तरापत्य एव वृद्धत्वविवक्षया वृद्धार्थप्रत्ययस्य सम्भव इति । तद्विवक्षाकारणं च पौत्रादिकार्यकरणम् । परशुरामस्य नहि कश्चित् पुत्रः श्रूयते येन वृद्धापत्यविवक्षायां जमदग्नेः प्रत्ययः स्यात् । पठ्यते च गणे जमदग्निशब्दः, तेन ज्ञायते राम एव पितुः पौत्रादिकार्यमपि पिण्डाविच्छेदरूपं करोति, तस्य चिरजीवित्वश्रवणात्, तथाहि-

"अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनुमांश्च विभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥"

इति चिरजीविषु सप्तसु तस्य परिगणनम् । एवं व्यासस्यापि पुनः शुकदेव आजन्म ब्रह्मचार्येव वीतरागः परित्यक्तगृहस्थधर्मा च श्रूयते इति व्यासेनैव चिरंजीवता पराशरस्य पिण्डाविच्छेदरूपं पौत्रादिसन्ततिकार्यं सम्पादितमिति पराशरशब्दस्य प्रकृतगणे पाठसामर्थ्यात् तस्यैव तद्वृद्धापत्यत्वविवक्षेति । अथानन्तरापत्यत्वेन जमदग्नेः पराशरस्य चापत्यमिति विवक्षायां कीदृशं रूपमिति चेदाह-**अनन्तरापत्यविवक्षायां जामदग्न्यः पाराशरिरिति** । तादृशविवक्षायां जमदग्नेः "ञसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यण्, आदिस्वरवृद्धौ इवर्णलोपे च जामदग्न इति रूपम् । पराशराच्च "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे च पाराशरिरिति भविष्यतीति भावः ।

कथं पाराशर इति ? पराशराद् वृद्धापत्ये यञ्, अनन्तरापत्ये च इञ् युज्येते अपि, अण् तु कथमप्यप्राप्त इति पाराशर इति प्रयोगः कथमिति प्रश्नाशयः । उत्तरयति-**तस्येदमिति विवक्षायां भविष्यतीति** । नात्रापत्यत्वेन विवक्षा अपि तु तत्संबन्धित्वमात्रेणेति "तस्येदम्" [६.३.१६०.] इति शैषिकोऽणेवेह नापत्यार्थप्रत्यय इति भावः ।

अथ गणं पठति-**गर्ग वत्स** इत्यादिना । गणान्तर्गताः शब्दा व्युत्पादिता लघुन्यासे इति न व्युत्पाद्यन्ते गौरवभयात् । मनुः तन्तुश्च पृथक् पृथक् समस्तौ च पठितौ पाणिनीये समस्तपाठो न दृश्यते । मनायीशब्दः प्रकृतगणे पठ्यते । तस्मात् यञि परतः "जातिश्च णितद्धितयस्वरे" [३.२.५१.] इति पुंवद्भावः स्यादिति पुं-स्त्रियो रूपे विशेषाभाव इत्याशङ्कायामाह—**अणेयणोः प्राप्तावश्य पाठः** । **पुंवद्भावस्तु "कौण्डिन्यागस्त्ययोः[६.१.१२७.]इति निर्देशादनित्य इति न भवतीति** । स्वाभाविकस्याणः "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" [६.१.७०.] इत्येयणश्च प्राप्तावस्येह पाठस्तद्बाधनार्थं कृतः । यञि सति पुंवद्भावस्तु न भवति, पुंवद्भावस्यानित्यत्वाश्रयणात् । अनित्यत्वे मानं च "कौण्डिन्यागस्त्ययोः" [६.१.१२७.] इति सूत्रे कौण्डिन्येति निर्देश एव । कुण्डिनीशब्दाद् वृद्धापत्येऽनेन यञि पुंवद्भावे सति "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादेर्लुकि कौण्डय इत्येव रूपमुचितम्, न तु कौण्डिन्य इति, तथा चानेन सूत्रनिर्देशेन पुंवद्भावस्यानित्यत्वे सूचिते पुंवद्भावात् इवर्णस्य लोपे कौण्डिन्य इति रूपं भवति । तथेहापि पुंवद्भावाभावे मानाभ्य इति रूपं भवेदित्येतदर्थं गणे मनायीशब्दः पठितः इति भावः । एतदग्रे सूनुशब्दः पठ्यते । पाणिनीये च नये 'मनायी–सूनु-' शब्दः समस्त एव पठ्यते, न तु व्यस्त इति विशेषः । तत्त्वं च लक्षणैकचक्षुष्कैरेव ज्ञेयम् ॥६।१।४२॥

मधु-बभ्रोर्ब्राह्मण-कौशिके ॥६।१।४३॥

मधुशब्दाद् बभ्रुशब्दाच्च यथासंख्यं ब्राह्मणे कौशिके च वृद्धेऽपत्येऽर्थे यञ्प्रत्ययो भवति । माधव्यो ब्राह्मणः, माधवोऽन्यः । बाभ्रव्यः कौशिकः, बाभ्रवोऽन्यः । बभ्रोर्गर्गादिपाठाद् यञि सिद्धे कौशिके नियमार्थं वचनम् । गर्गादिपाठस्तु लोहितादिकार्यार्थः तेन बाभ्रव्यायणी इति ङायन् । केचित् तु अकौशिकेऽपि लोहितादिपाठाद् यञमिच्छन्ति । तन्मतेनेदं यञ्विधानं बभ्रोर्लोहितादेर्बहिष्करणार्थम् । तेन कौशिके यञि सति लोहितादिकार्यं न भवति । तथा

"Aho Shrutgyanam"

च स्त्रियां डायन् वा भवति। बाभ्रवी बाभ्रव्यायणी च कौशिकी ॥४३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्— मधु० । मधुश्च बभ्रुश्चैतयोः समाहारो मधुबभ्रू तस्मात् मधुबभ्रोरिति । यद्यपि समाहारे क्लीबत्वमुचितमिति मधुबभ्रुणोरिति पाठो युक्तः, तथापि सौत्रत्वाल्लाघवार्थं च प्रकृतनिर्देश इति विज्ञेयम् । एवं ब्राह्मणश्च कौशिकश्चैतयोः समाहारः ब्राह्मण-कौशिकं तस्मिन् ब्राह्मण-कशिको इति । वृद्धे यञ् इति च पूर्वतोऽनुसृतम् । तथा च सम्पन्नं सूत्रार्थमाह—**मधुशब्दाद् बभ्रुशब्दाच्चेत्यादिना** । उदाहरति—**माधव्यो ब्राह्मण** इति । मधोर्वृद्धमपत्यमित्यर्थे यञि आद्यस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०] इत्यवादेशे **माधव्य** इति । एवं बभ्रोर्वृद्धमपत्यं **बाभ्रव्य** इति । बभ्रुशब्दो गर्गादिगणेऽपि पठ्यते, ततश्च यञि सिद्धे किमर्थमत्र सूत्रे पाठ इति चेदत्र **कौशिके नियमार्थं वचन**मिति । कौशिके वाच्य एव बभ्रुशब्दाद् यञ् नान्यस्मिन् वाच्ये इति नियमार्थं प्रकृतसूत्र तस्य पाठ इति भावः ।

नन्वेवं गर्गादिगणगत एव पाठस्त्यज्यतामिति चेत् तत्राह—**गर्गादिपाठस्तु लोहितादिकार्यार्थ** इति । लोहितादिर्गर्गाद्यन्तर्गणः । तत्रैव च बभ्रुशब्दः पठ्यते, तत्कार्यं तु स्त्रियां "लोहितादिशाकलान्ताद्" [२.४.६८.] इति विहितो डायन्, तद्विधानार्थं लोहितादौ पाठस्यावश्यकत्वमिति भावः । तत्फलमाह—**तेन बाभ्रव्यायणीति नित्यं डायन्निति** । अत्र विशेषमाह—**केचित् त्विति** । डायन्मात्रस्य गर्गाद्यन्तर्गणलोहितादिपाठप्रयोजनत्वे डायन् विधायकसूत्र एव बभ्रुशब्दं पठेत्, न च तथा पठितवान् ततश्चेदमनुमीयते यत् कौशिकार्थादन्यत्रापि यञ् भवत्येवेति तेषामाशयः । नन्वेवं सति तेनैव कौशिकेऽन्यत्र चार्थे यञि सिद्धे प्रकृतसूत्रेण यञ्विधानं, तन्मते किमर्थमिति चेदत्राह—**तन्मतेनेदं यञ्विधानं बभ्रोर्लोहितादेर्बहिष्करणार्थमिति** । बहिष्कारश्च कौशिकार्थ एवेति तदेव स्पष्टयति—**तेन कौशिके यञि सति लोहितादिकार्यं न भवती**ति । तथा च स्त्रियां नित्यं डायन् "लोहितादिशाकलान्तात्" [२.४.६८.] इति विहितो न भवति । तर्हि किं भवतीत्याह—**तथा च स्त्रियां डायन् वा भवती**ति । नित्यडायनोऽभावे "यञो डायन् च वा" [२.४.६७.] इति विकल्पेनैव डायन् भवति । तथा च रूपद्वयं दर्शयति—**बाभ्रवी, बाभ्रव्यायणी**ति । डायनोऽभावे ङ्यां "अस्य ङ्यां लुक्" [२.४.८६.] इत्यकारलोपे "व्यञ्जनात् तद्धितस्य" [२.४.८८.] इति यलोपे च बाभ्रवी, डायनि सति बाभ्रव्यायणीति भावः ॥६।१।४३॥

कपि-बोधादाङ्गिरसे ॥६।१।४४॥

कपि-बोधशब्दाभ्यामाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यञ्प्रत्ययो भवति। कपेरपत्यं वृद्धमाङ्गिरसः काप्यः। एवम् बौध्यः। अन्यः कापेयः। बौधिः। कपिशब्दो गर्गादिषु पठ्यते तस्येहोपादानं नियमार्थम्। आङ्गिरस एव यञ् नान्यत्रेति। लोहितादिकार्यार्थश्च गणपाठः। काप्यायनी। मधु-बोधयोस्तु यञन्तयोरुभयम्। माधवी। माधव्यायनी। बौधी। बौध्यायनी ॥४४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कपि० । कपिश्च बोधश्चेतयोः समाहारः कपिबोधं तस्माद् अङ्गिरसोऽपत्यमाङ्गिरसस्तस्मिन् । वृद्धे यञ् इत्यनुवृत्तम्, तथा च सूत्रार्थमाह—**कपि-बोधशब्दाभ्यामित्यादिना** । उदाहरति—**कपेरपत्यं वृद्धमित्यादिना** । कपिशब्दाद् यञि आदिस्वरवृद्धौ इवर्णलोपे **काप्य** इति । बोधस्यापत्यं वृद्धमाङ्गिरस इत्यर्थे बोधशब्दात् यञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **बौध्य** इति । आङ्गिरसादन्यत्र रूपमाह—**अन्यः कापेयः, बौधिरिति** । कपेरपत्यमित्यर्थे "इतोऽनिञः" [६.१.७२.] इत्येयणि आदिस्वरवृद्धौ इवर्णलोपे बौधिरिति । अत्रापि सूत्रे पूर्वसूत्रवत् कपिशब्दांशे विशेषमाह—**कपिशब्दो गर्गादिषु पठ्यत** इत्यादिना । कपिशब्दस्य गर्गाद्यन्तर्गणे लोहितादौ पाठो दृश्यते, ततश्च यञि सिद्धे इह सूत्रे पाठो व्यर्थीभूय नियमयति कपिशब्द आङ्गिरस एवार्थे यञं लभत इति । तर्हि पूर्वत्र गणे पाठो व्यर्थ एवात्र पाठेनैव आङ्गिरसे यञः सिद्धेरिति चेत् तत्राह—**लोहितादिकार्यार्थश्च गणपाठ** इति । लोहितादिकार्यं स्त्रियां डायन् तदर्थ इति भावः ।

तथा च रूपमुदाहरति—**काप्यायनी**ति । कपेर्वृद्धापत्यं स्त्रीत्यर्थे प्रकृतसूत्रेण यञि तदन्तात् "लोहितादिशाकलान्तात्" [२.४.६८.] इति ङीसंनियोगेन डायनि काप्यायनीति नित्यमेव । अन्यस्मात् तु वैकल्पिको डायन्नित्याह—**मधु-बोधयोस्तु यञन्तयोरुभयम्** इति । तयोर्लोहितादिगणे पाठाभावाद् मधोः पूर्वसूत्रेण यञि सति, बोधाच्च प्रकृतसूत्रेण यञि "यञो डायन् च वा" [२.४.६७.] इति डायनो वैकल्पिकत्वेन केवलङ्यन्तं डायन्विशिष्ट-

"Aho Shrutgyanam"

ङ्यन्तं चेति रूपद्वयमिति भावः। तथा च रूपं दर्शयति—**माधवी, माधव्यायनीति**। डायनोऽभावे ङ्यां "अस्य ङ्यां लुक्" [२.४.८६.] इति अवर्णलोपे व्यञ्जनात् तद्धितस्येति यलोपे माधवीति। डायनि च माधर्व्यायनीति। एवं बोधस्य वृद्धापत्यं स्त्रीत्यर्थेऽपि पूर्ववद् रूपद्वयं बोध्यमिति **बौधी, बौध्यायायनीति** ॥६।१।४४॥

वतण्डात् ॥६।१।४५॥

वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे यञेव भवति। वतण्डस्यापत्यं वृद्धमाङ्गिरसः वातण्डयः। आङ्गिरसादन्यत्र गर्गादिशिवादिपाठाद् यञ् अण् च भवतः। वातण्ड्यः, वातण्डः। गर्गादिपाठादेव यञि सिद्धे वचनमाङ्गिरसे शिवाद्यण्बाधनार्थम्। शिवादिपाठोऽप्यस्य वृद्ध एवाण्विधानार्थः। अन्यत्र हि ऋषित्वादेव अण् सिद्धः ॥४५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वतण्डात्०। अङ्गिरस इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तम्। नियमार्थमरतया सूत्रं व्याख्याति—**यञेव भवतीति**। वतण्डशब्दः शिवादौ गर्गादौ च पठितः, गणद्वये पाठसामर्थ्यात् प्रत्ययद्वयस्य वैकल्पिकत्वमिति वतण्डशब्दात् सर्वत्रार्थे प्रत्ययद्वयं प्राप्तमिति आङ्गिरसेनाङ्गिरसे वा सर्वत्र रूपद्वयं प्राप्तमिति आङ्गिरसेऽपत्यविशेषे यञेव भवतीति प्रकृतसूत्रं नियमयति। तथा चोदाहरति—**वतण्डस्यापत्यं वृद्धमाङ्गिरस** इति। यञि सति आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **वातण्ड्य** इति रूपम्।

नियमफलमाह—**आङ्गिरसादन्यत्रेत्यादिना**। सूत्रसार्थक्यमाह—**गर्गादिपाठादेव यञि सिद्धे वचनमाङ्गिरसे शिवाद्यण्बाधनार्थमिति**। तथा चोक्तम् यञेव भवतीति। ननु "शिवादेरण्" [६.१.६०.] इति सूत्रमपत्यमात्रे प्रवर्तते। गर्गादिपाठाच्च वृद्धापत्ये यञ् विधीयते इत्युभयोरपि विषयभेदात् कथमुभयोर्बाध्य-बाधकभावः विशेषविहितेन यञा सामान्यविहितस्याणो बाधात्, ततश्चाङ्गिरसेनाङ्गिरसे च सर्वत्र वृद्धापत्ये यञेव भविष्यतीति सूत्रमिदं किमर्थमिति चेदाह—**शिवादिपाठोऽप्यस्य वृद्ध एवाण्विधानार्थ** इति।

अयमाशयः—"शिवादेरण्" [६.१.६०.] इति सूत्रमपि वृद्धापत्यार्थ एव प्रवर्तते, अन्यत्र च वतण्डशब्दस्य ऋषिवाचकत्वेन "ऋषि—वृष्ण्यन्धक०" [६.१.३१.] इत्यण् सिद्ध एवेति वृद्धापत्येऽपि प्रत्ययद्वयं (यञ् अण् च) प्राप्तमिति न विशेषः स्यादिति आङ्गिरसे यञ् मात्रविधानार्थं प्रकृतसूत्रमावश्यकमेवेति। न च "बाह्वादिभ्यो गोत्रे" [६.१.३२.] इति सूत्रे बहुवचनस्याकृतिगणार्थत्वेन तत्र—"शिवादेश्च प्राग् येऽकारान्ता विदादयस्तेभ्यः। ऋष्यणं बाधित्वोक्तार्थादन्यत्रानेनैवेञ्॥"

इत्युक्तत्वेन चानन्तरापत्ये तेनेञ् स्यादिति वाच्यम्, गर्गादौ साक्षाच्छुतेन पाठेन बहुवचनलिङ्गानुमितपाठस्य दुर्बलत्वात् श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धस्यैव बलवत्त्वात् इत्यास्तां प्रकृतविरुद्धकल्पनया ॥६।१।४५॥

स्त्रियां लुप् ॥६।१।४६॥

वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषेवृद्धे स्त्रियां यञो लुप् भवति। वतण्डस्यापत्यं वृद्धं स्त्री आङ्गिरसी वातण्डी। जातिलक्षणो ङीः। अनाङ्गिरसे तु शिवादिपाठाद् वातण्डी। लोहितादिपाठाद् वातण्ड्यायनी ॥४६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—स्त्रियां०। वतण्डात्, आङ्गिरसे वृद्धे यञ् इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तम्। प्रकृते तु लुप्संबन्धात् प्रत्ययस्य षष्ठ्यन्तत्वं परिकल्प्यते, तथा च योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह—**वतण्डशब्दादित्यादिना**। सविग्रहमुदाहरति—**वतण्डस्यापत्यं वृद्ध स्त्रीत्यादि**। वतण्डशब्दादुक्तार्थे विहितस्य (पूर्वसूत्रेण) यञो लुपि, "जातेरयान्त०" [२-४.५४.] इति ङ्यां **वतण्डी**ति। आङ्गिरसे इत्यस्य संबन्धात्, अन्यत्र शिवादिपाठात्-"शिवादेः०" [६.१.६०.] इत्यणि आदिस्वरवृद्धौ—वतण्डस्यापत्यं वृद्धं स्त्री अनाङ्गीरती **वातण्डी**ति। अनाङ्गिरसे न केवलमणेव किन्तु गर्गादिपाठाद् यञापि, ततश्च लोहितादित्वात् ङीसंनियोगेन डायनपि भवतीति **वातण्ड्यायनी** इत्यपि रूपं भवतीति बोधयति-लोहितादिपाठाद् **वातण्डायनी**ति ॥६।१।४६॥

कुञ्जादेर्ण्यायन्यः ॥६।१।४७॥

कुञ्जादिभ्यो ङसन्तेभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे ण्यायन्यः प्रत्ययो भवति। कुञ्जस्यापत्यं वृद्धं कौञ्जायन्यः, कौञ्जायन्यौ। ब्राध्नायन्यः ब्राध्नायन्यौ। वृद्ध इत्येव ? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः।

कुञ्ज ब्रध्न गण भस्मन् लोमन् लौमायन्य। 7०

"Aho Shrutgyanam"

तदन्तादेव केचित्। औडुलोमायन्यः। शट। अयं गर्गादिष्वपि। शाक शुण्डा शुभा विपाश् अयं शिवादिष्वपि। स्कन्ध स्कम्भ शङ्ख। अयं गर्गादावश्वादौ बिदादौ च। इति कुञ्जादिः। अकारो ञित्कार्यार्थः ॥४७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–कुञ्जादेः०। वृद्धे इति पूर्वतः संबद्धम्। तथा च वृत्युक्तोऽर्थः सिद्धयति। कञ्जो नाम कश्चित् तस्यापत्यं वृद्धं पुमान् इत्यर्थे आयन्यप्रत्यये ञित्वादादिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे कौञ्जायन्य इति। एवं ब्रध्नो नाम कश्चित् तस्यापत्यं वृद्धं पुमानित्यर्थे आयन्ये पूर्ववत् कार्ये ब्राध्नायन्य इति। द्विवचनोदाहरणं च बहुत्वेऽग्रे विशेषस्य विवक्षितस्य सूचनार्थम्। वृद्ध इत्यस्य सम्बन्ध आवश्यक इति सूचयति–**वृद्ध इत्येवेति**। व्यावर्त्यमाह–**कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिरिति**। आयन्यनिमित्तवृद्धापत्याभावादस्याप्रवृत्तौ "अत इञ्" [६.१.३१] इतीञ्येव भवतीति वृद्ध इत्यस्याभावेऽत्रापि आयन्यः स्यादिति भावः।

अथ गणं पठति–**कुञ्ज ब्रध्न** इत्यादिना। तत्र तत्र विशेषमपि वक्तव्यं निर्दिशति–**शट-अयं गर्गादिष्वपि** इति। तथा अस्मात् प्रत्ययद्वयं पर्यायतो भविष्यतीति भावः। विपाश्–अयं **शिवादिष्वपि** इति। तथा च ततो आयन्येन सह अण् अपि, पक्षे भविष्यतीति वैपाशः, वैपाशायन्य इति रूपद्वयमिति भावः। शङ्ख–**अयं गर्गादावश्वादौ बिदादौ** चेति। ततश्च तस्माद् यञ् आयन्य, आयनञ्, अञ्र चेति प्रत्ययचतुष्टयमपि पर्यायेण भविष्यतीति भावः ॥६।१।४७॥

स्त्रीबहुष्वायनञ् ॥६।१।४८॥

कुञ्जादिभ्यो ङसन्तेभ्यो बहुत्वविशिष्टे वृद्धे स्त्रियां वा बहुत्वेऽपि आयनञ्प्रत्ययो भवति। कुञ्जस्यापत्यं स्त्री कौञ्जायनी। ब्राध्नायनी। कुञ्जस्यापत्यानि कौञ्जायनाः। ब्राध्नायनाः। अकारो ञित्कार्यार्थः ॥४८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–स्त्री०। कुञ्जादेरिति पूर्वसूत्रात् सम्बद्धम्। 'बहुषु' इति पदं वृद्धापत्येन सम्बन्धमासादयति तस्यैव प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्यात्, तथा च वृद्धापत्यगते बहुत्वे विवक्षिते, स्त्रियां चैकत्वविशिष्टायामपि प्रकृतसूत्रं प्रवर्तते इति सिद्धम्। तथा च सूत्रं व्याख्याति–**कुञ्जादिभ्य** इत्यादिना। स्त्रियां वाबहुत्वेऽपि इत्यत्र अबहुत्वेऽपीति च्छेदः। अन्यथा अत्रैव बहुत्वविशिष्टे इति कथ्येत, बहुत्वेऽपि स्त्रियां वा इति कथनस्यासामञ्जस्यात्। वाशब्दश्च चार्थः तथा च बहुत्वविशिष्टे वृद्धापत्ये पुंसि, स्त्रियां चाबहुत्वेऽपि अपिना बहुत्वेऽप्यायनञ् भवतीति स्पष्टोऽर्थः। तथैव स्त्रियामेकत्वेनैवोदाहरति–कुञ्जस्यापत्यं (वृद्धं) **स्त्री कौञ्जायनी**ति। आयनञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे जातित्वाद् ङ्यां कौञ्जायनीति। एवं ब्रध्नस्यापत्यं वृद्धं स्त्रीत्यर्थे **ब्राध्नायनी**ति।

बहुत्वे पुंस्युदाहरति–**कौञ्जायना** इति। कुञ्जस्य वृद्धापत्यानि, ब्रध्नस्य वृद्धापत्यानीत्येवंरूपेण बहुत्वे विवक्षिते परत्वात् पूर्वसूत्रप्राप्तं आयन्यं बाधित्वा विशेषविहितत्वाद् वा आयनञि कौञ्जायनाः ब्राध्नायना इति रूपे। अकारस्य प्रत्ययेऽश्रवणात् तत्फलमाह–**अकारो ञित्कार्यार्थ** इति। ञित्कार्यमादिस्वरवृद्धिस्तदर्थो अकार इति भावः। अत्र केचित्–कौञ्जायन्यस्यापत्यानीत्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञि तस्य "ञिदार्षात्०" [६.१.१४०.] इति लुप्यपि बहुत्वसद्भावादायनान्त मेव रूपमाहुः। एवं तुल्यन्यायात् कुञ्जस्य वृद्धापत्यानीत्यर्थे कौञ्जायनाः इति रूपं संसाध्य ततः तेषां युवापत्यमित्यर्थे अतः इञि सति, तस्य पूर्ववत् "ञिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुपि बहुत्वाभावात् कौञ्जायनिः इत्येव रूपमित्याहुः तन्न रोचयामहे यतो वृद्धापत्यगतमेव बहुत्वमायनञो निमित्तमिति वृत्तौ स्पष्टमेव प्रकाशात इति युवापत्यगतबहुत्वैकत्वानुसारं प्रत्ययकल्पनायाः अप्रमाणिकत्वमेव। वृद्धापत्यगतसंख्यामाश्रित्य संस्कृतस्य रूपस्य युवापत्यगतसंख्यानुरोधेन पुनः संस्करणे तु * जातः संस्कारो न निवर्तते * इति न्यायेनापि विरुद्धमेवेत्यलमधिकेन लक्षणैकचक्षुष्काणां समक्षं विज्ञापितेन ॥६।१।४८॥

अश्वादेः ॥६।१।४९॥

अश्वादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये आयनञ्प्रत्ययो भवति। अश्वस्यापत्यं वृद्धमाश्वायनः। शाङ्खायनः। वृद्ध इत्येव? आश्विः। गोत्र इत्येव? अश्वो नाम कश्चित् तस्यापत्यं वृद्धम् आश्विः।

अश्व शङ्ख जन उत्स ग्रीष्म अर्जुन वैल्य अश्मन् विद कुट पुट स्फुट रोहिण खर्जुल खर्जुर खर्जुल पिञ्जूर भदिल भटिल भडिल भण्डिल भटक भडित भण्डित प्रावृत राम उद

"Aho Shrutgyanam"

क्षान्ध ग्रीव रामोद रामोदक्ष अन्धग्रीव काश काण गोल आह्व गोलाह्व अर्क स्वन अर्कस्वन शुन वन पत पद चक्र कुल ग्रीवा अग्रिष्ठा पावित्र पवित्रा (पावित्र) पविन्दा गोमिन् श्याम धूम धूम्र वत्स वाग्मिन् विश्वानर विश्वतर वत सनख सन खड जड गद जण्ड अर्ह (अर्थ) वीक्ष विशम्प विशाल गिरि चपल गिरिचपल चुप दासक चुपदासक धाय्या धन्य धर्म्य पुंसिजात शूद्रक सुमनस् दुर्मनस् आतव उत्सातव कितव किंव शिव खिव खिप खदिर आनडुह्य आनडुह्यायन इति यञन्तादायनणापि सिध्यति, प्राग्जितीयस्वरादौ तु 'यूनि लुप्' [६.१.१३७.] इति नित्यलुबर्थमस्योपादानम्, इत्यश्वादिः। अत्र योऽश्वादिर्वृद्धकाण्डेऽन्यत्रापि पठ्यते तस्य सोऽपि भवति।

अश्वशब्दाद् विदादिषु पाठादञ्, इहायनञ्। आश्वः। आश्वायनः।

शङ्खशब्दाद् विदादिष्वञ् गर्गादिषु यञ् कुञ्जादिषु आयन्यः, इहायनञ्। शाङ्खः, शाङ्ख्यः। शाङ्खायन्यः, शाङ्खायनः।

जनशब्दान्नडादिष्वायनण्, इहायनञ्। तत्र यूनि प्रत्यये विधेये विशेषः। जानायनिः, जानायनो युवा।

उत्स-ग्रीष्मयोरुत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थोऽनपत्यार्थश्च, इह तु वृद्धेऽयमेव यथा स्यादित्येवमर्थः। औत्सायनः। ग्रैष्मायणः।

अर्जुनशब्दस्य बाह्वादिषु पाठोऽनन्तरार्थः। वृद्धे त्वयमेव। आर्जुनायनः।

वैल्येति विलिशब्दो ञ्यान्तस्ततो यूनि प्रत्ययः। वैल्यायनो युवा ॥४९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—अश्वादेः० । वृद्धे इति प्रकृतमेव। आयनञ् च पूर्वसूत्रादनुवृत्तः। तदनुकूलमेव सूत्रं व्याख्याति—**अश्वादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये** इत्यादिना। उदाहरति—**अश्वस्यापत्यं वृद्धमि**त्यादिना। अश्वशब्दाद् आयनञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **आश्वायन** इति। शङ्खस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे **शाङ्खायन** इति पूर्ववत्। वृद्ध इत्यस्य सम्बन्ध आवश्यक इत्याह—**वृद्ध इत्येवेति**। व्यावर्त्यमाह—**आश्विरिति**। अश्वस्यानन्तरापत्यमित्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **आश्विरिति**। वृद्ध इत्यस्याभावे अपत्यमात्रे आयनञ् स्यादित्यनन्तरापत्यमपि आश्वायन इति कथ्येत, तच्चानिष्टमिति वृद्ध इति सम्बन्धनीयमेवेति भावः। लोकप्रसिद्धगोत्रवाचकादेव वृद्धापत्ये प्रत्यय इत्यपि व्याख्येयमिति गोत्र इत्येवेत्याह। तत्फलमाह—**अश्वो नाम कश्चिदि**ति। कश्चिदित्यनेनाधुनिकस्तन्नामा जन इति सूच्यते। तथा च तस्य गोत्रत्वाभावात् वृद्धापत्येऽपि "अत इञ्" [६.१.३१.] इति इञैव, न त्वायनञित्याह—**तस्यापत्यं वृद्धमाश्विरिति**।

गणं पठति—**अश्व, शङ्ख** इत्यादिना। अत्र गणे पाणिनीयगणपाठाद् भेदोऽवलोक्यते स चाचार्यभेददृष्टिनिबन्धन इति तद्युक्तायुक्तविचारोऽसांप्रतिक एव। अत्र केचन वृद्धप्रत्ययान्ताः पठ्यन्ते, ततश्च तेभ्यो युवापत्य एवायं प्रत्ययो भवेत् पाठसामर्थ्यादिति युक्तम्। तस्य रूपस्यान्यथाऽपि सिद्धाविह पाठस्य साफल्यमाख्यातुमुपक्रमते—**आनडुह्य आनडुह्यायन** इतीत्यादिना। अनडुहशब्दो गर्गादौ पठित इति अनडुहो वृद्धापत्यमित्यर्थे "गर्गादिर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि आनडुह्य इति तस्यापत्यं युवेत्यर्थेऽनेनायनञि आनडुह्यायन इति रूपं भवति। तच्च गणे पाठाभावेऽपि यद्यपि सिद्ध्यति, यतः यञन्तात् "यञिञः" [६.१.५४.] इति आयनण् सिद्ध एव तथापि प्राग्जितीयेऽन्यस्मिन् स्वरादौ विवक्षिते विशेषमाह—**"यूनि लुप् [६.१.१३७.] इति नित्यलुबर्थमि**ति। यञन्ताद् आयनणि सति ततोऽपि प्राग्जितीये तस्येदमाद्यर्थे स्वरादौ प्रत्यये विवक्षिते "वाऽयनणायनिञोः" [६.१.१३८.] इति वैकल्पिकः आयनणो लुप् स्यात् इति आनडुह्यायनस्य छात्रा इत्यर्थे "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयविषये आयनणो लुपि आनडुहीया इति, तदभावे आनडुह्यायनीया इति स्यात्, इष्यते तु "यूनि लुप्" [६.१.१३७.] इति नित्यमेव लुपि आनडुहीया इत्येकमेवेति तदर्थमिह गणे आनडुह्यशब्दस्य पाठ आवश्यक एव। आयनञि सत्येव नित्यं लुप् स्यात्। अत्र बहवः शब्दास्तथाभूताः पठ्यन्ते। ये वृद्धापत्यविषयकेष्वन्येष्वपि गणेषु पठ्यन्ते, ततश्च तेभ्यो वृद्धापत्यविषयक एक एव कश्चन प्रत्ययः "स्पर्द्धे" [७.४.११९.] इति सूत्रानुसारमुत विधानसामर्थ्यात् सर्वेऽपि प्रत्ययाः स्युः पर्यायेणेति सन्देहे आह—**अत्र योऽश्वादिर्वृद्धकाण्डेऽन्यत्रापि पठ्यते, तस्य सोऽपि भवतीति**। यत्रान्यत्र गणेऽपि यः शब्दः पठितस्तस्माद् वृद्धापत्येऽर्थे

"Aho Shrutgyanam"

सोऽपि प्रत्ययो भवत्येव, अन्यथा तत्रत्यपाठस्यानवकाशापत्तेरिदं सूत्रं प्रवर्त्तताम्, तद्वेत्यस्य नियामकाभावप्रसङ्गात् ।

"परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरा स्थितिः ।"
"श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥"

इति न्यायाभ्याम् । उचितं चैतत्, अन्यथा सन्देहेन शास्त्रस्याननुष्ठापकत्वप्रसङ्गः ।

अत्र गणे पठितो यः शब्दोऽन्यत्रापि पठितस्तत् कार्यं शृङ्गग्राहिकया परिचाययति—**अश्वशब्दाद् बिदादिषु पाठादि**त्यादिना । अश्वशब्द इह गणे, बिदादौ च पठित इति तस्मादुभावपि प्रत्ययौ भवत इति अश्वस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे "बिदादेर्वृद्धे" [६.१.४१.] इत्यञि **आश्व** इति, अनेनायनञि **आश्वायन** इत्युक्तमेवेति भावः । शङ्खशब्दश्च बिदादौ गर्गादौ कुञ्जादाविह चेति गणचतुष्टये पठित इति तस्मात् चत्वारोऽपि प्रत्ययाः स्युरिति—तदाह—**शङ्खशब्दाद् बिदादिष्वञ्** इत्यादिना । अञि सति शङ्खस्य वृद्धमपत्यं शाङ्खः "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि सति शाङ्खस्य इति । "कुञ्जादेर्ञायन्यः" [६.१.४७.] इति ञायन्ये शाङ्खायन्य इति । अनेनायनञि तु शाङ्खायन इति रूपचतुष्टयम् ।

जनशब्दो नडादाविह च पठ्यते । तत्र नडादिपाठसामर्थ्यात् जनस्य वृद्धापत्यमित्यर्थे "नडादिभ्य आयनण्" [६.१.५३.] इत्यायनणि, इह पाठाद् आयनञि च वृद्धापत्यविषयके रूपे विशेषाभावेऽपि अन्यत्र विशेषमाह—**तत्र यूनि प्रत्यये विधेये विशेष** इति । आयनञो ञित्त्वाद् आयनञन्ताद् विहितस्य युवापत्यार्थस्य "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञो "ञिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुपि जानायनस्य युवापत्यमपि जानायन एव । आयनणन्तस्य तु लुबभावे जानायनस्य युवापत्यं जानायनिरिति भवतीति विशेष इति भावः । वृद्धयुवापत्यसम्बद्धं तत्र तत्र विशेषमभिधाय वृद्धकाण्डाद् बहिरपि सामान्यतः पठितशब्दानां विषये विशेषमाख्यातुमुपक्रमते—**उत्स-ग्रीष्मयोरि**त्यादिना । उत्स-ग्रीष्मशब्दावुत्सादिगणेऽपि पठितौ "उत्सादेरञ्" [६.१.१९.] इत्यञो विधानार्थम् । स चाञ् वृद्धापत्यादन्यत्रापत्येऽर्थान्तरेषु च प्राग्जितीयेषु प्रवर्तते इति वृद्धापत्येऽनेन स बाध्यते विशेषविहितत्वात् इत्यनन्तरापत्येऽर्थेऽन्यत्र च प्राग्जितीयेऽर्थेऽञ स्याद्, वृद्धापत्ये चायनञेवेति उत्सस्य ग्रीष्मस्य च वृद्धमपत्यम् औत्सायनः ग्रैष्मायण इत्येव ।

एवमर्जुनशब्द इह गणे बाह्वादिषु पठ्यते । तत्र बाह्वादिषु वृद्धापत्यार्थसम्बन्धाभावादनन्तरापत्येऽर्थे स प्रवर्तते इति अर्जुनस्यानन्तरमपत्यम् **आर्जुनिः** । अत्र "बाह्वादिभ्यो गोत्रे" [६.१.३२.] इति इञ्, आदिस्वरवृद्धावर्णलोपे रूपसिद्धिः । वृद्धापत्ये तु प्रकृतसूत्रेणायनञेवेति **आर्जुनायन** इत्येव रूपम् ।

अत्र वैल्यशब्दोऽपि पठ्यते, तद्विषये विशेषमाह—**वैल्येति विलिशब्दो ऽयान्त** इत्यादि । विलिर्नाम राजर्षिरिति शब्दकौस्तुभे भट्टोजिदीक्षितः । तस्यापत्यमित्यर्थे "दु-नादिकुर्वित्०" [६.१.११८.] इति ञ्ये वैल्य इति, ततश्च वृद्धापत्ये, "आद्यात्" [६.१.२९.] इति नियमेन परमप्रकृतेरेव वृद्धेऽपत्ये प्रत्ययविधानात् प्रत्ययाप्राप्तौ युवापत्यार्थे एवायं प्रत्यय इति वैल्यस्य युवापत्यं वैल्यायन इति भवतीति भावः ॥६।१।४९॥

शप-भरद्वाजादात्रेये ॥६।१।५०॥

शप-भरद्वाज इत्येताभ्यामात्रेयापत्ये वृद्धे आयनञ्प्रत्ययो भवति। शापायनः, भारद्वाजायनः, आत्रेयश्चेत् ।

आत्रेय इति किम्? शापिः । भारद्वाजः, भारद्वाजौ । बिदादौ ॥५०॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—शप० । शपतीति शपो नाम कश्चित् परमप्रकृतिः, भरन्तं वाजयतीति भरद्वाजः प्रसिद्धो मुनिः, तयोः समाहारः शपभरद्वाजं तस्मात् । अत्रेरपत्यं वृद्धम् आत्रेयः, "इतोऽनिञः" [६.१.७२.] इत्येयणू, तस्मिन् इति । तथा च सूत्रं विवृणोति **शप-भरद्वाज इत्येताभ्यामित्यादिना । आत्रेयापत्ये** वृद्धे इति आत्रेयरूपे वृद्धापत्ये इत्यर्थः । अत्रिर्नाम ऋषिः, एतयोः शप-भरद्वाजयोरपि गोत्रपरम्परायां स्वयमपि गोत्रप्रवर्तकत्वेन ख्यात इति सम्भवति, शापायनादीनामात्रेयत्वमपि गोत्रपरम्परायाश्चिरन्तनत्वात् । एवमन्यत्रापि गोत्रसाङ्कर्यं निरसनीयम् । उदाहरति—**शापायन** इति । शपस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थेऽनेनायनञि आदिस्वरवृद्धावर्णलोपे शापायन इति । एवं भरद्वाजस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे **भारद्वजायन** इति ।

व्यावर्त्यं दर्शयितुं पृच्छति—**आत्रेय इति किमिति** । सामान्येन वृद्धापत्येऽयं विधीयतां विशेषनिमित्तोपादानमव्यावर्तकमिति प्रश्नाशयः । प्रत्युदाहरति—**शापिः**

"Aho Shrutgyanam"

भारद्वाज इति । शपस्य वृद्धमपत्यमात्रेयादन्य इत्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञि शापिः । भरद्वाजस्य वृद्धमपत्यमात्रेयादन्य इत्यर्थे बिदादित्वादञि, भारद्वाज इति । बहुवचने रूपान्तरस्य सूचनाय द्विवचनान्तमपि रूपं प्रदर्शितम् भारद्वाजौ इति । बहुवचने तु "यञञोऽस्या०" [६.१.१२६.] इति लुपि भरद्वाजा इत्येव । भारद्वाज इत्यञन्तं रूपं न त्वणन्तमिति सूचयितुमाह—**बिदादौ** इति । भरद्वाजस्य बिदादौ पाठ इति भावः ॥६।१।५०॥

भर्गात् त्रैगर्ते ॥६।१।५१॥

भर्गशब्दात् त्रैगर्तेऽपत्ये वृद्धे आयनञ् प्रत्ययो भवति । भार्गायणस्त्रैगर्तश्चेद् । अन्यो भार्गिः ॥५१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—भर्गात्० । भर्गशब्दोऽनेकार्थः, अत्र गोत्रप्रवर्तक एतन्नामा परमपुरुषः कश्चिद् गृह्यते । ततः त्रैगर्ते वृद्धेऽपत्ये प्रत्ययविधानम् । उदाहरति—**भार्गायण** इति, भर्गस्यापत्यं वृद्धं त्रैगर्त इति विग्रहः । आयनञि सति आदिस्वरवृद्धावर्णलोपे भार्गायण इति । अन्यः त्रैगर्तभिन्नो भर्गस्य वृद्धापत्यं **भार्गिः** इत्येव, तत्र "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञेव भवतीति भावः ॥६।१।५१॥

आत्रेयाद् भारद्वाजे ॥६।१।५२॥

आत्रेयशब्दाद् वृद्धप्रत्ययान्ताद् भारद्वाजे यून्यपत्ये आयनञ्प्रत्ययो भवति । आत्रेयायणो भारद्वाजो युवा । आत्रेयोऽन्यः । 'ञिदार्षात्०' [६.१.१४०.] इतीञो लुप् ॥५२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—आत्रेयात्० । अत्रेरपत्यं वृद्धमित्यर्थे "इतोऽनिञः" [६.१.७२] इत्येयणि आत्रेय इति । अयं च स्वत एव वृद्धापत्यप्रत्ययान्त इत्यस्माद् वृद्धेऽपत्ये पुनः प्रत्ययोत्पत्तिर्न सम्भाव्यत इत्यतोऽर्थादेव लब्धमर्थमाह—**यून्यपत्ये** इति । तथा चात्रेयस्य युवापत्यमित्यर्थे आयनञि **आत्रेयायण** इति भारद्वाज एव । अन्यस्तु युवापत्यमपि आत्रेय इत्येवेत्याह—**आत्रेयोऽन्य** इति । युवापत्यार्थे "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञः "ञिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुप् भवति । यद्यपि ञिदार्षादिति सूत्रे ऋषिवाचकाद् विशिष्यविहित एव प्रत्ययो ग्राह्यः प्रतिपदोक्तत्वात् तथाप्याचार्यव्याख्यानादृषिवाचकाद् विहितः कोऽपि प्रत्यय आर्ष इत्युच्यते इति गम्यते इति न दोषः ॥६।१।५२॥

नडादिभ्य आयनण् ॥६।१।५३॥

नडादिभ्यो ङसन्तेभ्यो वृद्धेऽपत्ये आयनण् प्रत्ययो भवति । नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायनः । चारायणः । वृद्ध इत्येव ? नडस्यापत्यमनन्तरं नाडिः । णकारो वृद्ध्यर्थः ।

नड चर बक मुञ्ज इतिक इतिश उपक लमक सप्तल (सत्तल) सत्वल व्याज (वाज) व्यतिक इत्येके । प्राण नर सायक दाश मित्र दाशमित्र द्वीपा द्वीप पिङ्गर पिङ्गल किङ्कर किङ्कल कातर काथल काश्यप काश्य नाव्य (ताव्य) अज अमुष्य लिगु चित्र अमित्र कुमार लोह स्तम्ब स्तम्भ अग्र शिंशपा तृण शकट मिकट मिमत सुमत जन ऋच् इन्ध ऋगिन्ध मित जनन्धर जलन्धर युगन्धर हंसक दण्डिन हस्तिन पञ्चाल चमसिन् सुकृत्य स्थिरक ब्राह्मण चटक अश्वल खरप बदर शोण दण्डम छाग दुर्ग अलोह आलोह कामुक (कामक) ब्रह्मदत्त उदुम्बर सण लङ्क केकर (ककर) नाव्य आलाह ऋग वृषगण अध्वर बालिश दण्डप, इति नडादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥५३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-नडादिभ्यः० । वृद्धे इति संबध्यते । तथा च सूत्रार्थमाह-**नडादिभ्य** इत्यादिना । उदाहरति—**नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायन** इति आयनणि आदिस्वरवृद्धावर्णलोपे नाडायन इति । एवं चरस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे चारायण इति, अत्र "ऋषवर्णान्नोऽन्त०" [२.३.६३.] इति णत्वं विशेषः । वृद्ध इत्यस्य संबन्ध आवश्यक इत्याह—**वृद्ध इत्येवेति** ।

व्यावर्त्यमाह—**नडस्यापत्यमनन्तरं नाडिरिति** । अत्र "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञेव भवति, नत्वायनण् इति भावः । अप्रयोगिणो णकारस्य फलमाह—**णकारो वृद्ध्यर्थ** इति । अयमाशयः—आयनञि प्रकृते आयनणो विधानस्यैतत् फलं यत् ञित्त्वप्रयुक्तं कार्यं मास्तु, णित्त्वप्रयुक्ता आदिस्वरवृद्धिरेव केवलमस्त्विति ।

गणं पठति—**नड चर** इत्यादिना । लाघवादेकवचनेन निर्देशे कर्तव्ये नडादिभ्य इति बहुवचननिर्देशस्य वैयर्थ्य-

"Aho Shrutgyanam"

माशङ्क्याह–**बहुवचनमाकृतिगणार्थमि**ति। आकृत्यैव गण्यते गणान्तर्गतत्वेन गृह्यते इत्याकृतिगणस्तदर्थमित्यर्थः। आकृतिगणशब्दे भावप्रधानो निर्देशः–आकृतिगणत्वार्थमिति भावः। तेन चान्येऽपि दृष्टायनणन्ताः प्रयोगा उपपत्स्यन्ते इति ॥६।१।५३॥

यञिञः ॥६।१।५४॥

वृद्ध इति यञिञोर्विशेषणम्। वृद्धे विहितौ यौ यञिञौ तदन्ताद् यून्यपत्ये आयनण् प्रत्ययो भवति। 'वृद्धाद् यूनि' [६.१.३०.] इति वचनाद् यूनीति लभ्यते। गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः। वात्सायनः। दाक्षेरपत्यं युवा दाक्षायणः। प्लाक्षायणः। औदुम्बरायणः। तैलखलायनः। वृद्धविहितस्येञो ग्रहणादिह न भवति। उदुम्बराणां राजा औदुम्बरिस्तस्यापत्यमौदुम्बरः, औदुम्बरायणिर्वा। 'अवृद्धाद् दोर्नवा' [६.१.११०] इति पक्षे आयनिञ्। गार्ग्या अपत्यं गार्गेयः। दाक्षेयः, इत्यत्र परत्वाद् 'ङ्याप्प्यूङः' इत्येयण् भवति ॥५४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–यञिञः०। यञ् इञ् इति प्रत्ययौ तयोः समाहारः यञिञ् तस्मात्। अत्र च प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणाद् यञन्तमिञन्तं च प्रकृतिः। तत्र वृद्धं इत्यनुवृत्तं किम्प्रकृतित्वेन विवक्षितयोः यञिञोर्विशेषणम्, उत विधीयमानस्यायनण इति शङ्कायामाह–**वृद्धे इति यञिञोर्विशेषणमि**ति। अपत्यार्थे आद्यादेव परमप्रकृतेः प्रत्ययो भवतीति "आद्यात्" [६.१.२९.] इति नियमेन लब्धम्, इत्यत्र वृद्धापत्ये यञिञौ विहितावेवेति पुनर्वृद्धे प्रत्ययो न स्यादित्यायनणयं विधीयमानः कस्मिन्नर्थे भविष्यतीत्यनियमे आह–**यून्यपत्ये** इति। तत्र प्रमाणमाह–**"वृद्धाद् यूनि" [६.१.३.] इति वचनादि**ति। उक्तसूत्रेण वृद्धप्रत्ययान्ताद् यून्यपत्ये प्रत्ययविधानस्य लब्धत्वादिहायनण् यून्यपत्ये भविष्यतीति भावः। उदाहरति–**गार्ग्यस्यापत्यमि**त्यादिना। गर्गस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि गार्ग्य इति तस्यापत्यं युवेत्यर्थेऽनेनायनणि गार्ग्यायण इति। एवं दक्षस्य वृद्धमपत्यं दाक्षिः "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञि सिद्धम्। ततः दाक्षेरपत्यं युवेत्यर्थे आयनणि इवर्णलोपे **दाक्षायण** इति। **प्लाक्षायण** इति प्लक्षो नाम जनपदस्तद्राजा च तस्यापत्यं प्लाक्षिः, तस्य युवापत्यमित्यर्थे आयनण्। **औदुम्बरायण** इति उदुम्बरस्य राज्ञोऽपत्यमित्यर्थे "साल्वांश–प्रत्यग्रथ०ण [६.१.११७.] इतीञि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे औदुम्बरिरिति, तस्यापत्यं युवेत्यर्थेऽनेनायनणि इकारलोपे औदुम्बरायण इति।

तैलखलायन इति–तिलखलस्य राज्ञो वृद्धमपत्यं तैलखलिः, पूर्ववदिञ्, तस्यापत्यं युवेत्यर्थे आयनण्। वृद्धे इत्यस्य यञिञोर्विशेषणत्वफलमाह–**उदुम्बराणां राजेत्यादिना**। तथा च राजार्थे इञ् इति वृद्धापत्यार्थे इञो विधानाभावाद् आयनण् न भवति, किन्तु "अवृद्धाद् दोर्नवा" [६.१.११०.] इत्यायनिञ् पाक्षिक इति, तदभावे "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यणि **औदुम्बर** इति आयनञि **औदुम्बरायणिरि**त्येव।

ननु गर्गस्य वृद्धमपत्यं स्त्री गार्गी, तस्या युवापत्यमित्यर्थेऽप्यनेनायनणा भवितव्यम्, गार्गीशब्दस्यापि यञन्तत्वानपायादिति चेदत्राह—**परत्वात् "ङ्याप्प्यूङः" [६.१.७०.] इत्येयण्** भवतीति। यथा ह्ययं यञन्तस्तथा ङ्यन्तोऽपि इति ङ्यन्तलक्षणः प्रत्यय एव प्रवर्तते, परत्वात् "स्पर्धे" [७.४.११९.] इति नियमादिति भावः। गर्गस्य वृद्धापत्यं स्त्रीत्यर्थे "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि गार्ग्यशब्दाद् "यञो ङायन् च वा" [२.४.६७.] इति ङ्यां ङायनि च गार्ग्यायणीति। तदभावे केवलं ङ्यां "व्यञ्जनात् तद्धितस्य" [२.४.८८.] इति यलोपे गार्गीति, ततोऽपत्यार्थे "ङ्याप्प्यूङः" [६.१.७०.] इत्येयणि ईवर्णलोपे गार्गेय इति। एवं दक्षस्यापत्यं वृद्धे स्त्रीत्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञन्ताद् "इञ इतः" [२.४.७१.] इति ङ्यां दाक्षीति तस्या युवापत्यमित्यर्थे परत्वात् "ङ्याप्–प्यूङः" [६.१.७०.] इत्येयणि दाक्षेय इति ॥६।१।५४॥

हरितादेरञः ॥६।१।५५॥

बिदाद्यन्तर्गणो हरितादिः। वृद्धे विहितो योऽञ् तदन्तेभ्यो हरितादिभ्यो यून्यपत्ये आयनण् प्रत्ययो भवति। हरितस्यापत्यं युवा हारितायनः। कैन्दसायनः। हरितादेरिति किम्? वैदस्यापत्यं युवा वैदः। अञोऽो लुप्। अञ इति किम्? हरितस्यापत्यं वृद्धं हारितः ॥५५॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—हरितादेः०। हरित आदौ यस्य सोऽयं गणो हरितादिः स चेह न पठ्यते इति, कुत्रासौ पठित इत्याशङ्कामपनुदन्नाह–**'विदाद्यन्त-**

"Aho Shrutgyanam"

र्गणो हरितादिः' इति। "बिदादेर्वृद्धे" [६.१.४१.] इति सूत्रे पठितो बिदादिगणस्तदन्तर्भूत एव हरितशब्दमारभ्य पठितो गणः हरितादिरित्यर्थः। अत्र वृद्धे इति प्रकृतम्, तच्च पूर्वसूत्रवत् प्रकृतिविशेषणस्य अञ एव विशेषणमित्याह—**वृद्धे विहितो योऽञ्** इत्यादिना।

'हरित किन्दास वयस्क अर्कलुश वध्योग विष्णुवृद्ध वृष्णिवृद्ध प्रतिबोध रथीतर रथन्तर गविष्ठिर गविष्ठिल निषाद शबर मठर सुदाकु पृदाकु' इत्येते हरितादयः बिदाद्यन्तर्गणभूता ज्ञेयाः।

उदाहरति—हरितस्यापत्यं युवा **हारितायन** इति। हरितशब्दाद् वृद्धापत्ये बिदादित्वादञ् तदन्ताच्च प्रकृतसूत्रेणायनण्, आदिस्वरवृद्धिरिति साधनिका। किन्दासस्यापत्यं युवेत्यर्थे बिदादित्वादञन्तादनेनायनणि आदिस्वरवृद्धौ **कैन्दासायन** इति। **हरितादेरिति किमिति ?** सामान्यत एवाञन्तादायनण् विधीयतामिति प्रश्नाशयः। प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति—**बिदस्यापत्यं युवा बैद** इति। अत्र वृद्धापत्येऽञ् विहितः, तदन्ताच्च "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञि, "ञिदार्षात्०" [६.१.१४०.] इति लुपि बैद इत्येव भवति, हरितादेरित्यस्याभावे तु बैदायन इति स्यादिति भावः। तर्हि हरितादेरित्येवोच्यताम्—अञ इति त्यज्यतां युवापत्यार्थे वृद्धार्थप्रत्ययान्तादेव त्ययो भविष्यति "वृद्धाद् यूनि" [६.१.६०.] इति नियमादिति अञ इत्यस्याभावेऽपि अञन्तादेव हरितादेर्भविष्यतीति अञ इति व्यर्थमित्याशङ्कते—**अञ इति किम्** इति।

प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति—**हरितस्य वृद्धमपत्यं हारित** इति। अत्र अञ इत्यस्याभावे वृद्धार्थप्रकरणाद् आयनणपि वृद्धार्थे एव भविष्यति, ततश्च परत्वादञं बाधित्वा वृद्धापत्यार्थेऽप्यायनणेव स्यादित्यनिष्मापद्येतेति भावः ॥६।१।५५॥

क्रोष्टृ-शलङ्कोर्लुक् च ॥६।१।५६॥

क्रोष्टृ शलङ्कु इत्येताभ्यां वृद्धेऽपत्ये आयनण्प्रत्ययो भवति, तयोश्चान्तस्य लुग् भवति। क्रोष्टुरपत्यं वृद्धं क्रौष्टायनः। शालङ्कायनः ॥५६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कोष्टृ०। वृद्धे इति प्रकरणप्राप्तम्। तथा क्रोष्टृ—शलङ्कोरित्यैकैव विभक्तिविषयभेदाद् भिद्यत इत्याश्रयणात् प्रत्ययविधाने पञ्चम्यन्तमपि तत् पदं लुक्सम्बन्धानुभवे षष्ठ्यन्ततया विपरिणमते, तथा च सूत्रार्थमाह—'**क्रोष्टृ-शलङ्कु इत्येताभ्यामिति**। लुक् च "षष्ठ्या अन्त्यस्य" [७.४.१०६.] इति परिभाषयाऽन्त्यस्यैव भवतीति तल्लब्धमेवाह—**तयोश्चान्तस्य लुग् भवतीति**। उदाहरति—**क्रोष्टुरपत्यमित्यादि**। 'क्रौष्ट्रायन' इति रकारविशिष्टः पाठ उपलभ्यत्यमानो भ्रान्त एव क्रोष्टुरन्तस्य ऋकारस्य लोपे क्रोष्टायन इत्येव रूपस्यौचित्यात्। शलङ्कोरपत्यं वृद्धं **शालङ्कायन** इत्युभयत्रायनणि आदिस्वरवृद्धावन्तस्य ऋकारस्योकारस्य च लुकि रूपसिद्धिः। पाणिनीये च नडादिगण एव पठितावेतौ, गणसूत्रेण चान्तलुक्कार्यं विहितमिति साम्यमेव ॥६।१।५६॥

दर्भ-कृष्णाग्नि-शर्म-रण-शरद्वच्छुनकादाग्रायण-ब्राह्मण-वार्षगण्य-वसिष्ठ-भार्गव-वात्स्ये ॥६।१।५७॥

दर्भादिभ्य आग्रायणादिषु यथासंख्यं वृद्धेष्वपत्येषु आयनण्प्रत्ययो भवति। दर्भादाग्रायणे, दर्भस्यापत्यमाग्रायणश्चेद् दार्भायणः। दार्भिरन्यः। कृष्णाद् ब्राह्मणे, कार्ष्णायनो ब्राह्मणः। कार्ष्णिरन्यः। अग्निशर्मणो वार्षगण्ये, अग्निशर्मायणो वार्षगण्यः। अग्निशर्मिरन्यः। रणाद् वासिष्ठे, राणायनो वासिष्ठः। राणिरन्यः। शरद्वतो भार्गवे, शारद्वातायनो भार्गवः। शारद्वतोऽन्यः। शुनकाद् वात्स्ये, शौनकायनो वात्स्यः। शौनकोऽन्यः। शरद्वच्छुनकौ बिदादी ॥५७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—दर्भ-कृष्णा०। अत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थौ सूत्रे क्रमेण पठिताविति तयोर्यथासंख्येनैवान्वय इत्याह—**दर्भादिभ्य** इत्यादिना, दर्भ—कृष्ण—अग्निशर्मन्—रण—शरद्वत्—शुनक इत्येते प्रकृतयः, आग्रायण—ब्राह्मण—वार्षगण्य—वासिष्ठ—भार्गव—वात्स्य इत्येतेऽर्थास्तेषां क्रमेणान्वय इति वृत्तौ पृथक् पृथक् निर्दिश्योदाहियन्ते। अग्रशब्दो नडादौ पठित इत्यग्रस्य **वृद्धमपत्यमाग्रायण** इति तस्मिन्नर्थे दर्भशब्दाद् वृद्धेऽपत्ये आयनण् भवतीति प्रत्येकं वाक्यार्थबोधो लक्ष्यसंस्कारकः। दर्भस्य वृद्धमपत्यमाग्रायण इत्यर्थे आयनणि आदिस्वरवृद्धयादौ दार्भायण इति। आग्रायणादन्यत्रार्थे आयनणोऽप्राप्त्या "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञि दार्भिरिति। कृष्णाद् ब्राह्मण इति-कृष्णशब्दो व्यासस्य द्वैपायनस्य वाचकः, यादवेष्ववतीर्णस्य विष्णोश्च। तत्र कृष्णशब्दाद् वृद्धापत्यार्थेन प्रत्ययेन यत्र ब्राह्मणो द्वैपायनापत्यं वाच्यस्तत्रायनण्, यत्र च यादवादिषु कश्चिद् वाच्यस्तत्रैवे

"Aho Shrutgyanam"

भवतीति व्यवस्था, तदनुसारमेवोदाहरति–**काण्वायनो ब्राह्मणः**, कार्ष्णिरन्य इति। वृषगणशब्दो गर्गादिषु पठितः, तस्यापत्यं वृद्धमित्यर्थे वार्षगण्य इति। तस्मिन् वाच्येऽग्नि-शर्मन्शब्दाद् आयनण्, अन्यत्रार्थे "बाह्वादिभ्यः" [६.१.३३.] इत्यनेनेञेव भवतीति तथोदाहरति–**आग्नि-शर्मायणो वार्षगण्यः**, **आग्निशर्मिरन्य** इति। आयनणि, आदिस्वरवृद्धौ "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त-स्वरादिलोपे आग्निशर्मायण इति। इञि सत्यपि आदिस्वर-वृद्धिरन्त्यस्वरादिलोपश्चेति आग्निशर्मिरिति। **रणाद् वासिष्ठे** इति। वसिष्ठस्यापत्यमित्यर्थे "ऋष्यन्धक०" [६.१.६१.] इत्यणि वासिष्ठ इति, तस्मिन् वाच्ये रणशब्दाद् वृद्धापत्येऽनेनायनणि **राणायन** इति वासि-ष्ठादन्यत्रार्थे "अत इञ्" [६.१.३२.] इतीञि आदिस्वरवृद्धावर्णलोपे **राणिरित्येवेत्याह–राणिरन्य** इति। **शरद्वतो भार्गवे** इति। भृगोरपत्यं पुमान् इत्यर्थे ऋषित्वादणि आदिस्वरवृद्धौ, "अस्वयंभुवोऽञ्" [७.४.-७०.] इत्यवादेशे **भार्गव** इति। तस्मिन् वाच्ये शरद्वत् शब्दादायनणि आदिस्वरवृद्धौ–**शारद्वतायन** इति। अन्यत्रार्थे बिदा दित्वादञि शारद्वत इत्येवाह–**शारद्वतोऽन्य** इति। **शुनकाद् वत्स्ये** इति। वत्सस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे गर्गादित्वाद् यञि वात्स्य इति। तस्मिन् वाच्ये आयनणि आदिस्वरवृद्ध्यादौ **शौनकायन** इति। अन्यत्र वाच्ये बिदादित्वादञि शौनक इत्येवाह–**शौनकोऽन्य** इति। शारद्वत-शौनकयोः कः प्रत्यय इति संदेहे निर्णयति शार-द्वच्छुनकौ बिदादी इति ॥६।१।५७॥

जीवन्त-पर्वताद् वा ॥६।१।५८॥

जीवन्त-पर्वताभ्यां वृद्धेऽपत्ये आयनण्-प्रत्ययो वा भवति। जैवन्तायनः, जैवन्तिः। पार्व-तायनः, पार्वतिः। वृद्धे इत्येव ? जैवन्तिः ॥५८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–जीवन्त०। वृद्धे इति संबध्यते। तथा च सूत्रार्थमाह–**जीवन्त-पर्वता-भ्यामित्यादि**। आयनणि सति आदिस्वरवृद्ध्यादौ **जैव-न्तायन** इति जीवन्तस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे। पक्षेऽदन्तत्वा-दिञि **जैवन्तिरिति**। एवं पर्वतस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे **पार्वतायनः, पार्वतिरिति**। वृद्धे इत्यस्य सम्बन्धं द्रढयति–**वृद्ध इत्येवेति**। नन्तरापत्यादौ अत इञेवेत्याह–**जैवन्तिरिति** ॥६।१।५८॥

द्रोणाद् वा ॥६।१।५९॥

योगविभागाद् वृद्ध इति निवृत्तम्। द्रोण-शब्दादपत्यमात्रे आयनणप्रत्ययो वा भवति। द्रौणायनः, द्रौणिः ॥५९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–द्रोणात्०। पूर्व-सूत्र एव द्रोणशब्देऽपि पठिते वैकल्पिकप्रत्ययविधानसम्भवे पृथक् सूत्रारम्भगौरवं किमर्थमित्याशङ्कामपनुदन्नाह–**योग-विभागाद् वृद्ध इति निवृत्तम्** इति। योगविभागेन किमपि पूर्वयोगाद् वैलक्षण्यं लभ्यमिति किमन्यत् तत् स्यात्, विना प्रत्ययार्थवैलक्षण्यात् इति पूर्वं सूत्रं वृद्धापत्ये प्रवर्तते इदं चापत्यसामान्ये इत्येव तदिति भावः। तथा च द्रोणस्यानन्तरे वृद्धे चायं प्रत्ययो लभ्यत इति, तदाह– **द्रोणशब्दादपत्यमात्रे** इति। तेन द्रोणस्यानन्तरमपत्य-मित्यर्थे आयनणि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे द्रोणायनोऽ-श्वत्थामा, अनन्तरापत्यत्वेन द्रोणस्य प्रसिद्धः पुत्रः आयनणोऽभाव पक्षेऽदन्तत्वादिञि **द्रौणिरिति**।

पाणिनीयतन्त्रे तु "द्रोण-पर्वत-जीवन्तादन्यतरस्याम्" [पा० सू० ४.१.१०३.] इत्येकस्मिन्नेव सूत्रे त्रयोऽपि शब्दाः पठ्यन्ते इति वृद्ध एवापत्ये द्रोणशब्दादपि प्रत्यय-विधानं दृश्यते। ततश्च महाभारतप्रसिद्धद्रोणस्यानन्तरापत्य एवाश्वत्थाम्नि 'द्रौणायन'शब्दस्य प्रयोगः कथमित्याशङ्कायां काशिकाकृदाह–"नैवात्र महाभारतद्रोणो गृह्यते, कस्तर्हि ? अनादिः, तत इदं गोत्रे (वृद्धे) प्रत्ययविधानम्। इदानीं श्रुतिसामान्यादध्यारोपेण तथाभिधानं भवति" इति।

अस्यायमाशयः–सूत्रेऽनादिऋषिनाम्नो द्रोणस्य ग्रहणम्, तस्मात् तु वृद्धे एव प्रत्ययो भवति, ततश्च श्रुतिसाम्यात् महाभारतीयद्रोणस्यापि तत्समानशब्दत्वाद् अनादिद्रोणापत्यस्य यो धर्मो वृद्धत्वं भारतीयद्रोणापत्येऽपि तत् समारोप्याश्वत्थाम्नि द्रोणायनशब्दस्य प्रयोगं प्रतिपत्तारः कुर्वन्ति। द्रोणसम्बन्धेन प्रयुक्तं पूर्वशब्दमेव श्रुतिसाम्या-च्चलितबुद्धयः प्रतिपत्तारो व्यवहरन्तीति। स्वमते तु द्रोण-पदेन श्रुतिसाम्यादुभयोरपि द्रोणयोर्ग्रहणात्–**वृद्धे इत्यस्य** निवृत्त्या च पूर्वस्माद् अनादिद्रोणवाचिनो वृद्धापत्ये, महाभारतीयद्रोणाच्चानन्तरापत्ये च प्रत्ययविधानमिति न काऽप्यनुपपत्तिरिति ॥६।१।५९॥

शिवादेरण् ॥६।१।६०॥

शिवादिभ्यो ङसन्तेभ्योऽपत्यमात्रेऽण्-

"Aho Shrutgyanam"

प्रत्ययो भवति। अत इञादेरपवादः। शिवस्यापत्यं शैवः। प्रौष्ठः। प्रौष्ठकः।

शिव प्रौष्ठ प्रौष्ठिक वण्ट जम्ब जम्भ ककुभ कुथार अनभिम्लान ककुस्थ कोहड कहूय रोध पिलधर वतण्ड तृण कर्ण क्षीरहृद जलहृद परिषिक शिलिन्द गोफिल गोहिल कपिलक जटिलक बधिरक मञ्जिरक वृष्णिक खञ्जार खञ्जाल रेख लेख आलेखन वर्तन ऋक्ष वर्तनर्क्ष विकट पिटाक तृक्षाक नभाक ऊर्णनाभ सुपिष्ट पिष्टकर्णक पर्णक मस्तरकर्ण खड्डरक गडेरक यस्क लह्य वृद्ध अयस्थूण भलन्द भलन्दन विरूप विरूपाक्ष भूरि संधि मुनि कुञ्चा कोकिला इला सपत्नी जरत्कारु उत्केया काव्या सुरोहिका पीठीनासा महित्री आर्यश्वेता ऋष्टिषेण गङ्गा पाण्डु विपाश् तक्षन् इति शिवादिः।

अत्राविरूपाक्षादिञोऽपवादः। भूर्यादीनामा आर्यश्वेताया एयणः, ऋष्टिषेणस्य सेनान्तस्य सेनान्तञ्येञोः। बिदादिपाठाद् वृद्धेऽञेव भवति। तदन्ताच्च यूनि 'अत इञ्' [६.१.३१.] तस्य 'ञिदार्षादणिञोः' [६.१.१४०.] इति लुपि आर्ष्टिषेणः पिता, आर्ष्टिषेणः पुत्रः। तथा ऋष्टिषेणस्यापत्यं वृद्धं बहवः बिदाद् यञ्, तस्य 'यञञः०' [६.१.१२६.] इत्यादिना लुपि ऋष्टिषेणाः। पाण्डुपाठः शुभ्रादि येयणा गङ्गापाठस्तिकाद्यायनिञा च समावेशार्थः। तेन पाण्डोर्द्वैरूप्यं, गङ्गायाश्च त्रैरूप्यं सिद्धम्। पाण्डवः। पाण्डवेयः। गाङ्गः। गाङ्गायनिः। गाङ्गेयः। विपाश्पाठः कुञ्जादिलक्षणेन ञायन्येन समावेशार्थः। वैपाशः। वैपाशायन्यः। तक्षनपाठः कुर्वादिञ्येन समावेशार्थः। ताक्ष्णः। ताक्षण्यः ॥६०॥

शः मः न्यासानुसन्धानम्—शिवादेः०। वृद्ध इत्यस्य निवृत्तेः पूर्वमुक्तत्वादाह—अपत्यमात्रे इति। "ञ्सोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यनेनैवापत्यसामान्येऽणो विधानात् शिवादिभ्योऽप्यण् सिद्ध एवेति विशिष्य तेभ्योऽणो विधानं व्यर्थमित्याशङ्क्याह—अत इञादेरपवाद इति। अत्र गणेऽदन्ताः आबन्ता ङ्यन्ताश्च शब्दाः पठ्यन्ते, तेभ्यो विशिष्यविहिताः "अत् इञ्" [६.१.३२.], "ङ्याप्त्यूङः" [६.१.७०.] इत्यादिसूत्रविहिताः प्रत्यया यथायथं प्राप्ता इति तद्बाधनार्थमिह-विशिष्याणो विधानमिति भावः। कः प्रत्ययः, कस्मात् प्राप्त इत्यग्रे स्वयमेव वक्ष्यति। शिवस्यापत्यमित्यर्थे शिवशब्दादणि आदिस्वरवृद्ध्यादौ **शैव** इति। **प्रौष्ठ** इति। प्रगतौ प्रवृद्धौ वौष्ठौ यस्य सोऽयं प्रौष्ठस्तस्यापत्यमपि प्रौष्ठ इत्येव। अणि सति अवर्णलोपे रूपसाम्यात्। एवं प्रवृद्धावोष्ठौ यस्य सोऽयं प्रौष्ठिकः (मत्वर्थीय इकः) तस्यापत्यमपि **प्रौष्ठिक** इति।

गणं पठति-**शिव, प्रौष्ठ** इत्यादिना। प्रत्ययप्राप्तिं तदपवादं च विविच्य ग्राहयति-**अत्राविरूपाक्षादिञोऽपवाद** इति। विरूपाक्षशब्दपर्यन्तं ये पठिताः शब्दास्ते सर्वेऽप्यदन्ता एवेति तेभ्योऽत इञिति इञेव प्राप्त इति तद्बाधनं भवतीत्यर्थः। **भूर्यादीनामिति**-भूरिशब्दादारभ्य मुनिशब्दपर्यन्तेभ्य इदन्तेभ्य "इतोऽनिञः" [६.१.७२.] इत्येयण् प्राप्तः। कुञ्चाशब्दमारभ्य महाश्वेताशब्दपर्यन्तं पठिताः शब्दा आबन्ता इति तेभ्यो "ङ्याप्त्यूङः" [६.१.७०.] इत्येयण् प्राप्तः इति तस्यापि बाधः। ऋषिषेणः सेनान्त इति तस्मात् "सेनान्त-कारु०" [६.१.१०२.] इत्यने नञ्येञौ प्राप्तौ तयोर्बाधनार्थमिह पाठः। एतद्विषये विशेषमाह-**विदादिपाठाद् वृद्धेऽञेव भवतीति**। ऋषिषेणशब्दो विदादावपि पठित इति तत्र पाठस्य सार्थक्याय, तत्र च सूत्रे 'वृद्धे' इत्यस्य संबन्धात् तदर्थे स एव प्रत्ययः स्यादिति ऋषिषेणस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थेऽञि सति आदिस्वरवृद्धौ आर्षिषेण इति। तदन्ताद्-अञन्ताद् युवापत्यार्थविवक्षायाम् अदन्तलक्षणः "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञ्, तस्य च ञितः-अञन्ताद् विहितत्वेन "ञिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुपि आर्षिषेण इत्येवेत्याह-आर्षिषेणः पिता, आर्षिषेणः पुत्र इति।

अञन्तत्वनिबन्धनं बहुत्वे रूपभेदमाह-**ऋषिषेणस्यापत्यं वृद्धं बहव** इति। बहुत्वविशिष्टेऽपत्ये विवक्षिते "यञञः" [६.१.१२६.] इति लुप्। पाण्डुशब्दोऽत्र गणे, शुभ्रादौ गङ्गाशब्दश्च तिकादावपि पठ्यते, अत्र गणे पाठाभावे च ताभ्यामण् दुर्लभ एवेति सर्वेषां समावेशार्थमेवात्र गणे तयोः पाठ इत्याह-**पाण्डुपाठ शुभ्रादेयणेत्यादिना**। तत्फलितमाह-**तेन पाण्डोर्द्वैरूप्यम्** इत्यादि। पाण्डुर्नाम कौरवो राजा महाभारतप्रसिद्धः। ततोऽपत्यार्थेऽनेनाणि आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे **पाण्डव** इति। "शुभ्रादिभ्यः"

"Aho Shrutgyanam"

[६.१.७३.] इत्येयणि आदिस्वरवृद्धयादौ **पाण्डवेय** इति । गङ्गाशब्दश्च शुभ्रादौ तिकादौ च पठ्यतेऽत्र चेति तस्मात् ततः प्रत्ययत्रयं भवतीति गङ्गाया अपत्यमित्यर्थेऽनेनाणि **गाङ्ग** इति । शुभ्रादित्वादेयणि **गाङ्गेय** इति, "तिकादेरायनिञ्" [६.१.१०७.] इत्यायनिञि **गाङ्गायनिरिति** । विपाशूशब्दः कुञ्जादावपि पठ्यते, इतीह गणे पाठाभावे ततोऽण् न स्यादितीह पाठेन कुञ्जादित्यात् प्राप्तेन "कुञ्जादेर्ञायन्यः" [६.१.४७.] इति ञायन्येन सहास्य समावेशो भवतीति अणि सति **वैपाश** इति रूपम्, ञायन्ये तु **वैपाशायन्य** इति । तक्षन्शब्दः कुर्वादाविह च पठ्यते इति तस्मादपि अण् प्रकृतिगणे पाठाभावे दुर्लभः विशेषविहितेन "कुर्वादेर्ण्यः" [६.१.१००.] इत्यनेन बाधादितीह पाठात् प्रत्ययद्वयं भवति। तत्राणि सति आदिस्वरवृद्धौ "षादि-हन्-धृतराशोऽणि" [२.१.११०.] इत्यनोऽस्य लुकि **ताक्षण** इति । ण्ये तु "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलुकि प्राप्तायां "अनोऽश्ये ये"[७.४.५१.]इति निषेधे **ताक्षण्य** इति रूपद्वयम्। यद्यपि तक्षा कारुरपि, तस्माच्च, "सेनान्तकारु०" [६.१.१०२.] इतीञपि प्राप्तस्तथापि तस्य सामान्यविहितत्वेन विशेषविहिताभ्याम् अण्-ण्याभ्यामिञो बाधान्न भवति । स हि अन्यस्मिन् कारुवाचके शब्दे चरितार्थः, तक्षन्शब्दस्योभयत्र गणे पाठस्त्वचरितार्थ इति गणद्वयपाठसामर्थ्यात्तौ भवतो नेञ् । इञ्मात्रबाधेऽणश्चारितार्थ्ये ण्यबाधे तस्य सामर्थ्याभावः इति ॥६.१.६०.॥

ऋषि-वृष्ण्यन्धक-कुरुभ्यः ॥६।१।६१॥

ऋषयो लौकिका वसिष्ठादयः अपत्ययोगात्। वृष्णयः अन्धकाः। कुरवश्च प्रसिद्धा वंशाख्याः क्षत्रियाः। ऋष्यादिवचनेभ्यः शब्देभ्योऽपत्येऽण्प्रत्ययो भवति। इञोऽपवादः। ऋषि-वासिष्ठः। वैश्वामित्रः। गौतमः। वृष्णि-वासुदेवः। आनिरुद्धः। वाञ्छः। प्रातिवाहनः। औदारः। अन्धक-श्वाफल्कः। रान्ध्रसः। चैत्रकः। कुरु-नाकुलः। साहदेवः। दौःशासनः। दौर्योधनः।

अञ्यादिभ्यस्तु परत्वाद् पयण्-ञ्येञौ च भवतः। आत्रेयः। जातसेन्यः। जातसेनिः। औग्रसेन्यः। औग्रसेनिः। वैप्वकूसेन्यः। वैप्वकूसेनिः। भैमसेन्यः। भैमसेनिः।

कथं दौर्योधनिः? क्रियाशब्दत्वाद् दुःखेन युध्यत इति। यौधिष्ठिरिः, आर्जुनिः इत्यत्र तु वाह्वादित्वाद् इञेव ॥६१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-ऋषि०। ऋषीणामलौकिकानामपि परिग्रहविमुखानां पुराणादिषु श्रवणात्, तेभ्यश्चापत्यार्थप्रत्ययस्योत्पत्तेरसंभवात्, इह ऋषिपदेन के ग्राह्या इत्याशङ्क्याया निराकरणार्थमाह-**ऋषयो लौकिका वसिष्ठादय** इति । लोकव्यवहारे साधवो लौकिकाः। यद्यपि ऋषति गच्छति (ज्ञानद्वारा) संसारपारमिति 'ऋषयः संयतात्मानः' इति मनूक्तया च ऋषिपदस्य क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेनानियतत्वं तथापि लोके मन्त्रद्रष्टृत्वेन प्रसिद्धा एवेह ऋषिपदेन गृह्यन्ते इति बोधनायैव **वसिष्ठादय** इति नामनिर्देशः। आदिशब्दः प्रकारे । वसिष्ठसदृशा मन्त्रद्रष्टृत्वेन प्रसिद्धा अन्येऽपि ऋषिपदेन ग्राह्या इत्यर्थः-तत्र हेतुमाह-**अपत्ययोगादि**ति। श्रूयते हि तेषामपत्यार्थेन योगः सम्बन्धः,नान्येषां सनत्कुमारादीनामूर्ध्वरेतसाम्, अतश्च नेह सूत्रे तेषां ग्रहणम्।

अन्धकशब्दस्यैकस्मिन् दैत्यविशेषे ऋषिविशेषे, वंशविशेषे च प्रसिद्धत्वात्, वृष्णिशब्दस्य यदुवंशीयराजविशेषे श्रीकृष्णे मेधादिषु च प्रसिद्धिः, एवं कुरुशब्दस्यापि राजविशेषे, वंशविशेषे, देशविशेषे, तण्डुले, वनस्पतिविशेषे च प्रसिद्धत्वात्, इह किमर्थकानां तेषां ग्रहणमिति जिज्ञासायामाह-**प्रसिद्धाः वंशाख्याः क्षत्रिया** इति। पुराणादिभिर्लोके ख्याताः प्रसिद्धाः, वंशमाख्यायते यैरिति, यद्वा वंशनिमित्ता आख्या येषां ते वंशाख्याः। तथा च सूत्रार्थमाह-**ऋष्यादिवचनेभ्य** इति। ननु "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यण् सिद्ध एवेति किमर्थमेभ्यो विशिष्यविधानमिति चेदत्राह-**इञोऽपवाद** इति। येऽत्रादन्तास्तेभ्योऽणं प्रबाध्य "अत इञ्" [६.१.३१.] इति प्राप्तस्येञो बाधनार्थोऽयमारम्भ इति भावः। वाह्वादिपाठनिमित्तकस्त्रिञ् युधिष्ठिरादिभ्यः स्यादेवेत्यग्रे वक्ष्यते। अन्येभ्यः कतिपयेभ्यो विशिष्यविहितास्ते ते प्रत्ययाः स्युरेवेति यथायथमग्रे स्फोरयिष्यति । स्यादेतत्-शब्दा अनादय इति प्रायः सर्वेषामपि शाब्दिकानां मतम्, ततश्चानादीनामन्धकादिशब्दानां कथं तत्तन्नामकवंशरूपार्थाश्रयणेन प्रवृत्तिर्युज्यते तेषामर्वाक् कालिकत्वादिति चेदुच्यते-अनादय एवेमे शब्दाः कथमपि—*काकतालीय*न्यायेन-अबुद्धिपूर्वकमितियावत्-कुर्वादिवंशेषु प्रसिद्धाः, ततश्च तत्तद्वंशीयत्वेन ख्यातेषु नकुल-सहदेवादिष्वपि समुच्चिताः। तानेव लोकप्रसिद्धाना-

"Aho Shrutgyanam"

दायाचार्यैः स्व-स्वशासनान्युपनिबद्धानीति केचित् । परे तु अन्धक-कुरु-वृष्णिवंशा अपि अनादय एव, पुनः पुनस्तेषां यथासमयं लोकेषु प्रसिद्धिर्भवतीति युज्यत एवानादिष्वर्थेष्वनादीनां तेषां शब्दानां प्रयोग इति । अनादौ हि काले कतिवारमिमे वंशा उद्भूता नष्टाश्चेति गणयितुं कः पारयेतेति तत्त्वम् । ततश्चानादिकालादाया एव प्रयोगा व्याकरणेनानुशिष्यन्ते इति पर्यवसितम् ।

क्रमश उदाहरति—**ऋषि, वासिष्ठ** इति । वसिष्ठ-विश्वामित्र-गौतमा ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः । तत्र वसिष्ठस्यापत्यमित्यर्थेऽनेनाणि आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **वासिष्ठ** इति । विश्वामित्रस्यापत्यं वैश्वामित्र इति । गौतमस्यापत्यं **गौतम** इति । 'वृष्णि' इति प्रकृत्य तद्वंश्यानुदाहरति—**वासुदेव** इत्यादिना । वसुदेव-अनिरुद्ध-वज्र-प्रतिवाहन-उदारा वृष्णिवंशीयाः । तत्र वसुदेवस्यापत्यमित्यर्थेऽणि आदिस्वरवृद्ध्यादौ **वासुदेवः** श्रीकृष्णो बलरामश्च । **आनिरुद्धः** श्रीकृष्णस्य पौत्रः प्रद्युम्नस्य पुत्रः, तस्यापत्यम् आनिरुद्धः । वज्रस्यापत्यं **वाज्र** इति । प्रतिवाहनस्यापत्यं **प्रातिवाहन** इति, उदारस्यापत्यम् **औदार** इति । अन्धकेति प्रकृत्यान्धकवंशीयानुदाहरति-**शाफल्क** इत्यादिना । श्वफल्क-रन्ध्रस-चित्रस-चित्रका अन्धकवंश्याः । तेषामपत्याः-**श्वाफल्कः, रान्ध्रसः, चैत्रक** इति ।

कुरु इति प्रकृत्य कुरुवंशीयानुदाहरति-**नाकुलः, साहदेव** इत्यादि । नकुलादयः कुरुवंशीयाः । नकुलो युधिष्ठिरानुजो वैमात्रेयः, तस्यापत्यं नाकुल इति सहदेवोऽपि पाण्डव एव, तस्यापत्यं साहदेवः । दुःशासनो दुर्योधस्यानुजस्तस्यापत्यं दौःशासन इति । दुर्योधनो धार्तराष्ट्रेषु ज्येष्ठः, तस्यापत्यं **दौर्योधन** इति ।

अथापवादविषयानाह—**अञ्यादिभ्यस्तु परत्वादि**-त्यादिना । अनेन सूत्रेण सामान्यत ऋषिवाचकाद् वृष्ण्यादिवंशीयेभ्यश्च प्रत्यया विधीयते । तत्र ये ऋषिवाचका वृष्ण्यादिवंशीयाश्चान्यत्रापि प्रतिपदोक्ततया गुणद्वारा वा सूत्रे गृहीतास्तेभ्यस्त एव प्रत्यया भविष्यन्ति । अस्य तदन्यत्र चारितार्थ्येन बाधकत्वबीजाभावात् । ततश्चात्रिशब्दऋषिवाचकोऽपि "इतोऽनित्रः" [६.१.७२.] इति सूत्रेऽपि इदन्तत्वरूपगुणेन गृहीत इति तस्मात् तत्सूत्रविहित एयणेव भवतीति, अत्रेरपत्यमित्यर्थे एयणि आदिस्वरवृद्धौ इवर्णलोपे **आत्रेय** इत्येव भवति, "स्पर्धे" [७.४.११९.] इति परिभाषाप्रामाण्यादिति भावः ।

सेनान्तेभ्यो वृष्णिभ्यः, कुरुभ्यश्च "सेनान्त-कारु०" [६.१.१०२.] इति विहितौ ञ्येञौ परत्वाद् भवतः । जातसेन-उग्रसेन-विष्वक्सेना वृष्णयः, भीमसेनः कुरुवंशीयः । जातसेनस्यापत्यमित्यर्थे ञ्ये सति आदिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **जातसेन्य** इति । इञि सति **जातसेनिरि**ति । एवमुग्रसेनस्यापत्यमित्यर्थे ञ्ये **औग्रसेन्यः**, इञि **औग्रसेनिरि**ति । विष्वक्सेनस्यापत्यमुक्तरीत्या **वैष्वक्सेन्यः**, **वैष्वक्सेनिरि**ति । भीमसेनस्यापत्यं **भैमसेनिरि**ति । दुर्योधनस्यापत्यं **दौर्योधनिरि**त्यपि महाभारतादौ प्रयोगो दृश्यते, दुर्योधनशब्दस्य च बाह्वादिषु क्वचिदपि पाठो न दृश्यते इति विशिष्य कुरुशब्दोक्तिसामर्थ्यादनेन सूत्रेणाणेव तत्र स्यात्, इञन्तः प्रयोगः कथं श्रूयत इत्याशङ्कते—**कथं दौर्योधनिरिति** । उत्तरयति—**क्रियाशब्दत्वादिति** । नायं कुरुवंशीय—धृतराष्ट्रापत्यत्वेन प्रसिद्धदुर्योधननामपरो दुर्योधनशब्दः, अपि तु दुःखेन युध्यते इत्यर्थे अनप्रत्ययान्तो यौगिको दुर्योधनशब्दः । स च कौरवे प्रवृत्तोऽपि न तद्वंश्यत्वेन तं बोधयति, अपि तु तादृशक्रियानिमित्तत्वेनेति तत्रास्य सूत्रस्याप्रवृत्त्या "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञेव भविष्यतीति भावः । एवं युधिष्ठिरार्जुनावपि कौरवौ किन्तु ताभ्यामपि अपत्येऽर्थे इञेव दृश्यते, नाण् इति शङ्कायामाह—**यौधिष्ठिरिरार्जुनिरित्यत्र तु बाह्वादित्वादिञेवेति** । अनयोः कौरवत्वेऽपि बाह्वादिगणे पाठस्य बलवत्त्वात् तन्निबन्धन इञेव ताभ्यां भवतीति भावः ॥६।१।६१॥

कन्या-त्रिवेण्याः कनीन-त्रिवणं च ॥६।१।६२॥

कन्याशब्दात् त्रिवेणी शब्दाच्चापत्येऽण् प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे कनीन त्रिवण इत्येतौ च यथासंख्यमादेशौ भवतः । कन्याया अपत्यं कानीनो व्यासः । कानीनः कर्णः । त्रिवेण्या अपत्यं त्रैवणः । एयणोऽपवादः ॥६२॥

शा० म० न्यासानुमन्धानम्—कन्या० । कन्या त्रिवेणी चानयोः समाहारः कन्यात्रिवेणी सौत्रत्वात् क्लीबत्वाभावः, समाहारे सत्यपि न क्लीबत्वमपि तु परवल्लिङ्गतैव । अत्र च पञ्चमी-षष्ठ्योस्तन्त्रेण निर्देशः । तथा च प्रत्ययविधानमादेशविधानं च द्वयमपि सम्भवति । तथा च प्रत्ययविधिकाले कन्यात्रिवेण्या इति पञ्चम्यन्तम्, आदेशविधानकाले च षष्ठ्यन्तमिति विज्ञेयम् । तथा च सूत्रार्थमाह—कन्याशब्दात् त्रिवेणीशब्दादणप्राप्त इति विधीयते । त्रिवेणीशब्दश्च नदीनामवाचक इति तस्मात्

"Aho Shrutgyanam"

"अदोर्मानुषी-नदी नाम्नः" [६.१.६७] इत्यण् सिद्धोऽपि आदेशविधानसंनियोगार्थं सोऽपीह विधीयते। कन्यायाः-अनूढाया अपत्यमित्यर्थे कन्याशब्दादणि तस्य (कन्याशब्दस्य) कनीनादेशे चादिस्वरवृद्ध्यादौ कानीन इति रूपम्।

शब्दार्थं परिचाययति—**व्यास** इति। सत्यवत्याः कन्याभाव एव पराशरादुत्पत्तिस्तस्य। मुनेस्तपःप्रभावादेव च तस्याः कन्यात्वमक्षतमिति पौराणिकी प्रसिद्धिः। एवं कानीन **कर्ण** इत्यपि। कर्णस्यापि कुन्त्याः कन्याभाव एव सूर्यप्रभावादुत्पत्तिस्तद्वरादेव च कन्यात्वाक्षतिरित्यपि पौराणिकी प्रसिद्धिः। त्रिवेण्या अपत्यमिति। त्रिवेणीति नदीत्रयस्य मिलितस्य नाम—गङ्गा-यमुना-सरस्वत्यो मिलिताः त्रिवेणीशब्देन व्यवह्रियन्ते। अत्र पक्षे त्रिवेणीशब्दो नदीनामेति "अदोर्मानुषी-नदीनाम्नः" [६.१.६७.] इत्यण् सिद्धः, यदि त्रिवेणीति-तिस्रो वेण्यो यस्या इति योगार्थानुसारं तादृशगुणविशिष्टायाः कस्याश्चन नाम तदापि मानुषीनामत्वेनानेनैवाण् सिद्ध एव तथापि आदेशस्य विधानार्थं प्रकृतसूत्रे पाठ आवश्यक इति तत्संनियोगेन प्रत्ययोऽप्यनेनैव प्रकृतसूत्रेण विहितः। तथा च त्रिवेणीशब्दादणि त्रिवेणादेशे च आदिस्वरवृद्ध्यादौ त्रैवण इति रूपम्। अणोऽपत्यार्थे "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८] सामान्यसूत्रेणैव सिद्ध इति किमर्थमणविधानमित्याशङ्कायामाह **प्रयणोऽपवाद** इति। कन्याशब्दविषय एवैतत्। तस्माद्धि "द्विस्वरादनद्याः" [१.१.७१.] इत्येयण् प्राप्त इति तद्बाधनार्थमणविधानमिति भावः। त्रिवेणीशब्दविषयस्तूक्त एव विशेषः ॥६।१।६२॥

शुङ्गाभ्यां भारद्वाजे ॥६।१।६३॥

शुङ्गशब्दात् पुंलिङ्गात् स्त्रीलिङ्गाच्च भारद्वाजेऽपत्येऽण्प्रत्ययो भवति। शुङ्गस्य शुङ्गाया वा अपत्यं शौङ्गो भारद्वाजः। शौङ्गिः। शौङ्गेयश्चान्यः। * नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्* इति सिद्धे परत्वात् 'द्विस्वरादनद्याः' [६.१.७१.] इत्येयण् प्राप्नोति, तद्बाधनार्थं द्विवचनेन स्त्रीलिङ्गः शुङ्गाशब्द उपादीयते ॥६३॥

शं० मं० न्यासानुसन्धानम्—शुङ्गाभ्यामं०। अत्र शुङ्गश्च शुङ्गा चेत्यर्थे "पुरुषः स्त्रिया" [३.१.१२६.] इति पुंलिङ्गस्य शुङ्गशब्दस्य शेषे स्त्रियाः शुङ्गाया लोपे* यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी* इति न्यायात् शुङ्गशब्दस्यैवोभयोपस्थापकत्वेन द्विवचनेन निर्देशः शुङ्गाभ्यामिति। तदनुरूपं सूत्रार्थमाह—**शुङ्गशब्दात् पुंलिङ्गात् स्त्रीलिङ्गाच्चेति**। उदाहरति **शुङ्गस्य शुङ्गाया वाऽपत्यं शौङ्गो भारद्वाज** इति। भरद्वाजनामा वंशवर्त्तको मुनिः, तद्गोत्रीयः कश्चित् शुङ्गस्य शुङ्गाया वा अपत्यं चेत् तर्हि तदर्थेऽनेन सूत्रेणाण्, आदिस्वरवृद्ध्यादौ रूपसिद्धिः, व्यावर्त्यमाह—**शौङ्गिः. शौङ्गेयश्चान्य** इति। भारद्वाजादन्यश्चेत् शुङ्गस्यापत्यं तर्हि तदर्थे "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यणं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् परत्वाद् वा "अत इञ्" [६.१.३१.] इति इञि सति आदिस्वरवृद्ध्यादौ शौङ्गिरिति। शुङ्गाया अपत्यमित्यर्थे च "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयणि शौङ्गेय इत्येव भवति, न तु शौङ्ग इति।

अत्र द्विवचननिर्देशेन स्त्रीलिङ्गशुङ्गाशब्दग्रहणरूपं यत्नं कथाक्षयति—नामग्रहणे इत्यादि। *** नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्*** इति न्यायः। नामसामान्यग्रहणे नामत्वात्मकसामान्यधर्मप्रकारकोपस्थितिजनकशब्दोच्चारणे, नामविशेषग्रहणे नामत्वव्याप्यधर्मविशिष्टशब्दोच्चारणे वा लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् इति। अत्र लिङ्गपदस्य शब्दार्थयोस्तादात्म्याद् लिङ्गबोधक आबादिप्रत्ययपरत्वम्, तथा च नामसामान्यग्रहणे नामविशेषग्रहणे च लिङ्गबोधकप्रत्ययसहितस्यापि तन्नाम्नो ग्रहणं भवतीति न्यायार्थः। अर्थात् लिङ्गबोधकप्रत्ययरहिते दृष्टानां नामत्वतद्व्याप्यधर्मनिमित्तकार्याणां लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टेऽप्यतिदेशो भवति। शब्दभदार्थभेदाच्चाप्तस्य कार्यस्य प्रापणार्थोऽयं न्यायः। नामसामान्यग्रहणं यथा, "नाम नाम्नैकार्थे०" [३.१.१८.] इत्यादौ। ते न तदधिकारस्थाः समासाः स्त्रीबोधक प्रत्ययविशिष्टानामपि भवन्ति। नामविशेषग्रहणं च "अतत्कृकमि-कंस-कुम्भ०" [२.३.५.] इति सूत्रे कुम्भरूपनामविशेषग्रहणे स्त्रीप्रत्ययविशिष्टस्य कुम्भीत्यस्यापि ग्रहणं प्रकृतन्यायेन सिद्धम्, तेन 'अयस्कुम्भी' इत्यत्रापि सत्त्वं सिद्धयति। प्रकृते च शुङ्गशब्दग्रहणेनैव शुङ्गाशब्दग्रहणे प्रकृतन्यायेन सिद्धे किमर्थं तत्संग्रहाय द्विवचननिर्देश इति प्रष्टुराशयः।

उत्तरयति—**परत्वाद् "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१]** इत्यादिना। केवलं पुंलिङ्गस्येह ग्रहणे शुङ्गस्यापत्यमिति विग्रहेऽस्य सूत्रस्याणो विधानेन चरितार्थतया सामर्थ्याभावात् शुङ्गाया अपत्यमिति स्त्रीलिङ्गेन विग्रहे नामग्रहणन्यायबलात् प्रवृत्तौ "स्पर्धे" [७.४.११९.] इति परिभाषा-

"Aho Shrutgyanam"

सूत्रसहकारेण परत्वात् "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयणेव प्रवर्तेत, स चात्रार्थे नेष्ट इति तद्व्यावृत्त्यर्थमिह द्विवचनेन स्त्रीलिङ्गशुङ्गाशब्दस्यापि संग्रह आवश्यकः । द्विवचननिर्देशे कृते चोभयत्र हेतच्छात्रीयोद्देश्यतायाः सत्त्वादेकत्रांशेऽचारितार्थ्ये सति बाधकत्वबीजसत्त्वादपवादत्वमस्य सिद्धयतीति "द्विस्वरादनद्याः" [६ १.७१.] इति सूत्रं प्रबाध्येदमेव प्रवर्तते । तन्त्रान्तरे शुङ्गाशब्दस्य पाठाभावेऽपि व्याख्यानादिस्तमर्थं साधयन्तीति तत्तदाकरग्रन्थेषु प्रपञ्चितम् ॥६।१।६३॥

विकर्ण-च्छगलाद् वात्स्याग्नेये ॥६।१।६४॥

विकर्ण-छगल इत्येताभ्यां यथासंख्यं वात्स्ये आग्नेये चापत्येऽण्प्रत्ययो भवति । वैकर्णो वात्स्यः । वैकर्णिरन्यः । छागल आग्नेयः । छागलिरन्यः ॥६४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—विकर्ण० । विकर्णछगलावृषी ततो ऋषिलक्षणेऽपि सिद्धेऽपि वात्स्ये आग्नेये च यथासंख्यमभिधेये एवाण् नान्यस्मिन्नर्थे इति नियमार्थत्वमस्य सूत्रस्य अन्यत्रार्थे च नियमबलादणोऽप्रवृत्तावदन्तत्वलक्षण इञेवेत्याह—**वैकर्णिरन्य** इति । वत्सस्य वृद्धमपत्यं वात्स्य इति, अग्नेर्वृद्धमपत्यमाग्नेय इति, तयोरेवाभिधेययोरण् नान्यत्रेति नियमशरीरेण लक्षणान्तरप्राप्तस्यापि तस्य व्यावृत्तिसंभवादिति भावः ॥६।१।६४॥

णश्च विश्रवसो विश्लुक् च वा ॥६।१।६५॥

विश्रवसोऽपत्येऽण्प्रत्ययस्तत्संनियोगे णकारश्चान्तादेशो भवति, णसंनियोगे विश्शब्दलोपश्चास्य वा । विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणः । विश्लुकि तु रावणः । अण्सिद्ध आदेशार्थं वचनम् । एवमुत्तरत्र ॥६५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—णश्च विश्र० । विश्रवा नाम ऋषिस्तस्य पुत्रो वैश्रवणः (कुबेरः), रावणः (दशाननः) च, ततश्चात्र विश्रवस्शब्दादेवापत्यार्थेऽण्संनियोगेन पाक्षिकलोपेन णकारान्तादेशविधानेन च रूपे साधनीये इति तदनुसारमेव सूत्रमिदम् । तत्राणः प्रकृतत्वेन णाऽणोऽश्च प्रयोगे रूपभेदाभावात् 'णश्च' इति न प्रत्ययोऽपि त्वादेश एवेति लभ्यते तदाह—**विश्रवसोऽपत्येऽण् प्रत्यय** इत्यादिना । उदाहरति-विश्रवसोऽपत्यमित्यादि विगृह्य । विश्रवस्शब्दादपि सकारस्य णकारादेशे आदिस्वरवृद्धौ **वैश्रवण** इति । पक्षे 'विश्र्' भागस्य लोपे आदिस्वरवृद्धौ सकारस्य णकारादेशे **रावण** इति । उभावेतौ विश्रवसोऽपत्ये, कुबेरे दशानने च व्यवस्थितौ । 40

वृत्तौ 'विश्रवसोऽपत्येऽण्' इत्युक्ततयाऽणः उत्सर्गतः प्राप्तत्वेन विधानवैयर्थ्यशङ्कामपाकुर्वन्नाह—**अण्सिद्ध एवादेशार्थं वचनमिति** । "इञोऽपत्ये" [६ १.२८.] इत्यौत्सर्गिकस्याणो बाधकाबाधित्वेनाप्रतिहततया तद्विधाने न सूत्रतात्पर्यमपित्वादेशविधानमात्र इति भावः । यद्यपि णान्तादेशः पाक्षिको विश्शब्दलोपश्च विधेय इति नादेशमात्रस्य विधेयत्वं तथाऽपि लोपस्य स्थानिस्वरूपापहारकत्वेनादेशरूपत्वमेवेति बहुशो महाभाष्यादिषु सिद्धान्ततत्वेनादोष इत्याशयः । प्रकृतार्थमुत्तरत्राप्यतिदिशति—**एवमुत्तरत्रेति** उत्तरसूत्रेणापि प्रत्ययस्य न विधानमपि त्वादेशमात्रस्यैवेति विशेयमिति भावः ॥६।१।६५॥

संख्यासंभद्रान्मातुर्मातुर् च ॥६।१।६६॥

संख्यावाचिनः सम्-भद्र इत्येताभ्यां च परो यो मातृशब्दस्तदन्तादपत्येऽण्प्रत्ययो भवति । मातुश्च मातुर इत्यादेशः । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । शतस्य माता शतमाता, तस्यापत्यं शातमातुरेयः । सांगता माता सांमाता, तस्या अपत्यं सांप्रातुरः । भद्राया भद्रस्य वा माता भद्रमाता, तस्या अपत्यं भाद्रमातुरः । 'सम्बन्धिनां सम्बन्धे' [७.४.१२१.] इति वचनाद् धान्यमातुर्न भवति । तेन द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमात्रः । अत्रादेशो न भवति । संख्या-संभद्रादिति किम ? सौमात्रः । शुभ्रादिपाठाद् दैमातेयः ॥६६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—संख्या० । संख्याशब्दोऽत्र लोकप्रसिद्धसंख्यावाचकपरः, न तु शब्दस्वरूपपरो नवाऽऽतिदेशिकसंख्यापरः, तदाह—**संख्यावाचिन** इति । संख्या-संभद्रादिति च समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी, तथा च संख्यापूर्वकात् संपूर्वकात् भद्रपूर्वकाच्च मातृशब्दादित्यर्थो लभ्यते । तमेवार्थमक्षरानुगुण्येनाह—**इत्येताभ्यां च परो यो मातृशब्द** इति । शेषं स्पष्टम् ।

उदाहरति—**द्वयोर्मात्रोरपत्यमिति** एकः कश्चिन्मातृद्वयकुक्षिप्रसूतो न संभवति इति द्वैमातुरादयः प्रयोगा न

"Aho Shrutgyanam"

प्रसवमात्रसंबन्धनिबन्धना अपितु यथाकथञ्चित् तच्छरीरजनकत्वमूलका एवेति बोध्यम् । तथा चैकया प्रसूतोऽन्यया च परिणीयितोऽपि **द्वैमातुरो** भवति । किञ्च, द्वैमातुरो जरासन्धनामा राजा आख्यायते । स च स्वमातृकुक्षेर्भागद्वयरूपेण निःसृतो जरया (जरानाम्न्या स्त्रिया) च योजित इति मातृद्वयसम्बन्धात् तदुत्पत्तिः । एवं **षाण्मातुरः** इत्यत्रापि विज्ञेयम् । अयं च शब्दः शिवापत्ये कार्तिकेये प्रयुज्यते, तस्यापि पौराणिककथया मातृषट्कसंबन्धस्य प्रसिद्धत्वात् । शतस्य माता । शतसंख्याकपुत्रजननीत्यर्थः । संगता माता, पित्रा सहेति शेषः । तथा च यथाकथञ्चित् स्वजनक (स्वं प्रत्ययार्थः) संगताया मातुः प्रसूत इति शब्दार्थः ।

भद्राया भद्रस्य वा माता । अत्र भद्राया मातुरपत्यमित्येको विग्रहः, भद्रस्य माता भद्रमाता तस्या अपत्यमित्यपरो विग्रहो बोध्यः । अन्यथा भद्राया माता इति विग्रहे भद्रामातेति स्यात्, तस्या अपत्यमित्यर्थे तु भाद्रमातुर इति प्रयोगः स्यात् । संज्ञात्वमाश्रित्य पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वकल्पनं वा कार्यम् । सर्वाण्येतान्युदाहरणानि योनिसम्बन्धनिमित्तकमातृशब्दमाश्रित्यैव सङ्गतानि । अस्ति चान्योऽपि मातृशब्दः परिच्छेतृवाची । तमाश्रित्य प्रयोगेऽप्ययं प्रत्ययः स्यादुत नेति विचारे संशये वा सति निर्णयमाह—**"संबन्धिनां संबन्धे"[७.४.१२१.] इति वचनादि**त्यादिना । संबन्धिशब्दमुच्चार्य विहितस्य कार्यस्य संबन्धे सत्येव विधानमिति प्रकृतपरिभाषासूत्राशयः । ततश्च जन्य-जनकभावसंबन्धनिबन्धनो मातृशब्दः संबन्धिशब्दत्वेन प्रसिद्धः, इति तमुच्चार्यविहितमिदं कार्यं जन्य-जनकभावसंबन्धे सत्येव स्यान्न तु, परिच्छेतृत्वेन प्रसिद्धस्य धान्यादेः मातुः, तस्य तादृशसंबन्धानिरूपकत्वात् । तथा च धान्यादिपरिच्छेतृभूतान्मातृशब्दादयं प्रत्ययः । तत्सन्नियोगविशिष्टो मातुरादेशश्च न स्यादिति भावः, तत्फलमाह—**द्व्योर्मात्रोरपत्यं द्वैमात्र** इति । द्वयोः धान्यादिपरिच्छेत्रोरपत्यमित्यर्थे औत्सर्गिकेऽपि आदिस्वरवृद्धौ ऋकारस्य रेफादेशे **द्वैमात्र इत्येव** रूपमिति भावः । ननु मातृशब्दस्य नाम्यन्तत्वात् "नामिनोऽकलिहलेः" [४.३.५१.] इति ऋकारस्य वृद्धिः कुतो नेति चेन्न, * तक्रकौण्डिन्य * न्यायेनादिवृद्धेरन्त्योपान्त्यवृद्धिबाधकत्वस्वीकारात् । अयमाशयः 'सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय' इति वाक्ये ब्राह्मणत्वेन प्राप्तमपि कौण्डिन्योद्देश्यकदधिदानं विशिष्यविहितेन तक्रदानेन बाध्यते। तथा "वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञिति तद्धिते" [७.४.१.] इत्यनेन सामान्यतः प्राप्तयोराख्यात-कृत्प्रकरणस्थप्रत्ययविषये सावकाशयोरन्त्योपान्त्यवृद्धयोः तद्धिते ञ्णितिप्रत्यये बाधो भवतीति द्वैमात्र इत्यादिप्रयोगे न नाम्यन्तत्वनिबन्धना वृद्धिरिति ।

पाणिनीये तु तन्त्रे अनुशतिकादिगणे पुष्करसच्छब्दपाठेनाप्ययमर्थः समर्थितः । तथाहि तत्र पाठस्यायमर्थो यदुत्तरपदस्याद्ययोर्वृद्धिः पुष्करसच्छब्दस्यापि स्यादिति, सा च "ञ्णिति" [४.३.५०.] इत्युपान्त्यवृद्धयैव सिद्धेत्यनर्थकस्तत्र गणे पुष्करसच्छब्दपाठ इति स स्वचारितार्थ्याय आदिवृद्धिरन्त्योपान्त्यवृद्धी बाधते इति कल्प्यते । तत्र च *तक्रकौण्डिन्य*न्यायोऽप्यनुकूल इत्यन्यदेतत् । न चोपान्त्यवृद्धेर्बाधककल्पनयैव तस्य (पुष्करसच्छब्दपाठस्य) चारितार्थ्यसम्भवे कथमन्त्यवृद्धिबाधः कल्पनीय इति वाच्यम्, *असति बाधके प्रमाणानां सामान्ये पर्यवसाद इति* इतिन्यायेन सामान्यतः स्वविषये प्राप्ताया वृद्धेर्बाधस्य कल्पयितुं युक्तत्वात् । तथा च प्रकृत(द्वैमात्र)प्रयोगेऽपि न नाम्यन्तलक्षणा वृद्धिः । एतच्च ज्ञापनं स्वीयतन्त्रेऽपि कल्पयितुं शक्यत एव, अत्राप्यनुशतिकादिगणे पुष्करसच्छब्दपाठस्य समुपलभ्यमानत्वात् । तथापि तक्रकौण्डिन्यन्यायेन समाधानसम्भवे ज्ञापकाश्रयणं न कृतमिति केचित् ।

वस्तुतस्तु आदिवृद्धेरन्त्योपान्त्यवृद्धिभ्यामविरोध इति न तक्रकौण्डिन्यन्यायस्य विषय इति ज्ञापकत्वाश्रयणमावश्यकमेवेति परे प्राहुरलमनयोः सारासारविवेकेनेति विरम्यते ।

पदकृत्यमाह—**संख्या-संभद्रादिति किमिति** ? प्राय एतत्त्रितयपूर्वकस्यैव मातृशब्दस्य (मातृशब्दान्तस्य शब्दस्य)अपत्यार्थेन योग इति स्वाभिमानेन प्रष्टुः प्रश्नः। नायं नियमो यदेतत्त्रितयपूर्वकादेव मातृशब्दादपत्ये प्रत्ययो भवति, अन्यत्रापि संभवादित्याशयेनोत्तरयति—**सौमात्र** इति, शोभना माता सुमाता तस्या अपत्यमित्यर्थेऽपि आदिस्वरवृद्धौ ऋकारस्य रेफादेशे (पूर्ववदन्त्यवृद्धिबाधे) सौमात्र इति रूपं भवति, अत्रापि मातुरादेशो मा भूदिति संख्यासं-भद्रादित्यावश्यकमिति भावः । मातृशब्दादेयणो विधानस्वाद्दृष्टत्वाद् विमातुरपत्यं 'वैमात्रेय' इति प्रयोगः कथमुपपद्यत इति शङ्कां मनसि निधायाह—शुभ्रादित्वाद् 'वैमात्रेयः' इति विमातृशब्दस्य शुभ्रादिगणे पाठात् तन्निबन्धन एव ततः 'एयण्' इति भावः ॥६।१।६६॥

"Aho Shrutgyanam"

अदोनदी-मानुषीनाम्नः ॥६।१।६७॥

अदुसंज्ञकान्नदीनाम्नो मानुषीनाम्नश्चापत्येऽण्प्रत्ययो भवति। एयणोऽपवादः। यामुनः प्रणेतः। ऐरावतः उध्यः। वैतस्तः पलाश(ल)शिराः। नार्मदो नीलः।

मानुषी, दैवदत्तः। सौदर्शनः। सौतारः। स्वायंप्रभः। चैन्तितः। शैक्षितः। अदोरिति किम् ? चान्द्रभागेयः। वासवदत्तेयः नदीमानुषीग्रहणं किम् ? सुपर्ण्याः सुपर्णाया वाऽपत्यं सौपर्णेयः। वैनतेयः। देव्यावेते इत्येके। पक्षिण्यावित्यन्ये। नामग्रहणं किम् ? शौभनेयः। शोभनाशब्दो नद्यां मानुष्यां च वर्तते न तु नामधेयत्वेन ॥६७॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—अदोः० । दुसंज्ञा वृद्धिर्यस्य 'स्वरेष्वादिः०' [६.१.८.] इति सूत्रेण विहिता । तद्भिन्नः अदुः तस्माद् अदोरिति तदाह—**अदुसंज्ञकादिति** । नामशब्दस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणतया प्रत्येकं संबन्धस्य योग्यत्वादाह—**नदीनाम्नो मानुषीनाम्नश्चेति** । ननु नामवाचकशब्दस्य "संज्ञादुर्वा०" [६.१.६.] इति दुसंज्ञा विहितैवेति कथमदोरिति नदीनाम्नो मानुषीनाम्नश्च विशेषणमिति चेत् सत्यम् ; संज्ञायाः (संज्ञावाचकस्य) दुसंज्ञाया वैकल्पिकत्वेन पक्षे तदभावस्य सत्त्वात् दुसंज्ञकत्वाभावसामानाधिकरण्यस्य तत्र सत्त्वेन विशेषणसार्थक्यात्, तथा च नित्यदुसंज्ञकस्यैवादोरिति व्यावर्तकमिति बोध्यम् । **एयणोऽपवाद** इति । "ञ्याप्ल्यूङः" [६.१.७०.] इति प्राप्तस्येति भावः ।

उदाहरति—**यामुन** इति । यमुनाशब्दस्य नदीविशेषवाचकत्वेऽपि वृद्धिसंज्ञकस्वरादित्वाभावाद् दुसंज्ञाया नित्याया असत्त्वाद् दुभिन्नत्वं स्पष्टम् । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । यमुनाशब्दादपत्यार्थेऽनेनाणि आदिस्वरवृद्धौ आकारलोपे **यामुन** इति । **प्रणेत** इत्यादि विशेष्यवाचकपदम् । इरावतीनाम नदी तस्या अपत्यम् **ऐरावतः** । **उध्यो** नाम नदः, स इरावत्या एव प्रभवति । वितस्ता नाम्नी नदी, तस्या अपत्यम् **वैतस्तः** । पलाशशिरा नाम पर्वतः, स वितस्तायाः प्रवाहादानीतेन मृच्छिलादिना संपन्न इति प्रसिद्धिः । **नार्मदो नील** इति नर्मदा नाम्नी नदी, तस्या अपत्यं नार्मदः । नीलो नाम पर्वतो नर्मदाप्रवाहादानीतैर्मृदादिभिश्चित इति प्रसिद्धिः । नदीनामभ्य उदाहृत्य मानुषीनामभ्य उदाहर्तुमवतारयति—**मानुषीति**। देवदत्ता नाम काचित्, तस्या अपत्यमित्यर्थे **दैवदत्त** इति । एवं सुदर्शनायाः, सुतारायाः, स्वयंप्रभायाः, चिन्तितायाः, शिक्षितायाश्चापत्यमित्यर्थे **सौदर्शनः, सौतारः, स्वायंप्रभः, चैन्तितः, शैक्षित** इति प्रयोगाः । सर्व एते नामवाचिनो नित्यदुसंज्ञाभावन्तश्च । नित्यदुसंज्ञका एव व्यावर्त्या इति बोधयितुं **शङ्कते—अदोरिति किमिति** । **चान्द्रभागेय** इति । चन्द्र-भागौ नाम पर्वतौ ताभ्यां प्रभवति चान्द्रभागी नदी तस्या अपत्यमित्यर्थे "ङ्याप्—त्यूङः" [६.१.७०.] इत्येयणि **चान्द्रभागेय** इति । **वासवदत्तेय** इति—वासवदत्ता नाम नायिका प्रद्योतस्य कान्यकुब्जाधिपतेः कन्या प्रसिद्धा तस्या अपत्यमित्यर्थे एयणि वासवदत्तेय इति । पूर्वत्र नदीनामत्वमुत्तरत्र मानुषीनामत्वम् । अनयोराकारादित्वेन नित्यदुसंज्ञकत्वादणू न भवति किन्त्वेयणेवेति तदर्थमदोरित्यावश्यकमिति भावः ।

पुनः शङ्कते **नदी-मानुषीग्रहणं किमिति ?** 'अदोर्नाम्नः' इत्येतावदेव सूत्रमस्तु, नामविशेषग्रहणेन किं व्यावर्त्यमिति प्रश्नाशयः । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति—**सुपर्ण्याः** इत्यादिना । शोभनौ पक्षौ यस्याः सा सुपर्णी सुपर्णा वा । तस्या अनेकत्वमिति मते जातित्वाद् ङीः, एकव्यक्तिवाचित्वमिति मतेऽदन्तत्वादाप् सुपर्णी, सुपर्णा वा मतभेदेन । तस्या अपत्यमित्यर्थे "ङ्याप्—त्यूङः" [६.१.८०.] इत्येयणि आदिस्वरवृद्धयादौ **सौपर्णेय** इति । विनताया अपत्यमित्यर्थे पूर्ववदेयणि **वैनतेय** इति भवति । अनयोः नदी-मानुषीभिन्नत्वं ग्राहयति—**देव्यावेते इत्येक** इति । देवयोनिविशिष्टे एते इत्येकेषां मतम् । **पक्षिण्यावित्यन्ये** इति । पर्णशब्दस्येह पक्षवाचित्वम्, द्वौ शब्दावपि शब्दभेदादर्थभेद इति मतेनावस्थाभेदेन व्यक्तिनामभेदात् तद्भेदेन व्यक्तिभेद इति भिन्नार्थवाचित्वेऽपि वस्तुत एकव्यक्तिपरावेवेति पक्षिजातीय—व्यक्तिवाचिनावेवेति अन्येषां मतम् । वस्तुतः सुपर्णा विनता वा पक्षिण्येव पुत्रपराक्रमेण प्रतिष्ठां प्राप्ता देवीवत् पूज्यत इति तेषामाशयः । सर्वथा नदी-मानुषीनामभिन्नत्वं सिद्धम् । नाममात्रग्रहणे चेहाप्यपवादत्वादणेव स्यादिति भावः । नन्वस्तु नदी-मानुषीभ्याम् इत्येव सूत्रम्, नामग्रहणं व्यर्थमिति शङ्कते—**नामग्रहणं किमिति** । **शौभनेय** इति । शोभनाया अपत्यमिति विग्रहे पूर्ववदेयणादौ शोभनेय इति । ननु शोभनाशब्दो न कस्या अपि नाम, अपि तु विशेषणशब्दोऽयमिति कथं नदीपरत्वं मानुषीपरत्वं वेति चेदत्राह—**शोभनाशब्दो नद्यां मानुष्यां च वर्तते** इत्यादिना । अयमाशयः विशेषणशब्दोऽपि यदा

"Aho Shrutgyanam"

यत्र प्रयुज्यते तदा विशेषपारतन्त्र्यात् तमेवार्थमाहेति नद्यां मानुष्यां वा प्रयुक्तोऽयं तमेवार्थमाहेति नदीत्वं मानुषीत्वं च तस्य सिद्धयति, न तु तन्नामपरत्वमिति ततो नाण्, अपितु एयणेव भवति, नामग्रहणाभावे चाण् दुर्वारः स्यादिति तन्निवारणाय नामग्रहणमावश्यकमेवेति ॥६।१।६७॥

पीला-साल्वा-मण्डूकाद् वा ॥६।१।६८॥

पीला-साल्वा-मण्डूकशब्देभ्योऽपत्येऽण् प्रत्ययो वा भवति। पैलः, पैलेयः। साल्वः, साल्वेयः। माण्डूकः, माण्डूकिः। पीला-साल्वाभ्यां द्विस्वरैयणि मण्डूकादिञि प्राप्ते वचनम्। वाग्रहणं मण्डूकस्य इञर्थम् ॥६८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पीला० । समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमीविभक्तिः । इतरेतरयोगद्वन्द्वेन विवृणोति-**पीला-साल्वा-मण्डूकशब्देभ्य** इति। अस्यापि प्रत्यान्तरबाधकत्वं वक्ष्यति पीलाया अपत्यमित्यर्थेऽनेनाणि **पैल** इति पक्षे "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इति उत्तरसूत्रेण वैयणि **पैलेय** इति । एवं साल्वाया अपत्यं **साल्वः साल्वेय** इति। मण्डूकस्यापत्यमित्यर्थेऽनेनाणि **माण्डूकः**, पक्षेऽदन्तत्वादिञि **माण्डूकिरि**ति। एभ्योऽपत्यार्थे सामान्यसूत्रेणाण् सिद्ध एवेति सूत्रवैयर्थ्यमाशङ्क्याह- **पीला-साल्वाभ्यामि**त्यादिना । अयमर्थः अणुत्सर्गः, तस्यापवादतया विशिष्य प्रत्ययान्तराणि विहितानि, तथा च पीला-साल्वाशब्दाभ्यां "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयण् विहितः, स च नित्य इति पाक्षिकोऽण्यण् तत्र दुर्लभ इति तद्विधानमावश्यकम् । मण्डूकशब्दश्चादन्त इति तस्मादन्तत्वनिबन्धनः "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञेव स्यात्, न त्वण् इति ततोऽण्यण् विहित इति । ननूत्तरेण "दितेश्चेयण् वा" [६.१.६९.] इति सूत्रेण चकारेण पूर्वसूत्रस्थानामेतेषां शब्दानामनुकर्षणात् एतेभ्योऽप्येयणो विधानसामर्थ्यादेव वैकल्पिकत्वे लब्धे विकल्पविधानार्थमत्र वाग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्योत्तरयति—**वाग्रहणं मण्डूकस्य इञर्थमि**ति । अयमाशयः—पीला-साल्वाभ्यां "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयण् सिद्ध एवेति दितेश्चेति सूत्रस्थचकारेण न तयोरनुकर्षस्यावश्यकतेति वक्ष्यति। तस्य च सूत्रस्य नित्यत्वेनाण्विमुक्ते विषये नित्यमेव प्रवृत्त्या द्वैरूप्यं सिद्धमेव। मण्डूकशब्दाच्चेञ्पाठे तत्र नित्यमेयणो विधानेऽण मूले एयणि द्वैरूप्यमेव स्यादिति इञपि यथास्यादित्येतदर्थमिह वाग्रहणमिति । विकल्पद्वित्वे एव वैरूप्यस्य सम्भवादिति भावः ॥६।१।६८॥

दितेश्चेयण् वा ॥६।१।६९॥

दितिशब्दान्मण्डूकशब्दाच्च ङसन्तादपत्ये एयण् वा भवति। दैत्यः। माण्डूकेयः, माण्डूकिः। चकारो मण्डूकार्थः। पीला-साल्वाभ्यां ह्यण्-विकल्पादेव एयण् सिद्धः। मण्डुके त्रैरूप्यं सिद्धमेव। वाग्रहणं दितेर्ञ्यर्थम्। 'इतोऽनिञः' [६.१.७२] इत्येव दितेरेयणि सिद्धे 'अनिदम्यणपवादे च०' [६.१.१५] इत्यनेन तस्य बाधायां प्रतिप्रसवार्थं वचनम् ॥६९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—दितेः०। चकारेण केवलं मण्डूकशब्द एव पूर्वसूत्रादनुकृष्यते पीला-साल्वाभ्यां "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयणः सिद्धत्वादित्याशयेनार्थमाह-**दितिशब्दान्मण्डूकशब्दाच्चे**त्यादिना। दितिरदितिश्च कश्यपस्य भार्ये, तत्र दितिशब्दादनेनापत्यार्थे एयण्विधीयते। दितेरपत्यमित्यर्थे एयणि आदिस्वरवृद्धौ इवर्णलोपे **दैतेय** इति। पक्षे "अनिदम्यणपवादे दित्य०" [६.१.१५.] इति ञ्ये **दैत्य** इति। मण्डूकस्यापत्यमित्यर्थे पूर्वसूत्रमुक्त विषयेऽनेनैयणि आदिस्वरवृद्ध्यादौ **माण्डूकेय** इति। अस्यापि वैकल्पिकत्वेन पक्षे औत्सर्गिकेऽदन्तत्वनिबन्धने इञि **माण्डूकिरि**ति। वृत्तौ मण्डूकशब्दमात्रस्योल्लेखकारणं सूचयति **चकारो मण्डूकार्थ** इति। पीला-साल्वाभ्यां द्विस्वरनिमित्त एयण् सिद्ध एवेति भावः। वाग्रहणस्य फलं सहेतुकमाशङ्क्य निराकर्तुमाह—पीला-साल्वाभ्यां ह्यण्-विकल्पादेव एयण् सिद्ध इत्यादिना ।

अयमाशयः "पीला-साल्वा-मण्डूकाद् वा" [६.१.६८.] इत्यण् वैकल्पिक इति तदभावे "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयण् सिद्ध एव; अपवादपरित्यक्ते विषये उत्सर्गस्य प्रवृत्तेर्निर्बाधकत्वात्। एवं मण्डूकशब्दादणभावे उत्सर्गरूपस्येञः सिद्धया, विधानसामर्थ्यादनेनैयणि त्रैरूप्यं स्वभावतः सिद्धमिति न तदर्थमपि विकल्पविधानस्यावश्यकतेति वाग्रहणं व्यर्थमेवेति प्रश्नः ।

उत्तरयति—**वाग्रहणं दितेर्ञ्यर्थमि**त्यादि । "अनिदम्यणपवादे दित्य०" [६.१.१५.] इति विहितो ञ्यः पक्षे यथा स्यादित्येवमर्थमिह वाग्रहणम् । अथ तस्याणपवादविषयकत्वेन प्रबलत्वात् ञ्यः सिद्ध एवेति न तदर्थं वाग्रहणमावश्यकमिति चेदत्राह—"इतोऽनिञः" [६.१.७२.] इत्येवेति ।

"Aho Shrutgyanam"

अयमाशयः—प्राग्जितीयस्याणोऽपवादो "इतोऽनिञः" [६.१.७२.] इति सामान्यविहित एयण्, तं बाधित्वा सावकाशो ञ्यो विशेषविहितेन "दितेश्चैयण्" [६.१.६९.] इति प्रकृतसूत्रेण बाध्येत, अप्राप्तस्यैवेयणः प्रतिप्रसवार्थत्वात् तथा चास्य नित्यत्वे ञो दुर्लभ एव स्यादिति वाग्रहणमावश्यकम्। सति च विकल्पविधाने एतन्मुक्त विषये तत्प्रवृत्तिर्निराबाधा भवतीति।

पाणिनीये तन्त्रे तु एतत्सूत्रसाध्यलक्ष्याणां विषये भेदो दृश्यते। तथाहि-पीलाशब्दात् "पीलाया वा०" [पा०सू० ४.१.११८.] इति सूत्रेण वैकल्पिकोऽण् विहितः पक्षे च द्विस्वरनिमित्त एयण् इति पैलः, पैलेय इति रूपयोः साम्यम्। मण्डूकशब्दात् ढक् च, "मण्डूकात्" [पा० सू० ४.१.११९.] इत्यण् ढकौ (अणेयणौ) विहितौ, तौ च वैकल्पिकाविति माण्डूकः माण्डूकेय माण्डूकिः इति त्रैरूप्यं समानमेव। साल्वाशब्दस्य ग्रहणं तु न क्वापि दृश्यते। प्रत्युत "साल्वेयगान्धारिभ्यां च" [पा०सू० ४.१.१६९.] इति सूत्रे साल्वेयशब्दो जनपदवाचकत्वेन श्रुतोऽव्युत्पन्न एव विज्ञायते। अतैव सूत्रे 'साल्वेय-गान्धारिशब्दावव्युत्पन्नौ देश-क्षत्रियोभयवाचिनाविति बालमनोरमाकारः। एवं च साल्वाशब्दाद् "द्विस्वरनिमित्तो द्वयचः" [पा०सू० ४.१.१२१.] इति ढक् (एयण्) स्यादपि, अण् तु दुर्लभ एवेति साल्व इति रूपं तत्र न सिद्ध्यति। तादृशरूपस्येष्टत्वे तु शिवादेराकृतिगणत्वमेव शरणमिति कथयन्ति। दितिशब्दात् तु "दित्यदित्यादित्य०" [पा०सू० ४.१.८५.] इति ण्ये 'दैत्य' इत्येव रूपम्। दैतेय इत्यस्य साधुत्वं तु तन्मते मृग्यम्। तदुक्तं तत्रैव सूत्रे शब्दकौस्तुभे कथं तर्हि दैतेय इति, असाधुरेवायमित्येके। वृत्तिकारास्तु दितिशब्दात् "इतोऽत्त्यर्थात्" [२.४.३२.] इति ङीः, तदन्तात् "ञ्याप्-त्यूङः" [६.१.७०.] इत्येयणि दैतेय इत्यपि सिद्ध्यतीत्याहुः ॥६।१।६.६९॥

ञ्याप्त्यूङः ॥६।१।७०॥

ञ्यन्तादाबन्तात् त्यन्तादूङन्ताच्चापत्ये एयण्प्रत्ययो भवतिः। सौपर्णेयः। वैनतेयः। यौवतेयः। कामण्डलेयः ॥७०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—ञ्याप्त्यूङः। ङी-आप्-ति-ऊङ् एते स्त्रीप्रत्ययाः, प्रत्ययग्रहणे च तदन्तग्रहणम् "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" [७.४.११५.], "विशेषणमन्तः" [७.४.११३.] इति परिभाषासूत्राभ्यां सिद्धम् * प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् * इति न्यायेन चानुमोदितम्। तथा च सूत्रार्थमाह—**ञ्यन्तादाबन्तादि-** त्यादिना। उदाहरति—**सौपर्णेय** इत्यादिना शोभनौ पर्णौ पक्षौ यस्या इत्यर्थे सुपर्णशब्दस्य जातिवाचित्वमाश्रित्य ङ्यां 'सुपर्णी' इति नागमातुर्नाम। तस्या अपत्यमित्यर्थेऽनेनैयणि आदिस्वरवृद्ध्यादौ सौपर्णेय इति। विनताऽपि सैव, आवन्तशब्दोऽयम्। तस्या अपत्यमित्यर्थे पूर्ववदेयणादौ **वैनतेय** इति। द्वावपीमौ शब्दौ गुरुडे प्रयुज्येते। युवन्शब्दात् स्त्रियां "यूनस्तिः" [२.४.७७] इति तिप्रत्यये युवतिरिति तस्या अपत्यमित्यर्थे एयणि आदिस्वरवृद्धौ "जातिश्च णि-तद्धितयस्वरे" [३.२.५१.] इति पुंवत्त्वे प्राप्ते **यौवतेयः** इति "एयेऽग्नायौ" [३.२.५२.] इत्यस्य नियमार्थत्वेनान्यस्य एये पुंवत्त्वाभावबोधनान्न भवति। कमण्डलूशब्द ऊङन्तो देवजातिविशेषस्त्रीवाची, पशुजातिविशेषस्त्रीवाची च। तत्रेह देवीवाचको गृह्यते, चतुष्पाद्वाचकात् तु "चतुष्पाद्भ्य एयञ्" [६.१.८३.] इति स्यात्। तस्या अपत्यमित्यर्थेऽनेनैयणि आदिस्वरवृद्धौ "अकडू—पाण्डुवोरुवर्णस्यैये" [७.४.६९.] इत्यूकालोपे **कामण्डलेय** इति ॥६।१।७०॥

द्विस्वरादनद्याः ॥६।१।७१॥

द्विस्वराद् ञ्याप्त्यूङन्तादनदीवाचिनोऽपत्ये एयण्प्रत्ययो भवति। दात्तेयः। गौप्तेयः। अनद्या इति किम्? सीतायाः अपत्यं सैतः। सन्ध्यायाः सान्ध्यः। वेण्णायाः वैण्णः। सिप्रायाः सैप्रः। रेवायाः रैवः। शुद्धायाः शौद्धः। कुलायाः कौलः। मह्या माहः। सीतादयो नद्यः। अदोर्नदी—मानुषीनाम्नोऽपवादो योगः ॥७१॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—द्विस्वरात्०। द्विस्वरादिति नाम्नो विशेषणम्। अनद्या इत्यपि तस्यैव विशेषणम्-ञ्याप्-त्यूङ इति चानुवृत्तं तस्यैव विशेषणम्, तथा च सूत्रार्थमाह—**द्विस्वराद् ञ्याप्त्यूङन्तादित्यादिना**। यद्यपि ञ्याप्त्यूङन्तात् सर्वस्मादपि एयण् पूर्वसूत्रेण प्राप्त एव, तथापि नदी-मानुषीनाम्नः एयणोऽपवादोऽण् "अदोर्नदी—मानुषीनाम्नः" [६.१.६७.] इत्यपवादतया प्राप्त इति तादृशादपि (नदी-मानुषीनामवाचिनोऽपि) द्विस्वरादेयणः प्रतिप्रसवार्थं वचनम्, वक्ष्यति तदग्रे। **दात्तेय** इति—दत्ता नाम काचित् स्त्री, तस्या अपत्यमित्यर्थे "अदोर्नदी-मानुषीनाम्नः" [६.१.६७.] इत्यणि प्राप्ते

"Aho Shrutgyanam"

तदपवादमनेनैयणि आदिस्वरवृद्धौ आकारलोपे च दात्तेय इति । एवं गुप्ता नाम काचित्, तस्यापत्यं **गौप्तेय** इति ।

पदकृत्यमाह—**अनद्या इति किमि**त्यादिना । द्विस्वरेषु नदीवाचकानां पर्युदासः किमर्थ इति प्रश्नाशयः । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति—**सीताया अपत्यमि**त्यादिना । सर्वत्रापत्यार्थे "ङ्याप्प्रातिः" [६.१.७०.] इति प्राप्तस्यैयणः "अदोर्नदी०" [६.१.६७.] इत्यणा बाधादणि आदिस्वरवृद्धयादौ सैत इत्यादि । सीता-सन्ध्यादयः कतिचित्शब्दा मानुष्यादिनामत्वेन प्रसिद्धा इति नदीनामत्वे संदेहमपाकरोति – **सीतादयो नद्य** इति । नाम्नोऽनियन्त्रित्वादेतन्नाम्नोऽपि सन्तीति भावः । सूत्रस्य सार्थक्यमाह–अदोर्नदी–मानुषीनाम्न इत्यस्यापवादो योग इति । व्याख्यातमिदं पूर्वमेव ॥६।१।७१॥

इतोऽनिञः ॥६।१।७२॥

इञन्तवर्जिताद् द्विस्वरादिकारान्तादपत्ये एयण्प्रत्ययो भवति । नाभेरपत्यं नाभेयः । अत्रेरात्रेयः । अहेराहेयः । दुलेर्दौलेयः । बलेर्बालेयः । निधेर्नैधेयः । इत इति किम् ? दाक्षिः । अनिञ इति किम् ? दाक्षायणः । द्विस्वरादित्येव ? मरीचेरपत्यं मारीचः । कथमजवस्तेरपत्यमाजबस्तेयः, शाकन्धेरपत्यं शाकन्धेयः । परिधेः पारिधेयः । शकुनेः शाकुनेयः । अतिथेरातिथेय इति । शुभ्रादित्वाद् भविष्यति ॥७२॥

शब्द महाभाष्य न्यासानुसन्धानम्—इतः । द्विस्वरादिति पूर्वसूत्रादनुवृत्तम् । ङ्याप्प्रातिः इति न सम्बध्यतेऽयोग्यत्वात् । इञ्प्रत्ययस्ततस्तदन्तग्रहणम्—तथा च सूत्रार्थमाह—**इञन्तवर्जिताद्–द्विस्वराद्** इत्यादिना । नाभिर्नाम राजा, **नाभेरपत्यं नाभेय** इति । नाभिशब्दाद् एयणि इकारलोपे नाभेय इति । अत्रेरपत्यमित्यर्थे एयणि **आदिस्वरवृद्धौ आत्रेय** इति । अत्रिर्नाममुनिः । एवमाहेयादयोऽपि बोध्याः ।

पदकृत्यमाह–**इत इति किमि**त्यादिना । अनिञन्ताद् द्विस्वरात् सामान्यत एवैयण् विधीयतामिति प्रष्टुराशयः । उत्तरयति—**दाक्षिरि**ति । दक्षस्यापत्यमित्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञि दाक्षिरिति सिद्धयति । इत इत्यस्याभावे च द्विस्वरात् सर्वस्मादपि एयणेव स्याद् विशेषविहितत्वादिति भावः । **अनिञ इति किमि**ति ? इञ्प्रत्ययोऽपत्यार्थे विहित इत्यपत्यार्थस्योक्तत्वेन ततः पुनरप्यपत्यार्थे प्रत्ययः । स्वत एव न स्यात् * उक्तार्थानामप्रयोगः * इति न्यायादिति प्रश्नाशयः । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति— **दाक्षायण** इति ।

अयमाशयः—न खलु अपत्यमेकमेव दक्षस्यापत्यमन्यत् दाक्षेश्चापत्यं युवा । ततश्च युवापत्ये इञन्ताद् दाक्षिशब्दाद् "यञिञः" [६.१.५४] इत्यायनणि दाक्षायण इति भवति । तत्र चोक्तार्थत्वाभावाद्*उक्तार्थानामप्रयोगः* इति न्यायस्याप्रवृत्तेरनेनैयणेव स्यादिति भावः । न चेञन्ताद् विशिष्यविहित आयनण्, अयं चेदनन्तात् सामान्यविहित इति एयणं बाधित्वाऽऽयनणेव स्यादिति अनिञ इति पर्युदासो व्यर्थ एवेति वाच्यम्, बहुस्वरादिञन्तादायनणो विधानेन सावकाशस्य तस्य "यञिञः" [६.१.५४.] इति सूत्रस्य द्विस्वरादिकारान्तादनेन प्रत्ययविधाने बाधकत्वाभावेनायनणं प्रबाध्य परत्वादेयणेव स्यादिति अनिञ इति पर्युदासस्यावश्यकत्वमिति भावः ।

द्विस्वरादित्यस्यानुवृत्तिरावश्यकीति व्यावर्त्य प्रदर्शनेन द्रढयति–**द्विस्वरादित्येव, मरीचेरपत्यं मारीच** इति । मरीचिर्नाम मुनिस्तस्मादपत्यार्थे ऋष्यणि औत्सर्गिके वाणि मारीच इति भवति । द्विस्वरादित्यस्याभावे च बहुस्वरादावप्यस्मात् परत्वादेयणि मारीचेय इति स्यादिति भावः । पाणिनीयमते तु मरीचिशब्दो बाह्वादिषु पठित इति मरीचेरपत्यं मारीचिरित्येव भवति । तथाहि "मिदचोऽन्त्यात् परः" [पा०सू० १.१.४७.] इति सूत्रे महाभाष्यम्-मरीचिशब्दो बाह्वादिषु पठ्यते इति । 'मारीचमुच्चैर्वचनं महार्थम्' इत्यादि भट्टिकाव्यादौ प्रयुक्तो राक्षसविशेषवाचको 'मारीच'शब्दस्त्वन्य एवाव्युत्पन्नो वेति तेषामाशयः । अथेदन्ताद् बहुस्वरादपत्यार्थे एयण् दृश्यते स कथमुपपाद्य इति शङ्कते–**कथमजवस्तेरपत्य**मित्यादिना । अजवस्ति-शकन्धि-परिधि-शकुनि अतिथिशब्दा इदन्ता बहुस्वराश्च तेभ्योऽपत्यार्थे एयणि आजवस्तेय इत्यादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते तत् कथमुपपद्यते इति शङ्कार्थः ।

समाधत्ते-**शुभ्रादित्वाद् भविष्यती**ति शुभ्रादिगणे एते शब्दाः पठ्यन्ते तथा च तेभ्यः "शुभ्रादिभ्यः" [६.१.७३] इत्यनेनैयण् नानेनेति भावः ॥६।१।७२॥

शुभ्रादिभ्यः ॥६।१।७३॥

शुभ्रादिभ्योऽपत्ये एयण्प्रत्ययो भवति । यथायोगमिञादीनामपवादः । शौभ्रेयः । वैष्टपुरेयः ।

"Aho Shrutgyanam"

शुभ्र विष्टपुर विष्टपर ब्रह्मकृत शतद्वार शताहार शालाघल किट (टीक) शालूक कृकलास प्रवाहण भाण भारत भारम कुदत्त कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदत्त सुदक्ष तुद अकशाप वादन शतल शकल (शक) शवल खड्गर कुशम्ब शुक्र विग्र बीज अश्व बीजाश्व अजिर मवक्र मखण्डु मकष्टु मघष्टु सृकण्डु भृकण्डु जिह्माशिन् अजबस्ति शकन्धि परिधि अणीचि कणीचि शकुनि अतिथि अनुदृष्टि शलाकाभ्रू लेखाभ्रू रोहिणी रुक्मिणी किकशा विवशा गन्धपिङ्गला षडोन्मता कुमारिका कुबेरिका अम्बिका अशोका श्वन् गङ्गा पाण्डु विमातृ विधवा कद्रू गोधा सुदामन् सुनामन् इति शुभ्रादयः ।

मवक्रान्तामित्रोऽपवाद पयण् मखण्डवादीनां विमाप्रभृतीनामणः विधवाया एरणः कद्रूगोधयोश्चतुष्पादेयञः । सुदामन्-सुनाम्नोरित्रा शुभ्रस्य तु ञ्येन समावेशार्थः पाठः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥७३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–शुभ्रा० । शुभ्रादिगणपठितशब्देभ्योऽपत्यार्थे एयण् प्रत्ययः स्यात् । तेभ्य इञादिप्रत्ययानां प्रतिविधानार्थमिदं सूत्रम् । शुभ्रस्यापत्यं **शौभ्रेयः** । विष्टपुरस्यापत्यं वैष्टपुरेयः । तथैव शुभ्रादिशब्दानां सिद्धिः स्यात् ॥६।१।७३॥

श्याम-लक्षणाद् वासिष्ठे ॥६।१।७४॥

श्याम-लक्षण इत्येताभ्यां वासिष्ठेऽपत्यविशेषे पयण्प्रत्ययो भवति । श्यामेयो वासिष्ठः । श्यामायनोऽन्यः । अश्वादित्वाद् वृद्धे आयनञ्, अवृद्धे तु श्यामिः । लाक्षणेयो वासिष्ठः । लाक्षणिरन्यः ॥७४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—श्याम० । श्यामलक्षणयोः समाहारेण निर्देशः । वसिष्ठादपत्यसामान्ये ऋष्यणि **वासिष्ठ** इति । तस्मिन् वाच्ये श्याम-लक्षणशब्दाभ्यां पूर्वाचार्यैः शुभ्रादिगणान्तर्भूते गणसूत्रे पठिताभ्यामेयणनेन विधीयते । श्यामस्यापत्यामित्यर्थे एयणि **श्यामेय** इति । वासिष्ठ इति प्रयोगोपाधिनिर्देशः । वसिष्ठादन्यत्रायनञमुदाहरति–अश्वादित्यादि । "अश्वादेः" [६.१.४९.] इति सूत्रस्य वृद्धप्रकरणे पठितत्वाद् वृद्धापत्ये वाच्ये आयनञ् भवति, युवापत्यादौ तु अदन्तत्वादौत्सर्गिक इञेवेति भावः । एवं लक्षणस्यापत्यं वासिष्ठो **लाक्षणेयः** । अन्यत्र तु अदन्तलक्षण इञ् **लाक्षणिरिति** ॥६।१।७४॥

विकर्ण-कुषीतकात् काश्यपे ॥६।१।७५॥

विकर्ण-कुषीतक इत्येताभ्यां काश्यपेऽपत्यविशेषे पयण्प्रत्ययो भवति । वैकर्णेयः काश्यपः । वैकर्णिरन्यः । कौषीतकेयः काश्यपः । कौषीतकिरन्यः ॥७५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—विकर्ण० । अत्रापि समाहारनिर्देश एव । एतच्च वृत्तिव्याख्यानेन स्फोरितम् । कश्यपस्यापत्यं काश्यपः, तत्राभिधेये विकर्ण–कुषीतकशब्दाभ्यामेयणनेन विधीयते । विकर्णस्यापत्यं **वैकर्णेयः** इत्येवमादि पूर्वसूत्रवद् बोध्यम् ॥६।१।७५॥

भ्रुवो भुवृ च ॥६।१।७६॥

भ्रूशब्दादपत्ये पयण्प्रत्ययो भवति, भ्रुव चास्यादेशः । भौवेयः ॥७६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–भ्रुवः । भ्रुवो मुखाङ्गस्य जन्य-जनकसम्बन्धायोग्यत्वेऽपि क्वचिद् व्यक्तिविशेषस्य तादृशसम्बन्धयोग्यस्य तन्नामकत्वे, व्यक्तिविशेषप्रभावात् तदङ्गस्यैव तद्योग्यत्वे वा सम्भवत्यपत्यार्थसम्बन्ध इति बोध्यम् । भ्रूशब्दादपत्यार्थे एयण् विधीयते, तत्संनियोगेन च भ्रुवो 'भ्रुव' इत्यादेशो विधीयते । तत्फलं च "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे विशेषविहितत्वात् प्रवाध्य प्राप्तस्य "अकद्रूपाण्ड्वोरुवर्णस्यये [७.४.६९.] इत्युवर्णलोपस्य बाधनम् । तथा च भ्रुवोऽपत्यमित्यर्थे एयणि भ्रुवादेशे आदिस्वरवृद्धौ **भौवेय** इति साधु ॥६।१।७६॥

कल्याण्यादेरिन् चान्तस्य ॥६।१।७७॥

कल्याण्यादिभ्योऽपत्ये पयण्प्रत्ययो भवति, इन् इत्ययं चान्तस्यादेशः । कल्याण्या अपत्यं काल्याणिनेयः । सौभागिनेयः ।

कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी जरती बलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमा परस्त्री अनुदृष्टि अनुसृष्टि इति कल्याण्यादिः ।

परस्त्र्यन्तानां 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' [६.१.७०.] इति अनुवृत्तेः 'शुभ्रादिभ्यः' [६.१.७३.] इति पयण्

"Aho Shrutgyanam"

सिद्ध एव इनादेशमात्रं विधीयते। अनुसृष्टेरुभयम् ॥७७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कल्याण्या०। कल्याण्यादिगणपठितेभ्यः शब्देभ्य एयणसन्नियोगेन अन्तस्य इनादेशोऽनेन सूत्रेण विधीयते। कल्याणगुणविशिष्टा स्त्री कल्याणी, तन्नामिका वा काचित्! तस्या अपत्यमित्यर्थे एयणि ईकारस्येनादेशे आदिस्वरवृद्धौ **कल्याणिनेय** इति। एवं सुभगाया अपत्यं **सौभागिनेय** इति। गणं पठति—**कल्याणी सुभगेत्यादिना** कल्याण्यादीनां ङ्याप्प्रातिपदिकान्तत्वप्रायत्वेनैयणः सिद्धौ विधान-वैयर्थ्यमाशङ्क्य सार्थक्यं दर्शयितुमाह—**परस्त्र्यन्तानामित्यादिना**। कल्याणीशब्दमारभ्य परस्त्रीशब्दपर्यन्तं सर्वे शब्दाः यन्ता आबन्ता वेति तेभ्यो "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" [६.१.७०] इत्येयण् प्राप्त एव यद्यपि, तथापि तत्सन्नियोगेनादेशविधानार्थं सूत्रसार्थक्यम्। किञ्चानुसृष्टिशब्दोऽपि शुभ्रादौ पठ्यत इति, ततः "शुभ्रादिभ्यः" [६.१.७३.] इत्येयण् सिद्ध एव ततोऽपि इनादेश-*संनियुक्तस्यैयणो विधानार्थमेव सूत्रम्। अनुसृष्टेस्तु न केनचिदेयणः प्राप्तिरिति* तस्मात् प्रत्ययः इनादेशश्चेत्युभयं विधातव्यमिति। अप्राप्तांशविधानमात्रेणैव शास्त्रस्य साकल्यार्थम्, *अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्* इति न्यायादप्राप्त एवांशः शास्त्रेण विधेयः, अन्यथाऽज्ञातज्ञापकत्वरूपविधित्वभङ्गापत्तेरिति भावः ॥६।१।७७॥

कुलटाया वा ॥६।१।७८॥

कुलान्यटति कुलटा, कुलटाशब्दादपत्ये **एयणप्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे इन् च वान्तादेशः। आबन्तत्वादेयण् सिद्ध आदेशार्थं वचनम्। अत एवादेशस्यैव विकल्पो न त्वेयणः कौलटिनेयः। कौलटेयः। या तु कुलान्यटन्ती, शीलं भिनत्ति, ततः परत्वात् क्षुद्रालक्षण परणेव। कौलटेरः ॥७८॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कुलटाया०। कुलाशब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वेऽपि प्रकृते व्युत्पत्तिलभ्ययौगिकार्थमात्रस्य ग्रहीतुमिष्टत्वेन तद्व्युत्पत्तिं प्रदर्शयति—**कुलान्यटतीति**। अर्थप्रदर्शनमात्रमेतत्, न तु प्रयोगसिद्ध्यनुकूलं विग्रहवाक्यम्, तथासति कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्ययापत्तौ कुलटेति स्यात्, किन्तु अटतीत्यट्, पचादित्वात्। कुलानामटा इति कर्मणि षष्ठ्यन्तेन समासे पृषोदरादित्वात् साधु। अत्र च सती भिक्षुक्येव कुलाशब्देन गृह्यते भिक्षार्थं कुलेष्वटनादिति परतो व्यक्तीभविष्यति। **इन् चान्तस्येति**—पूर्वसूत्राद् 'इन्' इत्यनुवर्तत इति भावः। अस्यापि सूत्रस्येनादेशमात्रविधानेन सार्थक्यमित्याह—**आबन्तत्वादेयण् सिद्ध एवेति**। कुलाशब्द आबन्तः, तस्मात् "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" [६.१.७०.] इत्येयण् सिद्ध एवेति अन्तस्येनादेशमात्रं विधीयते इति भावः। तथा च तन्मात्रस्यैव विकल्पार्थेन योगो न त्वेयण् इत्याह—**अत एवादेशस्यैव विकल्प** इति। योगार्थप्रदर्शनस्य फलं स्फोरयति—या तु कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्तीति। शीलभेदनेनानियतपुंस्कत्वात् तस्याः क्षुद्रात्वमिति तन्निमित्तः "क्षुद्राभ्य एरण्वा" [६.१.८०.] इत्येरणेव स्यात् परत्वादिति भावः। यद्यपि स विकल्पिक इति तन्मुक्ते पक्षे एयणप्यबन्तत्वप्रयुक्तो भवत्येव, तथापि तत्र नानेनेनादेश अभिधानस्वाभाव्यात्। तथा च या भिक्षार्थं कुलात् कुलान्तरमटति उपदेशार्थं वा तस्या एवापत्ये वाच्ये इनादेशः। तथा च तस्या अपत्यं **कौलटिनेयः, कौलटेय** इति, या तु दुःशीला तस्या अपत्यं **कौलटेरः कौलटेय** इति विवेकः। अयं च विषयविभागोऽभिधाननिमित्तक एव, उक्तं चामरकोशे—

"अथ वान्धकिनेयः स्याद् बन्धुलश्चासतीसुतः।
कौलटेरः कौलटेयो भिक्षुकी तु सती यदि॥
तदा कौलटिनेयोऽस्याः कौलटेयोऽपि चात्मजः॥
॥६।१।७८॥

चटकाण्णैरः स्त्रियां तु लुप् ॥६।१।७९॥

चटकशब्दाद् ङसन्तादपत्यमात्रेणैरः प्रत्ययो भवति, स्त्रियां त्वपत्ये विहितस्य लुप्। चटकस्यापत्यं चाटकैरः। लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणात् चटकाया अपि चाटकैरः। स्त्रियां तु लुप्, चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका। चटकेति जातिशब्दोऽस्त्येव, स्त्रियामपत्ये प्रत्ययाश्रवणार्थं लुब्वचनम्। अस्त्रियामित्येव सिद्धे प्रत्ययान्तरबाधनार्थं णैरविधानम् ॥७९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चटकात्०। चटकः पक्षिविशेषः, तदपत्यं पुमान् स्त्री च। तत्रोभयोरूपे भेदं साधयितुमिदं सूत्रम्। पुंलिङ्गनिर्देशात् स्त्रीत्वविशिष्टादयं प्रत्ययो न स्यादित्याशङ्क्यामाह—**लिङ्गविशिष्टग्रहणात् चटकाया** अपीति। *नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्* इति न्यायेन लिङ्गबोधकात् प्रत्ययान्तस्यापि ग्रहणं सिद्धमिति चटकस्य चटकाया वा

"Aho Shrutgyanam"

अपत्यं पुमान् इत्यर्थेऽनेन णैरे णित्त्वादादिस्वरवृद्धौ अवर्णलोपे **चाटकैर** इति। चटकस्य चटकाया वाऽपत्यं स्त्रीति विग्रहे तु विहितस्य प्रत्ययस्य लुपि जातिलक्षणङीं बाधित्वाऽजादिगणे पाठसामर्थ्यादापि **चटकेत्येवेत्याह-** 'स्त्रियां तु लुप्' इत्यादिना। तत्र तद्धितप्रत्यये लुप्ते "ङ्यादेर्गौणस्य" [२.४.९५.] इति आपो लुकि जातिलक्षणङीप्राप्तावजादित्वादाप् इति ज्ञेयम्। न चेह कात् पूर्वस्यात इत्त्वं स्यादिति भ्रमितव्यम्, क्षिपकादिपाठात् "अस्याऽयत्तत् क्षिपकादीनाम्" [२.४.१११.] इति पर्युदासात्।

ननु प्रत्ययस्य लुबविधानेन कोऽर्थः? चटकाशब्दस्य जातिवाचकत्वेन स्त्यपत्यस्यापि चटकाशब्देन बोधयितुं शक्यत्वादिति चेदत्राह—**स्त्रियामपत्ये प्रत्ययाश्रवणार्थं लुबवचनमिति**। अयमभिप्रायः, जातित्वेन विवक्षायां चटकेति प्रयोगस्य निर्बाधत्वेऽपि चटकापत्यत्वेन स्त्रिया विवक्षायां प्रत्ययस्य प्राप्तस्य श्रवणं मा भूदित्यर्थं लुबविधानमावश्यकमिति। ननु * प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्* इति न्यायेनायं प्रत्यय एव 'अस्त्रियाम्' इत्युक्त्वा पर्युदस्यतां विहितस्य लुबविधानं किमर्थमिति चेदत्राह—**अस्त्रियामित्येव सिद्धे** इत्यादि। अयमाशयः- अस्त्रियामिति पर्युदासेऽस्यैव प्रत्ययस्य निवृत्तिः स्यान्नान्येषामपत्यप्रत्ययानामिति स्वभावत आबन्तनिमित्तस्यैयणः प्राग्जातीयस्याणादेर्वा श्रवणापत्तौ चटकस्य चटकाया वाऽपत्यं चटका इति न स्यादित्येतदर्थं णैरप्रत्ययविधानम्। विहिते चास्मिन् लुप्ते सति अपत्यार्थस्योक्तत्वेन तदर्थे ततः प्रत्ययान्तरं न भवति। ततश्चेष्टं रूपं सिद्धयतीति विधाय लुबविधानं सार्थकमिति ॥६।१।७९॥

क्षुद्राभ्य एरण् वा ॥६।१।८०॥

क्षुद्रा अङ्गहीना अनियतपुंस्का वा स्त्रियः। बहुवचनं क्षुद्रार्थपरिग्रहार्थम्। क्षुद्रावाचिभ्यः शब्देभ्यो ङसन्तेभ्यः स्त्रीलिङ्गेभ्योऽपत्ये एरण् प्रत्ययो वा भवति। अणेयणोरपवादः काणाया अपत्यं काणेरः, काणेयः। दास्या दासेरः। दासेयः। नट्या नाटेरः, नाटेयः। कदनायाः कार्दनेरः, कार्दनेयः ॥८०॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—क्षुद्रा०। सूत्रे बहुवचनस्यार्थपरिग्रहार्थत्वस्य वक्ष्यमाणतया क्षुद्रशब्दार्थमेवादौ ग्राहयति—**अङ्गहीना** इत्यादिना। अङ्गेन नेत्रनासिकादिना सौभाग्यसौन्दर्यादि समुचितेनावयवान्तरेण वा हीना जन्मना तद्विकलाः। हीनत्वस्य न्यूनाधिकविकलादीनामप्युपलक्षणत्वात् जन्मना हीना इति यूणेनाकस्मिकप्रहारादिना हीनाङ्गनां न क्षुद्रात्वेन व्यवहार इति साम्प्रदायिकाः। केचित् तु पतिहीनाया स्त्रिया अपि क्षुद्रात्वमिच्छन्ति, सा हि पत्युरङ्गेन साङ्गा भवति। तदभावे च तदङ्गवैकल्यमुपपन्नमेव। तथा च तन्मते विधवाया अपत्यं वैधवेर इत्येव प्रयोगः। अन्येषां मते वैधवेय इति। दृश्यते च वैधवेय इति प्रयोगस्यैवाभिधानं वैकल्पिकेषु नियमाभावात्। **अनियतपुंस्का** वेति। अनियता अनिश्चिताः पुमांसो गम्यत्वेन स्वामित्वेन वा यस्यां यासां वा ताः। यासां बहवो गम्याः ताः कुलट्याः, यासां च बहवः स्वामिनो यथाकालं ताः दास्यः। यासां हि न कश्चन निश्चितः पतिः स्वेच्छया पुरुषान्तरेषु स्वशरीरं समर्पयन्ति, अतः ताः क्षुद्रा एव। तदर्थमेव "क्षुद्राभ्यो वा" [पा० सू० ४.१.१३३.] इति सूत्रे शब्दकौस्तुभे दीक्षित आह—शीलहीनाश्चेति। **बहुवचनं क्षुद्रार्थपरिग्रहार्थमिति**। यद्यपि क्षुद्राया इति निर्देशे मात्राकृतं गौरवमेव, तथापि एकस्मिन् क्षुद्रशब्दे बहुत्वस्याप्राप्तेः प्राप्तौ चैकवचनेनैव निर्वाहे प्रथमोपस्थितत्यागे मानाभावेन बहुत्वनिर्देशोऽसति फलान्तरेऽनुचित इत्याक्षेपविषयो भवत्येव। सति चार्थपरिग्रहार्थत्वे आवश्यकः सः, तदर्थकानां बहुत्वादिति नाक्षेपविषयो भवति। बहुवचनेन च क्षुद्रार्थवाचकाः सर्वे शब्दाः सुतरां ग्राह्या अर्थवत्त्वात्, क्षुद्राशब्दे स्त्रीत्वनिर्देशस्य विवक्षितत्वेनाह वृत्तौ **स्त्रीलिङ्गेभ्य** इति। तेन क्षुद्रपुंवाचकेभ्यो न प्रत्ययः। **अणेयणोरपवाद** इति। "अदोनदी-मानुषीनाम्नः" [६.१.६७.] इत्यणः, "द्रि-स्वराद नद्याः" [६.१.७१.], "ङ्याप्-त्यूङः" [६.१.७०.] इत्येयणश्चापवाद इति भावः। यद्यपि मानुषीनामवाचिनः क्षुद्रार्थत्वमनुचितमृतस्य तद्व्यक्तिवाचित्वेन क्षुद्रार्थत्वायोगात्, तथापि क्षुद्रात्वनिश्चयेन यदि काचित् तदर्थकशब्देनैव ख्याता तर्हि तस्य शब्दस्योभयार्थत्वमुपपन्नमेव। उदाहरति- **काणाया अपत्यं काणेर** इति। एकाक्षिहीना काणा तस्या अङ्गवैकल्येन क्षुद्रात्वम्। दासी, नटी चानियतपुंस्कत्वेन क्षुद्रा। कर्दनावंशोपरि नर्तकी। साऽपि नटजातिरेवेति तस्या अपि अनियतपुंस्कत्वमेव क्षुद्रात्वबीजम्। दासी-नटी-कर्दनाभ्यः एरणि **दासेर, नाटेरः, कार्दनेय**

"Aho Shrutgyanam"

इति ॥६।१।८०॥

गोधाया दुष्टे णारश्च ॥६।१।८१॥

गोधाशब्दाद् ङसन्ताद् दुष्टेऽपत्ये णारश्चकारादेरण् च प्रत्ययो भवति। गोधाया अपत्यं दुष्टे गौधारः, गौधेरः। यो अहिना गोधायां जन्यते। गौधेयोऽन्यः। शुभ्रादित्वाद्देयण् ॥८१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गोधाया० । गोधा सरीसृपजन्तुविशेषः प्रायेण वृक्षबिलेषु प्रतिवसति। जलवासिनी गोधा तु मकरजातिः। अत्र सरीसृपजातेरेव ग्रहणम्, यतः तस्या दुष्टमपत्यं सरीसृपजातिविशेषाहिजन्यत्वेन वक्ष्यमाणम्। दुष्टशब्दस्य सप्तम्यन्तस्य तदन्तेनानुवर्तमानेनापत्ये इति पदेनैव सम्बन्धस्य योग्यत्वादाह—**दुष्टे अपत्ये** इति। अपत्यस्य दुष्टत्वहेतुमाह—**योऽहिना गोधायां जन्यत** इति । अहि-गोधयोर्भिन्नाकृत्योरप्यङ्गविशेषसामान्याद् भवति साङ्कर्यसम्भवः। पाणिनीये तन्त्रे च एतद्विषये "गोधाया दृक्" [पा० सू० ४.१.१२९.] इति सूत्रे "आरगुदीचाम्" [पा० सू० ४.१.१३०.] इति सूत्रे वा दुष्टे इति न दृश्यते। अमरकोशेऽपि "त्रयो गौधार-गौधेर-गौधेया गोधिकात्मजाः" इति पठित्वा त्रयाणामपि शब्दानामेकार्थवाचित्वमेवोक्तम्। अत्र च गौधार-गौधेरौ दुष्टौ **गौधेयश्च** शुद्धमपत्यमिति लभ्यते इति भेदः। अत्र मूलं किमिति विचारणीयं सुधीभिरिति ॥६।१।८१॥

जण्ट-पण्टात् ॥६।१।८२॥

जण्ट-पण्ट इत्येताभ्यामपत्ये णारः प्रत्ययो भवति। जाण्टारः। पाण्टारः। केचित् तु पक्षस्यापत्यं पाक्षार इत्यपीच्छन्ति ॥८२॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—जण्ट० । जण्ट-पण्टशब्दावख्यातार्थौ, ताभ्यामपत्ये णारो विधीयते। मतान्तरमप्युच्यते केचित् तु **पक्षस्यापत्यमिति** । तथा च पक्षशब्दोऽप्यत्र सूत्रे पठितो ज्ञेय इत्याशयः। पाणिनीये तन्त्रे च नैताभ्यां प्रत्ययविधानं दृश्यते। तत्र हि एतत्सूत्रसमानविषये "आरगुदीचाम्" [पा सू० ४.१.१३०.] इति सूत्रे महाभाष्ये उक्तम्—आरगुवचनमनर्थकं रका सिद्धत्वात्। गोधा आकारान्ता रक् च प्रत्ययः एवं तर्हि सिद्धे सति यदाकारं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्येभ्योऽप्ययं प्रत्यय इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? "मौण्डारो, जाडारः, पाण्डार इति सिद्धं भवति" इति।

अयमाशयः गोधाशब्द आकारान्त एव, ततश्च रक्प्रत्ययमात्रविधानेऽपि गोधार इत्यस्य सिद्धया आकारोच्चारणरूपाचार्यव्यवहारेण ज्ञायत एतत्—यत् कुतश्चिदन्येभ्योऽपि तादृशेभ्योऽयं प्रत्ययो भवति यत्राकारश्रवणस्य सार्थक्यं स्यादिति। तथा मौण्डार इत्यादयः प्रयोगाः श्रूयमाणा निष्पन्ना भवन्तीति। माधवीयधातुवृत्त्यनुसारं शब्दकौस्तुभेऽपि जाडारः, पाण्डार प्रत्येवोदाहृतम्, काशिकायामप्येवमेव। तथा च जाण्टारः, पाण्डार इति तेषु नोपलभ्यते। तथा चेहापि जड-पण्डाभ्यामित्येव सूत्रं स्यात् लेखकपरम्परया पाठः परिवर्तित इति शङ्कितुं शक्यते। अयमेव वाऽऽचार्याभिमतः पाठः, पूर्वतन्त्राद् विभिन्न एवेत्यपि कथयितुं शक्यम्। पाक्षार इति तु क्वापि नोपलभ्यते संप्रति ॥६।१।८२॥

चतुष्पाद्भ्य एयञ् ॥६।१।८३॥

चतुष्पाद्वाचिभ्यो ङसन्तेभ्योऽपत्ये एयञ् प्रत्ययो भवति। अणादीनामपवादः। कमण्डल्वा अपत्यं कामण्डलेयः। शितिवाह्याः शितिवाहेयः। भद्रवाह्याः। भद्रवाहेयः। जम्ब्वा जाम्बेयः। शबलायाः शाबलेयः। बहुलाया बाहुलेयः। सुरभेः सौरभेयः ॥८३॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्— चतु । अत्रापि बहुवचनेन चतुष्पादजातिवाचिनो गृह्यन्ते, चतुष्पाच्छब्दमात्रस्य ग्रहणे तु विवक्षिते बहुवचनं व्यर्थमेव स्यादित्याशयेन सूत्रं विवृणोति-**चतुष्पाद्वाचिभ्य** इति। चत्वारः पादा यासां ताः चतुष्पाद इति स्त्रीलिङ्गेनैव विग्रहः समुचितः स्त्रीलिङ्गानामेव चतुष्पदां ग्रहणस्येष्टत्वात् तथैवोदाहरणात्। **अणादीनामपवाद** इति। यस्माच्छब्दादणाद्यन्यतमो यः प्रत्ययः प्राप्तस्तमपवादत्वमेव प्रवर्तते इति भावः। तत्र ये स्त्रीप्रत्ययान्ता यथा—कमण्डलू-शितिवाहू-भद्रवाहू-जम्बूशबलाः शब्दास्तेभ्यो "ङ्याप्-ङ्यूङः" [६.१.७०,] इत्येयण् प्राप्तो रूपे विशेषाभावेऽपि ञित्कार्यार्थं बाध्यते। जम्बूशब्दे यद्यपि मतभेदः केचनौणादिकं दीर्घान्तं जम्बूशब्दं मन्यन्ते, तस्य च ऊङन्तत्वाभावात् "ङ्याप्-ङ्यूङः" [६.१.७०.] इत्यस्याप्राप्तिः। यदि च शृगालवाची जम्बुशब्द एव ऊङि कृते स्त्रियां दीर्घान्त इत्याश्रीयते तदा तस्योङन्तनिमित्त एयण् प्राप्तः। इदं मतं महाभाष्यकारस्य। कैयटस्तु

"Aho Shrutgyanam"

तद्विरुद्धमाह । तस्यायमाशयः—जम्बूशब्दो दीर्घोकारान्त इति तस्मादूङोऽभाव इति । नागेशेन च कैयटमतं व्याख्याय, अन्ये तु 'तस्या जम्बोः फलरसो नदीभूय प्रवर्तते ।' इति प्रयोगाज्जम्बुं ह्रस्वान्तोऽपि । स च वृक्षशृगालोभयवचनः इत्यादिभिर्भाष्यकारमतं समर्थितं "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" [पा० सू० ४.१.११३.] इति सूत्रे उद्द्योते विस्तरेण । सुरभिशब्दाच्चाण् प्राप्त इति सामान्यत एवोक्तमणादीनामपवाद इति ।

उदाहरति—**कमण्डल्वा अपत्यमि**त्यादिना । कमण्डलू—शितिबाहू—मद्रबाहूशब्दास्तत्तज्जातिविशेषान्तर्गतचतुष्पाद्वाचिनः । एवं जम्बूशब्दोऽपि शृगालस्त्रीवाची । शबलाबहुलाशब्दौ तत्तद्रूपादिविशिष्टगोजातीयवर्गविशेषपरौ न तु गुणवचनौ । गौरादौ च गुण-वचनयोरेव तयोः पाठान्न ङीरपि तु आबेवेति **शबला-बहुलेत्येव** । सर्वेभ्योऽपत्यार्थे एयञ् । आदिस्वरवृद्ध्यादौ रूपसिद्धिः । सुरभेरपत्यं **सौरभेयः** शब्दो गोजातिवाचीति चतुष्पाद्वाच्येव । गुणवाचकात् तु न प्रत्ययः ॥६।१।८३॥

गृष्ट्यादेः ॥६।१।८४॥

गृष्ट्यादिभ्योऽपत्ये एयञ्प्रत्ययो भवति। अणादीनामपवादः । गृष्टेरपत्यं गार्ष्टेयः । हृष्टेः हार्ष्टेयः । गृष्टिशब्दो यश्चतुष्पाद्वचनस्ततः पूर्वेणैव सिद्धे अचतुष्पादर्थमुपादानम् ।

गृष्टि हृष्टि हलि वालि विश्रि कुद्रि अजबस्ति मित्रयु इति गृष्ट्यादिः ।

अकारस्य ञित्कार्यार्थित्वान्मैत्रेयः पिता, मैत्रेयः पुत्रः ॥८४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गृष्ट्यादेः । गृष्टिशब्द आदिर्यस्य गणस्य स गृष्ट्यादिस्तस्माद् तदाह-**गृष्ट्यादिभ्य** इति । **अणादीनामपवाद** इति । अजवस्ति-मित्रयुशब्दौ ऋषिवाचकौ ताभ्यामृष्यण् प्राप्तः, अन्येभ्यस्तु "इतोऽनिञः" [६.१.७२.] इत्येयण् प्राप्तः, तौ प्रबाध्य एयञ् भवतीत्यर्थः । यद्यपि एयणेयञोः साक्षाद्रूपेऽविशेषः, तथापि ततः प्रत्ययान्तरोत्पत्तौ ञित्त्वनिबन्धनो रूपे विशेषो भवतीति वक्ष्यत्यग्रे । "गृष्टिः सकृत् प्रसूता गौः" इत्यत्र कोशे गौरित्युपलक्षणम्, गृष्टिशब्दस्य सकृतप्रसूतस्त्रीमात्रे प्रयोगस्योपलब्धेरिह तादृश एव गृष्टिशब्दो ग्राह्य इत्याशयवानाह—**गृष्टिशब्दश्चतुष्पाद्वचन** इत्यादिना । अयमर्थः-यदि गृष्टिशब्दः पूर्वोक्तकोशानुसारं सकृत्प्रसूतगोवाची गृह्येत, तर्हि ततः पूर्वसूत्रेणैवैयञ् सिद्ध इति प्रकृतगणे पाठो व्यर्थः स्यात्, इति चतुष्पाद्भिन्नसकृत्प्रसूतस्त्रीवाचकस्यैवेह ग्रहणमित्याश्रयणीयम् । स्पष्टान्युदाहरणानि । **एयणः सिद्धत्वेन एभ्य एयञ्विधानस्य कोऽर्थ** इति शङ्कायामाह—**अकारस्य ञित्कार्यार्थित्वादि**ति । मित्रयोरपत्यं **मैत्रेयः** इति । तस्मात् पुनर्युवापत्येऽदन्तलक्षणे इञि तस्य "ञिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुकि मैत्रेयस्य पुत्रोऽपि मैत्रेयो भवतीत्येव ञित्करणस्य प्रयोजनमित्यर्थः ॥६।१।८४॥

वाडवेयो वृषे ॥६।१।८५॥

वाडवेय इति वडवाशब्दाद् वृषे एयञ् एयण् वा प्रत्ययो निपात्यते । वृषो यो गर्भे बीजं निषिञ्चति, वडवाया वृषः वाडवेयः । अपत्येऽणेव भवति । वाडवः । निपातनमेयण्-एयञोरुभयोरपि वृषे व्यवस्थापनार्थम् । अन्यथा अन्यतरोऽपत्ये प्रसज्ज्येत ॥८५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वाडवेयो० । निपातनपरं सूत्रम्, वडवाशब्दात् प्रत्ययविधानेऽपि रूपस्य सिद्धया निपातनाश्रयणेन यो विशेषो विवक्षितस्तमाह वृत्त्या **वाडवेय इति वडवाशब्दादि**त्यादिना । वृषशब्दस्य पुंगोवाचकत्वेन रुढस्येह ग्रहणेऽसामञ्जस्यं वडवापत्यस्य वृषत्वायोगात्, गोत्वाश्वत्वयोः परस्परव्यावृत्तत्वादिति वृषशब्दस्य रुढमर्थं विहायेह ग्राह्यं योगार्थमाह-**वृषो यो गर्भे बीजं सिञ्चती**ति । वर्षतीति विग्रह्य वृषूधातोः नाम्युपान्तलक्षणे के वृष इति वर्षणकर्तोच्यते, स चाभिधानसामर्थ्यादिह गर्भाशयाधिकरणकबीजवर्षणकर्ता गृह्यते । तेन चार्थविशेषेण प्रकरणप्राप्तोऽपत्यार्थो विशिष्यते । तथा च वडवाऽपत्यत्वे सति गर्भाधिकरणकबीजवर्षणकर्तृत्वं प्रत्ययार्थो भवति । सामान्यतोऽपत्यार्थे प्रत्ययस्तु नैनमर्थविशेषं बोधयेत् । नियमफलमाह—**अपत्येऽणेव भवती**ति । सामान्येनापत्यार्थमात्रे विवक्षिते आवन्तलक्षण एयण्, चतुष्पाद्लक्षण एयञ् च न भवति, निपातनलभ्यनियम सामर्थ्यात् अपितु "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यणेव भवतीति वडवाया अपत्यं **वाडव** इत्येवेति भावः । ननु 'वडवाया वृषः' इत्येव सूत्रं विधीयतां प्रकरणप्राप्तेनैयञा रूपसिद्धिः स्यादेवेति निपातनाश्रयणं किमर्थमिति चेदत्राह-**निपातनमेयणेयञोरुभयोरपि वृषे व्यवस्थापनार्थमि**ति ।

"Aho Shrutgyanam"

अयमाशयः—यदि वडवाया वृषे इति पठित्वा एयञ् विधीयते तर्हि तस्यैव (एयञ एव) वृषे व्यवस्था स्यात्, आबन्तलक्षण एयण् त्वपत्यसामान्ये स्यादेवेति वाडवेय इति रूपस्य वृषाश्वादन्यत्रापि प्रयोगो दुर्वार इति वाडवेय-शब्दमेव वृषाश्वे व्यवस्थापितवानिति एयणपि तत्रैवार्थे व्यवस्थापित इत्युभयोर्व्यवस्थापनं निपातनं विना न शक्यते कर्तुमिति। यदि चैयण्प्रकरण एवेदं सूत्रं (वडवाया वृषे) इति पठ्येत तदा एयणो व्यवस्थितावपि एयञ् चतुष्पाल्लक्षणोऽव्यवस्थित इत्युभयोर्व्यवस्थार्थमिहैवैतत्सूत्रपाठो युक्त इति हृदयम्। तदेव स्पष्टयति-**अन्यथाऽन्यतरोऽपत्ये प्रसज्येतेति**। एतत् पूर्वमेवोपपादितम् ॥६।१।८५॥

रेवत्यादेरिकण् ॥६।१।८६॥

रेवतीत्येवामादिभ्योऽपत्ये इकण्प्रत्ययो भवति। एयणादीनामपवादः। रैवतिकः। आश्वपालिकः।

रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकवञ्चिन् वृकग्राह दण्डग्राह कुक्कुटाक्ष इति रेवत्यादिः

द्वारपाल्यन्तानामेयणोऽपवादः यद्वा मानुषीनाम तदाणोऽपि। वृकवञ्चिनोऽणः शेषाणामिञ्ः ॥८६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—रेवत्यादे०। रेवत्यादिगणपठितेभ्यः प्रकरणप्राप्त एयञ् विधीयतेऽपत्यार्थे। रेवतीशब्दो नक्षत्रविशेषवाचकः रेवते चन्द्रमसमिति व्युत्पत्तेः तद्युक्तेन चन्द्रेण युक्तः कालोऽपि रेवती। तस्यां जाताऽपि रेवती, "भर्तु-संध्यादेरण्" [६.३.८९.] इत्यणः, "चित्रा-रेवती० [६.३.१८०] इति लुपि, "ङ्यादेर्गौण०" [२.४.९५.] इति ङीनिवृत्तौ पुनः स्त्रियां ङीः। इत्येवमनेकार्थको रेवतीशब्दः। अश्वपाल्यादयस्तु प्रसिद्धार्थका एव। एभ्य इकणि आदिस्वरवृद्धयादौ रैवतिकादिसिद्धिः। अस्यापि तत्तत्प्रत्ययबाधकत्वोक्ता, **एयणादीनामपवाद** इति एयण्-अण्-इञादयो यथास्वं प्राप्ता अनेन बाध्यन्त इति भावः। तत्र विशिष्यबाध्यप्रत्ययं विवेचयति—**द्वारपाल्यन्तामेयणोऽपवाद** इति रेवतीशब्दमारभ्य द्वारपाली शब्दपर्यन्तं ङ्यन्ताः शब्दाः तेभ्यः "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" [६.१.७०.] इत्येयण्प्राप्तोऽनेन बाध्यते। यदि चैते शब्दा मानुषीनामवाचिनस्तदा तेभ्यः "अदोनर्दी-मानुषी०" [६.१.६७.] इत्यण् प्राप्तः सोऽपि बाध्यत इत्याह-**यदि मानुषीनाम तदाऽणोऽपीति**। **वृकवञ्चिनोऽणः** इति। वृकवञ्चिन्शब्दादौत्सर्गिकोऽपत्यार्थोऽण् प्राप्तस्तस्य बाधनमिष्टम्। शेषाश्च वृक-ग्राहदयश्चत्वारोऽदन्तास्तेभ्योऽदन्तलक्षण इञ् प्राप्तः सोऽपि बाध्यते इत्याह-**शेषाणामिञ** इति। तथा चेकणो विशिष्यविधानमिति भावः ॥६।१।८६॥

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ॥६।१।८७॥

वृद्धप्रत्ययान्तात् स्त्रीवाचिनः शब्दादपत्ये णः प्रत्ययो भवति, चकारादिकण् च क्षेपे गम्यमाने। पितुरसंविज्ञाने मात्रा व्यपदेशोऽपत्यस्य क्षेपः। गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गः गार्गिको वा जाल्मः। ग्लुचुकायन्या ग्लौचुकायनो ग्लौचुकायनिको वा जाल्मः। ग्लुचुकायन्याः ग्लौचुकायनः ग्लौचुकायनिको वा जाल्मः। 'वृद्धाद् यूनि' [६.१.३०] इति यूनीमौ प्रत्ययौ। वृद्धग्रहणं किम्? कारिकेयो जाल्मः। स्त्रिया इति किम्? औपगवित्रर्जाल्मः। क्षेप इति किम्? गार्गेयो माणवकः। मातुः संविज्ञानार्थम् इदमुच्यते ॥८७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वृद्ध०। वृद्धशब्दो लक्षणया वृद्धार्थप्रत्ययान्तपरः। स्त्रीशब्दश्च स्त्रीवाचकपरः। चकारेणेकण् समुच्चीयते तथा च योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह वृत्त्या **वृद्धप्रत्ययान्तादित्यादिना**। क्षेपो निन्दा तस्य मूलमाह-**पितुरसंविज्ञाने** इत्यादिना। यस्य पिता न सम्यग् विज्ञायते लोकैः, अनाख्येयसम्बन्धेन जातत्वात् स मातृनाम्ना व्यपदिश्यते, तेनैव स क्षिप्तो (निन्दितो) भवतीत्यर्थः। वृद्धप्रत्ययान्ताद् विधानसामर्थ्याद् युवापत्ये प्रत्ययोऽपमिति लभ्यते "वृद्धाद् यूनि" [६.१.३०.] इति कथनात्। गर्गस्य वृद्धापत्यं स्त्री **गार्गी**ति भवति। इह च गर्गस्य वृद्धापत्यस्य स्त्रिया युवापत्यमिति विग्रहे पूर्वं वृद्धापत्यार्थे "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञि तदन्ताद् णे इकणि च "जातिश्च णि-तद्धित-यस्वरे" [३.२.५१.] इति पुंवत्वेऽवर्णलोपे "तद्धितयस्वरेऽनाऽऽति" [२.४.९२.] इति यलोपे आदिस्वरवृद्धौ गार्गः, गार्गिको वा जाल्म इति सिद्ध्यति। अत्र णे इकणि वा णित्त्वस्य फलं नास्ति यञ् निमित्तायाः एव वृद्धेः सम्भवादित्युदाहरणान्तरमाह—**ग्लुचुकायन्या ग्लौचुकायन** इति। ग्लुचुकस्य वृद्धापत्यमित्यर्थे "अदोरायनिः प्रायः"[६.१.११३.] इत्या-

"Aho Shrutgyanam"

यनिप्रत्यये ग्लुचुकायानिरिति तस्य स्त्रीत्वविवक्षायां जातिलक्षणो ङीः, तस्या युवापत्यत्यमित्यर्थेऽनेन णे इकणि वाऽऽदिस्वरवृद्धौ, पूर्ववत् पुंवत्त्वे, इकारलोपे ग्लौचुकायनः, ग्लौचुकायनिको वा जाल्म इति। अत्रैव वृद्धयर्थमुभयोः प्रत्ययोर्णित्वं चरितार्थम्।

केचित् तु ग्लुचुकस्य युवापत्यं स्त्रीत्यर्थेऽनेन णे ग्लौचुकायनी, सा भार्या यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे, "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुररक्त-विकारे" [३.२.५५.] इति पुंवद्भावः निषेधार्थमपि णित्त्वमाश्रयकमित्याहुः तन्न, अत्र वृद्धप्रत्ययान्तात् प्रत्ययविधानसामर्थ्याद् युवापत्येऽयं प्रत्ययो भवतीति पूर्वमुक्तत्वेन, स्त्रियाश्च "वंश्यज्यायोभ्रात्रोर्जीवति प्रपौत्राद्यस्त्री युवा" [६.१.३.] इति सूत्रेऽस्त्रीति पर्युदासात् युवत्वाभावात् स्त्रियां युवापत्यार्थयोः प्रत्ययोरभावेन ग्लौचुकायनी, ग्लौचुकायनिकीति रूपयोरेवाभावात्। ग्लुचुकस्य वृद्धपत्यस्त्रिया अपत्यमित्यर्थेऽपि पूर्ववद् रूपं विज्ञेयम्। युवापत्यार्थलाभोपायमाह-**वृद्धाद् युनीति वृद्धग्रहणं किमिति** सामान्यतः स्त्रिया अपत्ये क्षेपे प्रत्ययौ विधीयेतामिति प्रश्नः।

उत्तरयति प्रत्युदाहरणेन—**कारिकेयो जाल्म** इति। करोतीति कारिका, सा च न वृद्धसंज्ञाप्रयोजिका, यतस्तस्याः परमप्रकृतित्वं नास्ति। परमप्रकृतेरेव पौत्रादेर्वृद्धसंज्ञा "पौत्रादि वृद्धम्" [६.१.२] इति सूत्रेण प्रतिपादिता। तथा च तस्या युवापत्ययोग एव। अस्तु वा कारकनामकः कश्चित्, तदपत्यं स्त्री न कारिका, किन्तु कारकशब्दाद् वृद्धापत्ये इञ् कार्केति स्यात्, ततश्च कारिकाशब्दो न वृद्धापत्यप्रत्ययान्त इति निश्चितम्। तस्मादपत्यार्थे क्षेपेऽपि आबन्तलक्षण एयणेव, न तु णेकणाविति कारिकेय इति रूपं भवति। वृद्धग्रहणाभावे च कारिकः, कारिकिक इति रूपं स्यात्। पुंवत्त्वं तु न भवति "तद्धिताक्कोपान्त्य०" [३.२.५४.] इति निषेधात् तथा चात्र प्रवृत्तिवारणार्थं प्रकृतसूत्रे वृद्धग्रहणमावश्यकम्।

स्त्रिया इति किमिति। सामान्यत एव वृद्धप्रत्ययान्तात् प्रत्ययौ विधीयेतामिति प्रश्नः। **औपगविर्जाल्म** इति उपगोर्वृद्धापत्यमौपगवः, तस्य युवापत्यमित्यर्थेऽदन्तत्वादिञि औपगविरिति भवति, असति स्त्रीग्रहणे इहापि णेकणौ स्यातामिति भावः। **क्षेप इति किमिति**। अर्थविशेषो निमित्तत्वेन नाश्रयणीय इति प्रश्नः। **गार्गेयो माणवक** इति। गार्ग्या युवापत्यमित्यर्थे ङ्यन्तत्वाद् एयणि गार्गेयो इति रूपं विशुद्धे माणवके भवति। अत्र न क्षेपविवक्षा अपितु कस्य मातेति ज्ञातं स्यादित्येतदर्थमिदं प्रयुज्यते। अत्र क्षेपत्वाभावात् णेकणौ न भवतः, क्षेपग्रहणाभावे च तौ दुर्वारौ स्याताम्। क्षेपाभावमेव स्पष्टयति—मातुः संविज्ञानार्थमिदमुपयुज्यते इति। न च 'माणवक'शब्दस्यैव क्षेपद्योतकत्वमिति कथमत्र क्षेपाभाव इति वाच्यम्, यत्र पितुरसंविज्ञाने मात्रा व्यपदेशः क्रियते, तत्र यः क्षेपो गम्यते स एवेह गृह्यते। अत्र च पितुः संविज्ञातत्वेऽपि तस्य बहुपत्नीकत्वेन कस्या अयमिति विज्ञानार्थमिदमुच्यते इति नास्ति क्षेपः इति प्रत्युदाहरणसंभवात्। शब्दकौस्तुभे तु मातामहादेर्दौहित्रं लालयतः प्रयोगोऽयमिति नास्ति कुत्सेत्युक्तम्। तस्यायमाशयः— मातृकुले वर्तमानस्य बालस्यात्मानं मातामहादिभिः स्वकन्यापरितोषाय स्वसंबन्धख्यापनाय च मातृनाम्ना व्यपदिश्य क्रियत इति न तत्र कुत्सा, अपि तु लालनमेवेति भवति प्रत्युदाहरणमिति ॥६।१।८७॥

भ्रातुर्व्यः ॥६।१।८८॥

भ्रातृशब्दादपत्ये व्यः प्रत्ययो भवति। भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः। शत्रुरपि भ्रातृव्य उच्यते स उपचारात्। एकद्रव्याभिलाषश्चोपचारनिमित्तम् ॥८८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-भ्रातुर्व्यः। स्पष्टार्था वृत्तिः उदाहरणं च। अन्यैर्व्याकरणैः भ्रातृव्यशब्दस्य शत्रौ प्रयोगार्थम् "व्यसपत्ने [पा०सू० ४.१.१४५.] इत्येवं सूत्रमारभ्यते। तमर्थं लक्षणया साधयितुमाह-**शत्रुरपि भ्रातृव्य उच्यते स उपचारादिति** अयमाशयः— यद्यपि भ्रातृव्यशब्दस्य यौगिकस्य न शत्रौ वृत्तिरस्ति, तथापि लक्षणया शत्रुरपि भ्रातृव्यशब्देनोच्यते तथा च तत्रार्थे तस्य गौणी वृत्तिः। पाप्मना भ्रातृव्येणेत्यादौ परेषामपि लक्षणायाः सम्मतत्वात् तथैव निर्वाहे तदर्थं वचनं नारम्भणीयम्। परेषां मते स्वरे भेदाय व्य-व्यन्प्रत्ययोर्विधानमिति युक्तिसम्भवेऽपि स्वमते स्वरस्य विचाराभावेन पृथक्प्रत्ययविधानं नावश्यकम्। ननु भ्रातुरपत्यवाचकस्य भ्रातृव्यशब्दस्य शत्रुशब्दार्थेन शक्येन सम्बन्धाभावात् कथं लक्षणा? उक्तं हि 'लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः" इति (कारिकावली ८२)। अस्या अयमर्थः—तात्पर्यस्य वक्तुरभिप्रायानुसारिणोऽर्थस्य शक्यार्थेनानुपपत्तिहेतुका शक्यसंबन्धरूपा लक्षणा भवति। तथा च लक्षणार्थं शक्यार्थेन सम्बन्ध आवश्यक इति चेत्

"Aho Shrutgyanam"

तत् सत्यम्, अस्त्येवात्रापि सादृश्यरुपः सम्बन्ध इत्याह—**एकद्रव्याभिलाषश्चोपचार निमित्तमिति** ।

अयं भावः, उपकर्तृत्वं मित्रत्वम्, अपकर्तृत्वं शत्रुत्वमिति माघेन स्पष्टमुपपादितं शिशुपालवधे द्वितीयसर्गे—"उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः" इति, तथा च भ्रातृपुत्रोऽवश्यं धनविभाजकत्वेन धनापहाररूपापकारकारी शत्रुलक्षणयुग् इति भवति तस्य शत्रुणा सादृश्यम्—इति तद्वाचकशब्देन शत्रुरपि लक्ष्यते । शब्दार्थस्तु—एकस्य समानस्य द्रव्यस्याभिलाषो जिघृक्षा, उपचारस्य लक्षणाया निमित्तं हेतुः । उभयोः सादृश्यरूपशक्यसम्बन्धसम्पादनद्वारा कारणमिति । यदेव पैतृकं धनमयमिच्छति तदेव स्वपितामहं धनमिति मन्यमानो भ्रातृव्योऽपि जिघृक्षति । शत्रुत्वमपि समानवस्तुप्रेप्सानिमित्तमेव भवतीति प्रसिद्धमिति सादृश्यसम्बन्धमूलिका लक्षणेहेति तत्त्वम् ॥६।१।८८॥

ईयः स्वसुश्च ॥६।१।८९॥

भ्रातृशब्दात् स्वसृशब्दाच्चापत्ये ईयः प्रत्ययो भवति । भ्रात्रीयः । स्वस्रीयः ॥८९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—ईयः । अत्र चकारेण भ्रातुरिति पूर्वसूत्रादनुकृष्यते, तथा च तस्य पूर्वतः प्राप्तत्वात् तमेव पूर्वमुल्लिखति भ्रातृशब्दादिति । भ्रातुरपत्यमित्यर्थे ईयप्रत्यय ऋकारस्य रादेशे **भ्रात्रीय** इति । एवं स्वसुरपत्यमित्यर्थे ईयप्रत्यये **स्वस्रीय** इति॥६।१।८१॥

मातृ-पित्रादेर्डेयणीयणौ ॥६।१।९०॥

मातृ-पितृशब्दावादी अवयवौ यस्य स्वसुः स्वस्रन्तस्य तस्माद मातृष्वसृशब्दात् पितृष्वसृशब्दाच्चापत्ये डेयण् ईयण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। वचनभेदान्न यथासंख्यम् । मातृष्वसेयः। मातृष्वस्रीयः । पैतृष्वसेयः । पैतृष्वस्रीयः । डित्त्वाद् डेयणि अन्त्यस्वरादिलोपः । मातृ-पित्रादेः स्वस्रन्तस्य ग्रहणादिह न भवति । परममातृष्वसुरपत्यम् । परमपितृष्वसुरपत्यम् । मातृ-पितृशब्दयोर्ऋकारान्तयोर्निर्देशाद् इह न भवति । मातुःस्वस्रः । पैतुःस्वस्रः । मातुःष्वस्रः । पैतुःष्वस्रः अत्र 'अलुपि वा' [२.३.१९] इति विकल्पेन षत्वम् ॥९०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम् । मातृ० । माता च पिता च मातृपितरौ तौ शब्दावादी यस्येति बहुव्रीहिः । स्वस्रुरिति पूर्वतोऽनुसृतं विशेष्यम् । तथा च सूत्रार्थमाह—**मातृ-पितृशब्दावित्यादिना** । यद्यप्येतौ शब्दौ योनिसम्बन्धवाचिनाविति तयोर्द्वन्द्वे "आ द्वन्द्वे" [३.२.३९.] इति प्राप्नोति, तथापीह तस्य न प्रवृत्तिः, यतो मातृ-पितृशब्दयोः स्वरूपपरत्वेन स्वार्थबोधकत्वाभावाद् योनिसम्बन्धवाचित्वापगमः । मातृपितृशब्दावयवकः स्वसृशब्दान्तश्च समुदाय इह प्रकृतिरिति पर्यवसितं प्रकृतिस्वरूपमाह—**मातृ-स्वसृशब्दात् पितृ-स्वसृशब्दाच्चेति** । यद्यपि पूर्वसूत्रे भ्रातृशब्दोऽपि चानुकृष्ट इतीह तस्य मातृ-पितृशब्दादेर्ग्रहणं प्राप्नोतीति शङ्कितुं शक्यते तथापि * चानुकृष्टं नोत्तरत्रानुवर्तते * इति न्यायाश्रयणान्न तत्सम्बन्ध इति विज्ञेयम् । अत्र पर्यवसितस्य प्रकृतिस्वरुपस्य द्वित्वम्, प्रत्ययस्यापि द्वित्वमिति संख्यासाम्याद् यथासंख्येन प्रवृत्तौ मातृष्वसुर्डेयण् पितृष्वसुश्च ईयण् इति प्राप्नोति तथापि उभाभ्यामेवोभौ प्रत्ययौ भवत इति साधयति—**वचनभेदान्न यथासंख्यमिति** । संख्या हि सूत्रनिर्दिष्टा यथासंख्यप्रवृत्तौ बीजम्-न वास्तविकी । सूत्रे च प्रकृतिरेकत्वेन विवक्षिता, प्रत्ययश्च द्वित्वेन विवक्षित इति प्रकृति-प्रत्यययोः संख्याभेदान्न यथासंख्येनान्वय इति भावः । मातुः स्वसा मातृष्वसा, षष्ठीसमासे "स्वसृपत्योर्वा" [३.२.३८.] इति वाऽलुपि विभक्तिलोपे मातृष्वसेति । तस्या अपत्यमित्यर्थे डेयणि डित्त्वादन्त्यस्वरादिलोपे **मातृष्वसेय** इति । ईयणि ऋकारस्य रेफादेशे **मातृष्वस्रीय** इति । एवं **पितृष्वसेयः पितृष्वस्रीय** इत्यत्रापि विज्ञेयम् । अत्र मातृ-पितृशब्दरुपावयवकस्य स्वसृशब्दान्तस्य समुदायस्य प्रकृतित्वेनाश्रयणमिति तद्भिन्नसमुदायस्य मातृ-पितृपरस्वसृशब्दान्तस्य ग्रहणं न भवति-इत्येतत् स्पष्टयति—**मातृ-पित्रादेः स्वतन्त्रस्य ग्रहणादिति** ।

अयमाशयः— मातृ-पितृर्डेयणीयणौ एवं सूत्रपाठेऽपि मातृ-पितृपरस्वस्रन्तसमुदायस्य बोधे सिद्धे आदिग्रहणेन यस्मात् पूर्वो नास्ति तादृशस्यैव मातृशब्दस्य च ग्रहणात्—मातृशब्दान्तात् परस्य पितृशब्दान्तात् परस्य स्वसृशब्दस्य ग्रहणान्न भवति, तत्र तयोः शब्दयोशदित्वाभावात् । तथा च तत्र परममातृष्वसुरपत्यमिति वाक्यमेव तिष्ठति । अणादिप्रत्ययो वा यथाप्राप्तं स्यात् विभक्तयलोपेऽपि न प्रवृत्तिरस्य सूत्रस्येत्याह—**मातृ-पितृशब्दयोः ऋकारान्तयोरि**त्यादि । मातृ-पितृशब्दयोः स्वरूपपरत्वेन तादृशस्वरूपात् परस्यैव स्वसृशब्दस्य ग्रहणमिति विभक्त्यं-

"Aho Shrutgyanam"

लुपि ऋकारान्तत्वाभावात् तादृशसमुदायान्न भवति प्रत्ययोत्पत्तिरिति भावः । तथा च तत्र औत्सर्गिकोऽणेवेति तथोदाहरति–**मातुःस्वस्र** इत्यादि । अत्र षत्वस्य वैकल्पिकत्वं दर्शयति, **अत्र "अलुपि वा" [२.३.१९.] इति विकल्पेन षत्वमिति** ॥६।१।९०॥

श्वशुराद् यः ॥६।१।९१॥

श्वशुरशब्दादपत्ये यः प्रत्ययो भवति । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । 'संबन्धिनां संबन्धे' [७.४.१२१] इतीह न भवति । श्वशुरो नाम कश्चित् तस्यापत्यं श्वाशुरिः ॥९१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–श्वशुराद्यः । पत्न्याः पिता पत्युः श्वशुरः, पत्युः पिता पत्न्याः श्वशुरः इत्येवं वैधसंबन्धवाचकः श्वशुरशब्दः । तस्मादपत्येऽर्थे यप्रत्ययविधानमिति **श्वशुर्य** श्यालो देवरादिर्वा । यदि कश्चित् श्वशुरनाम्ना ख्यातस्तर्हि तस्मादपत्येऽर्थेऽयं प्रत्ययः स्यान्नवेति विचिकित्सायामाह—**सम्बन्धिनां सम्बन्धे** इत्यादि । "सम्बन्धिनां संबन्धे" [७-४-१२१.] इति परिभाषासूत्रेण सम्बन्धप्रवृत्ति-निमित्तानां शब्दानां तस्मिन् सम्बन्धे विवक्षिते सत्येव शास्त्रोक्तं कार्यं भवतीति तदर्थः । तथा च व्यक्तिविशेषवाचकः श्वशुरशब्दो न पूर्वोक्तसम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तक इति न तस्येह ग्रहणमिति तस्मादपत्येऽर्थेऽदन्तत्वनिमित्तक इत्येव भवति । हरि ।ऽपि—

'अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः ।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्य उक्तेषु न तदुक्तिषु ॥

इत्येवंवदताऽयमर्थः प्रतिपादितः । अस्यार्थः—येऽभिव्यक्तपदार्थाः— अभितो व्यक्तः प्रसिद्धः पदार्थोऽभिधेयार्थो येषां तादृशाः शब्दाः अनादिपरम्परागृहीतार्थबोधकाः, न तु संप्रति परिभाषिताः; तेषु शब्देषु शास्त्रार्थः शास्त्रप्रवृत्तिरूपं प्रयोजनं कर्तव्यः, कथंभूतेषु तेषु—उक्तेषु सत्सु–शास्त्रेण प्रतिपदमुच्चारितेषु सत्सु, किन्तु तदुक्तिषु तेषामुक्तिरुच्चारणं तद्वदुक्तिरुच्चारणं येषां तेषु तत्सादृश्येनोच्चारितेषु अन्येषु न (शास्त्रार्थः) कर्तव्य इति । तथा च संबन्धवाचकत्वेन लोके ख्यातस्य श्वशुरशब्दस्यैवात्र प्रकृतिता, न तु तद्वदुच्चारितस्य व्यक्तिविशेषवाचकस्येति सर्वमनवद्यम् ॥६।१।९१॥

जातौ राज्ञः ॥६।१।९२॥

राजन्शब्दादपत्ये जातौ गम्यमानायां यः प्रत्ययो भवति । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियजातिश्चेत् । जातावितिं किम ? राजनोऽन्यः ॥९२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—जातौ० । जातौ गम्यमानायामिति । प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन जातिश्चेद् गम्येतेति भावः । यद्यपि जातेर्नित्यत्वस्वीकारेण सा न जन्य-जनकभावसंबन्धमूलकप्रत्ययान्तेनाभिधातुं शक्यते, तथापि स्वभावत एव जातिविशेषवाचकः शब्दः एवं व्यापारेण व्युत्पाद्यते इति बोध्यम् । राज्ञोऽपत्यमित्यर्थे राजन्शब्दाद् ये "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे प्राप्ते "अनोऽञ्ये ये" [७.४.५१.] इति निषेधे राजन्य इति । अव्युत्पन्नत्वे च यकारस्य आपत्यत्वाभावेन राजन्यानां समूह इत्यर्थे "गोत्रोक्षवत्सोष्ट्र०" [६.२.१२.] इत्यकञि यकारस्य "तद्धितयस्वरे०" [२.४.९२.] इति प्राप्तलोपस्य "न राजन्य-मनुष्ययोरेके" [२.४.९४.] इति निषेधः कथं संगच्छेत । राजन्यशब्दस्य व्युत्पन्नत्वे सत्येव यकारस्य आपत्यत्वेन लोपप्राप्तेः। **जातावितिं किमिति** । राजा प्रायः क्षत्रिय एवेति तस्मादपत्यार्थे प्रत्ययेन क्षत्रियजातिरेवोच्येतेति जातावितिं व्यर्थमिति प्रश्नः । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति–**राजानोऽन्ये** इति, राज्ञोऽपत्यं वैश्यादिश्चेत् तत्रापत्यार्थेऽणेव भवति, अणि सति प्राप्तस्यान्त्यस्वरादिलोपस्य "अणि" [७.४.५२.] इति निषेधात् इति **राजन** सिद्ध्यति । अनुलोमसङ्कराणां मातृजातित्वम् , इति स्मृतिसिद्धान्तेन राज्ञो वैश्यादिस्त्रियामुत्पन्नो 'राजन' इत्येवाख्यायते, तत्र च राजापत्यत्वमात्रप्रतीतिर्न जातिराख्याति, तस्य वैश्यादिजातित्वस्यैव सम्भवात् । अत्रापि यप्रत्ययापत्तिं सोऽपि **राजन्य** इत्याख्यायेतेति जातावित्यावश्यकमिति ॥६।१।९२॥

क्षत्रादियः ॥६।१।९३॥

क्षत्रशब्दादपत्ये इयः प्रत्ययो भवति, जातौ गम्यमानायाम् । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः जातिश्चेत् । क्षात्रिरन्यः ॥९३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम् । क्षत्रा० । अत्रापि जातावित्यनुवर्तत एवेत्याह–**जातौ गम्यमानायामिति ।** क्षतात् त्रायत इति क्षत्रः, बाहूद्भवजातिविशेषविशिष्टः, तदपत्यं तज्जातीय एव चेत्–तदर्थे इयप्रत्ययो भवति—क्षत्रिय इति । तदपत्यस्यानुलोमसङ्करजातस्य विवक्षायां तु तज्जातेरभावादियाभावोऽदन्तत्वलक्षण इत्येव भवतीत्याह—

"Aho Shrutgyanam"

क्षात्रिरन्य इति ॥६।१।९३॥

मनोर्याणौ षश्चान्तः ॥६।१।९४॥

मनुशब्दादपत्ये य अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतस्तत्संनियोगे च मनुशब्दस्य षकारोऽन्तो भवति जातौ गम्यमानायाम्। मनोरपत्यानि मनुष्याः, मानुषाः। मानुषी। जाताविति किम्? मानवः। मानवाः। मानवीः प्रजाः पश्य। अत्र हि मनोरपत्यमित्येतावानेवार्थो विवक्षितो न जातिस्तेन षोऽन्तो न भवति। वृद्धापत्यविवक्षायां तु लोहितादिपाठाद् यञेव। मानव्यः। मानव्यौ। मनवः। मानव्यायनी। मनुष्यमानुषशब्दाभ्यां सत्यसति चापत्येऽर्थेऽनभिधानादपत्ये पुनरन्यः प्रत्ययो न भवति ॥९४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्— मनो०। अत्र मनोरिति तन्त्रेण निर्देशः। अनेकार्थबोधनेच्छया सकृदुच्चारणं तन्त्रम्। तच्चात्र संपूर्णपदस्यैव न तु विभक्तिमात्रस्य केवलाया विभक्तेरर्थप्रत्यायकत्वाभावात्। तथा चैकं मनोरिति पदं प्रत्ययविधिविषयं पञ्चम्यन्तपरम्, एकं च षागमविषयं षष्ठ्यन्तमिति तथा च यः सूत्रार्थः सम्पन्नस्तमाह—वृत्त्या मनुशब्दादपत्ये इत्यादिना। अपत्याधिकारादपत्ये प्रत्ययः सामान्यत एव लब्धः प्रकृते षकारान्तनिपातनेन सह प्रकृति-प्रत्ययभागस्य जातौ प्रयोगो नियम्यते। तथा च जातौ वाच्यायां षकारान्तप्रकृति-प्रत्ययययोर्नियमो न तु सम्बन्धमात्रविवक्षायामपि। अत एव मनोरपत्यमात्रविवक्षाया औत्सर्गिकेऽणि मानव इत्येवेति वक्ष्यति। **मनोरपत्यानी**ति बहुवचनेन निर्देशः सकलमनुष्यजातिपरिग्रहार्थः। याणोः सतोः प्रकृतेः षान्तत्वे मनुष्याः, मानुषा इति। स्त्रियामणन्तत्वाद् ङ्यां मानुषीति। जातावित्येव-अपत्यमात्रे प्रयोगो मा भूदित्येतदर्थं जातेर्वाच्यत्वनियम इत्युपपादितं पूर्वम्। तथा चापत्यमात्रविवक्षायामौत्सर्गिकेऽणि "अस्वयंभुवोऽञ्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे आदिस्वरवृद्धौ मानव इति। मानवाः इति बहुवचनान्तोदाहरणेन बहुत्वेऽपि न जातेर्भानमिति स्फोरयति। स्त्रियां तु अणन्तत्वलक्षणङ्यां मानवीति। मानवीः प्रजाः पश्येत्यादौ अपि न जातिविशेषस्य भानमपि तु मनुसम्बन्धमात्रभानमिति तात्पर्यम्। तदेव स्वयं स्पष्टयति— **अत्र हि मनोरपत्यमित्येतावानर्थ** इत्यादिना। तथा च षान्तत्वे सत्येव जातिभानं नान्यथा। जाताविति स्यात्भावे तु अपत्यमात्रविवक्षायामपि षान्तत्वं दुर्वारं स्यादिति भावः। **वृद्धापत्यविवक्षायां** तु इति। सामान्यतोऽपत्यमात्रविवक्षायामौत्सर्गिकोऽण्, वृद्धापत्यविवक्षायां तु मनुशब्दस्य लोहितादिगणे पाठसामर्थ्यात् "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञेव, लोहितादेर्गर्गाद्यन्तर्गणत्वात्। यञि सति आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽञ्" [७.४.७०] इत्यवादेशे मनोरपत्यं वृद्धं मानव्य इति। बहुत्वे तु "यञञोऽश्यार्षे०" [६.१.१२६.] इति यञो लुपि मनव इति। प्रकरणवशाद् विशेषमाह—**मनुष्य-मानुषशब्दाभ्यामि**त्यादि।

अयमर्थः— मनुष्य-मानुषशब्दौ तद्धितावुणादी च। तत्र तद्धितवदुणादी अपि जातिपरत्वे एव प्रयुज्येते। जातेश्चापत्यत्वादिसंबन्धेन योगोऽनभिहितः एव। जन्यजनकभावादयो हि सम्बन्धा व्यक्तीनां भवन्ति न जातेरिति। किञ्च, तद्धितान्तयोस्तयोस्तु "आद्यात्" [६.१.२९.] इति नियमेन पत्ययान्तरयोगासंभवोऽपि। एवं च सर्वोऽपि तज्जातिः मनुष्य-मानुषशब्दाभ्यामेवोच्यते न तु तदपत्यान्तरविवक्षायां प्रत्ययान्तरं भवतीति भावः ॥६।१।९४॥

माणवः कुत्सायाम् ॥६।१।९५॥

माणव इति मनुशब्दस्यौत्सर्गिकेऽण्प्रत्यये कुत्सायां गम्यमानायां नकारस्य णकारादेशो निपात्यते। मनोरपत्यं कुत्सितं मूढं माणवः॥९५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—माणवः०। अत्र प्रत्ययस्यौत्सर्गिक एव लाभो णत्वविशिष्टस्य कुत्सायां प्रयोगनियमार्थं सूत्रम्। तदेतदाह—**मानव इत्ति मनुशब्दस्ये**त्यादिना। तथा 'मानव' इति प्रसिद्धे प्रयोगे कुत्साविवक्षायां णत्वमात्रनिपातनं प्रकृतसूत्रविषय इत्याशयः। **कुत्सितं मूढमि**ति। कुत्सामात्रस्य प्रकृतसूत्रानुसारं लाभेऽपि मूढत्वस्य ग्रन्थान्तरसंवादाल्लाभः। तथाहि— पातञ्जले महाभाष्ये "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" [पा० सू० ४.१.१६१.] इति सूत्रे—

> "अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
> नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः॥"

इत्युक्तम्। अत्र कैयटः णत्वविधानार्थमिदम्, अणः सिद्धत्वात्। अनधीतविद्यत्वान्मूढत्वं विहिताकरणाच्च कुत्सितत्वमित्याह। न्यासकारस्तु काशिकास्थस्यास्यैव श्लो-

"Aho Shrutgyanam"

कस्य व्याख्यायाम्— 'स चापि मूर्धन्यो (णकारो) विशिष्ट एव विषये मूढादावपत्ये भवति, न सर्वत्र । अनधीतवेदत्वादशो मूढः । मूढत्वादेव प्रतिषिद्धाचरणत्वाद् वा कुत्सितो यः स ब्राह्मणजातीय उच्यते इत्याह । एवं चाशेऽनधीतवेदे आचारहीने च ब्राह्मणापत्ये एव माणवशब्दः प्रयुज्यते इति लभ्यते । कप्रत्ययविशिष्ट एव (माणवक इति) बाहुल्येन प्रयुज्यते ॥६।१।९५॥

कुलादीनः ॥६।१।९६॥

कुलशब्दान्तात् केवलाच्च कुलशब्दादपत्ये ईनः प्रत्ययो भवति । कुलस्यापत्यं कुलीनः । ईषदपरिसमाप्तं कुलं बहुकुलम्, तस्यापत्यं बहुकुलीनः । क्षत्रियकुलीनः । एषु अत इञः अदोरायनेञ्चापवादः । आढ्यकुलीनः । राजकुलीनः । अत्र 'अवृद्धाद् दोर्नवा' [६.१.११०.] इत्यायनिञोऽत इञश्च । उत्तरसूत्रे समासे प्रतिषेधादिह कुलान्तः केवलश्च गृह्यते ॥९६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कुला० । कुलशब्दान्तादिति । यद्यपि * ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिरिति * न्यायेन सूत्रे गृहीतेन कुलशब्देन तदन्तविधेरभावे कुलान्ते प्रवृत्तिर्न स्यात् तथापीह भवति तदन्ताद् विधानम्, तच्च यथा तदग्रे वक्ष्यति स्वयमेव ग्रन्थकृत् । **कुलस्यापत्यम्** इति । यद्यपि सर्वोऽपि कुलस्यापत्यं भवतीति कस्यापि व्यावर्तकत्वाभावात् कुलीन इति प्रयोगस्यानावश्यकत्वमिति प्रतिभाति, तथापि कुलीनशब्देन स्वभावत एव प्रशस्तकुलप्रसूतिरवगम्यत इति शब्दसामर्थ्यलभ्यार्थमादाय भवति प्रकृतप्रयोगस्यावश्यकत्वम् । तदन्तसमुदाहरति-ईषदपरिसमाप्तं कुलमित्यादिना । यत् कुलं न बहुगौरवापन्नमपि तु किञ्चिद्गौरवहीनं तदीषदपरिसमाप्तमुच्यते । तथा च तत्रोत्पन्नो बहुकुलीन उच्यते, कुलशब्दाद् "नाम्नः प्राग्बहुर्वा" [७.३.१२] इति प्राग्बहुप्रत्यये बहुकुलमिति । एवं क्षत्रियकुलस्यापत्यं क्षत्रियकुलीन इति । एषु अदन्तत्वलक्षण इञ्, "अदोरायनिः" [६.१.११३.] इति वा प्राप्तः, तं प्रबाध्य ईनो भवतीत्याह—**एषु अत इञः अदोरायनेञ्चापवाद** इति । आढ्यकुलीन इति आढ्यं कुलमाढ्यकुलम्, तस्यापत्यम्, राज्ञां कुलं राजकुलं तस्यापत्यमिति विग्रहे कुलान्तत्वादीनः । अत्र कः प्रत्ययः पूर्वं प्राप्त इत्याह—**अत्रावृद्धाद् दोर्नवेत्यादिना** । स्पष्टम् । कुलान्तस्य ग्रहणं साधयति—**उत्तरसूत्रे समासे प्रतिषेधादित्यादिना** ।

अयमाशयः "यैयकञावसमासे वा" [६.१.९७.] इत्युत्तरसूत्रे समासे वर्तमानात् कुलशब्दात् प्रत्ययः प्रतिषिध्यते, स च केनापि सूत्रेण न प्राप्तः । इदं च सूत्रं कुलशब्दादेव प्रत्ययविधायकम्, न कुलान्तात् । अत एव च सूत्रादग्रिमसूत्रेऽपि कुलादित्येव संबध्यते, तत्रापि च * ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः * इति न्यायः तदन्तग्रहणप्रतिषेधाय जागर्त्येवेति समासे प्रत्ययाप्राप्तेरसमासे इति कथनं तत्र न युज्यते । स निषेधः स्वसार्थक्यमलभमानो ज्ञापयति, भवति पूर्वत्र तदन्तविधिरिति । सति च पूर्वत्र तदन्तविधौ बहुकुलादिभ्य इव आढ्यकुलादिभ्योऽपि यैकञौ स्यातामिति तत्प्रतिषेधायासमासे इत्यावश्यकं स्वांशे चरितार्थं च । एवं च कुलान्तादितीह यदुक्तं तत् सिद्धम् । यदि च कुलान्तादेव प्रत्ययविधानमिष्टं स्यात् तदा 'कुलान्तादीनः' इत्येव सूत्रयेदाचार्यः किमिति ज्ञापकेन तदन्तग्रहणलाभाय प्रयस्येत । कुलादिति कथनेन च केवलादपि प्रत्ययविधानमिष्टमिति लभ्यते इत्युभयं वृत्तौ प्रतिपादितम् । तथा चोभयथोदाहृतम्-कुलीनः, आढ्यकुलीन इति च ॥६।१।९६॥

यैयकञासमासे वा ॥६।१।९७॥

कुलशब्दान्तात् केवलाच्च कुलशब्दादपत्ये य एयकञ् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, ताभ्यां मुक्ते ईनश्च न चेत् कुलशब्दः समासे वर्तते । कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः । बहुकुल्यः, बाहुकुलेयकः, बहुकुलीनः । असमास इति किम्? आढ्यकुलीनः ॥९७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—यैयकञा० । पूर्वसूत्रात् कुलादित्यनुवर्तते तत्र च प्रकृतसूत्रस्थासमासग्रहणेन तदन्तविधिर्विज्ञायते इत्युपपादितमेव । एवं च प्रकृतसूत्रेणापि तदन्तादपि प्रत्ययौ भविष्यतः—अर्थाधिकाराश्रयणात् । अर्थाधिकारे हि पूर्वसूत्रादपेक्षितोऽर्थोऽनुवर्तते इति पूर्वदर्थद्वयलाभः कुलान्तात् केवलाच्च कुलशब्दादिति । शब्दाधिकारे च पूर्वसूत्रादपेक्षितः शब्द एवानुवर्त्यते प्रकृते लक्ष्यानुसारं तस्य व्याख्या विधीयते, तथा च गौरवं भवतीत्यर्थाधिकार एव सति संभवे समाश्रीयते । ताभ्यां मुक्ते ईनश्चेति । वाग्रहणाद् यैयकञोर-

"Aho Shrutgyanam"

भावे पूर्वसूत्रेण विहित ईनोऽपि भवति, स च यद्यपि पूर्वसूत्रेणैव विधेय इति न प्रकृतसूत्रवृत्तौ चर्चनीयस्तथापि वस्तुस्थितिनिर्देशमात्रमिति विज्ञेयम् । यदि च यामावे एयकञ्-तदभावे च य इति विकल्पः सावकाश इतीनो न भविष्यतीति शङ्क्यते, तर्हि वाग्रहणं विफलं स्यात् । तदभावेऽपि विधानसामर्थ्यादेव पर्यायेण तौ स्यातामेवेति वाग्रहणस्य वैफल्यं स्पष्टमेव । तथा च समासादन्यत्र कुलान्तस्य कुलशब्दस्य च नैरुप्यं सिद्धयति । तदाह— **कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः, बहुकुल्यः, बाहुकुलेयकः, बहुकुलीन** इति । समासे तु एकमेव आद्यकुलीन इति । असमासग्रहणाभावेऽत्रापि नैरुप्यं स्यादिति भावः ॥६।१।९७॥

दुष्कुलादेयण् वा ॥६।१।९८॥

दुष्कुलशब्दादपत्ये एयण्प्रत्ययो वा भवति । दौष्कुलेयः । दुष्कुलीनः ॥९८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्— दुष्कुला० । स्पष्टं सूत्रम् । दुष्कुलस्यापत्यमित्यर्थे एयणि आदिस्वरवृद्धौ च **दौष्कुलेय** इति । विकल्पाच्च पक्षे कुलादीन इतीने **दुष्कुलीन** इति ॥६।१।९८॥

महाकुलाद् वाञ्ञीनञौ । ६।१।९९॥

महाकुलशब्दादपत्ये अञ् ईनञ् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः, ताभ्यां मुक्ते ईनञ्च । महाकुलः, माहाकुलीन, महाकुलीनः । महेत्याकारनिर्देशाद् महतां कुलं महत्कुलम्, तस्यापत्यं महत्कुलीनः इति ईन एव भवति ॥९९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-महा० । स्पष्टार्था वृत्तिः । महाकुलस्यापत्यमित्यर्थे अञि आदिस्वरवृद्धौ **माहाकुल** इति, ईनञि **माहाकुलीन** इति पक्षे कुलादितीने **महाकुलीन** इति । महत् कुलं महाकुलमिति भवति, तथा च महच्छब्दस्येह प्रकृतित्वमिति मन्यमानेन यदि शङ्क्येत-महतां कुल महत्कुलान्तस्यापत्यमित्यर्थेऽप्यस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः स्यादिति तत्र समाधानमाह—**महेत्याकारनिर्देशादिति** । अयमाशयः, सर्वथा महच्छब्दस्येह ग्रहणमिष्टं स्यात् तर्हि महतः कुलादिति सूत्रयेत्, महत् शब्दात् पो यः कुलशब्दस्तदन्तादिति चार्थं वर्णयेत्, तथा न कृत्वा महेत्याकारनिर्देशपूर्वकं सूत्रमाह-तेन विज्ञायते यस्य महच्छब्दस्य डादेशो भवति, तत्पूर्वस्यैव कुलशब्दस्येह ग्रहणमिति, षष्ठीसमासे डादेशस्याप्राप्त्या न तस्य ग्रहणमिति ततः "कुलादीनः" [६.१.९६.] इतीन एव भवतीत्यर्थः ॥६।१।९९॥

कुर्वादेर्ण्यः ॥६।१।१००॥

कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ण्यः प्रत्ययो भवति । कौरव्यः । अक्षत्रियवचनस्येह कुरोर्ग्रहणम् । क्षत्रियवचनात् तु 'दुनादिकुर्वित्कोशलाजादाञ्ञ्यः' [६.१.११८.] इत्यनेन ञ्यः । अयं चानयोर्विशेषः । तस्य त्रिसंज्ञत्वाद् बहुषु लुप् । कुरवः । अस्य तु त्रिसंज्ञाया अभावात् कौरव्याः, ततो यूनि तिकादिपाठादायनिञ् । कौरव्यायणिः । अस्माच्चात इञ् । तस्य 'ञिदार्षादणिञोः' [६.१.१४०.] इति लुप् । कौरव्यः । कुरुशब्दश्च तिकादिष्वपि पठ्यते । कौरवायणिः । उत्सादि यञ् तु ञ्यायनिञ्भ्यां बाधितः कुरुशब्दादपत्ये न भवति । शङ्कु, शाङ्कव्यः । बहुषु शाङ्कव्याः । स्त्री शाङ्कव्या । लोहितादौ पाठात् पौत्रादौ यञि शाङ्कव्यः । बहुषु लुप् शङ्कवः स्त्री शाङ्कव्यायनी ।

कुरु शङ्कु शकन्धु शाकम्भ पथिकारिन् मतिमत् पितृमत् पितृमन्तु वाच इन्द्र हृदिक शलाका कालाका एरका पदका खदाका केशिनी मति कपि हन्ति पिण्डी पेन्द्रजाली धातुजि वैराजकि दामोऽणीपि गाणकरि कैशोरि कापिञ्जलादि गर्गर हनू मञ्जुष अधिमारक अजमारक चफदक कुट कुटल मुर अभ्र सूर्पणाय श्यावनाय श्यावरथ श्याप्रथ श्यालम्थ श्यापत्र श्यापुत्र सत्यङ्कार वलभीकार कर्णकार पथिकार वृहतीकार वान्तवृक्ष आर्द्रवृक्ष मृद शाक इन रथकार नापित तक्षन् शुभ्र इति कुर्वादिः ।

अत्र हन्त्र-तानां सामान्याणो हृदिकस्य तु वृष्ण्यणोऽपवादो ञ्यः । शलाकादीनां केशिन्यन्तानामेयणः । मानुषीनामत्वेऽणोऽपि । केशिनीशब्दस्य स्त्रीलिङ्गपाठादेव पुंवद्भावो न भवति । कैशिन्यः । पुंलिङ्गनिवृत्त्यर्थस्तु स पाठो न भवति । 'गाथिविदथिकेशिपणिगणिनः' [७.४.९४.] इत्यपत्येऽण्यन्त्यस्वरादेर्लुक्प्रतिषेधात् । केशिनशब्दादि ञ्यविधाने-

"Aho Shrutgyanam"

ऽण् न संभवत्येव। मति-कवि-हन्ति-पिण्डीनामेयणः। चेन्द्रजाल्यादीनां कापिञ्जलाद्यन्तानामायनणः। गर्गरादीनामिञः। तक्षनशब्दस्य शिवाद्यणा समावेशार्थः पाठः, शुभ्रस्यैयणा ॥१००॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—कुर्वादेः०। कुरुशब्द आदौ यस्य गणस्यासौ कुर्वादिस्तस्माद् गणात् प्रत्येकं ञ्यः प्रत्ययो विधीयतेऽनेन सूत्रेण। कुरोरपत्यमित्यर्थेऽनेन ञ्ये आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे **कौरव्य** इति। **अक्षत्रियवचनस्येह कुरोर्ग्रहणमिति**। कुरुशब्दो हि बह्वर्थः—देशवाची, वंशविशेषजातक्षत्रियववाची, यज्ञकर्तृब्राह्मणवाची, राजविशेषवाची च। इह च क्षत्रियवचनादन्यः सर्वोऽपि गृह्यते। क्षत्रियवाचकस्य कुतो न ग्रहणमिति चेदत्राह—**क्षत्रियवचनात् तु "दुनादि०"** इत्यादि। क्षत्रियवाचकाद् "दु-नादि कुर्वित्०" [६.१.११८.] इत्यनेन विशिष्य ञ्यो विधीयते इति तद्विषये स एव प्रवर्तते नायमिति तस्येह ग्रहणं नेति फलतीति भावः। नन्वनेनैव सूत्रेण क्षत्रियवाचकादन्यस्माच्च कुरुशब्दाद् ञ्यप्रत्ययविधानेऽपि रूपे विशेषाभावात् किमिति परस्तात् क्षत्रियवाचकाद् विशिष्य ञ्यो विधीयते इति चेदत्राह—**अयं चानयोर्विशेष** इति। अनयोरेतत्सूत्रविहितस्य "दु-नादि-कुर्वित्०" [६.१.११८.] सूत्रविहितस्य चेत्युभयोर्ञ्यो र्योरयं निर्दिश्यमानो विशेषः फले भेद इत्यर्थः। तमेव विशेषमाह—**तस्य द्रिसंज्ञकत्वादिति**। "दु-नादि-कुर्वित्०" [६.१.११८.] इति सूत्रे "राष्ट्र-क्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इति सूत्राद् 'द्रिः' इत्यनुवर्तते च, ततश्च तद्विहितप्रत्ययस्य द्रिसंज्ञकत्वम्, द्रिसंज्ञकत्वम्, द्रिसंज्ञकत्वाच्च तस्य बहुत्वे "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति लुप् विधीयते इति कौरव्याः, कौरव्यौ कुरव इति रूपक्रमः। तथा च कुरोः क्षत्रियस्यापत्यानि कुरूणां राजानो वा **'कुरव'** इत्येव, न **कौरव्या** इति रूपे भेदः। एतद्विहितप्रत्यये सति तु किं स्यादित्याह—**अस्य तु द्रिसंज्ञाया अभावात् कौरव्या इति**।

विशेषान्तरमप्याह—**ततो यूनि तिकादिपाठादायनिञ्** इति। तत इत्यस्य क्षत्रियवाचकात् ञ्यन्तादित्यर्थः यूनि कौरव्यस्यापत्यं युवेत्यर्थः। "तिकादेरायनिञ्" [६.१.१०७] इति सूत्रे तिकादिगणे कौरव्यशब्दस्य पाठात् तत आयनिञ् प्रत्यये **कौरव्यायणिरिति** भवति। ननु तिकादौ क्षत्रियवचनस्यैव कौरव्यशब्दस्य ग्रहणं नान्यस्येत्यर्थे किं विनिगमकमिति चेत्, शृणु, औरशशब्देन क्षत्रियप्रत्ययान्तेन साहचर्यात् कौरव्यशब्दः क्षत्रियप्रत्ययान्त एव गृह्यते इति तत्सूत्रव्याख्याने वक्ष्यमाणत्वात्। ननु क्षत्रियवाचिनो विहितस्य ञ्यस्य यदि बहुत्वे लुबेव भवति तर्हि **'कौरव्याः पशवः'** इति प्रयोगः कथमुपपद्यते इति चेत् सत्यम्, कुरुशब्दात् संबन्धमात्रविवक्षायामुत्सादित्वादञि "कौरव" इति, कुरोरपत्यं इत्यर्थे च ञ्ये कौरव्य इति, उभाभ्यामपि कौरव्ये च साधव इत्यर्थे 'य'प्रत्यये कौरव्या इति रूपस्य संभवात्।

एतद्विहितप्रत्ययान्तस्य रूपे विशेषमाह—**अस्माच्चातिञ्** इति। कुरोरपत्यमित्यर्थे एतत्सूत्रविहितञ्यान्ताद् युवापत्यविवक्षायामदन्तत्वादिञ्येव भवतीत्यर्थः, आयनिञ् तु न तिकादिषु क्षत्रियप्रत्ययान्तस्यैव ग्रहणमित्युक्तत्वात्। सोऽपीञ् न तिष्ठतीत्याह—**तस्य "ञिदार्षादणिञोः"** [६.१.१४०.] **इति लुञि**ति। ञ्यो हि ञित्, तदन्ताद्विहितस्येञो लुपि **कौरव्य** इत्येव रूपं वृद्धे यूनि चेति— एतद्विहितञ्यान्ते क्षत्रियार्थञ्यान्ते च विशेष इति भावः। कौरव्यशब्दवत् कुरुशब्दोऽपि तिकादिगणे पठ्यते, तथा चापत्यार्थे कुरुशब्दात् "तिकादेरायनिञ्" [६.१.१०७.] इत्यायनिञपि भवति। आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे **कौरव्यायणिरिति** रूपं भवति। तत्र च कुरुशब्दः सामान्यत एव पठितो न तु अर्थविशेष इति सर्वार्थकस्य ग्रहणमिति कौरवायणिरिति सर्वस्य कुरुशब्दस्यापत्यार्थे भवति।

नन्वेवमुत्सादिष्वपि कुरुशब्दपाठादपत्यार्थे कौरव इत्यपि रूपं स्यादिति चेन्न, तस्य प्राग्जितीयत्वेनार्थान्तरेऽपि सावकाशत्वादपत्यमात्रार्थे सावकाशाभ्यां ञ्यायनिञ्भ्यां निरवकाशत्वात् परत्वाच्च तस्य बाधनात्। उक्तं हि "उत्सादेरञ्" [६.१.१९.] इति सूत्रव्याख्याने "कुरोरपत्यं कौरव्य इति ञ्यविधौ कुरुशब्दोपादानस्यावकाशात्वाद् भवति। कौरव इति स्वपत्यस्यापीदमर्थविवक्षायां भविष्यति" इति, तथा चापत्यार्थे कौरव्यः, कौरव्यायणिरिति रूपद्वयमेव, कौरव इति स्वन्यस्मिन्नर्थेऽपत्यस्यापीदन्तत्वेन विवक्षायां वा भविष्यतीति विषयविभागः सिद्ध इति।

शङ्कुशब्दोऽत्र गणे पठ्यते, लोहितादौ च गर्गाद्यन्तर्गणभूते। अत्र पाठाच्च ञ्ये आदिस्वरवृद्धावबादेशे शाङ्कव्यः, शाङ्कव्यौ, शाङ्कव्याः इति रूपाणि। लोहिता-

"Aho Shrutgyanam"

दिपाठाद्विशेषमाह—**लोहितादौ पाठात् पौत्रादाविति**। लोहितादिर्गर्गाद्यन्तर्गणभूतः। "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति सूत्रे च 'वृद्धे' इति "बिदादेर्वृद्धे" [६.१.४१.] इति सूत्रादनुवर्तते। तथा च वृद्धापत्य एव स प्रत्ययः (अयं चापत्यसामान्ये) तस्य बहुत्वविवक्षायां "यञञो०" [६.१.१२५.] इति लुपि शङ्कव इति रूपं भवतीति स्त्रियामपि विशेष इत्याह—**स्त्री तु शाङ्कव्यायनीति**। तत्र "लोहितादिशकलान्तात्" [२.४.६८.] इति ङीविधानेन विधानात् तद्रूपं भवतीति भावः। गणं पाठेन निर्दिशति - **कुरु-शङ्क** इत्यादिना **शुभ्र** इत्यन्तेन। अत्र गणे पाठेन यस्माद् यः प्रत्ययो बाध्यते, येन प्रत्ययेन च सह समावेशः तद् विशिष्य दर्शयितुं प्रक्रमते—**अत्र हन्त्रन्तानां साधान्याण** इत्यादिना। कुरुशब्दमारभ्य हन्तृशब्दपर्यन्तानामौत्सर्गिकस्य "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यणो बाधनमित्यर्थः। **ह्रदिकस्य तु वृष्ण्यणः** इति। ह्रदिकस्य वृष्णिवंश्यत्वेन ततः "ऋषि-वृष्ण्यन्धक-कुरुभ्यः" [६.१.६१.] इत्यण् प्राप्तः स बाध्यत इति। **शलाकादीनां केशिन्यन्तामेयण** इति। शलाकाशब्दमारभ्य केशिनीशब्दपर्यन्तं पठितेभ्यः "ङ्याप् त्यूङः" [६.१.७०] इत्येयण् प्राप्तः स बाध्यते **मानुषीनामत्वेऽणोऽपीति**। शलाकादयः केशिनीपर्यन्ता यदि मानुषीवाचकास्तदा तेभ्यः "अदोनर्दी-मानुषीनाम्नः" [६.१.६७.] इत्यण् प्राप्तः स बाध्यते। ननु * नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्* इति न्यायाद् गणे केशिन् शब्दस्य पाठेऽपि केशिनीशब्दात् प्रत्ययसिद्धौ स्त्रीलिङ्गपाठो व्यर्थ इति चेदत्राह—**केशिनीशब्दस्य स्त्रीलिङ्गपाठादेवेत्यादि**। तथा च केशिन्या अपत्यं इति विग्रहेऽनेन ञ्ये आदिस्वरवृद्धौ पुंवद्भावः "जातिश्च णि-तद्धितयस्वरे" [३.२.५१.] इति प्राप्तः स न भवतीतीकारलोपे केशिन्य इति रूपम्। नन्वत्र ईवर्णलोपे नान्तत्वे "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपः स्यादिति चेन्न, ईकारलोपस्य स्थानिवत्त्वात्। न च स्त्रीलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात् पुंलिङ्गात् केशिन्शब्दात् प्रत्ययो मा भूदित्येदर्थं स्त्रीलिङ्गपाठस्योपक्षीणत्वेन सामर्थ्याभावात् कथं पुंवद्भावबाधकत्वमुच्यत इति वाच्यम्, पुंलिङ्गपाठस्योपयोगाभावात्। पुंलिङ्गनिवृत्त्युपायमाह—"**गाथि विदथि०**" [७.४.५४.] **इति लुक्प्रतिषेधादिति**। केशिन्शब्दस्य "गाथि-विदथि०" [७.४.५४.] इति सूत्रेणान्त्यस्वरादेरणि लुक्प्रतिषिध्यते तेन विज्ञायते तस्माद् ञ्यो न भवतीति। तदेव स्पष्टयति—**केशिनशब्दाद्धि ञ्यविधानेन** इत्यादि। यदि केशिन् शब्दाद् ञ्यो विधीयते तर्हि स विशेषविहितत्वात् सामान्यविहितमणं बाधेतेति तस्मादणोऽप्रसक्तेरणि अन्त्यस्वरादिलुङ्निषेधो व्यर्थ एव स्यात्, स व्यर्थीभवन् ज्ञापयति केशिन्शब्दाद् ञ्यो न भवतीति।

मति-कवि-हन्ति-पिण्डीनामेयण इति। इदन्तानां "इतोऽनित्रः" [६.१.७२.] इत्येयण् प्राप्तः, पिण्डिशब्दाद् "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयण् प्राप्तः सोऽनेन बाध्यत इत्यर्थः। **पेन्द्रजाल्यादीनां कापिञ्जलाद्यन्तानामायनणः** इति। एते इञन्ताः पठ्यन्ते तेभ्यो युवापत्ये "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनण् प्राप्तः स बाध्यते इत्यर्थः। **गर्गरादीनामिञः** इति। गर्गरशब्दादारभ्य नापितपर्यन्तं ये पठिताः शब्दा अदन्तास्तेभ्यः "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञ् प्राप्तः स बाध्यते इत्यर्थः। **तक्षन्शब्दस्य शिवाद्यणा समावेशार्थ** इति। तक्षन्शब्दोऽत्र गणे "शिवादेरण्" [६.१.६०.] इति सूत्रनिर्दिष्टे शिवादिगणे च पठ्यते, उभयत्र पाठसामर्थ्याद् बाध्य-बाधकभावाभावेनोभयोः प्रत्ययोः समावेशः सिद्धयतीति भावः। **शुभ्रस्यैयणेति** शुभ्रशब्दः प्रकृतगणे "शुभ्राऽऽदिभ्यः" [६.१.७३.] इति सूत्रनिर्दिष्टे शुभ्रादिगणे च पठ्यत इत्युभयत्र पाठसामर्थ्यात् तद्विहितेनैयणा सहास्य समावेशः सिद्धयतीत्यर्थः ॥६।१।१००॥

सम्राजः क्षत्रिये ॥६।१।१०१॥

सम्राज् इत्येतस्मात् क्षत्रियेऽपत्ये ञ्यः प्रत्ययो भवति। सम्राजोऽपत्यं साम्राज्यः क्षत्रियश्चेत्। अन्यत्राणेव साम्राजः। अन्ये साम्राजिरित्याहुः। तत्र सम्राट् बाह्वादिषु द्रष्टव्यः ॥१०१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सम्राजः०। सम्यग् राजते इति सम्राट् चक्रवर्ती राजा। तदपत्यं क्षत्रियश्चेत् तत्रानेन ञ्यो विधीयते। तदाह—**सम्राजोऽपत्यं साम्राज्यः क्षत्रियश्चेदिति**। ञ्ये आदिस्वरवृद्धौ साम्राज्य इति। **अन्यत्राणेवेति**। क्षत्रियादन्यश्चेदनुलोमसङ्करजातः सम्राजोऽपत्यं स चेद् विवक्ष्यते तर्हि तत्र स्वाभाविकोऽणेव भवतीति भावः। मतान्तरमाह—**अन्ये साम्राजिरित्याहुरिति**। अन्ये सम्राजः क्षत्रियादन्यार्थे

"Aho Shrutgyanam"

इञमिच्छन्तीति भावः । कथमित्रः सिद्धिरिति चेत् तदाह—तत्र सम्राड् बाह्वादिषु द्रष्टव्य इति । "बाह्वादिभ्यो गोत्रे" [६.१.३२.] इति सूत्रनिर्दिष्टे गणे पाठेन कल्पितेनेत्रः सिद्धिराश्रयणीयेति भावः । पाणिनीयनये च क्षत्रियादन्यत्र सम्राज इत्येवेति "कुर्वादिभ्यो ण्यः" [पा० सू० ४.१.१५१.] इति सूत्रीयगणे 'सम्राजः क्षत्रिये' इति गणसूत्रव्याख्याने प्रतिपादितम् । तथा च स्वमतेन साम्यम् । सम्राजिरिति वैयाकरणान्तरमतमिति क्षत्रियादन्यत्रानयोर्वैकल्पिकः प्रयोगः । ॥६।१।१०१॥

सेनान्त-कारु-लक्ष्मणादिञ् च ॥६।१।१०२॥

सेनशब्दान्तेभ्यः कारवः कारिणस्तन्तुवायादयस्तद्वाचिभ्यो लक्ष्मणशब्दाच्चापत्ये इञ्-प्रत्ययो भवति ञ्यञ च । सेनान्त, हारिषेणिः, हारिषेण्यः । वारिषेणिः, वारिषेण्यः । कारु, तान्तुवायिः, तान्तुवाय्यः । तौन्नवायिः, तौन्नवाय्यः । वार्धकिः, वार्धक्यः । कौम्भकारिः, कौम्भकार्यः । रथकार-नापित-तक्षभ्यो ञ्य एव नेष्यमर्वादिपाठात् । कुर्वादौ जातिवाचिन एव पाठाद् रथकारादिञपीत्येके । लक्ष्मण, लाक्ष्मणिः, लाक्ष्मण्यः । ऋषि-वृष्ण्यन्धक-कुरुभ्योऽण्, ङ्याप्प्रत्यूङन्तेभ्यस्त्वेयण् परत्वादाभ्यां बाध्यते । जातसेनिः, जातसेन्यः । वैष्वकसेनिः, वैष्वकसेन्यः । औग्रसेनिः, औग्रसेन्यः । भैमसेनिः, भैमसेन्यः । तन्तुवाय्या अपत्यं तान्तुवायिः, तान्तुवाय्य इत्यादि ॥१०२॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—सेनान्त० । सेन शब्दोऽन्ते येषां ते सेनान्ताः । कारवः कारिण इति । करोति कृणोतीति वा विग्रहे औणादिके उण्-प्रत्यये सति कारुरिति भवति, लक्ष्मणः प्रसिद्धः भूर्यवंशीयो दाशरथिः, चन्द्रवंशीयः कौरव्य । एभ्योऽपत्ये इञा सह ञ्यः प्रत्ययो विधीयतेऽनेन सूत्रेण । पाणिनीये चैतद्विषयकसूत्रे लक्ष्मणस्य स्थाने लक्ष्मणशब्दः पठ्यते, किमत्र न्याय्यमिति लक्ष्यैकचक्षुष्कैर्निर्णेतुमलम् । उदाहरति—सेनान्त इति प्रकृत्य हारिषेणिरिति । हरयः सेनायां यस्य स हरिषेणः "एत्यकः" [६.३.२६.] इति षत्वम् । तस्यापत्यमित्यर्थे इञि हारिषेणिः इति । ञ्ये सति हारिषेण्य इति । एवं वारिषेणस्यापत्यं वारिषेणिरित्यादयः । कारुमुदाहरति—तान्तुवायिरिति । तन्तुवायः पटनिर्माता, तस्यापत्यं तान्तुवायिः । तुन्नं कोमलताऽपादनार्थं कृतपाडनं शृणादि नयतीति तुन्नवायः, तस्यापत्यं तौन्नवायिः । वर्धकः काष्ठशिल्पी तस्यापत्यं वार्धकिः । कुम्भकारो घटादिशिल्पी तस्यापत्यं कौम्भकारिः । रथकारो नापितः तक्षा चैते कारुष्वेव गण्यन्ते इति तेभ्योऽप्यस्य प्रत्ययद्वयस्य प्रसङ्गे आह—रथकार-नापिततक्षभ्यो ञ्य एवेति । एभ्यः "कुर्वादेर्ण्यः" [६.१.१००.] इति पूर्वसूत्रेण ञ्य एव भवति, नैतत्सूत्रविहित इञपि, यतस्तत्र पाठसामर्थ्येनात्रत्यकारुग्रहणेन तेषां ग्रहणं बाध्यते, प्रतिपदविधानात्, मतान्तरमाह—कुर्वादौ जातिवाचिन एव ग्रहणादित्यादि । रथं करोतीति रथकार इति व्युत्पत्त्या रथादिशिल्पी रथकारशब्देनोच्यते । रथकारनाम्ना ख्याता जातिरपि । सा च वैश्यात् किञ्चिदूना शास्त्रेषु पठ्यते । तथाहि मनुः—

"वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ।
माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ॥" इति ।

तथा च वैश्यायां राजन्योत्पन्नः माहिष्यः, माहिष्येण करण्यामुत्पन्नः रथकारः । करणी तु विवाहेन विनैव स्वगृहनिक्षिप्ता स्त्री । तथा चानुलोमसङ्कराणां मातृजातिवृत्तित्वाद् माहिष्यो वैश्या गर्भजातत्वाद् वैश्यः । किन्तु सङ्करजातित्वाद् विशुद्ध वैश्यान्यून एव । तेन चाविधिना स्वसमीपस्थापिता करण्यपि न ततो विशिष्टजातीया, किन्तु तत्समानैव । तस्यां च जातः सुतोऽपि तादृश एवेति साधूक्तं त्रैवर्णिकेभ्यः किञ्चिदूना रथकारजातिरिति । कुर्वादिसूत्रे च नापिततक्षणोर्जातिवाचिनोः साहचर्यात् रथकारशब्दोऽपि जातिवाचक एव गृह्यते इति तन्त्रान्तरसम्मतोऽर्थ काशिकादिष्वपि तथैव प्रतिपादितत्वात् । स्वमते च रथकारशब्दात् केवलं ञ्य एवेति प्रतिपादितमिति जातिवाचिनस्तत्र ग्रहणमिति नायाति। लक्ष्मणस्यापत्यं लाक्ष्मणिः लाक्ष्मण्य इति। अत्र बाध्य-बाधकभाव व्यवस्थामाह—"ऋषि-वृष्ण्यन्धक-कुरुभ्योऽण्" [६.१.६१.] इत्यादिना । अत्र सेनान्ताः केचन वृष्णयः, केचन च कुरवः, तेभ्यः "ऋषि-वृष्ण्यन्धक०" [६.१.६१.] इत्यण् प्राप्तः स बाध्यते, ये च कारुप्रभृतिषु ङ्याप्-प्यूङन्ताः तेभ्यो "ङ्याप्-प्यूङः" [६.१.७०] इत्येयण् प्राप्तः, सोऽपि बाध्यते। तथोदाहरति-जातसेनिरित्यादिना। जातसेनस्यापत्यं जातसेनिः, जातसैन्यः । जातसेन-विष्वक्सेन-उग्रसेना वृष्णयः, भीमसेनः कुरुः । तन्तु-

वायस्य स्त्री तन्तुवायी पुंयोगे ङीः, जातित्वे च जातिलक्षणो ङीः, तस्यापत्यमिति विग्रहे "ङ्याप्-प्रातिपदिकात्-स्युङः" [६.१.७०.] इत्येयण् प्राप्तः, तं प्रबाध्यानेनेञ् भ्रियते **तान्तुवायिरि**त्यादि ॥६।१।१०२॥

सुयाम्नः सौवीरेष्वायनिञ् ॥६।१।१०३॥

सुयामनशब्दात् सौवीरेषु जनपदे योऽर्थस्तस्मिन् वर्तमानादपत्ये आयनिञ्प्रत्ययो भवति । सौयामायनिः । सौवीरेभ्योऽन्यत्र सौयामः ॥१०३॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—**सुयाम्नः**० । सौवीरा नाम जनपदः, तस्मिन् वर्तमानत्वे सति सुयामनशब्दादपत्यार्थे आयनिञ्प्रत्ययोऽयं विधीयते । सुयाम्नोऽपत्यमित्यर्थे आयनिञि कृते आदिस्वरवृद्धौ अन्त्यस्वरादिलोपे **सौयामायनिरि**ति । **सौवीरेभ्योऽन्यत्र सौयाम** इति । तत्रौत्सर्गिकोऽणेव भवति, आदिस्वरवृद्धावन्त्यस्वरादिलोपे सिद्धं रूपम् ॥६।१।१०३॥

पाण्टाहृति-मिमताण्णश्च ॥६।१।१०४॥

पाण्टाहृतिशब्दादिञन्तान्मिमतशब्दाच्च सौवीरेषु जनपदे योऽर्थस्तस्मिन् वर्तमानाभ्यामपत्येऽण् आयनिञ् च प्रत्ययौ भवतः । पाण्टाहृतेरपत्यं युवा सौवीरगोत्रः पाण्टाहृतः, पाण्टाहृन्तायनिर्वा । मिमतस्य मैमतः मैमतायनिर्वा । सौवीरेष्वित्येव ? पाण्टाहृतायनः । 'यञिञः' [६.१.५४.] इत्यायनण् । मैमतायनः । अत्र नडादित्वात् । अनन्तरो मैमतिः ॥१०४॥

श०म० **न्यासानुसन्धानम्**—**पाण्टाहृति**० । अत्र पाण्टाहृतिशब्दः संदिग्धः । पाणिनीये तन्त्रे फाण्टाहृति शब्दो दृश्यते । तद्व्युत्पत्तिश्च—फाण्टम्—वैद्यकप्रसिद्धौषधि—क्वाथविशेषरूपमाहृतमनेनेति फाण्टाहृतः, फाण्टेन वाऽऽहृतः—आकृष्टः फाण्टाहृतप्रतस्यापत्यं **फाण्टाहृतिरि**ति । पण्टशब्दः पाण्टशब्दो वा न क्वाप्युपलभ्यते इति किमयं लेखककृतः प्रमादोऽथवा लक्ष्यैकचक्षुष्कस्याचार्यस्य तथैव दर्शनमिति संदेहः । किञ्च, पाणिनीये तन्त्रे एकसूत्र एव "फाण्टाहृतमिमताभ्यां णकिञौ" [पा०सू० ४.१.१५०.] इत्यत्र प्रत्ययद्वयमुच्यते, तत्र च भाष्यकारेण यथासंख्यमिष्यते वार्तिककारेण च । तत्र यथाऽस्तु स्वमते तु सूत्रे प्रत्ययद्वयपाठाभावात् यथासंख्यस्य संभव एव नेति उभाभ्यामेवोभौ प्रत्ययौ विहितौ, तथैवोदाहरति—**पाण्टाहृतेरपत्यं युवे**त्यादि । अत्रापि सौवीरेष्विति संबध्यत एवेत्याह—**सौवीरेष्वित्येवे**ति । अन्यत्र च पाण्टाहृतेरपत्यमित्यर्थे "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनणि पाण्टाहृतायन इत्येवरूपं भवति । एवं मिमतस्यापत्यं **मैमतायनः**, अत्र "नडादिभ्य आयनण्" [६.१.५३.] इत्यायनणि मैमतायन इति । अनन्तरापत्ये तु अदन्तत्वादित्रेव **मैमतिरि**ति ।

अत्र सूत्रे णप्रत्यये णित्त्वस्य फलमादिस्वरवृद्धिरेव मुख्यम् । पाण्टाहृता भार्या यस्येत्यर्थे पाण्टाहृताभार्य इत्यत्र "जातिश्च णि तद्धितयस्वरे" [३.२.५५.] इति पुंवद्भावनिषेधोऽपीति आनुषङ्गिकं फलम् । पाणिनीये च यथासंख्यमाश्रित्य णित्त्वं प्रत्याख्यातमित्यन्यदेतत् ॥६।१।१०४॥

भागवित्ति-तार्णबिन्दवाकशापेयान्निन्दायामिकण् वा ॥१।१।१०५॥

भागवित्ति तार्णबिन्दव आकशापेय इत्येतेभ्यः सौवीरेषु वृद्धे वर्तमानेभ्यो यून्यपत्ये इकणप्रत्ययो वा भवति, निन्दायां गम्यमानायाम् । भागवित्तेरपत्यं युवा निन्दितः भागवित्तिकः भागवित्तायनो वा जाल्मः । तार्णबिन्दविकः, तार्णबिन्दविर्वा । आकशापेयिकः आकशापेयिर्वा । निन्दायामिति किम् ? अन्यत्र भागवित्तायनः, तार्णबिन्दविः, आकशापेयिः इत्येव भवति ॥१०५॥

श०म० **न्यासानुसन्धानम्**—**भाग**० । भागवित्ति-तार्णबिन्दव-आकशापेय इत्येते सौवीरेषु वृद्धापत्ये निष्पन्नाः, भगवित्ताद् अत इञि भागवित्तिः, तृणबिन्दोः औत्सर्गिकेऽणि तार्णबिन्दवः, अकशापात् शुभ्रादित्वादायनणि आकशापेय इति तेभ्यो युवापत्यस्य निन्दायां गम्यमानायां तस्मिन्नपत्येऽर्थे इकण् विधीयते, तथा चोदाहरति—भागवित्तेरपत्यं युवा निन्दित इति विगृह्य इकणि कृते **भागवित्तिक** इति, पक्षे "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनणि **भागवित्तायन** इति । एवं तार्णबिन्दवस्यापत्यं युवा निन्दित इत्यर्थे इकणि **तार्णबिन्दविक** इति पक्षे अत इञि **तार्णबिन्दविर्वा** । अकं शपतीति अकशापः, तस्यापत्यं वृद्धं अकशापेयः, तस्य युवापत्यं निन्दित **आकशापेयिक** इति, पक्षे अत इञि **आकशापेयिरि**ति । व्यावर्त्यं दर्शयितुं पृच्छति—**निन्दायामिति किमिति** ?

"Aho Shrutgyanam"

निन्दाभावेऽयं नेष्टोऽपि तु आयनङादय एवेति प्रत्युदाहरति **भागवित्तायन** इत्यादिना । एव च निन्दायामपि पक्षे प्रयुज्यमाना भागवित्तायनादयो निन्दाभावे नित्यं प्रयुज्यन्ते इति सिद्धयति ॥६।१।१०५॥

सौयामायनि-यामुन्दायनि-वार्ष्यायणे-रीयश्च वा ॥६।१।१०६॥

एभ्य आयनिञन्तेभ्यः सौवीरेषु वृद्धे वर्तमानेभ्यो यून्यपत्ये ईयश्चकारादिकण् च प्रत्ययो वा भवति, ताभ्यां मुक्तेऽणप्रत्ययः निन्दायां गम्यमानायाम् । सुयाम्नोऽपत्यं सौयामायनिस्तस्यापत्यं युवा निन्दितः सौयामायनीयः, सौयामायनिकः, सौयामायनिर्वा । अणो लुप् । यमुन्दस्यापत्यं यामुन्दायनिः । तिकादित्वादायनिञ् । तस्यापत्यं युवा निन्दितः यामुन्दायनीयः, यामुन्दायनिकः, यामुन्दायनिर्वा । वृषस्यापत्यं वार्ष्यायणिः, दगुकोसलादिस्फेण यकारादिरायनिञ्, तस्य वार्ष्यायणीयः, वार्ष्यायणिकः, वार्ष्यायणिर्वा । कश्चित् त्वन्येभ्योऽपीच्छति । तैकायनेरपत्यं युवा । तैकायनीयः । निन्दायामित्येव ? अन्यत्र सौयामायनिः, यामुन्दायनिः, वार्ष्यायणिर्युवा । अणेव । 'त्रिदार्षादणिञोः' [६.१.१४०.] इति तस्य लुप् ॥१०६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्— सौया० । सुयामन्-यमुन्द-वृषशब्देभ्यः सौवीरेषु वर्तमानेभ्यो वृद्धापत्यान्तेभ्यो यून्यपत्ये निन्दिते ईयः चकारादिकण् वा भवति, पक्षे चाण् प्रत्यय इति सूत्रार्थसारम् । तत्र सुयामन्शब्दास्ति कादिषु पठ्यते इति वृद्धापत्ये तिकादित्वादायनिञि आदिस्वरवृद्धावन्त्यस्वरादिलोपे **सौयामायनिरिति**। ततो युवापत्ये निन्दितेऽनेनेये सौयामनीय इति, तदभावे चेकणि सौयामायनिक इति । विकल्पपक्षे चात्सर्गिकेऽणि तस्य "त्रिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.]इति लुपि **सौयामायनिरिति** रूपत्रयम् । यमुन्दशब्दोऽपि तिकादौ पठ्यते इति तस्यापि पूर्ववद् रूपत्रयम् । वृषस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे **"दगु-कोशल कर्मार०"** [६.१.१०८] इति यकारादिरायनिञ् वार्ष्यायणिरिति । ततो यून्यपत्ये निन्दिते ईये वार्ष्यायणीयः, इकणि वार्ष्यायणिकः, पक्षेऽणि तस्य पूर्ववल्लुपि **वार्ष्यायणिरिति** रूपत्रयम्। **कश्चित् त्वन्येभ्योऽपीच्छतीति**। पाणिनीयमतमेतत् तत्र हि "फेऽछच" [पा०सू० ४.१.४९.] इति सूत्रेण फिञन्तात् (आयनिञन्तात्) छः- ईयः प्रत्ययश्च फाराद्यकण् विकल्पेन विधीयते, पक्षे चाण् इति स्वमतवत् । किन्तु सर्वस्मादायनिञन्ताद् विधीयते, इत्यन्येभ्योऽपि स्यादेव । तत्र वृत्तिकृता परिगणनं क्रियते, तथाहि—

"सुमन्दश्च युयामा च वार्ष्यायणि फिञः स्मृताः ।
सौवीरेषु च कुत्सायां द्वौ योगौ शब्दवित् स्मरेत् ॥" इति ।

एवं चैतत् स्वमतवत् किन्तु "यूनि लुक्" [पा० सू० ४.१.१५४.] इति सूत्रे भाष्ये तैकायनिशब्दात् तैकायनीय इत्युदाहृतम् । तेनान्येभ्योऽप्यायनिञन्तेभ्योऽयं भवतीति शब्दकौस्तुभे भट्टोजिदीक्षितैरुक्तम् । निन्दायामित्यस्य सम्बन्ध आवश्यक इत्याह-**निन्दायामित्येवेति** । निन्दाभावे वृद्धप्रत्ययान्ताद् युवापत्ये विहितस्य स्वाभाविकस्याणः "त्रिदार्षाद्" [६.१.१४०.] इति लुपि **सौयामायनिरित्याद्येवेति** ॥६।१।१०६॥

तिकादेरायनिञ् ॥६।१।१०७॥

तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये आयनिञ्प्रत्ययो भवति । इञादेरपवादः । तैकायनिः । कैतवायनिः ।

तिक कितव संज्ञा बाल शिखा बालशिख उरश शाटच शैन्धव यमुन्द रूप्य पूर्णिक ग्राम्य नील अमित्र गोकक्ष्य कुरु देवर दैवर धेवर धैवर देवरथ तैतिल शैलाल औरश कौरव्य भौरिकि भौलिकि चौपयत चैतयत चैटयत शैकयत क्षैतयत ध्वाज वत ध्वाजवत चन्द्रमस् शुभ शुभ गङ्ग गङ्गा वरेण्य वन्ध्या बिम्बा अरद्ध अरद्धा आरद्ध वद्यका खल्य लोमका उदन्य यज्ञ नीड आरथ्य लङ्घ भीत उतथ्य सुयामन् उखा खल्वका शल्यका जाजछ वसु उरस् इति तिकादिः ।

शाटचशब्दो यञन्तो ष्यणन्तो वा । शाटचायनिः यञन्तादायनणेवेत्येके । शाटचायनः । औरशशब्देन क्षत्रियप्रत्ययान्तेन साहचर्यात् कौरव्यशब्दः क्षत्रियप्रत्ययान्त एव गृह्यते । अन्यस्मादिञेव, तस्य च 'त्रिदार्षा-

"Aho Shrutgyanam"

दणिञोः' [६.१.१४०.] इति लुप्। कौरव्यः पुत्रः। आयनिञस्तु 'अब्राह्मणात्' [६.१.१४१.] इति प्राप्ताऽपि लुप् न भवति विधानसामर्थ्यात्। नहीञ आयनिञो वा लुपि कश्चिद् विशेषः। कौरव्यः पिता। कौरव्यायणिः पुत्रः ॥१०७॥

श० म० न्यासानुसन्धाम्—तिकादे०। तिकशब्द आदौ यस्य तस्मात्—तिकादेः निन्दायामिति निवृत्तं स्वरितत्वाभावात्। तथा चापत्यसामान्येऽयं प्रत्ययः। **इञादेरपवाद इति**। तिकादिभ्यो यथास्वं प्राप्ता अदन्तत्वादिनिमित्ता इञादयोऽनेन बाध्यन्ते इति भावः। तिकस्य कितवस्य चापत्यमित्यर्थे आयनिञि आदिस्वरवृद्धौ तिकायनिः, कैतवायनिरिति। गणं पठति—तिक कितव इत्यादिना। **शाठयशब्दो यञन्तो वेति**। शठतीति शठ पचाद्यच्। शठस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थत्वे गर्गादिपाठपरिकल्पनाद् यञन्तः, कृदन्तत्वसंभावनायां च 'शठ' रुजाविशरण-गत्यवसादनेषु इत्यस्मात् कर्मणि ध्यणन्तः इति भावः। तस्मादायनिञि **शाठयायनिः**। यञन्तादायनणेवेत्येके। शाठयशब्द इह ध्यणन्त एव तस्मादेवायनिञ्, यश्च शठशब्दादजन्ताद् वृद्धापत्ये यञा निष्पन्नस्तस्माद् युवापत्ये "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनणेवेत्येकेषां मतमिति भावः।

अथ कौरव्यशब्दविषये विशेषं वक्तुं प्रक्रमते—**औरसशब्देन क्षत्रियप्रत्ययान्तेनेत्यादि**। उरसा शेते इति विग्रहे डप्रत्ययान्त उरसशब्दः पृषोदरादित्वादुरसः सलोपः, उरसस्यापत्यं वृद्धं क्षत्रिय औरसः "राष्ट्रक्षत्रियात् सरूपात्०" [६.१.११४.] इत्यञि सति औरसशब्दः क्षत्रियप्रत्ययान्तः तेन सहैव कौरव्यशब्दोऽपि पठ्यत इति सोऽपि क्षत्रियापत्यप्रत्ययान्तः "दुनादि० [६.१.११८.] इति ञ्यान्त एवेह गृह्यते। यश्च लोहितादि पठितत्वाद् यञन्तः, कुर्वादिञ्यान्तो वा तस्मादायनिञ् न भवतीति भावः तदाह—**अन्यस्मादित्येवेति**। क्षत्रियवाचकादन्यस्मात् कौरव्यशब्दाद् युवापत्येऽदन्तत्वलक्षण इञेव भवति, न आयनिञ् इति भावः। सोऽपीञ् न श्रूयत इत्याह—**तस्य च "त्रिदार्षाद्दणिञोः"** [६.१.१४०.] **इति लुबिति**। तथा च वृद्धापत्य-युवाप्रत्ययोःसमानं रूपमित्याह—**कौरव्याः, कौरव्यः पुत्र** इति। ननु क्षत्रियप्रत्ययायान्ताद् विहितस्य आयनिञोऽपि लुप् कुतो नेत्याह—**आयनिञस्तु अब्राह्मणात्** इत्यादिना। वृद्धे क्षत्रियापत्ये विहितञ्यन्ताद् युवापत्ये विहितस्यायनेः यद्यपि "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति लुप् प्राप्नोति तथापि तिकादौ कौरव्यशब्दं पठित्वा आयनिञो विधानसामर्थ्यात् न भवति। **नहीञ आयनिञो वा लुपि कश्चिद् विशेष** इति। विशेषार्थं हि किमपि विशिष्य विधीयते इति आयनिञपि यदि लुप्येत तर्हि इञमपवाद्य विहितस्य तस्य विधानेन को विशेषः, इञ आयनिञो वा लुपि रूपे विशेषाभावात्। तथा चायनिञ् श्रूयत एव विधानसामर्थ्यादित्यवगम्यते। एवं च क्षत्रियापत्यप्रत्ययान्तस्य वृद्धापत्यार्थे **कौरव्य** इति रूपं युवापत्यार्थे चानेनायनिञि **कौरव्यायणिरिति** विशेष इति ॥६।१।१०७॥

दगु-कोशल-कर्मार-च्छाग-वृषाद्यादिः ॥६।१।१०८॥

दगु कौशल कर्मार छाग वृष इत्येतेभ्योऽपत्ये यकारादिरायनिञ्प्रत्ययो भवति। दागव्यायनिः। कौशल्यायनिः। जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियात् 'दुनादि०' [६.१.११८.] इत्यादिना ञ्य एव। कौशल्य इति। कार्मार्यायणिः। छाग्यायनिः। वार्ष्यायणिः ॥१०८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—दगु०। दगुर्नाम कश्चित् परमप्रकृतिः। कोशलशब्दः इह राजविशेषेऽन्यत्र क्षत्रियविशेषजनपद-विशेषोभयवाचकश्च। सोऽयं पाणिनीये दन्त्यसकारमध्यः पठ्यते, बहुत्र च तथैव प्रयुज्यते, इह च तालव्यमध्यः इत्याचार्यद्वयप्रामाण्यादुभयं साध्वेवेति मन्तव्यम्। कर्मारः, लौहकारः, छागवृषौ प्रसिद्धौ एतेभ्योऽपत्ये यकारादिरायनिञ् विधीयते। दगोरपत्यमित्यर्थे यायनिञि आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽञ्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे **दागव्यायनिरिति** एवं कोशलस्यापत्यमित्यर्थे **कौशल्यायनिरिति**। कौशल्यशब्दोऽपि बहुशः प्रयुक्तो दृश्यते इति तत्साधनोपायमाह—**जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियात् दुनादि** इति ञ्य एवेति। अयमाशयः—राजविशेषवाचकादेव कोशलशब्दादनेन सूत्रेणायनिञ् यादिः। यश्च क्षत्रियविशेष जनपदविशेषोभयवाचकस्तस्मात् "दुनादि०" [६.१.११८.] इत्यग्रिमसूत्रेण ञ्य एव परत्वात् इति कोशलानां क्षत्रियाणामपत्यं कोशलानां जनपदस्य

"Aho Shrutgyanam"

राजेति वाऽर्थे "दुनादि०" [६.१.११८.] इति सूत्रेण ञ्ये आदिस्वरवृद्धौ **कौशल्य** इति । कर्मारस्यापत्यं **कार्मर्यायणिः**, छागस्यापत्यं **छाग्यायनिः**, वृषस्यापत्यं **वार्ष्यायणिरिति** ॥६।१।१०८॥

द्विस्वरादणः ॥६।१।१०९॥

द्विस्वरादणन्तादपत्ये आयनिञ्प्रत्ययो भवति । कर्तुरपत्यं कार्त्रः । तस्य कार्त्रायणिः । हर्तुः हार्त्रः । तस्य हार्त्रायणिः । पौत्रः पौत्रायणिः । औत्सर्गिकोऽण् । यास्कायनिः । शिवायण् । द्विस्वरादिति किम् ? औपगविः । अण इति किम् ? दाक्षेः दाक्षायणः । प्लाक्षेः प्लाक्षायणः । वृद्धादेवायं विधिः । अवृद्धात् तूत्तरेण विकल्प एव । अङ्गानां राजा आङ्गः । तस्याङ्गिः आङ्गायनिर्वा ॥१०९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—द्विस्वरा० । द्विस्वरादिति अणन्तस्य विशेषणम् । तथा चाणन्तत्वे सत्यपि द्विस्वरत्वमेवेष्टम्, न तु द्विस्वरत्वे सति अणन्तत्वम्, तथा सति कारुशब्दस्याणन्तत्वे कारव इति त्रिस्वरत्वेऽपि ग्रहणं स्यात् । न तु तदिष्टम्, सर्वेषामणन्तत्वे सति द्विस्वराणामेवोदाहरणात् । अण इति प्रत्ययग्रहणमिति तदन्तविधिः तदाह—**अणन्तादिति**। उदाहरति—**कर्तुरपत्यं कार्त्रः** इति । औत्सर्गिकोऽण् आदिस्वरवृद्धौ ऋवर्णस्य रादेशः । ततः पुनर्युवापत्येऽर्थेऽनेनायनिञि **कार्त्रायणिः**, एवं हर्तुरपत्यं हार्त्रः, तस्यापत्यं **हार्त्रायणिः**, पुत्रस्यापत्यं पौत्रस्तस्यापत्यं **पौत्रायणिरिति** । एतेषु सर्वत्रौत्सर्गिकाणन्तादायनिञ् तदाह—**औत्सर्गिकोऽणिति** यस्कस्यापत्यं यास्कः शिवादित्वाद् "शिवादेरण्" [६.१.६०.] इत्यण्, तदन्तादनेनायनिञ् **यास्कायनिरिति**। एषु "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति युवार्थप्रत्ययस्य लुप् तु न कर्तृ-हर्तृशब्दयोः क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तयोर्ब्राह्मणेष्वपि प्रयोक्तुं शक्यत्वेन ब्राह्मणभिन्नत्वनिश्चयाभावात् । पुत्रस्यापि सम्बन्धप्रवृत्तिनिमित्तस्य सर्वत्र ब्राह्मणेऽब्राह्मणे च प्रयुज्यमानत्वात् । यस्कः, यास्को वा मुनिर्ब्राह्मण एवेति तत्र स्वत एवाप्रवृत्तेः । व्यावर्त्य पृच्छति—**द्विस्वरादिति किमिति**। अणन्तसामान्यादेवायं प्रत्ययः कुतो न विधीयत इति प्रश्नाशयः ।

प्रत्युदाहरति—**औपगविरिति** । उपगोरपत्यमित्यर्थे औत्सर्गिकेऽणि औपगव इति, ततो युवापत्येऽदन्तत्वादत इञितीञि औपगविरिति भवति । द्विस्वरग्रहणाभावे इहापि अणन्तत्वस्य सत्त्वेनायनिञ् दुर्वारः स्यादिति भावः । **अण् इति किमिति** । सामान्यतो द्विस्वराद् वृद्धप्रत्ययान्ताद् यून्यपत्ये आयनिञ् विधीयतामिति प्रश्नः । प्रत्युदाहरति—**दाक्षेः दाक्षायण** इति । दक्षस्य वृद्धमपत्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञि दाक्षिरिति द्विस्वरो वृद्धप्रत्ययान्तः, ततो युवापत्ये "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनणि दाक्षायण इति भवति । अणो ग्रहणाभावे इहाप्यायनिञ् स्यात्, परत्वात् । एवं **प्लाक्षेः प्लाक्षायण** इत्यादि ज्ञेयम् । वृद्धापत्यान्तादेवायमायनिञ्, अग्रे अवृद्धादित्यस्योपादानात् । तथा वृद्धापत्यभिन्नेऽर्थे विहितश्चेदणू तदन्तादग्रिमसूत्रेण विकल्प एव भवतीत्याह—**वृद्धादेवायमित्यादि**। तथा चोदाहरति—**अङ्गानां राजा आङ्गिरित्यादि** । अत्रेदं विचार्यते पाणिनीये नये कर्तृ-हर्तृशब्दौ कुर्वादिषु पठ्येते, स्वमतेऽपि हन्तृशब्दस्तत्र पठ्यते इति कर्तुर्हर्तुर्वाऽपत्यमित्यर्थे कुर्वादित्वाद् ञ्य एव भविष्यतीति कर्तुर्हर्तुर्वाऽपत्यं कार्त्र्यो हार्त्र्यो वा भविष्यतीति तन्मते न कार्त्रः, हार्त्रः इत्यणन्तः । तदनुसारं भर्तृ-गन्तृसदृशाः शब्दा उदाहार्याः । किञ्च, पुत्रस्यापत्यं **पौत्रः** तस्यापत्यं पौत्रायणिरित्यपि संदिह्यते । यतोऽयं पुत्रशब्दः सम्बन्धनिमित्तकत्वेनैव ख्यातः, तथा च तस्य न परमप्रकृतित्वसंभावना । परमप्रकृतेः पौत्रादेरेव वृद्धत्वमित्युक्तमिति पुत्रशब्दाद् वृद्धापत्यार्थे प्रत्यय एव दुर्लभः । अस्तु वा पुत्रनामा कश्चित् परमप्रकृतिः, तस्मादपि वृद्धार्थेऽणो दुर्लभत्वमेव, अदन्तत्वादिञ एव प्रवृत्तेः । सम्बन्धवाचकस्य पुत्रशब्दस्य पौत्र इति प्रयोगस्त्वनन्तरापत्यार्थक एव, "पुनर्भूपुत्र-दुहितृ०" [६.१.३९.] इत्यनन्तरापत्य एवाञो विधानात् । तथा च **पौत्रायणिरिति** प्रयोगः कथमुपपादनीय इति विभावनीयं सुधीभिः । पौत्रस्यापत्यमित्यर्थे इञेव प्राप्नोति, सोऽपि न भवत्यनभिधानात्, एवं च पुत्रस्यापत्ये प्रपौत्रशब्दः, तस्याप्यपत्ये वृद्धप्रपौत्रादिशब्द एव प्रयुज्यते । यदि पुत्रनामा कश्चित् परमप्रकृतिः तर्हि तस्यापत्यं वृद्ध पौत्रिः, तस्य युवापत्यं पौत्रायण इत्येव न्याय्यम् ॥६।१।१०९॥

अवृद्धाद् दोनंवा ॥६।१।११०॥

अवृद्धवाचिनो दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ्प्रत्ययो वा भवति । आग्रगुप्तायनिः, आग्रगुप्तिः ।

"Aho Shrutgyanam"

शालगुप्तायनिः, शालगुप्तिः । वायुरथायनिः, वायुरथिः । पञ्चालानां राजा पाञ्चालस्तस्यापत्यं पाञ्चालायनिः, पाञ्चालिः । नापितस्यापत्यं नापितायनिः, नापित्यः । पक्षे नापितशब्दस्येञ् नास्ति, तद्बाधनार्थं हि कुर्वादिषु तस्य पाठः । अवृद्धादिति किम् ? दाक्षेः दाक्षायणः । प्लाक्षेः प्लाक्षायणः । दोरिति किम् ? अकम्पनस्यापत्यमाकम्पनिः ॥१११०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—अवृद्धा० । अवृद्धवाचिन इति । वृद्धापत्यप्रत्ययान्तभिन्नादित्यर्थः । आम्रं गुप्तं येन स आम्रगुप्तः, शालो गुप्तो येन स शालगुप्तः । अथवाऽऽम्रेषु गुप्तः, शालेषु गुप्त इति विग्रहे आम्रगुप्तः, शालगुप्तः तस्यापत्येऽर्थेऽनेनायनिञि **आम्रगुप्तायनिरित्यादि** । "वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः" [६.१.८.] इत्याम्रगुप्तादिशब्दा दुसंज्ञकाः । पञ्चालानां राजेत्यर्थे "राष्ट्र-क्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इति अञ्, पाञ्चालः दुसंज्ञकः । तस्यापत्यमित्यर्थे आयनिञि **पाञ्चालायनिरिति** । एषु पक्षेऽदन्तत्वादिञ् **आम्रगुप्तिरित्यादि** । नापितोऽपि वृद्धस्तस्यापत्ये आयनिञि **नापितायनिः** । पक्षे कुर्वादिपाठात् ञ्ये **नापित्य** इति । अस्याप्यदन्तत्वात् पक्षे इञ् कुतो नोदाहृत इत्याशङ्कायामाह—**पक्षे नापितशब्दस्येञ् नास्तीत्यादि** । व्यावर्त्यमाह—**अवृद्धादिति किम्**— **दाक्षेः दाक्षायणिरित्यादि** । दाक्षिशब्दो वृद्धापत्ये विहितेऽन्त इत्यवृद्धवाची नास्ति इति भवति प्रत्युदाहरणम् । परे तु दोरित्यस्यैव प्रत्युदाहरणमिदम्; अवृद्धवाचिप्रत्ययान्तस्य परमप्रकृतेरेव दुसंज्ञकस्येह ग्रहणस्येष्टत्वात् । यदि च "संज्ञा-दुर्वा०" [६.१.६.] इति दक्षशब्दस्य दुसंज्ञकत्वमिष्यते तर्हि तस्मात् प्रत्यय इष्ट एव, अत एव 'दाक्षायण्योऽश्विनीति ताराः' इत्युदाहृतम् । "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यणन्तस्य स्त्रियां दाक्षायणा इत्यावन्तमेव रूपं स्यात् । आयनिञन्ताच्च दक्षसंबन्धमूलकमनुष्यत्वजातिविवक्षया "नृजातेः" [२.४.७२.] इति ङीविधानात् तद्रूपसंभवात् । एवं च **दाक्षेर्दाक्षायण** इत्युभयथा प्रत्युदाहरणमित्यपि वक्तुं शक्यते, वृद्धप्रत्ययान्तत्वे नामधेयमिन्नत्वे चावृद्धादित्यस्य दोरित्यस्य च । यदि च दाक्षिरनन्तरापत्यप्रत्ययान्तो नामधेयवाची चाश्रीयते तदोदाहरणमेवेति । **दोरिति किमिति** प्रायः संज्ञावाचकादेवापत्यार्थे प्रत्ययो भवति, संज्ञावाचकश्च वैकल्पिकदुसंज्ञका भवन्त्येवेति, दोरित्यव्यावर्तकमिति प्रश्नाशयः । **अकम्पनस्यापत्यमिति** । व्यावृत्तिसामर्थ्यादिह नित्यदुसंज्ञकानामेव ग्रहणं, न तु वैकल्पिकदुसंज्ञकानामिति विज्ञायते, अन्यथा अदोरित्यस्याव्यावर्तकत्वापत्तेः, तथा चाकम्पनस्य नित्यदुसंज्ञकत्वाभावात् ततोऽपत्यार्थे आयनिञ् न भवति, अदोरित्यस्याभावे च स दुर्वार एव । अत्र चादन्तलक्षण इञेवेष्ट इति भावः ॥६।१।११०॥

पुत्रान्तात् ॥६।१।१११॥

पुत्रशब्दान्ताद् दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ् प्रत्ययो वा भवति । गार्गीपुत्रायणिः, गार्गीपुत्रिः । वासवदत्तापुत्रायणिः, वासवदत्तापुत्रिः । पूर्वेणायनिञि सिद्धे वचनमिदत्तरसूत्रप्राप्तकागमाभावार्थम् । उत्तरेण च कागमोऽपि । एवं च गार्गीपुत्रकायणिरिति तार्तीयीकमपि रूपं भवति ॥१११॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पुत्रान्तात्० । दोरिति पूर्वसूत्रात् संबध्यत एव, तदाह—**पुत्रशब्दान्ताद् दुसंज्ञकादिति** । गार्ग्याः पुत्रो गार्गीपुत्रस्तस्यापत्यमित्यर्थेऽनेनायनिञि **गार्गीपुत्रायणिः**, तदभावेऽदन्तत्वादिञि **गार्गीपुत्रिरिति** । एवमन्यत्रापि विग्रहः । सूत्रवैयर्थ्यमाशङ्क्य परिहरति—**पूर्वेणायनिञि सिद्धे** इति "अवृद्धाद् दोर्नवा" [६.१.११०.] इति पूर्वसूत्रेणैव पुत्रान्तादपि दुसंज्ञकाद् विकल्पेनायनिञ् सिद्ध एवेतीह विशिष्य तत आयनिञो विधाने व्यर्थमिति न शङ्कनीयम्, उत्तरसूत्रेण पुत्रान्तस्यापि आयनिञ्सन्नियोगेन कागमो विधीयते स बाध्यतामित्येतदर्थं पृथक्सूत्रारम्भस्यावश्यकत्वात् । तथा च प्रकृतसूत्रानुसारिरूपाभ्यां सह कागमविशिष्टं गार्गीपुत्रकायणिरित्यपि रूपं भवति । अन्यथा **गार्गीपुत्रकायणिः**, गार्गीपुत्रिरिति रूपद्वयमेव स्यात्, न च पृथग्योगसामर्थ्यात् कागमस्य सर्वथा बाध एव कुतो नेति वाच्यम्, उत्तरसूत्रे चकारस्य पुत्रान्तादित्यनुकर्षणार्थस्य वैयर्थ्यापत्तेः, सर्वथा बाधे तदानर्थक्यस्य स्पष्टत्वात् । तथा च रूपत्रयमेवोचितमिति ॥६।१।१११॥

चर्मि-वर्मि-गारेट-कार्कटथ-काक-लङ्का-वाकिनाच्च कश्चान्तोऽन्त्यस्वरात् ॥६।१।११२॥

चर्मिन् वर्मिन् गारेट कार्कटथ काक लङ्का वाकिन इत्येतेभ्यः पुत्रान्ताच्च दुसंज्ञकादपत्ये

"Aho Shrutgyanam"

आयनिञ्प्रत्ययो वा भवति, तत्संनियोगे चैषामन्त्यस्वरात् परः ककारोऽन्तो भवति । चार्मिकायणिः, चार्मिणः । वार्मिकायणिः, वार्मिणः । 'संयोगादिनः' [७.४.५३.] इति प्रतिषेधादणि अन्त्यस्वरादिलोपो न भवति । गारेटकायनिः, गारेटिः । कर्कटस्यापत्यं कार्कटथः, तस्यापत्यं कार्कटथकायनिः, कार्कटथायनः । यदा त्वव्युत्पन्नः कार्कटथशब्दस्तदा पक्षे इञेव । कार्कटिथः । काककायनिः, काकिः । लाङ्ककायनिः, लाङ्केयः । लङ्कशब्दं केचिदकारान्तमिच्छन्ति, तन्मते लाङ्ककायनिः, लाङ्किः । वाकिनकायनिः, वाकिनिः । पुत्रान्ताद् दोः गार्गीपुत्रकायणिः । गार्गीपुत्रिः । ककारस्यान्त्यस्वरात् परतो विधानं चर्मि-वर्मिणोः नकारस्य लोपार्थम् । यद्येवं परादिरेव क्रियेत । नैवम् । तथासति प्रत्ययस्य व्यञ्जनादित्वात् पुंवद्भावो न सिध्येत् । चर्मिण्या अपत्यं चार्मिकायणिः । वर्मिण्या अपत्यं वार्मिकायणिः ॥११२॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—चर्मि० । स्पष्टार्था वृत्तिः । चर्मि-वर्मिणौ लङ्काशब्दश्चादुसंशक इत्ययोग्यत्वादेतत्सूत्रनिर्दिष्टांशे दोरिति न सम्बध्यते किन्तु चकारानुकृष्टे 'पुत्रान्ताद्' इत्यंश एवेत्यत एव तावतैव सह दोरित्यस्यान्वयो वृत्तौ प्रत्यपादि । चर्मिणोऽपत्यं **चार्मिकायणिरित्यादिरूपेण** विग्रहः । पक्षे चौत्सर्गिकेऽणि **चार्मिणः**, वार्मिण इति अत्र "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे प्राप्ते आह—"**संयोगादिनः**" [७.४.५३.] **इति प्रतिषेधादित्यादिना** । अगारेऽटतीति व्युत्पत्त्या पृषोदरादित्वादादिलोपे गारेटशब्दो व्युत्पाद्यः । तस्यापत्यमित्यर्थे गारेटक्ञि इति । पक्षेऽदन्तत्वादिञि **गारेटिरिति** । कार्कटथशब्दं व्युत्पादयति—**कर्कटस्यापत्यमिति** । गर्गादित्वाद् यञ् । कार्कटस्यापत्यमित्यर्थे चास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । पक्षे च "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनण् **कार्कटथायन** इति । इदं च कार्कटथशब्दस्य व्युत्पन्नत्वे समुदाहृतम् । पक्षान्तरमाह—**यदा त्वव्युत्पन्न** इति । कार्कटथशब्देन प्रकृति-प्रत्ययविभागः किन्त्वव्युत्पन्न एवायमीदृशाकारः शब्द इत्याश्रीयते तदा यञन्तत्वाभावादायनणभावेऽदन्तत्वादिञि **कार्कटिथरित्येव** पाक्षिकं रूपमिति भावः । काकस्यापत्यं **काककायनिः** इत्यादि । लङ्का नाम नगरी, तन्नाम्नी राक्षसी च, तस्यापत्यमिति विग्रहे कागमे "ङ्यादीदूतः०" [२.४.१०४.] इत्याकारस्य ह्रस्वे लाङ्कायनिरिति । पक्षे "ङ्याप्-त्यूङः" [६.१.५३.] इत्येयणि लाङ्केय इति । अत्र विशेषमाह—लङ्कशब्दं केचिदिति । तथा चायनिञि रूपे विशेषाभावेऽपि पक्षे विशेष इत्याह तन्मते—**लाङ्कायनिः, लाङ्किरिति** । आयनिञोऽभावेऽदन्तत्वनिमित्त इञ् भवतीति भावः । वाकिनस्यापत्यं **वाकिनकायनिरिति** । पक्षेऽदन्तत्वादिञ् **वाकिनिरिति**। चकारानुकृष्टस्य पुत्रान्तस्य दुसंज्ञकस्योदाहरणमाह—**गार्गीपुत्रकायणिरिति** । अत्र पूर्वसूत्रप्रवृत्त्या गार्गीपुत्रायणिरित्यपि रूपं सिद्ध्यतीति पूर्वसूत्रव्याख्यायामेव प्रतिपादितम् । ननु कश्चान्त इत्येवोच्यताम् । अन्त्यस्वरात् परतो विशिष्य तस्य विधानं किमर्थम् इति शङ्कायामाह—**ककारस्यान्त्यस्वरात् परतो विधानमित्यादि** । तथाहि—चर्मि-वर्मिणोरन्ते कविधाने तयोर्नान्तत्वं न तिष्ठेदिति "नाम्नो नोऽनहूनः" [२.१.९१.] इति नकारस्य लुक् न स्यात्, कृते चान्त्यस्वरादिकारात् परतो विधाने नाम्नः नान्तत्वं भवतीति भवति नकारस्य लुगिति भावः ।

पुनः शङ्कते यद्येवं **परादिरेव क्रियतामिति** । तथा च 'कादिः'इत्येव निर्देशः क्रियताम्, स च प्रथमान्तः प्रत्ययेन समानाधिकरणः स्यादिति कादिरायनिञ् भवति इत्यर्थः स्यात्, तथा च प्रत्ययस्य व्यञ्जनादित्वेन नकारान्तस्य पदत्वं तिष्ठेदिति न लुक् सिद्ध्येदिति भावः । अत्र केचन कश्चिदिरिति न्यासं व्याचक्षते तच्च नोचितम्, तथा सति कस्यादिरिति जिज्ञासायां पूर्वोपस्थितत्वात् प्रकृतेरेवादिरिति विज्ञायेतेत्यनिष्टं प्रसज्येत । कादिरिति न्यासे तु तस्य प्रथमान्तत्वेन प्रथमान्तेन विधेयेन प्रत्ययेन सह तस्य सामानाधिकरण्यं भवतीति प्रत्ययस्य कादित्वं सिद्ध्यति । उत्तरयति—**नैवम्** इति । एवं न विधातव्यमित्यर्थः । कुत इत्याह - तथा सति **प्रत्ययस्य व्यञ्जनादित्वादित्यादि**। अयमर्थः, प्रत्ययश्चेत् कादिराश्रीयते तर्हि तस्य व्यञ्जनादित्वे सति, तस्मिन् परतः "जातिश्च णि-तद्धितयस्वरे" [३.२.५१.] इति यादौ स्वरादौ वा तद्धिते विहितः पुंवद्भावो न स्यादिति । ननु भा भूद् स का हानिः, सर्वेषां पुंल्लिङ्गानामेव सूत्रे पाठात्, केवलं लङ्काशब्दः स्त्रीलिङ्गः पठितोऽपि, तत्र ह्रस्वेनैव निर्वाहस्य प्रदर्शितत्वादिति चेदत्राह—**चर्मिण्या अपत्यमित्यादि** । स्त्रीप्रत्ययान्तात् चर्मिन्शब्दादपत्ये पुंल्लिङ्गेन सह रूपसाम्यमेव

"Aho Shrutgyanam"

भवति, उक्तसूत्रेण पुंवद्भावात्, तच्च न स्यात् । स्त्रीलिङ्गाभ्यां च ताभ्यां प्रत्ययविधानम् * नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् * इति न्यायेनैव सिद्धम् । अतोऽन्यस्वरात् परतो विधानमावश्यकमिति पर्यवसितम् ॥ ६।१।११२॥

अदोरायनिः प्रायः ॥६।१।११३॥

अदुसंज्ञकादपत्ये आयनिः प्रत्ययो वा भवति प्रायः । ग्लुचुकायनिः ग्लौचुकिः । म्लुचुकायनिः, म्लौचुकिः । अहिचुम्बकायनिः, आहिचुम्बकिः । त्रिपृष्टायनिः, त्रैपृष्टिः । श्रीविजयायनिः, श्रैविजयिः । अदोरिति किम् ? औपगविः । रामदत्तिः । रामदत्तायनिः पिता । रामदत्तायनिः पुत्रः । आयनिञन्तादणो लुप् । प्रायोग्रहणात् क्वचिन्न भवति, दाक्षिः, प्लाक्षिः ॥ ११३ ॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–अदो० । *ननु* नवेत्यनुवृत्तेरेव एतत्पत्ययरहितरूपाणां सिद्धौ प्रायग्रहणेन क्वचिदप्रवृत्तिः किमर्थं साध्यते इति चेत्, सत्यम्, क्वचित् सर्वथैवायनिर्मा भूदित्येतदर्थं तद्ग्रहणात्, एतच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति । ग्लुचुक-म्लुचुक-अहिचुम्बक-श्रीविजयशब्दा दुसंज्ञाभाववन्तः इति तेभ्योऽपत्ये आयनिः **ग्लुचुकायनि**रित्यादि । पक्षे सर्वेषामदन्तत्वेनेञि आदिस्वरवृद्धौ **ग्लुचुकिरि**त्यादि । **अदोरिति किमिति** । सर्वेषामेव संज्ञाशब्दानामेवापत्यार्थेन योग इति प्रायः सर्वेऽपि पक्षे दुसंज्ञारहिता एवेति नेदं कस्यचिद् व्यावर्तकमिति प्रश्नाशयः । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति–**औपगविरि**ति । उपगोरपत्यम्-औपगवस्तस्यापत्यमित्यर्थे औपगवशब्दस्य नित्यदुसंज्ञकत्वेन, नित्यदुसंज्ञाविधायकस्य "वृद्ध्यस्य स्वरेष्वादिः" [६.१.८.] इति सूत्रस्य, "संज्ञा दुर्वा" [६.१.६.] इति सूत्रात् परत्वेन नित्यसंज्ञायाः एव प्रवृत्तेः, तत आयनिर्मा भूदित्येतदर्थम्, अदोरित्यस्यावश्यकत्वमिति भावः । प्रत्ययनिमित्तवृद्धया दुसंज्ञकमुदाहृत्य प्रकृतितो दुसंज्ञकमुदाहरति-**रामदत्तिरि**ति । "अवृद्धाद् दोर्नवा" [६.१.११०.] इत्यस्य पाक्षिकत्वेऽत्र इञि रूपम् । अथायनिञन्तमुदाहरति–**रामदत्तायनिः** पितेति । रामदत्तस्य वृद्धमपत्यमित्यर्थे आयनिञि रामदत्तायनिरिति । इदं च रूपम्-आयनौ विहितेऽपि सिद्धयत्येवेत्यत उदाहरणान्तरमाह–**रामदत्तायनिः पुत्र** इति । आयनौ सति रामदत्तायनेर्युवापत्यमित्यर्थे विहितस्यौत्सर्गिकस्याणो "ञिदार्षाद्" [६.१.१४०.] इति लुग् न स्यात् तस्य ञित्वाभावात्, इतीहायनिञेव विधेय इतीहादोरित्यस्याभावे परत्वादस्यैव प्रवृत्त्या स दुर्लभः स्यादित्याह–**आयनिञन्ताणो लुबि**ति । प्रायोग्रहणस्य विकल्पार्थत्वशङ्कां परिहरन्नाह–**प्रायोग्रहणात् क्वचिन्न भवति** इति । तथा च क्वचित् सर्वथैवाप्रवृत्तिः प्रायोग्रहणस्य फलमिति भावः । केत्याह–दाक्षिः, प्लाक्षिरिति । दक्ष-प्लक्ष-शब्दाभ्यामपत्ये इञैव भवति, न तु दक्षायणिः प्लक्षायणिरिति वैकल्पिकं रूपमिति भावः ॥६।१।११३॥

राष्ट्र-क्षत्रियात् सरूपाद् राजापत्ये ष्ट्रिरञ् ॥६।१।११४॥

क्षत्रियवाचिसरूपाद् राष्ट्रवाचिनो राष्ट्रवाचिसरूपाच्च क्षत्रियवाचिनो यथासंख्यं राजनि क्षत्रियेऽपत्ये चाञ्प्रत्ययो भवति, स च ष्ट्रिसंज्ञः । वेति निवृत्तम् । विदेहानां राष्ट्रस्य राजा वैदेहः, वैदेहौ, विदेहाः । बहुत्वे 'बहुष्वस्त्रियाम्' [६.१.१२४.] **इति लुप् । विदेहस्य राज्ञोऽपत्यं वैदेहः, वैदेहौ, विदेहाः । एवम्, ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ, इक्ष्वाकवः । पाञ्चालः, पाञ्चालौ, पञ्चालाः । राष्ट्र-क्षत्रियादिति किम् ? पञ्चालस्य ब्राह्मणस्य राजा पाञ्चालः । 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्यण् । पञ्चालस्य ब्राह्मणस्यापत्यं पाञ्चालिः । सरूपादिति किम् ? सुराष्ट्राणां राजा सौराष्ट्रकः । आदर्शस्य राष्ट्रस्य राजा आदर्शकः । दशरथस्य क्षत्रियस्यापत्यं दाशरथिः, त्रिपृष्टस्य त्रैपृष्टिः । ष्ट्रिप्रदेशाः 'ष्ट्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः' [६.१.१२३.] इत्यादयः ॥११४॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्–राष्ट्र० । राष्ट्रं च क्षत्रियश्चानयोः समाहारो राष्ट्र-क्षत्रियं तस्मात् । सरूपं च सरूपश्चेत्यनयोरेकशेषः सरूपं तस्मात् । यद्यपि सरूपं च सरूपश्चेत्यनयोरेकशेषे सति सरूपे इति स्यात् तथापि प्रकृते एकवचनेन विशेष्येण राष्ट्र-क्षत्रियादित्यनेन सामानाधिकरण्यार्थमेकवचनान्तमेवाश्रितम् । अथवा नास्त्यत्रैकशेषः, एकमेव सरूपपदं तन्त्रेण निर्दिश्यत इत्यास्थेयम् । राष्ट्र-क्षत्रियपदे च तद्वाचकरे । उभे च पदे नाम्नो विशेषणे । तथा च "राष्ट्र-क्षत्रियोभयवाचकं यत् सरूपं नाम ङसन्तं तस्माद् राजनि, क्षत्रिये चापत्येऽञ्प्रत्ययो

"Aho Shrutgyanam"

भवति यथासंख्यम्" इत्यर्थाश्रयणे राष्ट्रवाचकात् क्षत्रिय-सरूपात् राजनि, क्षत्रियवाचकाद् राजसरूपाच्च क्षत्रिये इत्यर्थः संपद्यते, तदेव वृत्त्या विवृत्य दर्शितम् । द्विसंज्ञा चास्य प्रत्ययस्य विधीयते तदुपयोगं चाग्रे वक्ष्यति स्वयमेवाचार्यः "अवृद्धाद् दोर्नवा" [६.१.११०.] इत्यतो वेत्यस्यानुवर्तमानत्वादिहापि तत्संबन्धसंभावनां निराकरोति **वेति निवृत्तमिति**। निवृत्तिश्च स्वरितत्वप्रतिज्ञाभावादेव यद्यपि साधयितुं शक्यते, तथापीह तन्निवृत्तयेऽपत्यग्रहणमेव हेतुः। तथाहि राजनि चेत्युक्तया राजनि अपत्ये च यथायोग्यं प्रत्ययः स्यादेव, तथापि यदपत्यग्रहणं क्रियते तत्पूर्वसम्बन्धाभावसूचनयैवेति लभ्यते । ननु तर्हि 'ङस' इत्यपि निवर्तेतेति चेन्न, तस्य राजापत्याभ्यामर्थाभ्यामवश्यापेक्षणात् । न चापत्यग्रहणाभावे राजनि चेत्युक्तया चकारेणापत्यार्थस्यानुकर्षणाश्रयणे यथासंख्यं न स्यादिति वाच्यम्, अर्थानुरोधेनैव यथासंख्यसिद्धेः, राष्ट्रवाचकस्य नाम्नोऽपत्यार्थेन क्षत्रियवाचकस्य च राजार्थे स्वारसिकयोगासंभवे स्वरसत एव राष्ट्रवाचकाद् राजनि क्षत्रियवाचकाच्चापत्यार्थे प्रत्ययविधानसंभवात् **विदेहानां** राष्ट्रस्य राजेति। विदेहादयः शब्दा राष्ट्रविशेषवाचित्वावस्थायां बहुवचनान्ताः, राजविशेषवाचकावस्थायामेकवचनान्ताश्च प्रयुज्यन्त इति किञ्चिद् वैरूप्यसत्त्वेऽपि स्वरूपतः सारूप्यमादायैव सरूपा इत्युच्यन्ते इति विज्ञेयम् । एवं च विदेहशब्दात् क्षत्रियसरूपात् राष्ट्रवाचिनः राजन्यर्थेऽञ्-प्रत्यये आदिस्वरवृद्धौ वैदेह इति। बहुत्वे चाञः "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति लुपि **विदेहा** राजानः। 'विदेहस्य राज्ञोऽपत्यम्' इत्यर्थे राष्ट्रसरूपात् क्षत्रियादपत्येऽञि पूर्ववद् **वैदेह** इति; अस्यापि बहुत्वे पूर्ववदञो लुपि विदेहा इति, एवमिक्ष्वाकूणां जनपदस्य राजा, इक्ष्वाकोः राज्ञोऽपत्यमिति वाऽर्थे राजनि अपत्ये च यथास्वमञि "सार-वैक्ष्वाक-मैत्रेय०" [७.४.३०.] इति निपातनादुकारलोपः **ऐक्ष्वाक** इति। बहुत्वे लुपि **इक्ष्वाकव** इति।

प्रत्युदाहरति–**राष्ट्र-क्षत्रियादिति किमिति**-प्रायो राष्ट्रवचनाः शब्दाः क्षत्रियवचना एव भवन्तीति, राष्ट्रसरूपादञ् राजनि, अपत्ये चेत्येतावतैव सिद्धौ राष्ट्र-क्षत्रियोभयग्रहणं किमर्थमिति प्रश्नः। तथा सति राष्ट्रवाचकस्य ब्राह्मणवाचकेनापि सारूप्ये प्रत्ययः स्यादित्याशयेन प्रत्युदाहरति–**पञ्चालस्य ब्राह्मणस्य राजेति**। पञ्चालशब्दो यथा राष्ट्रक्षत्रियोभयवाचकस्तथा ब्राह्मणवाचकोऽपि तस्माद् राजनि शैषिकोऽणेव भवति, तथा च **पाञ्चालः, पाञ्चालौ पाञ्चाला** इति रूपक्रमो भवति, संप्रति राष्ट्रसरूपादेवाञ्-विधाने इहाप्यञ् स्यादिति पाञ्चालः, पाञ्चालौ, पञ्चालाः इति रूपाणि स्युः ।

किञ्च, पाञ्चालस्य ब्राह्मणस्यापत्यमित्यर्थेऽदन्तत्वादिञ् भवति–**पाञ्चालिरि**ति। राष्ट्र-क्षत्रियोभयग्रहणाभावे चाञेव स्यादित्युभयग्रहणं कर्तव्यम्, कृते चोभयग्रहणे उभयवाचकयोरेव सरूपयोर्ग्रहणं नान्यार्थस्येति सिद्धयति। **सरूपादिति किमिति**-क्षत्रियासरूपात् राष्ट्राद् राष्ट्रास्वरूपाच्च क्षत्रियादयं नेष्ट इति प्रत्युदाहरति–**सुराष्ट्राणां राजेति**। सुराष्ट्रा जनपद एव न तन्नामानः क्षत्रिया इति तेभ्यः "राष्ट्रेभ्यः" [६.३.४४.] इत्यकञेव भवति । एवं **आदर्शक** इत्यत्रापि बोध्यम्। क्षत्रियं प्रत्युदाहरति–**दशरथस्य क्षत्रियस्येति**। अत्रादन्तत्वादिञेव भवति। असति सरूपग्रहणे एष्वपि अत्रेव स्यादिति भावः । द्विसंज्ञाप्रयोजनमाह–द्विप्रदेशा इति। द्विसंज्ञायाः समाश्रयणेन विधीयमाना विधयः "द्वेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः" [६.१.१२३.] इत्याद्या विधीयमाना लुबादयः द्विसंज्ञायाः प्रयोजनमिति भावः ॥६।१।११४॥

गान्धारि-साल्वेयाभ्याम् ॥६।१।११५॥

गान्धारि-साल्वेयशब्दौ इञेयणन्तौ सरूपौ राष्ट्र-क्षत्रियवचनौ, ताभ्यां राष्ट्राद् राजनि क्षत्रियादपत्ये अञ् प्रत्ययो भवति, स च द्विसंज्ञः। दुलक्षणस्य ञ्यस्यापवादः । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः । गान्धारीणां राजा गान्धारे राज्ञोऽपत्यं च गान्धारः, गान्धारौ, गान्धारयः। बहुष्वञो लुप्। एवं साल्वेयः साल्वेयौ, साल्वेयाः। एकत्व-द्वित्वयोस्त्वपत्यार्थविवक्षायामब्राह्मणादिति लुप् न भवति, विधानसामर्थ्यात्। अन्यथा ञ्यविधावेषानयोः प्रतिषेधः क्रियेत । तथा पूर्वेणैवाञ् सिध्यति ॥११५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–गान्धारि० । गन्धमियर्तीत्यर्थे "कर्म-णोऽण्" [५.१.७२.] इत्यणि गन्धार इति। तस्यापत्येऽर्थे अत इञि गान्धारिः, राष्ट्रवाची क्षत्रियविशेषवाची च । तत्रोपचाराद् राष्ट्रे बहुवचनान्तः, राजनि च सर्ववचनः। साल्वाया अपत्यमित्यर्थे "पीला-साल्वा०" [६.१.६८.] इत्येयण् साल्वेयः। अयमपि राजवाची उपचाराद् राष्ट्रवाची च बहुवचनान्तः। तदाह–**गान्धारि-साल्वेयशब्दौ** इत्यादि। **दुलक्षणस्य**

"Aho Shrutgyanam"

ञ्यस्यापवाद इति। "दुनादि०" [६.१.११८.] इति सूत्रेण प्राप्तस्य ञ्यस्य पुरस्तादपवादोऽयमित्यर्थः। ननु सति संभवे समाहारेण निर्देशस्य स्वशैलीसिद्धत्वात् सूत्रे द्विवचनेन निर्देशः किमर्थ इति चेत् तत्राह—**वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थ** इति। 'गान्धारिसाल्वेयात्' इत्येकवचनेन निर्देशे 'राजापत्ये' इत्येकवचनान्तोपस्थितयोरर्थयोः क्रमेणैव गान्धारि-साल्वेयाभ्यामन्वये गान्धारे राजनि साल्वेयादपत्ये इत्यर्थः संभव्येत, स मा भूदित्येतदर्थं द्विवचनेन निर्देश इति भावः।

ननु गान्धारि-साल्वेयशब्दाविह वृद्धप्रत्ययान्तावेवोपचाराद् राष्ट्रार्थेऽपि प्रयुज्येते इत्युक्तम्। एवं चाब्राह्मणाद् वृद्धापत्यप्रत्ययान्ताद् विहितस्य युवापत्यवाचिनः प्रत्ययस्य "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति लुक् कुतो नेति चेदत्राह—एक-द्वित्वयोरुक्तिः। उत्तरमाह—**विधानसामर्थ्याद्** इति। अयमाशयः—केवलं बहुत्वे लुपि एकद्वित्वयोः प्रत्ययस्य श्रवणं भवतीति तद्विधानं चरितार्थम्। यदि च तयोरपि प्रत्ययो लुप्येतैव तर्हि क्वापि तस्याश्रयणाद् विधानमेव तस्य निष्फलं स्यात्।

ननु गान्धारिशब्दादञ्विधाने तस्य लुपि च रूपे विशेषः प्रतीयते, साल्वेयशब्दात् तु सति प्रत्यये तस्य लुपि च रूपे विशेषः प्रतीयते, साल्वेयशब्दात् तु सति प्रत्यये तस्य लुपि वा रूपे विशेषाभाव इति चेन्न, यतः सङ्घादिष्वर्थेषु विशेषस्य संभवात्। तथाहि-अजन्तत्वे सति "सङ्घ-घोषाङ्क०" [६.३.१७२.] इत्यण् भवति, लुपि तु "गोत्राददण्डमाणव०" [६.३.१६९.] इत्यकञ् भवतीति विशेषस्य स्पष्टत्वात्। ननु विधानसामर्थ्याल्लुब्भावो न शक्यते वक्तुं, यतः ञ्यबाधनेनाञ्विधानस्य सार्थक्यादिति चेदत्राह—**अन्यथा ञ्यविधावेवानयोः प्रतिषेधः क्रियेते**ति। अयमर्थः—यदि ञ्यस्य बाधनमेवास्मादञ्विधानस्य फलं स्यात् तर्हि ञ्यविधौ "दुनादि०" [६.१.११८.] इति सूत्रे एवानयोः पर्युदासः क्रियेतेति किं पृथक्सूत्रारम्भेणेति।

नन्वेवं ञ्यस्य वारणेऽपि गान्धारि-साल्वेययो राजाऽपत्यार्थप्रतीतये कः प्रत्ययः स्यात्? प्रत्ययाभावे च कथं तदर्थः प्रतीयेत, प्रत्यये विहिते तु तस्य लुप्यपि * यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी * इति न्यायेन तदर्थबोधो भवति इति चेदत्राह—तथा **पूर्वेणैवाञ् सिद्ध्यति** इति ञ्यविधौ प्रतिषेधे कृते सति तस्य निवृत्त्या पूर्वसूत्रेणैवाभ्यामपि शब्दाभ्यामञ् सिद्ध्यत्येवेति पुनरनेन सूत्रेणाञ्विधानं लुबबाधनार्थमेवेति सिद्ध्यति इति। अन्ये तु प्रकृतसूत्रस्थौ गान्धारि-साल्वेयशब्दावव्युत्पन्नावेवेति मन्यन्ते, तथा च तन्मतेऽनयोर्वृद्धप्रत्ययान्तत्वाभावेन न भवति "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति लुपः प्राप्तिरिति न शङ्का, नापि विधानसामर्थ्याश्रयणरूपं समाधानम्। अस्तु वाऽनयोर्वृद्धप्रत्ययान्तत्वेनैव व्युत्पादनम्। तथापि न तदन्तत्वस्यात्र सूत्रे विवक्षेति वृद्धापत्ययान्तविवक्षणेन प्रत्ययविधानाभावान्न लुपः प्राप्तिरित्यपि समाधातुं शक्यत एव। तथा च प्रत्ययार्थाविवक्षया राष्ट्र-क्षत्रियवाचकत्वमभ्युपपद्यते। प्रत्ययार्थविवक्षायां तु राष्ट्रवाचकत्वे क्षत्रियवाचकस्योपचार एव कर्तव्यः स्यादिति निकृष्टवृत्तिसमाश्रयणादव्युत्पत्तिपक्ष एव ज्यायान् प्रतीयते ॥६।१।११५॥

पुरु-मगध-कलिङ्ग-शूरमस-द्विस्वरादण्
॥६।१।११६॥

पुरु-मगध-कलिङ्ग-शूरमस इत्येतेभ्यो द्विस्वरेभ्यश्च शब्देभ्यो राष्ट्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च सरूपेभ्यो यथासंख्यं राजन्यपत्ये चार्थे द्रिरण् भवति। अञोपवादः। **पुरोरपत्यं पौरवः, पौरवौ, पुरवः। मगधानां राजा मगधस्यापत्यं वा मागधः, मागधौ, मगधाः। एवम्, कालिङ्गः, कालिङ्गौ, कलिङ्गाः। शौरमसः, शूरमसौ, शूरमसाः। द्विस्वर, अङ्गानां राजा, अङ्गस्यापत्यं वा आङ्गः, अङ्गाः। बाङ्गः, बङ्गाः। सौह्मः, सुह्माः। पौण्ड्रः, पुण्ड्राः। दारदः, दरदः। भार्गः, भर्गाः। साल्वः, सल्वाः। सर्वत्र बहुषु लुप्। पुरुग्रहणमराष्ट्रसरूपार्थम्। अस्ति राजा पुरुर्नाम, न तु राष्ट्रम्। तस्यौत्सर्गिकेणैवाणा सिद्धे बहुषु लुबमर्थमिदमणविधानम्। अत्रैव सिद्धेऽणविधानं संघाद्यण्बाधनार्थम्। तेनाकञ्र भवति। पारवकम्। मागधकम्। कालिङ्गकम्। शौरमसकम्। आङ्गकम्। बाङ्गकम्। अजन्ताद्धि गोत्रात् 'अञ्यञिञः'[६.३.१७२.] इत्यण्बाधकः स्यात्॥११६॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पुरु-मगध०। स्पष्टार्था वृत्तिः। अञोऽपवाद इति। "राष्ट्र-क्षत्रियात्" [६.१.११४.] इति प्राप्तस्येति भावः। यद्यपि सत्यणि

"Aho Shrutgyanam"

अञि वा रूपे विशेषो नास्ति, तथापि सङ्घादिष्वर्थेषु विशेषः स्यादिति वक्ष्यति स्वयमेव । पुरोरपत्यमित्यर्थेऽञि आदिस्वरवृद्धौ, "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे पौरव इति । पुरो राष्ट्रस्याभावादपत्यार्थमात्रे विग्रहः । मागधादिषु राजन्यपत्ये च प्रत्ययः । ननु पुरोर्द्विस्वरत्वादेव ग्रहणे सिद्धे पृथग्ग्रहणं किमर्थमिति चेदत्राह—**पुरुग्रहणमराष्ट्रसरूपार्थमिति** । अयमर्थः—राष्ट्रसरूपस्यैव क्षत्रियवाचकस्य द्विस्वरस्य ग्रहणं द्विस्वरत्वेन स्यात्, पुरुश्च राजैव न राष्ट्रमिति तस्य ग्रहणं न स्यादिति पृथग्ग्रहणेन ततोऽपत्यार्थे प्रत्ययः सिध्यति, अस्य राष्ट्रवाचकत्वमेव स्पष्ट्यति—**अस्ति राजा पुरुर्नामेति** । अस्तीत्यत्र वर्तमानत्वमविवक्षितम्, धात्वर्थमात्रस्य संबन्धे वर्तमाना । ननु तर्हि तस्मात् पूर्वसूत्रेण "राष्ट्र-क्षत्रियात्" [६.१.११४.] इत्यनेनाञोऽप्राप्तेरौत्सर्गिकेनाणा रूपसिद्धेः सङ्घादिष्वर्थेषु वाच्यस्य वैलक्षण्यस्य च सिद्धेरिहाण्विधानं किमर्थमिति चेदत्राह—**बहुषु लुबर्थमण्विधानमिति** । औत्सर्गिकेनाणा रूपसिद्धावपि बहुत्वे पौरवा इत्येव रूपं स्यात् । इह विहितस्याणस्तु द्विसंज्ञाविधानेन तस्य "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति लुपि पुरव इति रूपं भवतीत्यर्थमेवाण्विधानमिति भावः । **अञैव सिद्धे इति** । "राष्ट्र-क्षत्रियात्" [६.१.११४.] इति विहितेनाञैव रूपसिद्धौ—अणञो रूपे विशेषाभावात् किमिति एभ्योऽण् विधीयते, न च पुरोर्विधानार्थमिति वाच्यम्, तदर्थमेतावतः सूत्रस्यानर्थक्यस्य जागरूकत्वात् इत्याशङ्क्यामाह—**सङ्घाद्यणबाधनार्थमिति** । 'सङ्घ-घोषाङ्क०' [६.३.१७२.] इति सूत्रेणाञन्तत्वनिबन्धनोऽण् मा भूत् किन्तु "गोत्राददण्ड-माणवकशिष्ये" [६.३.१७०.] इत्यकञैवेत्येतदर्थमण् विधीयत इति भावः । नन्वन्तत्वेऽपि अकञ् कुतो न स्यादिति चेदत्राह—**अञन्ताद्धीति** । अञन्तात् "सङ्घाङ्क०" [६.३.१७२.] इत्यनेन विहितोऽण् परत्वादकञो बाधकः स मा भूदित्येतदर्थमेभ्योऽण्विधानमावश्यकमित्यर्थः ॥६।१।११६॥

साल्वांश-प्रत्यग्रथ-कलकूटाश्मकादिञ्

॥६।१।११७॥

साल्वा नाम जनपदस्तदंशास्तदवयवा उदुम्बरादयस्तेभ्यः प्रत्यग्रथ-कलकूटाश्मक इत्येतेभ्यश्च राष्ट्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च सरूपेभ्यो यथासंख्यं राजन्यपत्ये च इञप्रत्ययो भवति, स च द्विसंज्ञः । उदुम्बराणां राजा उदुम्बरस्यापत्यं वा औदुम्बरिः, उदुम्बराः । एषम्, तैलखलिः, तिलखलाः । माद्रकारिः, मद्रकाराः । यौगन्धरिः, युगन्धराः । भौलिङ्गिः, भुलिङ्गाः । शारदण्डिः, शरदण्डाः । आजमीढिः, अजमीढाः । आजकुन्दिः, अजकुन्दाः । बौधिः, बुधाः इति साल्वाशाः । प्रात्यग्रथिः, । प्रत्यग्रथाः कालकूटिः, कलकूटाः । आश्मकिः, अश्मकाः । सर्वत्र बहुषु लुप् ।

'उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः ।
भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वाशा इति
कीर्त्तिताः ॥'

अजमीढाजकुन्दबुधास्तूदुम्बरादिविशेषाः, तेऽपि साल्वांशा एव । प्रत्यग्रथादिग्रहणमसाल्वांशार्थम् ॥११७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—साल्वांश० । साल्वांशानामप्रसिद्धत्वात् प्रख्यापयति साल्वा नाम जनपद इति । सलेर्वप्रत्यये स्त्रियामापि सल्वा नाम काचन क्षत्रिया, तस्या अपत्यानि "अदोर्नदी-मानुषीनाम्नः" [६.१.६७.] इत्यणि साल्वा नाम क्षत्रियाः । तेषां निवासो जनपदोऽप्युपचारात् साल्वाः । तदंशाः तदन्तर्गताः प्रदेशाः तदवयवा इत्युच्यन्ते । तेषामपि प्रसिद्धयभावादाह—**उदुम्बरादय इति** । आदिशब्देन ग्राह्यानपि संग्रहीष्यति सूत्रान्ते । उदुम्बरादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि । व्युत्पादनरसिकैर्यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्तेऽपि, तदन्यतोऽनुसरणीयम् ।

उदाहरति—**उदुम्बराणां राजा, उदुम्बरस्यापत्यं वेति**-इत्येवमन्यत्रापि विग्रहो विधेयः । उदुम्बरादीन् संगृह्णाति कारिकया **उदुम्बरास्तिलखला** इत्यादिना । अत्र शर-दण्डान्ता एव निविष्टाः, उदाहरणेषु चाजमीढादयोऽपि त्रय उदाहृतास्तानपि शेषपूरणेन संगृह्णाति—**अजमीढाजकुन्दबुधास्तूम्बरादिविशेषास्तेऽपि साल्वांशा एवेति** । अजमीढादयस्त्रयो न साक्षात् साल्वांशत्वेन ख्याताः, अपितु साल्वांशभूतानामुदुम्बरादीनां केषांचनांशविशेषा एते । तथा चावयवावयवस्य समुदायावयवत्वमिति न्यायानुसारं तेषामपि साल्वांशत्वमिति भावः । प्रत्यग्रथादयोऽपि साल्वेष्वपि दृश्यन्तेऽन्यत्र च । तेषामपि साल्वांशत्वेनैव ग्रहणे सिद्धेऽपि पृथग्ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्यामाह—**प्रत्यग्रथादिग्रहणमसाल्वार्थमिति** । प्रत्य-

"Aho Shrutgyanam"

ग्रथादयो यत्र साल्वांशत्वेन प्रयुज्यन्ते तत्रास्तु नाम तेषां तदंशत्वेन ग्रहणम्, यत्र तु तेन तदंशा अपि तु स्वतन्त्रा एव जनपदत्वेन (राष्ट्रत्वेन) व्यवहृताः तत्रापि प्रत्ययः स्यादित्येतदर्थमेव तेषां पृथग्ग्रहणमित्याशयः ॥६।१।११७॥

दु-नादि-कुर्वित्-कोशलाजादाञ्ज्यः ॥६।१।११८॥

दुसंज्ञकेभ्यो नकारादिभ्यः कुरुशब्दादिकारान्तेभ्यः कोशल अजाद इत्येताभ्यां च राष्ट्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च सरूपेभ्यो यथासंख्यं राजन्यपत्ये च ञ्यः प्रत्ययो भवति, स च ञ्रिसंज्ञः । दु, आम्बष्ठानां राजा आम्बष्ठस्यापत्यं वा आम्बष्ठ्यः, आम्बष्ठाः । सौवीराणां सौवीरस्य वा सौवीर्यः, सौवीराः । एवम्, काम्बव्यः, काम्बवाः । दार्व्यः, दार्वाः । द्विस्वरलक्षणोऽण् परत्वादनेन बाध्यते । नादि, निषधानां निषधस्य वा नैषध्यः, निषधाः । नैचक्यः, निचकाः । नैप्यः, नीपाः । कुरूणां कुरोर्वा कौरव्यः, कुरवः । इत, अवन्तीनामवन्तेर्वा आव न्यः, अवन्तयः । कौन्त्यः, कुन्तयः । वासात्यः, वसातयः । चैद्यः, चेदयः । काश्यः, काशयः । कोशलानां कोशलस्य वा कौशल्यः, कोशलाः । अजादानामजादस्य वा आजाद्यः, अजादाः । एभ्य इति किम्? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रिया च, ततो राजन्यपत्ये बाह्वेव भवति । कौमारः ॥११८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—दुनादि० । सूत्रं स्पष्टं व्याचष्टे—**दुसंज्ञकेभ्यो नकारादिभ्यः इत्यादि** । नकार आदौ येषां राष्ट्राणां क्षत्रियाणां च ते नकारादयः, यथा निषध-निचक-नीपाः । दुसंज्ञानुदाहरति—**आम्बष्ठानां राज्ञेत्यादि** । आम्बष्ठ्यादयो दारुपर्यन्ता सर्वे "वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः" [६.१.८.] इति सूत्रेण वृद्धिसंज्ञाः । तत्र दारुशब्दाद् द्विस्वरनिमित्तः "पुरुमगध०" [६.१.११६.] इत्यण् प्राप्तः स कथं न भवतीत्याशङ्कायामाह—**द्विस्वरलक्षणोऽण्—परत्वादनेन बाध्यते** पूर्वात् परं बलीयो भवति, "स्पर्धे" [७.४.११९.] इति परिभाषया । नादीनुदाहरति—**निषधानामित्यादिना** । इदन्तानुदाहरति—**अवन्तीनामित्यादिना** । एभ्य इति किमिति । 'ञ्य' इत्येव सूत्र्यतामित्याशयः । यद्यपि तथा सति अनुक्तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि परत्वात् ञ्य एव स्यादिति दोषबाहुल्यं तथापि तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेनैकमेव प्रत्युदाहरणमाह—**कुमारी नाम जनपदः क्षत्रिया चेति** । यद्यपि "राष्ट्रक्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इत्यत्र क्षत्रियशब्दः पुंल्लिङ्गः पठ्यते इति क्षत्रियाया; सारूप्यं न ग्रहीष्यते, तथापि *नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्* इति न्यायेन प्राप्तिः । अत्र च "राष्ट्र-क्षत्रियात्०" [६.१.१२४.] इति सूत्रेणाञेव भवति इहापि ञ्यो मा भूदिति विशिष्य एषां ग्रहणमावश्यकमिति भावः ॥६।१।११८॥

पाण्डोर्ढ्यण् ॥६।१।११९॥

पाण्डुशब्दाद् राष्ट्र-क्षत्रियवाचिनः सरूपाद् यथासंख्यं राजन्यपत्ये चार्थे ढ्यण्प्रत्ययो भवति, स च ञ्रिसंज्ञः । पाण्डूनां राजा पाण्डोरपत्यं वा पाण्ड्यः, पाण्ड्यौ, पाण्डवः । कथं पाण्डवाः यस्य दासाः, तस्य क्षत्रियस्य राष्ट्रसरूपस्य य ईश्वो जनपदो यश्च तस्य क्षत्रियसरूपस्य राष्ट्रस्येशिता क्षत्रियः स एव गृह्यते प्रत्यासत्तेः । अत्र तु कुरवो जनपदस्तस्य राजा पाण्डुरिति शिवादण् भवति । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः । णकारो वृद्धिनिमित्तपुंवद्भावप्रतिषेधार्थः । पाण्ड्याभार्यः ॥११९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पाण्डो० । राष्ट्र-क्षत्रियात् सरूपादिति सम्बध्यते । तथा च यः पाण्डुशब्दो राष्ट्र-क्षत्रियोभयवाचकस्तस्मादित्यर्थो लभ्यते एतदग्रेऽधिकं स्पष्टीकरिष्यति स्वयमेवाचार्यः । **पाण्ड्य** इति । पाण्डुशब्दाद् ढ्यणि "ञित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इत्युवर्णलोपे पाण्ड्य इति सिद्ध्यति । शङ्कते कथं '**पाण्डवा यस्य दासाः**' इति । पाण्डुशब्दाद् ढ्यणो बहुत्वे लुकि '**पाण्डवा यस्य दासाः**' इत्येव पाठो युक्तः, इह च पाण्ड्या इति दृश्यन्ते । स च पाण्डुशब्दादपत्येऽण्प्रत्यये ञिसंज्ञारहितेन संभाव्यते, स कथमुपपद्यते अस्य परत्वाद् बाधकत्वादिति शङ्काशयः । उत्तरयति—**तस्य क्षत्रियस्य राष्ट्रसरूपस्य य ईश्व** इत्यादिना । अयमाशयः—पाण्डुशब्दो द्वेधा प्रवर्तते, तस्यैकस्य देशविशेष-तदधिपतिक्षत्रियोभयवाचकत्वम्, परस्य कुरुवंशीयराजविशेषपरत्वम् । तत्र यो राजविशेषपरः स न राष्ट्रवाचक इति तस्य राष्ट्रसरूपत्वाभावान्न भवति ततोऽपत्ये

"Aho Shrutgyanam"

ङ्यण् । पाण्डवा इत्यस्य प्रकृतिः पाण्डुशब्दो युधिष्ठिरपितृपाण्डुराजवाचकः, स च पाण्डुर्न पाण्डूनामीशिता, न च पाण्डवो (जनपदः) तस्येशितव्याः । तथा च परस्परमनयोः प्रकृतपाण्डुशब्दवाच्यस्य राज्ञः पाण्डूनां जनपदस्य च—संबन्धाभावात् सारूप्ये सत्यपि न प्रत्ययोत्पत्तिरिति । कुतोऽयं राष्ट्र-क्षत्रिययोः परस्परं सम्बन्धो गृहीत इति चेदत्राह—**प्रत्यासत्तेरिति** । प्रत्यासत्तिः सन्निकर्षः, सम्बन्धिवाचकाः सम्बन्धवाचका वा शब्दाः प्रत्यासत्त्या स्वसंबन्धिनमेवाभिदधति—यथा 'पिता मानयितव्यः' इत्युक्ते प्रत्यासत्त्यैतद्गम्यते स्वस्येति । अन्यथा सर्वेषामेव यं कञ्चित् प्रति पितृत्वेन सर्वैः सर्वैर्मानयितव्यः स्यात् । एवं च प्रत्यासत्त्या संबन्धत्वेनैतद् गम्यते यत् तस्य क्षत्रियस्येत्यादिनोक्तम् । शब्दार्थस्तु तस्य जिघृक्षितशब्दार्थभूतस्य राष्ट्रसरूपस्य राष्ट्रेण सह सारूप्यं च क्षत्रियस्य समानवर्णवच्छब्दवाच्यत्वेन, ईश्यः अधिकृतः यो जनपदः यश्च तस्य स्वसमानशब्दोपात्तस्य राष्ट्रस्येशिता—अधिकारी क्षत्रियः स एव प्रत्ययविधौ गृह्यते प्रकृतित्वेनाश्रीयते । प्रकृतं निगमयति—**अत्र त्वित्यादिना** । पाण्डुरयं कुरूणामीशिता न पाण्डूनामिति तस्य नात्र प्रत्यय-प्रकृतित्वेन ग्रहणमिति भावः ।

अनुबन्धयोः सार्थकत्वं प्रतिपादयति—**ङकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थ** इति । ङकारस्य प्रयोगेऽश्रूयमाणत्वेऽपि अन्त्यस्वरादेः "ङित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इति सूत्रेण लोपार्थमेव सोऽनुबध्यते इत्यर्थः । **णकारो वृद्धिनिमित्तपुंवद्भावप्रतिषेधार्थ** इति । अत्र वृद्धिनिमित्तपदं वृद्धिनिमित्तद्धितान्तपूर्वपदपरम् । तथा च वृद्धिनिमित्तं यस्तद्धितस्तदन्तपूर्वपदभूतस्य पाण्डयाशब्दस्य यः पुंवद्भावः प्राप्तस्तस्य प्रतिषेधार्थमिति । अथवा वृद्धिनिमित्तपदं वृद्धिनिमित्तकपरम् । तथा च वृद्धिनिमित्तं निमित्तीकृत्य यः पुंवद्भावप्रतिषेधस्तदर्थमिति । वृद्धयर्थत्वं तु न वर्णयितुं शक्यते पाण्डुशब्दे वृद्धयभावेऽपि आदिस्वरस्य वृद्धेः सत्त्वात् । ननु तर्हि वृद्धेरभावे प्रत्ययस्य वृद्धिनिमित्तत्वमपि कुत आयातमिति चेन्न, सत्यपि वृद्धौ पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या वृद्धिविधानाद् वृद्धेर्निमित्तत्वाव्याघातात् । किञ्च, मा भूद् वृद्धिः, तथापि णकारे स्वरूपसत् वृद्धिनिमित्तत्वं नोपहन्यते इति ध्येयम् । लक्ष्यं दर्शयति—**पाण्डयाभार्य** इति । पाण्डोरपत्यं स्त्री पाण्डया सा भार्याऽस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ "परतः स्त्रीपुंवत्" [३.२.४९.] इति पुंवद्भावे प्राप्ते, "तद्धितः स्यरवृद्धिहेतुररक्तविकारे" [३.२.५५.] इति निषेध इति प्रक्रिया ॥६।१।११९॥

शकादिभ्यो ञ्लुप् ॥६।१।१२०॥

शक इत्येवमादिभ्यः परस्य ञ्नेः प्रत्ययस्य लुप् भवति । शकानां राजा, शकस्यापत्यं वा शकः । यवनः । जर्तः । कम्बोजः । चोलः । केरलः । आधारयः । विधारयः । उपधारयः । अपधारयः । मुरलः । खसः । शकादयः प्रयोगगम्याः ॥१२०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शकादि० । स्पष्टार्था वृत्तिः । **शकानां राजा शकस्यापत्यमिति वाऽर्थे** "पुरुमगध०" [६.१.११६.] इति द्विस्वरनिमित्तोऽण् तस्यानेन लुप् । जर्त इत्यपि तथा । यवन इत्यत्र "राष्ट्र-क्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इत्यञ् एवं यथालक्षणं प्रत्यया विज्ञेयाः । **कम्बोज** इति, रघुवंशे चतुर्थसर्गे—

"काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः ।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥ इति,

कालिदासप्रयोगे । 'काम्बोजा' इति पाठो लेखकप्रमादकृत एवेति सांप्रदायिकाः । न च कम्बोजस्य राज्ञ इमे इत्यर्थे राजार्थस्याञो लुप्यपि शैषिकेऽणि काम्बोजा इति प्रयोगः साधुरेवेति वाच्यम्, "न प्राग्जितीये स्वरे"[६.१.१३५.] इति लुपो निषेधेनादिस्वरवृद्धया काम्बोजशब्दस्य दुर्संशकत्वेन "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयेनाणो बाधात् । केचित् तु "न प्राग्जितीये स्वरे" [६.३.१३५.] इति निषेधः "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति प्रकरणस्थाया एव लुपो न तु शकादिनिमित्तकलुप इति लुपि सति वृद्धयभावेन "दोरीयः" [६.३.३२.] इत्यस्याप्राप्त्याऽणि काम्बोजा इत्यस्य साधुत्वमिति मन्यन्ते, तन्न युक्तम्, संकोचे मानाभावात् । परे तु मूलप्रकृतेरेव कम्बोजशब्दात् कम्बोजा अभिजना येषामित्यर्थेऽञि काम्बोजा इत्यस्य साधुत्वम् । "आभिजनात्" [६.३.२१४.] इत्यधिकारे "सिन्ध्वादेरञ्" [६.३.२१६.] इत्यञ् । सिन्ध्वादिगणे च कम्बोजशब्दपाठः सर्वसंप्रदायसम्मतः इत्याहुः । शकादीनामपठित्वेनाह—**शकादयः प्रयोगगम्या** इति

"Aho Shrutgyanam"

प्रत्ययलुपा प्रयुज्यमानाः प्रयोगाः शकाद्यन्तर्गतत्वेन बोध्या इत्यर्थः ॥६।१।१२०॥

कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम् ॥६।१।१२१॥

कुन्ति अवन्ति इत्येताभ्यां परस्य ञेर्ञ्यस्य लुप् भवति, स्त्रियामभिधेयायाम् । कुन्तेरपत्यं स्त्री कुन्ती । पक्षम्, अवन्ती । स्त्रियामिति किम् ? कौन्त्यः । प्रकृतस्य ञेर्लुप्विज्ञानात् स्वार्थिकस्य ञ्यटो ञित्संज्ञकस्य न भवति । कौन्ती ॥१२१॥

शः मः न्यासानुसन्धानम्–कुन्त्य० । स्पष्टा वृत्तिः । कुन्त्यवन्ती राष्ट्र-क्षत्रियवचनौ ताभ्यां स्त्र्यपत्येऽभिधेये "दुनादि०" [६.१.११८.] इतीदन्तनिमित्तो ञ्यः, तस्य लुप्, "स्त्रियां नुर्जातेः" [२.४.७२.] इति ङीः **कुन्ती, अवन्ती**ति । व्यावर्त्यमाह–**स्त्रियामिति किम्–कौन्त्यः, आवन्त्य** इति । पुंसि लुप् न भवतीति भावः । कुन्तेः स्वार्थे कुन्तिशब्दात् कुन्त्यपत्यपरात् शस्त्रजीविनः "पूगादमुख्यकाञ्ञो द्विः" [७.३.६०.] इत्यधिकारे "शस्त्रजीविसंघात्०" [७.३.६२.] इति ञ्यटि "अणञेय०" [२.४.२०.] इति ङीः, "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इत्यवर्णलोपे "व्यञ्जनात् तद्धितस्य" [२.४.८८.] इति यलोपे कौन्तीति रूपं भवति । तत्रापिञ्यटो ञित्संज्ञकत्वादनेन लुप् कुतो नेत्याशङ्कायामाह–**प्रकृतस्य ञेर्लुप्विज्ञानादि**त्यादि । पूर्वसूत्रादिह ञेरित्यनुवर्तते, ञित्संज्ञकस्य प्रत्ययस्य चानेन लुप् विधीयते । ञित्संज्ञा च यद्यप्युभयोः, एतत्प्रकरणस्थस्य स्वार्थिकप्रकरणस्थस्य च प्रत्ययस्य समानैव, तथापि राष्ट्र-क्षत्रियवाचकाद् विहितस्यैतत्प्रकरणस्थस्यैव ञित्संज्ञकस्य प्रत्ययस्यानेन लुप् विधीयते, न तु प्रकरणान्तर-स्वार्थिकस्थस्य ञित्संज्ञकस्य * प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्राकरणिकस्यैव *इति न्यायात् । अत्र **ञ्यटोऽञित्संज्ञकस्य** इत्यवग्रहविशिष्टः पाठो मुद्रितबृहद्वृत्तिपुस्तकेऽवलोक्यते स न शोभनः । ञित्संज्ञकत्वाभावे शङ्कायाः समाधानस्य चासङ्गतत्वापत्तेः । परे तु अत्रेदन्तो राष्ट्र-क्षत्रियवाची कुन्तिशब्दो गृह्यते । स्वार्थिकप्रत्ययश्च शस्त्रजीविसंघाद् विधीयते । शस्त्रजीविसङ्घे च कुन्तिन्शब्द एव पठ्यते–प्रयुज्यते वा । कुन्तोऽस्त्रविशेषोऽस्त्येषामिति कुन्तिनः शस्त्रजीविविशेषाः । ततश्च तस्माद् विहितस्य ञ्यटो ञित्संज्ञकस्यापि लुपोऽनेन प्राप्तिरेव नेति शङ्कासमाधी विचारणीये इति वदन्ति । यदि च कुन्तीनां क्षत्रियाणामपि संघः शस्त्रजीवित्वेन विवक्ष्यते इत्युच्यते, तदा सर्वं सुस्थमेवेति ॥ ६।१।१२१ ॥

कुरोर्वा ॥६।१।१२२॥

कुरुशब्दात् परस्य ञेर्ञ्यस्य स्त्रियां वा लुप् भवति । कुरोरपत्यं स्त्री कुरूः । कौरव्यायणी । 'कौरव्य-माण्डूकासुरेः' [२.४.७०.] इति ङायन् ॥१२२॥

शः मः न्यासानुसन्धानम्–कुरोर्वा । स्पष्टं सूत्रम् । कुरोरपत्यं स्त्रीत्यर्थे "दुनादि०" [६.१.११८.] इति ञ्यः, तस्यानेन लुक्, "उतोऽप्राणिन०" [२.४.७३.] इत्यूङि **कुरूः** । लुपोऽभावे, "कौरव्य-माण्डूकासुरेः" [२.४.७०.] इति ङ्यां तत्सन्नियोगेन ङायनि च **कौरव्यायणी**ति ॥ ६।१।१२२ ॥

ञेरञाणोऽप्राच्यभर्गादेः ॥६।१।१२३॥

प्राच्यान् भर्गादींश्च वर्जयित्वाऽन्यस्मात् परस्याञोऽणश्च ञेः स्त्रियां लुप् भवति । अञ्, शूरसेनस्यापत्यं स्त्री शूरसेनी । पक्षम्, अपाच्या । अण्, मद्री । दरत् । मत्सी । ञेरिति किम् ? औत्सी । औपगवी । द्रावनुवर्त्तमाने पुनर्ञिग्रहणं भिन्नप्रकरणस्यापि ञेर्लुबर्थम् । पर्शूः । रक्षाः । असुरी । पर्शु रक्षम् असुर इति राष्ट्रसरूपक्षत्रियवाचिनः । षण्णामपत्यं सङ्घः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षितः इति अणञोः 'शकादिभ्यो ञेर्लुप्' [६.१.१२०.] इति लुपि पुनः पञ्चादिलक्षणः स्वार्थिकोऽण् । तस्यापि स्त्रियामनेन लुप् । अञण इति किम् ? औदम्बरी । साल्वांशात्पादिञ् । अप्राच्यभर्गादेरिति किम् ? पाञ्चाली । वैदेही । पैप्पली । मागधी । कालिङ्गी । वैदर्भी । आङ्गी । बाङ्गी । सौह्मी । पौण्ड्री । शौरमसी । पाञ्चालादयः प्राच्या राष्ट्रसरूपाः क्षत्रियाः । भर्गादि, भार्गी । कारूषी ।

भर्ग करूष करूश केकय कश्मीर साल्व सुस्थाल उरश यौधेय शौक्रेय शौभ्रेय धार्तेय धार्तेयः । ज्यावानेय त्रिगर्त भरत उशीनर इति भर्गादिः ।

यौधेयादि-ज्यावानेयान्तानां स्वार्थिकस्याञो ञेः लुप् प्रतिषिध्यते । यौधेयीनां सङ्घादि यौधेयमिति संघाद्यणर्थम् । लुपि हि सत्याम्

"Aho Shrutgyanam"

अन्तत्वाभावात् सङ्घाधण् न स्यात् । प्रकृतस्य तु अञः प्रसङ्गाभावाद् न प्रतिषेधः । भरतोशीनरशब्दावुत्साद्विषु पठ्येते । तयोरिहोपादानात् सत्यप्यणपवादे चेत्यस्मिन् उत्साद्यञं बाधित्वा द्रिसंज्ञक एवाञ् भवतीति ज्ञाप्यते । तेन भरतानां राजानो भरता उशीनराणामुशीनरा इति राज्ञि विहितस्याञ उत्तरसूत्रेण लुप् सिद्धा भवति । उत्साद्यञस्तु द्रिसंज्ञाया अभावान्न स्यात् । नापि 'यञञः०' [६.१.१२६.] इत्यादिना प्राप्तिः राज्ञामगोत्रत्वात् ॥१२३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–द्रेरञ० । प्राच्यान् इति । प्राचि भवाः प्राच्या इति व्युत्पत्त्या यद्यपि सर्वोऽपि प्राच्यो भवति । कञ्चित् प्रति पूर्वत्वस्य सर्वत्र सत्त्वादिति प्राच्यपदमिह योगरूढमिति विज्ञेयम् । तथाहि शरावत्याः प्राञ्चो दक्षिणाश्च देशा जनपदा वा प्राच्यपदेन गृह्यन्ते । उक्तं च [अमरकोशे]—

"[लोकोऽयं भारतं वर्ष] शरावत्यास्तु योऽवधेः । देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः ॥" इति । तथा च शरावतीं नदीमवधीकृत्य प्राग् यो देशः दक्षिणश्च यो देशः स शास्त्रे प्राच्यपदेनोच्यते, एवं तामेव नदीमवधीकृत्य पश्चिमः उत्तरश्च देशः उदीच्यपदेनाभिधीयते । एवं च सांप्रतिकै राजनीतिज्ञैः भारतस्य यः दक्षिणोत्तरविभागः ख्याप्यते–दक्षिणभारत उत्तरभारत इति स न शास्त्रीयोऽपि तु स्वकल्पित एवेति विज्ञेयम् । प्राच्यानुदाहरति–**शूरसेनस्यापत्यं स्त्री शूरसेनी**ति । शूरसेनशब्दाद् राष्ट्र-क्षत्रियलक्षणोऽञ्, तस्य लुपि जातिलक्षणो ङीः । अपाच्यस्यापत्यं स्त्री **अपाच्या** । अस्य चोपान्त्यत्वेन जातिलक्षणो ङीर्न भवति, अपि तु आबेव । अञो लुपमुदाहृत्याणो लुपमुदाहरति–**मद्रीत्यादि** । एषु द्विस्वरलक्षणोऽण् ।

द्रेरिति किमिति–सामान्येनाञणोर्लुप् विधीयतामिति प्रश्नः । **औत्सी**, अत्र "उत्सादेरञ्" [६.१.१९.] इत्यञ्, **औपगवी** । अत्र "ञ्सोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यण् । अनयोर्द्रिसंज्ञकत्वाभावात् लुप् न भवति । अस्त्यामद्रेरित्युक्तौ तु स्यादेवेति भावः । अत्रत्यद्रिपदेन सर्वस्य द्रिसंज्ञकस्य ग्रहणं साधयति–**द्राबनुवर्तमाने** इत्यादिना । "शकादिभ्यो द्रेर्लुप्" [६.१.१२०.] इति सूत्राद् द्रेरित्यनुवृत्तमेव, पुनरत्र सूत्रे द्रिग्रहणेन एतत्प्रकरणीयः राष्ट्र-क्षत्रियवाचकाद् विहितोऽद्रिरेव न ग्राह्यः, अपि तु भिन्नप्रकरणस्थः स्वार्थिको द्रिरपि गृह्यते एतल्लभ्यत इति भावः । तस्य फलमाह–**पर्शूरित्यादिना** । एषां सिद्धिप्रकारमाह–**पर्शु-रक्षस्** इत्यादिना । पर्शूणामपत्यं स्त्री संघः इत्येवमर्थे–पर्शु-रक्षोभ्यां द्विस्वरलक्षणः "पुरु-मगध०" [६.१.११६.] इत्यण्, असुरशब्दात् "राष्ट्र-क्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इत्यञ्, तयोः "शकादिभ्यो द्रेर्लुप्" [६.१.१२०.] इति लुपि, ततः स्वार्थे "पर्श्वादेरण्" [७.३.६६.] इत्यणि, तस्यापि द्रिसंज्ञायाः सत्त्वेन, तद् द्रिसंज्ञायाश्च प्रकरणान्तरीयत्वेऽपि, अनेन स्त्रियां लुप् भवति ।

पदकृत्यं पृच्छति—**अञण इति किमि**ति । द्रेः प्राच्यभर्गादेरित्येतावदेव सूत्रमस्तु, सर्वस्यापि द्रिसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य लुप् विधीयतामिति प्रश्नाशयः । प्रत्युदाहरति—**औदुम्बरी**ति । उदुम्बरस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थे "साल्वांशप्रत्यग्रथ०" [६.१.११७.] इतीञि आदिस्वरवृद्धौ स्त्रियां ङीः **औदुम्बरी**ति । इहापि इञो लुपि उदुम्बरीति स्यात्, तद्वारणायाञण इत्यावश्यकमित्यर्थः । पुनः पृच्छति—**अप्राच्यभर्गादेरिति किमि**ति प्राच्यानां भर्गादीनां पर्युदासेन किं फलमिति प्रश्नः । प्रत्युदाहरति–**पाञ्चालीत्यादिना** । पाञ्चालादयः शूरसेपर्यन्ताः प्राच्याः, तेषु राष्ट्र-क्षत्रियलक्षणस्याञः, तदन्तर्गतेषु द्विस्वरेषु च द्विस्वरनिमित्तस्याणो लुप् न भवति, एषामुक्तप्राच्यलक्षणाक्रान्तत्वात् । एवं भार्गी इत्यत्राणः, कारूषीत्यत्राञश्च लुप् न भवति भर्गादित्वात् । प्रकृतपर्युदासाभावे चैष्वपि लुप् दुर्वारा स्यात् ।

अत्रेदं विचार्यते–भर्गादौ केकयशब्दोऽपि पठ्यते, ततश्च तस्मादपि विहितस्य द्रिसंज्ञस्य प्रत्ययस्य लुप् न भविष्यतीति ।

"कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः
प्राक् केकयीतो भरतस्ततोऽभूत् ।
असोष्ट शत्रुघ्नमुदारचेष्ट-
मेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन ॥"

इति भट्टिकाव्यप्रयोगे 'केकयी'ति प्रत्ययलुप्ता प्रयोगः कथमुपपद्यते । तस्य (केकयशब्दस्य) भर्गाद्यन्तर्गतत्वेन विहितस्याञो लुबभावात् इति चेत् सत्यम्, अत्र नापत्यार्थे प्रत्ययो विहितो यस्य लुबपेक्ष्येत किन्तु केकयशब्दस्य क्षत्रियविशेषवाचकत्वेन, तद्वंशोत्पन्नपुरुषवत् कन्यास्वपि

"Aho Shrutgyanam"

प्रयोक्तुं शक्यत्वेन स्त्रियां गौरादित्वात् ङ्यां केकयीति सिद्धेः ।

ननु यौधेयादीनां ज्यावानेयपर्यन्तानामपत्यप्रत्ययान्तानामिह भर्गादौ पाठो दृश्यते । तेभ्यः स्त्रियामपत्ये यूनि प्रत्यय एव न संभाव्यते । स्त्रियां युवसंज्ञानिषेधात् । राजार्थे प्रत्ययसंभवेऽपि तत्र "दुनादि०" [६.१.११८.] इति ञ्य एव स्यात्, यौधेयादीनां दुसंज्ञकत्वात्, ञ्यस्य चानेन लुपः प्राप्तिरेव नेति किमर्थमिह यौधेयादिपर्युदासः क्रियत इति चेदत्राह—**यौधेयादिज्यावानेयान्तानां स्वार्थिकस्याञो लुप् प्रतिषिध्यत** इति । नैतेभ्य एतत्प्रकरणस्थस्य राजारपत्यार्थप्रत्ययस्य लुपः प्रतिषेधोऽनेन, किन्तु "यौधेयादेरञ्" [७.३.६५.] इति विहितस्य स्वार्थिकस्याञो द्रिसंज्ञकस्य । तस्याञो लुपः प्रतिषेधे किं फलमिति चेदत्राह- **यौधेयीनां संघादि यौधेयमिति संघाधणर्थमिति** । युधाया अपत्यानि स्त्रीत्वविशिष्टानि इत्यर्थे "द्विस्वरादनद्याः" [६.१.७१.] इत्येयणि यौधेय्यः । ता एवेत्यर्थे यौधेयादेरञ् इत्यञ्, तस्य लुपो निषेधेन "संघाङ्कलक्षणा०" [६.३.१७२] इत्यणि सति यौधेयमिति भवति । अञो लुपि सति तु अञन्तत्वाभावेनाणोऽप्राप्त्या "गोत्राददण्डमाणवाशिष्ये" [६.३.१६९.] इत्यकञेव भवेदिति यौधेयकमित्यापद्येतेति भावः ।

ननु प्रकृत एवाञ् कुतो नानेन लुप्यत इति चेदत्राह—**प्रकृतस्य त्वित्यादिना** । प्रसङ्गाभावश्च पूर्वमुपपादित एव । भरणार्थकभृधातोरतच्प्रत्यये भरत इति, कान्त्यर्थकवशधातोः कर्मणि इकि उशिरिति । उशयो नरा यत्रेत्यर्थे बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदस्य दीर्घे उशीनरशब्दः संपद्यते । तयोरत्र गणे पाठो व्यर्थः तयोरुत्सादिगणेऽपि पाठस्य सत्त्वेन तस्य चाणपवादविषयकत्वस्योक्तत्वात्, बलवत्त्वादाभ्यामपत्यार्थे तेनैवाञि तस्य द्रिसंज्ञकत्वाभावेनानेन लुपोऽप्राप्त्या तयोः भरतोशीनरयोरत्र गणे पाठो व्यर्थ इति कस्यचिदाशङ्कां निरस्यति—**भरतोशीनरशब्दावित्यादिना** । अयमाशयः—भर्गादिगणे तयोः पाठेन राष्ट्र-क्षत्रियवाचकयोस्तयोः शब्दयोरपत्येऽपि राष्ट्र-क्षत्रियादित्यञेव भवति इति ज्ञाप्यते । उत्सादिपाठश्च राष्ट्र-क्षत्रियवाचकादन्यत्र चरितार्थ इति न तस्य सामर्थ्यम्, न च राजन्यर्थं चरितार्थ इति वाच्यम्, राजन्यर्थे स्त्रीत्वायोगात्, पूर्वं स्त्रीणां शासनाधिकारस्य प्रसिद्धत्वात् । ततश्चात्र तयोः पर्युदासोऽपत्यार्थप्रत्ययस्य लुपः प्रतिषेधेनैव चरितार्थः । राजन्यर्थेऽपि चोत्साद्यञः प्राप्तावपि अनेनैव ज्ञापकेनाप्रवृत्त्याऽत्र्यो द्रिसंज्ञक एवाञ् "राष्ट्र-क्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इति विहितः भरतोशीनराभ्यां भवति । तस्य च लुप् मा भूदित्येतदर्थं भर्गादिगणे पाठ इति भावः । ज्ञापनस्य फलमाह—**तेन भरतानां राजान** इत्यादिना । उक्तार्थे "राष्ट्र-क्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इत्यञि तस्य "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति सूत्रेण लुप् सिद्धयतीत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—**उत्साद्यञस्तु द्रिसंज्ञाया अभावादिति** । अयमर्थः—राजन्यर्थेऽप्युत्साद्यञः प्रवृत्तावपि उत्तरसूत्रेण लुप् न संभाव्यते, यतो द्रिसंज्ञकस्यैवाञस्तेन लुप् भवति, न चोत्साद्यञो द्रिसंज्ञाऽस्तीति उत्साद्यञो बाधनमावश्यकम् ।

ननूत्साद्यञेवास्तु तस्य "यञञोऽश्यापर्ण०" [६.१.१२६.] इति लुपि भरता उशीनरा इति सिध्येतेति चेदत्राह—**नापि "यञञ०" [६.१.१२६.] इत्यादिनेति** । तत्र हेतुमाह—**राज्ञामगोत्रत्वादिति** । अयमाशयः—"यस्कादेर्गोत्रे" [६.१.१२५.] इति सूत्राद् गोत्रे इति यञञ इत्यत्रापि सम्बध्यत इति गोत्रवाचिनः प्रत्ययान्तादेव विहितस्य यञोऽञश्च लुप् भवतीति भरतादीनां राज्ञामगोत्रत्वेन ततः प्रत्ययान्ताद् विहितस्याञस्तेन लुप् न भवति । गोत्रं हि द्विधा श्रूयते शास्त्रीयं लौकिकं च । शास्त्रीयं तावत् पाणिनीयादिनये अपत्यं "पौत्रप्रभृति गोत्रम्" [पा० सू० ४.१.१६२.] इति सूत्रेण परिभाषितम् । अपरं च लोके प्रवर्तमानं प्रवराध्यायादौ प्रसिद्धम् । तत्र प्रथमं स्वमते "पौत्रादि वृद्धम्" [६.१.२.] इति सूत्रेण वृद्धसंज्ञया प्रतिपादितम् । तच्चापत्यप्रत्ययार्थमेवोपयुज्यते इति स्त्रीपुंसाभ्यां "नञ्-स्नञौ भवनात्" [पा० सू० ४.१.८७.] इत्यत्र "यूनि लुक्" [पा० सू० ४.१.९०.] इत्यत्र च महाभाष्ये प्रतिपादितम् । तत्र हि अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकस्यैव गोत्रस्य ग्रहणमिति सिद्धान्तितम् । तत्रोक्तं कैयटेन—ऋषिप्रजनश्च लोके गोत्रमित्युच्यते । कतिपय एव च ऋषयः प्रजनकर्तारः श्रुताः, तथाहि महाभाष्ये "गोत्रावयवात्" [पा० सू० ४.१.७९.] इति सूत्रव्याख्यायामुक्तम्-अष्टाशीतिसहस्राण्यूर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुः, तत्रागस्त्याष्टमैः ऋषिभिः प्रजनोऽभ्युपगतः । तत्रभवतां यदपत्यं तान्न गोत्राणि, अतोऽन्ये गोत्रावयवा इति । एवं च तेषामृषीणामनन्तरापत्यभूता ये ऋषयस्त एव गोत्रसंज्ञयैव गोत्रव्यवहारः प्रवर्तत इति सुतरां सिद्धं राज्ञामगोत्रत्वम् । क्षत्रियेषु पुरोधसां गोत्रसंज्ञयैव गोत्रव्यवहारः प्रवर्तत इति तेषां स्वातन्त्र्येण गोत्रत्वं नास्ति । अतश्च "यञञोऽश्यापर्ण०" [६.१.

"Aho Shrutgyanam"

१२६.] इति लुपा भरता उशीनरा इत्येतौ न सिध्यत इति तदर्थमत्रोत्साद्यञो बाधनमावश्यकमिति तज्ज्ञापनार्थं प्रकृतसूत्रे भर्गादौ भरतोशीनरयोः पाठ आवश्यक इति फल्लितम् ॥६।१।१२३॥

बहुष्वस्त्रियाम् ॥६।१।१२४॥

द्र्यन्तस्य शब्दस्य बहुषु वर्त्तमानस्य यो द्रिः प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति । पञ्चालानां राजानः पञ्चालस्यापत्यानि वा पञ्चालाः एवम्, पुरवः । अङ्गाः । लोहध्वज एव लौहध्वज्यः, लौहध्वज्यौ, लोहध्वजाः । बहुष्विति द्र्यन्तस्य विशेषणं न निमित्तम् । तत्र हि पञ्चालानां निवासः पञ्चालनिवासः, प्रिया बङ्गा यस्य स प्रियबङ्गः, अङ्गानतिक्रान्तोऽत्यङ्गः, पञ्चालेभ्य आगतं पञ्चालमयम्, पञ्चालरूप्यम्, लोहध्वजमयम्, लोहध्वजरूप्यम्, इत्यादौ पञ्चाल अञ् आम् निवास इत्यादिस्थिते 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुप् बाधते' इति बहुवचनस्य लुपि द्रेर्लुप् न स्यात् । द्रेरिति पूर्ववदेव भिन्नप्रकरणस्यापि परिग्रहः । बहुष्विति किम् ? पाञ्चालः । लौहध्वज्यः । प्रिया बाङ्गा येषां ते प्रियबाङ्गा इत्यत्र न द्र्यन्तं बहुषु किं तर्हि समास इति लुप् न भवति । प्रत्ययः प्रकृत्यादेरिति नियमाद्धि न समासो द्र्यन्तो भवति । पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालस्तस्य तयोर्वाऽपत्यानि पञ्चाला इत्यत्र तु इञि लुप्तेऽञन्तमेव बहुषु वर्त्तत इति अञोऽपि लुप् । द्रेः प्रत्ययस्य बहुषु वर्त्तमानस्य इति तु विज्ञायमाने न स्यात् । अस्त्रियामिति किम् ? पञ्चालस्यापत्यानि स्त्रियः पाञ्चाल्यः । लौहध्वज्याः स्त्रियः । पञ्चभिः पाञ्चालीभिः क्रीतः पञ्चपाञ्चाल इत्यत्र तु इकणो लुपः पित्त्वात् पुंवद्भावेन स्त्रीत्वनिवृत्तेर्लुप् भवत्येव ॥१२४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-बहु० । अत्र द्रेरित्यनुवृत्तम्, तच्च द्रिसंज्ञकप्रत्ययपरम् । बहुष्विति संख्यावाचकस्य बहुशब्दस्य संप्रति संख्येयपरस्य बहुत्ववाचकत्वमर्थः । सप्तमी च क्रियाधारतायां भवति । क्रिया चात्राध्याहृतवर्तमानपदवाच्यैव । बहुत्वार्थं वर्तमानत्वं च द्र्यन्तस्यैव गृह्यतेऽस्त्रियामिति पर्युदासात् । यतश्च द्रिप्रत्ययस्य तदर्थस्य वा स्त्रियां वृत्तिर्न संभाव्यतेऽपि तु तदन्तस्यैव । ततश्च द्र्यन्तस्य शब्दस्य बहुषु वर्तमानस्येत्यर्थो लब्धः । 'यो द्रिः' इति तु* निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः* इति न्यायलब्धोऽर्थः ।

उदाहरति—**पञ्चालानां राजान** इत्यादिना "राष्ट्रक्षत्रियात्०" [६.१.११४.] इत्यञ् तस्य बहुषु लुप् । पुरव इत्यत्र, आङ्गा इत्यत्र "पुरु-मगध०" [६.१.११६.] पुरुनिमित्तकः द्विस्वरनिमित्तकश्चाण्, तस्य लुप् । **लोहध्वज एव लौहध्वज्य** इति स्वार्थिकः ष्यञ् । तस्यापि द्रिसंज्ञकत्वेनानेन बहुषु लुप् लोहध्वजा इति । द्र्यन्तस्य बहुषु वर्तमानस्येति व्याख्यानस्य फलमाह—**बहुष्विति द्र्यन्तस्य विशेषणं न निमित्तमित्यादिना** । अयमाशयः बहुष्विति न बहुवचनविभक्तौ परत इत्यर्थकम्, अस्त्रियामिति पर्युदासात्; नहि स्त्रीप्रत्यये सति द्र्यन्तस्य बहुवचनविभक्तिपरत्वं संभाव्यते, स्त्रीप्रत्ययेन व्यवधानात् । न च तादृशोऽर्थ इष्टः, यतो विभक्तिलुपि बहुवचनपरत्वाभावात् द्रेर्लुप् न स्यात् । तदेवाह—**तत्र हीत्यादिना** । बहुवचनविभक्तौ परतो द्रेर्लुप् इत्यर्थे समाश्रिते पञ्चालानां निवास इत्याद्यर्थे समासे 'पञ्चाल अञ् आम् निवास सु' इति स्थिते * **अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुप् बाधते*** इति न्यायेन द्रिलुपः पूर्वमेव विभक्तिलुपि बहुवचनपरत्वाभावाद् द्रिलुप् न स्यात् । न चेयमपि लुबेवेति नानेन न्यायेन पूर्वं विभक्तिलुप् प्रवर्त्तयितुं शक्येति वाच्यम्, द्रिलुपः पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वेऽपि तस्या बहिरङ्गाया ऐकार्थ्यनिमित्तलुपा बाध्यत्वात्—अन्तरङ्गानपीत्युक्तयाऽप्रवर्तनात् । ततश्च प्रकृते विभक्तेर्निमित्तत्वेनाश्रयणे लुपालुप्ते तन्निमित्तककार्याप्राप्त्या द्रिलुप् नैव स्यादिति पर्यवसितम् । "द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः" [६.१.१२३.] इति सूत्रे पुनर्द्रिग्रहणेन ज्ञापितोऽर्थः—भिन्नप्रकरणस्थोऽपि द्रिरिह गृह्यते इति इहाप्याश्रीयत इत्याह—**द्रेरिति पूर्ववदेवेत्यादि** । तनैव लोहध्वजा इत्यस्य सिद्धिरिति भावः ।

पदकृत्यं पृच्छति—**बहुष्विति किमिति** । बहुवचनविभक्तेर्निमित्तत्वेनाश्रयणाभावस्य सिद्धान्ततत्त्वेन तद्वैयर्थ्यमेवेति प्रच्छकाकूतम् । एकत्वे विभक्तिपरत्वेऽपि लुप् नेष्टेति । प्रत्युदाहरति—पाञ्चालः लौहध्वज्य इति । किञ्चान्यपदार्थगतबहुत्वबोधकबहुवचनविभक्तिपरत्वे सत्यपि तत्र द्र्यन्तस्य बहुत्वे वर्तमानत्वाभावेन लुप् मा भूदित्येतदर्थमपि बहुष्विति तद्विशेषणमावश्यकमित्याह—**प्रिया बाङ्गा**

"Aho Shrutgyanam"

येषामित्यादिना । अत्र हि न द्रयन्तं बहुषु, अपि तु अन्य पदार्थ इति न भवति लुप् । बहुष्वित्यस्याभावे च दुर्वारमेवेति भावः । नन्वन्यपदार्थबाधकत्वं प्रियवाङ्गा इति समुदायस्यैव तस्य द्रयन्तमपीति द्रयन्तस्य बहुत्वे वर्तमानत्वमस्त्येवेति लुप् स्यादेवेति चेदत्राह—***प्रत्ययः प्रकृत्यादेः*इति नियमाद्धीति** तेन न्यायेन प्रकृत्यादेः समुदायस्यैव प्रत्ययस्तदन्तत्वेन विशेषणमिति निर्णीते बङ्ग-स्यैव प्रकृतित्वेन तदादिरेव समुदायो द्रयन्तत्वेन व्यपदेश्य इति प्रियवाङ्गा इत्यधिकस्य समुदायस्य न द्रयन्तत्वम् । प्रत्ययान्तस्यैव बहुत्वयोगस्य विवक्षणे फलान्तरमप्याह—**पञ्चालस्यापत्यमित्यादिना** । पञ्चालस्यापत्यमित्यर्थे "राष्ट्र-क्षत्रियाद्०" [६.१.११४.] इत्यञ् पाञ्चाल इति । तस्य *तयोर्वाऽपत्यानीत्यर्थेऽदन्तत्वादिञि, तस्य* "ञिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुपि अञन्तमेव बहुत्वेऽवशिष्टमिति तत्राञन्तस्यार्थान्तरस्थितावपि वस्तुतो बहुत्वे सत्त्वादनेन लुप् भवत्येव पञ्चालाः इति । प्रत्यय-मात्रस्य बहुत्वेन योगस्य विवक्षणे तु प्रकृते न स्यात्, द्विप्रत्ययस्य बहुत्वविशिष्टेऽर्थेऽत्र विधानाभावात् । तदाह—**द्वेः प्रत्ययस्य बहुषु वर्तमानस्येति विज्ञायमाने न स्यादिति** । **अस्त्रियामिति किमिति**—स्त्रीप्रत्यये परतो बहुवचनपरत्वाभावात् लुप् न प्राप्नोतीत्यभिमानेन प्रश्नः । बहुष्विति द्रयन्तस्य विशेषणं न निमित्तमित्यर्थ-स्योक्ततया प्रत्युदाहरति—**पञ्चालस्यापत्यानीत्यादि** । एषु लुप् मा भूदित्येतदर्थमस्त्रियामित्यावश्यकमिति भावः । अस्त्रियामिति च स्त्रीप्रत्ययपरत्वे सत्येव लुपो निवर्तकम् । तस्य लुपि तु नेत्याहोदाहरणमुखेन—**पञ्चभिः पाञ्चा-लीभिः क्रीत** इत्यादिना । अत्र क्रीतार्थे विहितस्येकणः "द्विगोरनपत्ये" [६.१.२४.] इति लुपि तस्याः पित्त्वाद् "क्यङ्-मानि-पित्तद्धिते" [३.२.५०.] इति पुंवद्भावे स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तौ बहुत्वे वर्तमानस्य द्वेरनेन लुप् भवत्येवेति भावः ॥६।१।१२४॥

यस्कादेर्गोत्रे ॥६।१।१२५॥

यस्कादिभ्यो यः प्रत्ययो विहितस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानस्य यस्कादेर्यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां विषये लुप् भवति । यस्कस्यापत्यं यास्कः, यास्कौ, यस्काः । लाह्यः, लाह्यौ, लह्याः । शिवादेरण् । यस्कादेरिति किम् ? उपगोरपत्यमौपगवः, औपगवौ, औपगवाः । यास्कायनयः । लाह्यायनयः । गोत्र इति किम् ? यास्काश्छात्राः । यस्कस्यापत्यानि यस्काः, तत्प्रकृतयो यास्का इत्यत्र गोत्रे उत्पन्नस्यापि प्रत्ययस्य नेदानीं तदन्तं प्रतिकृतिषु वर्तमानं गोत्र इति न भवति । अस्त्रियामित्येव ? यास्क्यः स्त्रियः ।

यस्क लह्य द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्ण भलन्दन, एभ्यः शिवादेणो लुप् । खरप, अस्मान्नडाद्या-यनणः । भडिल भण्डिल भडित भण्डित, एभ्योऽश्वाद्यायनञः । सदामत्त कम्बलहार पर्णाढक कर्णाढक पिण्डीजङ्घ बकसक्थ रक्षो-मुख जङ्गारथ उत्काश कटुमन्थ कटुकमन्थ विषपुट निकष (किषकः) कषकः उपरिमेखल कडम कृश पटाक क्रोष्टुपाद क्रोष्टुमाय शीर्ष-माय स्थगल पदक वर्ष्मक, एभ्योऽत इञः । पुष्करसद्, अस्माद् बाह्वादीञः । विश्रि कुद्रि अजबस्ति मिञयु, एभ्यो गृष्ट्याद्येयञः, इति यस्कादिः ॥१२५॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—यस्कादेः । गोत्रं चेह लौकिकमेव प्रवराध्यायप्रसिद्धम्, स्वमते शास्त्री-यस्य गोत्रस्याप्रसिद्धत्वात् । "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति संपूर्णं सूत्रं संबध्यते । तत्रेयं बहुष्विति च गोत्रे इत्यस्य विशेषणम् । तच्च गोत्रं वर्तमानक्रियाद्वारा यस्कादेर्विशेषणम् । यस्कादिश्च प्रत्ययस्य विहितविशेषणम् तथा च योऽर्थः पर्यवस्यति तमाह वृत्त्या—**यस्कादिभ्यो यः प्रत्ययो विहित** इत्यादिना । गोत्रार्थत्वं तु प्रत्ययान्तस्यैव, स्वमते गोत्रार्थे प्रत्ययविधानाभावादुदाहरति—**यस्कस्यापत्यं यास्क** इत्यादि । अत्र यस्कशब्दात् "शिवादेरण्" [६.१.६०.] इत्यण्, वृद्धापत्येऽर्थे, तदन्तं च गोत्रार्थे प्रयुज्यमानमिति भवति प्रत्ययान्तस्य गोत्रेऽर्थे वर्तमानत्वमिति बहुत्वविवक्षायां तस्य लुपि **यस्का** इत्यादि । एवं लह्यस्यापत्यानीत्यर्थे लह्या इति । अयमपि शिवादिरेव ।

पदकृत्यमाख्यातुं पृच्छति—**यस्कादेरिति किमिति**—गोत्रेऽर्थे वर्तमानानामविशेषेणैव बहुत्वे प्रत्ययलुप् क्रियता-मिति प्रश्नाशयः । अन्यत्र लुप् नेष्टेत्याह—**औपगवा** इति । उपगोर्वृद्धापत्येऽण् तस्य लुप् नेष्टा सा मा भूदिति यस्कादेर्ग्रहणमावश्यकमित्यर्थः । **गोत्र इति किमिति** ।

"Aho Shrutgyanam"

सामान्येनैव यस्कादेर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् विधीयतामिति प्रश्नः । गोत्रादन्यत्र मा भूदित्याह—**यास्कादिछात्रा** इति, यस्कस्य वृद्धापत्यानां छात्रा इत्यर्थे पूर्वमपत्यार्थे विहितस्याणो लुबिव—इदमर्थे विहितस्याणोऽपि लुब् न भवति । गोत्रे इत्यस्याभावे तु सा दुर्वारा । प्रत्युदाहरणान्तरमाह—**यस्कस्यापत्यानीत्यादिना** । यस्कस्य वृद्धापत्यानां प्रतिकृतय इत्यर्थेऽणन्तात् प्रतिकृतौ कप्रत्यये तस्य लुपि अणन्तमेव रूपमवशिष्यते, तत्रानेनाणो लुब् प्राप्नोति, गोत्रे वर्तमानस्येत्यर्थाश्रयणेन सा निवार्यते, संप्रति समुदायस्य गोत्रपरत्वाभावात् प्रतिकृतिपरत्वस्यैव सत्त्वात् । अस्त्रियामित्यनुवृत्तस्य व्यावर्त्यमाह—**यास्क्यः स्त्रिय** इति । अत्र बहुत्वे सत्यपि स्त्रियां वर्तमानात्वान्न प्रत्ययो लुप्यते, अस्त्रियामित्यस्याभावे तु लुप्येतैवेति भावः गणं पठन् केभ्यः कस्य प्रत्ययस्य लुप् इत्यादि विविच्य ग्राहयति—एभ्यः "शिवादेरण्" [६.१.६०.] इत्यादिरूपेण । स्पष्टमन्यत् ॥६।१।१२५॥

यञञोऽश्यापर्णान्त-गोपवनादेः ॥६।१।१२६॥

यञन्तस्याञन्तस्य च बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति, गोपवनादिभ्यः श्यापर्णान्तेभ्यो विहितं वर्जयित्वा । गोपवनादिर्बिदाद्यन्तर्गणः । गार्ग्यः, गार्ग्यौ, गर्गाः । वात्स्यः, वात्स्यौ, वत्साः । बैदः, बैदौ, बिदाः । और्वः और्वौ, उर्वाः । गर्गमयम्, गर्गरूप्यम् । अश्यापर्णान्तगोपवनादेरिति किम्? गौपवनाः शैग्रवाः । बैन्दवाः । ताजमाः । आश्ववताना: । श्यामाकाः । श्यापर्णाः । केचित् तु मठर राजमाऽवतानाऽश्वश्याम्याकशब्दानपि गोपवनादिषु पठन्ति । माठरा इत्यादि । श्यापर्णान्तग्रहणं किम्? हारितः, हारितौ, हरितः । गोपवनादिग्रहणं किम्? धैनवः, धैनवौ, धेनवः । बहुष्वित्येव? गार्ग्यः । बैदः । बैदस्य बैदयोर्वाऽपत्यानि बिदा इत्यत्र त्रिष्वि लुप्तेऽञन्तं बहुष्विति लुप् । बिदानामपत्यं बैदः, बैदौ इत्यत्र त्रिष्वि लुप्तेऽञन्तं न बहुष्विति लुप् न भवति । इञ्प्रत्ययविषयेऽप्यञो लुप् न भवति, 'न प्राग्जितीये स्वरे'[६.१.१३५.] इति प्रतिषेधात् । बिदानामपत्यं बहवो माणवका बिदा इत्यत्र चाञन्तं बहुष्विति भवत्येव । काश्यपप्रतिकृतयः काश्यपा इत्यत्र यद्यपि प्रत्ययो गौत्र उत्पन्नस्तथापि तदन्तं नेदानीं गोत्रबहुत्वे क्व तर्हि प्रतिकृतिष्विति लुप् न भवति । अस्त्रियामित्येव? गार्ग्यः, बैदः स्त्रियः । पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीतः पञ्चगर्गः, दशगर्गः पट इत्यत्र त्विकणो लुपः पित्त्वात् पुंवद्भावेन स्त्रीत्वनिवृत्तेर्लुप् । गोत्र इत्येव? औत्साश्छात्राः उत्सादेरञ् । पौनर्भवाः । पौत्राः । दौहित्राः । नानान्द्राः, 'पुनर्भू-पुत्र-दुहितृ-ननान्दुरनन्तरेऽञ्' [६.१.३९.] । पारशवाः, 'परस्त्रियाः परशुश्वासावर्ण्ये' [६.१.४०.] इत्यञ् । कथं प्रियो गार्ग्यो, गार्ग्यौ वा येषां ते प्रियगार्ग्या इति । अत्र हि यञन्तस्य बहुत्वविषयत्वाद् लुप् प्राप्नोति, नैवम्, न यञन्तं बहुषु किं तर्हि समासः । स 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' [७.४.११५.] इति नियमाद् यञन्तो न भवतीति लुप् न भवति । प्रिया गर्गा यस्य स प्रियगर्ग इत्यत्र तु यञन्तस्य बहुत्वाद् भवत्येव ॥१२६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—यञञो० । गोत्रे "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति पूर्वतोऽनुसृतम् । गोत्रे इति वर्तमानक्रियाद्वारा यञन्तस्याञन्तस्य च विशेषणम्, बहुष्वित्यपि तस्यैवेति सूत्रार्थं तथैव वर्णयति यञन्तस्याञन्तस्य च **बहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानस्ये**त्यादिना । गोपवनादय इह पर्युदासत्वेन विवक्षिताः, ते च न सर्वेऽपि तु श्यापर्णान्ता एव । तथा च गोपवनादिगणान्तर्गतान् श्यापर्णान्तान् वर्जयित्वा शिष्टेभ्यस्तद्गणपठितेभ्योऽप्ययं विधिरिति । तत्र गोपवनादयः क्व पठिता इत्याशङ्कायामाह—**गोपवनादिर्बिदाद्यन्तर्गण** इति । बिदादिगणान्तर्गता एव ते इति भावः ।

उदाहरति—**गार्ग्यः, गार्ग्यौ, गर्गाः** इति । अत्र बहुवचनान्तमेवैतत् सूत्रलक्ष्यम्, तथापि प्रत्ययस्वरूपप्रदर्शनाय एकवचन-द्विवचनयोरपि प्रदर्शनम् । **गर्गाः वत्सा** इत्यनयोर्यञो लुक् । बिदा इत्यादिष्वञः । गर्गस्य वृद्धापत्यानां प्राचुर्यमित्यर्थे मयटि गर्गमयम् । गर्गस्य वृद्धापत्येभ्य आगतम् इत्यर्थे रूप्यप्रत्यये गर्गरूप्यमिति । अत्र तद्धितप्रत्ययान्तरे विवक्षितेऽपि बहुत्वमन्तर्भूतमादाय लुब् भवति ।

पदकृत्यं पृच्छति—**अश्यापर्णान्तगोपवनादेरिति**

"Aho Shrutgyanam"

किमिति—अविशेषेणैव यथाऽन्ये वैयाकरणा यञ्ञोर्बहुत्वे लुमारभन्ते तथैव क्रियतामिति प्रश्नाशयः। प्रत्युदाहरणे-नोत्तरयति—**गौपवना** इत्यादिना। एषु लुप् परेषामपि नेष्टस्तैरपि "न गोपवनादिभ्यः" [पा० सू० २.४.६७.] इत्येवं प्रतिषेधः पृथगारभ्यते—'गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्धरितात्' इति च तदवधिं कल्पयन्ति, हरितशब्दात् प्राक् च श्यापर्णशब्द एव पठयते इति श्यापर्णान्त-गोपवनादिभ्यः प्रत्ययोरनयोर्लुप् तेषामप्यनिष्ट एवेति तत्पर्युदासः समुचित एवेति भावः। गणे पाठभेदमन्याचार्यकृतं दर्शयति—**केचित्** त्वित्यादिना। पाणिनीये विदाद्यन्तर्गणे गोपवनादौ तु भोजकाश्वावतानश्यामाकश्यामकशब्दाः प्रकृतगणे भिन्ना अधिका दृश्यन्ते पठिताः। पुनः पृच्छति—**श्यापर्णान्तग्रहणं किमिति** सर्वेभ्योऽपि गोपवनादिभ्यः प्रतिषिध्यतामित्याशयः।

प्रत्युदाहरति—**हरिता** इति। श्यापर्णशब्दादग्रे पठितो हरितशब्दस्तस्यापत्यानीत्यर्थे बिदादित्वाद् विहितस्याञो लुबभवत्येव सा न स्यादिति भावः। **गोपवनादिग्रहणं किमिति**-अश्यापर्णान्तेभ्य इत्येवोच्यताम्, श्यापर्णशब्दश्च बिदादौ पठित इति तदन्तं यावत् सर्वेभ्यो बिदादिभ्योऽप्यञो लुप् न स्यादित्याशयः। तथा सति बिदा इत्यादीनामप्यसिद्धिरिति प्रत्युदाहरणीये— एकमेव प्रत्युदाहरणं दीयते—**धेनय** इति। गोपवनादेः पूर्वमेव पठितो धेनुशब्दस्तस्मादपि विहितस्याञो बहुत्वे लुप् भवति, सा न स्यादित्याशयः। बहुष्वित्यस्य व्यावर्त्यमाह—**बहुष्वित्येव-गार्ग्य** इति। एकवचन-द्विवचनयोर्लुप् नेष्टेति भावः।

नन्वेकवचन-द्विवचनयोर्लुपोऽनिष्टत्वे **बिदस्यापत्यं बैदः** तस्यापत्यानीत्यर्थे, बैदयोर्वाऽपत्यानीत्यर्थे बिदा इति कथं लुप् अञन्तस्य बहुत्वाभावादिति चेच्छुण्—अञन्ताददन्तत्वलक्षणे इञि तस्य "ञिदाषादिणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुपि अञन्तमेव बहुत्वे वर्तत इति लुपः प्रवृत्तौ बाधकाभावात् तदेवाह—**बैदस्य, बैदयोर्वाऽपत्यानी**-त्यादिना। नन्वेवं बिदानामपत्यं बैद इत्यत्रापि लुप् स्यात्, इञो लुपि सत्यामपि अञन्तस्य भूतपूर्वगत्या बहुत्वे सत्त्वादिति चेदत्राह—**बिदानामपत्यं बैदः, बैदौ इत्यत्र त्विञि लुप्तेऽञन्तं न बहुष्विति लुप् न भवतीति।** अयमाशयः—सांप्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिराश्रीयते, किन्तु सांप्रतं विरुद्धधर्माध्यासिते न भूतपूर्वगतिराश्रयितुं शक्येति प्रकृते बहुत्वविरुद्धे एकत्वे द्वित्वे वा वर्तमाने तत्र भूतपूर्वगत्या बहुत्वाश्रयणस्यायुक्तत्वात्।

ननु मा भूदेकवचने उत्पन्ने लुप्, किन्त्विञि विवक्षित एव लुप् कुतो न प्रवर्तत इति चेदत्राह—**इञ् प्रत्ययविषयेऽप्यञो लुप् न भवति, न प्राग्जितीये स्वरे इति प्रतिषेधादिति**। तथा च तस्य स्वरादिप्रत्ययविवक्षायामेव लुपो निषेधकत्वेन प्रकृते इञ उत्पत्तेः पूर्वं लुपोऽप्रवृत्तिरिति। बहुत्ववचनान्तादपत्यापत्यार्थस्यैकत्वे विवक्षितेऽपि वस्तुतस्तस्य बहुत्वे सति लुपः प्रवृत्तिर्भवत्येव प्रयोगावस्थायामञन्तस्यैव बहुत्वे वर्तमानत्वादित्याह—**बिदानामपत्यं बहवो माणवका** इत्यादिना। अत्र यद्यपि गोत्रे न बहुत्वमपि तु गोत्रादनन्तरे, तथाप्यनन्तरार्थकस्य प्रत्ययस्य लुपि फलतो गोत्रस्यैव बहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानत्वमिति भवति लुपः प्रवृत्तिः। गोत्रार्थकस्याप्यन्यार्थपरत्वे बहुत्वे सत्यपि लुप् न भवतीति दर्शयति—**कश्यपप्रतिकृतय** इत्यादिना। कश्यपवृद्धापत्यानां प्रतिकृतय इत्यर्थे प्रतिकृतौ विहितस्य प्रत्ययस्य लुपि अञन्तस्य बहुत्वे सत्यपि तस्य प्रतिकृतौ सत्त्वेन गोत्रार्थे वर्तमानत्वाभावेन लुप् न भवतीत्याशयः। अस्त्रियामित्यनुवृत्तस्य व्यावर्त्यमाह—**गार्ग्यः, बैद्यः स्त्रिय** इति। गर्गस्यापत्यानि स्त्रीत्वविशिष्टानीति गार्ग्यः, एवं बिदस्यापत्यानि स्त्रीत्वविशिष्टानीति बैद्य इति। यञन्तान् ङ्यामवर्ण-यकारयोर्लोपे गार्ग्य इति बहुत्वे। एवमञन्तान्ङ्यां बैद्य इति। अत्र स्त्रियां वर्तमानत्वेन न लुबिति भावः। एवं व्याससथले व्यवस्थामुक्त्वा समासगर्भे तद्धितान्तेऽपि व्यवस्थामाह—**पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीत** इत्यादिना। अत्र क्रीतार्थे विहितस्येकणः "द्विगोरनपत्ये" [६.१.२४.] इति लुपि, तस्याः पित्त्वेन "कयङ्-मानि-पित्तद्धिते" [३.२.५०.] इति पुंवत्त्वेन स्त्रीत्वनिवृत्तौ यञन्तस्य बहुत्वे वर्तमानत्वेन यञो लुप् भवत्येवेति। गोत्रे इत्यनुवृत्तेर्व्यावर्त्यमाह—**औत्साश्छात्रा** इत्यादि।

अत्र इदमर्थे उत्सादित्वादञ्, तस्य (तदन्तस्य) गोत्रे वर्तमानत्वाभावेनाञो लुप् न भवति। एवं पौनर्भवा इत्यादौ अनन्तरापत्ये प्रत्ययविधानेन गोत्रार्थेऽसत्त्वान्न भवत्यञो लुप्। पूर्वत्र गोत्रस्य बहुवचनान्तत्वे लुप्प्रवृत्तेराख्यातत्वेन क्वचित् तथा सत्त्वेऽपि लुप् न दृश्यते तत् कथमिति शङ्कते, कथं प्रियो गार्ग्यो गार्ग्यौ वा येषामित्यादिना। उत्तरयति—**मैवम्—न यञन्तं बहुष्वि**त्यादि। गोत्रस्य बहुत्वे वर्तमानत्वं विवक्षितं न बहुवचनपरत्वमितीह तस्य न बहुत्वे वृत्तिरपि त्वन्यपदार्थस्येति न

"Aho Shrutgyanam"

भवति लुबिति भावः।

ननु यञन्तमेव गोत्रम्—प्रियगार्ग्या इति समुदायश्च यञन्त इति तस्यैव बहुत्वे वर्तमानत्वात् कथमियमुक्तिः संगच्छत इति चेदत्राह—**स च प्रत्ययः प्रकृत्यादेरित्यादि**। अयमर्थः प्रत्ययः प्रकृत्यादेरिति नियमेन गार्ग्य इत्यस्यैव यञन्तत्वं, प्रियगार्ग्य इति समुदायस्य यञ् प्रकृतित्वाभावान्न यञन्तत्वमिति गार्ग्यमात्रस्य न बहुत्वे वृत्तिरिति भावः। यत्र हि तस्य (यञन्तस्य) बहुत्वे वृत्तिस्तत्र भवत्येवेत्याह—**प्रिया गर्गा यस्येत्यादिना**। एतच्च सर्वं पूर्वसूत्रव्याख्यायामेव विवृतमिति संक्षेपः ॥६।१।१२६॥

कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती च ॥६।१।१२७॥

कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानयोर्यञोऽणश्चास्त्रियां लुब् भवति तयोश्च कुण्डिनी-अगस्त्यशब्दयोः कुण्डिन अगस्ति इत्येतावादेशौ भवतः। आगस्त्यशब्दस्य ऋष्यणन्तत्वाद् यञौ न संभवतः। कुण्डिन्या अपत्यं गर्गादित्वाद्यञ्। अत एव निर्देशात् पुंवद्भावाभावः। कौण्डिन्यः, कौण्डिन्यौ,, कुण्डिनाः। आगस्त्यः, आगस्त्यौ, अगस्तयः। प्रत्ययलुपं कृत्वाऽऽदेशकरणमगस्तीनामिमे आगस्तीया इत्येवमर्थम्। प्रत्ययान्तादेशे हि कृते अगस्तिशब्दस्यादेराकारस्याभावात् 'वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः' [६.१.८.] इति दुसंज्ञा न स्यात्। तदभावे च 'दोरीयः' [६.३.३१.] इतीयः प्रत्ययोऽपि न स्यात्। यदा तु प्रत्ययस्य लुब् विधीयते तदा स्वरादावीयप्रत्यये भाविनि 'न प्राग्जातीये स्वरे' [६.१.१३५.] इति प्रतिषेधात् प्रत्ययस्य लुब् न भवति तथा च सति दुसंज्ञत्वाद् ईयः सिद्धो भवति। कुण्डिन्यामविशेषः। प्रत्ययान्तादेशे हि कुण्डिनशब्दादुसंज्ञकात् 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्यणा भवितव्यम्। प्रत्ययस्य तु लुपि 'न प्राग्जातीये स्वरे'[६.१.१३५] इति लुप्प्रतिषेधे सत्यामपि दुसंज्ञायामीयप्रत्ययापवादः शकलादित्वादञ्येव स्याद्, अतो न विशेषः। अस्त्रियामित्येव ? कौण्डिन्यः, आगस्त्यः स्त्रियः ॥१२७॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—कौण्डि०। अत्र कौण्डिन्यागस्त्ययोः लुपा संबन्धः साक्षात्, आदेशस्य च लुपि सत्यां शिष्टेन संबन्ध इति वृत्त्या स्पष्टीकृतम्, अग्रे तत्प्रयोजनं विवृतम्। अत्र यञोः प्रकृतत्वेन तयोरेवानेनेति लुब् भवतीति निश्चिते यञोऽणश्चेत्युक्तिः किमर्थेति शङ्कां वारयितुमाह—**आगस्त्यशब्दस्य ऋष्यणन्तत्वादिति**। अगस्त्यस्य विदादौ पाठाभावेन ततोऽस्य दौर्लभ्येन ऋषिनिमित्तोऽणेव ततः प्राप्त इत्यणन्तत्वमेव तस्येति—अञोऽनुवृत्तावपि योग्यत्वाभावान्न तस्य लुबिह व्याख्यातुं शक्यत इत्यण एव लुबिह व्याख्यात इति भावः। कौण्डिन्याशब्दं व्युत्पादयितुमाह—**कुण्डिन्या अपत्यमित्यादिना**। तथा च कुण्डिनीशब्दात् गर्गादित्वाद् यञि "जातिश्च णि-तद्धितयस्वरे" [३.२.५१.] इति पुंवद्भावे प्राप्ते आह—**अत एव निर्देशादिति**। सूत्रे कौण्डिन्यनिर्देशस्य पुंवद्भावे सति दुरुपपादत्वात् पुंवद्भाव इह न भवतीति विज्ञायते। अन्यथा पुंवद्भावे सति नान्तत्वेन—"नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे कौण्डय इत्येव रूपं स्यान्न कौण्डिन्य इति भावः। अन्ये तु कुण्डिनीशब्दमिह नित्यस्त्रीलिङ्गं स्वीकृत्य तस्य च पुंसि दृष्टत्वाभावेन न पुंवद्भावशङ्कासमाधी इति मन्यन्ते—इत्यन्यदेतत्। अस्यैव बहुत्वे रूपं कुण्डिना इति। यञो लुपि प्रकृतिभागस्य कुण्डिनादेशे तस्य सूपपाद्यत्वात्। एवमगस्त्यस्यापत्यमित्यर्थे ऋष्यणि आदिस्वरवृद्धौ आगस्त्य इति तस्य बहुत्वेऽणो लुपि प्रकृतिभागस्यागस्त्यादेशे च आगस्तय इति।

ननु किमर्थमिह लुपं विधाय प्रकृतेरादेशो निपात्यते प्रत्ययान्तस्यैवादेशः कुतो न विधीयते, तथा करणे च प्रक्रियालाघवमपीति चेदत्राह—**प्रत्ययलुपं विधायादेशकरणमगस्तीनामिमे आगस्तीया इत्येवमर्थमिति**। आगस्त्यापत्यानामिमे इत्यर्थेऽपत्यार्थे विहितस्याणो लुपि प्राप्तायां " न प्राग्जितीये स्वरे " [६.१.१३५.] इति प्रतिषेधात् प्रत्ययलुबभावे आदिस्वरवृद्धया दुसंज्ञायाम् "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयादेशेऽवर्णलोपे यलोपे च आगस्तीया इति सिद्ध्यति। प्रत्ययान्तस्यादेशविधाने तु अगस्तिशब्दस्य दुसंज्ञकत्वाभावेन ईयस्य प्राप्तिरेव नेति स प्रयोगो न स्यादित्याह—**समाधानस्योपपत्तिं प्रत्ययाः**

"Aho Shrutgyanam"

न्तादेशो हि कृत इत्यादिना ईयः सिद्धो भवतीत्यन्तेन । न चेये विहिते प्रत्ययलुप्-आस्तिरित्यादेशश्च कुतो न भवत इति चेत्—बहुत्वविशिष्टे गोत्रार्थे वर्तमानत्वाभावादिति गृहाण । कुण्डिनीशब्दस्य कुण्डिनादेशे वा रूपे विशेषाभाव इति स्वयमाह—**कुण्डिन्यामविशेष** इति । तदेव सोपपत्तिमाह—**प्रत्ययान्तादेशो हि**त्यादि । तस्यायमाशयः- प्रत्ययान्तस्य कुण्डिनादेशे दुःशक्त्वाभावादीयाभावे शैषिकेणेदमर्थेनाणा यद्रूपं स्यात्, तदेव प्रत्ययलोपपक्षे, तस्य निषेधे कृतेऽपि ईयाप्वादेन "शकलादेर्यञः" [६.३.२७.] इति सूत्रविहितेनाञापि—इति रूपे न भेद इति । यद्यपि परमते स्वरे भेदाद् विशेषो भवति तथापि रूपे विशेषस्यैव प्रकृते विचार्यत्वात् स्वमते स्वरकृतविशेषस्यानाश्रयणाच्चेति ध्येयम् ।

केचित् तु कुण्डिन्यामपि संघाद्यर्थेषु विशेषोऽस्त्येवेति व्याचक्षते । तथाहि—प्रत्ययलोपपक्षे संघाद्यर्थविवक्षायाम् "न प्राग् जितीये स्वरे" [६.३.१३५.] इति प्रत्ययलोपनिषेधात् "संघघोषाङ्क०" [६.३.१७२.] इति यञन्तलक्षणोऽण् प्राप्तः, प्रत्ययान्तस्यादेशविधाने च "गोत्राददण्ड०" [६.३.१६९.] इत्यकञ् प्राप्त इति रूपे भेदः स्पष्ट एवेति, तन्न रोचयामहे-अविशेष इत्यस्य सामान्यतः 'प्रत्ययलुपि प्रकृतेः कुण्डिनादेशः' इति पक्षे प्रत्ययान्तस्यैव कुण्डिनादेश इति पक्षे प्रत्ययान्तस्यैव कुण्डिनादेश इति पक्षे च कुण्डिनीशब्दविषये विशेषो नास्तीत्याशयस्यैव सत्त्वेन, तथैव व्याख्यातव्यत्वात् । अस्ति च कुण्डिनीशब्दविषये विशेषो नास्तीत्याशयस्यैव सत्त्वेन, तथैव व्याख्यातव्यत्वात् । अस्ति च तथा व्याख्यानसंभावना, यतः प्रत्ययलुपक्षे तस्या निषेधे यञन्तत्वात् "संघघोषाङ्क०" [६.३.१७२.] इत्यणि, "शकलादेर्यञः" [६.३.२७.] इत्यञि वा रूपे साम्यम्, प्रत्ययान्तादेशनिपातनपक्षेऽपि "तस्येदम्" [६.३.१६०.] इत्यण एवेष्टत्वाद् विशेषाभाव एवेति, न च "गोत्राददण्ड०" [६.३.१६९.] इत्यकञ् कुतो नेति वाच्यम्, आदेशभूतस्य कुण्डिनेत्यस्यागोत्रत्वात् । यदि च तस्य स्थानिवद्भावेन गोत्रवाचकत्वं ब्रूषे, तर्हि यञन्तत्वमपि समायास्यतीति स एवाञ् प्राप्स्यतीति 'कुण्डिन्यामविशेष' इति तथ्यमेव । एवं चागस्त्यशब्दमात्रे विशेषार्थं प्रत्ययलुपूर्वकः प्रकृत्यादेशनिपातनविधिरिति ग्रन्थकृदाशये विपरीतकल्पनाभिनिवेशोऽयुक्त एवेति ॥६।१।१२७॥

भृग्वङ्गिरसू-कुत्स-वसिष्ठ-गोतमात्रेः ॥६।१।१२८॥

भृगु अङ्गिरस् कुत्स वसिष्ठ गोतम अत्रि इत्येतेभ्यो यः प्रत्ययस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्स्त्रियां लुप् भवति । भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः । एवम्, अङ्गिरसः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अत्रयः । एयणो लुप् । अत्रिय इत्येव ? भार्गव्यः, आङ्गिरस्यः, आत्रेय्यः स्त्रियः । बहुष्वित्येव ? भार्गवः । आत्रेयः । गोत्रे इत्येव ? भार्गवाश्छात्राः । भृग्वादीन् यस्कादिष्वपठित्वेदं वचनं 'द्व्येकेषु षष्ठ्यास्तत्पुरुषे यञादेर्वा' [६.१.१३४.] इत्येवमर्थम् । अन्यथा भृगुकुलं भार्गवकुलमिति न सिध्येत् ॥१२८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—भृग्व० । अत्र 'भृग्वङ्गिरस्-कुत्स०' इत्यङ्गिरसः सकारविशिष्टपाठः समुपलभ्यते सर्वत्र, तत्राचार्यनिर्देश एव प्रमाणम्, अन्यथा विसर्गान्तपाठस्यैवात्र युक्तत्वात् । एतेषां प्रत्ययान्तानां बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्तमानानां प्रत्ययस्य लुप् विधीयतेऽस्त्रियाम् । भृगव इत्यादि । भृगु-अङ्गिरस्-कुत्स-वसिष्ठ—गोतमेभ्य ऋष्यणो लोपो बहुत्वे । अत्रेस्तु "इतोऽनिञः" [६.१.७२.] इत्येयणो लुप् । प्रत्ययलोपमात्रविधानार्थं यदिदं सूत्रमारभ्यते सोऽर्थो भृग्वादीन् यस्कादिगणे पठित्वैव साधनीय इति कस्यचिल्लाघवार्थिनोऽभिप्रायमाकलय्याह—**भृग्वादीन् यस्कादिष्वपठित्वेति** । अयमाशयः" यञञोऽश्यार्षे०" [६.१.१२६.] इत्यारभ्य द्व्येकेषु "षष्ठ्यास्तत्पुरुषे" [६.१.१३४.] इति सूत्रपर्यन्तं ये प्रत्यया बहुत्वे लुप्यन्ते तेषां षष्ठीतत्पुरुषसमासान्तःपातित्वे द्व्येकयोरप्यर्थयोः प्रत्ययस्य लुप् विकल्पतयाऽनेन (द्व्येकेष्विल्यनेन) विधीयते । ततः पूर्वं पठितस्य "यस्कादेर्गोत्रे" [६.१.१२५.] इत्यस्य विषये तु अस्य प्रवृत्त्यभावाद् वैकल्पिकी लुप् द्व्येकयोर्न प्रवर्तते भृगोरपत्यस्य तदपत्ययोः कुलमित्यर्थे ऋष्यणन्तस्य भार्गवस्याणो लुप् न स्यादिति **भृगुकुलमिति** न सिद्धयेत्, केवलं **भार्गवकुलमित्येव** स्यात्, तथा च पृथक्सूत्रमिदमारभ्यमेवेति पर्यवसितम् ॥६।१।१२८॥

"Aho Shrutgyanam"

प्राग्भरते बहुस्वरादिञः ॥६।१।१२९॥

बहुस्वरान्नाम्नो य इञ्प्रत्ययस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टेऽर्थे प्राग्गोत्रे च वर्त्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्याञ्स्त्रियां लुप् भवति। क्षैरकलम्भिः, क्षैरकलम्भी, क्षीरकलम्भाः । पान्नागारिः, पान्नागारी, पन्नागाराः। मान्थरेषणिः, मान्थरेषणी, मन्थरेषणाः। सर्वेष्वत इञः । भरत, यौधिष्ठिरिः, यौधिष्ठिरी, युधिष्ठिराः । आर्जुनिः, आर्जुनी, अर्जुनाः। औद्दालकिः, औद्दालकी, उद्दालकाः। एभ्यो बाह्वादीञः। प्राग्भरत इति किम्? बालाकयः। हास्तिदासयः। कथं तौल्वलयः, तैल्वलयः, तैल्वक्य इत्यादिषु लुब् न भवति? उच्यते, यस्कादिषु पुष्कर-सच्छब्द-पाठात्। अस्य हि बहुस्वरत्वादनेनैवेञ्लोपे सिद्धे तदर्थो यस्कादिपाठो ज्ञापयति तौल्वल्यादीनामिञो लुप् न भवतीति। भरताः प्राच्या एव तेषां पृथगुपादानं प्राग्ग्रहणेनाग्रहणार्थम्। तेन यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्र इत्यत्र 'प्राच्येञोऽतौल्वल्यादेः' [६.१.१४३.] इति लुप् न भवति, अपरे त्वाहुः। प्राग्ग्रहणं भरतविशेषणम्। क्षीरकलम्भादयो वैश्याः प्राग्भरताः। युधिष्ठिरादयो राजान उदग्भरताः। तत्र प्राग्ग्रहणादुदीच्यभरतेषु राजसु लुब् न भवति, यौधिष्ठिरयः । आर्जुनयः। भरतग्रहणात् तु प्राच्येषु राजसु न भवति। मारसंबन्धयः। भागवित्तयः। बहुस्वरादिति किम्? चैङ्कन्यः। पौष्पयः। काशयः। वाशयः। इञ इति किम्? शान्तनवाः ॥१२९॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्–प्राग्भरते०। अत्र प्राग्भरत इति समाहाद्वन्द्वो न समानाधिकरणतत्पुरुषस्तथा सति प्राग्ग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः। संभव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत् इति भरतानां प्राच्यस्याव्यभिचारितत्वेन तत्र प्राग्विशेषणस्य वैयर्थ्यात्। न च समाहाराश्रयणे भरतग्रहणं व्यर्थमेव भरतानां प्रत्ययत्वाव्यभिचारेण प्राग्ग्रहणेनैव तेषां ग्रहणस्य संभवादिति वाच्यम्, तस्य ज्ञापनार्थत्वस्य ग्रन्थकृतैव वक्ष्यमाणत्वात्। प्राग्भरते इति चानुवर्त्तमानस्य गोत्रस्य विशेषणम् तथा च सूत्रार्थमाह–बहुस्वरान्नाम्न इत्यादिना। उदाहरति–क्षैरकलम्भि-रित्यादिना। इञन्तं रूपं प्रदर्शयितुमेकवचन-द्विवचनान्तयोः कथनम्, उदाहरणं तु क्षीरकलम्भा इत्येव। क्षीर-कलम्भस्यापत्यानि इत्यर्थेऽदन्तत्वादिञ्, तस्य लुप्। एवं पन्नागारा इत्यादयः। क्व कस्य लुबिति स्वयमुपदिशति—सर्वेष्वत इञ इति। भरतगोत्रानुदाहरति–भरतेति प्रकृत्य यौधिष्ठिरिरित्यादि। युधिष्ठिरो भारतत्वेन प्रसिद्ध एव। एवमन्येऽपि। एषामपत्यप्रत्ययस्य बहुषु लुप्। केन विहितस्य प्रत्ययस्येत्याह–बाह्वादीञ इति। बहुस्वरा प्राञ्चः तौल्वल्यादयोऽपि तेभ्योऽपत्यप्रत्ययस्य बहुत्वेऽपि लुप् न दृश्यते सा कथमुपपद्यत इति पृच्छति–कथं तौल्वलय इत्यादि। समाधत्ते–उच्यते इत्यादिना। यथा लुप् न भवति तथोच्यते इति भावः। यस्कादिषु पुष्कर-सच्छब्दपाठादिति। यस्कादिगणे बहुस्वरः पुष्कर-सच्छब्दोऽपि पठ्यते, स च प्राच्योऽथ बहुस्वरश्चास्तीति तस्यानेनैव सिद्धे तत्र पाठो व्यर्थीभूय ज्ञापयति–अनित्या-प्राचां बहुस्वरनिमित्ता लुबिति। तथा च क्वचित् प्रवर्त्तते क्वचिन्नेति तौल्वल्यादिभ्यो भवतीति। ज्ञापनफलितार्थमाह–तौल्वल्यादीनामिञो लुप् न भवतीति। ज्ञापन-स्वरूपं तु नेदं तथाज्ञापितेऽपि स्वांशे चारितार्थ्याभावात्। नहि पौष्करसादेः तौल्वल्यादिनिमित्तत्वेन प्राप्तिः, बहुस्व-रत्वेनैव प्रकृतसूत्रेण तस्य प्राप्तिः संभवति।

किञ्च, नियामकशास्त्रेण नियम्य शास्त्रोद्देश्यतावच्छेदक-व्याप्यं स्वव्यापकं च यद् रूपं तेनैव रूपेण नियम्य शास्त्रे संकोचः क्रियते इति ज्ञापकशास्त्रीया प्रक्रिया। अत्र च नियामकं पुष्करसच्छब्दग्रहणं नियम्य शास्त्रं च प्रकृतसूत्रम्। एतदीयोद्देश्यतावच्छेदकं च प्राग्भरतोभयगोत्रवृत्तिबहुस्वर-शब्दत्वम्, न च तत् तौल्वल्यादिव्यापकं, तौल्वल्यादीनां प्राच्यत्वेऽपि सर्वेषां बहुस्वरत्वाभावात् तेषु आशि-यासि-चौङ्कि-पौष्पिप्रभृतिद्विस्वराणामपि पाठात्। किन्तु तथा-भूतं प्राग्भरत इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं पुष्कर-सच्छब्दादि व्यापकं च यद् रूपं, तत् प्राच्यत्वे सति बहुस्वरत्वमेवेति तेनैव रूपेणानित्यत्वज्ञापनमुचितम्। तौल्व-ल्यादयः प्राच्या बहुस्वराश्च ये तेषामपि प्रकृतज्ञापनेन वारणमिति फलितार्थमेवेदं तौल्वल्यादीनामिञो लुप् न भवतीति। तौल्वल्यादौ च पौष्करसादिरपि पठ्यते इति स्वांशे चारितार्थ्यमीदृशज्ञापनेऽपि संभवति, परं तु पूर्वोक्त-ज्ञापनप्रक्रियानुसारं प्रकृतरूपेण ज्ञापनस्यानौचित्यमिति प्रतिपादितमेव। भरतग्रहणस्यापि ज्ञापकत्वमुपपादयितुमुप-न्यस्यति–भरताः प्राच्याः एवेति। शरावतीमवधि-

"Aho Shrutgyanam"

कृत्य प्रागूदक्षिणभवाः प्राच्या इति यत् प्राच्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं पूर्वं प्रतिपादितं तदनुसारं भरतानामपि प्राच्यत्वेन तावतैव तेषामपि ग्रहणे सिद्धेऽपि भरतानां पृथग्ग्रहणं व्यर्थीभूय ज्ञापयति–**अन्यत्र प्राग्ग्रहणे भरतानां ग्रहणं** नेति । तत्फलमाह–**यौधिष्ठिरिः पिता** इत्यादिना "प्राच्येऽञोऽतौल्वल्यादेः" [६.१.१४३.] इति सूत्रेण इञन्तात् प्रागूगोत्रवाचिनः परस्य युवापत्यप्रत्ययस्य लुब् विधीयते, इति यौधिष्ठिरेऽपि प्रागूगोत्रवचन इति तस्मादिञन्तात् परस्य "यञिञः" [६.१.५४.] इति विहितस्यायनस्यापि लुग्प्राप्त्या साऽनेन नियमेन वार्यते युधिष्ठिरस्य भरतत्वेन प्राच्यत्वेन तदग्रहणात् । मतान्तरमाह–**अपरे त्वाहुरिति प्राग्ग्रहणं भरतविशेषणमिति** । तथा च प्राञ्चो ये भरता इत्यर्थो लभ्यत इति उदग्भरतानां न भवतीह ग्रहणमिति युधिष्ठिरादीनामुदग्भरतानां ग्रहणमिह नेति यौधिष्ठिरयः, आर्जुनय इत्येव भवतीति । के प्राग्भरताः, के उदग्भरता इत्यपि तन्मतानुसारं विवृणोति–**क्षीरकलम्भादयो वैश्याः प्राग्भरताः युधिष्ठिरादयो राजान उदग्भरता** इति, न चैवं प्राञ्चो भरता इति समासे भरतशब्दस्य बहुवचनान्तत्वेन, तत्पुरुषे च संख्यावाचिनैक सह समाहार इति नियमेन प्राग्भरते इति एकवचनप्रयोगः कथमुपपाद्य इति वाच्यम्, सौत्रत्वात् तदुपपत्तेः । तथा च युधिष्ठिरादीनामुदग्भरतानां नेह ग्रहणं, किञ्च प्राचामपि भरतभिन्नानामत्र ग्रहणं न भवतीत्याह–**प्राच्येषु राजसु न भवतीति** । **मारसंबन्धयः, भागवित्तय** इति । एषां भरतत्वाभावाद् बहुत्वेऽपि इञो लुब् न भवतीत्यर्थः । बहुस्वरग्रहणव्यावर्त्यमित्याह–**चैङ्कन्य** इत्यादिना । एते प्राच्या अदन्तत्वनिबन्धनेञन्ताः । बहुस्वरग्रहणाभावे चैभ्योऽपि लुब् स्यादिति भावः । **इञ इति किमिति** प्राग्भरताः प्रायोऽदन्ता बाह्वादयो वेति तेषामिञन्तत्वप्रौव्यमित्यभिमानेन प्रश्नः । अणन्ता अपि ते संभवतीत्युत्तरयति–**शान्तनका इति** । शन्तनुः प्राच्यो भरतोऽपि स च कुरुनिमित्तक "ऋषि-वृष्ण्यन्धक०" [६.१.६१.] इत्यणन्तः । तस्यापि बहुत्वेऽणो लुब् स्यादिति भावः । यद्यपि मतान्तरेण उदग्भरतस्य शन्तनोर्नेह ग्रहणमुचितं, तथाहि स्वमतेन प्रत्युदाहरणमिति बोध्यम् ॥६।१।१२९॥

वोपकादेः ॥६।१।१३०॥

उपक इत्येवमादिभ्यो यः प्रत्ययस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टे गोत्रे वर्त्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् न भवति वा । उपकाः । औपकायनाः । लमकाः लामकायनाः । अस्त्रियामित्येव ? औपकायिन्यः स्त्रियः ।

उपक लमक, आभ्यां नडाद्यायनणो लुप् । **भ्रष्टक कपिष्ठल कृष्णाजिन कृष्णसुन्दर पिङ्गलक कृष्णपिङ्गल कलशीकण्ठ दामकण्ठ जतुक कनक मदाघ अपजग्ध अडारक वटारक प्रतिलोम अनुलोम प्रतान अनुपद अभिहित अनभिहित खारीजङ्घ कशकृत्स्न शलाथल कमन्दक कमन्तक कवन्तक पिञ्जूलक अडङ्क अवव्वक पतञ्जल पदञ्जल वर्णक पर्णक कठेरित । एभ्योऽत इञः । कुषीतक, अत्र काश्यपेऽर्थे 'विकर्ण-कुषीतकात् काश्यपे' [६.१.७५.] इत्येयणः । अन्यत्रेञः । लेखाभूः, अत्र शुभ्राद्येयणः । पिष्ट सुपिष्ट मसुरकर्ण कर्णक पर्णक जाटिलक बधिरक एभ्यः शिवाद्यणः । कठेलिति पतञ्जलि खरीखन, एभ्यः औत्सर्गिकाणः, इत्युपकादिः ॥१३०॥**

श०म० न्यासानुसन्धानम्—वोपकादेः लुप् न भवति वेति । यद्यपि विधिप्रकरणमिदमिति विधेरेव विकल्प उचितः । तथापि विधिप्रकरणे विधेः सिद्धतया निषेधस्यापूर्वतया विकल्पेन विधेयत्वमर्थतः समायातीति लुप् न भवतीत्येव पूर्वमुक्तम् । प्रयोगे च लुबभावस्य स्वतः सिद्धत्वेन लुबविधानमेव मुख्यमिति प्रथमं लुपमेवाह–**उपकाः** इति । उपकस्यापत्यानीत्यर्थे "नडादिभ्य आयनण्" [६.१.५३.] इत्यायनणि तस्यानेन बहुत्वे लुप् । पक्षे **औपकायना** इति । अत्र गणे केभ्यः के प्रत्यया लुप्यन्ते इति प्रातिस्विकरूपेण ग्राहयति–**उपक–लमक आभ्यां नडाद्यायनणो लुबिति** । एवमन्यत्रापि । स्पष्टमन्यत् ॥६।१।१३०॥

तिक-कितवादौ द्वन्द्वे ॥६।१।१३१॥

तिक–कितवादिषु द्वन्द्ववृत्तिषु बहुषु गोत्रापत्येषु वर्तमानेषु तैकायनि-कैतवायनीत्यादीनां यः स प्रत्ययस्तस्यास्त्रियां लुप् भवति । तैकायनयश्च कैतवायनयश्च तिककितवाः । तिकायनिञो लुप् । औब्जयश्च काकुभाश्च उब्जककुभाः । उब्जादिञः ककुभाच्छवाद्यणः । औरशायनयश्च लाङ्कटयश्च उरशलङ्कटाः । उर-

"Aho Shrutgyanam"

शात् तिकाद्यायनिञः लङ्कटाद् इञः । अग्निवेशस्य दार्शेरकस्य अग्निवेशदर्शेरकाः । शण्डिलस्य काशकृत्स्नस्य शण्डिलकाशकृत्स्नाः । अग्निवेश-शण्डिलाभ्यां गर्गादियञः दर्शेस्कशकृत्स्नाभ्यां त्यत इञः । 'यञ्ञेभ्य०' [६.१.१३३.] इति यञ्ञे लुब्विकल्पे नित्यार्थः पाठः । औपकायनस्य लामकायनस्य उपकलमकाः अत्र नडादायनणः । भ्राष्ट्रकस्य कापिष्ठलस्य भ्रष्टककपिष्ठलाः । कार्ष्णाजिनस्य कार्ष्णसुन्दरस्य कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः । वाङ्खरस्य भाण्डीरथस्य वङ्खरभाण्डीरथाः । पाद्कस्य नारकस्य पद्कनरकाः । वाकनखस्य स्वागुदपारिणद्धस्य वकनखस्वगुदपरिणद्धाः । अन्येषां वाकनखस्य स्वागुदस्य पारिणद्धस्येति त्रिपदो द्वन्द्वः । (ता) लाङ्कस्य शान्तमुखस्य (ता)-लाङ्कशान्तमुखाः । एषु सर्वेष्वत इञः । उपकलमकाः भ्रष्टककपिष्ठलाः कृष्णाजिनकृष्णसुन्दरा इत्येषामुपकादिष्वद्वन्द्वार्थः पाठः, द्वन्द्वे त्वयमेव नित्यो विधिः ।

तिककितव उब्जकुभ उरशलकूट अग्निवेशदर्शेरक शण्डिलकशकृत्स्न उपकलमक भ्रष्ट्रककपिष्ठल कृष्णाजिनकृष्णसुन्दर वङ्खरभाण्डीरथ पद्कनरक वकनख स्वगुदपरिणद्ध (ता) लङ्कशान्तमुख इति तिककितवादिः ॥१३१॥

श० म० न्यासानुसन्धाम्–तिक० । व्यासस्थलीयां लुपो व्यवस्थामुक्त्वा समासस्थलीयां तां व्यवस्थां वक्तुमुपक्रमतेऽनेन सूत्रेण । बहुषु गोत्रे इति च पूर्वतः संबद्धमेव । तयोश्च प्रत्ययान्तेनैव संबन्धः, तथा च सूत्रार्थमाह–तिककितवादिषु द्वन्द्ववृत्तिषु इत्यादिना । सर्वत्र विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं प्रत्ययस्य लुप्यमानस्य निर्देशमप्याह–तैकायनयञेत्यादिना । यञन्तानां विषये व्यवस्थामाह–"यञ्ञेभ्यः" [६.१.१३३.] इति लुब् विकल्पे प्राप्त इति । तथा च द्वयन्तस्यान्येनाद्यन्तेन समासे विकल्पेन लुब् वक्ष्यते । यञन्ताश्चाद्यन्ता एवेति तेषु तस्य सूत्रस्य प्राप्तावपीह गणे पाठसामर्थ्यान्नित्यमेव लुप् भवतीत्यर्थः । वाकनखस्य स्वागुदपरिणद्धस्येति । अत्र स्वमते त्रिपदो द्वन्द्वोऽन्येषां मते त्रिपद इत्यग्रे उक्तम् । तथा च वाकनखश्च स्वागुदपरिणद्धश्चेति रूपेण विग्रह उचितः स्वागुदपरिणद्ध इति–उभयपदादिवृद्धियुक्तः पाठः प्रामादिको वाऽनुशतिकादित्वकल्पनया वेति न निश्चिनुमः । त्रिपदे द्वन्द्वे च न कोऽपि सन्देहः । उपकलमक-भ्रष्टक-कपिष्ठल-कृष्णाजिन-कृष्णसुन्दरशब्दा उपकादौ पठ्यन्ते, तेषामसमासे तु वैकल्पिकी लुबुक्ता । सा प्रतिपदोक्तत्वाद् द्वन्द्वेऽपि स्यादित्याशङ्क्याह–उपक-लमका भ्रष्टक-कपिष्ठलाः कृष्णाजिन-कृष्णसुन्दरा इत्येषामुपकादिष्वद्वन्द्वार्थः पाठ इति । अयमाशयः-उभयत्र पाठस्य सत्त्वेन द्वन्द्वे परत्वादस्य प्रवृत्तिः, अन्यत्र तु तस्येति व्यवस्थैवोचितेति ॥६।१।१३१॥

द्र्यादेस्तथा ॥६।१।१३२॥

द्र्यादिप्रत्ययान्तानां द्वन्द्वेऽबहुत्वार्थेषु यत्रेयाने यः स द्र्यादिप्रत्ययस्तस्य लुप् भवति तथा यथापूर्वम् । कार्ष्णेयस्य कौह्वस्यस्य कौण्डीवृश्यस्य वृक-लोहध्वज-कुण्डीवृशाः । अत्र वृकाद्ट्टेण्यण्' [७.३.६४.] इति टेण्यणः, 'पूगाद्मुख्यकाञ्ञ्यो ब्रिः' [७.३.६०.] इति ञ्यस्य, 'ब्राह्मीकेष्वब्राह्मणराजन्येभ्यः' [७.३.६३.] इति स्यञश्च लुप् । आङ्ग्य वाङ्ग्य सौह्म्य अङ्ग-बङ्ग सुह्माः । अत्र द्विस्वरलक्षणस्यणः । एवं गर्ग-वत्स-राज्ञाः, अत्र यञः । षिद्-गर्ग-प्रस्काः । अत्राञो यञोऽणश्च । तथेति किम् ? यास्क-लाह्यादयः, अत्र 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्यणो लुप् न भवति । 'यस्कादेर्गोत्रे' [६.१.१२५.] इत्यत्र गोत्रे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य विशेषणात् । गार्गी-वत्सब्राज्ञाः । अत्र वत्स-राज्ञयोरेव यञो लुप् न गार्गी इत्यत्र तु राज्ञियामिति प्रतिषेधात् । शैग्रवयौपवताः । अत्र 'अश्वयाप्यार्ष्यगोपवनादेः' इति प्रतिषेधाद् अञो लुप् न भवति । बालाकि-हारितिद्यानयः । अत्र प्राग्दीव्यतेति वचनाद् अपाग्भवते ञ भवति । द्र्यादिग्रहणमगोत्रोऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् । अबहुत्वे वचनम् ॥१३२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–द्र्यादेः० । द्रिरादिर्यस्य स द्र्यादिः प्रत्ययसमूहः । अत्र "शकादिभ्यो द्रेर्लुक्" [६.१.१२०.] इत्यारभ्य येषां प्रत्ययानामत्र प्रकरणे लुबुक्ता ते सर्वेऽपि प्रत्यया द्र्यादिपदेन संगृह्यन्त इति फलति । तत्र पूर्वमेषां बहुत्वे लुबुक्ता, सा च पूर्वसूत्रैः सिद्धे वेति द्वन्द्वे बहुत्वाभावेऽपि लुबनेन विधीयते इत्याशयाति, तदुक्तं द्वन्द्वेऽबहुत्वार्थेषु वर्तमाने इति । अत्र

"Aho Shrutgyanam"

द्रिश्चैतत्प्रकरणस्थः स्वार्थिकादि-प्रकरणस्थश्च गृह्यते, इतः पूर्वं तथैव व्याख्यातत्वात्। तथेति कथनेन लब्धमर्थमाह-**यथापूर्वमिति**। पूर्वं येषां प्रत्ययानां यथा लुबुक्ता तथैव द्वन्द्वेऽपि भवतीत्यर्थः। उदाहरणानां विग्रहं प्रदर्शयति-**वार्केण्यश्चेत्यादिना**। अत्रेदं विचारणीयम्-त्रिपदद्वन्द्वस्याबहुत्वे वर्तमानत्वमसम्भवि। इतरेतरयोगद्वन्द्वे पदत्रयगतत्रित्व(बहुत्व)संख्याया अनिवार्यत्वात्, इति 'अबहुषु वर्तमाने द्वन्द्वे' इत्यस्य निमित्तस्याभावात् कथं तत्रास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिरिति। अत्रोच्यते-अबहुष्वर्थेषु वर्तमाने इत्यस्याबहुत्वयुक्तानां द्वन्द्वे इत्येव तात्पर्यम्। तथा च द्वन्द्वघटकपदानामेवाबहुत्वे वर्तमानत्वं निमित्तं न तु समुदायस्येति लभ्यते। अत्र कः प्रत्ययः कुतो विहितः तस्य चानेन लुप् भवतीति प्रातिस्विकरूपेण ग्राहयति-**अत्र "वृकाट्टेण्यण्" [७.३.६४.] इत्यादिना**।

पदकृत्यमाह—**तथेति किमिति**। द्रयादेरिति यावदेव सूत्रमस्तु, द्वन्द्वे इत्यनुवृत्तमेव, तथा च यथापूर्वमिति विहाय सर्वोऽप्यर्थः पूर्ववदेव (यथानिर्दिष्टम्) स्यात् तत्र का क्षतिरिति प्रश्नः। **यास्क-लाह्या इति**, यस्कस्येमे यास्काः, लह्यस्येमे लाह्याः, शैषिकः "तस्येदम्" [६.३.१५९.] इत्यण्, तयोर्द्वन्द्वे यास्कलाह्या इति रूपम्। अत्राणो लुप् न भवति, यतो "यस्कादेर्गोत्रे" [६.१.१२५.] इत्यत्र गोत्रार्थे विहितस्यैव प्रत्ययस्य लुबुक्ता, अयं च न गोत्रार्थे विहितोऽपि तु इदमर्थे इति यथापूर्ववैपरीत्येन न भवति। तथेत्यस्याभावे तु स्यादेवेति भावः। एवमन्येष्वपि प्रत्युदाहरणेषु पूर्वस्थितिमुदाहरति-**तत्राक्षियामिति प्रतिषेधादित्यादिना**।" अथ द्रयादेरिति किमर्थमित्याशङ्कां संभाव्योत्तरयति-**द्रयादिग्रहणमगोत्रेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थमिति**। द्रयादिग्रहणाभावे "यस्कादेर्गोत्रे" [६.१.१२५.] इत्यतो गोत्रे इत्यस्य प्रकृतत्वाद् गोत्रप्रत्ययान्तस्यैव प्रत्ययलुबिति विज्ञास्यते, 'ततश्च वार्केण्यादीनां न स्यात्। कृते तु द्रयादिग्रहणे "शकादिभ्यो ट्रेर्लुप्" [६.१.१२०.] इत्यारभ्यैव यथाऽगोत्रे गोत्रे च लुपः प्रवृत्तिस्तथैवानेनापि लुप् भवतीति विज्ञानादगोत्रेऽपि प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। **अबहुष्वर्थं वचनमिति**। बहुषु पूर्वेरेव प्रत्ययलुपः सिद्धेः विधानसामर्थ्यादिदं बहुत्वाभावे प्रवर्तत इति लभ्यत इत्यर्थः ॥६।१।१३२॥

वाऽन्येन ॥६।१।१३३॥

द्रयादेरन्येन सह द्रयादीनां द्वन्द्वे बहुष्वर्थेषु वर्तमाने यः स द्रयादिप्रत्ययस्तस्य तथा वा लुप् भवति यथापूर्वम्। अङ्ग-बङ्ग-दाक्षयः। आङ्ग-बाङ्ग-दाक्षयः। गर्गवत्सौपगवाः। गार्ग्यवात्स्यौपगवाः। भृगुवत्साग्रायणाः। भार्गववात्स्याग्रायणाः। गर्गकाश्यपगालवाः। गार्ग्यकाश्यपगालवाः। पूर्वे नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥१३३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-वाऽन्येन। द्रयादेरिति संबध्यते आकर्ष्यते च। तथा च योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह वृत्त्या-**द्रयादेरन्येन सहेति**। द्रयादयो लोपिनो येऽत्र प्रकरणे पूर्वमुक्तास्तेषां यदाऽन्येन सह द्वन्द्वसमासो भवति तदा तद्घटकद्रयादिप्रत्ययस्य नित्यं लुबनेन विधीयते। उदाहरति-**अङ्ग-बङ्ग-दाक्षय** इति। आङ्गश्च बाङ्गश्च दाक्षिश्चेति विग्रहः, तत्राऽङ्ग-बङ्गौ द्रिप्रत्ययान्तौ दाक्षिन्य इति द्वन्द्वेऽङ्ग-बङ्गयोः प्रत्ययो लुप्यते, दाक्षेर्नेति प्रक्रिया। एवं सर्वोदाहरणेषु योजनीयम्। सर्वत्राद्यौ द्वौ द्रिसंज्ञकप्रत्ययान्तौ तृतीयोऽन्य इति विवेकः। अत्र वृत्तौ बहुष्वर्थेषु वर्तमाने इति लिखितं दृश्यते, तन्न युक्तम्। पूर्वसूत्रस्याबहुर्थस्योक्तत्वेनास्य च तदपवादकत्वकथनादस्यापि अबहुत्व एव प्रवृत्तेर्युक्तत्वात् *उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः* इति न्यायात्। तथा च द्वन्द्वेऽबहुष्वर्थेषु वर्तमाने इत्येव पाठः समीचीनं इति प्रतिभाति। ननु प्रकृतोदाहरणेषु पूर्वेणैव सिद्धिः, 'द्रयादीनां द्वन्द्वे द्रयादेर्लुप्' इत्येवं विज्ञाने यस्तत्र द्रयादिः स्यात् स एव लुप्येतैवेति किमर्थमिदं सूत्रमित्याशङ्कायामाह-**पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थमिति**। तथा च द्रयादीनां द्रयादिना सह समासे पूर्वेण नित्यं भवति, तेषामन्येन समासे चानेन विकल्पेन भवतीति व्यवस्था सिद्ध्यतीति भावः ॥६।१।१३३॥

द्व्येकेषु षष्ठ्यास्तत्पुरुषे यञादेर्वा ॥६।१।१३४॥

षष्ठीतत्पुरुषे यत् पदं तस्याः षष्ठ्या विषये द्व्योरेकस्मिन् वर्तते तस्य यः स यञादिः प्रत्ययस्तस्य तथा वा लुक् भवति यथापूर्वम्। गार्ग्यस्य गार्ग्ययोर्वा कुलं गर्गकुलम्। गार्ग्यकुलम्। एवम्, बिदकुलम्। बैदकुलम्। अगस्तिकुलम्। आगस्त्यकुलम्। भृगुकुलम्। भार्गवकुलम्। द्व्येकेष्विति। किम्? गर्गाणां कुलम्। गर्गकुलम्। षष्ठ्या इति किम्? गार्ग्यहितम्। परमगार्ग्यः। षष्ठ्या इति तत्पुरुषस्य विशेष-

"Aho Shrutgyanam"

णेन प्रतिपदोक्तस्यैव षष्ठीतत्पुरुषस्य परिग्रहादिह न भवति । गार्ग्यस्य गार्ग्ययोर्वाऽन्तर्गतः अन्तर्गाग्यः । 'प्राग्यव०' [३.१.४७.] इत्यादिना समासः । द्व्येकेष्वित्यस्य षष्ठ्या इति विशेषणं किम् ? देवदत्तस्य गार्ग्यः देवदत्तगार्ग्यः । देवदत्तगार्ग्यौ । तत्पुरुष इति किम् ? गार्ग्यस्य समीपमुपगार्ग्यम् । यञादेरिति किम् ? आङ्गकुलम् । वास्कफलम् ॥१३४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–द्व्येकेषु० । यद्यपि द्वित्वैकत्वयोरिह न संख्यावाचकत्वसमानाधिकरणद्वित्वाद्यवच्छिन्नादिरूपेण भानमपि तु द्वित्वैकत्वरूपेणैवेति द्व्येकयोरित्येवमेव निर्देश उचितः, तथापि प्रयोगबाहुल्याभिप्रायेण बहुवचनमिति ज्ञेयम् । षष्ठीतत्पुरुषे इत्यनुक्त्वा षष्ठ्याः इति पृथगुच्चारणेन किं फलमिति बोधयितुमाह–**षष्ठ्या इति तत्पुरुषस्य विशेषणेने**त्यादिना । षष्ठ्यन्तेन सह यथाकथञ्चित् तत्पुरुषसमासः षष्ठीतत्पुरुष इति कथयितुं शक्यते, किन्तु प्रकृते षष्ठ्या इति पृथगुच्चारणेन षष्ठीपदमुच्चार्य विहित एव तत्पुरुषसमासः, षष्ठीतत्पुरुषसमासपदेन गृह्यते इति लभ्यते *लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लाक्षणिकस्य* इति न्यायात् । **गार्ग्यस्य गार्ग्ययोर्वान्तर्गत** इति (अत्र मुद्रितपुस्तके बृहद्वृत्तौ गार्गस्येति यकाररहितः पाठः समवलोक्यते स न समीचीनः) अत्र "प्राग्यव-परि०" [६.१.४७.] इत्यनेन बाहुलकात् षष्ठ्यर्थे समासे सत्यपि षष्ठीपदमुच्चार्य समासविधानाभावान्न प्रतिपदोक्तत्वमिति न भवतीति भावः । पुनः पृच्छति–**द्व्येकेष्वित्यस्य षष्ठ्या इति विशेषणं किमिति** । अयमर्थः षष्ठ्या इति पदं तन्त्रेण विवक्षितमिति तत्पुरुषस्य द्व्येकेष्वित्यस्य च विशेषणत्वेन वृत्तौ प्रदर्शितम्, तत्र तत्पुरुषविशेषणत्वस्य फलमुक्तम्, द्व्येकेष्विति विशेषणस्य फलं किमिति । प्रत्युदाहरति–**देवदत्तस्य गार्ग्य** इति । अयमपि प्रतिपदोक्त-षष्ठीसमास एव, तथापीह न भवति, यतः षष्ठ्या एकवचने द्विवचने वा गार्ग्यशब्दो नास्ति किन्तु प्रथमाया एकवचनान्त इति । अतो द्व्येकेष्वित्यस्यापि विशेषणत्वं षष्ठ्याः समाश्रयणीयमिति भावः । **तत्पुरुष इति किमिति** । सामान्येन षष्ठ्याः समासे लुप् विधीयतां तत्पुरुषसमासाश्रयणं किमर्थमिति प्रश्नः । अव्ययीभावादावपि षष्ठ्यन्तस्य समासे मा भूदित्याह–**गार्ग्यस्य समीपमुपगार्ग्यमिति** । अत्र "विभक्ति-समीप०" [३.१.३९.] इत्यव्ययीभावसमासः । द्व्यादेरित्यनुवर्तमाने तद्विहाय यञादेरिति किमुच्यत इति पृच्छति–**यञादेरिति किमिति** । द्व्यादेर्मा भूदित्येव यञादेरित्यस्य फलमित्याह–प्रत्युदाहरणेन–**आङ्गकुलमिति** । अङ्गस्यापत्यमित्यर्थे द्रिञ् तस्य लुप् नेष्टेति भावः ॥६।१।१३४॥

न प्राग्जितीये स्वरे ॥६।१।१३५॥

गोत्र इति वर्तते । गोत्रे उत्पन्नस्य बहुषु या लुबुक्ता सा प्राग्जितीयेऽर्थे यो विधीयते स्वरादिस्तद्धितस्तस्मिन विषयभूते न भवति । गर्गाणां छात्राः गार्गीयाः । वात्सीयाः । आत्रेयीयाः । आगस्तीयाः । खारपायणीयाः । हारितीयाः । प्राग्जितीये इति किम् ? अत्रिभ्यो हितः अत्रीयः । अगस्तीयः । गर्गीयः । वत्सीयः । स्वर इति किम् ? गर्गेभ्य आगतं गर्गमयम् । गर्गरूप्यम् । बिदानामपत्यं युवा बैदः, बैदौ इत्यत्र तु इञि विषयभूतेऽनेन प्रतिषेधः । इञस्तु लुपि सत्यामञन्तं न बहुषु वर्तते इति लुपः प्राप्तिरेव नास्ति । यत्र त्वस्ति तत्र भवत्येव । बिदानामपत्यानि बिदाः । अथेह कस्मान्न भवति अत्रीणां भरद्वाजानां च विवाहः अत्रिभरद्वाजिका वशिष्ठकश्यपिका भृग्वङ्गिरसिका कुत्सकुशिकिकेति ? उच्यते, प्रत्यासत्तेर्यस्य प्रत्ययस्य लुप् प्रतिषिध्यते तल्लोपिप्रत्ययान्तादेव विधीयमाने स्वरादौ प्रतिषेधः । अत्र द्वन्द्वाद् विधीयते न तल्लोपिप्रत्ययान्तादिति प्रतिषेधो न भवति । 'गर्गभार्गविका [६.१.१३६.] इत्युत्तरसूत्रं वा नियमार्थं व्याख्यायते । गर्गभार्गविकाया अन्यत्र द्वन्द्वे वृद्धे यूनि वा प्रतिषेधो न भवति । गोत्र इत्येव ? कुवल्याः फलं कुवलम्, तस्येदं कौवलम् ॥१३५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–न प्राग्जितीय० । **गोत्रे इति वर्तत** इति । यद्यपि मध्ये 'द्व्यादेः' 'यञादेः' इत्यस्य कथनात् गोत्रे इति विच्छिन्नं तथापि लक्ष्यानुरोधान्मण्डूकप्लुत्या तदनुवृत्तिराश्रीयते इति भावः । उदाहरति–**गार्गीया** इति । अत्र गर्गस्यापत्यानां छात्रा इति विग्रहेऽपत्यार्थे यञि आदिस्वरवृद्धौ दुसंज्ञत्वेन ईयो विवक्षितः स च स्वरादिरिति तद्विषये तदुत्पत्तेः पूर्वं "यञञोऽस्यापर्ण०" [६.१.१२६.] इति लुप् प्राप्ता

"Aho Shrutgyanam"

साऽनेन निषिद्धा, तत ईये विहितेऽपि तद्विषयस्याप्याघाताल्लुप् न भवतीति अवर्ण-यलोपयोः कृतयोः गार्गीया इत्यादयः सिद्ध्यन्ति । अत्र क्वचित् विवक्षितस्य प्रत्ययस्य लोपेऽपि गोत्रप्रत्ययो न लुप्यते तस्य (तदन्तस्य) संप्रति बहुत्वेऽवर्तमानत्वादित्युदाहरति-**बिदानामपत्यं युवेति** । अत्र बिदस्य वृद्धापत्यानामपत्यं युवेति विवक्षायां बिदादिस्वादञि, तस्य "यञञोऽस्यार्ष०" [६.१.१२६.] इति लुप् प्राप्ता, किन्तु युवापत्ये स्वरादेरिञः प्रत्ययस्य विषयतायामनेन प्रतिषिद्धा, तत इञः "त्रिदार्षादणिञोः" [६.१.१४०.] इति लुपि सांप्रतमञन्तमवशिष्टमपि बहुत्वे नास्तीति अञो लुप् न भवति । तदेवोक्तम्-**इञस्तु लुपि सत्यामित्यादिना** । **यत्र त्वस्ति तत्र भवत्येवेति** । यञञन्तमेव बहुत्वे वर्तमानं तत्र लुप् भवत्येवेति भावः । **केत्याह-बिदानामपत्यानि बिदा इति** । बिदस्य वृद्धापत्यानामपत्यानीत्यर्थे युवापत्यार्थे विहितस्येञः पूर्ववल्लुप्यपि अञन्तमेव बहुत्वयोगीति भवत्येव लुबिति भावः । अत्र विशेषव्यवस्थां बोधयितुं शङ्कते-**अथेह कस्मान्न भवति अत्रीणां भरद्वाजानां चेत्यादिना** । *अत्रीणां वृद्धापत्यान्यत्र्यः, भरद्वाजानां वृद्धापत्यानि भरद्वाजाः*, अत्राणेरेयणः भरद्वाजाच्चाञो लुपि प्राप्तायां विवाहार्थे "विवाहे द्वन्दादकल्" [६.३.१६३.] इत्यकलो विवक्षायामपि निषेधोऽनेन कुतो न भवतीति ।

समाधत्ते-**उच्यते इत्यादिना** । **अस्यायमाशयः-न सामान्यतः स्वरादौ प्रत्यये विवक्षितेऽनेन लुप् प्रतिषिध्यते किन्तु यः प्रत्ययो लुप्तः परिस्थते स चेत् साक्षात् परम्परया वा, विधीयमानस्य स्वरादेः प्रत्ययस्य प्रकृतिः स्यात्, न चेह गोत्रप्रत्ययान्तमकलः साक्षात् परम्परया वा प्रकृतिरपि तु द्वन्द्वसमास इति नास्य सूत्रस्य तत्र प्रवृत्तिरिति । अयं चार्थः प्रत्यासत्तिन्यायलभ्यः** । प्रत्यासत्तिः सामीप्यं भवति साक्षात् ततो विहिते तमुच्चार्य विहिते वा प्रत्यये गोत्रप्रत्ययान्तस्येति तत्सामीप्यमविवक्षितमिति । निमित्तनिमित्तिभावरूपा प्रत्यासत्तिस्तत्र नास्ति, सर्वथा संबन्धरहितः प्रत्ययः किमिति रक्ष्येत ? सति संबन्धे प्रत्यये समुपलभ्यमाने इति भावः ।

अत्रोपायान्तरमप्याह-**गर्ग-भार्गविका इत्युत्तरसूत्रं वा नियमार्थमिति** । अथवा यदि गार्गीया इत्युदाहरणे न कथमपि प्रत्ययस्य निमित्तत्वं विज्ञायते, यदपि वृद्धिद्वारेति ब्रूषे, तदपि न चारु, नहि दुःसंज्ञा वृद्धिशब्देन विहिता वृद्धिमुद्दिश्य विहिता इति न प्रत्ययस्य विवक्षितप्रत्ययेन सह शास्त्रनिर्दिष्टा प्रत्यासत्तिरिह लभ्यते इत्युच्यते तदा समाधानान्तरमाह-**गर्ग-भार्गविका इत्युत्तरसूत्रं वा नियमार्थमित्यादि** । नियमस्वरूपं दर्शयति-**गर्ग-भार्गविकाया अन्यत्रेत्यादि** । अयमाशयः-यदि द्वन्द्वेऽप्यनेनाल्लुप् स्यात् तर्हि गर्ग-भार्गविकेत्यत्राणोऽप्यलुप् स्यादेवेति किमर्थं तत्राल्लुप् निपात्यते, इत्यलुपि प्राप्तायां तन्निपातनं नियमार्थमेव । प्रकृतनियमे च कृते स्वस्य चारितार्थ्यम् अत्रि-भरद्वाजिकेत्यादीनां सिद्धिरेवेति फलमिति स्वस्य चारितार्थ्ये सति अन्यत्र फलितत्वमेव नियामकशास्त्रसार्थकयम् । गोत्रप्रत्ययस्यैव लुबनेन प्रतिषिध्यते तत्फलमाह-**कुवल्याः फलमित्यादिना** । अत्र फलार्थप्रत्ययस्य (विकारार्थस्य) "फले" [६.२.५८.] इति लुप्, इदमर्थेऽपि विवक्षिते न प्रतिषिध्यत इति । गोत्र इत्यस्यासंबन्धे तु प्रतिषेधो दुर्वार इति ॥६।१।१३५॥

गर्गभार्गविका ॥६।१।१३६॥

गर्गभार्गविकेति द्वन्द्वात् प्राग्जितीये विवाहे यो विधीयतेऽकल् प्रत्ययस्तस्मिन् अणो लुप्-प्रतिषेधो निपात्यते । गर्गाणां वृद्धानां भृगूणां वृद्धानां यूनां च विवाहो गर्गभार्गविका । अत्रिभरद्वाजिकादिवदप्राप्तः प्रतिषेधो निपात्यते ॥१३६॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्-गर्ग० । निपातनसूत्रमिदम् । तत्र किं *निपातनीयमिति* विवृणोति-**गर्ग-भार्गविकेति द्वन्द्वादित्यादिना** । प्रयोगार्थं विग्रहेण प्रदर्शयति-**गर्गाणां वृद्धानामित्यादिना** । गर्गस्य वृद्धापत्यानां भृगोर्वृद्धापत्यानां युवापत्यानां वेति विग्रहविवक्षा । गर्गस्य युवापत्येऽर्थे तु गार्ग्यायण इति रूपं भवतीति, न तेषां युवापत्यैः विग्रहे रूपं सिध्येतेति भावः । भृगोस्तु युवापत्यार्थेऽणन्ताद् विहितस्येञो लुपि भार्गव इत्येव रूपमिति तस्मादुभयथा विग्रहे कृते रूपसिद्धिः सम्भविनीति तथैव विग्रहः प्रदर्शितः । तथा चात्रोत्तरपदभूतानां भार्गवाणां प्रत्ययस्य लुप् "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति प्राप्ताऽनेन निषिध्यते । ननु "न प्राग्जितीये स्वरे" [६.१.१३५.] इत्येव प्रतिषेधः सिद्ध एवेति किमनेन निपातनेनेत्याशङ्कायामाह-**अत्रि-भरद्वाजिकावदप्राप्तः प्रतिषेधो निपात्यते** इति । अत्रि-भरद्वाजिकेत्यत्र यथा न लुप् प्रतिषेधस्य प्राप्तिस्तथा पूर्वसूत्रव्याख्यायां निरूपितमेवेति नेह पुनरुच्यते ॥६।१।१३६॥

"Aho Shrutgyanam"

यूनि लुप् ॥६।१।१३७॥

यून्यपत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य प्राग्जितीये स्वरादौ प्रत्यये विषयभूतेऽनुत्पन्न एव लुप् भवति । लुपि सत्यां यो यतः प्राप्नोति स तत उत्पद्यते । पाण्टाहृतस्यापत्यं पाण्टाहृतिः, तस्यापत्यं युवा पाण्टाहृतः । 'पाण्टाहृतिमित्राण्णञ्च' [६.१.१०४.] इति णः । तस्य छात्रा इति प्राग्जितीये स्वरादौ चिकीर्षिते णस्य लुप् । तत इञन्तं प्रकृतिरूपं संपन्नम् इति 'वृद्धेञः' [६.३.२८.] इत्यञ् भवति । पाण्टाहृताः । भगवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः तस्यापत्यं युवा भागवित्तिकः । "भागवित्तितार्णबिन्दव०" [६.१.१०५.] इत्यादिना इकण्, तस्य छात्रा इति पूर्ववदिकणि निवृत्तेऽञ् । भागवित्ताः । वृषस्यापत्यं वार्ष्यायणिः । तस्यापत्यं युवा वार्ष्यायणीयः, 'सौयामायनि०' [६.१.१०६.] इत्यादिनेयः । तस्य छात्रा इति पूर्ववदीयस्य लुपि 'दोरीयः' [६.३.३१.] इतीयः । वार्ष्यायणीयाः । कपिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिस्तस्यापत्यं युवा कापिञ्जलाद्यः । कुर्वादित्वाद् ञ्यः । तस्य छात्राः पूर्ववद् ञ्यस्य लुपि 'वृद्धेञः' [६.३.२८]. इत्यञ् । कापिञ्जलादाः । ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लुचुकायनिः तस्यापत्यं युवा ग्लौचुकायनः । औत्सर्गिकोऽण् । तस्य छात्रा इति पूर्ववदणो लुपि पुनः शैषिकोऽणेव भवति ग्लौचुकायनाः । स्वर इत्येव ? पाण्टाहृतमयम् । वार्ष्यायणीयरूप्यम् । प्राग्जितीय इत्येव ? भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम् ॥१३७॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्-यूनि० । प्राग्जितीये स्वरे इत्यनुवर्तते । तथा च सूत्रार्थमाह-यून्यपत्ये विहितस्य प्रत्ययस्येत्यादिना । 'प्राग्जितीये स्वरे' इति विषयसप्तम्यन्तं पदद्वयमिति पूर्वसूत्रे निर्गीतमेवेति सिद्धवदाह-विषयभूते इति । तदर्थं स्पष्टयति-अनुत्पन्न एवेति । लुपि सत्यामपि लुप्तप्रत्ययान्तत्वनिबन्धनं कार्यं स्यादुत ततः पूर्वावस्थापन्ननिबन्धनमेवेति सन्देहे आह-लुपि सत्यां यो यतः प्राप्नोतीति । अयमर्थः-प्रत्यये लुप्ते सति शिष्यमाणाद् यः प्रत्ययः प्राप्नोति स एव भवति, न तु लुप्तप्रत्ययान्तत्वनिबन्धन इति । अथोदाहरणेषु प्रक्रियां प्रदर्शयति-पाण्टाहृतस्यापत्यं पाण्टाहृतिरित्यादिना । अदन्तत्व निमित्तः इञ् । ततो युवापत्ये णः, तत इदमर्थे ईये विवक्षिते णस्यानेन लुपि इञन्तत्वनिबन्धनमेव कार्यं भवतीति । एवं सर्वोदाहरणेषु स्पष्टमेव विवृतम् ।

पदकृत्यं प्रदर्शयति-स्वर इत्येवेत्यादिना । पाण्टाहृतेभ्य आगतमित्यर्थे पाण्टाहृतमयमिति रूपम् । तत्र मयटो रूप्यस्य च स्वरादित्वाभावान्नास्य प्रवृत्तिरिति भावः ॥६।१।१३७॥

वायनणायनिञोः ॥६।१।१३८॥

आयनण आयनिञश्च यून्यपत्ये विहितस्य प्राग्जितीये स्वरादौ प्रत्यये विषयभूते लुब् वा भवति । गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः, तस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनण् । तस्य छात्रा गार्गीयाः, गार्ग्यायणीया वा । 'दोरीयः' [६.३.३१.] इतीयः । चिङ्कस्यापत्यं युवा चैङ्कायनः । तस्य छात्राः चैङ्कीयाः, चैङ्कायनीया वा । आयनिञः खल्वपि । होतुरपत्यं हौत्रः, तस्यापत्यं युवा हौत्रायणिः । 'द्विस्वरादणः' [६.१.१०९.] इत्यायनिञ् । तस्य छात्राः हौत्रीयाः, हौत्रायणीया वा । "दोरीयः" [६.३.३१.] इतीयः । आयनणो णित उपादानाद् ञितः पूर्वेण नित्यमेव लुप् । अत्रेरपत्यमात्रेयः । तस्यापत्यं भारद्वाजो युवा आत्रेयायणः । 'आत्रेयाद् भारद्वाजे' [६.१.५२.] इत्यायनञ् । तस्य छात्राः आत्रेयीयाः ॥१३८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-वाय० । 'यूनि लुक्' इति पूर्वसूत्रमविकलं संबध्यते । ततश्च पूर्वेण नित्यं प्राप्ता एतयोर्लुक् अनेन सूत्रेण विकल्प्यते इति फलति । उदाहरणेषु तद्विवृणोति-गर्गस्यापत्यमित्यादिना । वृद्धापत्ये "गर्गादिर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञ्, तदन्ताद् युवापत्ये "यञिञः०" [६.१.५४.] इत्यायनण् । तस्येदमर्थे ईये विवक्षिते लुक् गार्गीया इति । एवमन्येष्वपि यथोक्तमूहनीयम् ॥६।१।१३८॥

"Aho Shrutgyanam"

द्रीञो वा ॥६।१।१३९॥

प्राग्जितीये स्वर इति निवृत्तम्। द्रिसंज्ञो य इञ् तदन्तात् परस्य युवप्रत्ययस्य लुप् वा भवति। उदुम्बरस्यापत्यमौदुम्बरिः। "साल्वांश०" [६.१.११७.] इत्यादिनेञ्। तस्यापत्यं युवा औदुम्बरिः, औदुम्बरायणो वा। "यञिञः" [६.१.५४.] इत्यायनण्। द्रिग्रहणं किम्? दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः। इञ इति किम्? अङ्गस्यापत्यमाङ्गः। 'पुरुमगध०' [६.१.११६] इत्यादिना अण्। तस्यापत्यमिति 'द्विस्वरादणः' [६.१.१०९.] इत्यायनिञ्। तस्य "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति नित्यं लुप् आङ्गः पिता, आङ्गः पुत्रः। 'अब्राह्मणात्' इति नित्यं लुपि प्राप्तायां विकल्पार्थं वचनम् ॥१३९॥

शo मo न्यासानुसन्धानम्-द्रीञो वा। प्राग्जितीये स्वरे इति निवृत्तमिति। पूर्वेणैव सिद्धेऽनेन पृथग् लुग्विधानादयमर्थो लब्धः। इञन्ताद्धि "यञिञः०" [६.१.५४.] इत्यायनणैव भाव्यम्-तस्य च पूर्वेणैव विकल्पेन लुग्विहितैव। इदं च पृथक्सूत्रमारभ्यते इति केनापि विशेषेण भाव्यम्। स चायमेव-पूर्वसूत्राद् भिन्नविषयतेति। ननु तथापि "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इत्युत्तरसूत्रेणैव सिद्धे इदं सूत्रं व्यर्थमेवेत्याशङ्क्य वक्ष्यति-**अब्राह्मणादिति नित्यं लुपि प्राप्तायां विकल्पार्थं वचनमिति**। उदाहरति-**उदुम्बरस्यापत्यमौदुम्बरिरित्यादिना**। पदकृत्यमाह-**इञ इति किमिति**। द्रेर्वा इत्येव सूत्रं क्रियतां तावतापि **औदुम्बरिः, औदुम्बरायण** इत्यादि सिद्धेरिति भावः। इञ्भिन्नस्यापि द्रेर्द्रेर्लुग् मा भूदित्याह-**अङ्गस्यापत्यमाङ्ग** इत्यादिना। स्पष्टमन्यत् ॥६।१।१३९॥

ञिदार्षादणिञोः ॥६।१।१४०॥

**ञित् आर्षश्च योऽपत्यप्रत्ययस्तदन्तात् परस्य अण इञश्च लुप् भवति। वचनभेदाद् यथासंख्याभावः। ञितः, तिकस्यापत्यं तैकायनिः। तिकादेरायनिञ्, तस्यापत्यमौत्सर्गिकोऽण्, तस्य लुप् तैकायनिः पिता, तैकायनिः पुत्रः। विदस्यापत्यं वैदः, विदादित्वादञ्, तस्यापत्यं "अत०" [६.१.३१.] इतीञ्, तस्य लुप् वैदः पिता, वैदः पुत्रः। कुरोरपत्यं कौरव्यः, 'कुर्वादेर्ण्यः' [६.१.१००.] कौरव्यस्यापत्यम् 'अत इञ्' [६.१.३१.] तस्य लुप्, कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः। तिकादिषु औरशशब्दसाहचर्यात् कौरव्यशब्दः क्षत्रियगोत्रवृत्तिर्विज्ञायते अयं तु ब्राह्मणगोत्रवृत्तिरिति अत आयनिञ् न भवति। आर्षात्, वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः। वैश्वामित्रः पिता, वैश्वामित्रः पुत्रः। ऋष्यणन्तादिञ् तस्य लुप्। आत्रेयः पिता, आत्रेयः पुत्रः। 'इतोऽनिञः' [६.१.७२] इत्येयणन्तादिञ्, तस्य लुप्। ञिदार्षादिति किम्? औपगवः पिता, औपगविः पुत्रः। आत्सर्गिकाणन्तादिञ, कौहडः पिता, कौहडिः पुत्रः, शिवाद्यणन्तादिञ्। अणिञोरिति किम्? दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः ॥१४०॥

शo मo न्यासानुसन्धानम्-ञिदार्षा०। ञितः परस्याणः, आर्षात् परस्येञश्च लुबित्यर्थो मा ज्ञायीति यथासंख्यं प्रतिक्षिपति-**वचनभेदाद् यथासंख्याभाव** इति। ञिदार्षादिति एकवचनेन, अणिञोरिति च द्विवचनेन निर्दिष्टमिति संख्याभेदात् समानसंख्यानिर्दिष्टयोरर्थयोरेव यथासंख्यस्य प्रथमाध्याय-द्वितीयपादे व्याख्यातत्वेन संख्याभेदे सति यथासंख्येनान्वयो न भवति इति भावः। उदाहर्तुं विवेचयति-**ञितः-तिकस्यापत्यं तैकायनिरित्यादिना**। ननु कुरोरपत्यं युवा कौरव्य इति कथमुच्यते, कौरव्यशब्दस्य तिकादिषु पाठात् "तिकादेरायनिञ्" [६.१.१०७.] इत्यायनिञा भाव्यमिति **कौरव्यः कौरव्यायणिरित्येव रूपं स्यादिति चेदत्राह-तिकादिषु औरशशब्दसाहचर्यादित्यादिना**। एतच्च "तिकादेरायनिञ्" [६.१.१०७.] इति सूत्रव्याख्यायामेव स्पष्टीकृतमिति नेह प्रतन्यते। तथा चात्राह्मणगोत्रे यद्यपि "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति नित्यं लुप् प्राप्नोति, तथापि तस्य नित्यत्वेन तिकादिषु विहितस्यायनिञोऽचारितार्थ्येन न लुप्। तथा चाब्राह्मणगोत्रत्वे कौरव्यः पिता, कौरव्यायणिः पुत्र इत्युक्तं पूर्वेति। ञित उदाहृत्य आर्षादुदाहर्तुं प्रकरोति-**आर्षाद् वासिष्ठः पितेत्यादि**। पदकृत्यमाह-**ञिदार्षादिति किमित्यादिना**। सर्वस्मादपि पर्योर्युवार्थयोरणिञोर्लुबुच्यतामिति भावः। प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति-**औपगवः पितेत्यादि**। एवमादिषु लुप् नेष्टेति भावः। पुनः पृच्छति-**अणिञोरिति किमिति**। ञिदार्षात् परस्य युवाभिधायिनः सर्व-

"Aho Shrutgyanam"

स्यापि लुबुच्यतामित्याशयः । प्रत्युदाहरति-दाक्षिः पितेत्यादि । प्रत्ययान्तरस्य लुग् नेष्टेति भावः ॥६।१।१४०॥

अब्राह्मणात् ॥६।१।१४१॥

अब्राह्मणवाचिनो वृद्धप्रत्ययान्ताद् यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् भवति । अङ्गस्यापत्यमाङ्गः । 'पुरु-मगध०' इत्यादिनाऽण्, तस्यापत्यं 'द्विस्वरादणः' [६.१.१०९.] इत्यायनिञ्, तस्य लुप्, आङ्गः पिता, आङ्गः पुत्रः । एवम्, सौह्मः पिता, सौह्मः पुत्रः । मगधस्यापत्यं मागधः 'पुरु-मगध०'[६.१.११६.] इत्यादिनाऽण्, तस्यापत्यम्, 'अत इञ्' [६.१.३१.], तस्य लुप्, मागधः पिता, मागधः पुत्रः । एवम्, कालिङ्गः पिता, कालिङ्गः पुत्रः । शौरमसः पिता, शौरमसः पुत्रः । तथा नाकुलः पिता, नाकुलः पुत्रः । साहदेवः पिता, साहदेवः पुत्रः । वासुदेवः पिता, वासुदेवः पुत्रः । आनिरुद्धः पिता, आनिरुद्धः पुत्रः । रान्ध्रसः पिता, रान्ध्रसः पुत्रः । श्वाफल्कः पिता, श्वाफल्कः पुत्रः । एभ्यः 'ऋषि-वृष्ण्यन्धक-कुरुभ्यः' [६.१.६१.] इत्यण् । ततो इञो लुप् भाण्डीजङ्घिः पिता, भाण्डीजाङ्घिः पुत्रः । कार्णखारिः पिता, कार्णखारिः पुत्रः । मायूरिः पिता, मायूरिः पुत्रः । कापिञ्जलिः पिता, कापिञ्जलिः पुत्रः । अत्र 'अत इञ्' इतीञ्, तत आयनणो लुप् । श्वशुर्यः पिता, श्वशुर्यः पुत्रः । कुलीनः पिता, कुलीनः पुत्रः, अत्र इञो लुप् । अब्राह्मणादिति किम् ? गार्ग्यः पिता, गार्ग्यायणः पुत्रः ॥१४१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-अब्राह्मणात् । अब्राह्मणवाचिन इति । सौकर्यार्थं पर्युदासाश्रयणमिति बोध्यम्, फलतः प्रसज्यप्रतिषेधस्यैव पर्यवसानात् । तेन गोत्रवाचिभिन्नादपि कुलश्वशुरादिनाम्नः प्रत्ययस्य लुग् सिद्ध्यति । पर्युदासाश्रयणे हि तस्य सदृग्ग्राहितया ब्राह्मणभिन्नादपि तत्सदृशगोत्रवाचिन एव स्यादिति तेभ्यो न स्यादिति, विचार्यिष्यतेऽग्रेऽपि । यूनि लुबिति पूर्वतोऽनुवृत्तम् । तया च वृद्धप्रत्ययान्ताद् विहितस्य युवप्रत्ययस्य लुबित्यर्थः सिद्ध्यति । उदाहरति-**अङ्गस्यापत्यमाङ्ग** इत्यादिना । एषु अङ्ग-मगधादिशब्दाः क्षत्रियवाचिन इति भवति प्रत्ययस्य लुग् । **श्वशुर्यः पिता, श्वशुर्यः पुत्र** इति । अत्रेदं विचारणीयम्-श्वशुरशब्दस्य संबन्धवाचकत्वेन जातिवाचकत्वस्य गोत्रवाचकत्वस्य वाऽभावात्, अब्राह्मणादित्यस्य पर्युदासपरत्वे ब्राह्मणभिन्नात् तत्सदृशाज्जातिवाचिनो गोत्रवाचिनो वा प्रत्ययस्यानेन लुग् स्यादितीह कथं प्रवर्तते ? न चायमपि शब्दो गोत्रवाचक एवेति वाच्यम्, "श्वशुराद् यः" [६.१.९१.] इति सूत्रे संबन्धवाचकस्यैव ग्रहणमिति निर्णीतत्वात्, इति चेन्न, प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं न पर्युदास इत्यर्थस्य पूर्वमुक्तत्वात् । "यूनि लुक्" [पा. सू. ४.१.९०.] इति सूत्रे महाभाष्ये एवमादीनां प्रयोगाणामनयैव युक्त्या सिद्धेरुक्तत्वात् । स्पष्टमन्यत् ॥६।१।१४१॥

पैलादेः ॥६।१।१४२॥

पैलादिभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति । अब्राह्मणार्थमप्राच्यार्थं वचनम् । पीलाया अपत्यं पैलः 'पीला-सालवा-मण्डूकाद् वा' [६.१.६८.] इत्यण्, तस्यापत्यं 'द्विस्वरादणः' [६.१.१०९.] इत्यायनिञ्, तस्य लुप् पैलः पिता, पैलः पुत्रः । शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः । 'शालङ्क्यौदि०' [६.१.३७.] इत्यादिना निपातनात् । तस्यापत्यं 'यञिञः' [६.१.५४.] इत्यायनण्, तस्य लुप्, शालङ्किः पिता, शालङ्किः पुत्रः ।

पैल शालङ्कि सात्यकि सात्यंकामि औदन्यि औदञ्चि औदमज्जि औदब्रजि औदभुज्जि औदमेधि औदकशुद्धि दैवस्थानि पैङ्गलौदयनि राणि राहक्षिति भालिङ्कि ओद्गाहमानि आज्जिहानि औज्जहानि इति पैलादिः ॥१४२॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्-पैलादेः० । अत्र गणे पैलशब्दात् परतः सर्व एव प्राय इञन्ता एव पठ्यन्ते, तथा च पैलात् परस्य युवप्रत्ययस्य "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति पूर्वसूत्रेण "शालङ्क्यादेः प्राच्येञः" [६.१.१४२.] इत्युत्तरसूत्रेण च लुपि सिद्धायां किमर्थमिदं सूत्रमिति शङ्कायामाह-**ब्राह्मणार्थमप्राच्यार्थं च वचनमिति** । अयमर्थः-यदि पूर्वसूत्रेऽब्राह्मणादिति पर्युदासस्तदापि ब्राह्मणवाचिनः पैलशब्दादप्राप्तैव लुग्, यदि च प्रसज्यप्रतिषेधस्तदा तु सुतरामप्राप्तः, एवमुत्तरसूत्रेण प्राच्यगोत्रे सत्येव प्राप्ता, प्राच्यभिन्ने त्वप्राप्तैवेति तत्र लुग् यथा स्यादित्येवमर्थस्य सूत्रस्यावश्यकत्वमिति । उदाहरणानि स्पष्टानि ॥६।१।१४२॥

"Aho Shrutgyanam"

प्राच्येञोऽतोल्वल्यादेः ॥६।१।१४३॥

प्राच्यगोत्रे य इञ् तदन्तात् तौल्वल्यादिवर्जितात् यून्यपत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् भवति। ब्राह्मणार्थं वचनम्। पान्नागारिः पिता, पान्नागारिः पुत्रः। मान्थरेषणिः पिता, मान्थरेषणिः पुत्रः। क्षैरकलम्भिः पिता, क्षैरकलम्भिः पुत्रः, 'अत इञ्' [६.१.३१.] ततो 'यञिञः' [६.१.५४.] इत्यायनण्, तस्य लुप्। प्राच्यग्रहणं किम्? दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः। इञ इति किम्? राघवः पिता, राघविः पुत्रः। तौल्वल्यादिवर्जनं किम्। तौल्वलिः पिता, तौल्वलायनिः पुत्रः। तैल्वलिः पिता, तैल्वलायनः पुत्रः। दालीपिः पिता, दालीपायनः पुत्रः। अत्र दिलीपशब्दस्यात एव निपातनादिञि वृद्धिराकारः। अपरे दिलीप इति प्रकृत्यन्तरमाहुः।

तौल्वलि तैल्वलि तैल्वकि धारणि रामणि दालीपि दैवोति दैवमति दैवयज्ञि प्राटाहति प्रादाहति चाफट्टकि आसुरि पौष्करसादि आनुराहति आनुति नैमिश्रि नैमिश्लि नैमिशि आशि बान्धकि यासि बाद्धकि आसिनासि आसिबद्धकि चौङ्कि पौष्पि आर्हिसि वैराकि वैलकि वैशीति वैहति वैकर्णि वार्कलि कारेणुपालि इति तौल्वल्यादिः ॥१४३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्–प्राच्येञः०। अत्र प्राच्यादेरस्य प्राग्देशादिगोत्रवाचित्वमित्याह–**प्राच्यगोत्रे** इत्यादि। "अब्राह्मणात्" [६.१.१४१.] इति सूत्रेणैव सिद्धिमाशङ्क्याह–**ब्राह्मणार्थं वचनमिति**। ब्राह्मणगोत्रवाचिनोऽपीञन्तात् परस्य युवापत्यार्थस्य प्रत्ययस्य लुबर्थमिदं सूत्रमिति भावः। पन्नागारादयः प्राज्यगोत्रवाचिनः। स्पष्टान्युदाहरणानि। पदकृत्यं पृच्छति–**तौल्वल्यादिवर्जनं किमिति**। तेभ्यः प्रत्ययस्य लुबुत्पत्त्याशयेन प्रत्युदाहरति–**तौल्वलिः पिता, तौल्वलायनिः पुत्र** इत्यादि। **दालीपिरिति**–अत्र दिलीपः प्रकृतिरिति स्वमतम्। तस्य च प्राच्यगोत्रवाचित्वमिति तस्मादिञन्ताद् भवति लुपः प्राप्तिः। किन्तु दिलीपशब्दादिञि सति आदिस्वरवृद्धौ दैलीपिरिति स्यात्, कथं दालीपिरिति शङ्कायामाह–**अत्र दिलीपशब्दस्यात एव निपातनादित्यादि**। पाणिनीयेऽत्र गणे तु दैलीपिरित्येव पठ्यते। दालीपिरित्येव पाठो निपातनं च नाश्रयणीयमिति वादिनो मतमाह–**अपरे दिलीप इति प्रकृत्यन्तरमाहुरिति**। नात्र प्रसिद्धो सूर्यवंशीयो दिलीपः किन्तु कश्चिदन्य एव दिलीप इति तेषां मतमित्याशयः ॥६।१।१४३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तेः तपागच्छीयाचार्य-श्रीविजयलावण्यसूरिविरचितन्यासानुसंधाने षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य
त्वया न किञ्चित् प्रकृतं नरेन्द्र !।
यशांस्यहार्षीः प्रथमं समन्तात्
क्षणादभाङ्क्षीरथ राजधानीम् ॥१॥

प्रकृतशब्दानुशासनप्रवर्तकं राजानं स्तौति–**श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्येति**। हे **नरेन्द्र** ! **त्वया श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य न किञ्चित् प्रकृतम्** (केवलं तस्य) **प्रथमं यशांसि अहार्षीः, अथ राजधानीं समन्तात् क्षणात् अभाङ्क्षीः** इत्यन्वयः। नराणां मनुष्याणामिन्द्रः, तत्संबन्धिपरमैश्वर्यशालिन् सिद्धराज भूप ! त्वया भवता श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य स्वसमकालिकस्य तन्नाम्ना प्रसिद्धस्योज्जयिनीपतेः न किञ्चित् प्रकृतं, तच्छरीरे न किमप्यनिष्टमाचरितम्। (किन्तु केवलं त्वं तस्य राज्ञः) यशांसि दिग्विजयित्व–बहुतरपराक्रमशालित्व-वदान्यत्वादिसमुद्भूतानि प्रथमं तद्विजयात् पूर्वमेवाहार्षीः स्वीयैस्तादृशगुणैरलोपीः, अथ पश्चाद् राजधानीं तत्पुरीं समन्तात् सर्वतः क्षणाद् अल्पकालेनैव अभाङ्क्षीः आमर्दितवानसि। तस्य पलायितत्वात् तच्छरीरे भवता न किमप्याचरितमपि तु यशोलोपो राजधानीनाशश्च कृत इत्यर्थः ॥

॥ द्वितीयः पादः ॥

रागाद्दो रक्ते ॥६।२।१॥

शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमिह रञ्जेरर्थः। रज्यतेऽनेनेति रागः कुसुम्भादिः। रागविशेषवाचिनो नाम्नष्ट इति तृतीयान्ताद् रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति।

कुसुम्भेन रक्तं वस्त्रं कौसुम्भम्। एवं काषायम्। कौङ्कुमम्। माञ्जिष्ठम्। हारिद्रम्। माहारजनम्। वाऽधिकारात् पक्षे वाक्यं समासश्च भवति। कुसुम्भेन रक्तं कुसुम्भरक्तम् इत्यादि। रागादिति किम्? चैत्रेण रक्तम्। पाणिना रक्तम्। रागशब्देन प्रसिद्धा एव कुसुम्भादयो रागा गृह्यन्ते। तेनेह न भवति। कृष्णेन रक्तम्। लोहितेन रक्तम्। पीतेन रक्तम् इति। एते हि वर्णा द्रव्यवृत्तयो न तु रागाख्याः। कथं काषायौ गर्दभस्य कर्णौ हरिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ इति। काषायाविव काषायौ। हारिद्राविव हारिद्रौ इत्युपमानोपमेयभावेन तद्गुणाध्यारोपाद् भविष्यति ॥१॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—रागा०। रागशब्दस्य रञ्जीधातोर्घञा निष्पन्नत्वेन, धातोरर्थनिर्देशे च 'रागे' इत्युक्ततया आत्माश्रयतापत्तिं मनसि विचार्य धात्वर्थं विवृणोति—शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमिह रञ्जेरर्थ इति। शुक्लशब्दो गुणवाचकोऽप्यत्र गुणिपदशुक्लवर्णवतो द्रव्यस्येत्यर्थः।

"गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" इत्यमरकोशात्। नहि शुक्लस्य वर्णस्य वर्णान्तरत्वमापादयितुं शक्यते गुणे गुणानङ्गीकारात्, किन्तु वर्णान्तरेण तदभिभावकेन तदभिव्यक्तिर्वायते—येन शुक्ल-गुणवद्द्रव्यं वर्णान्तरवत्तया प्रतीयते, तथा च शुक्लवर्णवतो द्रव्यस्य वर्णान्तरसम्बन्धसंपादनमिह धात्वर्थ इति फलति। 'रञ्जयति मृगान्', 'रञ्जयन्ति जनमनांसि' इत्यादावर्थान्तरस्यापि प्रतीतेः 'इह' इत्युपन्यस्तम्। इहेत्यस्य प्रकृतरागशब्दे इत्यर्थः। रागपदस्यापि भावकरणाद्यनेकार्थव्युत्पन्नतयाऽनेकार्थत्वेनेह योऽर्थो ग्राह्यस्तमाह—रज्यतेऽनेनेति रागः कुसुम्भादिरिति। कुसुम्भं नाम पुष्पविशेषो येन वस्त्ररञ्जनं विदधति रजकाः। यत्तु रञ्जधात्वर्थनिरूपणे शुक्लस्येत्युपलक्षणम्, अन्येषामपि वर्णानां वर्णान्तरापादने रञ्जेः प्रयोगात्, किन्तु वर्णान्तरापादनमात्रमर्थः, रञ्जेरिति केचन व्याचख्युः, तन्न रोचयामहे, काषायं कौङ्कुमित्यादौ स्वभावतः शुक्लस्यैव वर्णान्तरत्वप्रतिपत्तिप्रतीतेः, शुक्लातिरिक्तवर्णस्य वर्णान्तरापादनप्रतिपिपादयिषायां वाक्यस्यैव स्वीकाराच्च।

सूत्रे 'ट' इति टाशब्दस्य पञ्चम्येकवचने रूपम्, टापदं च स्याद्यवयवकविभक्तेरुपलक्षणम्, प्रत्ययग्रहणे च तदन्तग्रहणमिति 'ट' इत्यस्य तृतीयान्तादित्यर्थः। तथा च यादृशः सूत्रार्थः सम्पन्नस्तमाह—रागविशेषवाचिन इत्यादिना। उदाहरति—कुसुम्भेन रक्तमित्यादिना विगृह्य। स्पष्टान्युदाहरणानि। "वाद्यात्" [६.१.११.] इत्यतोऽधिकृतस्य वाशब्दस्येहानुवृत्तिस्मरणपूर्वकं तत्फलमाह—वाऽधिकारात् पक्षे वाक्यं समासश्च भवतीति। प्रत्ययस्य पाक्षिकत्वसूचनात् तत्प्रयोगार्थप्रतिपिपादयिषायां क्वचिद् वाक्यमेव तिष्ठति, क्वचिच्च समासः क्रियते इति भावः।

पदकृत्यं पृच्छति—रागादिति किमिति। तृतीयान्ताद् रक्तेऽर्थे प्रत्ययो विधीयते, तृतीया च करणे भवति, रञ्जनकरणं च राग एवेति विनाऽपि रागग्रहणं रागवाचकादेव भविष्यतीति प्रष्टुराशयः। अतिव्याप्त्योत्तरयति—चैत्रेण रक्तमिति। अयमाशयः—न हि तृतीयाकरणमात्रनियता, कर्तर्यपि तस्या विधानादिति तृतीयान्तात् कर्तुरपि प्रत्ययापत्तिः स्यादिति तद्वारणाय रागादित्यावश्यकमिति। किञ्च, करणमपि रञ्जनस्य न रागमात्रम्, अपि तु तत्क्रियासिद्धौ साधकतममन्यदपि करणतृतीयान्तं संभाव्यते ततो मा भूदित्याह—पाणिना रक्तमिति। 'तेन रक्तं रागाद्' [पा०सूं० ४.२.१.] इति सूत्रे महाभाष्ये तु रागग्रहणं प्रत्याख्यातप्रायम्, तद्भाष्याशयः कैयटेनेत्थं प्रकटीकृतः, रागवाचकादेव विहितात् प्रत्ययेनेदृशोऽर्थः (रक्तार्थः) बोधयितुं पार्यते, काषायं वस्त्रमित्यादौ यथा रक्तार्थप्रतीतिस्तथा दैवदत्तं वस्त्रमित्यादौ न भवतीति कर्तृतृतीयान्तान्नैव भविष्यतीति रागादिति नावश्यकम्। एवं करणतृतीयान्तादपि रागभिन्नात् पाण्यादेरुत्पन्नेन प्रत्ययेन रक्तार्थप्रतीत्यनुपपत्तिर्द्रष्टव्या। स्वमतेऽप्येवं प्रत्युदाहरणेषु समाधानसम्भवेऽप्यभिधानसामर्थ्याश्रयणाद् वरं करणमिति रागादिति कर्तव्यमेवेति प्रतिपादितम्। रागपदेन रञ्जनकरणीभूतत्वेन प्रसिद्धस्य तत्तद्द्रव्यस्यैव ग्रहणं, न तु राग-

"Aho Shrutgyanam"

विशेषणामर्पीति द्रढयति–**रागशब्देन प्रसिद्धा एव कुसुम्भादय** इति फलमाह–**तेनेह न भवति–कृष्णेन रक्तमित्यादि** । एषामग्रहणे हेतुमाह—**एते हि वर्णा द्रव्यवृत्तयो न तु रागाख्या** इति । उदाहृताः कृष्णादयो वर्णवाचकाः तत्तद्द्रव्येषु समवायेन वर्तमानाः, न तु रञ्जनसाधनत्वेन प्रसिद्धानां रागाणां नामानीत्यर्थः ।

ननु रञ्जनसाधनद्रव्यसंबन्धविवक्षणेऽपि रक्तार्थप्रत्ययान्तप्रयोगो दृश्यते स कथमुपपद्यत इति **शङ्कते–कथं कषायौ गर्दभस्य कर्णाविति**त्यादिना । अत्र हि स्वाभाविकमेव कर्णादीनां कषायादिरूपवत्त्वमिति शङ्काबीजम् । उत्तरयति–**कषायाविव कषायाविति**त्यादिना । यथा कषायेण रक्तयोराभा भवति तद्वदाभासमानौ इत्येवंरूपेणोपमानोपमेयभावमन्तर्भाव्य कषायगुणसंबन्धवत्तामारोप्यायं व्यवहारोऽनादिपरम्पराप्राप्त इति नात्र साक्षात् प्रत्ययार्थविवक्षेति तदर्थः । अयमाशयः–यद्यपीह नास्ति शुक्लस्य वस्तुनो कषायादिरञ्जनद्रव्येण वर्णान्तरापादनं वास्तविकम्, तथापि सादृश्यमूलकः तादृशधर्मवत्त्वारोपः शक्यते कर्तुम्–यथा गौर्वाहीक इत्यादावगवि गोत्वारोपः इत्युपपन्नः प्रयोगः ॥६।२।१॥

लाक्षा-रोचनादिकण् ॥६।२।२॥

लाक्षा-रोचना इत्येताभ्यां तृतीयान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे इकण्प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः ।

लाक्षाया रक्तं लाक्षिकम् । रोचनया रक्तं रौचनिकम् ॥२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–लाक्षा० । पूर्वसूत्रं सम्बध्यते, तत्र रागादिति **लाक्षा-रोचनाभ्यां** सामानाधिकरण्येनान्वेति तच्च स्पष्टमेवेति, न वृत्त्या तत्प्रतिपादितम् । **तथा च रागवाचिभ्यां तृतीयान्ताभ्यां** लाक्षारोचनाभ्यां रक्तेऽर्थे इकण्प्रत्यय इति सूत्रार्थः । **अणोऽपवाद** इति । पूर्वसूत्रेण प्राप्तस्य तस्य विशेषविहितत्वेनायं बाधक इत्यर्थः । उदाहरति–**लाक्षया रक्तमित्यादि** । लाक्षा कृमिविशेषोत्पादितं रञ्जनद्रव्यम् । रोचना च गोपित्तसम्भवत्वेन ख्याता ताभ्यामिकणि आदिस्वरवृद्धयादौ **लाक्षिकम्, रोचनिकमिति** ॥६।२।२॥

शकल-कर्दमाद् वा ॥६।२।३॥

शकल कर्दम इत्येताभ्यां तृतीयान्ताभ्यां रक्तम् इत्येतस्मिन्नर्थे इकण् प्रत्ययो वा भवति ।

शकलेन रक्तम् शाकलिकम्, शाकलम् । कार्दमिकम्, कार्दमम् ॥३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–शकल० । अत्रापि रागादिति पूर्वसूत्रं सम्बध्यत एव । अव्यवहितसूत्रे च लाक्षारोचनयो रागत्वाव्यभिचाराद् वृत्तौ रागशब्दसंबन्धस्य तयोरुक्तेरभावेऽपि शकल-कर्दमयोस्तद्व्यभिचारसंभवात् रागशब्देन विशेषयति–**रागविशेषवाचिभ्यामिति** । तेन खण्डवाचिनः शकलशब्दस्य पङ्कवाचिनश्च कर्दमशब्दस्य न ग्रहणमिति भावः । शकलमिह रक्तचन्दनम्, कर्दमस्तु मृद्विकारविशेषः पाण्डयमण्डले प्रसिद्ध इति लघुन्यासकृतः । उदाहरति–**शाकलिकं शाकलमिति** । इकणोऽभावे औत्सर्गिकः "रागात्" [६.२.१.] इत्यण् भवति ॥६।२।३॥

नील-पीतादकम् ॥६।२।४॥

नील-पीतशब्दाभ्यां रागविशेषवाचिभ्यां तृतीयान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यं अ क इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ।

नीलेन लिङ्गविशिष्टग्रहणान्नील्या वा रक्तं नीलम् । पीतेन रक्तं पीतकम् । केचित् तु पीतकशब्दादप्यप्रत्ययमिच्छन्ति । पीतकेन कुसुम्भप्रथमनिर्यासेन रक्तं पीतकम् । गुणवचनत्वात् केन च सिद्धे अणपवादार्थं वचनम् ॥४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–नील० । नीलपीतयोः अ-कयोश्च समाहारेण निर्देशः । संख्यैक्याद् यथासंख्येनान्वयः, तथा च नीलादः, पीतात्क इति लभ्यते । नीलशब्दः पुं-स्त्रीलिङ्ग इत्युभयलिङ्गात् तस्मात् प्रत्ययोत्पत्तिरिष्टेति तत्साधनमाह–**नीलेन लिङ्गविशिष्टग्रहणान्नील्या वा रक्तमिति** । *नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्* इति न्यायेन स्त्रीत्वविशिष्टस्यापि नीलस्य ग्रहणाद् नील्या रक्तमित्यर्थेऽपि प्रत्ययो भवतीति भावः । यद्यपि योऽयं नीलशब्दो गुणविशेषपरः स नियतपुंलिङ्ग एव, तस्मात् स्त्रीत्वनिमित्तकप्रत्ययानुत्पादः, नीलीशब्दो हि तादृशवर्णवदोषधिविशेषवाचक इति नात्र लिङ्गविशिष्टग्रहणन्यायप्रवृत्तिरुचिता, यस्यैव नाम्नः सूत्रे ग्रहणं तस्यैव लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणौचित्यात्, तथापि शब्दयोः सारूप्याद् यो नीलवर्णवाची शब्दः स एवेहौषधिविशेषे वाच्ये

"Aho Shrutgyanam"

स्त्रीत्वमापन्न इति भावनया न्याय्यस्येह प्रवृत्तिरुक्तेति विज्ञेयम् । पाणिनीयतन्त्रे तु "लाक्षारोचनाट्टक्" [पा० सू० ४.२.२.] इति पूर्वसूत्रस्थानीये सूत्रे एव "नील्या अन्वक्तव्यः" इति वार्तिकं पठ्यते महाभाष्ये, तत्र कैयटेन ओषधिविशेषो नीली, अणबाधनार्थं वचनम् । नीलशब्दस्तु गुण-गुणिनोरभेदोपचारात् मतुब्लोपाद् वा इत्युक्तम् । तथा च नीलीशब्दादणा रूपान्तरबाधनार्थमेव प्रत्ययविधानम्, नीलीशब्दस्तु न रक्तार्थे प्रयुज्यतेऽपि तु नीलीरूपवद्द्रव्ये औपचारिकः "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणलिङ्गास्तु तद्वति" इति कोशादिप्राप्तः इति तदाशयः । स्वमते च नीलशब्दादप्यणि नैलमिति प्रयोगो मा भूदित्येतदर्थत्वं सूत्रस्य व्याख्यास्यति ।

अत्र मतान्तरमाह—**केचित् तु पीतकशब्दादप्यप्रत्ययमिच्छन्ती**ति । पीतकमपि रञ्जनद्रव्यम्, तस्मादपि रक्तार्थेऽण् मा भूदित्यतः अप्रत्ययं विदधतीति भावः । किं तावत् पीतकमिति स्वयमेव ग्राहयति—**पीतकेन कुसुम्भप्रथमनिर्यासेने**ति । कुसुम्भकुसुमानां जलेनार्द्रीकरणे यः प्रथमनिर्यास उद्गच्छति स केवलं पीतवर्ण इति पीतकमित्युच्यते, न तद् रक्तं वस्त्रं कौसुम्भमित्याख्यायतेऽपितु पीतकमित्येव । तच्च रूपं पीतकशब्दादप्रत्यये विहित एव सिद्ध्यतीति तदाशयः । गुणवाचकनीलशब्दस्य तद्गुणवत्यपि प्रयोगस्य पूर्वोदाहृतकोशप्राप्तत्वम्, एवं पीतरूपवद् द्रव्यवाचकपीतशब्दात् स्वार्थे के पीतकमित्यपि सिद्धमेवेति किमर्थमिदं सूत्रमित्याशङ्क्य प्रकृत्याह—**अणबादार्थं वचनमि**ति । नील-पीतशब्दाभ्यामणा नैलं पैतमिति रूपो मा भूदित्येदर्थमित्यर्थः ॥६।२।४॥

उदितगुरोर्भाद् युक्तेऽब्दे ॥६।२।५॥

उदितो गुरुर्बृहस्पतिर्यस्मिन् भे नक्षत्रे तद्वाचिनस्तृतीयान्ताद् युक्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, स चेद् युक्तोऽर्थोऽब्दः संवत्सरः स्यात् ।

पुष्येणोदितगुरुणा युक्तं वर्षं पौषं वर्षम् । फाल्गुनीभिरुदितगुरुभिर्युक्तः फाल्गुनः संवत्सरः । उदितगुरोरिति किम् ? उदितशनैश्चरेण पुष्येण युक्तं वर्षम् इत्यत्र न भवति । भादिति किम् ? उदितगुरुणा पूर्वराज्ञेण युक्तं वर्षम् । अब्द इति किम् ? मासे दिवसे वा न भवति ॥५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—उदित० । पूर्वतः टः इत्येतावन्मात्रं संबध्यते योग्यत्वात् । **उदितगुरोरि**ति भादित्यस्य समानाधिकरणमिति तथा व्याख्याति—**उदितो गुरुर्यस्मिन् भे** इत्यादिना । **पुष्येणोदितगुरुणा युक्तोऽब्द** इति । अयमाशयः—कालस्य नवमानानि कथितानि ज्योतिर्विद्भिः । तथा च सिद्धान्तशिरोमणौ ग्रहगणिताध्याये भास्कराचार्याः—

"एवं पृथङ् मानव-दैव-जैव-
पैत्तार्क्ष (पित्र्यर्क्ष ?) सौरेन्दव साधनानि ।
ब्राह्मं च काले नवमं प्रमाणं
(ग्रहास्तु साध्या मनुजैः स्वमानात्) ॥
(मध्यमाधिकारे भगणाध्याये ३२)।
इत्युक्तम् ।

अत्र जैवो वत्सरः जीवस्य—गुरोः नक्षत्रराशियोगनिमित्तकः, तथा च यस्मिन् भे उदितः गुरुः स गुरुणा युक्त इति तन्नाम्ना स जैवोऽब्दो व्यपदिश्यते ।

"मध्यमगत्या भयोगेन गुरोर्गौरवत्सरः ।"
इति वसिष्ठवचनात् ।

उक्तं च भास्कराचार्येणापि तत्रैव—

बृहस्पते मध्यमराशिभोगात्,
संवत्सरं साहितिका वदन्ति ॥" इति,

अत्रैव क्षेपकरूपेण पद्यमुक्तम्—

"कल्पादितो मध्यमजीवमुक्ता
ये राशयः षष्टिहृतावशेषाः ।
संवत्सरास्ते विजयाश्विनाद्या
इतीज्यमानं किल संहितोक्तम् ॥" इति,

अस्यार्थः—मध्यमगत्या गुरोरेकराशिभोगो बार्हस्पत्यसंवत्सरो भवति । ते च संवत्सरा मेषादिराशिसंबन्धेनाश्विनाद्या भवन्ति । यथा मेषस्थे स्फुटगुरौ यस्य संवत्सरस्य समाप्तिर्भवति (नारम्भः) स संवत्सर आश्विनसंज्ञको भवति, मेषादावश्विनी नक्षत्रसत्त्वात् तत्संबन्धादेवाश्विनसंज्ञा, तत्रैव गुरोरुदयात् । वृषस्थे गुरौ यस्य संवत्सरस्य समाप्तिः स वत्सरः कार्तिकसंज्ञको भवति, वृषादौ कृत्तिकानक्षत्रसत्त्वात् । कल्पादौ च मेषराशिसम्बन्धी-विजयनामा वत्सर आसीत् । विजयादयश्च षष्टिर्वत्सरा ते च मेषादिभिः पञ्चावृत्त्या सम्बध्यन्त इति पुनः पुनः षष्ट्यावृत्तेरादौ मेषराशिसंबन्धी विजयनामा संवत्सर आयाति ।

"Aho Shrutgyanam"

परमेतावता स्फुटमिदमायातं यत् यस्मिन् नक्षत्रे बृहस्पतिस्तिष्ठति, तदा च यो वत्सरः समाप्नोति स तन्नक्षत्रनाम्ना प्रथते, तथा च पुष्यनक्षत्रस्थे गुरौ यो वत्सरः समाप्नोति स पौषः कथ्यते, एतादृशार्थबोधायेवेदं सूत्रमारभ्यते । अन्ये च वैयाकरणाः केचन नेदृशं स्पष्टं सूत्रमारभन्ते, केवलं सामान्येन "नक्षत्रेण युक्तः कालः" इत्यर्थे प्रत्ययविधानेन तन्नक्षत्रयुक्तकालस्यापि नक्षत्रशब्देन व्यवहारमाश्रित्य तत्रस्थेन गुरुणापि युक्तः कालः— संवत्सरादिः तन्नक्षत्रादुत्पन्नेन प्रत्ययेनाभिधीयत इत्याश्रयन्ति । स्वमते च नेदृशक्लिष्टकल्पना कर्तव्या भवतीति लाघवम् ।

उदितगुरोरिति किमिति येन केनापि उदितेन ग्रहेण युक्तोऽब्दस्तन्नाम्ना व्यवह्रियतामिति प्रष्टुराशयः । नायं व्यवहारः स्वाधीनोऽपि तु कालज्ञ(ज्योतिर्वित्)—सम्प्रदायप्रसिद्धयनुरोध्येव । तथा च नान्यग्रहेणोदितेन युक्तान्नक्षत्रात् प्रत्ययोत्पत्त्याऽब्दस्तन्नाम्ना व्यवह्रियते इत्याह—**उदितशनैश्चरेण पुष्येण युक्तं वर्षमित्यत्र न भवतीति** । पुनः शङ्कते—**भादिति किमिति ?** नक्षत्रस्यैव ग्रहेण सम्बन्ध इत्याशयेन प्रश्नः । **उदितगुरुणा पूर्वरात्रेणेति** । नक्षत्रशब्दोऽपि तन्नक्षत्रयुक्तकालमर इत्युक्तं प्राक् । तथा च यत्र न नक्षत्रात्मकस्य कालस्य गुरुणा सम्बन्धो विवक्षितोऽपि तु पूर्वरात्रादेः कालखण्डस्य तत्र प्रत्ययो मा भूदिति समाधानाशयः । **अब्द इति किमिति ?** अब्दस्यैव वाच्यता किमित्याशीयते यः कश्चित् कालस्तादृशेन (उदितगुरुणा) युक्तः स्यात् तत्र विधीयतामित्याशयः । **मासे दिवसे** वेति उदितगुरुणा नक्षत्रेण युक्ते मासे दिवसे वा तन्नक्षत्रादुत्पन्नप्रत्ययान्तेन स मासो दिवसो वा मा भिधायीति भावः ॥६।२।५॥

चन्द्रयुक्तात् काले लुप्त्वप्रयुक्ते ॥६।२।६॥

चन्द्रेण युक्तं यन्नक्षत्रं तद्वाचिनस्तृतीयान्ताद् युक्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, स चेद् युक्तोऽर्थः कालो भवति, अप्रयुक्ते तु कालवाचके शब्दे लुप् भवति ।

पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तमहः पौषमहः । एवं पौषी रात्रिः । पौषोऽहोरात्रः । पौषः कालः । माघमहः । माघी रात्रिः । माघोऽहोरात्रः । माघः कालः । चन्द्रयुक्तादिति किम् ? शुक्रयुक्तेन पुष्येण युक्तः कालः । भादित्येव ? चन्द्रयुक्ते शुक्रेण युक्तः कालः । काल इति किम् ? चन्द्रयुक्तेन पुष्येण युक्तो ग्रहः । लुप् त्वप्रयुक्ते, अद्य पुष्यः । अद्य मघाः । दिवा कृत्तिकाः । रात्रौ फल्गुन्यः । पुष्ये पायसमश्नीयात्, मघासु पललौदनम् । अप्रयुक्त इति किम् ? पौषमहः । पौषी रात्रिः । पौषोऽहोरात्रः । पौषः कालः ॥६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चन्द्र० । भादिति पूर्वतोऽनुवृत्तम्, तद्विशेषणं **'चन्द्रयुक्तात्'** इति । अत्र सूत्रे वाक्यद्वयम्, **'चन्द्रयुक्तात् काले'** इत्येकंवाक्यं **'लुप्त्वप्रयुक्ते'** इति परम्, तथैव च सूत्रं व्याख्यातिः । सूत्रकृतैव 'तु' शब्देन परवाक्यस्य पूर्ववाक्यासंबन्धस्य स्पष्टीकरणान्न वाक्यभेदप्रसङ्गो दोषाय । 'अप्रयुक्ते' इत्यनेन सम्बन्धायोत्तरवाक्ये पूर्ववाक्यात् काले इत्यादीयते । तथा च वृत्युक्तार्थः संपन्नः । उदाहरति—**पुष्येण चन्द्रयुक्ते**नेत्यादि । अत्र पुष्यपदमेव चन्द्रयुक्तपुष्यनक्षत्रपरम्, चन्द्रयुक्तेनेति पदं तस्य (पुष्यस्य) तादृशार्थबोधकत्वपरिचायकमेव । अन्यथा पुष्यपदात् प्रत्ययो न स्यात् *सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य च विशेषणयोगो न* इति न्यायात् । सत्यपि कथञ्चित् प्रत्ययोत्पत्तौ चन्द्रयुक्तपुष्यनक्षत्रयुक्ते वर्षमितीदृशार्थबोधो न स्यात् चन्द्रयुक्तरूपार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययान्यतरार्थत्वाभावात् । तद्धितादिवृत्तौ स एवार्थो भासते—यः प्रकृति-प्रत्ययान्यतरान्तर्भूतः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्यात्, तथा च पुष्यपदमत्र चन्द्रयुक्तपुष्यनक्षत्रपरं वृत्तिस्वाभाव्यादित्याश्रयणीयमेव ।

पदकृत्यानि स्पष्टानि । द्वितीयवाक्यमुदाहर्तुमवतारयति—**लुप्त्वप्रयुक्ते** इति । **अप्रयुक्ते कालवाचके शब्देऽ**नेनैव विहितस्य प्रत्ययस्य **लुप् भवति**, यथा अद्य पुष्य इति । चन्द्रयुक्तेन पुष्येण युक्तः काल इत्येव विग्रहः, केवलं कालवाचकस्य शब्दस्य न प्रयोग इत्येतावता विहितस्यापि प्रत्ययस्य लुप् भवति । अद्य मघाः, चन्द्रयुक्ताभिर्मघाभिर्युक्तः काल इति विग्रहः । प्रत्ययलुपि सत्यां प्रकृतेरेव रूपं यथावदवस्थितम् । अत्र यद्यपि 'अद्य' इत्यपि कालवाचकमेव, तथापि तस्याधिकरणशक्तिप्रधानत्वेन, न पुष्ययुक्तकालेन सामानाधिकरण्यमिति न कालप्रयोग इति मन्यते । अत्र कालप्रयोग इत्यस्य यः कालो युक्तो भेन तस्य प्रयोग इत्यर्थः । नन्वेतदयुक्तम्, यः कालोऽद्येत्यनेन गम्यते तस्यैव पुष्ययोग इति गम्यते, नहि अद्येति पदार्थभूतकालभिन्नः कश्चित्काल इह पुष्ययुक्तत्वेन भासते, ततश्चाद्येत्यस्याधिकरणशक्तिप्रधानत्वेऽपि अत्र केवलमतीताया रात्रेः पश्चार्धेनागामिन्याश्च पूर्वार्धेन युक्तः

"Aho Shrutgyanam"

काल एवाद्यशब्देनोच्यते इति स्वीकरणीयम्, तथा चाद्येत्यनेन सामानाधिकरण्यमेव पुष्ययुक्तकालार्थस्य पुष्यपदस्य, एकस्मिन्नाधाराधेयभावानुपपत्तेः, इति कालवाचकस्येह प्रयोग एवेति कथं प्रत्ययस्य लुबिति चेन्न, काल-प्रयोगे इत्यत्र कालपदस्य नक्षत्रयुक्तकालविशेषपरत्वात् । नक्षत्रयुक्तः कालः षष्टिदण्डात्मकोऽहोरात्रस्तद्विशेषश्चेन्न प्रयुक्त इत्यर्थात् । तद्विशेषश्च तदवान्तरभूतः, यथा दिनम्, रात्रिः, मध्याह्नः, सायाह्न इत्यादि । 'अद्य पुष्यः' इत्यत्र च नैतादृशः कालविशेषः प्रयुज्यते इत्यस्ति कालप्रयोगाभावः। न चैवं पौषोऽहोरात्र इत्यत्रापि प्रत्ययस्य लुक् स्यात्, तत्रापि तदवान्तरविशेषाप्रयोगादिति वाच्यम् अहोरात्रेश्चावान्तरभेदस्य शब्दत उक्तत्वात् । पाणिनीये तन्त्रे चात एव "लुबविशेषे" [पा०सू० ४.२.४.] इति सूत्रितम् । तस्यार्थश्च शब्दकौस्तुभे एवं विहितः-पूर्वेण विहितस्य लुक् स्यात्, न तु षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषे गम्यमाने इति । 'अद्य पुष्यः' 'अद्य मघाः' 'दिवा कृत्तिकाः' इत्यादावधिकरणशक्तिप्रधानयोरव्ययोः शक्तिमत्प्रधानत्वस्वीकारेण सामानाधिकरण्यसत्त्वेऽपि 'रात्रौ फाल्गुन्यः' इत्यत्र सामानाधिकरण्यं कथमपि प्रतिपादयितुमशक्यमेवेति तदप्युदाहृतम् ।

अनेदं विचारणीयम्-कालेन सह नक्षत्रयोगश्चन्द्रयोगपूर्वक एवेति चन्द्रयुक्तादित्यस्य ग्रहणं नावश्यकम् । नक्षत्रेण सह चन्द्रमसो योगोऽहोरात्रमात्रम्, किञ्चिन्न्यूनाधिकं वा समयं यावत् अन्येषां ग्रहाणां तु अधिकसमयं यावत्, पृथ्वीकक्षातश्चन्द्रमसः सामीप्यात्, अन्येषां ग्रहणां यथायथमधिकाधिकदूरवृत्तित्वात् । अत एव दैनिकनक्षत्रविचारश्चन्द्रसंबन्धानुसारमेव भवति, इति प्रसिद्धत्वाच्चन्द्रयुक्तनक्षत्रमेव ग्रहीष्यत इति । अत एव पाणिनीये नये एतद्विषयकसूत्रे चन्द्रयुक्तेति न पठ्यते "निक्षत्रेण युक्तः कालः" [पा०सू० ४.२.३.] इति सूत्रे काशिकाकृता कथं पुनर्नक्षत्रेण पुष्यादिना कालो युज्यते । पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि वर्तमानाः पुष्यादिशब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्तीति कथितम् । अयमाशयः-यद्यपि अप्राप्तयोः प्राप्तिरेव योगः इति नित्ययोः काल-नक्षत्रयोर्योगो न युज्यते, तथापि चन्द्र-नक्षत्रयोरव्यापकत्वेन तयोर्योगः सम्भवति, तत्पूर्वकश्च कालेनापि तद्योगः सुवच एवेति । एतद्विषये यदधिकं वक्तव्यं तत् पूर्वसूत्रे एवोक्तम् । पुष्ये पायसमश्नीयादिति । अत्रापि पुष्यादिपदं चन्द्रयुक्तनक्षत्रपरमिति पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्ते काले इत्येवार्थः, विशेषस्य चाप्रयोगः स्पष्ट एव । स्मार्तास्तु प्रकृतप्रयोगे पुष्ययुक्तेन सूर्येण युक्ते काले इत्येवंदृशेषु प्रयोगेषु व्याचक्षते, तन्मते चन्द्रयुक्तग्रहणाभावात् सूर्येणापि युक्तेन नक्षत्रेण युक्ते काले तथाप्रयोगो नानुपपन्नः । **अप्रयुक्त इति किमिति**-तथा च कालविशेषप्रयोगेऽप्रयोगे वा लुबपि भवतीति स्वीक्रियतामिति प्रत्युराशयः । तत्प्रयोगे लुप् नेष्टा, असति चाप्रयुक्तग्रहणे स्यादेवेत्युदाहरणान्येव प्रत्युदाहरणत्वेनोपस्थापयति-**पौषमहः, पौषी रात्रिरित्यादि** । तथा चैष्वपि लुपि पुष्योऽहः, पुष्या रात्रिरिति स्यादिति भावः ॥६।२।६॥

द्वन्द्वादीयः ॥६।२।७॥

चन्द्रयुक्तं यन्नक्षत्रं तद् द्वन्द्वात् तृतीयान्ताद् युक्ते कालेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति ।

राधाऽनुराधाभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तमहः राधाऽनुराधीयमहः । अद्य राधाऽनुराधीयम् । एवं तिष्यपुनर्वसवीया रात्रिः । अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम् ॥७॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्-द्वन्द्वा० । चन्द्रयुक्तात् भात् इति पदद्वयं पूर्वतोऽनुसृतमेव तथा च **सूत्रार्थमाह-चन्द्रयुक्तं यन्नक्षत्रमिति । तद्द्वन्द्वादिति ।** भादित्यनेन द्वन्द्वादित्यस्य सामानाधिकरण्येनान्वये द्वन्द्वस्य भरूपत्वाभावेऽपि भयोर्द्वन्द्वस्य तद्रूपत्वानपायादेवमर्थस्य सुलभत्वात् । राधानुराधाभिरिति-राधा चानुराधे चेति विग्रहे द्वन्द्वे सति राधाऽनुराधा इति । अत्र चान्ये **राधाभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः** काल इत्यर्थेऽण्, तस्य लुपि च राधाः, एवमनुराधा इति संसाध्य ततो द्वन्द्वं कृत्वा, तत ईयप्रत्ययेन राधाऽनुराधीयमिति साधयन्ति । तथा च द्विधा प्रत्ययं विदधति, तन्नावश्यकम्, केवलं नक्षत्रवाचकयोरेव द्वन्द्वे, तस्यैव चन्द्रयुक्तत्वविवक्षायाः राधाऽनुराधाभिश्चन्द्रयुक्ताभिरिति प्रदर्शित-विग्रहवाक्यतोऽवगमात् । **'अद्य राधाऽनुराधीयम्'** इति कालविशेषाप्रयोगेऽपि ईयो भवत्येव, न तु तस्य लुबिति, अप्रयुक्ते लुबिति नेह संबध्यत इत्याशयः । उदाहरणान्तरेऽप्यतिदिशति-एवं **तिष्य-पुनर्वसवीया रात्रिरिति** । तिष्यश्च पुनर्वसू

"Aho Shrutgyanam"

चेति विग्रहे तिष्य-पुनर्वसव इति । तैर्युक्तेन चन्द्रेण युक्तः काल इति विग्रहः स्पष्टमन्यत् ॥६।२।७॥

श्रवणाश्वत्थाभ्याम्यः ॥६।२।८॥

चन्द्रयुक्तनक्षत्रवाचिनः श्रवणशब्दादश्वत्थशब्दाच्च तृतीयान्ताद्युक्ते काले अकारः प्रत्ययो भवति नाम्नि प्रत्ययान्तं चेत् कस्यचित् कालविशेषस्य नाम भवति ।

श्रवणेन चन्द्रयुक्तेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । श्रवणाः पौर्णमासी । श्रवणो मुहूर्तः । अश्वत्थेन चन्द्रयुक्तेन युक्ता अश्वत्था रात्रिः । अश्वत्था पौर्णमासी । अश्वत्थो मुहूर्तः । सत्यपि अन्वर्थयोगे न कालमात्रमेव उच्यते अपि तु कालविशेष एवेति नामत्वम् । नाम्नीति किम् ? श्रावणमहः । श्रावणी रात्रिः । आश्वत्थमहः । आश्वत्थी रात्रिः ॥८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–श्रवणा० । चन्द्रयुक्ताद् भादिति संबध्यते । तस्य श्रवणाश्वत्थाभ्यां सामानाधिकरण्यम् । तथा च सूत्रार्थमाह–**चन्द्रयुक्तनक्षत्रवाचिन** इत्यादिना । श्रवणः श्रवणानक्षत्रम्, अश्वत्थः अश्विनीनक्षत्रम् । ताभ्यां चन्द्रयुक्ताभ्यां युक्ते काले 'अः' प्रत्ययो भवति नाम्नि विषये । विग्रहोदाहरति–**श्रवणेन चन्द्रयुक्तेने**त्यादिना । पूर्णेन मासा चन्द्रमसा युक्ता तिथिः, पूर्णो मासोऽस्यां तिथाविति वा विग्रहे **पौर्णमासी**, निपातनादण्, श्रवणा रात्रिरित्यादौ श्रवणादयः शब्दाः चन्द्रयुक्त-श्रवणयुक्तरूपमेवार्थं कथयन्ति योगमर्यादया, न तु रूढत्वमेषां प्रतीयते इति शङ्कायामाह–**सत्यपि अन्वर्थयोगे** इत्यादि । अनुगतः वाच्येऽर्थे भासमानोऽर्थो यस्य चासौ योगः प्रकृति-प्रत्ययसंबन्धस्तस्मिन् सत्यपि इति सम्बन्धः । तथा च योगार्थमात्रप्रतीतौ सत्यामपीति भावः । अनेदमाकूतम्–यदि योगेन रूढिविरुद्धः कश्चनार्थो बोध्येत तदा रूढिविषयार्थकत्वबोधनाय यत्न आवश्यको भवति । प्रकृते चानुगतो योगार्थ इति तदर्थं यत्नस्य नावश्यकतेति न वक्तव्यम्, यतो नात्र योगार्थमात्रभानमपि तु कालविशेषस्यैवेति । तदर्थं नाम्नि प्रत्ययविधानमावश्यकमिति सिध्यत्येषां शब्दानां नामत्वमिति । एतदेव पदकृत्यप्रदर्शनेन स्फोरयति–**नाम्नीति किमिति । श्रावणमह** इति । श्रवणेन चन्द्रयुक्तेन युक्तमित्यर्थे "चन्द्रयुक्तात् काले" [६.२.६.] इत्यनेनाणि श्रावणमित्येवेष्टं तत्र कालविशेषस्य कस्यचिदप्रतीतेः । नाम्नीत्यस्याभावे तु श्रवणमह इत्येव स्यात् । एवमन्येष्वपि प्रत्युदाहरणेषु योज्यम् । ततश्चैतादृशप्रयोगेष्वस्याप्रवृत्त्यर्थं नाम्नीत्यावश्यकमेवेति भावः ॥६।२।८॥

षष्ठ्याः समूहे ॥६।२।९॥

षष्ठ्यन्तान्नाम्नः समूहेऽर्थे यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति । गोत्रादकञ् वक्ष्यते अचित्तादिकण् प्रतिपदं केदाराण्यश्वेत्येवमादयः । ततोऽन्यदिहोदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

चाषाणां समूहश्चाषम् । एवं काकम्, बाकम्, शौकम्, भैक्षुकम्, वाडवम् । वनस्पतीनां समूहः वानस्पत्यम् । क्रैणम् । पौस्नम् । पञ्चानां कुमाराणां समूहः पञ्चकुमारी, इत्यत्र तु समूहः समाहार एव । स च समासार्थः समासेनैव च गत इति तद्धितेन नोत्पद्यते । यद्युत्पद्येत को दोषः स्यात् ? उत्पन्नस्यापि ह्यस्य 'द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः' [६.४.२४.] इति लुपा भवितव्यम् तथा चाविशेषः नैवम् । 'ङ्यादेर्गौणस्य०' [२.४.९४.] इत्यादिना ङीनिवृत्तिः स्यात् । 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्येवाणादिसिद्धा समूहविवक्षायां तदपवादबाधनार्थो योगः ॥९॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—षष्ठ्याः० । षष्ठीपदं प्रत्ययविशेषवाचकम्, ततश्च *प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणस्य* न्यायसिद्धत्वादाह–**षष्ठ्यन्तान्नाम्न** इति । **यथाविहितमिति**–येभ्यो नामभ्यो विशिष्य ते ते प्रत्यया उक्तास्तेषु त एव भविष्यन्ति । अनुक्तप्रत्ययेभ्यश्चानेन सामान्येन "प्राग्जितादण्" [६.१.१३.] इत्यधिकृतोऽण् भविष्यतीत्यर्थः । तत्र तावद् विशिष्य विहितान् प्रत्ययान् उल्लिखति दिक्प्रदर्शनार्थम्, **गोत्रादकञ् वक्ष्यते** इत्यादिना । तत्र गोत्रादकञ् "गोत्रोक्ष०" [६.२.१२.] इति सूत्रेण विहितः, अचित्तादिकण् "कवचि-हस्त्यचित्ता०" [६.२.१४.] इति सूत्रेण विहितः । इमौ लिङ्गेन प्रत्ययविधेरुदाहरणे । "केदाराण्यश्च" [६.२.१३.] इति प्रतिपदोक्तप्रत्ययोदाहरणम् । एवमादय इत्युक्तया दिक्प्रदर्शनमिदमिति सूचितम् । तथा च येभ्योऽन्यः प्रत्ययो नोक्तस्तेभ्योऽनेन सामान्यविहितोऽण् विधीयत इति भावः तदाह—**ततोऽन्यदिहोदाहरणमिति** । उदाहरति–**चाषाणां समूह** इति, चाषः पक्षिविशेषः नीलकण्ठ

"Aho Shrutgyanam"

इति प्रसिद्धः । अणि, "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इत्यलोपे चाषमिति । समूहे लिङ्गविशेषानवगमात् सामान्ये नपुंसकम् । अन्यत्राप्यतिदिशति-एवं काकं बाकमित्यादि । काकानां समूहः, बकानां समूहः, शुकानां समूहः, भिक्षुकाणां समूहः इत्यादिर्विग्रहः । वनस्पतीनां समूह इत्यर्थे तु "अनिदम्यणपवादे" [६.१.१५.] इति ञ्यः । स्त्रीणां समूहः, पुंसां समूह इति विग्रहे "प्रागूवतः स्त्रीपुंसात्" [६.१.२५.] इति क्रमेण नञ् स्नञ् च भवत इति, स्त्रैणम्, पौंस्नम् इति । पञ्चानां कुमाराणां समूह इत्येवमादिषु विग्रहेषु समासे सत्ययं प्रत्ययोऽपि स्यान्नवेति शङ्कायां निर्णयार्थमाह-पञ्चकुमारीत्यत्र त्वित्यादि ।

अयमाशयः-अत्र पञ्चन्-कुमारशब्दयोः समासं विनैकनामत्वमेकार्थीभावश्च नास्तीति सामर्थ्याभावात् प्रत्ययो नोत्पद्येतेति पूर्वं "संख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्ययम्" [३.१.९९.] इति समासे, द्विगोः स्त्रीत्वे ङ्यां च पञ्चकुमारीति जाते समासेनैव समूहार्थस्योक्तत्वाद् *उक्तार्थानामप्रयोगः* इति न्यायेन न ततः समूहार्थे प्रत्ययस्य प्राप्तिः । प्रत्ययो ह्यर्थप्रत्यायनाय विधीयते इति तदर्थस्य समासेनैव प्रतीतत्वान्न सूत्रप्रवृत्तिः शक्या कर्तुम्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात् । नन्वस्तु प्रत्ययः, उत्पन्नस्यापि तस्य लुपि सत्यां रूपे भेदाभाव इति शङ्कते-यद्युत्पद्येत को दोषः स्यादित्यादिना । प्रत्ययोत्पत्तियोग्यताभावमजानानस्यैवायं प्रश्नः ।* तुष्यतु दुर्जनः* इति न्यायेन योग्यताभावे पूर्वं प्रतिपादितेऽपि समाधानान्तरमेवाह-मैवमित्यादिदोषमाह-ङीनिवृत्तिः स्यादिति ।

अयमाशयः-प्रत्यये सति तस्य च द्विगोरनपत्ये "यस्वरादेर्लुबद्विः" [६.१.४.] इति लुपि सत्यां "ङ्यादेर्गौणस्याक्रिप०" [२.४.९४.] इति ङीलुपि पञ्चकुमारमित्यनिष्टं रूपमापद्येतेति । ततश्च समाहारसमासः समूहार्थप्रत्ययस्य निवर्त्तक इत्येव स्वीकरणीयमिति भावः । अत्रेदं विचारणीयम्-पञ्चानां कुमाराणां समूह इति विग्रहं कृत्वा ङीनिवृत्त्यभिधानं युज्यते नवेति । पञ्चकुमारेति द्विगोः समाहाराद् ङीर्विधीयते, न च समाहारोऽत्र गौणः, किञ्चिन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वं हि गौणत्वम्, तच्च न समुदायस्य, तस्य कमपि प्रतिविशेषणत्वाभावात् । यथा पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्येत्यर्थे इन्द्राणीशब्दस्य तद्धितार्थं प्रति गौणत्वम्, अत्र तु न तथेति गौणत्वाभावात् ङीलुक् न प्राप्नोति । किञ्च ङीर्न स्याद् इत्यापि कथयितुं न युज्यते, किन्तु पञ्चानां कुमारीणां समूह इत्यर्थे पञ्चकुमारि इत्यत्र ङीनिवृत्तिः स्यादित्यत्र ग्रन्थकृतां तात्पर्यम्, तथैव च पाठोऽपि स्यात्-लेखकप्रमादात् पञ्चानां कुमाराणामिति विग्रहो मूले दृष्टः इति संभावयामः ।

तथा च पञ्चानां कुमाराणामिति विग्रहप्रदर्शनं संदिग्धम् । पञ्चानां कुमारीणामिति विग्रहे च द्विगोः समूहेऽणि, तस्य पूर्वोक्तरीत्या लुपि सत्यां तद्धितप्रत्ययस्य लुप्तत्वाद् ङ्या अपि लुपि पञ्चकुमार इत्यनिष्टापत्तिः । न च पुनः "द्विगोः समाहारात्" [२.४.२२.] इति ङीः स्यादिति वाच्यम्, 'पञ्चकुमार' इत्यस्य द्विगुत्वाभावात् । द्विगुसंज्ञा हि पञ्चकुमारीत्यस्य जाता, न पञ्चकुमारेत्यस्य । अन्यथा पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्येति विग्रहे पञ्चेन्द्र इत्यादावपि दोषापत्तेः । अत एव "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च [पा० सू० २.१.५१] इति सूत्रे महाभाष्ये समाहारग्रहण-खण्डनप्रबन्धेऽन्ते, पञ्चकुमारि, दशकुमारि इत्यादौ "लुक् तद्धितलुकि" [पा० सू० १.२.२३.] इति ङीपो लुक् प्रसज्येतेत्युक्तम् इत्यास्तां तावत् ।

ननु येभ्योऽत्र विशिष्य प्रत्यय उक्तः, तद्विधायकसूत्रेष्वेव षष्ठ्याः समूहे इत्येवमर्थः पठ्यताम्, अनुक्तप्रत्ययेभ्यो नाम्भ्यः समूहेऽर्थेऽपि "तस्येदम्" [६.३.१६०.] इति सूत्रेणैवाण्सिद्धेरिदं पृथगसूत्रं किमर्थमारभ्यते, न च तत् सूत्रं शेषाधिकारीयम्, इत्युक्तादन्येष्वेवार्थेषु तेन प्रत्ययः स्यात्, समूहार्थश्च पूर्वमेवोक्त इति तस्मिन्नर्थे कथं तेन प्रत्ययः सिद्धयेतेति वाच्यम्, येभ्यः शब्देभ्यः समूहेऽर्थे प्रत्यया उक्तास्तत्सम्बद्धापत्यार्थस्य शेषत्वानपायात् इति चेदत्रोच्यते-तदपवादबाधनार्थो योग इति । तस्य तस्येदमिति सूत्रस्य येऽपवादा ईयादयस्तद्बाधनार्थो योग इत्यर्थः । अयमाशयः-चाप-काकादिशब्दानां दुःसंज्ञकत्वात् "दोरीयः" [६.३.३२.] इत्यनेन समूहार्थे तस्येदमित्यस्य बाधने ईयः स्यात् इति चार्षीयम्, कार्कीयमित्यादि रूपं स्यात् इति तद्बाधनार्थमत्र सामान्यसूत्रेणाणो विधानमावश्यकमिति ॥६।२।९॥

भिक्षादेः ॥६।२।१०॥

भिक्षादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः समूहेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गार्भिणम् । यौवतम् । अचित्तेकणो बाधनार्थं वचनम् ।

"Aho Shrutgyanam"

औलुक्यशब्दस्य गोत्राकञो बाधनार्थः पाठः। युवतेरण् सिद्ध एव। पुंवद्भावबाधनार्थस्तु पाठः। अन्ये तु युवतिशब्दं न पठन्ति। तन्मते पुंवद्भावे सति युवतीनां समूहो यौवनमित्येव भवति।

"सुरूपमतिनेपथ्यं कलाकुशलयौवनम्।
यस्य पुण्यकृतः प्रैष्यं सफलं तस्य यौवनम्॥"

भिक्षा भिक्षशब्दोऽकारान्तोऽपीत्येके। गर्भिणी युवति क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मन् वर्मन् चर्मिन् वर्मिन् पद्धति सहस्र अथर्वन् दक्षिणा खण्डिक युग वरत्रा युगवरत्रा हल बन्ध हलबन्ध औलुक्य इति, भिक्षादिः ॥१०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-भिक्षादेः०। षष्ठ्याः समूहे इति प्रकृतम्। षष्ठ्या इति च भिक्षादेर्विशेषणम्। प्रत्ययत्वात् तदन्तविधिरिति षष्ठयन्तेभ्यो भिक्षादिभ्य इत्यादयर्थः सम्पन्नः। उदाहरति-भिक्षाणां समूहो भैक्षमिति। अणि सति आदिस्वरवृद्धौ आकारलोपे सिद्धम्। ननु पूर्वेण सामान्यसूत्रेणैव भिक्षादेरण् सिद्ध एवेति विशिष्यसूत्रविधानं व्यर्थमिति चेदत्राह-अचित्तेकणो बाधनार्थं वचनमिति। अत्र गणे प्रायोऽचित्तवाचका एव शब्दाः पठिताः, तेभ्योऽचित्तनिमित्तक इकण् मा भूदित्येतदर्थं विशिष्य भिक्षादिभ्योऽण् विधानमिति भावः। नन्वस्तु येभ्योऽचित्तलक्षण इकण् प्राप्तस्तेषामिह पाठः सार्थकः, युवतिशब्दस्तु नाचित्तवाचकः, इति तस्मादौत्सर्गिक एवाण् भविष्यतीति तत्पाठोऽत्र व्यर्थ एवेति चेदत्राह-युवतेरण् सिद्ध एव, पुंवद्भावबाधनार्थस्तु पाठ इति। पूर्वसूत्रेणाणि सति "जातेश्च'णि'तद्धितय०" [३.२.५१.] इति पुंवद्भावे यौवनमिति रूपं स्यात्, तन्मा भूदित्यनेन सूत्रेण विशिष्याण् विहितः। तद्विधानस्य फलान्तराभावात् पुंवद्भावबाधनार्थत्व सिद्धयतीति भावः।

तन्त्रान्तरे युवतिशब्दोऽत्र गणे न पठ्यते इति तन्मते विशेषमाह-अन्ये तु युवतिशब्दं न पठन्तीति। पाणिनीये नये च भिक्षादेषु सन्नपि युवतिशब्दपाठो महाभाष्यकृता प्रत्याख्यातः, तथा च तन्मतेऽप्यत्र पुंवद्भावः स्यादेव। वर्तिककृता च युवतिशब्दपाठस्य पुंवद्भावबाधनार्थत्वमेवाभिप्रेत्य यौवतमित्यपि रूपमिति स्वीकृतम्। तथा चाचार्यद्वयप्रामाण्याद् यौवनं, यौवतमिति रूपद्वयमपि साध्विति। शब्दकौस्तुभकृता च भाष्यप्रामाण्यस्य बलवत्त्वेन युवतिशब्दात् समूहेऽर्थेऽणि यौवनमित्येव रूपम्। यौवतमित्यस्यापि शिष्टप्रयोगे सति यौतेः शत्रन्तात् स्त्रियां युवतीशब्दं संसाध्य ततः समूहेऽणि यौवतमित्यस्य सिद्धिः प्रतिपादिता। येन केनचिद् रीत्या स्वमतेऽपि रूपद्वयसिद्धिरेष्टव्यैव। अन्यथा निर्दिश्यमानशिष्टप्रयोगः कथं व्याख्येयः स्यात्? यौवनमिति क्व प्रयुक्तमिति दर्शयति-सुरूपमतिनेपथ्यमित्यादिना। यस्य पुण्यकृतः प्रैष्यम्-सुरूपम् अतिनेपथ्यम्-कलाकुशलयौवनमस्ति, तस्य यौवनं सफलमिति सम्बन्धः। प्रैष्यमित्यस्य प्रकर्षेणेच्छाविषयीभूतमित्यर्थः। इच्छार्थकात् इषुधातोः ण्ये एष्यमिति, प्रकृष्टमेष्यम्-प्रैष्यम् "प्रस्यै०" [१.२.१४.] इति ऐत्वम् सुरूपम् — सुन्दरम्, अतिनेपथ्यम्— अतिशयितवेषरचनायुक्तम्-कलाकुशलयौवनम्— कलासु निपुणो युवतिसभूहोऽस्ति, तस्य यौवनम्-यूनो भावः, सफलम्, फलेन तदवस्थायामभिलषणीयेनार्थेन युक्तम् अस्तीत्यर्थः। अत्र च समूहार्थे यौवनशब्दस्य प्रयोगः स्पष्ट एवेति भावः। गणं निर्दिशति—भिक्षा इत्यादिना। अत्रैव मतान्तरमाह-भिक्षशब्दऽकारान्तोऽपीति। स च भिक्षुकार्थकः स्यात्। भिक्षाशब्दश्च भिक्षुक्रियापरः, तत्क्रिययेष्यमाणवस्तुपरश्च। गर्भिणीशब्दश्चेह—मेघमाला—शालिपङ्क्त्यादिअचित्तवस्तुपरः, तेषामपि जलशस्यादिभिर्गर्भभूतैर्योगात् गर्भयुक्तस्त्रीपरस्य चौत्सर्गिकेनाणैव रूपसिद्धिः। अचित्तवाचिनश्चेकण् प्राप्तस्तद्बाधनार्थमिह पाठस्यावश्यकत्वम्। अन्ये च सर्वेऽचित्तवचना एव पठिता इति॥ ६।२।१०॥

क्षुद्रक-मालवात् सेनानाम्नि ॥६।२।११॥

क्षुद्रक-मालवशब्दात् षष्ठ्यन्तात् समूहेऽर्थे यथाविहितमणप्रत्ययो भवति सेनाया नाम्नि संज्ञायाम्।

क्षुद्रकाश्च मालवाश्च क्षुद्रक-मालवास्तेषां समूहः क्षौद्रकमालवी एवंनाम्नी काचित् सेना। सेनानाम्नीति किम्? क्षौद्रक-मालवकमन्यत्। गोत्राकञ्बाधनार्थं वचनम्। समूहाधिकारे हि तदन्तस्यापि ग्रहणम्। 'धेनोरनञः' [६.१.१५.] इति प्रतिषेधात् ॥११॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—क्षुद्रक०। अत्र क्षुद्रकमालवकयोः समाहारेण निर्देशेऽपि न प्रत्येकं प्रत्ययविधिरपि तु समूहादेवेति वृत्तौ स्पष्टयन्नाह—क्षुद्रक-मालवशब्दादिति। उत्सर्गतः प्रत्ययस्य सिद्धत्वेऽणि सेनानाम्न्येवाण

"Aho Shrutgyanam"

अन्यत्राकञ् इति विषयविभागार्थं सूत्रम् । प्रयोजनान्तरं च स्वयमेव वक्ष्यति । विगृह्योदाहरति—क्षुद्रकाश्च मालवाश्चेत्यादि । अणि सति आदिस्वरवृद्धौ, स्त्रियां **क्षौद्रक—मालवी**ति । नामत्वं स्पष्टयति—**एवंनामा कश्चित् सेने**ति ।

पदकृत्यमाह—**सेनानाम्नीति किमिति ?** अर्थविशेषग्रहणप्रयोजनं किमिति प्रभुः। अन्यत्र मा भूदित्युत्तरयति—**क्षौद्रक-मालवकमन्यत्** इति । सेनानामतो **अन्यत्र गोत्रलक्षणोऽकञ्** एव स्यादित्येतदर्थमेवार्थविशेषोपादनमिति भावः । ननु अकञि सामान्यतो विहिते, स सेनानाम्न्यपि प्राप्नोत्येवेति चेदत्राह—**गोत्राकञ्बाधनार्थं वचनमि**ति । सेनानाम्नि गोत्रलक्षणोऽकञ् मा भूदित्येतदर्थं सूत्रमिदमिति भावः । ननु क्षुद्रक-मालवा नैकं गोत्रम् , किन्तु गोत्रद्वयमिति तस्य स्वरूपतो गोत्रत्वाभावात् कथं गोत्राकञः प्राप्तिरिति चेदत्राह—**समूहाधिकारे हि तदन्तस्यापि ग्रहणमि**ति । समूहाधिकारे " षष्ठ्याः समूहे"[६.२.९.] इत्यतः प्राक्प्रक्षेप्रकणे-तदन्तादपि सूत्रगृहीतनामान्तादपि प्रत्ययो विधीयते । ततश्च मालवस्य गोत्रत्वेन तदन्तात् क्षुद्रक-मालवान्नाम्नोऽपि गोत्रलक्षणोऽकञ् प्राप्त इति भावः । ननु प्रत्ययविधौ तदन्तविधिः प्रतिषिद्ध इति कथं गोत्रान्तात् प्रत्यय इति चेदत्राह—"**धेनोरनञः**" [६.२.१८.] **इति प्रतिषेधादि**ति । ' धेनोरनञः ' इति सूत्रेण धेनुशब्दात् समूहे इकणूप्रत्ययो नञः परत्वे प्रतिषिद्ध्यते । तदन्तात् प्रत्ययाप्राप्तौ च नञः परात् तस्मात् प्रत्ययस्य प्राप्तिरेव नेति प्रतिषेधोऽनर्थकः सन् समूहाधिकारे तदन्तविधिं ज्ञापयतीति भावः । तत्फलं च क्षौद्रक-मालवकमित्यादि तत्रैव वक्ष्यति । सति च समूहाधिकारे तदन्तविधौ आधैनवमित्यादौ इकणोऽभावार्थम् ' अनञः' इत्यस्य चारितार्थ्यम् ॥६।२।११॥

गोत्रोक्ष-वत्सोष्ट्र-वृद्धाजोरभ्र-मनुष्य-राजन्य-राजपुत्रादकञ् ॥६।२।१२॥

स्वापत्यसन्तानस्य स्वव्यपदेशकारिणः प्रथमपुरुषस्यापत्यं गोत्रम् । गोत्रप्रत्ययान्तेभ्य उक्षादिभ्यश्च समूहेऽकञ्प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः ।

गोत्र, औपगवानां समूहः औपगवकम् । कापटवकम् । गार्गकम् । वात्सकम् । गार्ग्यायणकम् । वात्स्यायनकम् । उक्षन् , औक्षकम् । वत्स, वात्सकम् । उष्ट्र, औष्ट्रकम् । वृद्ध, वार्धकम् । अज, आजकम् । उरभ्र, औरभ्रकम् । मनुष्य, मानुष्यकम् । राजन् , राजकम् । राजन्य, राजन्यकम् । राजपुत्र, राजपुत्रकम् ॥१२॥

शब्दमहोदधि न्यासानुसन्धानम्—गोत्रो०। गोत्रशब्दो व्याकरणान्तरे ' वृद्धे (स्वसमयप्रसिद्धे) परिभाषितः , लोके च प्रवराध्याये परमपुरुषस्य गोत्रपदेन व्यवहार एवमादिरूपेणानेकार्थक इति प्रकृते किं गोत्रमिति संशये आह—**स्वापत्यसंतानस्येत्यादि** । स्वं गोत्रत्वेन प्रसिद्धः पुरुषः तदपत्यानां संतानस्य परम्परायाः स्वेन परमपुरुषेण यो व्यपदेशः व्यवहारः तं करोतीति स्वव्यपदेशकारी तस्य प्रथमपुरुषस्य बीजित्वेन ख्यातस्यार्थं या काचन सततिः गोत्रम् , इत्याख्यायते तदेवेह ग्राह्यमिति शेषः ।

अयमाशयः—कुलं यन्नाम्ना प्रथते तस्यापत्यमेवात्र गोत्रशब्देन गृह्यत इति । एतदेव च प्रवराध्यायप्रसिद्धं लौकिकं गोत्रमित्युच्यते । अपत्यविशेषस्य या गोत्रसंज्ञा पाणिनीयनये कृता—" अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् " [पा० ४....] इति सूत्रेण सा च स्वसमये वृद्धसंज्ञा स्थानीयेति तस्या न ग्रहणमिति भावः । **गोत्रवाचकः** शब्दश्च गोत्रप्रत्ययान्त एव प्रयोक्तव्यो भवति इति वैयाकरणसमयः **अतश्च** सूत्रे गोत्रपदं गोत्रप्रत्ययान्तपरमिति सूचयन्नाह—**गोत्रप्रत्ययान्तेभ्य उक्षादिभ्यश्चे**ति । उक्षादयश्च सूत्रे पठिताः अग्रे च प्रतिप्रयोगं प्रदर्शिताः । **अणोऽपवाद इति**— ' षष्ठ्याः समूहे " [६.२.९.] इति सामान्यसूत्रविहितस्याऽणो विशेषविहितत्वादयमपवाद इति भावः । गोत्रप्रत्ययान्तानुदाहर्तुमवतारयति— **गोत्र** इति । उपगुः प्रथमपुरुषः, तस्य गोत्रापत्यानि औपगवाः, तेषां समूहेऽर्थेऽनेनाकञि **औपगवकमि**ति । कापटेः गोत्रापत्यानि कापटवाः तेषां समूहः **कापटवकम्** । गर्गस्य गोत्रापत्यानि गर्गाः तेषां समूहः **गार्गकम्** । वत्सस्य गोत्रापत्यानि वत्साः तेषां समूह **वात्सकम्** । गार्ग्य वात्स्यौ गर्गादित्वाद् यञन्तौ ततो यूनि प्रत्यये गार्ग्यायणाः वात्स्यायना इति । तेषां समूह इत्यर्थे चाकञि विवक्षिते " वायनणार्यानेञोः " [६.१.१३८.] इत्यायनणो वा लुपि गार्गकम्, वात्सकमिति, लुबभावे च गार्ग्यायणकम् , वात्स्यायनकमिति । उक्षन् शब्दस्योदाहरति—**उक्षन्** इति प्रकृत्य । उक्षणां समूह इत्यर्थेऽनेनाकञि, अन्त्यस्वरादिलोपे आदिस्वरवृद्धौ **औक्षकमिति** । वत्सशब्दो गोत्रभिन्नार्थकः तरुणवृषपरः । वत्सानां

"Aho Shrutgyanam"

समूह इति विग्रहे **वात्सकमिति** । एवम् **औष्ट्रकमित्यादि** । मनुष्य-राजन्यशब्दौ गोत्रप्रत्ययान्ताविति मते तयोरिह ग्रहणमनावश्यकमेव गोत्रत्वेनैव सिद्धेः । ततश्चौणादिकावेतौ ब्राह्मावितिं पृथग्गृहीतौ । तेषां तेषां समूहः **मानुष्यकम्, राजन्यकम्** ॥६।२।१२॥

केदाराण्ण्यश्च ॥६।२।१३॥

केदारशब्दात् समूहेऽर्थे ण्यो-ऽकञ् च प्रत्ययौ भवतः । अचित्तेकणोऽपवादः ।

कैदार्यम् । कैदारकम् ॥१३॥

शं० मं० न्यासानुसन्धानम् — केदारा० । केदारशब्दः क्षेत्रवाची । चकारेण पूर्वोक्तोऽकञ् समुच्चीयते, तदाह—**ण्योऽकञ् चेति** । अचित्तवाचित्वेन केदारशब्दादग्रे विहित इकण् प्राप्तस्तद्बाधनार्थमनेनेदं प्रत्ययद्वयं विधीयत इत्याह—**अचित्तेकणोऽपवाद इति** प्रतिपदविधित्वादिति भावः । यदि चेहेकण् प्रवर्तेत तर्हि तस्य नित्यत्वेनास्य प्रवृत्तिर्न स्यात् इति तद्बाधनार्थमस्य पूर्वं विधानमावश्यकम् । विहितयोश्चानेन ण्याकञोः परसूत्रे चकारेण केदारस्यापि समुच्चयात् सोऽपि भवतीति रूपत्रयं सिध्यति । केदारणां समूह इत्यर्थे **कैदार्यम्, कैदारकम्** इति परत्र कैदारिकमिति च ॥६।२।१३॥

कवचि-हस्त्यचित्ताच्चेकण् ॥६।२।१४॥

कवचिन् हस्तिन् इत्येताभ्यामचित्तवाचिभ्यः केदाराच्च समूहे इकणप्रत्ययो भवति ।

कवचान्येषां सन्तीति कवचिनः, तेषां समूहः कावचिकम् । हस्तिनां लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् हस्तिनीनां वा समूहः हास्तिकम् । अचित्तात् आपूपिकम् । शाष्कुलिकम् । केदारात् कैदारिकम् । एवं केदारस्य त्रैरूप्यं भवति । ण्याकञ्भ्यां बाधा मा भूदिति केदारादिकण्विधानम् ॥१४॥

शं०मं० न्यासानुसन्धानम्—कवचि० । चकारेण पूर्वसूत्रोक्तः केदारशब्दो गृह्यते तथा च सूत्रार्थमाह—**कवचिन् हस्तिन् इत्येताभ्यामित्यादिना** । अप्राणीत्यपहायाचित्तेति कथनात्—अद्भिर्विना ग्लायमानानां तृण-वृक्षादीनां संग्रहो बोध्यः । तेषामपि प्राणित्वेनाप्राणीति पर्युदासे सति प्रतिषेधप्रसङ्गात् । अचित्तेति कथने चान्तःकरणविशिष्टत्वाभावस्य तेष्वपि सत्त्वेन तेषामपि संग्रहो भवति । कवचिन्शब्देन हस्तिशब्देनेव किमपि रूढं वस्तु न गृह्यतेऽपि तु योगमर्यादया तेभ्य एवार्थ इति सूचयितुं तं व्युत्पादयति **कवचानि सन्त्येषामिति** । कवचं वारबाणः मर्मरक्षकमङ्गावरणम् । तद् येषामस्ति ते सर्वेऽपि कवचिनः न तु ' कञ्चुकिन् 'शब्दादिवदयं शब्दो रूढ इति भावः । हस्तिन्शब्दश्च व्युत्पन्नोऽपि प्राणिविशेषे रूढ इति हस्तावेषां स्तः, ते हस्तिनः न कथ्यन्ते । कवचिन्-हस्तिन्शब्दाभ्यामिकणि आदिस्वरवृद्धौ, अन्त्यस्वरादिलोपे **कावचिकम्, हास्तिकमिति** । कवचित्वस्य पुरुषे एव प्रसिद्धत्वात् तस्य (कवचिन्शब्दस्य) स्त्रियामप्रवृत्तेः अचित्तवाचकस्य विशिष्य ग्रहणाभावात्, केदारस्य स्त्रीत्वाभावात्, हस्तिशब्दमात्रविषये विशेषमाह—**लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् हस्तिनीनां वेति** । अयं च न्यायः— * नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् * इतिरूपः नामसामान्यग्रहणे तद्विशेषग्रहणे च प्रवर्तते इति प्रपञ्चितमन्यत्र । अचित्तवाचिन उदाहर्तुं प्रकुरुते **अचित्तादिति** । अपूपानां समूह आपूपिकम् शष्कुलीनां समूहः शाष्कुलिकम् । केदाराणां समूहः इत्यर्थे पूर्वं रूपद्वयस्योक्तत्वेनाह—**एवं केदारस्य त्रैरूप्यं भवतीति** । त्रीणि रूपाण्येव त्रैरूप्यम् " भेषजादिभ्यष्ठण् " [७.२.१६४.] इति स्वार्थे ठण् । अचित्तत्वेनैव सिद्धे केदारस्येह पृथग्ग्रहणं किमर्थमित्याशङ्कायामाह —**ण्याकञ्भ्यां बाधा मा भूदिति** । पूर्वसूत्रेण केदारशब्दाण्ण्याकञौ विशिष्यविहिताविति तौ सामान्यविहितमिकणं मा बाधिष्टामिति, ततः (केदारात्) पृथगेवेकण् विहित इति भावः ॥६।२।१४॥

धेनोरनञः ॥६।२।१५॥

धेनुशब्दात् समूहे इकणप्रत्ययो भवति, न चेत् स धेनुशब्दो नञः परो भवति ।

धेनूनां समूहो धैनुकम् । अनञ इति किम् ? अधेनूनां समूह आधेनवम् । उत्सादित्वादञ् ' धेनोरनञः ' [६.१.१५.] इति प्रतिषेधो लिङ्गम्, समूहे तदन्तस्यापि भवतीति, तेन क्षौद्रकमालवकम्, ब्राह्मणराजन्यकम्, वानरहस्तिकम् । गौधेनुकम् ॥१५॥

शं० मं० न्यासानुसन्धानम्—धेनो० । नञः परस्य धेनुशब्दस्य पर्युदासोऽनर्थकः प्रत्ययविधौ तदन्तविधेरभावस्य सिद्धान्तितत्वादिति शङ्कते—**अनञः इति किमिति अधेनूनां समूह इति** । ननु न धेनव अधेनवः इति

समासेन धेनुभिन्नं सकलं जगदेवाधेनुपदवाच्यमिति, तेषां समूहस्य व्यावर्तकत्वेन किमर्थोऽयं प्रयोग इति चेत्, सत्यम्, *नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे* इति न्यायेन 'धेनुर्नवप्रसूतिका' इति कोशान्नवप्रसवविशिष्टा पशुजातिरधेनुपदवाच्येति, यः चिरप्रसूतानां गवां महिष्यादीनां वा समूहः स एवाधेनुपदवाच्यः स्यादिति अधेनुपदस्य नवप्रसूतगव्यादिव्यावर्त्तकत्वस्य स्फुटत्वम् । कोऽत्र प्रत्यय इत्याह—**उत्सादित्वादञ्** इति । उत्सादिगणे धेनुशब्दस्य पाठात् ततः प्राग्जितीयेष्वर्थेषु सर्वत्र स एव प्रत्ययो भवतीति अधेनुशब्दादपि स प्रत्ययः इत्यर्थः । ननूत्सादौ धेनुशब्द एव पठितो नाधेनुशब्द इति ततः कथमसौ प्रत्यय इति चेन्न, "वष्कयादसमासे" [६.१.२०.] इति सूत्रेऽसमासग्रहणेन तदन्तविधेर्ज्ञापनात् । तदन्तविध्यभावे हि सौवष्कयिरित्यादौ प्रत्ययस्य प्राप्तिरेव नेति समासपर्युदासस्यानर्थक्यमेव स्यात् । स च पर्युदासः प्रकृतप्रकरणे प्रत्ययविधावपि तदन्तग्रहणं ज्ञापयति ।

ननु अधेनुशब्दे धेनुशब्दत्वाभावादेव प्रत्ययाप्राप्तिरिति, अनञ इति निषेधस्यानर्थक्यमेवेति चेदत्राह —**'धेनोरनञः' इति प्रतिषेधो लिङ्गम्, समूहे तदन्तस्यापि ग्रहणं भवती**ति । अनेनैव प्रतिषेधेन प्रकृतप्रकरणेऽपि तदन्तविधिर्विज्ञायत इति भावः । एतावता स्वांशे चारितार्थ्ये सत्यपि फलान्तराभावेन ज्ञापनस्य वैयर्थ्यमेवेति शङ्कायां फलान्तरमप्याह—**तेन क्षौद्रकमालव्यकमि**त्यादि । सेनानाम्नोऽन्यत्र गोत्रलक्षणोऽकञ् गोत्रान्तादपि सिद्धः । ब्राह्मणराजन्यकमित्यत्र राजन्यलक्षणोऽकञ् सिद्धः । वानरहास्तिकमित्यत्र हस्तिलक्षण इकण् गोधेनुकमित्यत्र धेनुलक्षण इकण् च सिद्ध इति भावः । आधेनवमित्यत्र "अनुशतिकादीनाम्" [७.४.२७.] इत्युभयपदवृद्धिः । **गोधेनुकमित्यत्रादिस्वरवृद्धिमात्रम्**—तस्यानुशतिकादित्वाभावात् ॥६.२.१५.॥

ब्राह्मण-माणव-वाडवाद्यः ॥६।२।१६॥

ब्राह्मण-माणव-वाडव इत्येतेभ्यः समूहे यः प्रत्ययो भवति ।

ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाडव्यम् ॥१६॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—ब्राह्मण० । ब्राह्मणानां समूहः, माणवानां समूहः, वाडवानां समूह इति विग्रहेषु ब्राह्मण्यम्, माणव्यम्, वाडव्यमित्येतत् स्पष्टम् ॥६.२.१६॥

गणिकाया ण्यः ॥६।२।१७॥

गणिकाशब्दात् समूहे ण्यः प्रत्ययो भवति । गाणिक्यम् । ब्राह्मणादीनां यविधानं पुंवद्भावार्थम् ॥

ब्राह्मणाः प्रकृता अस्यां यात्रायां 'तयोः समूहवच्च बहुषु' [७.३.३.] इति यः प्रत्ययः । ब्राह्मण्या यात्रा यस्य स ब्राह्मण्ययात्रः । माणव्ययात्रः । वाडव्ययात्रः । ण्ये हि पुंवद्भावो न स्याद् यथा गाणिक्यायात्रः ॥१७॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—गणिकायाः० । गणिकानां समूहः इति बिग्रहे गाणिक्यमिति । ननु गणिकाशब्दस्यादिस्वरवृद्ध्यर्थं ततो ण्यविधानस्यावश्यकत्वेन ब्राह्मण-माणव-वाडवेभ्योऽपि ण्य एव विधीयतामिति प्रत्ययद्वयविधानार्थं किमिति योगद्वयं क्रियते इति चेदत्राह—**ब्राह्मणादीनां यविधानं पुंवद्भावार्थमि**ति । ण्ये वृद्धिनिमित्तो णकारोऽस्ति, इति ण्यान्तस्य स्त्रीवाचकस्य बहुव्रीह्यादौ "परतः स्त्रीपुंवत् [३.२.४९.] इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुः" [३.२.५५.] इति पुंवद्भावो निषिध्येत, इति ब्राह्मणादिभ्यो ण्यविधाने तदन्तस्य स्त्रालिङ्गस्य बहुव्रीहौ पुंवद्भावो न स्यात्, इष्यते च पुंवद्भावः इति तेभ्यः पृथग् यविधानस्यावश्यकत्वमिति भावः । ननु समूहार्थप्रत्ययान्तस्य स्त्रीत्वमेवाप्रसिद्धमिति तादृशमुदाहरणमेव दुर्लभमिति किं तदर्थं पृथग्योगविधानमिति चेदत्राह—**ब्राह्मणाः प्रकृता यस्यां यात्रायामि**त्यादि । प्राचुर्यार्थे बहुर्थात् समूहार्थवत् प्रत्ययविधानेन यदि ब्राह्मणादिशब्देभ्यः समूहे यो विधीयते तर्हि प्रकृतार्थे (प्राचुर्यार्थे)ऽपि स एव भवतीति, तदन्तस्य तत्र यात्रावाचकत्वेन स्त्रीत्वमिति स्त्रियां वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्यादिशब्दस्य यात्रया सह बहुव्रीहिसमासे पुंवद्भावनिषेधाभावाद् ब्राह्मण्ययात्र इत्यादयः प्रयोगाः सम्पद्यन्ते, तदर्थं तेभ्यो यविधानमावश्यकम् । ण्ये विहिते तु पुंवद्भावो न स्यात् । यथा-गणिकाः प्रकृता यस्यां यात्रायां सा गाणिक्या, पूर्ववत् "तयोः समूहवच्च बहुषु" [७.३.३.] इति ण्ये सिद्ध्यति । सा यात्रा यस्येत्यर्थे च बहुव्रीहौ पुंवद्भावो न भवति इति गाणिक्यायात्र इति भवति । तथा च फले विशेषस्य सत्त्वेन पृथग्योगः सार्थकः ॥६।२।१७॥

"Aho Shrutgyanam"

केशाद् वा ॥६।२।१८॥

केशशब्दात् समूहे ण्यः प्रत्ययो वा भवति । केशानां समूहः कैश्यम्, कैशिकम् । अचित्तलक्षण इकण् ॥१८॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्–केशा०। ण्य इति पूर्वतोऽनुवृत्तम्। ण्ये कैश्यमिति, तदभावे च कैशिमिति। तत्र कः प्रत्यय इति चेदत्राह अचित्तलक्षण इकण् इति। "क्वचि-हस्त्यचित्ताच्चेकण्" [६.२.१४.] इति सूत्रेणेत्यर्थः॥ ॥६।२।१८॥

वाऽश्वादीयः ॥६।२।१९॥

अश्वशब्दात् समूहे ईयः प्रत्ययो वा भवति । अश्वीयम्, आश्वम् ॥१९॥

शं०म० न्यासानुसन्धानम्–वाश्वा०। ईयेऽश्वानां समूह आश्वीयम्, तदभावे च औत्सर्गिकेऽणि आश्वमिति ॥ ॥६।२।१९॥

पर्श्वा ड्वण् ॥६।२।२०॥

पर्शुशब्दात् समूहे ड्वणप्रत्ययो भवति । इकणोऽपवादः ।

पर्शूनां समूहः पार्श्वम् । डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ॥२०॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्-पर्श्वा०। पार्श्वास्थिवाचकात् समूहे डित् णिच्च वः प्रत्ययो विधीयते। तत्र णित्त्वस्य फलं प्रसिद्धमेवादिस्वरवृद्धिरूपम्, डित्त्वस्य फलं किमिति जिज्ञासायामाह-डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थमिति। "डित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इति सूत्रेणोकारस्य लोपो यथा स्यादित्येवमिति भावः ॥६।२।२०॥

ईनोऽहः क्रतौ ॥६।२।२१॥

अहनशब्दात् समूहे क्रतौ वाच्ये ईनः प्रत्ययो भवति ।

अह्नां समूहोऽहीनः क्रतुः । क्रताविति किम् ? आह्नमन्यत् । श्वादिपाठादञ् ॥२१॥

शं०म० न्यासानुसन्धानम्-ईनो०। क्रतौ वाच्ये इति । अत्र क्रतुपदं क्रतुविशेषपरम्, तथा चाहर्गणसाध्ये 'सुत्याक'नाम्नि क्रतावेवार्यं शब्दो रूढः । एवं चान्येषु बहुषु अह्नां समूहेन साध्येषु क्रतुषु नायं शब्दः प्रयुज्यते इति शब्दकौस्तुभे भट्टोजिदीक्षितैरुक्तम् । यद्यपि क्रतुर्नाह्नां समूहरूपः, अपि तु अह्नां समूहेन साध्य एवेति अहीनशब्दस्य न योगमर्यादया क्रतुविशेषपरत्वं सम्भाव्यते, तथापि समूहार्थे प्रत्ययं विधाय क्रतुविशेषः प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन कल्प्यते, इति तात्पर्यम्। उक्तं चाभियुक्तैः अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमिति। क्रताविति किमिति, रूढिः किमर्थमाश्रीयत इति प्रश्नाशयः। केवलमहःसमूहे वाच्ये प्रत्ययोऽयं नेष्ट इत्युत्तरयति–आह्नमन्यदिति। क्रतोरन्यत्र केवलं समूहेऽर्थे वाच्ये "श्वादिभ्योऽञ्" [६.२.२६.] इत्यञि आदिस्वरवृद्धौ "अनीनादस्यह्नोऽतः" [७.४. ६६.] इत्यतो लुकि आह्नमिति ॥ ६।२।२१॥

पृष्ठाद् यः ॥६।२।२२॥

पृष्ठशब्दात् समूहे क्रतौ वाच्ये यः प्रत्ययो भवति ।

पृष्ठानां समूहः पृष्ठ्यः क्रतुः । पृष्ठशब्दोऽहःपर्यायः । रथान्तरादिसामपर्याय इत्यन्ये । क्रताविति किम् ? पार्ष्ठिकम् ॥२२॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्–पृष्ठाद्यः । क्रताविति पूर्वसूत्रात् संबध्यते । अत्रापि स (क्रतुशब्दः) क्रतुविशेषपर एवास्थेयः । अन्यथा पृष्ठशब्दस्याप्यहःपर्यायत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्–अन्येषामपि क्रतूनां (यज्ञानां) अहःसमूहसाध्यत्वात् तेषामपि पृष्ठ्यत्वापत्तेः। पाणिनीये तु शब्दकौस्तुभे पृष्ठः स्तोत्रविशेष इत्युक्तम्। रथन्तरादिसामपर्यायत्वस्यान्यमतसिद्धस्याश्रयणे तु सुतरां क्रतुविशेषपरत्वमेवायाति। तैः सामभिः साध्यस्य क्रतोः सामान्यक्रतोर्भेदात् । क्रतौ इत्यस्य संबन्धआवश्यक इत्याह–क्रताविति येति। अन्यत्राचित्तवाचित्वादचित्तलक्षण इकणेव भवतीत्याह–पार्ष्ठिकम् इति । पृष्ठानां समूह इत्यर्थे इकणि आदिस्वरवृद्धौ सिद्धम् ॥६।२।२२॥

चरणाद् धर्मवत् ॥६।२।२३॥

चरणं कठ-कालापादि तस्माद् यथा धर्मे प्रत्यया भवन्ति तथा समूहेऽपि । वत् सर्वसादृश्यार्थः । तेन यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो यः प्रत्ययो यथा धर्मे भवति ताभ्य एव प्रकृतिभ्यः स एष प्रत्ययस्तथैवेह भवति ।

यथा कठानां धर्मः काठकम् । कालापकम् । छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । बाह्वृच्यम् । आथर्वणं तथा समूहेऽपि काठकम् इत्यादि ॥२३॥

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चरणाद्०। चरण-शब्दार्थमाह—**कठ-कलापादीति** । पाणिनीये च चरण-शब्दस्य शाखाध्येतृवाचकत्वमुक्तम् । कठादिशब्दास्तद्-वाचकत्वेन स्वीकृताः । तच्चेत्थं साधितम् —कठेन प्रोक्त-मधीयते इति कठाः. कलापिना प्रोक्तमधीयते इति कालापा इति । तथा च स्वमतेऽपि तदनुमतमेवेति प्रतिभाति । स्वमतेऽपि "वेदेन् ब्राह्मणमत्रैव" [६.२.१३०.] इति सूत्रेण कठ-शब्दस्याध्येतृपरत्वं व्यवस्थापितम् । एवं 'कलापिन्' इतीनन्तात् प्रोक्तेऽर्थेऽणि कालापमिति ततोऽधीते इत्यर्थे-ऽणि तस्य "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इति लुपि कालापा इति भवति । तथा च कठशाखाध्येतृ-कालापाशाखाध्येतृ-परत्वं कठ-कालापयोः सर्वसम्मतत्वमित्यायाति । ननु धर्म-वदित्यत्र वद्ग्रहणं व्यर्थम्, 'चरणाद्धर्मे' इत्युक्तेऽपि समूहा-र्थमध्ये धर्मे इत्यस्यासंबद्धत्वं मा प्रासाङ्क्षीदिति तस्य सादृश्यार्थत्वं ग्रहीष्यते—तथा अब्राह्मणं ब्राह्मण इत्याहेति सामर्थ्याद् गम्यते ब्राह्मणवदयं भवतीति स्थानिवत् सूत्रस्थ-महाभाष्यरीत्या धर्मवदित्यर्थलाभः स्यादेवेत्याशङ्कायामाह—**वत् सर्वसादृश्यार्थ** इति । सर्वथा धर्मार्थप्रत्ययेन सादृश्यं यथा स्यादित्येवमर्थः इत्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—**तेन यकाभ्यः प्रकृतिभ्य** इत्यादिना । तथा च चरण-वाचकात् "चरणादकञ्" [६.३.१६८.] इति सूत्रेणा-कञ् धर्मेऽर्थे विहित इति समूहेऽपि भवति । तदेव दर्शयति—**यथा कठानां धर्म** इत्यादिना । एवं च समूहार्थेऽपि तथैव **काठकमि**त्यादयः प्रयोगा अनुसन्धेया इत्यवसितम् । छान्दोगानां समूहे इत्यर्थे "छन्दोगौक्थिक०" [६.३.१६६.] इति ञ्यो विधीयत इति छान्दोगानां समूहेऽपि स एव प्रत्यय इति **छान्दोग्यम्**, उक्थम-धीते इत्यर्थेऽत्रैव सूत्रे औक्थिकशब्द इकणन्तो निपात्यते, ततश्च धर्मे ञ्यो विधीयते इति समूहेऽपि स एव प्रत्ययो भवतीति **औक्थिकचमि**ति सिध्यति, एवमन्येष्वपि धर्मार्थप्रत्यय ऊह्याः । अत्रेदं विचारणीयम्—अत्र सूत्रे चरणशब्दो वृत्तौ क्लीबत्वेन निर्दिष्टः "चरणादकञ्" [६.३ १६८.] इति सूत्रे च पुंल्लिङ्गत्वेन, पाणिनीये च चरणशब्दः सर्वत्र पुंल्लिङ्गत्वेनैव निर्दिश्यते । अर्धर्चादि-गणे च चरणशब्दः पठ्यते तेनोभयलिङ्गता प्राप्यतेऽपि किन्त्वर्धर्चादौ पठ्यमानः चरणशब्दः श्लोकचरणवाचक इति सम्प्रदायविद आहुः । स्वमते च लिङ्गानुशासने पुं-नपुंसकलिङ्गप्रकरणे चरणशब्दः पठ्यते । तत्र चरणः चरणं गोत्रादि इत्युक्तम् । 'चरणोऽस्त्रियाम्' इति च प्रमाणत्वेनोपन्यस्तम्, तथा च सर्वत्रार्थे चरणशब्दस्योभय-लिङ्गतेति समायाति, किन्तु शाखाध्येतृवाचकश्चेत् चरण-शब्द इहाश्रीयते तर्हि तस्य पुंल्लिङ्गतैवोचिता वेदशाखाऽ-ध्ययनस्याद्यत्वे पुंस्त्वेन व्यवहृतत्वात् । तथा चात्र सूत्रवृत्तौ चरणमिति नपुंसकपाठः प्रमादादायात इति प्रतिभाति ॥ ॥६।२।२३॥

गो-रथ-वातात् त्रल्-कटचल्लम् ॥६।२।२४॥

गो-रथ-वात इत्येतेभ्यः समूहे यथासंख्यं त्रल् कटचल् ऊल इत्येते प्रत्यया भवन्ति ।

गवां समूहो गोत्रा । रथानां रथकट्या । लकारौ स्त्रीत्वार्थौ । वातानां वातूलः ॥२४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गो-रथ०। स्पष्टा वृत्तिः । उदाहरति— गवां समूहः गोत्रेति । स्त्रीत्वात् स्त्रीत्वे आपि गोत्रेति । एवं रथकट्याशब्देऽपि बोध्यम्, तदाह—**लकारौ स्त्रीत्वार्थाविति** । स्त्रीलिङ्गार्थो लकारो 'लिन् मिन्यनि' [लि०शा० स्त्रीलिङ्गप्र०६.] इत्यनुशासना-दिति भावः । वातानां समूह इत्यर्थे ऊले **वातूल** इति । अत्रेयमाशङ्का वात-परमाणूनामनेकत्वेऽपि वातसंज्ञकस्यावय-विन एकत्वादनेकाश्रयरूपसमूहानुपपत्तिरिति कथं समूहार्थे ततः प्रत्ययविधानमिति । अत्रोक्तं "पाशादिभ्यो यः" [पा० सू० ४.२.४९.] इति सूत्रे महाभाष्ये—पृथग्वाता अपि दृश्यन्ते, तद् यथा—पूर्वो वातः, उत्तरो वातः, सर्वतो वातः । वाता वान्तु दिशो दशेति । अस्याशयः कैयटेने-त्थमुक्तः —एकस्यापि वातस्य दिग्भेदनिमित्तभेदप्रतिभा-सात्, अनेकाश्रयस्य समूहस्योपपत्तिः, यथैकोऽपि दिक् सूर्योदयास्तमयाद्युपाधिभेदादनेकत्वेन व्यपदिश्यते, तथा च दश दिश इति लोके व्यवहारः । अथवा भिन्ना एव पूर्वादि-दिगाश्रिता वाताः, तेषां पार्थक्येनोपलम्भात्, पृथग्गुण-स्वभावादिदर्शनाच्चेति । तथा चौपाधिकं, स्वाभाविकं वा लोकप्रसिद्धभेदमादाय, वातानां भिन्नत्वेन तत्समूह-सम्भव इति स्वमतेऽपि समाधानम् ॥६।२।२४॥

पाशादेश्च ल्यः ॥६।२।२५॥

पाशादिभ्यो गो-रथ-वातशब्देभ्यश्च समूहे ल्यः प्रत्ययो भवति । इकणादेरपवादः ।

पाशानां समूहः पाश्या । तृण्या । खल्या ।

"Aho Shrutgyanam"

गव्या । रथ्या । वात्या ।

पाश तृण खल धूम अङ्गार पोटगल पिटक पिटाक शकट हल नल वन इति पाशादिः । भिक्षादिपाठादङ्गार-हलाभ्यामणपि । आङ्गारम् । हालम् । लकारः स्त्रीत्वार्थः ॥२५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पाशा० । अत्र चकारात् पूर्वसूत्रोक्ता गो-रथ-वातशब्दा अपि समुच्चीयन्ते, तदाह—**पाशादिभ्यो गो-रथ-वातशब्देभ्यश्चेति इकणादेरपवाद** इति । अचित्तलक्षण इकण्, स्वाभाविकोऽण् चानेन बाध्यते विशेषविधानसामर्थ्यादिति भावः । **पाशानां समूह** इति । एकस्यामेव रज्जौ यत्र बहवः पाशा निर्मिता भवन्ति, यथा धान्यादिमर्दनार्थं पङ्क्त्याकारेण बहवो वृषा योज्यन्ते सा रज्जुरनेन शब्देनोच्यते । स्त्रीत्वात् स्त्रियामाण् इति परे । समूहे क्लीबत्वस्यैव दृष्टतया आबर्थं स्त्रीत्वार्थं लिलमिति स्वमतम् । परे च लिङ्गस्य लोकाश्रयत्वमाश्रित्य विनैव प्रयत्नं स्त्रीत्वमाश्रयन्तीति यत्किञ्चिदेतत् । गणं निर्दिशति—**पाश-तृणेत्यादि** । अङ्गार-हल्योः प्रत्ययान्तरमपीत्याह—**भिक्षादिपाठादित्यादि** ॥६।२।२५॥

श्वादिभ्योऽञ् ॥६।२।२६॥

श्वन्प्रकारेभ्यः समूहेऽञ् प्रत्ययो भवति । शुनां समूहः शौवम् । अहामाहम् । दण्डिनां दाण्डम् । चक्रिणां चाक्रम् । अणैव सिद्धे 'नोऽपदस्य तद्धिते' [७.४.६१.] इति अन्त्यस्वरादिलोपार्थमञ्वचनम् अणपवादबाधनार्थं च । श्वादयः प्रयोगगम्याः ॥२६॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्—श्वादि०। अत्रादिशब्दः प्रकारार्थकः, न तु 'श्वन्' शब्दः आदौ येषामिति गणविशेषपर इत्याशयेनाह—**श्वन्प्रकारेभ्य** इति श्वन्शब्दः, तद्भिन्नास्तत्सदृशाश्चेतरेऽपि शब्दाः श्वादिपदेन ग्राह्या इति भावप्रकारो भेदसादृश्यमित्युक्तेः । **शुनां समूहः शौवमिति** । श्वन्शब्दात् अञि आदिस्वरवृद्धिप्राप्तौ "द्वारादेः" [७.४.६.] इति वकारात् पूर्वमौकारः, "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४. ६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे शौवमिति । अहनां समूह इत्यर्थेऽञि आदिस्वरवृद्धौ अन्त्यस्वरादिलोपे प्राप्ते "अनीनादट्यहनोऽतः" [७.४. ६६.] इत्यतो लोपे आह्नमिति । दण्डिनां समूह इत्यर्थेऽञि आदिस्वरवृद्धौ अन्त्यस्वरादिलोपे दाण्डमिति । एवं चक्रिणां समूह इत्यर्थे चाक्रमिति । ननु किमर्थमिदं सूत्रम्, स्वभाविकेन समूहार्थेनाणैव रूपसिद्धेः, नह्यणञो रूपे विशेषोऽस्ति । यश्च स्वरनिमित्तो विशेषो व्याकरणान्तरे स्वीक्रियते स न स्वमते समाश्रीयते, स्वरविचारस्य स्वमतेत्युक्तत्वाद् इति शङ्कायामाह—**अणैव सिद्धे** इति । **अन्त्यस्वरादिलोपार्थमिति** । अयमर्थः – "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इति सूत्रेण प्राप्तस्यान्त्यस्वरादिलोपस्य अन्नन्तेन्नन्तशब्देषु "अणि" [७.४.५२.] इत्यादिसूत्रैः प्रतिषेधः क्रियते तथा च शौवमित्यादौ अन्त्यस्वरादिलोपाभावे शौवनमित्यादयः प्रयोगाः स्युरिति, इष्टप्रयोगसिद्ध्यर्थं प्रत्ययान्तरविधानमिति । फलान्तरमप्याह—**अणपवादबाधनार्थं चेति** । अयमर्थः –अण् सामान्यविहितो विशेषविहितैः प्रत्ययान्तरैर्बाध्यते इति पूर्वमुपपादितम्, तथा च श्वादिषु येऽचित्तास्तेभ्य इकण् अन्येभ्योऽपि प्रत्ययान्तराणि संभाव्यन्ते तेषामपि बाधो यथा स्यादित्येवमर्थमञो विशिष्य विधानमिति । श्वादिगणो न पठित इति कथं परिच्छेयाः श्वादय इति शङ्कायामाह—**श्वादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्या** । इति समूहार्थे दृश्यमाना ये प्रयोगा अणा न सिध्येयुस्तेषां प्रकृतयः श्वादौ ज्ञेया इति भावः ॥६।२।२६॥

खलादिभ्यो लिन् ॥६।२।२७॥

खलप्रकारेभ्यः समूहे लिन्प्रत्ययो भवति । लकारः स्त्रीत्वार्थः । खलानां समूहः खलिनी । पाशादित्वाल्ल्योऽपि । खल्या । ऊकानाम् ऊकिनी । कुटुम्बानां कुटुम्बिनी । खलादयः प्रयोगगम्याः ॥२७॥

श०म०न्यासानुसन्धानम—खला०। अत्राप्यादिशब्दः प्रकारार्थक एव,न तु गणविशेषपरिग्राहक इत्याह-**खलप्रकारेभ्य** इति, खलशब्दस्तत्सदृशा अन्ये च शब्दाः खलप्रकारास्तेभ्य इत्यर्थः । लकारस्य प्रयोगेऽश्रवणान्नैरर्थक्यशङ्कामपाकुर्वन्नाह-**लकारः स्त्रीत्वार्थ** इति । 'लिन् मिन्यनि मिन्कनि'[स्त्रीलि०प्र० ६]इत्यनुशासनादिति भावः । **खलानां समूह** इति । खला दुष्टाः, धान्यादिस्थापनस्थलानि वा । लिनि इन्मात्रस्यावशिष्टत्वात्, स्त्रीत्वाद् ङ्यां खलिनीति । पाशादावपि खलशब्दः पठ्यते, तत्सार्थक्याय चल्योऽपि स्यादेवेत्याह-**पाशादित्वाल्ल्योऽपीति** । तथा च ल्ये, लित्त्वात् स्त्रीत्वे आपि खल्येति । **ऊकानां ऊकिनीति**। पूर्ववत् सिद्धिः। एवं कुटुम्बिनीत्यपि । खलादिपरिच्चयार्थमाह-**खलादयःप्रयोग-**

"Aho Shrutgyanam"

तेानुसर्त्तव्या इति। ये प्रयोगा लिन्नन्तत्वेन समूहार्थं प्रयुज्यमानाः स्युस्तेषां प्रकृतयः खलादिषु विज्ञेया इति भावः ॥६।२।२७॥

ग्राम-जन-बन्धु-गज-सहायात् त ॥६।२।२८॥

एभ्यः समूहे तल् भवति ।

ग्रामाणां समूहः ग्रामता । जनता । बन्धुता । गजता । सहायता । लकारः स्त्रीत्वार्थः ॥२८॥

शब्दमहार्णव न्यासानुसन्धानम्–ग्राम० । स्पष्टम् ॥६।२।२८॥

पुरुषात् कृत-हित-वध-विकारे चैयञ् ॥६।२।२९॥

पुरुषशब्दात् कृते हिते वधे विकारे चकारात् समूहे च एयञ् प्रत्ययो भवति । कृतादौ यथाभिधानं विभक्तियोगः । पुरुषेण कृतः पौरुषेयो ग्रन्थः । पुरुषाय हितं पौरुषेयमार्हतं शासनम् । पुरुषस्य वधः पौरुषेयो वधः । पुरुषस्य विकारः पौरुषेयो विकारः । पुरुषाणां समूहः पौरुषेयम् ॥२९॥

शब्दमहार्णव न्यासानुसन्धानम्-पुरुषात्०। चकारेण पूर्वानुसृतस्य समूहार्थस्य समुच्चयः । तथा च पूर्वसूत्रार्थमाह-कृते हिते इत्यादिना । तथा चार्थपञ्चके पुरुषशब्दादयं प्रत्ययः । ननु "षष्ठ्याः समूहे" [६.२.९.] इत्यतः षष्ठी, समर्थविभक्तिरधिकृता । ततः षष्ठ्यन्तादेव पुरुषशब्दादेष्वर्थेषु प्रत्ययः स्यात् । न चैषामर्थानां सर्वेषां षष्ठ्यन्तेन सामर्थ्यं सम्भवति । कृतशब्दे हि कर्मणि क्तः। तत्र च कर्तरि कर्मणि वा षष्ठ्यसंभवात् कथं कृतेऽर्थे षष्ठ्यन्तात् प्रत्ययो विधास्यत इति चेदत्राह-कृतादौ यथाभिधानं विभक्तियोग इति ।

यथाभिधानमित्यस्याभिधानमनतिक्रम्येत्यर्थः शास्त्रेण यस्य शब्दस्य प्रयोगे या विभक्तिरभिहिता योग्यताबलात् सैव तेन सह प्रयोज्येत्यर्थः । अथवा यथाऽर्थस्याभिधानं युज्येत तथैव तद्योगे विभक्तिराश्रयितव्येत्यर्थः । उक्तं च पाणिनीये महाभाष्ये—यां काञ्चिद् विभक्तिमाश्रित्य बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्येति । " स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ " [पा० सू० १.२.५६.] इति सूत्रे । तथा च कृतशब्दयोगे कर्तरि तृतीयायाः हितशब्दयोगे चतुर्थ्याश्चाभिधानाद् यथायथमिमा विभक्तयो योज्या इति । पुरुषेण कृतम्, पुरुषाय हितम्, पुरुषस्य वधो विकारः, पुरुषाणां समूहश्चेत्येवंरूपेण विग्रहेषु पुरुषशब्दात् एयञ्प्रत्ययो भवतीति सूत्रार्थः पर्यवसितः । पुरुषशब्दश्चेह लोके प्रसिद्धावयविविशेषवाचको गृह्यते, न तु सांख्यदर्शनप्रसिद्ध आत्मवाचकः, तस्योदासीनत्वस्याविकारित्वस्य च तैः प्रतिज्ञानात्, 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति सांख्यकारिकोक्तेः। उदाहरति–पुरुषेण कृतः पौरुषेयो ग्रन्थ इत्यादिना ॥६।२।२९॥

विकारे ॥६।२।३०॥

षष्ठ्यन्ताद् विकारे यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति । द्रव्यस्यावस्थान्तरं विकारः ।

अश्मनो विकारः आश्मनः, आश्मः । 'वाश्मनो विकारे'[७.४.६३.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपः । भस्मनो भास्मनः । मृत्तिकायाः मार्तिकः। अर्धस्य आर्धः । हलस्य हालः । सीरस्य सैरः । चेदीनां चैद्यः । वृजीनां वार्जः । त्रिगतानां त्रैगर्तः । रङ्कूणां राङ्कवः । 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्येवाणादिसिद्धावर्धादिषु विकारे अणपवादबाधनार्थं वचनम् ॥३०॥

शब्दमहार्णव न्यासानुसन्धानम्—विकारे । अधिकारसूत्रमिदम् । " षष्ठ्याः समूहे " [६.२.९.] इत्यतः षष्ठ्या इति समर्थविभक्तिरनुवर्त्तते । विधिसूत्रत्वमप्यस्य शास्त्रकारानुमतम्, तथा च सूत्रार्थमाह–षष्ठ्यन्ताद्विकारे इत्यादिना। यथाविहितमिति। याभ्यः प्रकृतिभ्यो विशिष्य ये विहितास्ताभ्यः त एव भवन्ति, अनुक्तप्रत्ययाभ्यश्च प्रकृतिभ्यः सामान्येनाधिकृतोऽण् भवतीति भावः । तथा च प्राग्जितीयेष्वर्थेषु याभ्यः प्रकृतिभ्यः पूर्वमेव प्रत्यया उक्ताः, विकारार्थे वाऽग्रेऽस्मिन्नेव प्रकरणे विशिष्य विहितास्ता वर्जयित्वाऽन्याभ्योऽनेन "प्राग्जितादण् " [६.१.१३.] इत्यधिकृतोऽणेव भवतीति, कलिशब्दादग्निशब्दाच्च "कल्यग्नेरेयण् " [६.१.१७.] इति, उत्सादेः "उत्सादेरञ् " [६.१.१८.] इति स्त्री-पुंसाभ्यां "प्राग्वतः स्त्रीपुंसात्" [६.१.२५.] इति नञ्-स्नञौ, इत्येवंरूपेण प्रत्ययविभागो विज्ञेयः । तथा च कलेर्विकारः कालेयः, अग्नेर्विकारः आग्नेयः, उत्सस्य विकारः औत्सः, स्त्रियाः पुंसो वा विकारः स्त्रैणः, पौंस्न इत्येवंरूपाणि विज्ञेयानि । विकारशब्दार्थं ग्राहयति–द्रव्यस्यावस्थान्तरं विकारः इति । द्रव्यस्य गुण-क्रियायोगिनः पदार्थस्य अन्याऽवस्थाऽवस्थान्तरं आकारादिपरिवृत्तिर्विकारशब्दवाच्येत्यर्थः। " तस्य

"Aho Shrutgyanam"

विकारः" [पा०सू० ४.३.१२३.] इति सूत्रे काशिकायां तु प्रकृतेरवस्थान्तरं विकार इत्युक्तम्। इदं च लक्षणं पूर्वलक्षणापेक्षया व्यापकम्। गुणादिविकारेऽपि व्याप्तेः। यद्यपि गुणस्य द्रव्याश्रितस्यैवावस्थान्तरं सम्भाव्यते द्रव्यं विना तदवस्थितेरभावात्, द्रव्यनिष्ठगुणस्यावस्थान्तरसम्पत्तौ च द्रव्यमप्यवस्थान्तरमापन्नमिव लक्ष्यते। तस्मात् पूर्वेणापि लक्षणेन सर्वलक्ष्यव्याप्तिः सम्भवति; तथापि* प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति*इति न्यायेन, यत्र रूपमात्रविकारः प्राधान्येन निर्देष्टुमिष्टः स्यात् तत्रापि विकारलक्षणं व्याप्नुयादित्यत एव काशिकाकृता लक्षणमिदमुपात्तमिति प्रतीयते। **उदाहरति–अश्मनो विकारः आश्मन आश्म** इति। अश्मन्शब्दादणि आदिस्वरवृद्धौ "अणि" [७.४.५२.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे प्रतिषिद्धे आश्म इति रूपं कथमित्याशङ्कायामाह–"**वाश्मनो विकारे**" [७.४.६३.] **इत्यन्त्यस्वरादिलोप** इति। **भस्मनो विकारः भास्मनः** इति। अत्र "अणि" [७.४.५२.] इति प्रतिषेधादन्त्यस्वरादिलोपाभावः। **मृत्तिकाया विकारो मार्तिकः** आदिस्वरवृद्धौ आकारलोपे च रूपसिद्धिः। एवमन्येषामपि सिद्धिर्विज्ञेया। चेद्यादयो जनपदविशेषास्तेषामप्यवस्थान्तरं तत्स्थलोकवृद्धि-ह्रासादिभिः सम्भाव्यत एवेति तत्तदुदाहरणसङ्गतिः।

ननु विकारस्यापीदमर्थतया ग्रहणात् "**तस्येदम्**" [६.३.१५९.] इत्यनेनैव विकारार्थेऽप्यणः सिद्धेः किमर्थमिदं तदर्थे पृथग्वचनं क्रियते। ये च विकारार्थे विशिष्य विहिताः प्रत्यया अग्रे वक्ष्यन्ते, तदर्थमेकस्य (प्रथमस्य) सूत्रस्यादौ विकारार्थनिर्देशः क्रियताम्, इदमेव वा केवलमधिकारसूत्रत्वेन व्यवहियतामित्याशङ्कायामाह–**तस्येदमित्येव सिद्धे** इत्यादि। अर्धादिष्विति सप्तमी विषयतायाम्। तथा चार्धादिशब्दविषये विकारार्थत्वेनोक्तौ इदमर्थस्य शैषिकत्वेन तत्र सामान्यतया विहितस्याणोऽपवादका विशिष्य तत्तच्छब्देभ्यो विहिताः प्रत्ययाः प्रवर्तिष्यन्ते न त्वण् इत्यणोऽपवादकानां प्रत्ययानां विकारार्थे बाधनार्थमिदं पृथग्वचनमारब्धमिति भावः। तथाहि शैषिकेऽर्धशब्दात् "अर्धाद्यः" [६.२.६९.] इति यो विहितः, हलसीरशब्दाभ्यां "हलसीरादिकण्" [६.३.१६१.] इतीकण् विहितः। चेदि-वृजिशब्दाभ्यां राष्ट्रवाचिभ्यां चेदिशब्दस्य काश्यादिपाठात् "काश्यादेः" [६.३.३५.] इति णिकेकणौ, वृजेः "वृजिमद्राद् देशात् कः" [६.३.३८.] इति कश्च विहित इति विकारार्थेऽपि त एव स्युरित्यणो विधानार्थमस्य सूत्रस्य पृथक् पाठो विधिसूत्रत्वं चावश्यकमिति ॥६।२।३०॥

प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्योऽवयवे च ॥६।२।३१॥

प्राणिन्-औषधि-वृक्षवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्योऽवयवे विकारे च यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति।

प्राणिभ्यः, कापोतं सक्थि। कापोतं मांसम्। मायूरं मांसम्। आविकं मांसम्। अविशब्दादनभिधानान्न भवति। औषधिभ्यः, दौर्वं काण्डम्, दौर्वं भस्म। मौर्वं काण्डम्, मौर्वं भस्म। वृक्षेभ्यः, कारीरं काण्डम्, कारीरं भस्म। बैल्वं काण्डम्, बैल्वं भस्म। प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्य इति किम्? पाटलिपुत्रस्यावयवः पाटलिपुत्रकः प्राकारः। 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इति विवक्षायामकञ्। एवं पाटलिपुत्रकः प्रासादः। इतः परं विकारे प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्योऽवयवे चेति द्वयमप्यधिक्रियते। तेनोत्तरे प्रत्ययाः प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्योऽवयवविकारयोरन्येभ्यस्तु विकारमात्रे भवन्तीति वेदितव्यम्। प्राणिनश्चेतनावन्तः। औषधयः फलपाकान्ताः। वृक्षाः पुष्पवन्तः फलवन्तश्च। वृक्षविशेषत्वाद् वनस्पति-वीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम्। प्राणिग्रहणेनैव चेतनावत्त्वेन वृक्षौषधिग्रहणे सिद्धे तदुपादानमिह शास्त्रे प्राणिग्रहणेन त्रसा एव गृह्यन्ते, न स्थावरा इति ज्ञापनार्थम् ॥३१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–प्राण्यौ०। सूत्रे चकारेण विकारार्थः संगृह्यते तथार्थमाह–**अवयवे विकारे चेति**। अवयवा अङ्गानि। तथोदाहरति–**प्राणिभ्य** इति प्रकृत्या **कापोतं सक्थी**ति। कपोतस्यावयवः इति विग्रहः, सक्थीति तद्विशेषनाम निर्दिष्टम्, **कापोतं मांसमिति** विकार्थस्योदाहरणम्। यद्यपि मांसमपि यथाकथञ्चिदवयव एव तेनाप्यवयविनः कपोतशरीरस्य साङ्गत्वम्, तथापि सर्वावयवसमूहभूतस्य तच्छरीरस्याविभागेन गृह्यमाणं तद्विकारत्वेनैव गृह्यते, तच्छरीरस्यैवावस्थान्तररूपत्वेन मांसस्य दर्शनात्। एवं सर्वोदाहरणेष्वूह्यम्। अवेरवयवः **आविकं सक्थि**। अत्राविशब्दात् स्वार्थे कप्रत्ययं विधाय ततोऽणि आविकमिति रूपं भवति। न केवलादविशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तिः। तत् कुत इत्याह- **अविशब्दानभिधानान्न भवती**ति। अयमाशयः– अर्थाभि-

"Aho Shrutgyanam"

धानार्थमेव शब्दप्रयोगः, प्रयुक्तानामेव चानेन शास्त्रेण साधुत्वं व्याक्रियते। न च केवलादविशब्दाद् विहितेन प्रत्ययेनावयवादिरर्थोऽभिधीयते, इति न ततः प्रत्ययोत्पत्तिर्भवति। एतच्च "द्विगोर्लुगनपत्ये" [पा०सू०४.१.८८.] इति सूत्रे महाभाष्येऽप्युक्तम्। तत्र च शब्दान्तरेण विग्रहे सत्यपि शब्दान्तरात् प्रत्ययोत्पत्तिर्भवतीति प्रस्तावे तत्र द्वयोः शब्दयोः समानार्थकयोरेकेन विग्रहेऽपरस्मात् प्रत्ययोत्पत्तिर्भविष्यति*अव्यविक*न्यायेन तद्यथा—अवेर्मांसमिति विग्रहाविशब्दादुत्पत्तिर्भवति—आविकमिति प्रतिपादितम्। प्रणिम्य उदाहृत्य उदाहरति—**दौर्वं काण्डमिति** दूर्वाया अवयवः दौर्वम्। काण्डमिति तदवयवभूतस्य भागस्य नाम। एवमन्येष्वप्युदाहरणेषु बोध्यम्।

नन्ववयवे चेत्येतावदेव सूत्र्यताम्, प्रायः सर्वाणि नामानि प्राण्यौषधि-वृक्षवाचकान्येवेति नामसामान्यादुभयार्थे प्रत्ययो विधीयतामित्याशयवान् पृच्छति-**प्राण्यौषधिवृक्षेभ्य इति किमिति ?** न केवलं प्राण्यौषधिवृक्षवाचीन्येव नामानि नगर-ग्राम-पर्वतादिवाचकानामपि नाम्नां सत्त्वादिति प्राण्यौषधि-वृक्षग्रहणाभावे नगरादिवाचकादपि प्रत्ययोत्पत्त्यापत्तावतिव्याप्त्यापत्तेरित्याह— **पाटलिपुत्रस्यावयवः पाटलिपुत्रकः प्राकारः** इति। अत्र "रोपान्त्यात्" [६.३.४२.] इत्यकञ् भवति, प्राण्यादिग्रहणाभावे चानेनाणेव स्यात्। न केवलं विधिसूत्रमेतदपि स्वधिकारसूत्रमपीत्याह —**इतः परं विकारे प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्योऽवयवे चेति द्वयमप्यधिक्रियत** इति, तत्फलमाह—**तेनोत्तरे प्रत्यया** इत्यादिना। वक्ष्यमाणा एतदधिकारीयाः प्रत्ययाः प्राण्यादिभ्य उभयोरर्थयोस्तदितरेभ्यः केवलं विकार एवेति भावः। सूत्रस्थशब्दानां वाच्यानर्थान् निर्दिशति-**प्राणिनश्चेतनावन्तः** इत्यादिना। चेतना चात्र ज्ञानपूर्विका प्रवृत्तिरेव। तथा च जङ्गमा एव गृह्यन्ते, न स्थावरा इत्यग्रे स्फुटीभविष्यति। औषधयः फलपाकान्ता इति। फलपाक एवान्तो यासां तथाभूता इत्यर्थः। फले पक्वे याः शुष्यन्ति ता ओषधिशब्दवाच्या इति भावः। **वृक्षाः पुष्पवन्तः फलवन्तश्चेति**। पृथक् पृथक् पुष्पवत्त्वस्य फलवत्त्वस्य लक्षणत्वाश्रयणात् केवलं पुष्पवन्तः केवलं फलवन्तः पुष्प-फलोभयवन्तश्च वृक्षत्वेन गृह्यन्ते। वृक्षपदेन वृक्षसामान्यस्य ग्रहणेन सामान्ये च विशेषस्यान्तर्भूतत्वेन सर्वेषामेव विशेषाणां ग्रहणं भवति। तत्फलमाह — **वृक्षविशेषत्वात् वनस्पतिवीरुधामपीति**। अयमाशयः-"वानस्पत्यः फले पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः" इत्यमरकोशानुसारं, पुष्पपूर्वकफलवन्तो वृक्षाः, वानस्पत्यजातयः, पुष्पं विनैव फलवन्तो ये वनस्पतिजातयश्च कथ्यन्ते, तथा च पुष्प-फलोभयवत्त्वं वृक्षत्वमिति लक्षणे क्रियमाणे वनस्पतिषु वृक्षलक्षणं न गच्छेदिति पृथक् पृथगेव पुष्पवत्त्वं फलवत्त्वं च वृक्षलक्षणं कृतम्, तथा च सर्वे वृक्षा वीरुधश्च वृक्षत्वेन संगृहीताः।

ननु प्राणिग्रहणेनैव वृक्षाणामोषधीनां च ग्रहणं सिद्धम्, न च तेषां प्राणित्वाभावः, अयोमयः प्राण इति श्रुत्या अद्भिर्विना ग्लायमानानामेव प्राणित्वात्, एतच्च "तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्" [पा०सू० १.२ ६३.] इति सूत्रे महाभाष्ये स्पष्टम्। अद्भिर्विना वृक्षा ओषधिश्चापि ग्लायन्त एवेति तेषामपि प्राणित्वं स्पष्टमेव। न च प्राणित्वमिह चेतनावत्त्वमिष्टम्, चेतना च ज्ञानपूर्विका प्रवृत्तिरित्युक्तम्, तथा च नेते प्राणिन इति वाच्यम्—

"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विताः।"

तेषामप्यनुकूलाहारादिग्रहणप्रतिकूलाहारादि विसर्जनरूपज्ञानपूर्वकप्रवृत्तिदर्शनात्। आधुनिकविज्ञानिभिः तेषां परस्परवार्तादेरपि प्रत्यक्षीकृतत्वेन चेतनावत्त्वात् इति चेदत्राह — **प्राणिग्रहणेनैवेत्यादि**। ज्ञापिते चास्मिन्नर्थे "प्राणितूर्याङ्गाणाम्" [३.१.१३७.] इत्यादिशास्त्रे प्राणिग्रहणेन वृक्षौषधीनां ग्रहणं न भवति ॥६।२।३१॥

तालाद् धनुषि ॥६।२।३२॥

तालशब्दाद् धनुषि विकारे यथाविहितमण्प्रत्ययो भवति। दुलक्षणस्य मयटोऽपवादः। तालस्य विकारस्तालं धनुः। धनुषीति किम् तालमयं काण्डम् ॥३२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम् —**तालाद्०**। तालशब्दस्य वृक्षवाचकत्वेन पूर्वसूत्रेणैवाणि सिद्धे सूत्रमिदमनर्थकमित्याशङ्कायामाह-**दुलक्षणस्य मयटोऽपवाद** इति। "दोरप्राणिनः" [६.२.४९.] इति सूत्रेण प्राप्तस्येति शेषः। तालशब्दस्य "वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः" [६.१.८.] इति सूत्रेण दुसंज्ञाविधानात् ततोऽवयवे विकारे च मयटः प्राप्तेस्तद्बाधनार्थं धनुष्येवाण्, अन्यत्र मयडिति विषयविभागार्थं सूत्रमिदमिति भावः। तालस्य तालसंबन्धिकाष्ठस्य विकार इत्यर्थे, तालस्य वृक्षस्यावयव

"Aho Shrutgyanam"

इत्यर्थेऽपि (पूर्वोक्तज्ञापनसामर्थ्यात्) धनुषि वाच्येऽणि तालं धनुरिति, धनुषीति किमिति ? अर्थविशेषग्रहणं व्यर्थम्–धनुषि तदन्यस्मिन् वाऽर्थेऽण् सामान्येन विधीयतामिति प्रभाशयः । अन्यस्मिन्नर्थेऽण् नेष्टोऽपि तु दुर्लक्षणो मयडेवेत्याशयेन प्रत्युत्तरयति—**तालमयं काण्डमिति** । तालस्य विकार इत्यर्थे "दोरप्राणिनः" [६.२.४९.] इति मयड् भवति, धनुषीत्यस्याभावे चास्यापवादसूत्रत्वेनाणेव स्यादिति भावः ॥६।२।३२॥

त्रपु-जतोः षोऽन्तश्च ॥६।२।३३॥

त्रपु-जतु इत्येताभ्यां विकारे यथाविहितमण्प्रत्ययो भवति, तयोश्च षोऽन्तो भवति ।

त्रपुणो विकारः त्रापुषम् । जतुनो विकारः जातुषम् । अण् सिद्ध एव षागमार्थं वचनम् । चकारः संनियोगार्थः ॥३३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–त्रपुजतोः० । आभ्यां "विकारे" [६.२.३०.] इति सामान्यसूत्रेणैवाण् सिद्ध एवेति किमर्थं विधानमित्याशङ्कायामाह—**अण् सिद्ध एव षागमार्थं वचनमिति** ।* अप्राप्ते विधिरर्थवान्* इति न्यायेन यावदप्राप्तं तावत्यंश एव विधेः सार्थकयमिति षागमविधानमात्रार्थत्वं सूत्रस्येति भावः । ननु तर्हि किमर्थं प्रत्ययविधानमपि वृत्त्या व्याख्यायते इति चेदत्राह–**चकारः संनियोगार्थ** इति । चकारेणाणा सहैव षागमोऽपि नियुज्यत इति सहविधानार्थं वृत्त्या प्रत्ययोऽपि विधीयमानत्वेन व्याख्यायत इति भावः । तथा चाणि सत्येव षागमः, अणि सति षागमो भवत्येवेति सिद्धम् ॥ ॥६।२।३३॥

शम्याश्च लः ॥६।२।३४॥

शमीशब्दाद् विकारेऽवयवे च यथाविहितमञ्प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे चास्य लोऽन्तः ।

शम्या विकारोऽवयवो वा शामीलं भस्म । शामीली शाखा ॥३४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—शम्याः० । शमी यज्ञियो वृक्षविशेषः, लताऽपि तन्नाम्ना प्रसिद्धेति स्त्रीत्वेन निर्देशः । वृक्षवाचकत्वादस्माच्छब्दात् पूर्वव्याख्यानुसारेण विकारेऽवयवे च प्रत्यय इत्याशयेन वृत्तौ प्रतिपादितः, उदाहरणेऽपि तथैव विग्रहः प्रदर्श्यते-**शम्या विकारोऽवयवो वेति** । वृत्तौ यथा 'विहितमञ्' इति पाठादञ्प्रत्ययसन्नियोगेन लाभो विधीयते । अञ्प्रत्ययश्च हेमादित्वात् संभाव्यतेऽन्यतस्तु न प्राप्तिः । हेमादिगणे च पाठाभावेऽपि तस्याकृतिगणत्वोक्तेरञ् संभाव्यते । लेखकदोषाद् वा वृत्तौ अणः स्थानेऽञ् पठितः । लघुवृत्तौ चाण् एव पाठो दृश्यते स एव च समीचीनः प्रतिभाति । प्रकृतेऽणञोर्विशेषाभावेनाकृतिगणत्वमाश्रित्याञो लाभे फलाभावादिति प्रतीमः ॥६।२।३४॥

पयो-द्रोर्यः ॥६।२।३५॥

पयस् द्रु इत्येताभ्यां विकारे यः प्रत्ययो भवति । पयसोऽणोऽपवादः । द्रोरेकस्वरमयटः ।

पयसो विकारः पयस्यम् । द्रोर्दारुणो विकारो द्रव्यम् ॥३५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पयो० । यस्य विशेषविहितत्वेन सामान्यप्रत्ययस्यापवादत्वमिति कस्मात् कः प्रत्ययो बाध्यते इति स्पष्टयति–**पयसोऽणोऽपवादः । द्रोरेकस्वरमयट** इति पयस्शब्दाद् "विकारे" [६.२.३०.] इति सामान्यसूत्रेणाण् प्राप्तः, द्रुशब्दस्य चैकस्वरत्वेन "एकस्वरात्" [६.२.४८.] इति मयट् प्राप्त इति तावनेन बाध्येते इति भावः । उदाहरति–**पयसो विकारः पयस्यमिति** । दध्यादि पयस्यशब्देनोच्यते । **द्रोर्दारुण** इति । द्रुशब्दो वृक्षवाची, तस्य च न साक्षाद् विकारो द्रव्यमपि तु तत्काष्ठस्यैवेति **'दारुण'** इति पदोपादानम् । साधारणो गुणक्रियाधारपदार्थविशेषवाचको द्रव्यशब्दस्तु कृदन्तो न तु तद्धितान्तः । गुणैर्द्रूयते आश्रीयत इत्यर्थे गत्यर्थक'द्रु'धातोः "य एचातः" [५.१.२८.] इति ये गुणेऽवादेशे च द्रव्यमिति सिद्ध्यति ॥६।२।३५॥

उष्ट्रादकञ् ॥६।२।३६॥

उष्ट्रशब्दाद् विकारेऽवयवे चाकञ्प्रत्ययो भवति ।

उष्ट्रस्य उष्ट्रया वा विकारोऽवयवो वा औष्ट्रिकं मांसम् । औष्ट्रिका जङ्घा ॥३६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–उष्ट्राद्० । उष्ट्रशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादस्मात् पूर्वनियमानुसारं विकारेऽवयवे च प्रत्यय इत्याह–**विकारेऽवयवे चेति** । *नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्* इति न्यायानुसारं विग्रहमाह–**उष्ट्रस्य उष्ट्रया वेति औष्ट्रिकं मांसमिति** ।

"Aho Shrutgyanam"

अकारस्येकारस्य वा "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इति लोपः । विकारो मांसम्, अवयवो जङ्घा ॥६।२।३६॥

उमोर्णाद् वा ॥६।२।३७॥

उमा ऊर्णा इत्येताभ्यां यथासंभवं विकारेऽवयवे च वा अकञ्प्रत्ययो भवति । उमा अतसी तस्या विकारोऽवयवो वा औमकम्, औमम् । ऊर्णाया विकारः और्णकम् । और्णः कम्बलः ॥३७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—उमो० । उमाशब्दस्य पार्वतीवाचकस्यापि दर्शनात् तद्व्यावर्तनायाह—**उमा अतसी**ति । कथमुमाशब्दस्यात्रातसीवाचकत्वमेवेति निर्णीयते इति चेच्छृणु, अर्थविशेषस्य संबन्धात् । अत्र हि विकारेऽवयवे च प्रत्ययो विधीयते । तत्रावयवार्थस्य पार्वत्यां सम्भवेऽपि विकारार्थस्य तत्रासम्भवात्, प्रकृतिविकृतिभावस्य चेतनेऽदृष्टत्वात् । ऊर्णा च प्रसिद्धेवेति न तदर्थविशेषोक्तिः ॥६।२।३७॥

एण्या एयञ् ॥६।२।३८॥

एणीशब्दाद् विकारेऽवयवे च एयञ्प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः ।

एण्या विकारोऽवयवो वा ऐणेयं मांसम् । ऐणेयी जङ्घा । स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् पुंल्लिङ्गादणेव ऐणं मांसम् । ऐणी जङ्घा ॥३८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—एण्या० । एणी श्वेतमृगी । तस्याश्च प्राणित्वादुक्तनियमेन विकारावयवयोरुभयोरर्थयोः प्रत्यय इत्याशयेनाह—**विकारेऽवयवे** चेति । प्रायविशेषोक्तेः सामान्यतः प्राप्तस्य प्रत्ययस्य बाध इत्याह—**अणोऽपवाद** इति । प्राकरणिकस्य तस्य बाध इति भावः । विकारो मांसम्, अवयवो जङ्घा, इहापि पुंल्लिङ्गस्य ग्रहणमस्तु इति शङ्कामपाकुर्वन्नाह—**स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् पुंल्लिङ्गादणेवे**ति । अयमाशयः-यदि पुंल्लिङ्गस्यापि एणशब्दस्येह ग्रहणमिष्टं स्यात् तदा पुंल्लिङ्गमेव निर्दिशेत्, *लिङ्गविशिष्टग्रहण०* न्यायेन स्त्रीलिङ्गस्यापि ग्रहणं स्यादेवेति लिङ्गविशिष्टग्रहणगौरवो व्यर्थ एव स्यात्, स च स्वसार्थकथाय पुंल्लिङ्गस्याग्रहणं ज्ञापयति । तथा च पुंल्लिङ्गेऽस्याप्रवृत्तौ ततः सामान्यप्राप्तोऽणेव भवतीति ऐणमित्येव रूपं तत्रेष्टमिति ॥६।२।३८॥

कौशेयम् ॥६।२।३९॥

कोशशब्दाद् विकारे एयञ्प्रत्ययो निपात्यते ।

कोशस्य विकारः कौशेयं वस्त्रं सूत्रं वा । निपातनं रूढ्यर्थम् । तेन वस्त्र-सूत्राभ्यामन्यत्र भस्मादौ न भवति ॥३९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कौशेयम्० । कोशाच्चेत्येव सूत्रे कृतेऽथवा पूर्वसूत्रे एव एणीकोशादेयञ् इत्येव पठितव्ये पृथक् सूत्रारम्भो निपातनाश्रयणं च व्यर्थमित्याशङ्कायामाह—**निपातनं रूढ्यर्थ**मिति । रूढिरर्थविशेषप्रत्यायनशक्तिरेवार्थः प्रयोजनं यस्येति तादृशमित्यर्थः । अन्यथैव सिद्धौ निपातनस्यालाक्षणिक कार्यलाभार्थमेवाभयणस्य सर्वत्र दर्शनादिह च रूपसिद्ध्यंशे तादृशस्य कार्यस्यादर्शनादर्थविशेषविषयतैव लभ्येति भावः । तथा च व्यावर्तनीयमाह—**तेन वस्त्रसूत्राभ्यामन्यत्र भस्मादौ न भवती**ति । वस्त्र-सूत्रयोरेव कोशसम्भवयोः रूढ्या कौशेयशब्दस्य प्रयोगो न तु तदतिरिक्ते कोशस्य विकारे भस्मादिरूपे इति निपातनप्रयोजनमिति भावः ॥६।२।३९॥

परशव्याद् यलुक् च ॥६।२।४०॥

परशवे इदं परशव्यम् । तस्माद् विकारे यथाविहितमणप्रत्ययो भवति, यकारस्य च लुक् ।

परशव्यस्यायसो विकारः पारशवम् । अण् सिद्ध एव यलुगर्थं वचनम् । अथेह यग्रहणं किमर्थम्? तदभावेऽपि 'अवर्णेवर्णस्य' [७.४.६८.] इत्यन्तलुक् सिद्धा लुग्ग्रहणाद् अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्यापि यकारस्य लुग् भविष्यति । सत्यम्, यग्रहणं यशब्दस्य समुदायस्यैव लोपार्थम् । तेनोत्तरसूत्रे 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' [७.४.११०.] इत्यस्यानुपस्थानाद् यकारलोपे 'अवर्णेवर्णस्य' [७.४,६८.] इतीकारलोपो भवति ॥४०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पर० । परशव्यशब्दं साधयति—**परशवे इदं परशव्य**मिति । तादर्थ्ये यप्रत्यये "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे परशव्यमिति । **यथाविहितमणि**ति । नानेन

"Aho Shrutgyanam"

सूत्रेणाण्प्रत्ययो विधीयते, तस्येहाप्रकृतत्वात् । किन्त्वस्मात् प्रत्ययान्तरस्य विशिष्य विधानाभावेन सामान्येन विकारे विहितोऽण् सिद्ध एव । वक्ष्यति चैतदग्रे । यथाविहितमित्यस्य सामान्यविधानमनतिक्रम्येत्यर्थः । परशव्यं हि परशुसाधनं तच्चानेकरूपं सम्भवतीति विशिष्याह—**परशव्यस्यायसो विकार** इति । येनायसा परशुर्निर्मीयते, तस्यैव विकारान्तरं पारशवमित्याख्यायते इति भावः । परशुः कुठारः, परं शृणाति हिनस्ति इति व्युत्पत्तेः । तथा च हननसाधनत्वस्यायस एव संभवाद् अयस इत्युक्तम् । तद्विकारः पारशवमपि शस्त्रविशेष एव । "शूद्रायां विप्रतनये, शस्त्रे पारशवो मतः" इत्यमरकोशात् । "पुंसि पारशवः पुमान्, परस्त्रीतनये शस्त्रे द्विजात् शूद्रासुतेऽपि च ।" इति मेदिनीकोशाच्चास्य शस्त्रेऽर्थेऽपि पुंस्त्वमेवावगम्यते, इह च नपुंसकनिर्देशे मूलं मृग्यम् । अर्थान्तरेऽप्यस्य शब्दस्य प्रयोगसंभावनया वा सामान्येन क्लीबनिर्देश इति वा । सूत्रप्रयोजनमाह—**यलुगर्थं वचनमिति** । *अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्* इति न्यायादणः प्राप्तत्वेन तद्विधाने शास्त्रस्य व्यापाराभावाद् यलुक्येव तस्य प्राधान्येन विधेयतेति भावः । यद्यप्यत्र चकारश्रवणेन लुका सहान्यस्यापि कस्यचन विधेयस्य समुच्चयः प्रतीयते, कश्चान्यः स्यात् प्रत्ययमन्तरा विधेयोऽत्रेति प्रत्ययस्यापि विधेयता लभ्यते, तथापि सामान्यशास्त्रेण विहितस्यैवानेनानुवादेन तस्य विधाने तात्पर्यमिति हृदयम् ।

विशिष्य शङ्कते—**अथेह यग्रहणं किमर्थमिति** ? तस्य कथं वैयर्थ्यमिति प्रतिपादयति – **तदभावेऽप्यवर्णेवर्णस्येत्यादिना** । अयमाशयः— परशव्यस्य लुक् चेत्येव सूत्र्यताम् । "षष्ठ्यान्त्यस्य" [७.४.१०६.] इति परिभाषया *अन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य* इतिन्यायाद् यकारस्य लुक् स्यादेवेति यग्रहणं व्यर्थम् । अन्त्यस्य कार्याप्राप्तौ सत्यामन्त्यसदेशस्यैव कार्यं भवतीति न्यायार्थः । अत्र चान्त्यस्यावर्णस्य "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इति सूत्रेण लुकि, अन्त्याभावे पूर्वोक्तन्यायेन नान्त्यसदेशस्य यकारस्यैव लुक् भविष्यति । स एव हि साम्प्रतमन्त्यस्थानीयः । (अन्त्येन समानो देशः स्थानं यस्य सोऽन्त्यसदेश इति विग्रहात्) एवं च यग्रहणं व्यर्थमेव । यत् तु अवर्णलोपस्य "स्वरस्य परे प्राग्विधौ" [७.४.११०.] इति स्थानिवत्त्वेनात्र यकारस्यान्त्यत्वाभावात् लुक् न स्यादिति, तन्न, यतो नात्र प्रत्ययनिमित्ता लुक् , येनावर्णेनागतेन प्रत्ययस्य व्यवधानात् तदप्रवृत्तिः स्यात् , न वाऽवर्णस्य स्थानिवत्त्वे यकारस्यान्त्यसदेशत्वाभावः । अन्त्यत्वाभावेऽन्त्यसदेशत्वस्य वस्तुतस्तत्र सतोऽप्रहर्तुमशक्यत्वात् । अतो वैयर्थ्यं स्वीकृत्योत्तरयति—**सत्यमिति** स्वीकारः । उत्तरं चाह—**यग्रहणं यशब्दस्य समुदायस्यैव लोपार्थमिति** ।

ननु कस्तावत् समुदायलोपेऽवयवलोपे वा विशेषः ? नात्र किमप्यग्रे विधेयमस्ति, यदवर्णस्य पूर्वं लोपे ततो व्यञ्जनमात्रलोपे सति स्थानिवद्भावकृतो विशेषः स्यात्—इत्याशङ्क्योत्तरसूत्रे पले भेदं स्फोरयति-**तेनोत्तरसूत्रे** इत्या दना । अयमाशयः – अत्र सूत्रे फलाभावेऽप्युत्तरसूत्रे लुड्मात्रस्यानुवृत्तौ अवर्णलोपोत्तरं यलुकि पुनः कंसीत्यत्रेकारस्य लुक् प्राप्तौ " स्वरस्य परे प्राग्विधौ " [७.४.११०.] इत्यवर्णलोपस्य स्थानित्वे प्रत्ययपरत्वाभावाल्लुक् न स्याद् इति कांस्यमिति रूपं न सिद्ध्येत् । समुदायस्य लोपे च स्वरमात्रोद्देश्यकादेशाभावात् स्थानिवत्त्वं न भवतीति ॥६।२।४०॥

कंसीयाञ् ञ्यः ॥६।२।४१॥

कंसाय इदं कंसीयं 'परिणामिनि तदर्थे' [७.१.४४.] **इतीयः । कंसीयशब्दाद् विकारे ञ्यः प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे यशब्दस्य लुक् च । कंसीयस्य विकारः कांस्यम् ॥४१॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कंसी० । कंसीयशब्दस्य तद्धितान्तत्वेन तद्व्युत्पत्तिमपि ग्राहयति—**कंसाय हितमिति** । कमुदकं सनति भजतीति कंसः स्वल्पमुदकपानपात्रम् । तस्मै इदमिति प्रकृति-विकृतिभावरूपतादर्थ्ये "परिणामिनि तदर्थे" [७.१.४४.] इति ईयप्रत्यये कंसीयशब्दव्युत्पत्तिरित्यर्थः । विकारे इति प्रकरणार्थसम्बन्धः, यलुक् चेति च पूर्वसूत्रानुसृतमिति सूत्रार्थं तथाह—**कंसीयशब्दाद् विकार** इत्यादिना । य इति च समुदायलुगाश्रयणात् स्वरविधित्वाभावात् स्थानित्वाभावे ईकारलोपे आदिस्वरवृद्धौ च कांस्यशब्दसिद्धिः । अत्र यद्वक्तव्यं तत् पूर्वसूत्रव्याख्यायामेवोक्तम् ॥६।२।४१॥

हेमार्थान्माने ॥६।२।४२॥

हेमवाचिनः शब्दान्माने विकारे वाच्ये यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति । दुमयटोऽपवादः ।

हाटकस्य विकारः हाटको निष्कः । हाटकं कार्षापणम् । जातरूपो निष्कः । जातरूपं

"Aho Shrutgyanam"

कार्षापणम् । हैमो निष्कः, हैमं कार्षापणम्, इत्यत्र परत्वाद्धेमादिलक्षणोऽञेव । अर्थग्रहणं स्वरूपविधिव्युदासार्थम् । मान इति किम् ? हाटकमयी यष्टिः ॥४२॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–हेमा०। हेम सुवर्णमर्थोऽभिधेयो यस्य स हेमार्थ इति समासेन हेमवाचकाच्छब्दादित्यर्थो लभ्यते तदाह – **हेमवाचिन** इति । **यथाविहितमणिति** –"प्राग्जितादण्" [६.१.१३.] इत्यधिकारसूत्रपरिप्राप्तोऽण् भवति । अनुक्तप्रत्ययान्तरस्थले तस्यैव विधेराश्रितत्वादिति भावः । ननु तर्हि सामान्यत एव "विकारे" [६.२.३०.] इति सूत्रेणैवाणि सिद्धे विशिष्यानेनाणो विधानं व्यर्थमिति **चेदत्राह – दुमयटोऽपवाद** इति दुलक्षणस्य मयटोऽपवाद इत्यर्थः । शकटशब्दो हि दुसञ्ज्ञः "वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः [६.१.८.] इति सूत्रेण दुसंज्ञासद्भावात् । तस्मात् "दोरप्राणिनः" [६.२.४९]इति मयट् प्राप्तः । तद्बाधनार्थमणो विशिष्यविधानमित्यर्थः । हाटक-जातरूपशब्दौ हेमवाचिनौ तभ्यामणि हाटकः जातरूप इति ।

ननु हेम्नो विकार इत्यर्थे हेमशब्दस्यापि हेमवाचकत्वात् ततोऽणि "अणि" [७.४.५२.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपनिषेधे सति 'हैमन' इतिरूपेण भवितव्यं कथं हैम इति प्रयोग इत्याशङ्कां मनसि निधायोत्तरमाह – **हैमो निष्कः, हैमं कार्षापणमित्यत्र परत्वाद्धेमादिलक्षणोऽञेवेति** । अयमाशयः–अस्य सूत्रस्य हेमार्थेभ्यो हाटकादिशब्देभ्यः प्रत्ययविधानेन चरितार्थत्वात् "हेमादिभ्योऽञ्" [६.२.४५.] इति सूत्रस्य च हेमशब्दादञोऽविधाने तदंशे चारितार्थ्याभावादनवकाशत्वात् परत्वाच्च हेमशब्दाद् विकारेऽर्थेऽञेव स्यादिति नानेनाण् । तथा चान्त्यस्वरादिलोपे हैम इत्येव रूपमिति ।

ननु मानादन्यस्मिन् विकारेऽर्थेऽञस्तु माने च विशिष्य विधानात् प्रतिपदोक्तत्वादनेनाणेवाऽस्तु, इत्युभयोर्व्यवस्थया हैमनः निष्कः, हैमनं कार्षापणमित्येव युक्तमिति चेदत्राह–**अर्थग्रहणं स्वरूपविधिव्युदासार्थमिति** । अयमाशयः — बहुवचननिर्देशस्य पर्यायपरिग्रहार्थत्वस्य बहुत्र दृष्टतया, हेमेभ्यो माने इत्येव सूत्र्यतां तावताऽपि हाटक–जातरूपादीनां परिग्रहस्य सिद्धतयाऽर्थग्रहणं व्यर्थं सत् स्वरूपात् (हेमशब्दात्) अणो विधानस्य व्युदासं गमयति । तथा च मानेऽपि वाच्ये परत्वादञेव भविष्यतीति हैमनो निष्क इति न भवति । मानग्रहणफलं दर्शयति – **मान इति किमित्याशङ्क्य हाटकमयी यष्टिरिति** । हाटकस्य विकार इत्यर्थे यष्टौ वाच्यायां दुनिमित्तः "दोरप्राणिनः" [६.२.४९.] इति मयडेव भवति, न त्वण् मानग्रहणाभावे चाणेव स्यादिति भावः ॥६।२।४२॥

द्रोर्वयः ॥६।२।४३॥

द्रुशब्दान्माने विकारे वयः प्रत्ययो भवति । यस्यापवादः । द्रोर्विकारो द्रुवयं मानम् ॥४३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—द्रोर्वयः०। माने इति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । विकारे इति च प्रकरणप्राप्तमेव प्रत्ययार्थत्वेन युज्यते । माने इति प्रकृति-प्रत्ययसमुदायवाच्यार्थनिर्देशः । द्रुशब्दात् "पयो–द्रोर्यः" [६.२.३५.] इति सूत्रेण पूर्वं यः प्रत्ययोऽपि विकारे विहित इति तेन सहास्य समावेश उत बाध्य-बाधकभाव इति चिन्तायामाह – **यस्यापवादः** इति । केवले विकारे तस्य चारितार्थ्येन प्रकृति-प्रत्ययसमुदायेन माने वाच्येऽयं विशिष्यविहित इति* सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्* इति न्यायात् परत्वाच्चानेन वय एव भवतीति भावः ॥६।२।४३॥

मानात् क्रीतवत् ॥६।२।४४॥

मीयते परिच्छिद्यते येन तन्मानम् इयत्तापरिच्छित्तिहेतुः संख्यादिरुच्यते । मानवाचिनः शब्दाद् विकारे क्रीतवत् प्रत्ययविधिर्भवति ।

शतेन क्रीतं शत्यं, शतिकम् । शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः । एवं साहस्रः नैष्किकः । वत् सर्वविधिसादृश्यार्थं तेन : । लुबादिकस्याप्यतिदेशो भवति ।

द्विशतः । त्रिशतः । द्विसहस्रः, द्विसाहस्रः । द्विनिष्कः द्विनैष्किकः ॥४४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम् — मानात्०। मानं चित्तसमुन्नतिः " इत्यादिकोशबालान्मानशब्दस्यानेकार्थत्वस्य दृष्टतया प्रकृते ग्राह्यमर्थव्युत्पत्तिदर्शनपूर्वकमाह– **मीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यादि** । परिच्छेदोऽपि बहुविधो भवति, देशतः कालतो वस्तुतश्च । देशतोऽपि मानं बहुप्रकारम्, तथाहि–किञ्चनायामतो मितिकरणम् , किञ्च-

"Aho Shrutgyanam"

नोर्ध्वदेशमितिकरणम्, किञ्चन सर्वदेशतो मितिकरणम्, अन्यदेभ्यो विलक्षणमेव बहिर्मितिकरणम्। तथा चोक्तम्—

"ऊर्ध्वमानं किरोन्मान परिमाणं तु सर्वतः ।
"आयामस्तु निमानं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः"
॥इति॥

एवं च विलक्षणे माने वृत्तिमान् संख्यादिरेवेह मानपदेन गृह्यते। **इयत्तापरिच्छित्तिहेतुरिति** स्वरूपकथनम्। इदं परिमाणमस्येतीयत् तस्य भाव इयत्ता तस्या भाव इयत्ता तस्याः परिच्छित्तिनिश्चयः तस्य हेतुः कारणमित्यर्थः, संख्या हि वस्तुगणनाविषयकसंशयो निवर्तते इति तस्याः इयत्तापरिच्छेदहेतुत्वम्। एवं चेह मानपदेन शतादिका संख्या गृह्यते इत्यर्थः। **क्रीतवत् प्रत्ययविधिरिति**। क्रीतार्थे यस्माच्छब्दाद् यः प्रत्ययो वक्ष्यते तस्मात् स एव प्रत्ययो विकारेऽपि भवतीत्यर्थः। यथा शतशब्दात् "शतात् केवलादतस्मिन् येकौ" [६.४.१३१.] इति येकौ क्रीतेऽर्थे विधीयेते इति तौ मानवाचकात् तस्माद् विकारेऽपि भविष्यतः। सहस्रशब्दाच्च "सहस्रशतमानादण्" [६.४.१३६.] इत्यण् विहितः इतीहापि स एव भविष्यति। तथैवोदाहरति—**शतेन क्रीतमित्युपक्रम्य** शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः। एवं **साहस्रः, नैष्किक** इति। "निष्कशब्दाद इकण्" [६.४.१.] इत्यधिकारप्राप्त इकणेव क्रीतेऽर्थे विधीयते इतीहापि स एव भवति। **वत् सर्वविधिसाहश्यार्थ** इति। अयमाशयः-मानात् क्रीतवदित्युक्ते द्वावर्थौ प्रतीयेते, क्रीते ये प्रत्यया उक्तास्ते मानवाचकाद् विकारेऽपि भवन्तीत्येकः, द्वितीयश्च मानात् क्रीते येऽप्र त्यया उक्तास्ते विकारे सर्वस्मान्नाम्नो भवन्ति। उभयथा च दोषः प्राप्तति, पूर्वस्मिन्नर्थे मानवाचकाद् विकारे, क्रीतार्थे विहिताः सर्वे प्राप्नुवन्ति, अपरस्मिंश्च पक्षे मानवाचकात् क्रीतार्थे सर्वेभ्यो नामभ्यः प्राप्नुवन्ति। एवं चोभयथा दोषस्य जागरूकत्वेन कोऽर्थो निर्णेय इत्याशङ्कायामिदमुक्तम्। सर्वथा हि सादृश्यं वत्प्रत्ययेनोच्यते, तथा च याभ्यः प्रकृतिभ्यः क्रीतार्थेन येन विशेषणेन ये प्रत्यया विहितास्ताभ्यस्तेनैव विशेषणेन प्रकृतेः मानवाचकत्वे सति ते प्रत्यया भवन्ति, इत्येतावत्यर्थे सत्येवैषां क्रीतवद् विधानं स्यात्। यदि च प्रकृतिमात्रात् (सर्वस्याः प्रकृतेः) स्यात् प्रत्ययमात्रं वा (सर्वे प्रत्ययाः) स्यात् तर्हि नैव मानात् क्रीतवद् विधानं स्यात्। फलान्तरमप्याह—**तेन लुबादिकस्याप्यतिदेशो भवतीति**। अन्यथा प्रत्ययस्यैवातिदेशे मानात् क्रीतार्थे विहितस्य प्रत्ययस्य यथा लुप् भवति तथा मानात् विहितस्य तस्य लुब् न स्यात्। तत्फलं दर्शयति—**द्विशतः, द्विसहस्र** इत्यादिना। द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीत इत्यर्थे "संख्या-डतेः" [६.४.१३०.] इति के तस्य "अनाम्यद्विः प्लुप्" [६.४.१४१.] इति पिति लुपि सति द्विशत इति भवति, तथा द्वयोः शतयोर्विकार इत्यर्थेऽपि भविष्यतीति भावः। द्वाभ्यां सहस्राभ्यां निष्काभ्यां वा क्रीत इत्यर्थे तु द्विसहस्रशब्दात् क्रीतार्थे विहितस्याणः "नवाऽणः" [६.४.१४२.] इति वा प्लुप् भवति, द्विनिष्कशब्दाद् विहितस्येकणश्च "द्वि-त्रि-बहोर्निष्क-विस्तात्" [६. ४.१४३.] इति वा प्लुप् भवति, इतीहापि तथैव भवतीति ॥६।२।४४॥

देमादिभ्योऽञ् ॥६।२।४५॥

हेमन् इत्येवमादिभ्यो यथायोगं विकारेऽवयवे चार्थे नित्यमञ् प्रत्ययो भवति।

हेम्नो विकारो हैमं शरासनम्। हैमी यष्टिः। रजतस्य राजतः।

हेमन् रजत उदुम्बर नीवुदार रोहीतक बिभीतक कण्डकार गवीधुका पाटली श्यामाक बर्हिण इति हेमादयः।

आकृतिगणार्थम्। हेम्नोऽण्बाधनार्थमञ्वचनम्। अणि हि सति 'अणि' [७.४.५२.] इत्यन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यात्। पाटली-श्यामाक-बार्हिणानां दुलक्षणस्य शेषाणां तु वैकल्पिकस्य मयटो बाधनार्थम् ॥४५॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्—हेमा०। नित्यमञ्प्रत्ययो भवतीति। अयमाशयः; "हेम्नोऽञ्" इत्येव न्यासः क्रियताम्; गणनिर्देशो व्यर्थः; रजतादिभ्योऽणि अञि च रूपे विशेषाभावात् स्वाभाविकेनाणैव निर्वाहात्। गणनिर्देशो व्यर्थः सन् "अभक्ष्याच्छादने वा मयट्" [६.२.४६.] इत्युत्तरसूत्रेण विकल्पेन प्राप्तस्य मयटो बाधनार्थत्वं स्वस्य सूचयति, तेन चास्य नित्यत्वं सिध्यति। पाणिनीये नये तु "मयड् वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः"। [पा०सू०४.३.१४३.] इति सूत्रे शब्दकौस्तुभेऽधिकारादेव सिद्धे एतयोरिति वचनमित उत्तरेषां "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" [पा०सू०४.३.१४४.] इत्येवमादीनामपि विषये पक्षे प्रवृत्त्यर्थमित्युक्तम्, तेन रजतमयं पात्रमित्यादयः प्रयोगास्तन्मते

"Aho Shrutgyanam"

इष्ट एव । तत्रैव सूत्रे भाष्येऽपि मयड् वैतयोरिति वचनमपवादविषयेऽपि प्रवृत्त्यर्थमित्युक्तम् । एवं च "न श्रूयते हेममयः कुरङ्गः" इत्यादयः कविप्रयोगा अप्युपपद्यन्ते । एवं चात्र विषये उभयोस्तन्त्रयोः फले भेदः स्पष्टः । **हैमं शरासनमिति,** अञि आदिस्वरवृद्धौ "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे हैममिति । "स्त्रियां ङीः हैमी यष्टिरिति । गणं निर्दिशति- **हेमन् रजत** इत्यादिना । हेमादेरित्येकवचनेन निर्देशेऽपि गणपठितेभ्योऽञः सिद्धौ बहुवचननिर्देशः किमर्थ इत्याशङ्कायामाह– **बहुवचनमाकृतिगणार्थमिति** तेन काञ्चनस्य विकारः काञ्चनमित्याद्यपि सिध्यति । **हेम्नोऽण्बाधनार्थमञ्वचनमिति** । अयमाशयः–हेमादिभ्य इत्येव सूत्र्यताम्, तावताऽपि विधानसामर्थ्यादेव नित्यत्वं सेत्स्यति, अण्ग्रहणं च प्रकृतम्, नहि रजतादीनामणि अञि वा रूपे भेदः, इत्यञ्विधानं केवलं हेमन्शब्द एव विशेषरूपलाभार्थमिति "हेमार्थान्माने" [६.२.४२.] इति बाधनार्थमेवेति विज्ञायते । तमेव विशेषं विवृणोति–अणि हि सति "अणि" [७.४.५२.] इत्यन्त्येस्वरादेर्लुक् न स्यादिति । ननु तर्हि केवलं हेम्न एवाञ् विधीयतां किमिति गणनिर्देशेनान्येभ्योऽपि विधीयते इत्याशङ्कायामाह– **पाटलीश्यामाकबर्हिणानां** दुलक्षणस्येत्यादि । तथाऽणपवादबाधनार्थमेव गणनिर्देशेन विधानमिति फलितम् ॥६।२।४५॥

अभक्ष्याच्छादने वा मयट् ॥६।२।४६॥

षष्ठ्यन्ताद् भक्ष्याच्छादनवर्जिते यथायोगं विकारेऽवयवे च मयट्प्रत्ययो वा भवति ।

भस्मनो विकारः भस्ममयम्, भास्मनम् । अश्मनो विकारः अश्ममयम्, आश्मनम् । विकारेऽवयवे वा कपोतमयम्, कापोतम् । दूर्वाया विकारेऽवयवे वा दूर्वामयम्, दौर्वम् । मूर्वामयम्, मौर्वम् । करीरमयम्, कारीरम् । शिरीषमयम्, शैरीषम् । अभक्ष्याच्छादन इति किम् ? मौद्गः सूपः । कार्पासः पटः । भक्ष्याच्छादनयोर्मयडभावपक्षे 'तालाद् धनुषि' [६.२.३२.] इत्यादिको विधिः सावकाशः । अयं च भस्ममयम् इत्यादौ । तत्रोभयप्राप्तौ परत्वादनेन मयट् भवति ।

तालमयं धनुः । त्रपुमयम् । जतुमयम् । शमीमयम् । पयोमयम् । द्रुमयम् । उष्ट्रमयम् । उमामयम् । ऊर्णामयम् । एणीमयम् । कोशमयम् । परशव्यमयम् । कंसीयमयम् । शतमयम् । एके तु तालाद् धनुषि द्रोः प्राणिवाचिभ्यश्च मयटं नेच्छन्ति ॥४६॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्–अभक्ष्या० । तस्येति प्रकृतम्, षष्ठ्यन्तसामान्यमिह प्रकृतित्वेनाश्रीयते । विकारावयवौ चार्थौ पूर्वमुपक्रान्ताविति तयोरर्थयोर्यथायोगं संबन्धः । अभक्ष्याच्छादने इति च समुदायविशेषणम् । प्रकृतिप्रत्ययान्तसमुदायेन भक्ष्यमाच्छादनं चार्थो यदि न कथ्येतेति पर्यवसीयते । उदाहरति–**भस्मनो विकार** इत्यादिना । भस्मनोऽवयवार्थस्य विवक्षाया अनुपयुक्ततया केवलं विकारे उदाहरणम् । कपोतादीनां प्राणिनां दुर्वादीनामजङ्गमप्राणिनां चावयवार्थेन प्रयोगस्य विवक्षासंभवात् तथैव विग्रहप्रदर्शनम् । पक्षे च स्वाभाविकोऽण् ।

पदकृत्यं पृच्छति–**अभक्ष्याच्छादन इति किमिति** । तयोर्वाच्यत्वे मयणेष्ट इत्याह–**मौद्गः सूपः, कार्पासः पट** इति । पूर्वत्र भक्ष्यार्थत्वं परत्राच्छादनार्थत्वम् । ननु प्रतिपदविहितानामनवकाशत्वेन तालमयं धनुरित्यादौ "तालाद् धनुषि" [६.२.३०.] इत्यादीनां प्रवृत्त्या तेषां च नित्यतया तद्विहितप्रत्ययरहितावकाशाभावाद् मयटः प्रवृत्त्यभावेन तालमयं धनुरित्यादयः प्रयोगा न स्युः इत्याशङ्क्य तेषामवकाशप्रदर्शनपूर्वकमपवादत्वाभावसंपादनद्वाराऽस्य वैकल्पिकत्वानवकाशभिया प्रथमप्रवृत्तिसंपादनद्वारा च तेषामपि पक्षे प्रवृत्तिमुपपादयितुमाह–**भक्ष्याच्छादनयोर्मयडभावपक्षे चेत्यादि** ।

अयमाशयः–इदं हि सूत्रं भक्ष्याच्छादनयोर्वाच्ययोर्न प्रवर्तते, इति तयोरर्थयोरस्याप्रवृत्त्या प्रतिपदविधीनामस्त्यवकाश इति । नन्वेवमपि यत्र भक्ष्याच्छादनयोरर्थयोर्वाच्यत्वासंभवस्तत्र चास्य प्रवृत्तिर्दुर्वारेति तादृशप्रतिपदविधेरनवकाशत्वं स्यादेव, यथा-**तालाद् धनुषि"** [६.२.३०.] इति पूर्वमुदाहृतसूत्रविषये इति चेदत्राह–**मयडभावपक्षे चेति** । अस्य वैकल्पिकत्वेन परत्वात् पूर्वप्रवृत्तावपि पाक्षिकतयाऽप्रवृत्तिदशायां तेषामवकाशस्य सत्त्वादनवकाशत्वरूपबलाभावः इति भावः । ननु तर्हि सर्वत्र कस्यचन नित्यस्य विधेः प्राप्त्याऽयमेव विधिरनवकाश इति चेदत्राह– **अयं च भस्ममयमित्यादौ** इति । तेषु कस्यापि प्रतिपदविधेरप्रवृत्त्या मयटोऽवकाशः सुलभ इति भावः । एवं रीत्या प्रतिपदविधीनामस्य च परस्परं लब्धावकाशत्व-

"Aho Shrutgyanam"

मुपपाद्याधुना प्रवृत्तिक्रमं दर्शयन्नाह–**तत्रोभयप्राप्ताविति**त्यादि । अभक्ष्याच्छादनयोरुभयोः प्रतिपदविधेरस्य च प्राप्तौ सत्यामित्यर्थः। **परत्वादनेन मयड् भवती**ति । "स्पर्धे" [७.४.११९.] इति परिभाषया पूर्वं मयटि तदभावपक्षे प्रतिपदविधीनां प्रवृत्तिरिति भावः। तथा च प्रयोगान् दर्शयति–**तालमयमि**त्यादिना ।

मतान्तरमाह–**एके तु तालाद् धनुषि** इत्यादिना । अयमाशयस्तेषां यदि धनुष्यर्थेऽपि मयट् प्रवर्तेत तर्हि तालशब्दस्य दुसंज्ञकत्वेन "दोरप्रणिनः [६.२.४९.] इति परत्वान्मयटि तस्य च नित्यत्वेन तदव्याप्तावकाशाभावेन "तालाद् धनुषि" [६.२.३०.] इत्यस्यावकाश एव न स्यादिति निरवकाशत्वेन तद्विधये मयड् न प्रवर्तत इति। द्रुशब्दस्यैकस्वरत्वेन तस्मात् "एकस्वरात्" [६.३.४८.] इति नित्यमेव मयट् स्यात् इति "द्रोर्वयः" [६.२.४३.] इति "पयो-द्रोर्यः" [६.२.३५.] इत्येतयोरनवकाशत्वं स्याद् इति मयड् न प्रवर्तते। प्रणिवाचिनस्त्वनभिधानान्न प्रवर्तत इति ॥६।२।४६॥

शर-दर्भ-कूदी-तृण-सोम-बल्वजात् ॥६।२।४७॥

शरादिभ्यो यथायोगं भक्ष्याच्छादनवर्जिते विकारेऽवयवे च नित्यं मयट्प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः ।

शरमयम्। दर्भमयम्। कूदीमयम्। तृणमयम्। सोममयम्। बल्वजमयम् ॥४७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शर०। स्पष्टा सूत्रवृत्तिरुदाहरणानि च । अत्रैव एकस्वरस्यापि ग्रहणे कर्तव्ये पृथग्योगोऽग्रे कुत इत्याशङ्कायामित्थं समादधति–अत्र सूत्रे सर्वेषामदुसंज्ञकानां साहचर्यात् अग्रे च "दोरप्राणिनः" [६.२.४९.] इति दुसंज्ञकाद् विधानादत्रादुसंज्ञक एवैकस्वरो गृह्यते इत्यर्थप्रतीत्यापत्तौ वाङ्मयम् इत्यादि प्रयोगाणामसिद्धिरिति ॥६।२।४७॥

एकस्वरात् ॥६।२।४८॥

एकस्वरान्नाम्नो यथासंभवं भक्ष्याच्छादनवर्जिते विकारेऽवयवे च नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति।

वाङ्मयम्। त्वङ्मयम्। मृण्मयम्। स्रुङ्मयम्। गीर्मयम् धूर्मयम् ॥४८॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्–एक० । यद्यपि वाङ्मयम्, गीर्मयम्, धूर्मयमित्यादौ न विकारार्थस्य न वाऽवयवार्थस्य प्रतीतिः, अपि तु प्राचुर्यार्थस्यैव, वाचोऽवयवस्य सम्भवेऽपि तादृशार्थस्य प्रकृतप्रयोगेणाप्रतीयमानत्वात् । प्रकृति-विकृतिभावासंभवाच्च विकारार्थस्यासंभव एव। तथापि शास्त्रस्यान्यार्थमावश्यकत्वेन वाचो विकारोऽवयवो वेत्यर्थविवक्षा चेत् कस्यापि स्यात् तदा प्रकृतप्रयोगः कर्तुं शक्यत इति संभावनामात्रेणोदाहरणमिति विज्ञेयम् ॥६।२।४८॥

दोरप्राणिनः ॥६।२।४९॥

दुसंज्ञकादप्राणिवाचिनो यथायोगं भक्ष्याच्छादनवर्जिते विकारेऽवयवे च मयट्प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः ।

आम्रमयम। शालमयम्। शाकमयम्। काशमयम्। तन्मयम्। यन्मयम्। अप्राणिन इति किम्? श्वाविधोविकारोऽवयवो वा शौवाविधम्। श्वाविन्मयम्। चाषं चाषमयम् वा(भा)स वा(मा)समयम् ॥४९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–दोरप्रा०। दुसंज्ञा "संज्ञादुर्वा" [६.१.६.] इति प्रकृत्य "प्राग्देशे" [६.१.१०.]इति पर्यन्तं पञ्चभिः सूत्रैर्विहिता । अप्राणिवाचिन इति प्रणिवाचिभिन्नादित्यर्थः । प्रणित्वं प्रकृतशास्त्रे त्रसानामेव न तु स्थावराणामिति "प्राण्यौषधि-वृक्षेभ्योऽवयवे च" [६.२.३१.] इति सूत्रे सिद्धान्ततमिति, आम्रादिवृक्षाणां फलानां वाऽप्राणित्वमेव । अन्यथा तेष्वपि चेतनायाः–अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विता" इत्यादि स्मृतिबलेन प्रत्यक्षेण च सिद्धत्वाद् अद्भिर्विना ग्लायमानत्वरूपप्राणिलक्षणस्य च सत्त्वेन प्राणित्वमेवेति तदुदाहरणमसङ्गतं स्यात्

अणोऽपवाद इति । विकारेऽवयवे चार्थे प्राप्तस्यौत्सर्गिकस्येति शेषः । आम्र-शाल-शाक-काशशब्दा "वृद्धिर्येस्य स्वरेष्वादिः" [६.१.८.] इति सूत्रेण दुसंज्ञकाः । तद्यच्छब्दौ "त्यदादिः" [६.१.७.] इति सूत्रेण दुसंज्ञकौ । तेषां यथासंभवं विकारेऽवयवे चार्थेऽनेन मयड् भवति । व्यावर्त्य पृच्छति–**अप्राणिन इति किमिति**? अप्राणिग्रहणेन किं व्यावर्त्यमिति जिज्ञासा । **श्वाविधो विकार** इति । श्वानं विध्यति श्वाविद् वन्यो जन्तुविशेषः, ततो विकारेऽवयवे वा औत्सर्गिकेऽणि "द्वारादेः" [७.४.६.] इति वात् प्राप्तेति शौवाविधमिति । "अभक्ष्याच्छादने

"Aho Shrutgyanam"

मयट्" [६.२.४६.] इति परत्वान्मयटि स्वाविन्मयमिति पाक्षिकं रूपम् । चाष-भासौ पक्षिणौ, 'वास' इति पाठस्तु प्रमादिकः, तन्नाम्नः प्राणिनोऽश्रवणात् । एतावपि दुसंज्ञकौ किन्तु प्राणिनाविति वैकल्पिक एव मयट् भवति नानेन । अप्राणिन इत्यस्याभावे तु स दुर्वार इति भावः ॥६।२।४९॥

गोः पुरीषे ॥६।२।५०॥

गोशब्दात् पुरीषेऽर्थे मयट् प्रत्ययो भवति ।

गोः पुरीषं गोमयम् । पुरीष इति किम् ? गव्यं पयः । गव्यं सक्थि । 'गोः स्वरे यः' [६.१.२७.] इति यः । यद्यपि पुरीषं विकारत्वेन न प्रसिद्धं तथापि दोष-धातु-मलमूलं शरीरमिति विवक्षायां तात्स्थ्यात् तद्व्यपचार इति गोः पुरीषं पयश्च विकारो भवति । 'एकस्वरात्' [६.२.४८.] इत्येव सिद्धे पुरीषे नियमार्थं वचनम् ॥५०॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—गोः पुरीषेऽर्थे इति । विकारार्थप्रकरणत्वेन प्रत्ययस्य तस्मिन्नेवार्थे विधानम्, पुरीषार्थश्च प्रयोगोपाधिः । गोः पुरीषमिति विग्रहप्रदर्शनमपि औपाधिकार्थमादायैव । अन्यथाग्रे विकारार्थस्य संबन्धानुपपत्तेः । व्यावर्त्यप्रदर्शनाय **शङ्कते—पुरीष इति** अयमाशयः—प्रकृते विकारार्थ एव प्रत्ययो विधीयताम्, **किमिति** । पुरीषार्थप्रत्ययस्तु अभिधानस्वाभाव्यादेव भविष्यति । उक्तं हि सांप्रदायिकैः—अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तमिति । अस्यायमाशयः—शब्दाः प्रकृतिप्रत्ययार्थमाश्रित्य व्युत्पाद्यन्ते तेषां प्रयोगविषयोऽर्थश्च लोकत एव निर्णीयते इति । उत्तरयति प्रत्युदाहरणेन—**गव्यं पय** इति । अयमाशयः—अस्तु गोमयशब्दस्य पुरीषार्थ एव प्रयोगोऽभिधानस्वाभाव्यात्, किन्तु शास्त्रेण यदि सामान्यतो विकारार्थ एव प्रत्ययो विधास्यते तर्हि सोऽन्यस्मिन्नपि विकारे दुर्वार एव स्यात् । अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तमिति रूढिस्थलाभिप्रायम् — रूढिर्योगापहारिणीति प्रसिद्धेः । यत्र चावयवार्थप्रतीतिसंभवो न तत्र रूढिकल्पनोचितेति पय आदिगोविकारार्थे गोमयशब्दस्य प्रयोगवारणाय पुरीष इति वक्तव्यमेवेति । गव्यं पय इति विकारार्थे, **गव्यं सक्थि** इति चावयवार्थे प्रयोगः । प्रत्ययविधायकसूत्रं स्मारयति **गोः स्वरे य** इति ।

पनः **शङ्कते—यद्यपीत्यादि** । अयमाशयः—विकारशब्दस्य द्वावर्थौ पूर्वमुक्तौ यौ च प्रायः प्रतिपादनरीत्यैव भिन्नौ, वस्तुत एक एव विकारशब्दार्थः । तथाहि—द्रव्यस्यावस्थान्तरं विकार इति, प्रकृतेरवस्थान्तरं विकार इति वा । गोश्चनावस्थान्तरं पुरीषमपि तु गोभक्षिताहारस्यैवावस्थान्तरं पुरीषपदवाच्यम् । एवं च विकारार्थमध्येऽस्य सूत्रस्य पाठोऽनुचित इति । उत्तरयति —**तथा ऽपीति** । विकारत्वाभावेऽपीत्यर्थः। **दोषधातुमलमूलं हि शरीरमिति** । दोषाश्च वात-पित्त-कफाः, धातवः रस-रक्त-मज्जादयः, मलानि मूत्र-पुरीष-स्वेदादीनि— तेषां समाहारः दोषधातुमलम्, तदेव मूलमुपादानकारणं यस्य तादृशं शरीरमित्याख्यायते इति शारीरकविदां संप्रदायः । गौरिति आकारविशेषविशिष्टस्य शरीरस्य नाम । शरीरे च आहारादिसर्वं मन्तर्भूतमिति शरीरस्थत्वेनाहारोऽपि तच्छब्देनोपचर्यते—लक्षणया बोध्यते । तत्र हेतुमाह—**तात्स्थ्यात् तद्व्यपचार** इति तस्मिँस्तिष्ठतीति तत्स्थः, तस्य भावस्तात्स्थ्यं तस्माद्धेतोः तद्वत् —शरीरवदुपचारो गौणः शब्दप्रयोग इत्यर्थः । अयमाशयः —यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ मञ्चानामचेतनानां क्रोशनक्रियाया अनुपपत्त्या, वक्तृतात्पर्यानुपपत्तिरूपा लक्षणा तात्स्थ्यरूपसंबन्धनिमित्तिका भवति, तेन च मञ्चपदस्य मञ्चस्थपुरुषबोधकत्वमाश्रित्य वक्तृतात्पर्योपपत्तिः सम्पाद्यते । एवमिहापि पुरीषस्य गोविकारत्वानुपपत्तौ सत्यां तात्पर्यानुपपत्तिरिति गोशब्दस्य गोशरीरस्थाहारपरत्वमाश्रित्य तेन सह पुरीषस्य प्रकृति-विकृतिभावः सूपपाद इति ।

अत्र चेदं समाधानद्वयमिति प्रतिभाति, तत्र दोषधातुमलमूलं शरीरमिति विवक्षायामित्येकं समाधानम्, परं च तात्स्थ्यात् तद्व्यपचार इति । पूर्वेण मलपर्यन्तस्य शरीरशब्दवाच्यतया शरीर एव च गोपदशक्तेः मलस्य शरीरावयवत्वस्य सूपपादत्वमिति तदेकं समाधानम् । तात्स्थ्यात् तद्व्यपचार इत्यपि गोशरीरस्थत्वेन गोभुक्ताहारस्यापि गोशब्दवाच्यतया तदवयवत्वेन गोभुक्ताहारविकारस्यापि तद्विकारत्वमितीदमपि समाधानं पृथगेव । एवं च चकारस्य वाशब्दस्य वा पाठोऽत्र युक्तः स्यात्, परं तु विनापि चञ्चार्थो गम्यत इति वृद्धपरम्पराव्यवहारेण चकाराभावेऽपि क्षत्यभावः । पाणिनीये तन्त्रे च "गोश्च पुरीषे" [पा०सू० ४.३.१४५.] इतिसूत्रे शब्दकौस्तुभे "गोमयं पुरीषं न विकारो नाप्यवयवः तथापि तस्येदमित्यर्थेऽयं प्रयोगो बोध्यः" इत्युक्तम् । तेनात्र संबन्धमात्रविवक्षायां मयट्प्रत्ययः, विकाराधिकारमध्ये पाठश्च प्रत्ययप्रकरणागत इति न दोषः । विकारावयवयोश्चार्थयोरैक्यमित्येव

"Aho Shrutgyanam"

युक्तमित्येवं लक्षणाश्रयणावश्यकता वारिता भवति। विकारप्रकरणे पाठस्य तदर्थ एव प्रत्ययविधानार्थत्वपक्षपातिभिश्च नव्यैर्वैयाकरणैः पूर्वोक्तरूपेणैव लक्षणाश्रयणं क्रियते। वयं तु जघन्यवृत्तिसमाश्रयणापेक्षया प्रकरणविरोधमेव सह्यं मन्यामहे। भवति च मयटः प्रत्ययस्य प्रकरणसंपादकत्वमपि। इदमर्थलाभायापि किञ्चिदुपायान्तरमाश्रयणीयमिति। अत्र पक्षेऽपि गौरवमस्ति। स चोपायः गोशब्दे तन्त्रेण षष्ठी-पञ्चमीविभक्तयोर्निर्देश इति कल्पनारूपः। तथा च गोः पुरीषे वाच्ये गोशब्दान्मयड् भवतीति सूत्रार्थः। विकारार्थस्याग्रे संबन्धाय च मण्डूकप्लुत्याश्रयणं कर्तव्यम्, एवमपि गौरवमेव भवतीति पर्यालोच्यैव वृत्तिकृता समाधानद्वयमिदं दत्तमित्येव ज्यायान् पन्थाः। सूत्रस्य नियमार्थत्वमुपपादयति "एकस्वरात्" [६.२.४८.] इत्येवमेव सिद्धे इति गोशब्दस्यैकस्वरत्वेनोक्तसूत्रेण यद्यपि प्रत्ययस्य सिद्धिरस्ति तथापि गोशब्दात् पुरीषेऽर्थे वाच्ये सत्येव मयड् नान्यस्मिन् बिकारेऽवयवे वेति नियमार्थं सूत्रमिदमाश्रयमिति भावः। तेनान्यस्मिन्नर्थे यः प्रत्यय एव भवतीति पर्यवसितम् ॥६।२।५०॥

व्रीहेः पुरोडाशे ॥६।२।५१॥

व्रीहिशब्दात् पुरोडाशे विकारे नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः।

व्रीहिमयः पुरोडाशः। पुरोडाश इति किम्? व्रैहं ओदनः। व्रैहं भस्म ॥५१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—व्रीहेः०। व्रह्यते याच्यते इति व्रीहिः "व्रियो हिक्" [उणा०७१०]

"धान्यं तु सस्यं सीत्यं च, व्रीहिः स्तम्बकरिश्च तत्।"

इत्यभिधानचिन्तामणिः। तस्माद् धान्यसामान्यस्य व्रीहिरिति संज्ञा। पुरोऽग्रे दाश्यते दीयते इति पुरोडाशः, पृषोदरादित्वात् साधुः। हविर्द्रव्यस्य नाम। तथा पुरोडाशरूपे विकारेऽर्थे वाच्ये व्रीहिशब्दान्मयड् विधीयते। व्रीहेर्विकारो व्रीहिमयः पुरोडाशः। व्यावर्त्य पृच्छति-पुरोडाश इति किमिति। सामान्यत एव विकारे प्रत्ययो विधीयतामिति प्रश्नः। पुरोडाशादन्यत्रार्थे मयड् नेष्ट इत्युत्तरयति—व्रैह ओदन इत्यादिना ॥६।२।५१॥

तिलयवादनाम्नि ॥६।२।५२॥

तिल यव इत्येताभ्यां विकारेऽवयवे च मयट् प्रत्ययो भवति अनाम्नि। अणोऽपवादः। तिलमयम्। यवमयम्। अनाम्नीति किम्? तैलम्। यवानां विकारो यावः, स एव यावकः ॥५२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तिल०। तिलश्च यवश्चेत्यनयोः समाहारः तिल-यवम्। तदाह-तिल-यव इत्येताभ्यामिति। अनाम्नि-संज्ञाविशेषविवक्षायां न भवतीति भावः। तिलस्यय वस्य वा विकारः तिलयवम्-यवमयमिति। अनाम्नि किमिति। सर्वत्रैव वैकल्पिको मयडस्त्विति भावः। नाम्नि अणेव, नाममिन्ने च मयडेवेति विषयविभागार्थं अनाम्नि इत्यावश्यकमिति भावः। तथैव प्रत्युदाहरति—तैलमिति। इदं च तिलविकारार्थे निष्पन्नमपि पदं रूढया स्नेहमात्रस्य संज्ञा। एवं याव-यावक शब्दावपि यवविकारार्थे निष्पन्नावपि लाक्षारसेऽलक्तके रूढौ। तथा च तत्राणेव भवति, न मयट्। अनाम्नीत्यस्याभावे तु स दुर्वारः स्यात् ॥६।२।५२॥

पिष्टात् ॥६।२।५३॥

पिष्टशब्दाद् विकारे मयट्प्रत्ययो भवति, अनाम्नि। अणोऽपवादः। पिष्टमयम् ॥५३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पिष्टात्। पिष्यते स्मेति पिष्टम्—अन्नचूर्णम्। तस्माद् विकारेऽर्थे मयट्, नाम्नि तु नेत्यर्थः। पिष्टस्य विकारः पिष्टमयम् ॥६।२।५३॥

नाम्नि कः ॥६।२।५४॥

पिष्टशब्दान्नाम्नि विकारे कः प्रत्ययो भवति। पिष्टस्य विकारः पिष्टिका ॥५४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नाम्नि०। पिष्टशब्दादेव नाम्नि वाच्ये विकारे कः। पिष्टिका, पिष्टस्य विकारः वटकादिनिर्माणसाधनम्। पुंसि तु पिष्टक इत्यपूपस्य नाम ॥६।२।५४॥

द्योगोदोहादीनञ् हियङ्गुश्चास्य ॥६।२।५५॥

द्योगोदोहशब्दाद् विकारे नाम्नि ईनञ् प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे च प्रकृतेर्हियङ्गु इत्यादेशः।

द्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनं नवनीतं घृतं वा। नाम्नीत्येव? द्योगोदोहस्य विकार इदमुदश्वित् द्यौगोदोहमित्यणेव भवति ॥५५॥

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्-ओगोदोहा० । दुह्यत इति दोहः दुग्धम् । गवां दोहः गोदोहः, ओ गतपूर्वदिनस्य गोदोहः ओगोदोहः । ओगोदोहशब्दाद् विकारेऽर्थे संज्ञायां **हैयङ्गवीनमिति** सिध्यति, तच्च नवनीतस्य घृतस्य वा नाम । ईनञि सति 'हियङ्ग' इति प्रकृतेरादेशे आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे हैयङ्गवीनमिति । **नाम्नीति किमिति** । रूढयाश्रयणं किमर्थम्, एतद् द्वयमेव (नवनीतं घृतं वा) ओगोदोहस्य विकारो भवति, नान्यदिति विनापि नाम्नीति पदस्यानुवृत्त्या नाम्नीत्येव भविष्यतीति प्रष्टुराकूतम् । विकारान्तरमपि प्रसिद्धमिति प्रत्युदाहरति-**ओगोदोहस्य विकार इदमुदश्वित्दिति** । उदकेन श्वयति वर्धते इत्युदश्वित् तक्रम् । तदपि ओगोदोहस्यैव विकार इति तत्रेनञ् हियङ्ग्वादेशश्च नेष्ट इति नाम्नीति पूर्वसूत्रादनुवर्तनीयमेवेति भावः । एवं च तत्राणेवेष्ट इति **ओगोदोहमित्येव** भवतीति ॥६।२।५५॥

अपो यञ् वा ॥६।२।५६॥

अप्शब्दाद् विकारे यञ्प्रत्ययो वा भवति । एकस्वरमयटोऽपवादः ।

अपां विकारः आप्यम्, अम्मयम् ॥५६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-अपो० । **एकस्वरमयटोऽपवाद** इति । "एकस्वरात्" [६.२.४८.] इति नित्यो मयट् अप्शब्दात् प्राप्त इत्यनवकाशत्वमस्येति विधानसामर्थ्यादयं तस्यापवाद इति भावः । यञोऽभावे तु स मयडपि प्रवर्तत एवेति रूपद्वयमाह-**आप्यम्, अम्मयमिति** । अन्ये वैयाकरणाः विशेषतः पाणिनिमतानुसारिणो विकारे अम्मयमित्येकंरूपमेव स्वीकुर्वन्ति । यञं नारभन्ते । आप्यशब्दप्रयोगश्च तेषां मते सम्बन्धनिमित्तकः । तथा च तस्येदमित्यर्थेऽण्, स्वार्थेऽप्यञि आप्यमिति प्रयोगस्तन्मते । अत्र चाचार्याणां लक्ष्यदर्शनमेव भिन्नमिति प्रतीयते ॥६।२।५६॥

लुप्बहुलं पुष्पमूले ॥६।२।५७॥

विकारावयवयोर्विहितस्य प्रत्ययस्य पुष्पे मूले वा विकारतयाऽवयवतया वा विवक्षिते बहुलं लुप् भवति ।

मल्लिकाया विकारोऽवयवो वा पुष्पं मल्लिका । यूथिका । नवमालिका । मालती । एषु अणो मयटो वा लुपि 'ङ्यादेर्गौणस्याङ्किपस्तद्धितलुकयगोणीसूच्योः' [२.४.९४.] इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तौ लुबन्तस्य स्त्रीत्वात् पुनः स्त्रीप्रत्ययः । जातेर्जातिः ।

पाटल्याः पाटलाया वा पाटलं पाटला वा । यदाहुः-'पुष्पे क्लीबेऽपि पाटला' पाटलीत्यपि । कुन्दम् । सिन्धुवारम् । कदम्बम् । करवीरम् । अशोकम् । चम्पकम् । कर्णिकारम् । कोविदारम् । विदार्या मूलं विदारी । अंशुमती । बृहती । हरिद्रा । माधवी । मुस्ता । क्वचिन्न भवति । वरणस्य पुष्पाणि वारणानि । एरण्डस्य मूलानि पेरण्डानि । बिल्वस्य बैल्वानि । क्वचिद् विकल्पः-शिरीषस्य पुष्पाणि शिरीषाणि, शैरीषाणि । ह्रीबेरस्य मूलानि ह्रीबेराणि, ह्रैबेराणि । क्वचित् पुष्पमूलाभ्यामन्यत्रापि भवति । आमलकस्य विकारो वृक्षः आमलकी । बदरी । व्रीहेर्विकारः स्तम्बः व्रीहिः ॥५७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-लुब्० । अथ विकारेऽवयवे च विहितप्रत्ययं विनाऽपि बहुत्र तदर्थप्रतीतिदर्शनात् तत्साधनाय प्रत्ययलुपो विधायकं प्रकरणमिदमारभ्यते। **विकारतयाऽवयवतया वा विवक्षिते** इति । पुष्पे विकारत्वं मूलेऽवयवत्वं चेद् विवक्षितमित्यर्थः । शाखादिवत् पुष्पमप्यवयव एवेति पुष्पस्यावयत्वसम्भवेऽपि मूलस्य तु कथमपि न विकारत्वमिति न व्यवस्थितमिति द्योतनाय विवक्षिते इत्युक्तम् । वस्तुत उभयोरेकस्यापि न विकारत्वं द्रव्यस्यावस्थान्तरप्रतिपत्त्यप्रतीतेः, तस्मादेव विवक्षायाः समाश्रयणमिति वा । विवक्षा च पुष्पवन्मूलेऽपि विकारत्वेन सम्भवतीति भावः । मल्लिका लताविशेषः, तस्याः पुष्पमपि मल्लिका ननु प्रत्ययलुपि सत्यामपि एषु पुष्पमूलार्थगतलिङ्गस्यैव युक्तत्वात् स्त्रीलिङ्गप्रयोगः कथमिति साधयति-एषु अणो मयटो वा लुपीत्यादिना । लुपि सत्यां स्त्रीप्रत्ययस्य "ङ्यादेर्गौणस्या०" [२.४.९४.] इति सूत्रेण निवृत्तावपि, प्रकृतिर्हरीतक्यादिर्न लिङ्गमतिवर्तते [लिङ्गानु०परलि० २] इति लिङ्गानुशासनानुसारं तस्य स्त्रीत्वे सति पुनः स्त्रीप्रत्यय एव भवतीति भावः । एवं कुन्दस्य विकारः पुष्पं कुन्दमित्यादिर्विग्रहः । बहुलग्रहणलभ्यमर्थमाह-क्वचिन्न भवतीति भावः ।

"Aho Shrutgyanam"

'क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः,
क्वचिद् विभाषा क्वचिन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य,
चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥'

इति वृद्धोक्तेरिति भावः तत्र पूर्वं प्रवृत्तिरुदाहृता, अप्रवृत्तिश्च वारणानीत्यादौ । **क्वचिद् विभाषेत्युदाहरति—क्वचिद् विकल्प** इति । तथा च शिरीषाणि शिरीषाणीत्युभयथा प्रयोग इति भावः । क्वचिदन्यदेवेति, चतुर्थं बाहुलकमुदाहर्तुमाह—**क्वचित् पुष्प-मूलाभ्यामन्यत्रापीति** । पुष्पे मूले वा वाच्य एव प्रत्ययस्य लुब् विधानमनुशिष्टमपि, तदर्थादन्यत्रापि प्रवर्तत इति भावः । उदाहरति—**आमलकस्य विकारो वृक्ष आमलकीति** । आमलकमत्र फलं बीजरूपम्, तस्य विकारोऽवस्थान्तरं वृक्ष इत्यर्थे दुःसंज्ञत्वान्मयटि तस्य लुपि स्त्रीत्वे आमलकीति । स्वतःस्त्रिलिङ्गप्रकरणे "भल्लातक आमलकः" (सू० ३) इति लिङ्गानुशासनेनामलकशब्दस्य वृक्षवाचिनस्त्रिलिङ्गत्वेन स्त्रीत्वविवक्षायामामलकीति प्रयोगः । आमलकः, आमलकमित्यपि शक्यते प्रयोक्तुम् । फलार्थे तु पुं-नपुंसकलिङ्गः, तथा च पुं-नपुंसकलिङ्गप्रकरणे सूत्रम्—

"पाताले वाडवो वह्निः सीस आमलकः फले० (६) इत्युक्तम्

एवं बदरस्य फलस्य विकारो वृक्षो **बदरीति** । व्रीहेर्वान्यस्य विकारो व्रीहिः स्तम्बः ॥६।२।५७॥

फले ॥६।२।५८॥

विकारेऽवयवे वा फले विवक्षिते प्रत्ययस्य लुप् भवति ।

आमलकया विकारोऽवयवो वा फलमामलकम् । बदर्या बदरम् । कुवल्याः कुवलम् । भल्लातक्याः भल्लातकम् । व्रीहिः। यवः। मुद्गः । माषः । गोधूमः । निष्पावः । तिलः । कुलत्थः । हरीतकी । पिप्पली । कोशातकी । श्वेतपाकी । अर्जुनपाकी । कर्कटी । नखरजनी । शष्कण्डी । दण्डी । वेडी । दाडी । पथ्या । अम्लिका । चिञ्चा । प्राक्षा । धुक्षा । ध्वाङ्क्षा । मृद्वीका । कणावला । एला । शाला । काला । गर्गरिका । कण्टकारिका । शेफालिका । ओषधिः । कर्कारुः। हरीतक्यादिभ्यो लुपि प्रकृतिलिङ्गमेव । तत्र पूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुपि पुनः स एव स्त्रीप्रत्ययः । यद्यप्यामलकादीनि प्रकृत्यन्तराणि सन्ति तथाऽप्यामलक्यादिभ्यः प्रत्ययश्रुतिनिवृत्त्यर्थं लुग्वचनम् ॥५८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—फले० । लुबनुवर्तते । **विकारेऽवयवे वा फले विवक्षिते** इति । विकारत्वेनावयवत्वेन वा फलस्य विवक्षायां सत्यां विकारार्थस्यावयवार्थस्य वा प्रत्ययस्य लुब्भवतीत्यर्थः । बहुलमित्यनुवृत्तेर्विकल्पेन लुब् भवति । **आमलक्या विकार** इति आमलक्यत्र वृक्षः, तस्यैव हि विकारत्वं फलस्य संभाव्यते । फलस्य विकारत्वं च वृक्षोद्भवपुष्पस्यावस्थान्तरत्वेन । अवयवत्वं च तस्याङ्गत्वप्रसिद्धेः । अत एवायुर्वेदे पञ्चाङ्गसहितस्य वृक्षस्य ग्रहणे मूलं फलं पुष्पं पत्रं शाखा चेति पञ्चाङ्गानि गण्यन्ते । इत्थं चोभयथा विवक्षा संभाव्यते । हरीतक्यादिषु नित्यस्त्रीलिङ्गेषु विशेषमाह—**हरीतक्यादिभ्यो लुपि प्रकृतिलिङ्गमेवेति** । प्रकृतिर्हरीतक्यादिर्न लिङ्गमतिवर्तते [परलिङ्ग० २] इति लिङ्गानुशासनवचनादिति भावः । तत्र प्रक्रियामाह—**तत्र पूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुपीत्यादिना** "ङ्यादेर्गौणस्य०" [२.४.९४.] इति ङ्या लुपि पुनः प्रकृतिलिङ्गे स्त्रीत्वे ङीः । ननु किमर्थमयं प्रयासः क्रियते आमलक्यादिशब्दस्य कोशादिषु तत्फले प्रसिद्धत्वेन स्वत एव प्रत्ययाप्रवृत्तिसंभवात् इत्यत आह—**यद्यपीत्यादिना** । उत्तरयति—**तथापीत्यादिना** । सन्तु आमलक्यादीनि प्रकृत्यन्तराणि तथापि तेभ्यो (आमलक्यादिभ्यो) विकारत्वेन फले वाच्ये उत्पद्यमानस्य प्रत्ययस्य श्रुतिर्मा भूदित्येतदर्थं लुब्विधानमावश्यकमिति भावः । यद्यपि फले कोशादिषु य आमलकादिशब्दः पठितः स स विकारार्थस्य प्रत्ययस्य लुपैव साधितोऽमरकोशटीकादिषु, तथापि "तिष्यफला त्वामलकी चिञ्चिति" [लिङ्गानुशासन]वचनेन, तथा पुं-नपुंसकलिङ्गप्रकरणे "आमलकः फले" इति पूर्वोदाहृतवचनेन च स्वत एवामलकादिशब्दस्य फलवाचकत्वमिति मत्वा शङ्का-समाधी विज्ञेये ॥६।२।५८॥

प्लक्षादेरण् ॥६।२।५९॥

प्लक्ष इत्येवमादिभ्यो विकारेऽवयवे वा फले विवक्षितेऽण्प्रत्ययो भवति मयटोऽपवादः। विधानसामर्थ्याच्चास्य लुब् न भवति । प्लक्षस्य विकारोऽवयवो वा फलं प्लाक्षम् । एवं नैयग्रोधम् ।

"Aho Shrutgyanam"

प्लक्ष न्यग्रोध अश्वत्थ इङ्गुदी वेणु वृहती सगु रु(स)कु कक्कतु इति प्लक्षादिः ॥५९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम् – प्लक्षा० । फले इति पूर्वतः संबध्यते, प्रत्ययश्रवणाच्च लुपो निवृत्तिः । प्लक्षादिभ्यो विकारत्वेनावयवत्वेन वा फले विवक्षितेऽण् प्रत्ययो भवतीति सूत्रार्थः; **मयटोऽपवाद** इति । परत्वादस्य प्रवृत्त्या, नित्यत्वेन चावकाशाभावान्मयटोऽप्रवृत्तिरिति भावः । नन्वणि सत्यपि तस्य पूर्वसूत्रेण लुप् कुतो न भवतीत्याशङ्कायामाह—**विधानसामर्थ्याच्चास्य लुब् न भवतीति** । यदि हि लुबिष्टः स्यात् तर्हि मयटः स्वाभाविकस्य वाऽणो लुपि सिद्धायां विशिष्य प्लक्षाभ्योऽणो विधानं व्यर्थमेवेति विधानसामर्थ्यादेव लुब् न भवतीति भावः । प्लक्षशब्दादणि आदिस्वरवृद्धौ प्लाक्षमिति । न्यग्रोधशब्दाच्चाणि आदिस्वरवृद्धिं बाधित्वा "न्यग्रोधस्य केवलस्य" [७.४.७.] इति यः प्रागैति नैयग्रोध इति ॥६।२।५९॥

जम्ब्वा वा ॥६।२।६०॥

जम्बूशब्दाद् विकारेऽवयवे वा फले विवक्षिते वाऽण् प्रत्ययो भवति, पक्षे यथाप्राप्तं प्रत्ययस्तस्य च लुप् ।

जम्ब्वा विकारोऽवयवो वा फलं जाम्बवम् । पक्षे जम्बु, जम्बूः । लुपि स्त्री-नपुंसकते ॥६०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—जम्ब्वा० । अणिति पूर्वसूत्रादनुवृत्तम् । तथा च जम्बूशब्दाद् विकारत्वेनावयवत्वेन वा फले विवक्षितेऽण्प्रत्ययो विकल्पेन विधीयते । अनेनाणि जाम्बवमिति । पक्षे औत्सर्गिकेऽणि तस्य "फले" [६.२.५८.] इति लुपि प्रकृतिलिङ्गत्वे स्त्रीत्वम्, फलत्वेन क्लीबत्वमपि । तदाह—**लुपि स्त्री-नपुंसकते** इति ॥६।२।६०॥

न द्विरद्रुवय-गोमयफलात् ॥६।२।६१॥

द्रुवयं गोमय फलवाचि च वर्जयित्वाऽन्यस्मान्नाम्नो विकारावयवयोर्द्विः प्रत्ययो न भवति ।

कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कापोतः कापोतस्य विकारोऽवयवो वेति 'दोरप्राणिनः' [६.२.४९.] इति मयद् न भवति । एवम्, बैल्वः । एणेयः । शामीलः । औष्ट्रकः । कांस्यः । पारशवः । अद्रुवय-गोमयफलादिति किम् ? द्रौवयं खण्डम् । गौमयं भस्म । कापित्थो रसः । कथं कपोतस्य मांसं कापोतम्, तस्य विकारः कापोतो रसः, पलाशस्यावयवः पालाशी शाखा तस्याः अवयवः पालाशी समित् इति ? विकारेऽपि प्रकृतिशब्दो वर्तते । यथा मुद्गैः शालीन् भुङ्क्ते । मुद्गविकारैः शालिविकारानिति गम्यते । गोभिः सन्नद्धो वहति । गोविकारैर्धर्मभिरिति गम्यते । अवयवेऽप्यवयविशब्दो वर्तते । पूर्वे पाञ्चालाः, उत्तरे पाञ्चालाः, ग्रामो दग्धः, पटो दग्ध इति । तत्र विकारवृत्तेः प्रकृतिशब्दादवयववृत्तेरवयविशब्दाच्च प्रत्ययो भविष्यति । विकारविकारोऽपि वा विकार एव अवयवावयवेऽप्यवयव इति ॥६१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—न द्विरद्रु० । समस्तनञः पर्युदासार्थत्वमिति तथैव सूत्रं व्याख्याति द्रुवयं गोमयं फलवाचि चेत्यादिना । द्विप्रत्ययो न भवतीति । विकारावयवार्थप्रत्ययान्तात् पुनर्विकारावयवयोरर्थयोः प्रत्ययो न भवतीति भावः । यथाश्रुत तु नोपपद्यते, नहि एकस्मान्नाम्नः प्रत्ययद्वयं प्राप्नोति, उक्तार्थत्वात् प्रत्ययान्तस्य च नामान्तरत्वमिति प्रत्ययप्राप्तौ सत्यां तन्निषेधः समुपपद्यते । उदाहरति—**कपोतस्य विकार** इत्यादिना । स्पष्टम्, बिल्वादिषु यथायथं "प्राण्यौषधि०" [६.२.२१.] "एण्या०" [६.२.३८.], "उष्ट्रादकञ्" [६.२.३६.], "कंसीयाञ्ज्यः" [६.२.४१.] "परशव्याद्०" [६.२.४०.] इत्येतैः प्रत्ययाः पूर्वं भवन्ति, पश्चाच्च "दोरप्राणिन०" [६.२.४९.] इति मयटः प्राप्तिर्विज्ञेया ।

पदकृत्यं पृच्छति—**अद्रुवय-गोमयफलादिति किमिति ?** एभ्योऽपि पुनरवयवार्थप्रत्ययो माऽस्त्विति प्रष्टुराशयः । एभ्यः पुनरपि प्रत्यय इष्टः स न स्यादित्याशयेन प्रत्युदाहरति—**द्रौवयं खण्डमिति** । द्रोर्विकारो मानम् इत्यर्थे पूर्वं "द्रोर्वयः" [६.२.४३.] इति वये द्रुवयमिति, तस्य विकारः खण्डमित्यर्थे औत्सर्गिकेऽणि द्रौवयं खण्डमितीष्टं न सिद्ध्येदिति भावः । एवं गोर्विकारः पुरीषम् गोमयम् "गोः पुरीषे" [६ २.५०.] इति मयट् ।

"Aho Shrutgyanam"

तदन्तात् पुनर्विकारेऽपि गौमयं भस्मेति। कपित्थस्य विकारः फलमित्यर्थे वृक्षनिमित्तकस्याणः "फले" [६.२.५८.] इति लुपि कपित्थमिति, तस्य विकारो रसः कापित्थ इति। यद्यपि पूर्वप्रत्ययस्य लुपि प्रत्ययान्तत्वं नास्ति तथाप्यर्थप्रतीति(र्विकारार्थप्रतीति) र्भवत्येवेति। प्रत्ययनिषेधप्राप्तिरस्ति सोक्तेषु सर्वत्र मा भूदिति अद्ध्वयेत्यादिपर्युदास आवश्यक इति भावः। द्विर्विकारार्थस्यावयवार्थस्य च लोके प्रयोगप्रसिद्धिमुदाहृत्यत दुपपत्तिः कथमिति शङ्कते—**कथं कपोतस्य मांसमित्यादिना**। विकारार्थस्य कापोतो रस इत्यत्र द्विः प्रतीतिः। पलाशस्यावयव इत्यादिना पालाशी समिदित्यत्रावयवार्थस्य द्विः प्रतीतिर्विना प्रत्ययस्य द्विरुत्पत्त्या कथमिति भावः शङ्कितुः। उत्तरयति—**विकारेऽपि प्रकृतिशब्दो वर्तते** इति। तथा च कपोतशब्दः स्वविकारे मांसे वर्तत इत्यर्थः। किमियमगतिकगतिरूपत्वेन स्वयमुद्भाव्यतेऽथ सर्ववादिसंप्रतिपन्नमिति शङ्कामपनेतुं लौकिकोदाहरणेन विकारे प्रकृतिवाचकशब्दप्रयोगं साधयति—यथा **मुद्गैः शालीन् भुङ्क्ते** इति।

विकारार्थत्वं व्याख्याति—**मुद्गविकारैः शालिविकारानितीति**। एवमर्थो गम्यत इति भावः। उदाहरणान्तरमाह— **गोभिः सन्नद्धो भवतीति** सन्नहनं न गोभिः सम्भावितमिति—**गोविकारैश्चर्मभिरिति** गम्यते। यद्यपि चर्मणो न विकारत्वमपि त्ववयवत्वं तथापि गौरेव विकृता चर्मत्वेन प्रतीयत इत्याशयेनायं प्रयोगः। एवं च कपोतशब्दोऽपि स्वविकारे मांसे वर्तत इति पर्यवसितम्। अथ पालाशी समिदित्यस्य समाधानमाह—**अवयवेऽप्यवयविशब्दो वर्तते** इति। तथा च पलाशावयवशाखायां पलाशशब्दो वर्तत इत्यर्थः। एतदपि लोकव्यवहारेण साधयति—**पूर्वे पाञ्चाला** इत्यादिना। यथा पञ्चालदेशपूर्वावयवमात्रे पञ्चालशब्दस्य प्रयोगः, ग्रामैकदेशदाहेऽपि ग्रामदाहप्रयोगः पटैकदेशदाहेऽपि च पटदाहप्रयोगः तथा पलाशावयवेऽप्यवयविशब्दप्रयोग इति पर्यवसितोऽर्थः।

समाधानं निगमयति—**तत्र विकारवृत्तेः प्रकृतिशब्दादित्यादिना**। समाधानान्तरमाह—**विकारविकारोऽपि विकार एवेति**। प्रकृतेर्विकारस्य यो विकारः, अवयविनोऽवयवस्य योऽवयवः सोऽपि प्रकृतेर्विकारः, अवयविनश्चावयव इत्यर्थः। अयमाशयः—विकारत्वमवयवत्वं वा साक्षात् परम्परासाधारणमिह गृह्यते। शरीरावयवहस्तावयवोऽङ्गुलिः शरीरावयवत्वेन व्यवह्रियते एवेत्ययमपि लोकसिद्ध एवार्थो न तु स्वकल्पितमात्रमिति। एवं च नैतयोः प्रयोगयोर्द्विः प्रत्ययोत्पत्तिरपि त्वेकेनैव विकारप्रत्ययेनावयवप्रत्ययेन वा विवक्षितार्थप्रतीतिरिति भावः। एवं च सूत्रमिदं न कार्यमित्यपि कथयितुं शक्यते। एकेनैव प्रत्ययेनानेकविकारार्थावयवार्थप्रतीतौ सत्यां द्विः प्रत्ययोत्पत्तिरनभिधानान्न भविष्यतीति। एतच्च "ञितश्च तत्प्रत्ययात्" [पा० सू० ४. ३. १५५.] इति सूत्रे महाभाष्ये स्पष्टम्, परन्तु लक्ष्यैकचक्षुष्काणां मतेऽनभिधानस्य ज्ञातुं शक्यत्वेऽपि लक्षणैकचक्षुष्काणामस्मादृशां कृते लक्षणं विनाऽस्यार्थस्य दुर्ज्ञेयतयाऽऽचार्येण स्पष्टप्रतिपत्तये लक्षणमिदमारब्धमिति विज्ञेयम् ॥६।२।६१॥

पितृ-मातुर्व्यङुलं भ्रातरि ॥६।२।६२॥

पितृ-मातृशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां भ्रातरि वाच्ये यथासंख्यं व्य-ङुल इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः।

पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः। डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः।

श० म० न्यासानुसन्धानम्-पितृ०। अवसितो विकारार्थोऽवयवार्थश्चातः पर तत्तदर्थविशेषे प्रत्यया विधीयन्ते पितृ-मातृरिति इतरेतरयोगेऽपि सौत्रमेकवचनम् "आ द्वन्द्वे" [२.२.२९.] इत्यात्वाभावश्च। व्यङुलित्यपि समाहारनिर्देशः। यद्यपि पितृ-मातृशब्दयोर्द्वन्द्वे मातृशब्दस्यैव पूर्वप्रयोग इष्टो दृष्टो वा। तथापि-प्रकृते नैतयोः शब्दयोरर्थपरत्वमपि तु शब्दपरत्वमिति नैकशेषो नार्च्यानर्च्यत्वादिविचारश्च। व्याख्यानाच्च द्वन्द्वार्थप्रतीतिर्न तु षष्ठ्यर्थप्रतीतिरिति 'पितृ-मातृ' इति मिलितशब्दात् पितामहीत्यर्थकान्न भवति। मातृशब्दाद् ङुले डकारस्य प्रत्ययेऽश्रवणादप्रयोगित्वेनेत्त्वमिति तत्फलमाह—**डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थ** इति। "ङित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इति सूत्रेणेति भावः ॥६।२।६२॥

पित्रोर्डामहट् ॥६।२।६३॥

पितृ-मातृशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां माता-पित्रोर्वाच्ययोर्डामहट् प्रत्ययो भवति।

पितुः पिता पितामहः। पितुर्माता पितामही। मातुः पिता मातामहः। मातुर्माता मातामही। द्विवचनटित्वाभ्यां माता-पित्रोरिति

"Aho Shrutgyanam"

विज्ञायते । **ङकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः । टकारो ङ्यर्थः** ॥६३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–पित्रोः०। पितृ-मातुरित्यनुवर्तते, पित्रोरिति चैकशेषेण मातापितृपरम् । प्रकृतेरर्थस्य च भिन्नसंख्या पृथग्वचनेन निर्देशान्नार्थेन यथासंख्यमिति पितुः पितरि, मातुर्मातरि ङामहद् इति प्रतीतिर्न भवति । तथा चार्थमाह–**पितृ-मातृशब्दाभ्यां माता-पित्रोर्वाच्ययोरिति** । उदाहरति–**पितुः पिते-त्यादिना** विगृह्य । "ङित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपः । मातरि स्त्रीत्वाद् ङीः **पितामही**ति । एकेन पितृशब्देन कथमर्थद्वयलाभ इत्याह–**द्विवचन-टिस्वाभ्यां माता पित्रोरिति विज्ञायत** इति । एकस्यैव पितृरूपस्यार्थस्य वाच्यत्वे पितरीत्येकवचनेनैव व्यवहरेत्, द्विवचननिर्देशाच्चैकशेषनिर्देशोऽयमिति विज्ञायते । एकशेषश्च न सरूपस्य पितृशब्दद्वयस्य, अपि तु पिता च माता चेति विगृह्य "पिता मात्रा वा" [३.१.१२२.] इति सूत्रेण मातृशब्दलोपे पितुः शेषे तस्मात् पितृशब्दाद् यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति सिद्धान्तद्वित्वार्थ-कत्वेन द्विवचनम् । किञ्च प्रत्यये टित्वं क्रियते, तत्फलं च स्त्रियां ङीरेव । केवलं पित्रर्थे विधाने तु स्त्रीत्वाभावाद् ङ्यां अप्राप्तेः स निरर्थक एव स्यादिति माता-पित्रोरित्यर्थे पित्रोरिति प्रयुक्तमिति विज्ञापयति । प्रत्यये श्रुतानुबन्धद्वयस्य फलमाह–**ङकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः, टकारो ङ्यर्थ** इति । विवृतं चैतत् प्रागेव ॥६।२।६३॥

अवेर्दुग्धे सोढ-दूस-मरीसम् ॥६।२।६४॥

अविशब्दात् षष्ठ्यन्ताद् दुग्धेऽर्थे सोढ दूस मरीस इत्येते प्रत्यया भवन्ति । अवेदुग्धम् अविसेढाम् । अविदूसम् । अविमरीसम् ॥६४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–अवेः । स्पष्टमिदं सूत्रम् ॥६।२।६४॥

राष्ट्रेऽनङ्गादिभ्यः ॥६।२।६५॥

राष्ट्रं जनपदः । षष्ठ्यन्तादङ्गादिवर्जिता-न्नाम्नो राष्ट्रेऽभिधेये यथाविहितमण् प्रत्ययो भवति ।

शिबीनां राष्ट्रं शैबम् । उषुष्टानामौषुष्टम् । गान्धारीणां गान्धारम् । अनङ्गादिभ्य इति किम्? अङ्गानां राष्ट्रं, बङ्गानां राष्ट्रम् इति वाक्यमेव भवति । अङ्ग बङ्ग सुह्म पुण्ड्र इति । अङ्गादयः प्रयोगगम्याः । केचित् तु अङ्गादि-प्रतिषेधं नेच्छन्ति । अङ्गानां राष्ट्रम् आङ्गम् । बाङ्गम् इत्यादि । उत्तरत्र निवास इत्यभिधानाद् ईशितव्ये राष्ट्रेऽयं विधिः । उभयथा हि राष्ट्र-संबन्धो भवति ॥६५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–राष्ट्रे० । अन-ङ्गादिभ्य इति पर्युदासः, समस्तनञः पर्युदासवाचकत्वस्य प्रसिद्धत्वात् । राष्ट्रपदार्थमाह–**राष्ट्रं जनपद** इति । **जनैः** पद्यते निवासार्थं शासनार्थं च प्राप्यते इति जनपदो भूभागविशेषो राष्ट्रशब्देनोच्यत इत्यर्थः । **शिबीनां राष्ट्रमिति** । शिबे राज्ञोऽपत्यानि शिबयः, अपत्यार्थे "दुनादिकुर्वित्" [६.१.११८.] इति ञ्ये, तस्य "बहु-ष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति लुपि शिबय इति तेषां राष्ट्रमित्यर्थेऽनेनाणि शैबमिति । एवमुष्टानामौष्ट्रमित्यादयोऽपि बोध्याः । व्यावर्त्यं प्रदर्शयितुं पृच्छति–**अनङ्गादिभ्य इति किमिति** । तेभ्योऽपि मतान्तरे प्रत्ययस्येष्टत्वश्रुत्यैवं प्रश्नः । स्वमते तेभ्यः प्रत्ययोत्पत्तिर्नेष्टेत्याह–**अङ्गानां राष्ट्रं, बङ्गानां राष्ट्रमिति वाक्यमेव भवतीति** प्रत्ययप्रवृत्तेरभावात् वाक्यमेव तदर्थबोधाय तिष्ठतीत्याशयः । स्वमतमेतत् । मतान्तरमाह–**केचित् त्विति** । ते हि निवासविवक्षायां प्रत्ययानुत्पत्तिं विषयविवक्षायां (ईशितव्य-विवक्षायां) च प्रत्ययोत्पत्तिमिच्छन्ति । राष्ट्रसंबन्धो द्विधा दृष्टः । निवासत्वेन, ईशितव्यत्वेन च । तत्र कीदृशे संबन्धे विवक्षितेऽयं प्रत्ययो विधीयते इति जिज्ञासायामाह–**उत्तरत्र निवास इत्यभिधानादि**त्यादि । "निवासा-दूरभवे०" [६.२.६९.] इत्युत्तरसूत्रे निवासार्थे प्रत्ययस्य विशिष्यविधानादिह परिशेषादेव ईशितव्यनिरूपिते संबन्धे प्रत्यय इति लभ्यत इति भावः । कथमयं विषयविभागो लब्ध इत्याह–**उभयथा हि राष्ट्रसम्बन्धो भवती**ति । उभयथा ईशितव्यत्वेन निवासत्वेन च । तदन्यस्य सम्ब-न्धस्य राष्ट्रविषयेऽप्रसिद्धत्वादिति भावः ॥६।२।६५॥

राजन्यादिभ्योऽकञ् ॥६।२।६६॥

राजन्य इत्येवमादिभ्यो राष्ट्रे वाच्येऽकञ्-प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः ।

राजन्यानां राष्ट्रं राजन्यकम् । दैवयात-वकम् ।

राजन्य दैवयातव देवयात आवृत आव्रीतक

"Aho Shrutgyanam"

वात्रव शालङ्कायन वाभ्रव्य जालन्धरायण जानन्धरायण कौन्ताल आत्मकामेय अम्बरीपुत्र आम्बरीपुत्र अम्बरीषपुत्र बैल्ववन शैलूषज उदुम्बर औदुम्बर तैतल संप्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ ऊर्णनाभि आर्जुनायन विराट मालव त्रिगर्तइति राजन्यादिः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥६६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—राजन्या०। राष्ट्रे इति पूर्वसूत्रादनुवर्तते, तदाह—**राजन्य इत्येवमादिभ्यो राष्ट्रे वाच्ये** इति। अत्रापि पूर्वसूत्रवद् ईशितव्ये राष्ट्रे वाच्ये एव प्रत्ययो भविष्यति पूर्वसूत्रोक्तन्यायात्। **अणोऽपवाद** इति। पूर्वसूत्रप्राप्तस्येति भावः। उदाहरति—**राजन्यानां राष्ट्रमित्यादिना**। स्पष्टमन्यत्। बहुवचनमाकृतिगणार्थमिति। गणनिर्देशादेव बहूनां ग्रहणे सिद्धे बहुवचनं व्यर्थं सत् अन्येषामप्येवमाकृतीनामिह गणे समावेशो भवेदित्येतदर्थं पर्यवस्यति। तेन गणपठितेभ्योऽन्यस्मादपि सत्यभिधाने प्रत्ययोत्पत्तिरिति ॥६।२।६६॥

वसातेर्वा ॥६।६।६७॥

वसातिशब्दाद् राष्ट्रे वाच्येऽकञ्प्रत्ययो भवति।

वसातीनां राष्ट्रं वासातकं वासातम् ॥६७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वसाते०। गणे पाठकरणादेव सिद्धे विकल्पेन प्रत्ययविधानार्थमेव पृथक्सूत्रकरणम्। राष्ट्रे इति सम्बध्यत एव। तथा चात्रापीशितव्ये राष्ट्रे वाच्ये प्रत्ययविधान विज्ञेयम्। पाणिनीये च राजन्यादिगण एव वसातिशब्दोऽपि पठ्यते। सर्वेभ्यो राजन्यादिभ्यो विकल्पेनाकञ् विधीयत इति फले भेदः। वसातिशब्दविषये च साम्यमेव। उदाहरति—**वासातकं वासातमिति**। अकञोऽभावपक्षे "राष्ट्रेऽनङ्गादिभ्यः" [६.२.६५.] इत्यण् ॥६।२।६७॥

भौरिकैषुकार्यादैर्विध-भक्तम् ॥६।२।६८॥

भौरिकि इत्येवमादिभ्य ऐषुकारि इत्येवमादिभ्यश्च राष्ट्रे वाच्ये यथासंख्यं विध भक्त इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। अणोऽपवादः।

भौरिकीणां राष्ट्रे भौरिकिविधम्। भौलिकिविधम्। स्वभावान्नपुंसकता। ऐषुकारीणां राष्ट्रमैषुकारिभक्तम्। सारसायनभक्तम्।

भौरिकि भौलिकि चौपयत चौदयत चैटयत सैकयत चैकयत क्षैतयत काणेय वालिकाच वाणिजका इति भौरिक्यादिः।

ऐषुकारि सारसायन चान्द्रायण तार्क्ष्यायण द्व्यक्षायण त्र्याक्षायण औलायन सौवीर दासमित्रि दासमित्रायण शौद्रकायण शयण्ड शाण्ड शायाण्ड शायण्डायन खादायन गौ(मा)लुकायन विश्व वैश्वयेनव वैश्वमाणव वैश्वदेव तुण्ड देव तुण्डदेव शायाण्डी शायण्डी वायौविद इत्यैषुकार्यादिः ॥६८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—भौरि०। भौरिकि-ऐषुकार्यादिद्वन्द्वे कृते पश्चाद् आदिशब्देन बहुव्रीहिः। तथा च * द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते* इति न्यायादिशब्दस्य प्रत्येकसम्बन्धाद् भौरिक्यादेरैषुकार्यादेश्चैवं पृथक् वाक्यार्थबोधो विज्ञेयः। तथा च सूत्रार्थमाह—**भौरिकि इत्येवमादिभ्य** इत्यादिना। यथासंख्येनान्वयाच्च भौरिक्यादेर्विधः, ऐषुकार्यादेर्भक्तः प्रत्ययो भवति। राष्ट्रे इति च पूर्वतः सम्बध्यत एव। **अणोऽपवाद** इति। "राष्ट्रेऽनङ्गादिभ्यः" [६.२.६५.] इति पूर्वसूत्रप्राप्तस्येति भावः। तथा चास्य नित्यत्वमायाति। **स्वभावान्नपुंसकते**ति। राष्ट्रे वाच्ये तस्य नपुंसकत्वेन तन्निघ्नतया नपुंसकत्वौचित्येऽपि जनपदत्वेन राष्ट्रस्य विवक्षायां कदाचित् पुंल्लिङ्गता मा विज्ञायीति स्पष्टीकरणार्थमिदमुक्तम्। भौरेकिविवादयः शब्दाः स्वभावत एव नपुंसकलिङ्गतया प्रयुज्यन्ते इति भावः। शब्दस्य स्वभाव एव हि तत्तल्लिङ्ग न प्रयोगे कारणं भवति। एक एवार्थः शब्दान्तरेणोच्यमानो भिन्नलिङ्गतया यद् भासते तत्र शब्दभेद एव मूलम्। एतच्चान्यत्र विवेचितम् ॥६।२।६८॥

निवासादूरभवे इति देशे नाम्नि ॥६।२।६९॥

षष्ठ्यन्तान्नाम्नो निवास अदूरभव इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेद् देशस्य नामधेयं भवति। इतिकरणो विवक्षार्थः। तेनानुवृत्ते व्यवहारमनुपतिते नाम्नि विज्ञेयं, न संगीते।

निवसन्त्यस्मिन् इति निवासः। तत्र, ऋजुनाव ऋजुनावानां वा निवास आर्जुनावः।

"Aho Shrutgyanam"

शिबीनां शैबः । उषुष्टस्य औषुष्टः । शाकलायाः शाकलः । अदूरभवे, विदिशाया अदूरभवं वैदिशं नगरम् । वैदिशो जनपदः । वरणास्योः वारणसी । व्रीहिमत्या व्रैहिमतम् । यवमत्या यावमतम् ।

'इह केचिदङ्गानां निवासः अङ्गाः । बङ्गाः । कलिङ्गाः । सुह्माः । मगधाः । पुण्ड्राः । कुरवः । पञ्चालाः । मत्स्याः । वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् । शृङ्गशाल्मलीनां शृङ्गशाल्मलेयो ग्रामः । गोदयोर्हृदयोर्गोदौ ग्रामः । आलम्यायनपर्णानामालम्यायनपर्णा ग्रामा । शफण्डायाः शफण्डी । जालपदाया जालपदा । मथुरायाः मथुरा । उज्जयन्याः उज्जयनी । गयानां गया । उरशायाः उरशा । तक्षशिलायाः तक्षशिला । कटुकबदर्याः कटुकबदरी । खलतिकस्य खलतिकं वनानीत्यादिषु प्रत्ययमुत्पाद्य लुपमारभन्ते । सत्यां च लुपि प्रकृतिवल्लिङ्ग-वचने न मन्यन्ते ।'

तदयुक्तम्, अत्र हि प्रकृतिमात्रमेव देशनाम न प्रत्ययान्तम् । प्रत्ययान्तस्य च देशनामत्वे प्रत्ययो विधीयते इति न भवति । तस्य निवास इत्यादिविवक्षायां तु वाक्यमेव । प्रत्ययाभावाच्च लुबपि न वक्तव्या । अङ्गवरणादीनां च क्षत्रिय-वृक्षादिवज्जनपद-नगरादौ स्वत एव वृत्तिर्न प्रत्ययप्रयोगात् लिङ्ग-संख्योपादानं च स्वगतमेवेति ॥६९॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—निवासा० । तस्येति पूर्वकृतमिहापि सम्बध्यत एवेत्याशयेनाह—षष्ठ्यन्तादिति । निवास अदूरभव इत्येतयोरर्थयोरिति । निवासश्चादूरभवश्चेतयोः समाहार इति निवासादूरभवम्, तस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सूत्रे द्वयोरर्थयोरयं निर्देशो न तु निवासस्यादूरभवे इत्येवं षष्ठीतत्पुरुष इह विज्ञेय इत्याशयः । इतिकरणो विवक्षार्थ इति ।

"इति प्रकरणे हेतौ प्रकाशादिसमाप्तिषु ।
निदर्शने प्रकारे स्यादनुकर्षे च सम्मतम् ॥"

इति विश्वकोशोक्तेष्विति शब्दार्थेष्वत्र कस्याप्यर्थस्यासङ्गत्या—विवक्षार्थत्वं वर्ण्यते । क्रियतेऽर्थप्रतिपत्तिरनेनेति व्युत्पत्त्या करणशब्दः शब्दार्थः । तथा चेतिशब्द इत्यायाति विवक्षितार्थः अभिधेयं प्रयोजनं वाऽस्येति विवक्षार्थ इत्यस्यार्थः । विवक्षा च श्रोतृणां तादृशार्थबोधनाय वक्तुमिच्छा सा च प्रकरणपर्यवसायिनीति विवक्षार्थ इत्यस्य प्रकरणार्थ इत्यर्थः । तत्फलमाह—तेनेत्यादिना । तेनोक्तार्थविवरणेन—अनुवृत्ते प्रकरणप्राप्ते, तदेव स्पष्टयति—व्यवहारमनुपतिते इति । व्यवहारविषयीभूते इत्यर्थः । व्यवच्छेद्यमाह—न संगीते इति । केवलं शास्त्रेण संकीर्तित एव नाम्नि प्रत्ययो न भवति, किन्तु यन्नामव्यवहारमारूढं स्यात् लोके व्यवहृतं स्यात् तत्रैवानेन प्रत्ययो भवतीति । निवसनं निवास इति क्रियाप्रधानोऽपि निवासशब्दः प्रयुज्यते तन्निराकरणायाह—निवसन्त्यस्मिन्निति निवास इति तथा चाधिकरणे घञिति भावः । एवं च प्रत्ययान्तस्य देशविशेषवाचकत्वं सिध्यति । उदाहरति—'ऋजुनाव' इति—ऋजुनावानां वेति । 'ऋजुनौ'शब्दस्यैकवचने षष्ठ्यन्तं रूपं 'ऋजुनाव' इति, ऋजुमार्गवयुक्तं जलं नुवन्ति स्तुवन्ति इत्यर्थे "कर्मणोऽण्" [५.१.७२.] इत्यणन्तो ऋजुनावशब्दस्तस्य बहुत्वे षष्ठ्यन्तं ऋजुनावानामिति । ऋजुनौशब्दात् ऋजुनावशब्दाद् वाऽणि आदिस्वरवृद्ध्यादौ आर्जुनाव इति । एवं शिबीनां शैब इत्यादयोऽपि विज्ञेयाः । वरणास्योः वारणसीति । वरणा च असी चेति नाम्ना ख्याते नद्यौ, तयोरदूरभवा (मध्यस्था) नगरी वारणसीत्यत्र पृषोदरादित्वाद् णकारात् परस्याकारस्य ह्रस्व इति स्वमतम् । अन्यमते तु वाराणसीति श्रूयते दृश्यते च तथा प्रयोगोऽपि । तन्मते च रेफात् परस्याकारस्य पृषोदरादित्वाद् दीर्घ इत्याश्रीयते । वकारात् परस्याकारस्य तु आदिस्वरवृद्धिरेव । वारणसीति प्रयोगश्च न दृश्यते लोके । काश्या हि द्वितीयं नाम वाराणसी, तस्या उत्तरतो वरणा, दक्षिणतश्चासी प्रवहति । तथा चात्र किं तत्त्वमिति विज्ञेयम् । प्राचां वैयाकरणानां मतमुपन्यस्य निराकर्तुमाह—इह केचिदित्यादि । इदं हि तेषामभिप्रेतमङ्गादयः स्वनामप्रख्यात—तत्तत्क्षत्रियवाचकाः, वरणादयस्तन्नदीदेशविशेषादिवाचकाः, क्षत्रियविशेषनिवासकारणेन—तन्नदीदेशविशेषसामीप्यकारणेन च तानि तानि देशनामानि प्रथितानि । विना च प्रत्ययोत्पत्तिनर्थविशेषप्रतीतिर्न संभाव्यते । ततश्च प्रत्ययोत्पत्तिरावश्यकी । सति च प्रत्ययविधाने यादृशं रूपं तेषु प्रथते तन्न सेत्स्यतीति तल्लुबपि कर्तव्यैव । न केवलं लुपो विधानेनेष्टरूपसिद्धिः विशेष्यानुसारं लिङ्ग-वचनयोरापत्तेः इति प्रकृतिवल्लिङ्ग-वचनयोरनु-

"Aho Shrutgyanam"

शासनमप्यारम्भणीयमेवेति । तथा चाङ्गानां निवासो देशः अङ्गाः इत्यादयः प्रयोगा उपपद्यन्ते । तदुपपत्तिमेव संक्षिप्य तन्मतानुसारमाह-**इत्यादिषु प्रत्ययमुत्पाद्येत्यादि** स्पष्टम्। तदेतन्मतं निरस्यति तदयुक्तमिति । अयुक्तत्वमेवोपपादयति- **अत्र हि प्रकृतिमात्रमेवेत्यादिना** । अयमाशयः नहि व्याकरणेन शब्दा उत्पाद्यन्ते, उत्पाद्य चार्थेषु नियुज्यन्ते । अपि तु पूर्वप्रयुक्ता एव शब्दा बालानां व्युत्पत्तये साधुत्वेनान्वाख्यायन्ते । अन्वाख्याय चार्थो बोध्यते तेषाम् । नापूर्वाः शब्दा उत्पाद्यन्ते, न वाऽपूर्वोऽर्थः कल्प्यते । तथा च प्रत्ययान्तं यदि देशनाम स्यात् तर्हि तत्र प्रत्ययविधानमुपयुक्तं भवेत् । न चेह प्रत्ययान्तं देशनाम, प्रत्ययस्याश्रवणात् । तथा च प्रत्ययरहिता एवैते तत्तद्देशविशेषेषु प्रथिताः इत्यकामेनापि स्वीकर्तव्यमेव । एवं च यदि क्षत्रियविशेषादिवाचकत्वप्रसिद्धये न शास्त्रव्यापारावश्यकता तर्हि देशविशेषनामत्वसिद्धयेऽपि न शास्त्रव्यापारावश्यकतेत्यपि स्वीकार्यम् ।

नन्वस्तु नाम साधारणतो देशविशेषप्रतीतिस्तत्तच्छब्दैः स्वभावत एव । परं तु तत्तत्क्षत्रियादिनिवासत्वेन, तत्तन्नदीदेशविशेषाद्यदूरभवत्वेन च विवक्षायां प्रत्यय उत्पादनीय एव । विना प्रत्ययोत्पत्तिं तादृशार्थावगमासंभवात् । सति च प्रत्यये तच्छ्रवणापत्तिर्विशेष्यनिघ्नलिङ्गवचनताऽऽपत्तिश्च स्यादिति प्रत्ययस्य लुप् प्रकृतिवल्लिङ्गवचनताऽपि चानुशास्यैवेति चेदत्राह-**तस्य निवास इत्यादिविवक्षायां तु वाक्यमेवेति** । तुशब्दोऽरुचिं द्योतयति । तद्बीजं तु तादृशविवक्षाया अभाव एव । न हि सांप्रतं ते ते क्षत्रियादयस्तत्र तत्र निवसन्तीति कृत्वा कैश्चन ते ते शब्दाः प्रयुज्यन्ते । पूर्वं तादृशविवक्षया प्रयोगसत्त्वे तु तादृशार्थेषु तेषां शब्दानां रूढत्वमेवेति । स्वीकृत्य न तदर्थं प्रत्ययविधानाद्यावश्यकम् । यदि च तादृशविवक्षासत्त्वे आग्रहस्तर्हि तस्यामवस्थायां वाक्यमेव प्रयोक्ष्यते इति स्वीकुरु । यतः केवलमङ्गादिशब्देभ्यस्तादृशार्थाः प्रतीयन्त एवेत्यत्र मानाभावः । ननु तादृशार्थविवक्षायां प्रत्ययप्राप्तौ सत्यां केवलं भवत्कथनेन तदनुत्पत्तिर्न स्यात्, नहि कस्यचन वादिनो मतं प्रमाणत्वेन कुत्रचित् स्वीक्रियते इति चेन्न, इतिशब्दोपादानात् । अत एव सूत्रे इति शब्द उपात्तः । तेन च प्रत्ययान्तरूपस्य देशविशेषनामत्वेन व्यवहारसत्त्वे एव प्रत्ययो भवतीति लभ्यत इति पूर्वमुक्तमेव । नहि अङ्गादिनिवासादिकारणेन तेषां देशानां तत्तन्नामानि व्यवहृतानि । ततश्च न प्रत्ययस्य प्राप्तिरिति । प्रत्ययानुत्पत्तौ च कृत तल्लुपेत्याह-प्रत्ययाभावाल्लुबपि न वक्तव्येति । 40

ननु प्रत्ययाभावेऽर्थज्ञानं कथं भविष्यतीत्यत आह- **अङ्गवरणादीनां च क्षत्रिय-वृक्षादिवज्जनपद-नगरादौ स्वत एव वृत्तिर्न प्रत्ययप्रयोगादिति** । अयमाशयः-यथा एते शब्दाः क्षत्रियादीनर्थान् स्वत एव कथयन्ति, न तदर्थं शास्त्रव्यापारस्यावश्यकता, तथा जनपदनगरादीनप्यर्थान् स्वभावत एव कथयिष्यन्तीत्युपपादितं पुरस्तादेव । 45

ननु भवतु तेषां स्वत एव तादृशार्थप्रत्यायनशक्तिः परन्तु जनपदनगरादिवाचकत्वे विशेष्यानुसारमेव लिङ्गवचनादि स्यात्, न स्वप्रकृत्यनुसारमिति तदर्थं तु शास्त्रव्यापार आवश्यक इति चेदत्राह-**लिङ्गसंख्योपादानं च स्वगतमेवेति** । ततश्च तेषु तेषु शब्देषु स्वभावतो यल्लिङ्गं वचनं वा तिष्ठति तदेव शास्त्रेणानुशिष्यते इति मन्तव्यम् । तच्चात्र स्वत एव ज्ञातं भविष्यतीति नावश्यकं तदनुशासनम् । न चैवं शास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः, व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रस्य प्रकृतिप्रत्ययादिव्युत्पादनद्वारा पदार्थबोधनायैव व्याकरणशास्त्रं प्रवृत्तमिति । लिङ्गादिबोधनं च कोशादिभिरपि भविष्यति एवेति तत्राप्यस्य शास्त्रस्य व्यापारणमनुचितमिति तात्पर्यम् । 50 55

पाणिनीये तन्त्रे तु पूर्वाचार्यानुसारमङ्गादिभ्यो निवासादूरभवयोरर्थयोर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुप्, लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचनता चेत्येतत् सर्वं सूत्रत्रयेण विधाय, सूत्रैरेव सूत्रत्रयं प्रख्यातं पूर्वोक्तयुक्तिभिः । प्राचीनाचार्यमतपोषकास्तु तन्मतमित्थमुपपादयन्ति-एभ्यो निवासादूरभवार्थविवक्षायां प्रत्यय उत्पद्यते नवेति लक्षणैकचक्षुष्कैर्दुर्ज्ञेयम्, इति करणलभ्यव्यवहारानुपपत्तिज्ञानमपि तैरशक्यमिति न्यायसिद्धस्यापि प्रत्ययानुत्पादादेः शास्त्रेणानुशासनं नानुचितमिति-नव्याः ॥६।२।६९॥ 60 65

तदत्रास्ति ॥६।२।७०॥

तदिति प्रथमान्तादत्रेति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । यत्तत् प्रथमान्तं तच्चेदस्तीति भवति देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेत् देशस्य नाम भवति । अत्रापीतिकरणो विवक्षार्थोऽनुवर्तत एव । तेन प्रसिद्धे नाम्नि भूमादौ चार्थे भवति । अत एव चोभयप्राप्तौ परोऽपि मत्वर्थीयोऽनेन बाध्यते । 70 75

उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति औदुम्बरं

"Aho Shrutgyanam"

नगरम् । **औदुम्बरो जनपदः** । **औदुम्बरः पर्वतः** ॥७०॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्—तद्० । तदिति सामान्येन नपुंसकं प्रथमान्तम् । तच्च प्रथमान्तप्रकृतेरुपस्थापकमित्याह—**तदिति प्रथमान्तादिति** । अत्रेति सप्तम्यन्तमर्थनिर्देशपरम् । **तच्चेदस्तीति भवतीति** । **तत् प्रथमान्तं चेदस्तीतिक्रियाया कर्तृतामापन्नं** भवतीत्यर्थः । पूर्वसूत्रात् 'इति' 'देशे' 'नाम्नि' इति पदत्रयमप्यनुवर्तनीयम् । तेन योऽर्थो लभ्यस्तमाह—**प्रत्ययान्तं चेद् देशस्य नाम भवतीति** । प्रत्ययान्तेन यदि कश्चिद् देश आख्यायेतेति भावः । पूर्वसूत्रवदिहापीतिशब्दस्य प्रसिद्धिपरिग्रहप्रयोजनतामाह—**अत्रापीतिकरण** इत्यादिना । तत्फलमाह—**तेन प्रसिद्धे नाम्नि भूमादौ चार्थे भवतीति** ।

अयमाशयः—तदस्मिन्नस्तीत्यर्थे मत्वर्थीया अपि प्रत्यया भवन्ति । ततश्च *येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति* इति न्यायेन मत्वर्थीय प्रत्ययानामयमपवादः। व्याप्यशास्त्रं "तदस्यास्ति" [६.२.७०.], यत इदं प्रत्ययान्तस्य देशनामत्वे सत्येव प्रवर्तते । व्यापकशास्त्रं च "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" [७.२.१.] इति । अपवादस्थले च व्याप्यशास्त्रेण व्यापकशास्त्रे स्वविषयातिरिक्तत्वेन सङ्कोचो भवति । ततश्च देशनामतो भिन्नार्थ एव मतुः स्याद्, नान्यत्र। एवं चास्य शास्त्रस्य मतोरपवादनिर्णये *उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः* इति न्यायेन यो यो देशः (शब्दकृतोऽर्थकृतो वा) मतोः प्रवृत्तिविषयः स्यात् स स यथासम्भवमस्यापि स्यादेव, इति ।

"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥"

इत्यभियुक्तोक्तरीत्या मतोर्ये भूमादयोऽर्थास्ते प्रकृतसूत्रविहितप्रत्ययस्यापि भविष्यन्ति, देशनामत्वं चाधिकमिति तदुक्तं प्रसिद्धे नाम्नि भूमादौ चेति । एतच्चेतिशब्दबलादपि प्राप्यते । **परोऽपि मत्वर्थीयोऽनेन बाध्यत** इति । अयमाशयः—अस्तु नाम अस्य सूत्रस्य *येन नाप्राप्ते०* इति न्यायेन मतुप्रत्ययापवादकत्वम्, परन्तु येऽन्ये मतोरपवादभूता इनादयः ते परत्वादिमं बाधिष्यते इति नाशङ्कनीयम्, यतो विषयविशेषनियतत्वेनायं तेषामपि बाधकः । ते हि सर्वत्र प्राप्नुवन्त्ययं च देशनाम्न्येवेति विशेषविधानात् । सामान्यशास्त्रापेक्षया विशेषशास्त्रस्य बलवत्त्वाद् इति परेषामपि मत्वर्थीयानामयमपवाद इति सिद्ध्यति । उदाहरति—**उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे** इति । प्राय सर्वत्र देशे उदुम्बरा भवन्त्येव । किन्तु यत्र ते बाहुल्येनोपलभ्यन्ते स एव देशस्तन्नाम्ना प्रथते इति भूमार्थेऽत्राणप्रत्ययः । अत्र च मतुपोऽपवाद इनिरपि प्राप्तः सोऽप्यनेन बाधित इति ॥६।२।७०॥

तेन निर्वृत्ते च ॥६।२।७१॥

तेनेति तृतीयान्तान्निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेद् देशस्य नाम भवति । यदा अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते तदा तेनेति कर्तरि करणे वा तृतीया । यदा स्वकर्मकविवक्षया कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ तृतीया ।

कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी । ककन्देन काकन्दी । मकन्देन माकन्दी । सगरैः सागरः । सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा । चकारश्चतुर्णां योगानामुत्तरत्रानुवृत्त्यर्थः । तेनोत्तरे प्रत्यया यथायोगं चतुर्ष्वर्थेषु भवन्ति ॥७१॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्—तेन० । अत्रापि देशे नाम्नि इति पूर्वतः संबध्यत एव । तेनेति पदं च तृतीयान्तप्रकृत्युपस्थापकम् । तथा च सूत्रार्थमाह—**तेनेति तृतीयान्तादिति** । 'निर्वृत्त' इति क्तप्रत्ययान्तं पदम् । क्तप्रत्ययश्च कर्तरि कर्मणि भावे च यथायथं भवति । तथा च कस्मिन्नर्थेऽत्र क्तः प्रत्ययः ? तदन्तस्य च तेनेति तृतीयान्तेन कीदृशः संबन्धः ? इति जिज्ञासायामाह—**यदा अकर्मका अपि धातव** इत्यादि । अयमाशयः—वृत्धातुरकर्मकोऽप्युपसर्गवशादिह सकर्मको भविष्यतीति कर्मणि क्तः प्रत्ययः सम्भवति । तदुक्तमभियुक्तैः—

"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥"

तथा चोपसर्गवशादर्थपरिवर्तनस्य दृष्टत्वेनाकर्मकस्यापि सकर्मकत्वं संभाव्यत एव । अयमभिसान्धः धातूनामनेकार्थत्वमिति सिद्धान्तात् सर्वेषां धातूनां बहवोऽर्थाः सन्ति, तत्र कश्चिदर्थः कस्यचिदुपसर्गस्य संनिधानेन प्रतीयते, तदभावे न प्रतीयते । धातोश्च फले व्यापारे च शक्तिः ।

"Aho Shrutgyanam"

तत्र, यत्र क्रियाफलमपि कर्तर्येव तिष्ठति स धातुरकर्मकः । यत्र च क्रियाफलं कर्तुरन्यत्र तिष्ठति स सकर्मकः, यतः स्वार्थफलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्, स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वमित्यकर्मक-सकर्मकधात्वोः शाब्दिकाभिमतं लक्षणम् । तथा चोपसर्गरहितो वृत्धातुः यद्यपि फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकस्तथापि उपसर्गसन्निधानेनात्र प्रेरणाविषयीभूतस्थित्यनुकूलव्यापारवाचकत्वसंपत्त्या सकर्मकत्वं भवतीति कर्मणि क्तप्रत्ययः । शब्दकौस्तुभे चात्रान्तर्भावितण्यर्थत्वेन सकर्मकत्वमुक्तम् ।

तृतीया चात्र पक्षे कर्तृ-करणहेतुसाधारणी भवितुमर्हति । तथापि कर्तृकरणयोरेव तमाह–**यदा तेनेति कर्तरि करणे वा तृतीयेति । यदा त्वकर्मकविधक्षयेति** । तुनाऽरुचिः सूचिता । तद्बीजं तु सकर्मकत्वविक्षयैव सिद्धे उपसर्गसम्बन्धसम्पतस्य सकर्मकत्वस्य त्यागे मानाभाव इति सकर्मकाणामपि धातूनां विवक्षावशादकर्मकत्वस्य–

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥"

इति वार्तिकवचनेन सिद्धतया तादृशविवक्षावशादकर्मकत्वस्य संभावनामात्रेण पक्षान्तरमिदमुपन्यस्तम् । तथा तथा चाकर्मकत्वे कर्मणि करणे च न क्तोऽपि तु कर्तर्येव । **तथा च तेनेत्यत्र हेतावेव तृतीयेति युक्तम्** । कुशाम्बेन निर्वृत्ता इत्यादौ यथायोगं कर्तरि हेतौ वा तृतीयेत्यनुसन्धेयम् । विनाऽपि चकारं 'देशे तन्नाम्नि' इत्येतदनुवृत्तौ सिद्धायां चकारस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याह–**चकारश्चतुर्णां योगानामुत्तरत्रानुवृत्त्यर्थ** इति । यद्यपि योगास्त्रय एव– "निवासादूरभवे" [६.२.६९.], "तदत्रास्ति०" [६.२.७०.], "तेन निर्वृत्ते च" [६.२.७१.] इति । तथापि निवासादूरभवे इत्यनेनार्थद्वये प्रत्ययविधानादस्य भिन्नवाक्यकल्पनया योगद्वयत्वम् । इत्थं योगानां चतुष्ट्यं सिद्ध्यति, तच्चोत्तरत्र सहैवानुवर्तते । तत्फलमाह–**तेनोत्तरे प्रत्यया यथायोगमित्यादि** । यथायोगमित्यस्य येनार्थेन यस्याः प्रकृतेर्योगो युज्येत तत्रार्थे तस्याः प्रकृतेः प्रत्ययः । (येष्वन्यतमे एवार्थ इति यावत्) भवति, न तु सर्वाभ्य एव प्रकृतिभ्यः सर्वेष्वेष्वर्थेषु भवन्तीति भावः ॥६।२।७१॥

नद्यां मतुः ॥६।२।७२॥

तस्य निवासः, तस्यादूरभवः तदत्रास्ति तेन निर्वृत्तं चेत्येष्वर्थेषु यथायोगं मतुः प्रत्ययो भवति, नद्यां देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेन्नदीविषयं देशस्य नाम भवति, नदीनामेत्यर्थः । अणोऽपवादः ।

उदुम्बरा अस्यां सन्ति उदुम्बरावती नदी । मशकावती । वीरणावती । पुष्करावती । इक्षुमती । द्रुमवती । शरावती । इरावती । भगीरथेन निर्वृत्ता भागीरथी । भैमरथी । जाह्नवी । सौवास्तवी । अमत्वन्तान्येव भागीरथ्यादीनि नदीनामानीति मतुर्न भवति ॥७२॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्– नद्यां० । चतुर्णामर्थानामनुवृत्तिः सिद्धान्तितैव पूर्वत्र, प्रकृतिरपि अर्थानुसारमेव षष्ठ्यन्तादिका यथायोगमेवानुसन्धेया । 'देशे नाम्नि' इति च पूर्वतोऽनुवृत्तमेव । नद्यामिति च देशे इत्यनेन सामानाधिकरण्यसंबन्धेनैवान्वेतुं युज्यते । तथापि सप्तम्या विषयतार्थत्वं वर्णयति–**नदीविषयं देशस्य नाम भवति** इति नद्यवच्छिन्नो यो देश इति प्रतीत्या नद्यामवच्छेदकताख्या विषयता भवति, नद्यवच्छिन्नश्च देशो नदीरूप एवेति वस्तुतः सामानाधिकरण्यमेव पर्यवस्यतीत्याह–**नदीनामेत्यर्थ** इति । प्रत्ययान्तं चेन्नदीनाम भवतीति पर्यवसितोऽर्थ इत्यर्थः । ननु अर्थानुसारमिह 'तदत्रास्ति' इत्यस्यैव योगः सम्भवति । तथा च तस्मिन्नर्थे मत्वर्थीयमतुनैवोदुम्बरावतीत्यादीनां सिद्धौ सत्यां किमिह मतोर्विधानमिति चेदत्राह–**अणोऽपवाद** इति । चातुरर्थिको ञ्ण् मतोरपवाद इति पूर्वमुक्तम्, स मा भूत्, किन्तु मतुरेवायं भवत्वित्यर्थमिह मतोरेव विधानमिति भावः । अथोदाहरति–उदुम्बरा अस्यां सन्तीति । उदुम्बरशब्दात् मतौ कृते "अनजिरादि०" [३.२.७८.] इति दीर्घे मतोर्मस्य वत्वे स्त्रियामुदुम्बरावतीति । एवमन्येष्वपि विज्ञेयम् । क्वचिन्नद्यामपि मतुर्न भवतीत्यर्थस्य सूचनाय तादृशान्यपि रूपाणि उदाहरति–**भगीरथेन निवृत्ता भागीरथी**-त्यादिना । भीमरथेन **भैमरथी**, जह्नुना **जाह्नवी**, सुवास्तुना **सौवास्तवी**ति । आद्ययोरणि, आदिस्वरवृद्धौ स्त्रीत्वाद् ङ्यां रूपसिद्धिः । अन्त्ययोरणि आदिस्वरवृद्धौ "अस्वयंभुवोऽव्" [७.४.७०.] इत्यवादेशे ङ्यां रूपसिद्धिः । मतुरेषु कुतो नेत्याह–**अमत्वन्तान्येव भागीरथ्यादीनि नदीनामानी**ति । अयमाशयः– अत्र प्रकरणे विवक्षार्थ इति करणः सर्वत्र विज्ञेयः । तथा च व्यवहृते नाम्न्येव प्रत्ययविधानमिति भागीरथ्यादिशब्दा-

"Aho Shrutgyanam"

न्यस्वन्तान्नदी-व्यवहारादर्शनान्न तेभ्यो मतुरिति । तथा च यथाप्राप्तमणेव भवति ॥६।२।७२॥

मध्वादेः ॥६।२।७३॥

मध्वादिभ्यो भतुः प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिकः देशे नाम्नि प्रत्ययान्तं चेद् देशस्य नाम भवति । अणोऽपवादः । अनर्थश्चारम्भः ।

मधुमान् । बिसवान् । स्थाणुमान् ।

मधु बिस स्थाणु ऋषि इक्षु वेणु कर्कन्धु कर्कन्धू शमी करीर हिम किसर सार्पण रुवत् पार्दा कीशरु इष्टका पार्दाकी शरु शुक्ति आसुति सुत्या आसन्दी शकली वेट पीडा अक्षशिल तक्षशिला आमिषी इति मध्वादिः ॥७३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—मध्वादेः० । चतुर्णामप्यर्थानामनुवृत्तेराह—**चातुरर्थिक** इति । अत्र चतुर्ध्वर्थेषु भव इत्यर्थे इकणो विधाने च तस्य "द्विगोरनप०" [६.१.२४.] इति लुप् स्यात् । विधानसामर्थ्यान्नेति समाधानं तु युक्तम्, सर्वत्रैवं समाधानस्य शक्यत्वात् । ततश्च चतुर्णामर्थानां समाहार इति 'चतुरर्थी' इत्येवं समाहारे द्विगुं विधाय ततः "अध्यात्मादित्वात्" [६.३.७८.] इकणि आदिस्वरवृद्धौ रूपसिद्धिः । न चात्रापि द्विगोः परत्वसत्त्वादिकणो लुप् स्यादिति शङ्कयम्, द्विगोर्निमित्तस्यैव तद्धितस्य लुप् भवतीति द्विगोरिति पदावृत्त्या महाभाष्यादौ साधितत्वात् । तथा च यत्र तद्धितार्थे द्विगुर्भवति तस्मादेव द्विगोः परस्य यस्वरादेः प्रत्ययस्य लुप्, इह च समाहारे द्विगुं विधाय ततः प्रत्ययविधानमित्यदोषात् । **अणोऽपवाद** इति । मत्वर्थीयमतुना सिद्धे विशिष्येह मतोर्विधानेनाणपवादकत्वं विज्ञायते इति पूर्ववदनुसन्धेयम् । ननु पूर्वसूत्रेणैव मध्वादिभ्योऽपि मतौ सिद्धे किमर्थं पृथगयं योगः क्रियत इति चेदत्राह—**अनर्थश्चारम्भ** इति । चकारेणाणबाधनार्थत्वस्य समुच्चयः । तथा चाणबाधनपूर्वकं नदीभिन्ने देशे मतोर्विधानार्थोऽयमिति पर्यवसन्नम् । उदाहरति—मधुमान् इत्यादि । मधु अस्त्यत्रेत्यादिरूपेण विग्रहः । गणं पाठेन निर्दिशति—**मधु-बिस** इत्यादिना ॥६।२।७३॥

नड-कुमुद-वेतस-महिषाद्डित् ॥६।२।७४॥

नडादिभ्यो डिन् मतुः प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिकः देशे नाम्नि । अणोऽपवादः ।

नडवान् कुमुद्वान् वेतस्वान् महिष्मान् देशः । तत्र भवा माहिष्मती नगरी । डित्त्वमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ॥७४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नड-कु० । **अणोऽपवाद** इति । अणः प्रकरणप्राप्तस्य, आदिपदेन नडशब्दात् प्राप्तस्याग्रिमसूत्रविहितस्य वलस्य कुमुदशब्दात् प्राप्तस्य "कुमुदादेरिकः" [६.२.९६.] इतीकस्य च संग्रहः । तथा च नडशब्दाद् वलः कुमुदशब्दादिकश्च पाक्षिकत्वेन भवत एव, उभयोर्विधानसामर्थ्यात् । उदाहरति—**नड्वान्** इत्यादिना । नडाः कुमुदानि वेतसाः महिषाश्च सन्त्यस्मिन् देशे इत्यादिरूपेण विग्रहः । डिति मतौ डित्त्वादन्त्यस्वरादिलोपे मतोर्मस्य वत्वे च रूपसिद्धिः । अत्र वेतस्वान् इत्यत्रान्त्यस्वरादिलोपे "सौ रुः" [२.१.७२.] इति रुत्वं, **महिष्मान्** इत्यत्र "धुरस्तृतीयः" [२.१.७६.] इति डत्वं च कुतो नेति न शङ्कनीयम्, अन्तरङ्गे रुत्वे डत्वे च कर्त्तव्ये बहिरङ्गस्यान्त्यस्वरादिलोपस्य *असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे* इत्यसिद्धत्वात् सकारस्य षकारस्य च पदान्तत्वाभावात् । डकारस्येत्संज्ञकस्य विधानं कथमित्याशङ्कायामाह—**डित्त्वमन्त्यस्वरादिलोपार्थमिति** । "डित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इति सूत्रेणेति शेषः ॥६।२।७४॥

नड-शादाद् वलः ॥६।२।७५॥

नड शाद इत्येताभ्यां डित् वलः प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिको देशे नाम्नि । मत्वर्थीयाणबाधपवादः । नड्वलम् । शाद्वलम्ः ॥७५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नड-शा० । नड-शादशब्दौ तृणविशेषवाचकौ, ताभ्यां चातुरर्थिकोऽपि वलः तदत्रास्तीत्यस्मिन्नेवार्थे भवति योग्यत्वात् । तथा च मत्वर्थीयसप्तमीयोग-क्षेमत्वस्य प्राप्तम् । तदाह—**मत्वर्थीयाणबाधपवाद** इति । मत्वर्थीयं मतुं प्रबाध्य "तदस्त्यस्मिन्नस्ति०" [६.२.७०.] इत्यण् प्राप्तः, तमपि प्रबाध्य परत्वात् "नडादेः कीयः" [६.२.९२.] इति प्राप्तः, तमप्ययं बाधते इत्यर्थः । तत्रायं क्रमः अर्थविशेष(देशे नाम्नि इति) निर्देशादण् मतुं बाधते इति पूर्वमुक्तमेव । अण् च विशेषविहितेन परेण च "नडादेः कीयः" [६.२.९२.] इत्यनेन बाध्यते, सोऽपि च नडादिगण-

"Aho Shrutgyanam"

पठितेभ्योऽन्येभ्योऽपि प्रत्ययं विधत्तेऽयं च केवलं नड-शाद-शब्दाभ्यामिति तदपेक्षयाऽल्पावकाशत्वेन विशेषविहितत्तर इति कीयं बाधते। वस्तुतस्तु कीय-वल-डिन्मतवः सर्वेऽपि नडशब्दाद् भवन्त्येवेति नैषां परस्परं बाध्य बाधकभावः, समेषां विशेषविहितत्वसाम्यात्, तथा च पर्यायेण त्रयोऽपि भवन्ति। वले, डित्त्वादन्त्यस्वरादिलोपे नड्राः शादाः सन्ति अत्रेति **नड्वल शाद्वलः** देशः ॥६।२।७५॥

शिखायाः ॥६।२।७६॥

शिखाशब्दाद् बलः प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिकः देशे नाम्नि। अणोऽपवादः। पृथग्योगाद् डिदिति निवृत्तम्।

शिखावलं नाम नगरम्। मतुप्रकरणे शिखाया वलषं वक्ष्यति, तद् आदेशार्थं वचनम् ॥७६॥

श० म० न्यासानुससन्धानम्-शिखायाः०। **अणोऽपवाद** इति। "तदत्रास्ति" [६.२.७०.] इति प्राप्तस्येति भावः। तत्र युक्तिरुक्तैव विशेषविहितत्वादिति। ननु पूर्वमेव शिखाशब्दस्यापि पाठेन सिद्धे किमर्थमयं पृथग्योग आरभ्यते इति चेदत्राह-**पृथग्योगाद्डिदिति निवृत्तमिति**। पृथग्योगविधानेन किमपि विशिष्टं फलं प्राप्यमेवेति डितोऽसम्बन्ध एव फलमिति भावः। तेन चान्त्यस्वरादिलोपो न। उदाहरति-**शिखावलं नाम नगरमिति**। तथा च रूढिरेवात्र न यौगिकार्थप्रत्ययः। मत्वर्थीयप्रकरणे "कृष्यादिभ्यो वलच्" [७.२.२७.] इति वलच् विधीयते। कृष्यादिगणे च शिखाशब्दोऽपि पठ्यते, तेनैवं सिद्धेऽत्र शिखाशब्दाद् वलस्य विधानं व्यर्थमित्याशङ्कामपनेतुमाह-**मतुप्रकरणे** इत्यादिना। अयमर्थः मतुप्रकरणे पठितो वलच् सामान्यतः (अर्थविशेषमनाश्रित्य) विधीयते, स च देशेऽदेशे च भविष्यति। तत्र देशानामत्वे सति विशेषविधानाच्चातुरर्थिकोऽण् वलचं बाधेतेति देशे वलच् न स्याद्, इत्यनेन वलो विधीयते। तत्र च शिखाशब्दपाठाभावेऽदेशे शिखाशब्दाद् वलच् न स्यादिति तत्रापि पाठस्यावश्यकत्वमित्युभयोः सार्थकत्वम् इति ॥६।२।७६॥

शिरीषादिक-कणौ ॥६।२।७७॥

शिरीषशब्दादिक-कण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, चातुरर्थिकौ देशे नाम्नि। शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः। शिरीषिकः। शैरीषकः ॥७७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शिरीषा०। शिरीषशब्दाद् 'इक' 'कण्' इति प्रत्ययद्वयेन शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषिकः, शैरीषिक इति रूपद्वयं स्यमते। मतान्तरे चेह चातुरर्थिके प्रकरणे शिरीषशब्दात् प्रत्ययत्रयविधानं दृश्यते, तेन च शिरीषक इत्यधिकं रूपं तत्रेति भेदो दृश्यते, किमत्र तत्त्वमिति लक्ष्यैकचक्षुष्का जानन्तु ॥६।२।७७॥

शर्कराया इकणीयाण् च ॥६।२।७८॥

शर्कराशब्दादिकण् ईय अण् चकाराद् इक कण् इत्येते प्रत्यया भवन्ति, चातुरर्थिका देशे नाम्नि।

शर्करा अस्मिन् देशे सन्ति शार्करिकः। शार्करीयः। शार्करः। शार्करिकः। शिरीषाः शर्करा इति प्रत्ययायोगमन्तरेणापि देशे वृत्तिरिति पूर्ववत् प्रत्ययो न भवति ॥७८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम—शर्करा०। अत्र प्रत्ययत्रयम् 'इकण्, ईय्, अण्' इति चकारेण च पूर्वसूत्रस्थौ इक-कणौ समुच्चीयेते इति शर्कराशब्दात् प्रत्ययपञ्चकं सिध्यति। तथैवोदाहरति-**शार्करिक** इत्यादिना। शिरीष-शर्कराशब्दाभ्यां विहितस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य लुबपि पाक्षिकी विधीयते, तन्मतनिरासायाह-**शिरीषाः शर्करा इति प्रत्ययायोगमन्तरेणापीति**। अयमाशयः- केवलं बहुवचनान्तः शिरीषशब्दः शर्कराशब्दश्च देशविशेषे स्वत एव रूढ इति ततः प्रत्ययं विधाय तस्य लुपो विधानं नावश्यकमिति अङ्का इत्यादिवद् विज्ञेयमिति, "निवासादूरभवे०" [६.२.६९.] इति सूत्रे बृहद्वृत्तौ निर्णीतमिति तदिहाप्यनुसन्धेयमिति ॥६।२।७८॥

रोऽश्मादेः ॥६।२।७९॥

अश्मादिभ्यो रः प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिको देशे नाम्नि। अश्मरः। यूषरः।

अश्मन् यूष ऊष यूथ मीन गुद दर्भ कूट गुहा वृन्द नग कण्ड गह्व कन्द पामन् इत्यश्मादिः ॥७९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—रोऽश्मादेः। इतः आरभ्य "अरीहणादेरकण्" [६.२.८३.] इति

"Aho Shrutgyanam"

सूत्रपर्यन्तानि सूत्राणि केवलं प्रत्ययमात्रविधायकानीति न तेषु किमपि व्याख्येयम् ॥६।२।७९–८३॥

प्रेक्षादेरिन् ॥६।२।८०॥

प्रेक्षादिभ्य इन्प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिके देशे नाम्नि । प्रेक्षी, फलकी ।

प्रेक्षा फलका बन्धुका ध्रुवका ध्रुवका क्षिपका कूप पुक धुक इक्कट कङ्कट संकट मह गर्त न्यग्रोध परिवाप यवाष हिरण्य इति प्रेक्षादिः ॥८०॥

तृणादेः सल् ॥६।२।८१॥

तृणादिभ्यश्चातुरर्थिकः सल् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि ।

तृणसा, नदसा ।

तृण नद जन पर्ण वर्ण अर्णस् वरण बिल तुस वन पुल इति तृणादिः ॥८१॥

काशादेरिलः ॥६।२।८२॥

काशादिभ्यश्चातुरर्थिक इलः प्रत्ययो भवति, देशे नाम्नि । काशिलम् । वाशिलम् ।

काश वाश अश्वत्थ पलाश पीयूक्षा पाश विश तृण नल वन नलवन कर्दम कर्पूर बर्बर वर्तूल शीपाल कण्टक गुहा कपित्थ इति काश्यादिः ॥८२॥

अरीहणादेरकण् ॥६।२।८३॥

अरीहणादिभ्यश्चातुरर्थिकोऽकण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । आरीहणकम्, खाण्डवकम् ।

अरीहण खण्डु खण्ड्व डुघण किरण खदिर भगल भलन्दन उलुन्द खावुरायण खानुरायण कौष्टायन कौव्रायण भाव्रायण शैगर्तायन रैवत रायस्पोष विपथ विपाश उद्दण्ड उदञ्चन पेडायन जाम्बवत जाम्बवत् शिंशपा वीरण धौमतायन यज्ञदत्त सुयज्ञ बधिर बिल्व जम्बू साम्बुरायण स्तैशायन सौमायन शाण्डिल्यायन श्वित्रायणि साम्बरायण कृश कृत्स्न सुशर्मन् इत्यरीहणादिः ॥८३॥

सुपन्थ्यादेर्ण्यः ॥६।२।८४॥

सुपन्थिन् इत्यादिभ्यश्चातुरर्थिको ण्यः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि ।

सौपन्थ्यम् । सुपथिनशब्दस्यात एव निपातनात् पकारात् परो नागमः पस्य च वा वकारः । सांकाश्यम् । काम्पील्यम् ।

सुपन्थिन् सुवन्थिन् संकाश कम्पील सुपरियूप अश्मन् अश्व अङ्ग नाथ कुण्ट कुट कूट मादित मृष्टि आगस्त्य शूर विरन्त विकर नासिका प्रगदिन् मगदिन् कटिद कटिप कटिव चूदार मदार मजार कोविदार कश्मीर शूरसेन कुम्भ सीर सुर कसमल अंस नासा रोमन् लोमन् तीर्थ पुलिन मलिन अगस्ति सुपथिन् दश नल सकर्ण कलिव खडिव गडिव इति सुपन्थ्यादिः । ।८४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—सुपन्थ्यादे० । सुपन्थिन् सुवन्थिन् शब्दौ गणे पठ्यते । तयोश्चाश्रुतत्वेन तत्सिद्धिकारमाह सुपथिनशब्दस्येत्यादि । शोभनः पन्था इत्यर्थे सुपथिनशब्दः श्रूयते तस्यैव गणे पाठेन नागमः पकारस्य च पाक्षिको वकारो विधीयत इत्याशयः । अत्र सुपन्थिन्-सुवन्थिनशब्दाभ्यां तदत्रास्तीत्यर्थे संकाश-कम्पीलाभ्यामदूरभवे च प्रत्यय इति यथायोगमूहनीयम् । गणे च व्याकरणान्तरात् पाठभेदो महानत्र प्रकरणे दृश्यते ॥६।२।८४॥

सुतङ्गमादेरिञ् ॥६।२।८५॥

सुतङ्गमादिभ्यश्चातुरर्थिक इञ् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । सौतङ्गमिः । मौनिवित्तिः ।

सुतङ्गम मुनिवित्त विप्रचित्त महावित्त महापुत्र शुक्र श्वेत विघ्र श्वन् विघ्रश्वन् अर्जुन अजिर गदिक वीज वाप वीजवाप कर्ण इति सुतङ्गमादिः ॥८५॥

बलादेर्यः ॥६।२।८६॥

बलादिभ्यश्चातुरर्थिको यः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । बल्यम्, पुल्यम् ।

बल पुल मुल उल कुल वुल नल दल उरल लकुल वन इति बलादिः ॥८६॥

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—"सुतङ्गमादेरिञ्" [६.२.८५.] "बलादेर्यः" [६.२.८६.] इति सूत्रे स्पष्टे ॥६।२।८५॥८६॥

अहरादिभ्योऽञ् ॥६।२।८७॥

अहन् इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिकोऽञ् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि।

आह्नम्, लौमम्। तेन निवृत्तमित्यर्थेऽहः—शब्दाहेशो नाम्नि विहितोऽयमञ् विशेषविहितत्वाद् निर्वृत्त इति सामान्यविहितस्य काले कणोऽपवादः।

अहन् लोमन् वेमन् गङ्गा इत्यहरादिराकृतिगणः ॥८७॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—अह०। चातुरर्थिकत्वेऽपि यथायोगमित्यस्य पूर्वमुक्ततया अहन्शब्दस्य कालवाचकत्वेन निवासादूरभवात्रास्तिरूपाणां त्रयाणामप्यर्थानां तेन सह योगासंभवादाह—तेन निर्वृत्तमित्यर्थेऽहः शब्दादित्यादि। कालस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वस्य सकलदार्शनिकसंप्रदायसम्मतत्वेनाह्नो निर्वृत्तिहेतुताया योग्यत्वात्, निर्वृत्तार्थ एव प्रत्यय इति भावः। तथा चाह्ना निर्वृत्तम्—आह्नम् नगरम्। लोमन्शब्दात् तदत्रास्तीत्यर्थे प्रत्ययो युज्यते इति लोमानि सन्त्यत्रेति लौमम् इति व्युत्पत्तिः। "निर्वृत्ते" [६.४.१०५.] इति सूत्रेण कालवाचकात् तृतीयान्तान्निर्वृत्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो विधीयते कुतो नेहेत्याशङ्कायामाह—विशेषविहितत्वात् "निर्वृत्ते" [६.४.१०५] इति सामान्यविहितस्येत्यादि। अयमाशयः—यद्यप्यहन्शब्दोऽपि कालवाची, तच्च सूत्रम् "निर्वृत्ते" [६.४.१०५.] इति परम्, इति परत्वात् तस्यैव प्रवृत्तिरुचितेति कथयितुं शक्यते, तथापि तत्सामान्यतः कालवाचकात् प्रत्ययविधायकमिदं चाहःशब्दाद् विशिष्यप्रत्ययं विधत्त इति विशेषविहितोऽनवकाशश्चेति तदपवादतयेदमेव प्रवर्त्तते देशे नाम्नि। अन्यत्रार्थे त्वस्य प्राप्तिरेव नेति अह्ना निर्वृत्तं कार्यमाह्निकमित्यपि भवत्येवेति विज्ञेयम् ॥६।२।८७॥

सख्यादेरेयण् ॥६।२।८८॥

सखि इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिक एयण्प्रत्ययो भवति, देशे नाम्नि। साखेयः। साखिदत्तेयः।

सखि सखिदत्त दत्त अग्नि अग्निदत्त वादस्त वायुदत्ता गोफिल भल्ल भल्लिपाल चक्र चक्रवाक छगल अशोक सीरक वीर वीरसरस समल रोह तमाल कदल करवीर कुशीरक सुरसा सरम सपूल इति सख्यादिः ॥८८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सख्या०। स्पष्टम् ॥६।२।८८॥

पन्थ्यादेरायनण् ॥६।२।८९॥

पन्थ्यादिभ्यश्चातुरर्थिक आयनण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि। पान्थायनः। पथिनशब्दस्य प्रत्ययययोगे पकारात् परो नागमोऽत एव निपातनात्। पाक्षायणः। तौषायणः।

पथिन् पक्ष तुष अण्डक वलिक पाक चित्र चित्रा अतिश्व कुम्भ सीरक लोमन् रोमन लोमक हंसक सकर्ण सकर्णक सरक सहक सरस समल अंकुश कुण्ड यमल विल हस्त हस्तिन् सिंहक इति पन्थ्यादिः ॥८९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पन्थ्या०। "सुपन्थ्यादेर्ढ्यः" [६.२.८४] इति सूत्रोक्तरीत्येहापि गणे तादृशपाठदर्शनादेव नागमो भवतीत्याह—पथिनशब्दस्य प्रत्ययययोग इत्यादिना। प्रत्ययययोग इति कथनेन निपतितमपि 'पन्थिन्' इति रूपं नान्यत्र प्रयोगमर्हति, केवलमस्यायनणो योग एवेति। विग्रहश्च पथोऽदूरभवो देशः पान्थायनः। पक्षेण निर्वृत्तः पाक्षायण इत्यादि यथायोगमूहनीयः ॥६।२।८९॥

कर्णादेरायनिञ् ॥६।२।९०॥

कर्णादिभ्यश्चातुरर्थिक आयनिञ्प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि। कर्णायनिः। वासिष्ठायनिः।

कर्ण वसिष्ठ अर्क लुस अर्कलुस द्रुपद आनडुह पाञ्चजन्य स्फिग् स्फिज कुलिश आकनीकुम्भ जित्यन् जित्य जैत्र आण्डीवत् जीवन्त इति कर्णादिः ॥९०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कर्णा०। कर्णस्य निवासो देशः, वसिष्ठस्य निवासो देश इत्येवंरूपेण विग्रहे कार्णायनिः, वासिष्ठायनिरिति ॥६।२।९०॥

"Aho Shrutgyanam"

उत्करादेरीयः ॥६।२।९१॥

उत्करादिभ्यश्चातुरर्थिक ईयः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । उत्करीयः । संकरीयः ।

उत्कर संकर संपर संपल सफर संफल संफुल पिप्पल मूल पिप्पलमूल अर्क अश्मन् सुवर्ण सुपर्ण पर्ण सुपर्णपर्ण हिरण्यपर्ण इडा अजिर इडाजिर अग्नि तिक कितव आतप अनेक पलाश तिक कितव वातपान पक पलाश अनेकपलाश अशक शैवण पिचुक अश्वत्थ काश क्षुद्रा काशक्षुद्रा भस्रा विशाल शाला अरण्य अजिन अरण्याजिन जन्यजनक आर्जन खण्डाजिन चल्यण उत्कोश क्षान्ध रु[ख]ण्ड खदिर सुपर्णाय श्यावनाय नैवाकव नितान्त वृक्ष नितान्तवृक्ष आर्द्रवृक्ष इन्द्रवृक्ष अग्निवृक्ष मन्त्रणार्ह अरीहण वातागर विजिगीषा संस्रव रोहिद्गर्त नीवापक अणक निशान्त खल जिन वैराणक अवरोहित जन्य इन्द्रवर्म गर्त इत्युत्करादिः ॥९१॥

शः मः न्यासानुसन्धानम्—उत्क० । उत्करो निष्प्रयोजनीयतया क्षिप्तः पदार्थः, संकराश्च सम्मिश्रणक्रियाप्रधानः शब्दः । ताभ्यां निर्वृत्तेऽर्थे एव प्रत्ययो ज्ञेयः ॥६।२।९१॥

नडादेः कीयः ॥६।२।९२॥

नड इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिकः कीयः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । नडकीयः । प्लक्षकीयः ।

नड प्लक्ष बिल्व वेणु वेत्र वेतस त्रि तक्षन् इक्षुकाण्ड कपोत कुञ्च कुञ्चाशब्दस्यात एव गणपाठात् ह्रस्वत्वम्, इति नडादिः ॥९२॥

शः मः न्यासानुसन्धानम्—नडा० । नडशब्दस्तृणविशेषवाचीत्युक्तम् । प्लक्षशब्दश्च विशेषवाची, ताभ्यां तृतीयान्ताभ्यां निर्वृत्ते, तदत्रास्तीत्यर्थे च प्रत्ययोत्पत्तियोग्यता, इति नडैः प्लक्षैश्च निर्वृत्तम्, नडाः प्लक्षा वा अत्र सन्तीत्यर्थे नडकीयः, प्लक्षकीय इति । "नडशाद् वलः" [६.२.७५.] इति सूत्रोक्तरीत्या तु तदत्रास्तीत्यर्थ एवायं प्रत्ययः मत्वर्थीयप्रत्ययेन बाध्य-बाधकत्वादेर्विचारितत्वात् । अत्र गणे कुञ्चशब्दः पठ्यते, प्रत्ययोत्पत्तिश्च कुञ्चाशब्दादिष्यतेऽत आह-कुञ्चाशब्दस्यात एव गणे पाठाद्ध्रस्वत्वमिति । कुञ्चशब्दस्य ह्रस्वाकारान्तस्याप्रयुक्तत्वेन कुञ्चाशब्दो नित्यस्त्रीलिङ्ग एवेह गणे ग्राह्यः । कुञ्चेति गणे निर्देशाच्च ह्रस्वत्वं निपात्यते इति लभ्यते । कुञ्चूशब्दो व्यञ्जनान्तः पक्षिविशेषस्त्री तस्याजादिगणे पाठसामर्थ्यादाद् कुञ्चा पक्षिजातिविशेषवाची । सैवेह गणे निर्देष्टव्या कपोतशब्दसाहचर्यात् । तथा ह्रस्वत्वं निपातनलभ्यमेव । परे तु ह्रस्वत्वं गणसूत्रेण विदधति, गणे च कुञ्चाशब्दमेव पठन्ति । तेषामयमभिप्रायो यत् कुञ्चशब्दोऽकारान्तः पक्षिविशेषनामसु 'अभिधानचिन्तामणौ' [४.९४] पठितः, क्रौञ्चपर्यायतया । तथा च स्वाभाविको ह्रस्वान्तः इह गणे पठ्यतेऽथवा आकारान्तः पक्षिस्त्रीवाची, इति नियामकाभावाद् दीर्घ एव गणे पठनीयस्तस्य ह्रस्वत्वं विधेयमेवेति । कपोत शब्दसाहचर्यात् पक्षिवाचकः स्त्रीलिङ्ग एवेह ग्राह्य इति तु न युक्तम्, गणे पूर्वं पक्षिभिन्नानामेव बहूनां पाठादिह तादृशसाहचर्याश्रयणे नियामकाभावादित्याहुः । किन्तु *नासूया तत्र कर्तव्या यत्रानुगमः क्रियते* इति न्यायेनात्र स्वयमेवाचार्येण व्याख्यातत्वात्, शङ्का-समाध्योरवसराभावात् तत्र युक्तम् ॥६।२।९२॥

कृशाश्वादेरीयण् ॥६।२।९३॥

कृशाश्वादिभ्यश्चातुरर्थिक ईयण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । कार्शाश्वीयः । आरिष्टीयः ।

कृशाश्व अरिष्ट अरिष्य वेष्य विशाल रोमक लोमक रोमय शष्कल कूट चर्चुल पूगर शूगर धूकर पूकर संदृश सदृश पुरगा पूरवा धूम धूम्र विनीत अविनत विकूच्या अयस् सायस् इरस् उरस् अरुष्य पेरास इर आस मुङ्गल मौङ्गल्य सुवर्चल प्रतर अजिन अवनत विकुटचाङ्कुश पराशर इति कृशाश्वादिः ॥९३॥

शः मः न्यासानुसन्धानम्—कृशा० । कृशाश्वादयः व्यक्तिविशेषवाचकाः प्रतीयन्ते इति तेभ्यः निवासार्थे निर्वृत्तार्थे च प्रत्ययोग इति कृशाश्वस्य निवासः कृशाश्वेन निर्वृत्त इत्येवंरूपेण विग्रहः कार्यः । एवमारिष्टीय इत्यत्रापि ॥६।२।९३॥

"Aho Shrutgyanam"

ऋश्यादेः कः ॥६।२।९४॥

ऋष्य इत्यादिभ्यश्चातुरर्थिकः कप्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । ऋष्यकः । न्यग्रोधकः ।

ऋष्य न्यग्रोध शर निलीन निवात विनद्ध सित शित नद्ध निनद्ध परिगूढ उपगूढ उत्तर अश्मन् उत्तराश्मन् स्थूल बाहु स्थूलबाहु खदिर अरदु अनडुह् परिवंश खण्ड धीरम कर्दम शर्करा निबन्ध अशनि खण्ड दण्ड वेणु परिवृत वेश्मन् अंशु इति ऋश्यादिः ॥९४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—ऋश्या० । ऋष्यो मृगविशेषवाची, वृन्यग्रोधो क्षविशेषः शरस्तृणविशेषः, एवंभूतानां शब्दानां चातुरर्थिकमध्ये तदत्रास्तीत्यर्थेनैव योग इति ऋश्याः सन्त्यत्र न्यग्रोधाः सन्त्यत्रेत्येवंरूपेऽर्थे एव प्रत्ययः ॥६।२।९४॥

वराहादेः कण् ॥६।२।९५॥

वराहादिभ्यश्चातुरर्थिकः कण्प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि ।

वाराहकः । पालाशकः ।

वराह पलाश विनद्ध निबद्ध स्थूल बाहु स्थूलबाहु खदिर विदग्ध विजग्ध विभग्न विभक्त पिनद्ध निमग्न इति वराहादिः ॥९५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वराहा०। वराहः शूकरः पलाशो वृक्षविशेषः, ताभ्यां तदत्रास्तीत्यर्थ एव प्रत्ययोग्यतेति वराहा अत्र सन्ति, पलाशा अत्र सन्ति इत्येवमेव विग्रहः । अत्र गणे 'स्थूल' 'बाहु' 'स्थूलबाहु' इत्येवं द्विधा पाठो दृश्यते । तत्र स्थूल-बाहुशब्दयोः पृथक् पृथक् समस्तस्यापि स्थूलबाहुशब्दस्य पाठ इति द्विधा, ताभ्यां प्रत्ययः । क्वचित् त्रिधा पाठस्तु लेखकप्रमादकृत इत्येव प्रतिभाति । अयं च कुमुदादावपि पठ्यते, तेन कोऽपि ततो भविष्यत्येव स्थूलिकः, बाहविकः स्थूलबाहविक इति ॥६।२।९५॥

कुमुदादेरिकः ॥६।२।९६॥

कुमुद इत्येवमादिभ्यश्चातुरर्थिक इकः प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि ।

कुमुदिकम् । इक्कटिकम् । बिल्वजिकम् । केचिदमुं न पठन्ति । बाल्वजः ।

कुमुद इक्कट निर्यास कङ्कट संकट गर्त परिवाप यवाष कूप विकङ्कत बल्वज अश्वत्थ न्यग्रोध बीज दिशा शालमलि मुनि स्थल ग्राम इति कुमुदादिः ॥९६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कुमुदा० । कुमुदं पुष्पविशेषः, इक्कटो वृक्षविशेषः, बल्वजं तृणविशेषः, तथा चैषामपि तदत्रास्तीत्यर्थेनैव योग इति कुमुदानि सन्त्यत्र, इक्कटाः सन्त्यत्र, बल्वजानि सन्त्यत्रेत्यादिर्विग्रहः । बल्वजशब्दपाठविषये मतभेदमाह—केचिदमुं न पठन्तीति । अत्र गणे केचिद् बल्वजशब्दं न पठन्तीत्यर्थः । तत्फलमाह—बाल्वज इति । तथा चौत्सर्गिकोऽणेवेह—नेक इति भावः । अश्वत्थादावपि कुमुदशब्दः पठ्यते । तेन तत इक्कणपि भविष्यतीति कौमुदिक इति रूपम् ॥६।२।९६॥

अश्वत्थादेरिकण् ॥६।२।९७॥

अश्वत्थ इत्यादिभ्यश्चातुरर्थिक इकण् प्रत्ययो भवति देशे नाम्नि । आश्वत्थिकम् । कौमुदिकम् ।

अश्वत्थ कुमुद गोमठ रथकार दाश ग्राम घास कुन्द शालमलि मुनि स्थल मुनिस्थल कुट मुचुकर्ण मुचुकूर्णि कुण्डल शुचिकर्ण इत्यश्वत्थादिः । इतिकरणाद् यथादर्शनं प्रत्ययव्यवस्थायामर्थप्रकृत्युपादानं प्रपञ्चार्थम् ॥९७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—अश्वत्था० । अश्वत्थो वृक्षविशेषः, कुमुदं पुष्पम्, ताभ्यां तदत्रास्तीत्यर्थ एव प्रत्ययः । परैरत्र प्रकरणे विविच्य प्रकृतीनामर्थविशेषस्य च निर्देशो न कृतः, सामान्यत एव गणनिर्देशेन प्रत्ययमात्रविधानमाश्रितम्, तथा च यथाप्रयोगमर्थस्य प्रकृतीनां च विवेको भवति । तस्य स्वमतेऽपि औचित्यं भङ्ग्यन्तरेणाह—इतिकरणाद् यथादर्शनमित्यादि । निवासादूरभव इति "देशे नाम्नि" [६.२.६९.] इति सूत्रे इतिशब्दः पठ्यते । तस्य च यथाव्यवहारं प्रत्यय इत्यर्थकतया वर्णितत्वेन, तस्य चेह प्रकरणे सर्वत्र संबन्धस्य स्वीकारात् लक्ष्यानुसारं स्वत एव प्रकृतेरर्थस्य च कल्पना भविष्यत्येवेति, अर्थविशेषस्य चोपादानं ग्रन्थविस्तारार्थमेवेति भावः ॥६।२।९७॥

सारस्य पौर्णमासी ॥६।२।९८॥

इति शब्दो नाम्नीति चानुवर्तते । देश इति

"Aho Shrutgyanam"

निवृत्तम् । सेति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । यस्तत् प्रथमान्तं तच्चेत् पौर्णमासी भवति नाम्नि, प्रत्ययान्तं चेन्नाम स्यात् । इतिकरणो विवक्षार्थः । तेन मासार्धमासयोरेव संवत्सरपर्वणोः प्रत्ययः संवत्सरेऽप्यन्त । अस्येत्यवयवावय विसंबन्धे षष्ठी ।

पौषी पूर्णमासी, अस्य पौषो मासः । पौषोऽर्धमासः । एवम् माघः वैशाखः, आषाढ इति । नाम्नीत्येव ? पौषी पौर्णमासी अस्य पञ्चरात्रस्य दशरात्रस्य भृतकमासस्य वेति वाक्यमेव । पौर्णमासीति पूर्णो माश्चन्द्रोऽस्यामस्तीति 'पूर्वामासोऽण्' ७.२.६६ इत्यण् । पूर्णसाम इयमिति वा 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्यण । पूर्णो मा मासो वास्यां पूर्णमासा वा युक्तेति अत एव निपातनाण् ॥९८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—साऽस्य० । प्रकरणविच्छेदात् कियत् पूर्वतः सबध्यते कियन्नवेति विवेचयति— इति शब्दो नाम्नीति चानुवर्तत इति । तत्र इतिशब्दः प्रसिद्धिपरिग्रहार्थः, 'नाम्नि' इति च स्वार्थमेवाह । तथा च प्रसिद्धे नाम्नि वाच्ये प्रत्यय इत्यायाति । सूत्रार्थमाह— सेति प्रथमान्तादिति । समर्थविभक्तिनिर्देशस्यायमेव प्रकारो ग्रन्थकृताम् । पौर्णमास्यपेक्षया सेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । अस्येति च प्रत्ययार्थविवरणम्, तथा चाह—षष्ठ्यर्थे इति । यथाविहितमित्यस्यानुवृत्ताण्प्रत्ययः, अग्रे च विशिष्य यो विहितः स चेत्यर्थः । इतिकरणो विवक्षार्थ इति । येन रूपेण विवक्षा दृष्टचरा तदर्थ इति भावः । तेन प्रसिद्धेः परिग्रहः । तेनात्र यः कालः पौर्णमासीयुक्तत्वेन प्रसिद्धः स एवेह गृह्यते इति भावः । तथाभूतास्त्रय एव कालाः संभवन्ति । मासोऽर्धमासः, संवत्सरश्चेति । तत्र मासार्धमासयोरेव विशेषः, पौर्णमासीयुक्तत्वव्यवहार इति तयोरेवार्थयोः प्रत्ययविधानमिति मुख्यः पक्षः । तदाह— तेन मासार्धमासयोरेव संवत्सरपर्वणोः प्रत्यय इति । संवत्सरो महान् कालोऽवयवी । तस्य मासार्धमासे पर्वणी, अवान्तरावयवौ । मतान्तरमाह—संवत्सरेऽप्यन्त्ये इति । क्वचित् पूर्णिमा विशेषयोगस्य वर्षेऽपि विवक्षादर्शनात् तेषां तथा मतम् । मासोऽर्धमासो वा संवत्सरस्यावयवो यथा तथा पौर्णमास्यपि मासार्धमासयोरवयवः । तथा चात्र षष्ठ्यर्थः क इति निर्णेतुमाह—अवयवावयविभावसंबन्धे षष्ठीति । अस्येति सूत्रस्था षष्ठी अवयवावयविभावरूपं संबन्धमाहेत्यर्थः । तथा चोदाहरति— पौषी पौर्णमासी अस्येति पौषीत्यस्य पुष्यनक्षत्रे युक्तेत्यर्थ इत्यग्रे स्फुटीभविष्यति । तथा च पुष्यनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी यस्य मासस्यावयवः स मासः पौषः । अणि सति "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इतीकारलोपः । पौषोऽर्धमास इति । अत्रापि पौषी पौर्णमासी अस्येत्येव विग्रहः । एवं माघी पौर्णमासी अस्येति माघ इत्यादिषु विग्रहः कार्यः ।

प्रत्युदाहर्तुमाह—नाम्नीत्येवेति । नामत्वेन विवक्षायामेव प्रत्ययोऽन्यत्र नेति भावः । पञ्चरात्र-दशरात्रौ न प्रसिद्धं कालनामेति तत्र न भवति प्रत्यय इति भावः । भृतकमासो यां तिथिमारभ्य कश्चिद् भृतकत्वेन कर्मणि नियुक्तः, तां तिथिमारभ्य प्रवृत्तो मासः भृतकमासः कथ्यते । एतादृशस्थले न प्रत्ययोत्पत्तिरपि तु वाक्यमेव तिष्ठतीति भावः । सिंहावलोकनन्यायेन पौर्णमासीशब्दं व्युत्पादयति— पूर्णो माश्चन्द्रोऽस्यामस्तीति । माः चन्द्रमाः इति तु नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणमिति न्यायानुसारम् । तथा च पूर्णमास्शब्दात् "पूर्णमासेऽण्" [७.२.५५.] इत्यणि पौर्णमासीत्येका व्युत्पत्तिः । अन्यामाह—पूर्णमास इयमिति वेति । पूर्णचन्द्रमःसम्बन्धिनीति तदर्थः । इत्थं चन्द्रसंबन्धार्थकत्वेन व्युत्पत्तिद्वयमुक्ता माससंबन्धार्थकत्वेनापि व्युत्पादयति—पूर्णो मा मासो वाऽस्यामिति । मासशब्दस्य स्थाने विभक्तौ विधीयमान 'मास्'—आदेशः स्वयमपि मासवाचक इति मतेनेदम् । तेनैव (पूर्वोक्तेन) शब्देन व्युत्पत्त्यन्तरमप्याह—पूर्णमासा वा युक्तेति, अत्र पूर्णमास्शब्दः पूर्णचन्द्रवाचकः । अनयोरर्थयोः प्रत्ययविधायकसूत्राभावादाह—अत एव निपातनादणिति । एतत्सूत्रे पौर्णमासीति निपातनादेवाण्, कार्यान्तरं तु यथाविधानं प्राप्तमेव । मासश्चतुर्धा कल्पितः, सौरश्चान्द्रः नक्षत्रः सावनश्च । तत्र सौरो मेषादिराशीनां सूर्यस्य मासिकभोगेन गण्यते, एकराशौ सूर्यसङ्क्रमणतोऽपरराशौ सङ्क्रमणादव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तमेकः सौरमासः । चान्द्रश्च द्विधा व्यवस्थितः—कृष्णप्रतिपदादितः पूर्णिमान्तम् इत्येकः प्रकारः, संप्रति उत्तरभारतेऽयमेव मासो व्रतपर्वादौ परिगृह्यते । शुक्लप्रतिपदादितोऽमान्तं यावदेको मास इति द्वितीयः पक्षः, स च दक्षिणभारते गूर्जरप्रान्तादौ च प्रसिद्धः । तत्र पूर्णो माश्चन्द्रमाऽस्यामिति प्रारभ्य चत्वा-

"Aho Shrutgyanam"

रोऽपि पक्षाः प्रथमचन्द्रमासपक्षे संगता एव । द्वितीयचान्द्रमासपक्षे च पूर्णो मा मासोऽस्यामिति व्युत्पत्तिर्न घटत इत्यवधेयम् । भट्टोजिदीक्षितैस्तु पूर्वोक्तचान्द्रमासद्वयानुरोधेन व्युत्पत्तिद्वयमेव प्रदर्शितं शब्दकौस्तुभे, पूर्णो मासोऽस्यां तिथाविति, पूर्णोमाश्चन्द्रमा अस्यामिति । उभयत्रार्थे निपातनमेवाश्रितमिति विशेषः ॥६।२।९८॥

आग्रहायण्यश्वत्थादिकण् ॥६।२।९९॥

आग्रहायणी अश्वत्था इत्येताभ्यां सेति प्रथमान्ताभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, यत्तत प्रथमान्तं तच्चेत् पौर्णमासी भवति, नाम्नि प्रत्ययान्तं चेद् नाम स्यात् ।

आग्रहायणी पौर्णमासी । अस्य आग्रहायणिको मासोऽर्धमासो वा । अश्वत्था पौर्णमासी अस्य आश्वत्थिको मासोऽर्धमासो वा । आग्रहायणी मार्गशीर्षी । अश्वत्था आश्वयुजी । अन्ये तु अश्वत्थशब्दमप्रत्ययान्तं पौर्णमास्यामपि पुंल्लिङ्गमिच्छन्ति । अश्वत्थः पौर्णमासी ॥९९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—आग्र० । अग्रं हायनस्येत्यर्थे 'द्वि-त्रि-चतुर्पूरणाग्रादयः' [३.१.५६.] इति समासे "पूर्वपदस्थान्नाम्नगः" [२.३.६४.] इति णत्वेऽग्रहायणशब्दः ततः स्वार्थे "प्रज्ञादिभ्योऽण्" [७.२.१६५.] इत्यणि आदिस्वरवृद्धौ स्त्रियां ङीः आग्रहायणीति । अश्वत्थाशब्दश्च "श्रवणाश्वत्थान्म्यः" [६.२.८.] इति सूत्रेण व्युत्पादितः । तयोरर्थं स्वयमेव वक्ष्यति-**आग्रहायणी मार्गशीर्षी । अश्वत्था आश्वयुजीति** मार्गशीर्षस्य पूर्णिमा आग्रहायणी, आश्विनस्य पूर्णिमा अश्वत्थेत्यर्थः । तयोः समाहारे क्लीवत्वाद्ह्रस्वः । ताभ्यां पौर्णमासीवाचकाभ्यां प्रथमान्ताभ्यां नाम्नि इकण् प्रत्ययोऽनेन विधीयते इति सूत्रार्थमाह—**आग्रहायणी अश्वत्था इत्येताभ्यामित्यादिना** उदाहरति—आग्रहायणी पौर्णमासी **अस्येत्यादिना** । मतान्तरमाह—**अन्ये त्विति**—पाणिनीयादय इत्यर्थः । तैः अश्विनीनक्षत्रवाचकादश्वत्थशब्दात् "नक्षत्रेण युक्तः कालः" [पा०सू० ४.२.३.] इत्यर्थे विहितस्याणः संज्ञायां "भवणाश्वत्थाभ्याम्" [पा०सू० ४.२.५.] इति लुग् विधीयते, लुपि च सत्यां प्रकृतिवल्लिङ्गवचनतयाऽश्वत्थः पौर्णमासीति भवति । यदि लुग्विधानं नाश्रीयते तदा स्वभावत एव पुंल्लिङ्गस्याश्वत्थशब्दस्य आश्वयुजीवाचकत्वमाश्रयितव्यम् । उभयथाऽपि अप्रत्ययान्तत्वमक्षतम् । ततोऽप्यनेन सूत्रेणाण् भवितुमर्हति सूत्रे समाहारनिर्देशे पुंल्लिङ्गस्यापि समावेशाश्रयणसंभवात् ॥६।२।९९॥

चैत्री-कार्तिकी-फाल्गुनी-श्रवणाद् वा ॥६।२।१००॥

एभ्य इकणप्रत्ययो भवति वा साऽस्य पौर्णमासीति अस्मिन् विषये नाम्नि ।

चैत्री पौर्णमासी अस्य चैत्रिकः चैत्रो वा मासोऽर्धमासो वा । एवं कार्तिक्याः कार्तिकिकः कार्तिकः । फाल्गुन्याः फाल्गुनिकः, फाल्गुनः । श्रवणायाः श्रावणिकः, श्रावणः ॥१००॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चैत्री० । चित्रया युक्ता पौर्णमासी चैत्री, कृत्तिकया कार्तिकीत्यादिरूपेणैषां सिद्धिः । ततः साऽस्य पौर्णमासीत्यर्थे इकणि—**चैत्रिक** इत्यादि । पक्षेऽणि **चैत्र** इत्यादि ॥६।२।१००॥

देवता ॥६।२।१०१॥

साऽस्येत्यनुवर्तते । सेति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तत् प्रथमान्तं देवता चेत् सा भवति । अर्हन् देवता अस्य आर्हतः । जैनः । आग्नेयो ब्राह्मणः । ऐन्द्रं हविः । ऐन्द्रः पुरोडाशः । वारुणश्चरुः । आदित्यः । बार्हस्पत्यः । मन्थम् । द्वैन्द्रम् ॥१०१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—देवता । एकपदं सूत्रम्, न चैकेन पदेन किमपि विधातुं शक्यतेऽतः पदानुवृत्त्या सूत्रं पूरयति—**साऽस्येत्यनुवर्तत** इति । "साऽस्य पौर्णमासी" [६.२.९८.] इति सूत्रादिति भावः । तथा च प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः सिद्धिः । प्रत्ययश्च "प्राग्जिताद्ण्" [६.१.१३.] इत्यनुक्तप्रत्ययस्थलेऽनुवर्तते एव । तथा च सूत्रार्थमाह—**सेति प्रथमान्तादित्यादिना** । यथाविहितमस्य च येन सूत्रेण यस्याः प्रकृतेर्यः प्रत्ययो विशिष्यविहितः स, यत्र चानुक्तस्तत्राण् इत्यर्थः पर्यवस्यति । **यत् तत् प्रथमान्तं चेद् सा देवता भवतीति** । देवतावाचिनः प्रथमान्तात् प्रत्यय इत्यर्थः । देव एव देवता "देवात् तल्" [७.२.१६२.] इति स्वार्थे तल् तलन्तं च स्त्रियामिति देवताशब्दस्य देववाचकत्वेऽपि

"Aho Shrutgyanam"

स्त्रियां प्रयोगः ।

अन्ये च वैयाकरणा इह देवताशब्दार्थमित्थं वर्णयन्ति, यज्ञादौ द्रव्यत्यागे उद्देश्या-द्रव्यनिरूपितस्वामित्ववती मन्त्रस्तुत्या च-मन्त्रस्तुतिविषयीभूता च देवतेह गृह्यते । तेन त्यज्यमानद्रव्यं, स्तुतौ प्रयुज्यमानो मन्त्रो वा देवतार्थकतद्धितान्तेनोच्यते इति तेषां मतम् । तन्मते आग्नेयो ब्राह्मण इत्यादिप्रयोगास्त्वौपचारिकाः, अग्नेयमित्यर्थे वा "कल्यग्नेरेयण्" [६.१.१७.] इत्येयणि तादृशरूपसिद्धिर्ज्ञेयेति तेषामाशयः । स्वमते च सामान्यतो देववाचकत्वमेव देवताशब्दस्येति न कस्यापि प्रयोगस्यानुपपत्तिः सत्यभिधाने । उदाहरति-**अर्हन् देवताऽस्ये**त्यादिना । जिनो देवताऽस्येत्यादिरूपेण च विग्रहः । **ऐन्द्रं हविरि**त्यादौ त्यागोद्देश्यत्वेनैव इन्द्रादीनां हविः संबन्धित्वम् । आग्नेय इत्यत्र तु "कल्यग्नेरेयण्" [६.१.१७.] इत्येयण्, अन्यत्राण् । आदित्य इत्यत्र "अनिदम्भगणवादे दित्यदित्या" [६.१.१५.] इति ण्यः । बार्हस्पत्य इत्यत्रापि स एव । **गौर्देवताऽस्येत्यर्थे** गव्यमित्यत्र "गोः स्वरे यः" [६.१.२७.] इति यः । द्वावित्रौ देवतेऽस्य इत्यर्थे तद्धितार्थे द्विगौ कृतेऽपि तस्य "द्विगोरनपत्ये" [६.१.२४.] इति लुप् । सामान्ये क्लीवता ॥६।२।१०१॥

पैङ्गाक्षीपुत्रादेरीयः ॥६।२।१०२॥

पैङ्गाक्षीपुत्र इत्येवमादिभ्य ईयः प्रत्ययो भवति । साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये । अणोऽपवादः । पैङ्गाक्षीपुत्रो देवताऽस्य पैङ्गाक्षीपुत्रीयं हविः । तार्णबिन्दवो देवताऽस्य तार्णबिन्दवीयं हविः । एवं पैङ्गीपुत्रीयम् । पैङ्गाक्षीपुत्रादयः प्रयोगगम्याः ॥१०२॥

शः म० न्यासानुसन्धानम्—पैङ्गा० । पिङ्गेऽक्षिणी यस्येत्यर्थे बहुव्रीहौ पिङ्गाक्षः, तस्यापत्यमित्यर्थे "अत इञ्" [६.१.३१.] इति इञि स्त्रियां पैङ्गाक्षी । तस्याः पुत्र इत्यर्थे षष्ठी समासे **पैङ्गाक्षीपुत्र** इति । ततो देवतावाचकात् प्रथमान्तादीयः प्रत्ययोऽनेन विधीयते । **अणोऽपवाद** इति । सामान्यविहितौत्सर्गिकस्याण इति भावः । तृणबिन्दोरपत्यं तार्णबिन्दवः स देवताऽस्येत्यादिरूपेण विग्रहः । गणस्यापठितत्वादाह—**पैङ्गाक्षीपुत्रादयः प्रयोगगम्या** इति । आकृतिगणः इति भावः ॥६।२।१०२॥

शुक्रादियः ॥६।२।१०३॥

शुक्रशब्दादियः प्रत्ययो भवति, साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये । शुक्रियं हविः । शुक्रियोऽध्यायः ॥१०३॥

शः म० न्यासानुसन्धानम्—शुक्रा० । शुक्रो दैत्यगुरुः, ग्रहविशेषश्च । स देवताऽस्येत्यर्थे हविषि वाच्ये त्यागोद्देश्यत्वेन देवतात्वम्, **शुक्रियोऽध्याय** इत्यत्र-मन्त्रस्तुत्यत्वेनेति विज्ञेयम् , ॥६।२।१०३॥

शत-रुद्रात् तौ ॥६।२।१०४॥

शत-रुद्रशब्दात् तौ ईय इय इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये ।

शतसंख्या रुद्राः शतरुद्राः ते देवता अस्य शतरुद्रीयं शतरुद्रियम् । शतं रुद्रा देवताऽस्येति द्विगावपि विधानसामर्थ्याद् लुप् न भवति ॥१०४॥

शः म० न्यासानुसन्धानम्—शत० । अत्र शतं रुद्रा इति समासे शतरुद्री इति स्यात् । शतं रुद्रा देवताऽस्येत्यर्थे समासे च तद्धितार्थे द्विगौ तत इये ईये वा तयोः "द्विगोरनपत्य०" [६.२.२४.] इति लुप् स्यादित्युभयथा दोषं दृष्ट्वा शतरुद्रशब्दमन्यथा व्याचष्टे—**शतं संख्या रुद्रा** इति । शतं संख्या येषां ते शतसंख्या इति बहुव्रीहिं कृत्वा ततो रुद्रशब्देन सह मध्यमपदलोपी समास इति भावः । अस्य च समासप्रकारस्यागतिकगतित्वेनाह—**शतं रुद्रा देवताऽस्येति द्विगावपीत्यादि** । इति विग्रहे तद्धितार्थे द्विगौ कृते तत इयेययोर्विहितयोरपि रूपसिद्धिः स्यादेवेत्यर्थः । "द्विगोरनपत्य०" [६.२.२४.] इति कुतो नेत्यत आह—**विधानसामर्थ्याल्लुप् न भवती**ति । यदि लुबेव स्यात् तर्हि विशिष्यप्रत्ययविधानस्यैव वैयर्थ्यं स्यादिति भावः । सूत्रे शतरुद्रेति निर्देशोऽपि सौत्रत्वादेव समाधेयः, छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति प्राचां प्रवादात् । पाणिनीये च शतरुद्रशब्दे शतशब्दस्य न संख्याबाचकत्वमपि तु अनन्तार्थकत्वम् । तथा च शतमनन्ता रुद्राः शतरुद्रा इत्येव । शतं रुद्रा देवता इति विग्रहेऽपि संख्यावाचकत्वाभावान्न द्विगुसंज्ञेति लुपः प्राप्तिरेव नेति न शङ्का-समाधी इत्युक्तम् । तथा च स्वमतेऽप्याख्यातुं शक्यते एवेति ॥६।२।१०४॥

"Aho Shrutgyanam"

अपोनपादपान्नपातस्तृ चातः ॥६।२।१०५॥

अपोनपादपान्नपात् इत्येताभ्यां तौ प्रत्ययौ भवतः, साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये तत्संनियोगे चानयोराच्छब्दस्य तृ इत्ययमादेशो भवति ।

अपोनपात् देवताऽस्य अपोनप्त्रीयम, अपांनप्त्रीयम् ॥१०५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-अपो० । 'अपोऽनपात्' 'अपान्नपात्' इति देवतयोर्नाम । तयोः प्रत्ययसंनियोगेन 'आत्' भागस्य 'तृ' इत्यादेशो विधीयते । 'अपोऽनपात्' 'अपान्नपात्'शब्दौ चापो न पातयति, इत्यर्थकावेव यथाकथञ्चित् साधुत्वमापन्नौ विज्ञेयौ, अत एव निर्देशात् साधुत्वस्यानुमानात् । ततो देवतार्थे ईये इये च तत्संनियोगेनातः त्रावेशे यथोक्तरूपसिद्धिः ॥६।२।१०५॥

महेन्द्राद् वा ॥६।२।१०६॥

महेन्द्रशब्दात् सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये तौ प्रत्ययौ वा भवतः ।

महेन्द्रीयम्, महेन्द्रियम्; पक्षेऽण् माहेन्द्रं हविः ॥१०६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—महे० । महाँश्चासाविन्द्रो महेन्द्रः इति इन्द्र एव महेन्द्रशब्देनोच्यते न तु देवतान्तरमेतत् । अनेकेन्द्रसद्भावेऽनेकेषां विप्रतिपत्तेः । अस्य च वैकल्पिकत्वेन प्रत्ययत्रयसिद्धिः । तथा चेयेययोरभावे औत्सर्गिकोऽणिति रूपत्रयं निर्दिष्टम् ॥६।२।१०६॥

क-सोमात् ट्यण् ॥६।२।१०७॥

कशब्दात् सोमशब्दाच्च साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये ट्यण् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । टकारो ङ्यर्थे ।

कः प्रजापतिर्देवताऽस्य कायं हविः । कायी इष्टिः । कशब्दं प्रति णित्त्वस्य वैयर्थ्यादालोपो न भवति । सोमो देवताऽस्य सौम्यं हविः । सौम्यं सूक्तम् । सौमी ऋक् ॥१०७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—क-सोमा० । कश्च सोमश्चानयोः समाहारः क-सोमं तस्मात् इत्यर्थकतया 'क-सोमात्' इति पदं व्याख्याति—**कशब्दात् सोमशब्दाच्चेति ।** 'को ब्रह्मा प्रजापतिः सोमश्चन्द्रः ।' इत्यभिधानात् कशब्दसोमशब्दयोः प्रजापतिचन्द्रमसोरेव वाचकत्वम् । तत्र कशब्दस्य प्रजापतिवाचकत्वं तावत् 'को ब्रह्मा प्रजापतिः' इत्यभिधानात् । सोमशब्दस्य चन्द्रमसि वाचकत्वं तावत् 'सोमश्चन्द्रः' इत्यभिधानात् । ततश्च कशब्दसोमशब्द

प्राप्तिः, वास्तोष्पतिशब्दाच्च पत्युत्तरपदलक्षणः "अनिदम्यणपवादे०" [६.१.१५.] इति ञ्यः प्राप्त इति सोऽपि बाध्यतेऽनेनेति भावः । शब्दानां स्वरूपव्याख्यानपुरःसरमुदाहरति—**द्यौश्च पृथिवी** चेत्यादिना । द्वन्द्वे दिव्शब्दस्य द्यावा आदेशः "दिवोद्यावा" [३.२.४४.] इति सूत्रेण । ततो देवताऽर्थेऽनेनेययोः कृतयो रूपसिद्धिः । शुनासीरशब्दं व्युत्पादयति—**शुनश्च वायुरि**त्यादिना । स्पष्टम् । इयं च वृत्तिकारसम्मता व्युत्पत्तिः । अन्ये च शुनासीरशब्दमखण्डमेवेन्द्रस्य गुणभूतं वाचकमाहुः । तच्चाश्वलायनगृह्यसूत्रेण 'इन्द्रं वयं शुनासीरमस्मिन् यज्ञे हवामहे' इति मन्त्रवर्णेन च प्रमाणितं शब्दकौस्तुभे । 'अमरकोशे' तु इन्द्रनामसु द्विदन्त्यः शब्दो मूलपाठे समुपलभ्यते । तस्य व्युत्पत्तिश्च सुष्ठु शोभनं नासीरं सेनामुखं यस्येति । तत्र टीकासु च तालव्यादिरपीन्द्रवाचकत्वेन व्युत्पादितः बृहद्वृत्त्यनुसारेणैव द्वन्द्वं कृत्वा पूर्णपदस्य दीर्घे देवता द्वन्द्वे च, "वेद सहश्रुता०" [३.२.४१.] इत्यात्वविधिरेव विधाय **शुनासीरावस्येत्यर्थेऽर्श आद्यं च**' साधितश्च । 'अभिधानचिन्तामणौ" चेन्द्रनामस्वेव शुनासीरशब्दः पठितः (देवकाण्डे ८६) तस्य व्युत्पत्तिश्च स्वोपज्ञटीकायामेवं कृता शोभनं नासीरमग्रयानमस्य शुनासीरः, शुः पूजायाम् श्वशुरवत् इति । 'दन्त्यादिरपि' इत्यपि तत्रैवोक्तम् । अमरकोशटीकायां च द्वितालव्योऽपि प्रमाणान्तरेण निर्दिष्टः । व्याकरणसूत्रेषु प्रायः तालव्यादिर्दन्त्यमध्य एव दृश्यते सर्वत्र । अत्र चेन्द्रवाचकाद् भिन्न एव देवताद्वन्द्वरूप इत्यवगम्यते, किमत्र युक्तं सर्वं वा यथायथं युक्तमिति लक्ष्यैकचक्षुष्का एव निर्णेतुमलमिति विरम्यते । **अग्नीषोमौ** इत्यत्र "ईः षोमवरुणेऽग्नेः" [३.२.४२.] इतीकारः । **मरुत्वानपि** इन्द्र एव तत्रैव [अभि० चि० २.८६.] सोऽपि पठितः, मरुतो देवताः सन्त्यस्येति तस्य व्युत्पत्तिः । **वास्तोष्पति**शब्दोऽपीन्द्रनामस्वेव पठितस्तत्रैव । तद्व्युत्पत्तिश्च वास्तोर्गृहक्षेत्रस्याधिष्ठाता वास्तोष्पतिः "वाचस्पति-वास्तोष्पति०" [३.२.३६.] इति षष्ठ्यलुपि षत्वम् इति । **गृहमेधश**ब्देऽपि बहवो भेदाः श्रूयन्ते, सूत्रे श्रूयमाणकारान्तं बहुवृचा अधीयते । आश्वलायनोऽपि तथा भूतमेव पठति—मरुद्भ्यो गृहमेधेभ्य इति । तैत्तिरीयके तु नकारान्तो गृहमेधिन्शब्दः श्रूयते, न हि तत्राकारान्तान्मत्वर्थीय इनिरिति भ्रमितव्यम्, किन्तु गृहे मेधति संगच्छते इत्यर्थे णिन् ताच्छील्ये । केचिच्चेकारान्तं गृहमेधिशब्दमाहुः । परमत्र सूत्रे सर्वत्राकारान्त एव पठ्यते इति स एव साधुः ॥६।२।१०८॥

वाय्वृतु-पित्रुषसो यः ॥६।२।१०९॥

वायु ऋतु पितृ उषस् इत्येतेभ्यः साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये यः प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । वायुर्देवताऽस्य वायव्यम् । एवम् पित्र्यम् । उषस्यम् ॥१०९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वाय्वृतु० । वायु-ऋतु-पितरः प्रसिद्धाः । उषः शब्दः क्लीवम्, प्रभातवाचकः, स्त्रीलिङ्गश्च सन्ध्यापितृप्रसूवाचकः । पितृप्रसूः सन्ध्या च सायं सन्ध्या । 'सायं सन्ध्या पितृप्रसूः' इत्यमरकोशात् । 'उषः प्रत्युषसि क्लीबे, पितृप्रस्वां च योगिति' इति नानार्थकोशः । अत्र च स्त्रीलिङ्गस्यैव उषस्शब्दस्य ग्रहणं देवतात्वयोग्यत्वात् । तथा च उषा देवता अस्येति विग्रहः । उषस्शब्दो दिवो दुहितरि देवतायां वेदेषु प्रयुक्त एवेह गृह्यते इति शब्दकौस्तुभे सिद्धान्तितम् ॥६।२।१०९॥

महाराज-प्रोष्ठपदादिकण् ॥६।२।११०॥

महाराज प्रोष्ठपद इत्येताभ्यां साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये इकण्प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकः, माहाराजिकी । प्रौष्ठपदिकः, प्रौष्ठपदिकी ॥११०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—महा० । महाराजशब्दो लोके प्रसिद्धः । शास्त्रेऽपि महाराजशब्दौ कुबेरे धनाध्यक्षे प्रयुज्येते । प्रोष्ठपदा भाद्रपदा नक्षत्रस्य पर्यायः । तद्व्युत्पत्तिश्च 'अभिधानचिन्तामणौ [३.२९.] इत्थं प्रदर्शिताप्रोष्ठौ गौस्तस्येव पादावासामिति प्रोष्ठपदा इति, "सुप्रातसुश्वसुदिव०" [७.३.१२९.] इति निपातनात् साधुः । *नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात्* स्त्रीलिङ्गादपि प्रोष्ठपदाशब्दात् प्रत्ययो विधातुं शक्यते इति प्रोष्ठपदा देवता अस्येति विग्रहः कर्तुं शक्यते । यदि पुंल्लिङ्गतायामेवाग्रहः तर्हि प्रोष्ठपदासु जात इति विगृह्य जातार्थेऽणं विधाय तस्य "बहुलमन्येभ्यः" [६.३.१०९.] इति लुक् । न च बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थमिति नात्र तथाप्रयोगे प्रमाणमिति वाच्यम्—प्रकृतसूत्रस्थ-प्रयोगस्यैव मानत्वात् । तथा च प्रोष्ठपदो देवताऽस्येत्यपि विग्रहः । प्रोष्ठपदाः सन्त्यस्येत्यर्थे मत्वर्थीयोऽर्श आद्यच् वा विधेयः । स्थितस्य गतेश्चिन्तनीयत्वात् ॥६।२।११०॥

"Aho Shrutgyanam"

कालाद् भववत् ॥६।२।१११॥

कालविशेषवाचिभ्यो नामभ्यो यथा भवेऽर्थे प्रत्ययाः वक्ष्यन्ते तथा साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये भवन्ति। वत् सर्वसादृश्यार्थः। तेन यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन ये प्रत्यया भवेऽर्थे भवन्ति ताभ्य एव प्रकृतिभ्यस्तेनैव विशेषणेन त एव प्रत्यया इह भवन्ति।

यथा मासे भवं मासिकम्, सांवत्सरिकम्, हैमनम्, वासन्तम्, प्रावृषेण्यम्, तथा मासो देवताऽस्य मासिकम्, सांवत्सरिकम्, हैमनम्, वासन्तम्, प्रावृषेण्यम् ॥१११॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्–कालाद्०। अत्र कालदं कालवाचकम्, व्याख्यानात् तथा चाह–कालवाचिभ्य इति। वत् सर्वसादृश्यार्थः। अयमाशयः–'विनाऽपि वतिं वत्यर्थो गम्यते' इति महाभाष्योक्तरीत्या 'कालाद्भवे' इत्युक्तेऽपि प्रकरणवशात् कालवाचकाद् भवार्थे ये प्रत्यया उक्तास्ते देवतार्थेऽपि भवन्तीति प्रतीतौ सत्यां वत्करणं व्यर्थं सत् सर्वसादृश्यं ज्ञापयतीति। तथा च योऽर्थः फलितस्तमाह–तेन यकाभ्य इत्यादिना। अन्यथा कालवाचकाद् भवार्थे ये प्रत्यया उक्तास्ते यतः कुतश्चिदपि कालवाचिनाम्नो देवतार्थे स्युरिति। सर्वसादृश्यग्रहणे यस्मात् कालवाचकाद् भवार्थे यः प्रत्यय उक्तस्तस्माद् देवतार्थेऽपि स एव प्रत्यय इति फलति। एवं च भवार्थे मासशब्दादिकण् विहित इति देवतार्थेऽपि स एव भवतीत्येवंरीत्या सर्वमनुसन्धेयम् ॥६।२।१११॥

आदेश्छन्दसः प्रगाथे ॥६।२।११२॥

सेति प्रकृतिरस्येति प्रत्ययार्थश्चानुवर्तते। तयोर्यथाक्रमं विशेषणे आदेश्छन्दस इति प्रगाथे इति च। सेति प्रथमान्तादादिभूतात् छन्दसोऽस्येति षष्ठ्यर्थे प्रगाथेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रन्थनेन प्रकर्षगानेन वा तिस्रः क्रियन्ते स मन्त्रविशेषः प्रगाथः।

पङ्क्तिरादिर्यस्य प्रगाथस्य स पाङ्क्तः प्रगाथः। एवम् आनुष्टुभः। जागतः। आदेरिति किम्? अनुष्टुब् मध्यमस्य प्रगाथस्य। छन्दस इति किम्? उद् इत्ययं शब्द आदिरस्य प्रगाथस्य। प्रगाथ इति किम्? पङ्क्तिरादिरस्य अनुवाकस्य ॥११२॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्–आदेः०। सूत्रार्थं निर्णेतुं पदानामनुवृत्तिमाह–सेति प्रकृतिरस्येति प्रत्ययार्थ इति। तयोः पदयोरन्वयप्रकारमाह–तयोर्यथाक्रमं विशेषणे इत्यादि। सेत्यस्य आदेश्छन्दस इति, अस्येति प्रत्ययार्थस्य च प्रगाथे इति विशेषणमिति भावः। अक्षरैरुक्तानिबन्धनं पङ्क्त्यादिश्छन्दः। प्रगाथशब्दार्थमाह–द्वे ऋचावित्यादिना। प्रग्रथ्यते इति प्रगाथः, प्रगीयते इति वा प्रगाथ इति भावः। प्रग्रन्थनं रचनाविशेषः, प्रगानमुच्चारणविशेषः। प्रपूर्वकाद् ग्रन्थधातोः कर्मणि घञ्, पृषोदरादित्वाद् रेफ-नकारयोर्लोपः। प्रपूर्वगात् गैधातोः शब्दार्थकाद् औणादिकः थः, आत्वं चेति प्रगाथशब्दसिद्धिः। रूढ्या च यत्र द्वे ऋचौ रचनाविशेषणोच्चारणविशेषेण वा अंशावृत्त्या तिस्रः क्रियन्ते स प्रकरणविशेषः प्रगाथशब्देनोच्यते। उदाहरण-प्रत्युदाहरणे स्पष्टे। अनुवाकस्येति–अनूच्यते इत्यर्थेऽनुपूर्वकात् वच्धातोर्घञि अनुवाकशब्दसिद्धिः। तस्यार्थः 'ऋग्-यजु-सामसमूहः' इत्यमरकोशव्याख्यायां व्याख्यासुधायामुक्तम् ॥६।२।११२॥

योद्धृप्रयोजनाद् युद्धे ॥६।२।११३॥

सेति प्रथमान्ताद् योद्धृवाचिनः प्रयोजनवाचिनश्चास्येति षष्ठ्यर्थे युद्धेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति।

विद्याधरा योद्धारः अस्य युद्धस्य वैद्याधरं युद्धम्। भारतं युद्धम्। प्रयोजनं प्रवृत्तिसाध्यं फलम्। सुभद्रा प्रयोजनमस्य युद्धस्य सौभद्रं युद्धम्। सौतारं युद्धम्। अत्र सुभद्रादिशब्दस्तत्प्राप्तौ वर्तत इति प्रयोजनम्। योद्धृप्रयोजनादिति किम्? मासोऽस्य युद्धस्य। युद्ध इति किम्? सुभद्रा प्रयोजनमस्य वैरस्य ॥११३॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्–योद्धृ०। सेति समर्थविभक्तिरस्येति प्रत्ययार्थश्चानुवर्तते। युद्ध इति विषयनिर्देशः। युद्धं द्विधैव प्रथते योद्धृनाम्ना प्रयोजननाम्ना चेत्युभयोर्निर्देशः। तत्र पूर्वं योद्धृवाचकात् प्रथमान्तात् प्रत्ययमुदाहरति–विद्याधरा योद्धारोऽस्येति। विद्याधरा देवयोनिविशेषः। भरता योद्धारोऽस्येति भारतम्। प्रयोजनशब्दस्य बह्वर्थतया प्रकृते किमर्थकत्वमित्याह–प्रयो-

"Aho Shrutgyanam"

जन्यं प्रवृत्तिसाध्यं फलमिति । प्रयोजयति कर्मणीति प्रयोजनमिति व्युत्पत्त्या बाहुलकात् कर्तरि अनः । तथा यदर्थं कर्मणि लोकः प्रवर्तते तदेव प्रयोजनमित्याख्यायते, तच्च फलमेवेति साधूक्तं—प्रवृत्त्या व्यापारेण साध्यं फलमेव प्रयोजनमिति ।

ननु **सुभद्राप्रयोजनमस्य युद्धस्येत्यत्र** सुभद्रायाः कथं फलत्वम्, नहि युद्धरूपेण व्यापारेण सा साध्यते, सा तु पूर्वत एव सिद्धा, नहि सिद्धायाः साध्यत्वम्, इति चेदत आह-**अत्र सुभद्रादिशब्दस्तत्प्राप्तौ वर्तत इति प्रयोजनमिति** । अयमर्थः—सुभद्राशब्दः उपचारात् सुभद्राप्राप्तिपरः, तथा च सुभद्राप्राप्तिरेव येन युद्धेन साध्यते तत् सौभद्रं युद्धमित्याख्यायते । एवं च सुभद्राप्राप्तिपरत्वेन सुभद्राशब्दस्य प्रयोजनवाचकत्वं सिद्धम् ।

पदकृत्यमाह-**योद्धृप्रयोजनादिति किमिति** । 'युद्ध' इत्येतावदेव सूत्रं क्रियताम् । तथा च प्रथमान्तान्नाम्नो युद्धेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्यय इत्यर्थेऽपि युद्धस्य योद्धृप्रयोजनाभ्यामेव प्रसिद्धत्वा ताभ्यामेव प्रत्ययो भविष्यतीति योद्धृप्रयोजनादित्यव्यावर्तकमित्याशयः । प्रत्युदाहरति—**मासोऽस्य युद्धस्येति** । न केवलं योद्धृप्रयोजनाभ्यामेव युद्धप्रसिद्धिः, कालदेशादिनाऽपि तत्प्रसिद्धेः सम्भवादितीह कालवाचकात् प्रथमान्तान्मा भूदित्यर्थः । युद्ध इति किमिति । योद्धृप्रयोजनाभ्यां षष्ठ्यर्थे प्रत्यये सति युद्धमेव वाच्यं स्यादन्यस्य तत्संबन्धासंभवादित्याशयेन प्रश्नः । प्रत्युदाहरति-**सुभद्रा प्रयोजनमस्य वैरस्येति** । प्रयोजनेनेह वैरं संबद्धमिति अत्रापि प्रत्ययो मा भूदिति युद्धे इत्याद्यावश्यकमिति भावः ॥६।२।११३॥

भावघञोऽस्यां णः ॥६।२।११४॥

सेति प्रकृतिविशेषणमनुवर्तते । भावे घञ् तदन्तात् प्रथमान्तादस्यामिति स्त्रीलिङ्गे सप्तम्यर्थे णः प्रत्ययो भवति ।

प्रपातोऽस्यां वर्तते तिथौ प्रापाता । एवं दण्डाघाता । मोसलपाता भूमिः । भावग्रहणं किम् ? प्राकारोऽस्याम् । प्रासादोऽस्याम् । घञ् इति किम् ? श्येनपतनमस्याम् । लिङ्ग्रहणादिह न भवति । दण्डपातोऽस्मिन् दिवसे । इतिकरणानुवृत्तेः क्वचिन्न भवति । द्रोणपाकोऽस्यां स्थाल्याम् । कालाच्च भावे घञन्तान्न भवति ॥११४॥

श० म० न्या०नुसन्धानम्—भा०घ० । समर्थविभक्त्यनुवृत्तिं स्मारयति-**सेति प्रकृतिविशेषणमनुवर्तते** इति । घञ् इति प्रत्ययः, *प्रत्ययग्रहणे च तदन्तग्रहणम्*इति घञन्तस्य प्रकृतित्वम्, तस्यैव च सेति विशेषणमिति भावः । तथा च सूत्रार्थमाह—**भावे यो घञ् तदन्तात् प्रथमान्तादिति** । प्रागेवोऽस्यामिति । यद्यपि "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" [७.४.११५.] इति परिभाषणात् पातशब्द एव घञन्त इति प्रपातस्य प्रकृतित्वं नेति शङ्कितुं शक्यते, तथापि "कृत्सप्तमीकारकस्यापि" [७.४.११७.] इत्यपि परिभाषणात् गतिपूर्वकस्य प्रपात इत्यत्र कारकपूर्वकस्य दण्डाघात इत्यादौ च ग्रहणं भवतीति । **भावे किमिति ?** घञः प्रायो भाव एव दर्शनात् प्रश्नः । कर्तृभिन्ने सर्वस्मिन्नपि कारके घञो विधानदर्शनाद् भाव इत्यावश्यकमित्याशयेन प्रत्युदाहरति—**प्राकारोऽस्याम्, प्रासादोऽस्यामिति** । प्रक्रियते इति प्राकारः, प्रसीदन्त्यस्मिन्नित्यत प्रासाद इति व्युत्पत्त्या पूर्वत्र कर्मणि, पत्राधिकरणे घञिति तदन्तान्न भवतीत्याशयः । **इतिकरणानुवृत्तेरिति**—इतिकरणस्य प्रयुक्तत्वार्थकत्वेनाप्रयुक्ते न भवति प्रत्यय इति भावः । तदाह—**द्रोणपाकोऽस्यामित्यादिना** ॥६।२।११४॥

श्येनंपाता तैलंपाता ॥६।२।११५॥

श्येनशब्दस्य तिलशब्दस्य च भावघञन्ते पातशब्दे परे मान्तो निपात्यते । प्रत्ययस्तु पूर्वेणैव सिद्धः श्येनपातोऽस्यां वर्तते श्येनंपाता । तिलपातोऽस्यां वर्तते तैलंपाता तिथिः, क्रियाभूमिः क्रीडा वा ॥११५॥

श० म० न्या०नुसन्धानम्—श्येन०० । 'पात' इति घञन्तम्, तस्मात् श्येनपूर्वकात् तिलपूर्वकाच्च पूर्वेण सूत्रेण स्त्रीलिङ्गे सप्तम्यर्थे प्रत्यये सति **श्येनपाता, तैलपाता** इत्येव रूपसिद्धेः, यदत्र विशेषविवेचं तदाह—**मान्तो निपात्यते** इति । संज्ञायां प्रयोगस्य सिद्धिरेव कुतो न निपातितेत्यत आह—**प्रत्ययस्तु पूर्वेणैव सिद्ध** इति । उपपादितपूर्वमेतत् । * अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्* इति न्यायेन यावदेव शास्त्रान्तरेणाप्राप्तं तावत्यंशे एव नवीनशास्त्रस्य सार्थक्यमिति भावः । स्त्रीलिङ्गे सप्तम्यर्थे

"Aho Shrutgyanam"

प्रत्ययस्य विधानात् सम्भावितानर्थानाह—**'तिथिः, क्रिया-भूमिः, क्रीडा वेति**। कस्याञ्चित् तिथौ, कुत्रापि स्थाने, कस्यामपि क्रीडादिक्रियायां च श्येन-तिलयोः पातस्य संभावितत्वात् ता एव विशेष्यत्वेन योजनीया इति भावः ॥६।२।११५॥

प्रहरणात् क्रीडायां णः ॥६।२।११६॥

प्रहरणवाचिनः प्रथमान्तादस्यामिति सप्तम्यर्थे क्रीडायां णः प्रत्ययो भवति।

दण्डः प्रहरणं अस्यां क्रीडायां दाण्डा। एवं मौष्टा पादा क्रीडा। प्रहरणादिति किम्? माला भूषणमस्यां क्रीडायाम्। क्रीडायामिति किम्? खड्गः प्रहरणमस्यां सेनायाम्। यत्राद्रोहेण घात-प्रतिघातौ स्यातां सा क्रीडा। 'भावघञोऽस्यां णः' [६.२.११४.] इत्यनन्तरो णो नानुवर्तते क्रीडाया अर्थान्तरत्वाद् यथा पूर्वसूत्रोपात्तः समूहाद्यर्थेषु ततो यथाविहितमेव प्रत्ययो भवेदितीह पुनर्ग्रहणम् ॥११६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-प्रहर०। प्रहियते ऽनेनेति प्रहरणमिति करणेऽने प्रहरणशब्द आयुधवाचकः। तद्वाचकात् प्रथमान्तात् प्रत्ययविधिः। यद्यपि पूर्वतः सेति स्त्रीत्वविशिष्टं प्रथमान्तमनुवृत्तम्, तथा प्रहरणादिति नपुंसकनिर्देशेन तस्मिन् पदे लिङ्गस्याविवक्षितत्वं विज्ञेयम्। दण्डः, मुष्टिः, पादः प्रहरणमस्यां क्रीडायामित्येवंरूपेण विग्रहः। प्रत्युदाहरणार्थं पृच्छति—**प्रहरणादिति किम्?** प्रायः क्रीडायां तादृशमेव वस्तु प्रयुज्यते यत् प्रहरणतयोपयुज्यते इत्यव्यावर्तकमिदमित्यभिसन्धिः। प्रहरणादन्यदपि क्रीडासम्बद्धमित्याह—**माला भूषणमस्यामिति**। तथा च नात्र प्रत्यय इष्ट इति भावः। क्रीडाया विशेष्यत्वेनोपादानस्य व्यावर्त्यं दर्शयितुमाह—**क्रीडायामिति किमिति**।

प्रत्युदाहरति—**खड्गप्रहरणमस्यां सेनायामिति**। अत्र न प्रत्यय इष्ट इति भावः। ननु सति प्रहारे को विशेषः? क्रीडा-सेनयोरिति चेदत्राह—**यत्राद्रोहेण घात-प्रतिघातावित्यादि**। सेनायां परस्परं द्रोहिणौ प्रतिपक्षपातनाय घात-प्रतिघातौ विदधतः, क्रीडायां तु स्वमनोरञ्जनाय, जनमनोरञ्जनाय वा कौशलं प्रदर्शयितुं घात-प्रतिघातौ भवत इति **क्रीडा-सेनयोर्विशेष** इति भावः। ननु पूर्वेतो णग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्णग्रहणं किमर्थम्? न च "श्येनम्पाता-तैलम्पाता" [६.२.११५.] इति सूत्रेण णग्रहणस्य विच्छेद इति वाच्यम्, तस्यापि णसंनियोगेनैव मान्तनिपातनविधायकत्वेन प्रकरणविच्छेदाद् इति शङ्कां मनसि कृत्याह—"भाव-घञोऽस्यां णः" [६.२.११४.] **इत्यनन्तरोणो नानुवर्तत** इति। कुत इत्याह—**क्रीडाया अर्थान्तरत्वाद्** इति। क्रीडारूपेणान्येनार्थेन विच्छेदे सूचिते प्रकरणविच्छेदावगतेः प्रत्ययो नानुवर्तत इति भावः। अत्रार्थे दृष्टान्तमाह—**यथा पूर्वसूत्रोपात्तः समूहाद्यर्थेष्विति**। अयमाशयः यथा "चन्द्रयुक्तात् काले" [६.२.६.] इत्यर्थे विहितः, "श्रवणाश्वत्थाद्राम्यः" [६.१.८.] इति अः प्रत्ययोऽनन्तरे "षष्ठ्याः समूहे" [६.२.९.] इति सूत्रे, यथा वा "पुरुषात् कृतहितवधविकारे" [६.२.२९.] इति विहित एयञ् अनन्तरे "विकारे" [६.२.३०.] इत्यत्र नानुवर्तते। तत्र को हेतुः? अर्थान्तरत्वमेव। एवं चेहासति प्रत्ययनिर्देशे "प्राग्जितादण्" [६.१.१३.] इति सामान्यतोऽधिकृतोऽण्, विशिष्य वा तत्तन्नाम्नो विहितः प्राग्जितीयः प्रत्यय एव स्यान्न तु ण इति तद्विधानार्थमिह सूत्रे तद्ग्रहणमावश्यकमिति ॥६।२।११६॥

तद्वेत्त्यधीते ॥६।२।११७॥

तदिति द्वितीयान्ताद् वेत्ति अधीते वेत्त्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति।

मुहूर्तं वेत्ति मौहूर्तः। एवमौत्पातः। नैमित्तः केचित् तु मुहुर्त-निमित्तशब्दौ न्यायादौ पठन्ति तन्मते मौहूर्तिकः नैमित्तिकः। छन्दोऽधीते छान्दसः। व्याकरणं वेत्त्यधीते वा वैयाकरणः। नैरुक्तः। घटं वेत्ति पटं वेत्तीत्यादावनभिधानान्न भवति। केचित् तु वेदनाध्ययनयोरेकविषयतायामेवेच्छन्ति। तन्मते अग्निष्टोमं यज्ञं वेत्तीत्यादावपि प्रत्ययो न भवति ॥११७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-तद्०। वेत्त्यधीत इति सकर्मकक्रियाया अर्थत्वेन निर्देशात् तदितीह द्वितीयान्तमिति लभ्यते, अन्यथा "तदत्रास्ति" [६.२.७०.] इत्यत्रैव प्रथमान्तमेव कुतो न स्यात्? सूत्रे वेत्ति, अधीते इत्यनयोः सह निर्देशात् सहैवोभयोरर्थयोः प्रत्यय उत पृथक् पृथगिमावर्थावित्यसंशयायाह **वेत्त्येतयोरर्थयोरिति** तथा पृथगनयोरर्थयोः प्रत्ययविधानमिति लभ्यते। अत एव ऋतुक्त्वादिशब्देभ्योऽपि प्रत्यय उत्पद्यते। अन्यथा-

"Aho Shrutgyanam"

ऽनयोरर्थरूपत्वेनाध्ययनासंभवात् ।

पाणिनीये नये त्वेतदर्थं द्विस्तद्ग्रहणं क्रियते "तदधीते तु तद्वेद" [पा०सू० ४.२.५९.] इति सूत्रे अत्र भाष्ये शङ्कितम्, 'किमर्थमयमर्थद्वयनिर्देशः क्रियते, यो हि यं ग्रन्थमधीते स स्वरूपतस्तमवश्यं वेत्ति, यश्च स्वरूपतो वेत्ति सोऽवश्यमधीते इति । एकेनैवार्थेन कार्यं स्यादेवेति कृतमर्थद्वयनिर्देशेन' इति । ततः संमाहितम्—"नैतयोरावश्यकः समावेशः" इति ।

अयमाशयः—अत्रार्थावबोधो वेदनमभिप्रेतं न तु स्वरूपमात्रवेदनम्, दृश्यते च स्वरूपमात्रवेत्ताऽप्यर्थावबोधहीनः इति वेदनस्याध्ययनव्याप्यत्वेऽपि, अध्ययनस्य वेदनाव्याप्यत्वात् । तथा च यः केवलमधीते नार्थं वेत्ति तत्रापि प्रत्ययविधानार्थमुभयोर्ग्रहणमिति । **मुहूर्त्तं वेत्ती**ति सदसन्मुहूर्तप्रतिपादकग्रन्थपरो मुहूर्तशब्दः । एवमुत्पातनिमित्तशब्दयोरपि तत्तत्प्रतिपादकग्रन्थपरत्वमवसेयम् । **केचित् तु निमित्तमुहूर्तशब्दौ न्यायदाये**ति । अग्रिमसूत्रोक्ते न्यायादिगणे इत्यर्थः । तथा च ताभ्यामिकणेव स्यान्न त्विणिति **मौहूर्त्तिक** इत्येव प्रयोगावित्यर्थः । **छन्दोऽधीत** इति छन्दोऽत्र वेदः । **वैयाकरण** इति । अत्राणि सति आदिस्वरवृद्धिं बाधित्वा यकारात् पूर्वमेत् "व्यः पदान्तात् प्रागेदौत्" [७.४.५.] इति सूत्रेण । **घटं पटं वेत्ति इत्यादावनभिधानान्ने**ति । अयमाशयः प्रकृतसूत्रेऽध्ययन-वेदनयोः सह प्रयोगादध्ययनपूर्वके वेदन एव प्रत्यय इति घट-पटविषयकवेदनस्य व्यवहारसाध्यत्वेनाध्ययनसाध्यत्वाभावान्न तत्र प्रत्ययाभिधानमिति । एतदेव सूचयितुं मतान्तरमुपन्यस्यति—**केचित् तु अध्ययन-वेदनयोरेकविषयतामेवेच्छन्ती**ति । यद्विषयकमध्ययनं तद्विषयके वेदने एव प्रत्ययमिच्छन्तीत्यर्थः अनधीतस्य वेदनासंभवात् तयोरेकविषयमेवोचितमिति तेषामाशयः । तन्मते फले भेदमाह-**तन्मते अग्निष्टोमं यज्ञं वेत्ति इत्यादावपि प्रत्ययो न भवती**ति क्रियारूपस्य यज्ञस्यार्थत्वात् तस्याध्ययनासंभवात् केवलवेदने च प्रत्ययस्याननुमतत्वान्न प्रत्यय इति भावः । यदि त्वग्निष्टोमादिकाः शब्दाः पूर्वप्रदर्शितरीत्या तत्प्रतिपादकग्रन्थे लाक्षणिका भवेयुस्तर्हि तन्मतेऽप्युभयोरर्थयोरेकविषयत्वसंभवात् प्रत्ययोत्पत्तिः स्यादेव । युक्तं चैतत्, अन्यथा 'न्यायादेरिकण्' [६.२.११८.] इत्यादिसूत्रोक्तेषु कतिचिच्छब्देषु प्रत्ययोत्पत्तेरसंभवापत्तेः । न्यायो हि प्रतिपत्युपायभूतः प्रज्ञाविशेष उच्यते नहि तदध्ययनं मुसंपादम् एवं वसन्तादिशब्देष्वप्येषैव गतिः । यदि च न्यायपदस्य न्यायप्रतिपादकशास्त्रपरत्वम्; वसन्तादिशब्दस्यापि तत्तत्प्रतिपादकग्रन्थपरत्वमाश्रीयेत तदा तु सर्वं समञ्जसमिति पूर्वमावेदितमेव । तथा चोभयोर्मतयोः फलैक्यम् ॥६।२।११७॥

न्यायादेरिकण् ॥६।२।११८॥

न्यायादिभ्यो वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । न्यायं वेत्त्यधीते वा नैयायिकः । नैयासिकः ।

न्याय न्यास लोकायत पुनरुक्त परिषद् चर्चा क्रमेतर श्लक्ष्ण संहिता पदे पद क्रम संघट संघटा वृत्ति संग्रह आयुर्वेद गण गुण स्वागम इतिहास पुराण भारत ब्रह्माण्ड आख्यान द्विपदा ज्योतिष गणित अनन्त लक्ष्य लक्षण अनुलक्ष्य सुलक्ष्य वसन्त वर्षा शरद् वर्षाशरद् हेमन्त शिशिर प्रथम चरम प्रथमगुण चरमगुण अनुगुण अथर्वन् आथर्वण इति न्यायादिः ॥११८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—न्याया० । न्यायं वेत्त्यधीते वेति । न्यायादिपदानि अत्र प्रकरणे तत्तत्प्रतिपादकशास्त्रग्रन्थादिपराणि इति पूर्वसूत्रव्याख्यायामावेदितमेव । न्यायशब्दादिकणि आदिस्वरवृद्धिं बाधित्वा "व्यः पदान्तात्" [७.४.५.] इति ऐत्—**नैयायिक** इति । एवं न्यासं वेत्त्यधीते वा **नैयासिक** इत्यादिष्वपि विज्ञेयमिति ॥६।२।११८॥

पद-कल्प-लक्षणान्त-क्रत्वाख्याना-ऽऽख्यायिकात् ॥६।२।११९॥

पद-कल्प-लक्षणशब्दान्तेभ्यः क्रत्वाख्यानाऽऽख्यायिकावाचिभ्यश्च वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति ।

पदान्त, पौर्वपदिकः । औत्तरपदिकः । आनुपदिकः । बहुप्रत्ययपूर्वात् पदशब्दान्न भवति अनभिधानात् । कल्पान्त, मातृकल्पिकः । पैतृकल्पिकः पाराशरकल्पिकः । श्राद्धकल्पिकः । लक्षणान्त, गौलक्षणिकः । आश्वलक्षणिकः । हास्तिलक्षणिकः। आनुलक्षणिकः। सौलक्षणिकः। लाक्षणिक इति न्यायादित्वात् सिद्धम् । क्रतु,

"Aho Shrutgyanam"

आग्निष्टोमिकः । वाजपेयिकः । ज्यौतिष्टोमिकः । राजसूयिकः । आख्यान. याचक्रीतिकः । यावक्रिकः । प्रैयङ्गविकः । प्रैयङ्गुकः । आश्वि-मारकिकः । आख्यायिका. यासक्तदत्तिकः, सौमनोहरिकः ॥ ११९ ॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्-पद० । अत्र पद-कल्पलक्षणानां द्वन्द्वं कृत्वा पश्चादन्तशब्देन सह बहुव्रीहिः । *द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाण एवं प्रत्येकमभिसम्बध्यते* इति न्यायेनान्तशब्दस्य प्रत्येकमन्वयः तदाह-**पद-कल्प-लक्षणशब्दान्तेभ्य** इति । कृत्यादयः शब्दास्तत्तदर्थवरा इति ऋतुनामभ्य आख्याननामभ्यः आख्यायिकानामभ्यश्च प्रत्ययो न तु कृत्वादिशब्देभ्यः । न्यायादिगणे कृत्वादीनां स्वरूपतः पाठस्य कृतत्वात् । उपपादयिष्यते चैतदग्रेऽपि । क्रमशः उदाहरति **पदान्त इत्यादिना** । पूर्वपदं वेत्त्यधीते वेत्यादिक्रमेण विग्रहः । ननु पदशब्दोऽन्ते यस्येति व्युत्पत्त्या । बहुप्रत्ययपूर्वोऽपि पदशब्दः पदान्तसमुदाय एवेति, ततोऽपि प्रत्ययः स्यादिति चेदत्राह-**बहुप्रत्ययपूर्वात् पदशब्दान्न भवतीति** । कुत इत्याह-**अनभिधानादिति** ।

अयमाशयः-अंशतोऽपि पदमधीयानः 'पदक' एवेष्यते इति पदशब्दादेव "पदक्रम०" [६.२.१२६.] इत्यग्रिमसूत्रेणाकप्रत्यय एव भवति, न तु बहुप्रत्ययसहिताद् बहुपदशब्दात् पदान्तत्वनिबन्धन इकणिति । पाणिनीयादिनये तु पदोत्तरपदादिकन् (न स्विकण्) विधीयते इत्युत्तरपदशब्दस्य समासचरमावयवे रूढत्वाद् बहुपदशब्दात् प्राप्तिरेव नेति । कृत्वादिशब्दानामर्थपरत्वमित्यावेदितं प्राक्, तत्रैव क्रतुविशेषवाचकेभ्य एव प्रत्ययमुदाहरति-**आग्निष्टोमिक** इत्यादिना । अग्निष्टोमो यज्ञविशेषः, तं वेत्ति, तत्प्रतिपादकं ग्रन्थं वा वेत्त्यधीते वा आग्निष्टोमिक इत्यादि । कृत्वादिशब्दानां स्वरूपपरत्वे न्यायादेव ते पठनीयाः स्युरिति इह तेषामर्थपरत्वमेवावसीयते । तत्र गणे आख्यान-शब्दपाठात् प्येषोऽर्थोऽवगम्यत इति प्रतिपादितं लघुन्यासेऽपि । न च क्रतुपर्यायग्रहणार्थमिह क्रतुशब्दपाठ इत्याशङ्कनीयं तथा सति यज्ञशब्दादपि 'याज्ञिक'रूपसाधकोऽग्निमो ग्रन्थो विरुध्येतेत्यलमधिकशङ्कितेन । तत्र पृथगुभयोरर्थयोः प्रत्ययविधानमिति मुख्ये पक्षे स्वार्थमात्रवाचकेभ्योऽग्निष्टोमादिभ्यः केवलं वेदितरि प्रत्यय, वेदनाध्ययनयोरेकविषयतायामेव प्रत्ययो भवतीति। पक्षान्तरे च स्वप्रतिपादकग्रन्थपरेभ्य एवेभ्यः प्रत्ययः उभयोरर्थयोरिति विशेषः । एवमाख्यानाख्यायिकाभ्यामपि तत्तद्विशेषवाचकशब्दानामेव ग्रहणं, न तु स्वरूपमात्रस्येति तदनुसारमेवोदाहरति-**याचक्रीतिक** इत्यादिना । यवैः क्रीतो यवक्रीतस्तमधिकृत्य कृतमाख्यानमुपचारात् यवक्रीतं तदधीते वेद वेति याचक्रीतिकः । कैयटस्तु याचक्रीतशब्दात् प्रत्ययमाह-उद्द्योतकृन्नागेशभट्टोऽपि तदनुमनुते । उभयथा चोपचारस्यावश्यकता भवत्येव । यवान् क्रीणातीति यवक्रीः, तमधिकृत्य कृतमाख्यानं यावक्रम्, "अमोऽधिकृत्य०" [६.३.१९८.] इत्यणि रूपसिद्धिः । ततो वेत्त्यधीते इत्यनयोरर्थयोः प्रत्ययः । स्पष्टमन्यत् ॥६।२।११९॥

अकल्पात् सूत्रात् ॥६।२।१२०॥

कल्पशब्दवर्जितात् परो यः सूत्रशब्दस्तदन्ताद् वेत्त्यधीते वेत्यर्थ इकण् प्रत्ययो भवति।

वार्तिसूत्रिकः । सांग्रहसूत्रिकः । अकल्पादिति किम् ? सौत्रः । काल्पसौत्रः ॥१२०॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्-अक० । अकल्पादिति पर्युदासः स च* नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः* इति न्यायात् सदृशार्थग्राहक इति कल्पभिन्नात् तत्सदृशाच्च परत्वे सत्येव प्रवृत्तिरिति सूचयति-**कल्पशब्दवर्जितात् परो यः सूत्रशब्द** इत्यादिना । उदाहरति-**वार्तिसूत्रिक** इति । वृत्ति-सूत्रमधीते वेद वेति विग्रहः । संग्रहसूत्रमधीते वेद वेति **सांग्रहसूत्रिक** इति ।

पदकृत्यं पृच्छति-**अकल्पादिति किमिति** । पर्युदासाश्रयणं किमर्थमिति भावः । केवलात् सूत्रशब्दान्मा भूदित्येतदर्थं पर्युदासाश्रयणमिति प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति-**सौत्र** इति । अयमाशयः-पर्युदासं परित्यज्य 'न कल्पात्' इति प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणेऽन्यस्मात् परत्वे प्रत्ययोत्पत्तिसंभवेऽपि केवलादपि प्रत्ययोत्पत्तिर्दुर्वारा स्यात्, तन्निवारणार्थं पर्युदासाश्रयणमावश्यकमिति भावः । नन्वेवं सूत्रान्तादेवोच्यताम्, तावतापि केवलात् प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यादिति चेदत्राह-**'काल्पसौत्र'** इति । कल्पसूत्रमधीते वेद वेत्यर्थेऽणेवेष्ट इति तत्रापि इकण् स्यादिति भावः । अत्रोत्तरपदादिवृद्धिरन्यतन्त्रे नोदाहियते । यदि चोत्तरपदादिवृद्धेरभिधानमस्ति, तर्हि अनुशतिकादित्वं कल्पनीयमिति ॥६।२।१२०॥

अधर्म-क्षत्र-त्रि-संसर्गाङ्गाद् विद्यायाः ॥६।२।१२१॥

धर्म क्षत्र त्रि संसर्ग अङ्ग इत्येतच्छब्दवर्जितात् परो यो विद्याशब्दस्तदन्ताद् वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकणप्रत्ययो भवति ।

"Aho Shrutgyanam"

वायसविद्यिकः । सार्प विद्यिकः । अधर्मादेरिति किम् ? वैद्यः । धार्मविद्यः । क्षात्रविद्यः । त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या तां वेत्त्यधीते वा त्रैविद्यः । अत्र त्रिविद्याशब्दस्य कर्मधारयस्यैव ग्रहणम्, न द्विगोः । तत्र लुपि सत्यामणिकणोर्विशेषाभावात् । त्रिविद्यः । सांसर्गविद्यः । आङ्गविद्यः ॥१२१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–अधर्म० । अत्रापि पर्युदास एवेति तदनुसारमर्थमाह–धर्म-क्षत्र इत्येतच्छब्द वर्जितादिति । **वायसविद्यिकः** इति । वायसविद्यां काकरुतादिलक्षणविद्यामधीते वेद वेति विग्रहः । सर्पविद्यामधीते वेद वेत्यर्थे सार्पविद्यिक इति । पर्युदासाश्रयणफलं पृच्छति–**अधर्मादेरिति किमिति** । केवलविद्याशब्दादिकण् मा भूदित्येतत्प्रत्युदाहरणेन सूचयति **वैद्य** इति । विद्यामधीते वेद वेति विग्रहेऽण् । नन्वेवं विद्यान्तादित्येवोच्यतामत आह–**धार्मविद्य** इत्यादि । धर्मादिशब्दात् परत्वे इकण् नेष्टोऽपित्वणेवेति भावः । त्रिपूर्वकविद्याशब्दे द्विगा समाससंभवः कर्मधारयरूपेण प्रथमं त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या इति सम्पाद्य ततोऽध्ययनार्थे वेदनार्थे वा विग्रहः । अथवा तिस्रो विद्या अधीते इति विग्रहे तद्धितार्थे समासे द्विगुः इति च । तत्र द्विगोः कर्मधारयाद् वा प्रत्ययो निषिध्यत इति संशये आह–**अत्र त्रिविद्याशब्दस्य कर्मधारयस्यैव ग्रहणमिति** । तत्र हेतुमाह–**तत्र लुपि सत्यामणिकणोर्विशेषाभावादिति** । द्विगोः प्रत्ययविधाने "द्विगोरनपत्ये" [६.१.२४.] इति लुपि सत्यां कस्यापि प्रत्ययस्य श्रवणाभावाद् रूपे विशेषो नेति तस्य पर्युदासो व्यर्थ एवेति भावः द्विगो रूपमाह–**त्रिविद्य** इति । तिस्रो विद्या अधीते वेद वेति विग्रहः । एवं संसर्गविद्याम्, अङ्ग विद्यां च अधीते वेद वेति विग्रहयोः **सांसर्गविद्यः, आङ्गविद्य** इत्यणेवेति तदर्थं धर्मादिपर्युदास आवश्यक इति ॥६।२।१२१॥

याज्ञिकौथिक-लौकायितिकम् ॥६।२।१२२॥

याज्ञिकादयः शब्दा वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकण्-प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । याज्ञिकेति यज्ञशब्दाद् याज्ञिक्यशब्दाच्चेकण् इक्यलोपश्च निपात्यते ।

यज्ञं याज्ञिक्यं वा वेत्त्यधीते वा याज्ञिकः । औक्थिकेति उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः । यज्ञायज्ञीयात् परेण यानि गीयन्ते न च तेषु वर्तमानात् प्रत्यय इष्यतेत किं हि तद्व्याख्याने औक्थिक्ये उपचारेण वर्तमानात् । उक्थमधीते औक्थिकः । औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । औक्थिक्यशब्दात् तु प्रत्ययो न भवत्यनभिधानात् । तस्मादपीच्छन्त्येके । औक्थिक्यमधीते औक्थिकः । लौकायितिकेति लोकायतशब्दादिकण् गकाराकारस्य चेकारो निपात्यते । लोकायतं वेत्त्यधीते वा लौकायितिकः । लौकायतिका इति तु न्यायादिपाठात् सिद्धम् ॥१२२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–याज्ञिकौ० । निपातनपरं सूत्रम् । अन्यथा यज्ञादिशब्दानां न्यायादौ पाठकरणादेव सिद्धेः । तत्र कुत्र किं निपात्यमित्याह–**याज्ञिकेति यज्ञशब्दाद् याज्ञिकयशब्दाच्चेकणिति** । यज्ञं वेद याज्ञिकः, तस्य भावः, कर्म वा याज्ञिक्यम् । तद्वेदाधीते वेत्त्यर्थे इकणि इकयशब्दलोपो निपात्यत इति भावः । उक्थशब्दविषये शास्त्ररहस्यमाह–**उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढ** इति । उच्यत इत्युक्थम्, वचेः कर्मणि औणादिकः थक्प्रत्ययः । स चोक्थशब्दः केषुचित् सामसु रूढः । तद्व्याख्यानभूतो ग्रन्थोऽपि उपचारेणोक्थशब्देनोच्यते । तत्रायं विशेषो यत् 'यज्ञायज्ञीय'नाम्नः साम्नः परतो यानि उक्थानि गीयन्ते तत्प्रतिपादकाद् उक्थशब्दादयं प्रत्ययो नेष्यतेऽपि तु तदतिरिक्तसामपरात् उक्थशब्दात्, तद्व्याख्याने औक्थिक्ये वा उपचारेण (लक्षणया) प्रयुज्यमानादुक्थशब्दात् प्रत्ययो भवति । विग्रहः उक्थशब्देनैव । तदर्थस्तु औक्थिकयपर इत्याह–**उक्थमधीते औक्थिकः**, औक्थिक्यमधीते इत्यर्थ इति ।

नन्वेवमौक्थिक्यशब्दादेव प्रत्ययो भवतु, इक्यशब्दलोपश्चाश्रीयतामित्येव कुतो न मन्यते इति चेत् तत्राह–**औक्थिक्यशब्दात् तु प्रत्ययो न भवत्यनभिधानादिति** । तस्मात् प्रत्ययो न कुत्राप्यभिधीयते इति भावः । मतान्तरमाह–**तस्मादपीच्छन्त्येके इति**, औक्थिक्यशब्दादपि प्रत्ययं विधायेक्यशब्दलोपमिच्छन्ति केचिदिति भावः । तृतीये यन्निपातनीयं तदाह–**लोकायतशब्दादिकणिति** लोके आयतं ते लौकिकव्यवहारमानं प्रमाणयन्ति इति लोकायताश्चार्वाकाः । उपचारस्तन्मतप्रतिपादनपरं शास्त्रमपि लोकायतम् । तस्मादधीते वेत्ति वेत्यनयोरर्थयोः प्रत्ययः, यकाराकारस्य चेकारो निपात्यते । तन्त्रान्तरे तु

"Aho Shrutgyanam"

लौकायतिक इत्येवं रूपं दृश्यते । तस्य सिद्धिप्रकारमाह–**लौकायतिका इति तु न्यायादिपाठादिति** । तत्र कस्यापि विशेषस्य विधानाभावेन तदर्थं निपातनारम्भस्यानावश्यकत्वमिति भावः ॥६।२।१२२॥

अनुब्राह्मणादिन् ॥६।२।१२३॥

अनुब्राह्मणशब्दाद् वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इन्-प्रत्ययो भवति ।

ब्रह्मणा प्रोक्तो ग्रन्थो ब्राह्मणम् । ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम् । सदृशार्थेऽव्ययीभावः । तद् वेत्त्यधीते वानुब्राह्मणी । अनुब्राह्मणिनौ । अनुब्राह्मणिनः । मत्वर्थीयेनैवेना सिद्धे अनभिधानाच्च इकस्याप्रवृत्तावण्बाधनार्थमिनो विधानम् ॥१२३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–अनु० । अनुब्राह्मणशब्दं विवृणोति–**ब्रह्मणा प्रोक्तो ग्रन्थो ब्राह्मणमिति** प्रोक्तार्थेऽणि अन्त्यस्वरादिलोपाभावे आदिस्वरवृद्धौ ब्राह्मणमिति । ब्राह्मणेन सदृशमित्यर्थेऽव्ययीभावसमासेऽनुब्राह्मणमिति–तदाह–**सदृशार्थेऽव्ययीभाव** इति । ततोऽध्येतृ-वेदितृत्वयोरिन्प्रत्ययः, अनुब्राह्मणीति । स्त्रीत्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थं रूपनिर्देशः अनुब्राह्मणिनावित्यादि ।

ननु अध्ययन-वेदनयोः स्वत्वविवक्षया तदस्यास्तीत्यर्थे मत्वर्थीयेनैव रूपसिद्धिरितीन्विधानं व्यर्थम्, न च तदर्थे इकस्यापि संभवात् तदभावार्थं विशिष्येनो विधानमिति वाच्यम्, तस्याध्येतृ-वेदितृत्वयोरभिधानाभावादिति–चेदत्राह–**अण्बाधनार्थमिनो विधानमिति** । मत्वर्थीय इन् सामान्यविहित इति विशिष्याध्येतृ-वेदितृत्वयोर्विहितोऽण् तं बाधेतेति तद्बाधनार्थं विशिष्येनो विधानमावश्यकमिति भावः ॥६।२।१२३॥

शतषष्टेः पथ इकट् ॥६।२।१२४॥

शत षष्टि इत्येताभ्यां परो यः पथिन्शब्दस्तदन्ताद् वेत्त्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति । शतपथिकः, शतपथिकी । षष्टिपथिकः, षष्टिपथिकी ॥१२४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–शत० । टित्त्वात् स्त्रियां ङीरिति शतपथिकी षष्टिपथिकीति भवति ॥६।२।१२४॥

पदोत्तरपदेभ्य इकः ॥६।२।१२५॥

पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात् पदशब्दात् पदोत्तरपदशब्दाच्च वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति । पूर्वपदिकः, उत्तरपदिकः । पूर्वपदिका, उत्तरपदिका । पद–पदिकः, पदिका । पदोत्तरपदिकः, पदोत्तरपदिका । बहुवचनं सर्वभङ्गपरिग्रहार्थम् ॥१२५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–पदो० । पदं–पदशब्दः, उत्तरं–उत्तरपदं यस्य तत्पदोत्तरपदम्; पदोत्तरपदं च पदं च पदोत्तरपदे । पदोत्तरपदे च पदोत्तरपदं च (पदोत्तरपदशब्दश्च) इति पदोत्तरपदानि एकशेषेण रूपसिद्धिः तेभ्य इति पदोत्तरपदेभ्यः–इत्येवंविवक्षया सूत्रे निर्देश इति, तथैव विवृणोति–**पदशब्द उत्तरपदं यस्येत्यादिना** । अत्र 'पदोत्तर'शब्दार्थकपदोत्तरशब्दस्य पदशब्देन सह समाहारे तु 'पदोत्तरपदम्,' इति स्यात्, तस्य पुनः पदोत्तरपदशब्देनैकशेषे द्विवचनापत्तिः, तथा च प्रकृतार्थलाभो न स्यादिति–पूर्वोक्तक्रमेण इतरेतरयोगद्वन्द्व एव साधुः । पदोत्तरपद–पद–पदोत्तरपदशब्दानामेकशेषस्तु विरूपत्वादप्राप्तः, सौत्रत्वात् तदाश्रयणात् तु वरमुक्तरूपेणैव विग्रहाश्रयणम्, तस्यागतिकगतित्वात् । एतादृशविग्रहे प्रमाणं बहुवचननिर्देश एवेति वक्ष्यति । उदाहरति–**पूर्वपदिक** इत्यादिना । पूर्वपदम्, उत्तरपदम्, पदम्, पदोत्तरपदं चाधीते वेद वेति विग्रहः ।

ननु समाहारद्वन्द्वमाश्रित्यैकवचननिर्देशस्य स्वशैलीसिद्धत्वेन किमर्थमिह बहुवचननिर्देश इति चेदत्राह–**बहुवचनं सर्वविधभङ्गीपरिग्रहार्थमिति** । यदि हि 'पदोत्तरपद'पदं पदशब्दोत्तरपदकशब्दपरमेव, स्वरूपतः 'पदोत्तरपद'–परमेव वा स्यात्, तर्हि एकवचनमेव कृतं स्यात् कोऽर्थो बहुवचनेन ? बहुवचनं च बहूनां संग्रहार्थमेवेति पूर्वरीत्यैकशेषेण पदोत्तरपदस्य शब्दस्य, पदशब्दस्य, पदोत्तरपदशब्दस्य च संग्रह इति भावः । सर्वसंग्रहार्थमित्यस्य सर्वः 'पदोत्तरपद'शब्दे सम्भावितोऽखिलो भङ्गः पदच्छेदः प्रोक्तप्रकारस्तस्य संग्रहार्थमित्यर्थः ॥६।२।१२५॥

पद-क्रम-शिक्षा-मीमांसा-साम्नोऽकः ॥६।२।१२६॥

पद-क्रम-शिक्षा-मीमांसा-सामन् इत्येतेभ्यो तद् वेत्त्यधीते वेत्यर्थेऽकः प्रत्ययो भवति ।

"Aho Shrutgyanam"

पदकः । क्रमकः । शिक्षकः । मीमांसकः । सामकः । उपनिषच्छब्दादपीच्छति कश्चित् । उपनिषदकः । के सति शिक्षाका, शिक्षिका, शिक्षका । मीमांसाका, मीमांसिका, मीमांसकेति रूपत्रयं स्यात् । शिक्षिका मीमांसिकेति चेष्यते । तदर्थमेकवचनम् ॥१२६॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–पद० । ननु पदादिशब्देभ्यः 'क'प्रत्यय एव विधीयताम्, अकारान्ते स्वतः, आकारान्ते च के परे आपो ह्रस्वेन, रूपसिद्धौ भेदाभावेन 'अक'विधानं व्यर्थमित्याशङ्क्यायामाह–**के सति शिक्षाका-शिक्षिका–शिक्षकेति** । इत्त्व-ह्रस्वत्वयोरुभयोर्वैकल्पिकत्वेन रूपत्रयं स्यादिति भावः । अकि सति त्वाकारलोपे ह्रस्वैकल्पिकरूपाभावादित्त्वैकल्पिकत्वमपि नेत्येकमेव रूपं भवति तदेव चेष्टमित्याह–**शिक्षिका मीमांसिकेति च चेष्यते** इति । स्पष्टमन्यत् ॥६।२।१२६॥

ससर्वपूर्वाल्लुप् ॥६।२।१२७॥

सपूर्वात् सर्वपूर्वाच्च वेत्यधीते वेत्यर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् भवति । सवार्तिकमधीते सवार्तिकः । ससंग्रहः । अणो लुप् । सकल्पः । अत्रेकणः । सर्ववेदः । सर्वतन्त्रः । अत्राणः । सर्वविद्यः । अत्रेकणः । कथं द्विवेदः पञ्चव्याकरण इति 'द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्धिः' [६.१.३४.] इति लुपि भविष्यति ।१२७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–स-सर्व० । अनेन लुप्विधीयते, तत्र कस्य लुबिति च नोच्यते, किन्तु प्रत्यासत्त्या अध्येतृवेदितृर्थे विहितस्यैव प्रत्ययस्य लुबिति गम्यते, तदाह–**सपूर्वात् सर्वपूर्वाच्चेति** । नाम्न इति च विशेष्यं स्वभावाल्लब्धम्–तर्हि सपूर्वत्वं सर्वपूर्वत्वं वाऽन्यत्र संभवि । उदाहरति–**सवार्तिकमित्यादिना** । वार्तिकेन सहितं सवार्तिकम्, संग्रहेण ग्रन्थविशेषेण सहितं ससंग्रहम् । अत्र कस्य प्रत्ययस्य लुबित्याह–**अत्राणो लुबिति** । औत्सर्गिकस्येति भावः । सकल्पमधीते वेद वा सकल्पः । **अत्रेकण** इति । "पद–कल्प०" [६.२.११९.] इति सूत्रेण विहितस्येति भावः । स पूर्वमुदाहृत्य सर्वपूर्वमुदाहरति–**सर्ववेदः, सर्वतन्त्र** इति । सर्वान् वेदानधीते सर्ववेद इत्यादिरूपेण विग्रहः । अनयोरौत्सर्गिक एवाण् तस्य लुबित्याह–**अत्राण** इति । सर्वविद्यः **अत्रेकण्** इति । "अधर्म-क्षत्र०" [६.२.१२१.] इति विहितस्येति भावः । स–सर्वपूर्वादन्यतोऽपि विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् दृश्यते, तदुपपत्तिः कथमिति पृच्छति–**कथं द्विवेदः पञ्चव्याकरण** इति । द्वौ वेदौ वेत्त्यधीते वा पञ्च व्याकरणानि वेत्त्यधीते वेति विग्रहे विहितस्य प्रत्ययस्य कथं लुबिति प्रश्नः । उत्तरयति–**द्विगोरनपत्य** इति । तद्धितार्थसमासो द्विगुसंज्ञक उभयत्रास्तीति ततो विहितस्य स्वरादेरण् प्रत्ययस्य "द्विगोरनपत्ये०" [६.१.१४.] इति लुपि रूपमिदं सेत्स्यतीति न तदर्थं विशिष्य लुपो विधानमावश्यकमिति भावः ॥६।२।१२७॥

संख्याकात् सूत्रे ॥६।२।१२८॥

संख्यायाः परो यः कप्रत्ययो विहितस्तदन्तात् सूत्रे वर्तमानाद् नाम्नो वेत्यधीते वेत्यर्थं उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति । अप्रोक्तार्थ आरम्भः ।

अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य अष्टकं सूत्रम् । तद् विदन्ति अधीयते वा अष्टकाः पाणिनीयाः । आपिशलीयाः । त्रिकाः काशकृत्स्नाः । दशका उमास्वातीयाः । द्वादशका आर्हताः । संख्याग्रहणं किम्? माहावार्तिकाः । कालापकाः । कादिति किम्? चतुष्टयं सूत्रमधीयते चातुष्टयाः ॥१२८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–संख्या० । संख्यायाः–संख्यावाचकशब्दात् परः कः संख्याकस्तस्मादिति तात्पर्यमभिप्रेत्याह–**संख्यायाः परो यः कः प्रत्ययो विहित** इति । **अप्रोक्तार्थ आरम्भ** इति । प्रोक्तार्थे विहितः प्रत्यय उपचारात् प्रोक्तस्तदन्तभिन्नात् विहितस्य प्रत्ययस्य लुबर्थः सूत्रारम्भ इत्यर्थः । उदाहरति–**अष्टावध्यायाः परिमाणमस्येत्यादिना** । अष्टन्शब्दात् 'संख्यायाः संघ–सूत्रपाठे'[६.४.१७१.] इति कः, **अष्टकं** पाणिनीयं सूत्रम् । तद् विदन्ति अधीयते वेत्यर्थे विहितस्यौत्सर्गिकस्याणोऽनेन लुपि **अष्टकाः पाणिनीया** इति । आपिशलं सूत्रमपि अष्टाध्यायीपरिमितमिति **अष्टका आपिशलीया** अपि । त्रयोऽध्यायाः परिमाणमस्य त्रिकं काशकृत्स्नम्, तदधीयते विदन्ति वा **त्रिका काशकृत्स्नाः** । उमास्वातिनाऽऽचार्येण विरचितं सूत्रं दशाध्यायी परिमितमिति दशकं, तदधीते इति **दशका उमास्वातीयाः** इत्यादिरूपेण विग्रह ऊह्यः ।

पदकृत्यं पृच्छति–**संख्याग्रहणं किमिति** प्रायः संख्या-

"Aho Shrutgyanam"

वाचकाद् विहितकप्रत्ययान्तमेव सूत्रं प्रसिद्धमिति कात्सूत्रे इत्येवोच्यताम्, क्रान्तात् सूत्रे इत्यर्थो भविष्यतीति तावतैव अष्टकादिसिद्धिरिति प्रष्टुराकूतम्। अन्यथाऽपि सूत्रप्रसिद्धिरित्याशयेन प्रत्युदाहरति–**माहावार्तिकाः–कालापका** इति। महद्वार्तिकमस्य महावार्तिकं सूत्रं, तदधीयते विदन्ति वा माहावार्तिकाः, कलापिना प्रोक्तं कुत्सितं सूत्रं कालापकं तदधीयते विदन्ति वेत्यर्थे कालापका इति। उभयत्र कान्तसूत्रवाचकत्वमक्षतमिति प्रत्ययस्य लुप् स्यादिति संख्याग्रहणमावश्यकमिति भावः। **कादिति किमिति**। तथा च संख्यादेः सूत्रे इत्येवोच्यतामिति प्रष्टुराशयः। चत्वारोऽवयवा अस्य सूत्रस्येति **चतुष्टयं सूत्रं तदधीयते** विदन्ति वेत्यर्थेऽणि **चातुष्टया** इति भवति। कादित्यस्याभावेऽस्यापि संख्यादित्वेन स्यादिति भावः ॥६।२।१२८॥

प्रोक्तात् ॥६।२।१२९॥

प्रोक्तार्थविहितः प्रत्यय उपचारात् प्रोक्त इत्युच्यते। तदन्तान्नाम्नो वेत्त्यधीते वेत्यर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुप् भवति।

गोतमेन प्रोक्तं गौतमम्। तद् वेत्त्यधीते वा गौतमः। सुधर्मणा वा प्रोक्तं सौधर्मम्, सौधर्मणं वा तद् वेत्त्यधीते वा सौधर्मः, सौधर्मणः। एवं भाद्रबाहवः। पाणिनीयः। आपिशलः। स्त्रियां विशेषः। गौतमा सौधर्मा सौधर्मणा स्त्री इत्यादि। अणो लुप्यणन्तत्वाभावाद् ङीर्न भवति ॥१२९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–प्रोक्तात्०। प्रोक्तशब्दस्य स्वरूपपरत्वे तस्मादेव प्रत्ययस्य लुप् स्यात्, अर्थपरत्वे च तस्य प्रकृष्टोक्तिकर्मवाचकत्वेन सर्वस्य तथाभूतत्वसम्भवादव्यावर्तकत्वमित्याशङ्क्या प्रोक्तशब्दार्थं विवृणोति–**प्रोक्तार्थविहितप्रत्यय** इत्यादिना। तथा च सूत्रार्थमाह–**तदन्तादि**त्यादिना। प्रोक्तार्थप्रत्ययान्तादित्यर्थः। **गोतमेन प्रोक्तमित्यर्थे** "तेन प्रोक्ते" [६.३.१८१.] इत्यणि **गौतमम्**इति, तद्वेत्त्यधीते वेत्यर्थे उत्पन्नस्याणोऽनेन लुपि **गौतम** इति। एवमन्यत्र। ननु एषु प्रयोगेषु प्रत्ययस्य लुप्यलुपि वा रूपे विशेषाभाव इति चेदत्राह–**स्त्रियां विशेष** इति। अणि सति स्त्रियां ङीः स्यात्, असति चाप् भवतीति विशेष इति भावः। तमेवोदाहृत्य दर्शयति–**गौतमा** इत्यादिना। ननु परस्याणो लुप्यपि प्रोक्तार्थे विहितस्याणोऽत्र विद्यमानत्वेन तदन्तत्वनिबन्धनो ङी कुतो न भवतीति चेन्न, तस्य स्त्र्यर्थेनासम्बद्धत्वात्–यः पूर्वमण् प्रोक्तार्थे विहितः, तदन्तं न स्त्रियामस्ति, यदणन्तं स्त्रियामस्ति सोऽण् लुप्त इत्यणन्तस्य स्त्र्यर्थासंबन्धात्। अयमाशयः–"अणञेयेकण्" [२.४.२०.] इति सूत्रे "गौरादिभ्यो०" [२.४.१९.] इति सूत्रान्मुख्यादिति पदानुवृत्तेः तेषामेव स्त्रियां वर्तमानत्वमिति ङीर्न भवति, अपि त्वाबेवेति। तथा च लुब्विधाने फले विशेषः स्पष्ट इति फलितम् ॥६।२।१२९॥

वेदेनब्राह्मणमत्रैव ॥६।२।१३०॥

प्रोक्तग्रहणमिहानुवर्तते। तच्च प्रथमान्तं विपरिणम्यते। प्रोक्तप्रत्ययान्तं वेदवाचि इनन्तं च ब्राह्मणवाचि अत्रैव वेत्त्यधीते वेत्येतद्विषये एव प्रयुज्यते। तेन स्वातन्त्र्यम् उपाध्यन्तरयोगो वाक्यं च निर्वर्तते।

वेद, कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा कठाः। एवं कलापिना कालापाः। मौदेन मौदाः। पैप्पलादेन पैप्पलादाः। ऋषाभेन आर्षाभिनः। वाजसनेयेन वाजसनेयिनः। इन्, ब्राह्मणं खल्वपि। ताण्डयेन प्रोक्तं ब्राह्मणं विदन्त्यधीयते वा ताण्डिनः। भालुविना भालविनः। शाठ्यायनिना शाठ्यायनेन वा शाठ्यायनिनः। ऐतरेयेण ऐतरेयिणः। इन्ग्रहणं किम्? याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि। 'शाकलादेर्यञः' [६.३.२७.] इत्यञ् सौलाभेन सौलाभाजि। 'मौदादिभ्यः' [६.३.१८०.]इत्यण्। ब्राह्मणमिति किम्? पिङ्गेन प्रोक्तः पैङ्गी कल्पः। ब्राह्मणं वेद एव तत्र वेद इत्येव सिद्धे अनिनन्तस्य नियमनिवृत्त्यर्थमिन् ब्राह्मणग्रहणम्। प्रोक्तानुवर्तनं किमर्थम्? ऋचः यजूंषि सामानि मन्त्राः वेदः। आरम्भसामर्थ्यादवधारणे सिद्धे उभयावधारणार्थमेवकारः। प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यैव वृत्तिर्नान्यत्र तथाऽत्र वृत्तिरेव न केवलस्य प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यावस्थानम्। अन्यत्र त्वनियमात् क्वचित् स्वातन्त्र्यं भवति। अर्हता प्रोक्तमार्हतं शास्त्रम्। क्वचिदुपाध्यन्तरयोगः। आर्हतं महत्सुविहितमिति। क्वचिद् वाक्यम्। आर्हतमधीते। क्वचिद् वृत्तिः

"Aho Shrutgyanam"

आर्हत इति । इह पुननियमाद् युगपदेव विग्रहः कठेन प्रोक्तमधीयते कठा इति ॥१३०॥

श० म० न्यासायसन्धानम्-वेदेन्० । सूत्रार्थं वर्णयितुं पदानुवृत्त्या तं पूरयति-**प्रोक्तग्रहणमिहानुवर्तते** इति । ननु तस्य पूर्वसूत्रे पञ्चम्यन्तत्वेनेह कथं तदन्वयः, विरुद्धविभक्तिकत्वाद् इति चेदत्राह-**तच्च प्रथमान्तं विपरिणम्यते** इति । अर्थानुरोधेन विभक्तिविपरिणामस्य शास्त्रकारशैलीसिद्धत्वेनेहापि प्रथमान्तेन सह सामानाधिकरण्याय प्रथमान्ततया प्रोक्तपदस्य विपरिणाम उचित इति भावः । तथा च फलितमर्थमाह-**प्रोक्तप्रत्ययावान्तं वेदवाचि** इत्यादि । प्रोक्तार्थप्रत्ययान्तं वेदवाचि ब्राह्मणवाचि चेत् प्रत्ययान्तमध्ययनार्थेन वेदनार्थेन च प्रत्ययेनैव सह प्रयुज्यते, न स्वतन्त्रमिति फलितार्थः । तदेवाह-**तेन स्वातन्त्र्यम् उपाध्यन्तरयोगो वाक्यं च निवर्तते** इति ।

अयमाशयः-प्रोक्तप्रत्ययान्तप्रयोगस्यानेकः प्रकारः संभाव्यते-स्वतन्त्रः प्रयोगः, केनचिदर्थान्तरेण व्यावर्तकभूतेन सह प्रयोगः, वाक्यस्थत्वेन प्रयोगः, अध्येतृ-वेदितृर्थकेन प्रत्ययेन च सह प्रयोग इति । अयं च प्रोक्तार्थप्रत्ययान्तविषयकः साधारणो व्यवहारः । वेदानामिन्प्रत्ययान्तब्राह्मणानां च प्रोक्तार्थप्रत्ययानाम् अध्येतृ-वेदितृर्थप्रत्ययविषयतैवेष्यते, नान्यथा प्रयोगः इत्येतदर्थं सूत्रमिति । नियमफलमाह-**वेद, कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा कठा** इति । अत्र "तेन प्रोक्ते" [६.३.१८१.] इति विहितस्याणः "कठादिभ्यो वेदे लुप्" [६.३.१८३.] इति लुपि तस्मादध्येतृ-वेदितृविषयेऽणि तस्य "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इति लुपि कठा इति । कलापिना प्रोक्तं वेदमधीयते विदन्ति वा इत्यर्थे पूर्वं प्रोक्तार्थेऽणि ततोऽध्येतृ-वेदितृर्थयोरणि तस्य लुप् पूर्ववत् । मुदस्यापत्यं मौदः ऋष्यणन्तः, तेन प्रोक्तं वेदमधीयते विदन्ति वा **मौदाः** । प्रोक्तार्थे "मौदादिभ्यः" [६.३.१८२.] इतीयबाधकोऽण् तदन्तादध्येतृ-वेदितृर्थयोरणो लुप् । एवं पैप्पलादा इत्यपि । ऋचामेन प्रोक्तं वेदमधीयते विदन्ति वा, प्रोक्तार्थे "शौनकादिभ्यो णिन्" [६.३.१८६.] तदन्तादध्येतृ-वेदितृर्थयोर्विहितस्याणः पूर्ववत् "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इति लुप् । वाजसनाया अपत्यमित्यर्थे "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" [६.१.७०.] इत्येयणि वाजसनेयः, तेन प्रोक्तं वेदमधीयते विदन्ति वा शौनकादित्वाण्णिनि सति तदन्तादणो लुप् । इत्थं वेदमुदाहृत्य इन् ब्राह्मणमुदाहर्तुमाह-**इन् ब्राह्मणं खल्वपीति** । इन्प्रत्ययान्तं ब्राह्मणमपि वेदितृ-अध्येतृविषयमुदाहृियते इत्यर्थः । **ताण्डचेन प्रोक्तं ब्राह्मणमित्यर्थे** शौनकादित्वाण्णिनि सति अध्येतृ-वेदितृविषयेऽणि तस्य लुप् **ताण्डिन** इति । एवमन्येष्वप्यूह्यम् ।

पदकृत्यं पृच्छति-**इनग्रहणं किमिति**-इन्प्रत्ययान्तब्राह्मणविषय एव नियमः किमर्थ इति प्रश्नः । याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानीत्यर्थे "शाकलादेर्जयः" [६.२.२७.] इत्यणा 'याज्ञवल्क्यानि' इति स्वातन्त्र्येणापि प्रयुज्यते । एवं सौलामेन प्रोक्तानि इत्यर्थे "मौदादिभ्यः" [६.३.१८०.] इत्यणि सौलामानि ब्राह्मणानीति प्रयुज्यते । न तु एतयोरध्येतृ-वेदितृविषयता नियता । इन्ग्रहणाभावे च स नियमो दुर्वारः स्यात् । **ब्राह्मणमिति किमिति** ? इन्नन्तप्रोक्तार्थमात्रविषयको नियमोऽस्त्विति भावः । तथा सति कल्पादेरपीन्प्रत्ययान्तस्य तद्विषयतानियमः स्यादिति प्रत्युदाहरणेनाह-**पिङ्गेन प्रोक्तं पैङ्गीकल्प** इति । अत्र "पुराणे कल्पे" [६.३.१८७.] इति णिन् । अयं च स्वतन्त्रोऽणि प्रयुज्यते । ब्राह्मणग्रहणाभावे च तद्विषयतानियमो दुर्वारः स्यात् । ननु 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, इति स्मरणात् वेदग्रहणेनैव ब्राह्मणस्यापि ग्रहणे सिद्धे पृथक् ब्राह्मणग्रहणं व्यर्थमेवेति चेदत्राह-**ब्राह्मणं वेद एवेत्यादिना** । सत्यं ब्राह्मणमपि वेद एव, तथापीन्प्रत्ययान्तब्राह्मणविषयतैव नियमस्य भवेत्-न सर्वब्राह्मणविषयतेतीन्प्रत्ययान्तभिन्नस्य तद्विषयतानियमव्यावृत्तये इन् ब्राह्मणग्रहणं क्रियते इति भावः । **प्रोक्तानुवर्तनं किमर्थमिति** । सर्वेषां वेदानाम् इन् ब्राह्मणानां च तद्विषयतानियमोऽस्तु-न प्रोक्तार्थप्रत्ययान्तानामेवेति प्रष्टुराशयः, एवं तर्हि मृगादीनामपि स्वातन्त्र्येण प्रयोगो न स्यादित्याशयवानाह-**ऋचः यजूंषि सामानि मन्त्रा वेद इति** । एते मन्त्ररूपा वेदशब्देनोच्यन्ते इति वाक्यार्थः । अत्र च दृष्टः स्वातन्त्र्येण प्रयोगः । तदर्थं प्रोक्तार्थप्रत्ययान्तविषयकत्वं नियमस्यावश्यकमिति भावः ।

ननु विनाऽपि सूत्रं प्रोक्तार्थप्रत्ययान्तानामेषामध्येतृ-वेदितृर्थप्रत्ययसंबन्धोऽपि स्यादेवेति सूत्रं व्यर्थं सन्नियमार्थं भविष्यति 'नियमः पाक्षिके सति' इति सिद्धान्तात् । तथा चावधारणं सिद्धमेवेति तदर्थमेवकारः सूत्रे पठयमानो व्यर्थ इति चेदत्राह-**आरम्भसामर्थ्यावधारणे सिद्धे** इत्यादि । **उभयावधारणार्थमेवकार** इति उभयस्यार्थस्य वृत्तेश्चावधारण नियमनमेवार्थो यस्य तादृशं यथा स्यात्

"Aho Shrutgyanam"

तथेत्यर्थः । उभयोर्नियमयोः स्वरूपमेव दर्शयति–**प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यात्रैव वृत्तिरित्यादिना** । अत्रैव–अध्येतृ–वेदितृप्रत्ययविषय एव वृत्तिः प्रत्ययोगः । वृत्तिरेव प्रत्ययोगेनैव प्रयोगो न स्वातन्त्र्यादिनेत्यर्थः । तत्फलमाह–**अन्यत्र त्वनियमात् क्वचित् स्वातन्त्र्यम्** इत्यादिना । प्रकृते च नियमप्राप्तमर्थमाह–**इह पुनर्नियमात् युगपदेव विग्रह** इति । प्रोक्तार्थेन सहैवाध्येतृ–वेदित्रर्थयोर्विग्रह इति भावः ॥६।२।१३०॥

तेन छन्ने रथे ॥६।२।१३१॥

छन्न इति प्रत्ययार्थो रथ इति तस्य विशेषणम् । तेनेति तृतीयान्तात् छन्ने रथेऽभिधेये यथाभिहितं प्रत्ययो भवति ।

वस्त्रेण छन्नो रथः वास्त्रः । काम्बलः । चार्मणः । द्वैपेन चर्मणा द्वैपः । वैयाघ्रेण वैयाघ्रः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण छन्नः कायः । छन्नशब्देन समन्ताद् वेष्टितं व्याप्तमुच्यते । तेनेह न भवति । पुत्रैः परिवृतो रथः । इह कथमण् भवति ? न विद्यते पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वा कुमारी, तादृशीं कुमारीमुपपन्नः कौमारः पतिरिति । तत्र 'भवे' [६.३.१२२.] इत्यण् भविष्यति । कौमार्या भवः कौमारः पतिः धवयोगे तु कौमारी भार्येत्यपि सिद्धम् ॥१३१॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्–तेन० । सूत्रार्थं बोधयितुं पूर्वपदार्थं बोधयति–**छन्न इति प्रत्ययार्थः, रथ इति तस्य विशेषणमिति** । छन्नेऽर्थे प्रत्ययो भवति, यश्च छन्नः स रथश्चेदिति रूपेण परस्परमन्वय इति भावः । तेनेति समर्थविभक्तिनिर्देशः । तदाह–**तृतीयान्तात् छन्ने रथेऽभिधेये** इत्यादिना । उदाहरति–**वस्त्रेण छन्नो वास्त्रो रथ** इति । अणि सति आदिस्वरवृद्ध्यादिः । **द्वैपेन चर्मणेति** । द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबति इति द्विपो गजः । स हि शुण्डया जलमादाय मुखे ददाति, ततः पिबतीति तस्य प्रकृतिः । द्विपस्य विकारः चर्म द्वैपम् । तेन परिच्छन्नः द्वैपः । एवं व्याघ्रस्य विकारश्चर्म वैयाघ्रम् । विकारार्थेऽणि आदिस्वरवृद्ध्यपवादे यकारात् पूर्वमिति वैयाघ्र इति । तेन छन्न इत्यर्थेऽनेनाण् ।

पदकृत्यं पृच्छति–**रथ इति किमिति** । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति–**वस्त्रेण छन्नः काय इति** । ईदृशस्थले वाक्यमेव तिष्ठति न प्रत्ययोत्पत्तिरिष्यते, रथ इत्यस्याभावे च सा दुर्वारेति भावः । विशेषमाह–**छन्नशब्देन समन्ताद् वेष्टितं व्याप्तमुच्यते** इति । 'छद्'-धातोरपवारणार्थत्वात् । अपवारणं च तिरस्करणं दृष्ट्या व्यवधापनमिति यावत् । ततश्च यदि समन्तात् सर्वतो दिशि उपर्यधोभागे च वेष्टितं न भवेत्–कथं तर्हि दृष्टेर्व्यवहितं स्यात् । समन्ताद् वेष्टितमित्यस्यैव व्याख्यानं व्याप्तमिति । व्याप्तं च सर्वावयवपर्याप्तमुच्यते । अनेन यद् व्यावर्तनीयं तदाह–**तेनेह न भवति–पुत्रैः परिवृतो रथ** इति । सर्वासु दिक्षु स्थिता अपि पुत्रा न रथं व्याप्तुं शक्ताः । उपर्यधोभागादिप्रदेशेषु तेषामवस्थितेरसंभवादिति तत्परिवारितोऽपि रथो दृष्टेर्व्यवहितो न भवति । एवं च पुत्रशब्दान्न प्रत्ययोत्पत्तिरिति । तन्त्रान्तरोक्तमाक्षिपति–**इह कथमण् भवतीत्यादिना** । इदमत्राकूतम्-पाणिनीयादितन्त्रेऽत्र प्रकरणे "कौमारापूर्ववचने" [पा०सू० ४.२.१३.] इति सूत्रमारब्धमस्ति । तत्र वार्तिककृतोक्तम्–कौमारापूर्ववचन इत्युभयतः स्त्रिया अपूर्वत्वे इति ।

अस्यायमर्थः–उभयस्मिन् स्त्रियां पुंसि चाभिधेये कौमार इति नामस्वरूपं निपात्यते, यदि अपूर्वाया अलब्धपूर्वपतिकाया भावो द्योत्यः स्यात् । स्त्येव यद्यपूर्वा भवेत्, न पत्युरत्रापूर्वताऽभिमता । तथा चान्यां परिणीतां कुमारीं परिणीतवान् पतिः कौमारः, एवमन्येनापरिणीता कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारीभार्या, इत्यपि भवति । स्त्रमते च तादृशवचनाभावात् कथमीदृशार्थे प्रत्ययो भविष्यतीति प्रश्नः । उत्तरयति–**"तत्र भवे" [६.३.१२२.] इत्यण् भविष्यतीति** ।

अयमाशयः कुमारीशब्दादलब्धपतिकाऽवस्थावाचकात् कुमार्यां भव इत्यर्थे "तत्र भवः" [६.३.१२२.] इत्यणि कौमार इति सिध्यति, तेनैवोक्तार्थलाभ इति । नन्वेवं पत्युः प्रतीतावपि तादृशस्त्रियाः कथं तेन शब्देन प्रतीतिरिति चेदत्राह–**धवयोगे तु कौमारीभार्येत्यपि सिद्धमिति** । कौमारस्य (तादृशपतेः) स्त्रीत्यर्थे धवयोगार्थे ङ्यां 'कौमारी' इति तस्य भार्याऽपि कथयितुं शक्यते इत्याशयः । सूचितश्चायमर्थः **"कौमारापूर्ववचने"** [पा० सू० ४.२.१३.] इति सूत्रस्थ–भाष्यकारिकयाऽपि । तथाहि—

> "कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण् विधीयते ।
> अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्यां भवतीति वा ॥"

इत्यत्र 'कुमार्यां भवतीति' पक्षान्तरमुपन्यस्यतो

"Aho Shrutgyanam"

भाष्यकृतोऽयमेवार्थोऽभिप्रेतः । भार्यायां तु भवार्थयोगस्यासंभवादुक्त एव प्रकारो मनोरमः । नन्वेवं वचनाभावे कुमार्यां भवो व्याध्यादिरपि कौमारः स्यात्, सत्यभिधाने इष्टापत्तेः । सत्यपि हि सूत्रे रोगादिषु कौमारशब्दस्य प्रयोगो न स्यादित्यत्र कः प्रतिभूरनभिधानाश्रयणं विना । एवं च सूत्रसत्त्वेऽप्यतिप्रसङ्गस्यानभिधानेनैव वारणीयतया, सूत्राभावेऽपि तदाश्रयणान्न दोषावहम् । ननु कौमारस्य स्त्रीत्यर्थे धवयोगे प्रत्ययेन कुत इदं विज्ञायेत ? अपूर्वपतिकैव याऽऽसीत् सैवानेन शब्देनोच्यते–यदि काचिदपराऽपि पूर्वं, पत्यन्तरपरिणीता तदीया स्त्री स्यात् कुतो न प्रतीयेतेति चेन्न, प्रत्यासत्तेः । या हि तस्य प्रत्युः कौमारशब्दव्यपदेशनिबन्धनं सैव प्रत्यासन्नेति तां विहायान्यस्याः प्रतीतिर्न स्यात्, सूत्रसत्त्वेऽपि भवार्थमादायातिप्रसक्तिवारणार्थं प्रत्यासत्तिद्वारा तस्यामेव प्रयोगो यथा स्यादित्येतदर्थं सूत्रस्य सामर्थ्यकथनं तु तवाप्यावश्यकमेवेति सैव प्रत्यासत्तिर्ममापि शरणमिति न कोऽप्यावयोः फले भेदः । केवलं सूत्रारम्भगौरवान्नवातिरिच्यते । तदास्तां प्रसक्तानुप्रसक्तवर्णनप्रपञ्चेनेत्यलम् ॥६।२।१३१॥

पाण्डुकम्बलादिन् ॥६।२।१३२॥

पाण्डुकम्बलशब्दात् तृतीयान्ताच्छन्ने रथे वाच्ये इनप्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । पाण्डुकम्बलेन छन्नः पाण्डुकम्बली रथः ॥१३२॥

शं० मं० न्यासानुसन्धानम्–पाण्डु० । मत्वर्थीयेनासिद्धे सूत्रवैयर्थ्यमाशङ्क्याह–**अणोऽपवाद** इति । विशेषविहितत्वात् सामान्यविहितस्याणो बाधकमिदं सूत्रमित्यर्थः । पाण्डुः श्वेतः कम्बलः पाण्डुकम्बलः, तेन परिच्छन्ने रथे विशिष्यायं प्रत्ययविधित्येतद्विषयेऽण् न भवतीति । पाण्डुकम्बलशब्दो राजास्तरणकम्बलवाचक इति काशिका, वै० सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजिदीक्षितश्च । शब्दकौस्तुभे च पाण्डुकम्बलो गजास्तरणमिति पाठो दृश्यते, परन्त्वत्रापि 'रा' इत्यतदक्षरं 'ग' इत्येवंरूपेण केनचिद् दृष्टं लिखितं वेति लेखकप्रमाद एवानुमीयते, न ह्यन्यथा एकस्यैव (दीक्षितस्य) ग्रन्थकृतो ग्रन्थभेदेन विपरीतलेखनं संभवति । 'स्यात् पाण्डुकम्बलः श्वेतप्रावरण-प्रावभेदयोः' इति मेदिनीकोशेन, यद्यपि तादृशार्थो न लभ्यते, तथापि काशिकासंवादेन स्वलेखने च तादृशार्थस्य (राजास्तरणकम्बलविशेषार्थकस्य) अपि पाण्डुकम्बलशब्दस्य सत्त्वमनुमीयत एव । अमरकोशे तु 'पाण्डुकम्बलसंवीतः स्यन्दनः पाण्डुकम्बली' इत्युक्तम् । तट्टीकायां च श्वेतकम्बलसंवीतरथस्य नामेत्येवोक्तम् । अस्य च रूपस्य मत्वर्थीयेन प्रत्ययेन सिद्धावपि छन्ने रथे वाच्ये विहितोऽण् मत्वर्थीयेन बाधेतेति बाधकबाधनार्थं वचनमिदमिति ॥६।२।१३२॥

दृष्टे साम्नि नाम्नि ॥६।२।१३३॥

दृष्ट इति प्रत्ययार्थस्तस्य साम्नीति विशेषणम् । तेनेति तृतीयान्ताद् दृष्टं साम्नीत्यस्मिन् अर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ।

कुञ्जेन दृष्टं साम कौञ्जम् । मृगीयुणा मार्गीयवम् । एवं मायूरम् । तैत्तिरम् । वासिष्ठम् । वैश्वामित्रम् । कालेयम् । आग्नेयम् । एवं नामानि सामानि ॥१३३॥

शं० मं० न्यासानुसन्धानम्–दृष्टे० । सूत्रार्थबोधाय पदार्थसंबन्धं बोधयितुमाह–**दृष्ट इति प्रत्ययार्थ** इत्यादि । दृष्टमित्येतस्मिन्नर्थे प्रत्ययः, यद् दृष्टं तत् साम चेत्, प्रत्ययान्तं च तस्यैव साम्नो नाम चेदित्येवं संबन्ध इति भावः । उदाहरति–**कुञ्जेन दृष्टं साम**इति । कुञ्जो नाम ऋषिः कश्चित्, यन्निवासात् पर्वतविशेषः कौञ्ज इति प्रसिद्धः । तेन दृष्ट प्रथमतः साक्षात्कृतं साम **कौञ्जम्** । एवं मृगीयुर्नाम ऋषिः, तेन दृष्टं **मार्गीयवमित्यादि** । यद्यपि साम्नो वेदस्यानादित्वमिति केन तित्पूर्वं दृष्टमिति नाख्यातुं शक्यते तथापि सांप्रतिकप्रसिद्धिमनुरुध्यैवं व्यवहार इति विज्ञेयम् । अत्र सर्वत्राण् । **कालेयम्, आग्नेयमि**त्यनयोः "कल्यग्नेरेयण्" [६.१.१७.] इति सूत्रेण प्राग्जितीयेऽर्थे विहित एयण् । कलिना दृष्टम्, अग्निना दृष्टमिति विग्रहः ।

अत्रायं ग्रन्थान्तरदृष्टो विशेषः–मीमांसायां व्याकरणाधिकरणे भट्टैः कलिदृष्टत्वेन 'कालेय 'शब्दप्रयोगमधिकृत्य कथितम्–"यदकालयत्तत्कालेयस्य कालेयत्वम्" इत्यर्थवादपरश्रुतिविरोधादप्रमाणभूतेयं व्याकरणस्मृतिरिति । व्याकरणेन हि कलिदृष्टत्वेन तस्य साम्नो नाम कालेयमित्युच्यते, श्रुतिश्च कालितत्वेन तत्साम्नकालेयमित्याह । श्रुतिस्मृतिविरोधे हि प्रमाणं परमं श्रुतिरिति मनूक्त्या श्रुत्यपेक्षया व्याकरणे स्मृतेरप्रामाण्यमिति । एवं पार्थसारथिमिश्रैरपि शास्त्रदीपिकायां-व्याकरणैतद्विषयसूत्रस्याप्रामाण्यमाक्षिप्तम्, परमेतन्न विचारसहम्, यतो यत् साम कालितम्, तदेव कलिना दृष्टमपि चेत् कोऽत्र विरोधः ? येन व्याकरणस्मृतेरप्रामाण्यमाक्षिप्येत । उभयथापि कालेयत्वं तस्यास्तु ।

"Aho Shrutgyanam"

किञ्च पूर्वोदाहृता श्रुतिरर्थवादः । अर्थवादशास्त्रस्य च न स्वार्थे तात्पर्यम् । किन्तु प्रशंसायां निन्दायां वा । तथा च कथम् अतत्परया श्रुत्या, तत्परा व्याकरणस्मृतिर्बाध्येत । तत्परा-तत्परयोस्तत्परस्य बलवत्त्वं हि तरेव सिद्धान्तितम् । अपिचैकस्यानेकप्रकारेणाख्यातत्वं शास्त्रे नाप्रसिद्धम् । दृश्यते बहूनां शब्दानामनेकधा व्युत्पादनम् । यदाह-भर्तृहरिर्वाक्यपदीये —

"वैर-वासिष्ठ-गिरिशास्तथैकागारिकादयः ।
कैश्चित् कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरैः ॥"

अस्यार्थः—वीरेषु भवम्, वीरैर्लब्धम्, वीराणामयम् इति निमित्तसङ्करेण वैरशब्दोऽनेकधा व्याख्यातः, अतिशयेन वासयन्ति, वसिष्ठेन प्रोक्तमधीयत इति वा वासिष्ठाः कथ्यन्ते, तथा चात्र निमित्तस्यार्थस्य सङ्करः, प्रकृति-प्रत्ययावधिसंकरश्च । गिरौ शेते इति गिरिः श्यति उपभोगेन तनूकरोति, गिरिरस्यास्तीति वाऽनेकप्रकारेण गिरिशब्दोऽपि व्युत्पाद्यते । तथा एकेनागारेण जयति, एकं महदागारं प्रयोजनमस्येति वाऽर्थे एकागारिकशब्दो व्युत्पादित इति न एकस्य शब्दस्यानेकधा व्युत्पादितत्वं दोषोऽसति विरोधे । विरोधाभावश्चात्रोपपादितः पूर्वम् । तथा च कालेयशब्दस्य कलिदृष्टार्थे व्युत्पादनं न कालित्यार्थत्वप्रतिपादकश्रुतिविरुद्धमिति पर्यवसितम् ॥६।२।१३३॥

गोत्रादङ्कवत् ॥६।२।१३४॥

गोत्रवाचिनस्तृतीयान्ताद् दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थे अङ्कवत् प्रत्ययो भवति । यथा तस्यायमङ्क इत्यनेदमर्थे प्रत्ययो भवति तथा दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थेऽपि । औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम् । कापटवकम् । वाहतवकम् । अङ्क इति विशेषोपादानेऽपि तस्येदमित्यर्थमात्रे परिगृह्यते ॥१३४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—गोत्रा० । गोत्रमिह प्रवराध्यायप्रसिद्धं लौकिकं स्वापत्यसंतानस्य स्वव्यपदेशहेतुभूतः य आद्यपुरुषस्तदपत्यं वा शास्त्रीयं ग्राह्यम्, विनिगमकाभावत् तद्वाचिनो नाम्नो **दृष्टं सामेत्यर्थेऽङ्कवत् प्रत्ययो भवति** । अङ्कवदित्युक्तं स्पष्टयति—**यथा तस्यायमङ्क इत्यत्रेदमर्थे प्रत्ययो भवती**त्यादिना । अङ्कार्थे यद्यपि कोऽपि प्रत्ययो विशिष्य न विहितः, तथापि तस्य इदमर्थत्वेन संग्रहं कृत्वा प्रत्ययो विधीयते, तथैवेदमर्थे गोत्राद्यः प्रत्यय उक्तः स एव दृष्टं सामेत्यर्थेऽपि भवतीत्याशयः । एतदेवाग्रेऽपि स्पष्टयिष्यति—**अङ्क इति विशेषोपादानेऽपी**त्यादिना ।

तस्यायमर्थः—अङ्कवदिति कथनेन अङ्के यथादृष्टं तथा दृष्टं सामेत्यर्थेऽपि भवतीति । गोत्रार्थाच्चाङ्के "गोत्राददण्डमाणवशिष्ये" [६.३.१६९.] इत्यकञ्, इदमर्थविहितो दृष्ट इति विशेषेणानेन सामान्यार्थ उपस्थाप्यते इति भावः । विशेषेऽर्थेऽपि सामान्यार्थविहितप्रत्ययस्यैव तत्र दृष्टत्वेन तद्बुद्धिहापि भवतीत्यर्थः । 'उपगु-कापटु-वहतु' इत्यादयो गोत्रवाचिनः । तैः दृष्टं सामाऽपि एभिरेव शब्दैरकञन्तैरुच्यते इति ॥६।२।१३४॥

वामदेवाद् यः ॥६।२।१३५॥

वामदेवशब्दात् तृतीयान्ताद् दृष्टे सामनि यः प्रत्ययो भवति । वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ॥१३५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वाम० । वामदेवः ऋषिविशेषः, तेन पूर्वं प्रत्यक्षीकृतं साम वामदेव्यमुच्यते । यच्च छन्दोगैः सर्वक्रमणामन्ते गीयते इति प्रसिद्धिः । 'कालेय'वद् वामदेव्यमित्यस्यापि व्युत्पत्त्यन्तरं दृश्यते श्रुतौ 'वामं वा इदं देवेभ्यः समजनीति वामदेव्यस्य वामदेव्यत्वमिति । अत्रापि विरोधाभावात् उभयोर्व्युत्पत्त्योरादर इति पूर्ववदनुसन्धेयम् ॥६।२।१३५॥

डिद् वाऽण् ॥६।२।१३६॥

दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थे योऽण्प्रत्ययो विहितः स डिद् वा भवति । उशनसा दृष्टं साम औशनम्, औशनसम् ॥१३६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—डिद्० । **अस्मिन्नर्थे योऽण् विहितः स डिद् वा भवती**ति । दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थे विहितस्याणः सामान्यतो डिद्विधानेऽपि तस्य पाक्षिकत्वेन योगानुसारित्वाश्रयणेन च न सार्वत्रिकप्रवृत्तिः । स्वरान्तेषु डित्त्वे सत्यसति च रूपे न भेद इत्यतो व्यञ्जनान्तमेवोदाहरति—**उशनसा दृष्टमिति** । उशना भार्गवः कविरित्यमरस्वरसादिदं शुक्राचार्यस्य नाम । डित्त्वे सत्यन्त्यस्वरादिलोपाद् **औशनम्** इति । पक्षे **औशनसमिति** ॥६।२।१३६॥

"Aho Shrutgyanam"

वा जाते द्विः ॥६।२।१३७॥

जात इत्यस्मिन्नर्थे योऽण् प्रत्ययो द्विर्विहितः उत्सर्गेण प्राप्तोऽपवादेन बाधितः सन् पुनर्विहितः स डिद् वा भवति ।

शतभिषजि जातः शातभिषः, शातभिषजः । द्विरिति किम् ? हिमवति जातो हैमवतः । केचित् तु द्विर्डित्त्वमिच्छन्ति । तन्मते द्विर्डित्त्वाद् द्विरन्त्यस्वरादिलोपे शातभ इत्यपि भवति । एवं पूर्वसूत्रेऽपि । औशं साम । एवं च योगद्वयेऽपि त्रैरूप्यं सिद्धम् ॥१३७॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—वा जाते० । द्विरिति उद्देश्यविशेषणं विधेयविशेषणं वेति संदेहेन—प्रथममुद्देश्यविशेषणत्वेन व्याख्याति—**योऽण्प्रत्ययो द्विर्विहित** इति, तथा चोद्देश्यस्याणः एवेदं विशेषणमिति । एकस्यैवाणः कथं द्विर्विधानं संभाव्यत इति सन्देहे तदेव स्पष्टयति—**उत्सर्गेण प्राप्तोऽपवादेन बाधितः सन् पुनर्विहित** इति । औत्सर्गिकस्यैवाणो यत्र बाधः सम्भावितस्तस्य बाधनार्थं पुनर्विधानं प्रतिप्रसवशब्देन शास्त्रे व्यवह्रियते, तदेव च द्विर्विधानमाख्यायत इह । शतभिषजि जात इत्यर्थे औत्सर्गिकोऽप्यप्राप्तः, "जाते" [६.३.९८.] इति सूत्रेण । "वर्षाकालेभ्यः" [६.२.८०.] इतीकणा स बाध्यते, ततश्च "भर्तुसन्ध्यादेरण्" [६.३.८९.] इति सूत्रेण पुनरण् विधीयत इति द्विर्विहितत्वमस्याण इति तस्य डित्त्वे सति अन्त्यस्वरादिलोपे 'शातभिष' इति । पक्षे 'शातभिषज' इति । उद्देश्यविशषणस्यैव द्विरित्यस्य व्यावर्त्यं प्रदर्शयितुं पृच्छति—**द्विरिति किमिति** । सामान्यतो जातार्थे विहितोऽण् डिद् विधीयतामिति प्रष्टुराशयः । तथासति अनिष्टापत्तिमाह—**हिमवति जातो हैमवत** इति । अत्र डित्त्वाभावादन्त्यस्वरादिलोपो न भवति, द्विरित्यस्यानुक्तौ तु स स्यादेवेति । विधेयस्यैव द्विरिति विशेषणमिदमिति वादिनां मतमाह—**केचिद् द्विर्डित्त्वमिच्छन्तीति** । तन्मते फले भेदमाह—**द्विर्डित्त्वाद् द्विरन्त्यस्वरादिलोपो भवतीति** । अत्रेदं विचारणीयम् द्विरित्यस्य डित्त्वविशेषणत्वे द्विर्विहितस्यैवाणो डित्त्वमित्यर्थो न लभ्यते इति हैमवतमित्याद्यसिद्धिः । यदि च द्विरिति पदस्यावृत्त्या सोऽप्यर्थ आश्रीयते तदा तु न दोषः परमीदृशावृत्तौ प्रमाणं मृग्यम् । एवं **पूर्वसूत्रेऽपीति** । तत्रापि द्विरिति पदमाकृष्य दृष्टं सामेत्यर्थेऽपि विहितोऽण् द्विर्डिद्भवतीति विज्ञेयमिति भावः । तत्फलमाह—**औशं सामेति** । उशनसो द्विरन्त्यरादिलोपे औशमित्येव शिष्यत इति भावः । निगमयति—एवं योगद्वयेऽपि त्रैरूप्यं सिद्धमिति । एकधा डित्त्वम्, द्विधा डित्त्वम्, तदभावश्चेति त्रैरूप्यमित्याशयः ॥६।२।१३७॥

तत्रोद्धृते पात्रेभ्यः ॥६।२।१३८॥

तत्रेति सप्तम्यन्तात् पात्रवाचिनः उद्धृत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । शरावेषु उद्धृत ओदनः शारावः । माल्लकः । कार्परः । पात्रेभ्य इति किम् ? पाणावुद्धृत ओदनः । बहुवचनं पात्रविशेषपरिग्रहार्थम् ॥१३८॥

शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानम्—तत्रो० । तत्रेति सप्तम्यन्तार्थकम् । तदाह—**सप्तम्यन्तादिति** । **शरावेषु उद्धृत** इति । उद्धरतिरिह उद्धरणपूर्वके निधाने वर्तते । अत एव सप्तमी समर्थविभक्तिः संगच्छते । अन्यथा केवलोद्धरणार्थत्वे पञ्चम्या एवौचित्यात् । पदकृत्यं पृच्छति—**पात्रेभ्य इति किमिति** । केवलमुद्धृतेऽर्थे प्रत्ययो विधीयतामित्याशयः ।

प्रत्युदाहरति—**पाणावुद्धृत ओदन** इति । तथा चेह वाक्यमेवेष्टं न प्रत्ययविधिरिति प्रत्ययनिवारणार्थं पात्रेभ्य इत्यावश्यकमिति । ननु पात्रशब्दात्, पात्रार्थकमत्रशब्दाद् वा प्रत्ययः कुतो न भवति ? किमर्थं चेह पात्रविशेषवाचकेभ्य एव प्रत्यय उदाहृत इति चेदत्राह—**बहुवचनं पात्रविशेषपरिग्रहार्थमिति** । यदि पात्रशब्दादेव प्रत्ययो विधेयः स्यात् तर्हि पात्रादित्येवोच्येत, न च तथोक्तमपि तु बहुत्वेन निर्देशः कृत इति पात्रविशेषाणामेव बहुत्वस्य संभावितत्वेन तेषामेव ग्रहणमिति लभ्यते इत्याशयः । पात्रार्थकशब्दव्यावृत्तिस्तु शब्दशास्त्रे शब्दस्यैव प्राधान्यादेव सिद्धेति न तदर्थं बहुवचनमिति भावः ॥६।२।१३८॥

स्थण्डिलाच्छेते व्रती ॥६।२।१३९॥

स्थण्डिलशब्दात् सप्तम्यन्ताच्छेते इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ शेते स चेद् व्रती भवति । तत्र शयनव्रतोऽन्यत्र शयनान्निवृत्त इत्यर्थः । स्थण्डिल एव शेते स्थाण्डिलो भिक्षुः । व्रती इति किम् ?

"Aho Shrutgyanam"

स्थण्डिले शेते बालः ॥१३९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—स्थण्डिला०। व्रतीत्यस्यार्थमाह—**तत्र शयनव्रतोऽन्यत्र शयनान्निवृत्त** इति। "अपरिष्कृता भूमिः स्थण्डिलम्"[अभि० ३.४८८.] इति, ततः शेते इत्यस्मिन्नर्थे प्रत्ययः। व्रतं च शास्त्रविहितः स्वीकृतो नियमः। नियमश्चान्यनिवृत्तिफलको भवतीति अन्यत्र शयनान्निवृत्त इति नियमस्वभावलब्धोऽर्थः व्यावर्त्य प्रदर्शयितुं पृच्छति-**व्रतीति किमिति। स्थण्डिले शेते बाल** इति, अत्र बालस्य स्थण्डिलशयनं यादृच्छिकं नियतमिति न भवति प्रत्ययः ॥६।२।१३९॥

संस्कृते भक्ष्ये ॥६।२।१४०॥

संस्कृत इति प्रत्ययार्थः। तस्य विशेषणं भक्ष्य इति। तमेति सप्तम्यन्तात् संस्कृते भक्ष्ये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। सत उत्कर्षाधानं संस्कारः। भ्राष्ट्रे संस्कृता भ्राष्ट्रा अपूपाः। एवं कैलासाः। पात्राः। भक्ष्ये किम्? फलके संस्कृता माला ॥१४०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—संस्कृते०। संस्कृत इत्यस्य कृतसंस्कार इत्यर्थः। संस्कारः कः पदार्थ इत्याह—**सत उत्कर्षाधानं संस्कार** इति। सतो लब्धसत्ताकस्य वस्तुनः उत्कर्षस्य गुणाधिक्यस्याधानं स्थापनं संस्कारशब्दार्थ इति भावः। उभयोः शब्देयोरर्थपरत्वसंभवादनिश्चये आह-**संस्कृत इति प्रत्ययार्थ** इति। संस्कृतस्यानेकप्रकारकत्य संभवेन तद्व्यावर्तकं पदं भक्ष्ये इति। तदाह-**तस्य विशेषणं भक्ष्य** इति। उदाहरति-**भ्राष्ट्रे संस्कृताः, भ्राष्ट्रा अपूपा** इति। पिष्टकनिर्मितं भक्ष्यमपूपः, तस्य लब्धसत्ताकस्य भ्राष्ट्रे शुष्कत्वरूपं गुणमादधति। किलासे संस्कृताः कैलासाः। पात्रे संस्कृताः पात्रा इति।

पदकृत्यमाह—**फलके संस्कृता मालेति**। फलकं काष्ठपट्टिका। अत्रप्रत्ययो नेष्ट इति तद्व्यावृत्तये भक्ष्ये इत्यावश्यकमिति ॥६।२।१४०॥

शूलोखाद् यः ॥६।२।१४१॥

शूलोखाशब्दाभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यां संस्कृते भक्ष्ये यः प्रत्ययो भवति। शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम्। उखायाम् उख्यम् ॥१४१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शूला०। शूलं लौहशलाका, उखा स्थाली। तयोर्मांससंस्कारार्थमुपयोगः प्रसिद्धः ॥६।२।१४१॥

क्षीरादेयण् ॥६।२।१४२॥

क्षीरशब्दात् सप्तम्यन्तात् संस्कृते भक्ष्ये एयण्प्रत्ययो भवति। क्षीरे संस्कृतं भक्ष्यं क्षैरेयम्। क्षैरेयी यवागूः ॥१४२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—क्षीरा०। अन्येऽत्र सूत्रे भक्ष्ये इत्यस्य संबन्धं नेच्छन्ति। ततश्च **क्षैरेयी यवागूरित्यस्य** सिद्धिरिति तेषां मतम्। यवागूर्हि न भक्ष्यमपि तु तरलापन्नत्वात् पेयमिति मन्यन्ते। भक्ष्यस्य चर्वयित्वा गलान्तर्नेयत्वमित्यभिप्रयन्ति। परन्तु कथमपि गलान्तर्नयनमेव भक्षणमिति सामान्यप्रसिद्धिमनुरुध्य स्वमते भक्ष्ये इत्यस्य सम्बन्धः कृत एवेति विज्ञेयम्, स्पष्टमन्यत् ॥६।२।१४२॥

दध्न इकण् ॥६।२।१४३॥

दधिशब्दात् सप्तम्यन्तात् संस्कृते भक्ष्ये इकणप्रत्ययो भवति।

दधि संस्कृतं भक्ष्यं दाधिकम्। ननु च संस्कृतार्थे इकण् वक्ष्यते तेनैव सिद्धम्। न सिद्ध्यति। इह हि तत् संस्कृतं यस्य दधिकृतमेवोत्कर्षाधानम्। इह तु दधि केवलमाधारभूतं द्रव्यमान्तरेण तु लवणादिना संस्कारः क्रियते ॥१४३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—दध्नः। अत्र सूत्रवैयर्थ्यं शङ्कते—**ननु च संस्कृतार्थे इकण् वक्ष्यते** इत्यादिना। "संस्कृते" [६.४.३.] इति सूत्रेण संस्कृतार्थे इकण् सामान्यत एव विधीयते इति तेनैव दधिशब्दादपि भविष्यत्येवेति पुनरिदेकणविधानं किमर्थमिति प्रश्नाशयः। उत्तरयति—**दध्ना हि तत् संस्कृतमिति।** अयमाशयः—तद्धि सूत्रं तृतीयान्तात् संस्कृतेऽर्थे प्रत्ययस्य विधायकम्। तृतीया च तत्र कर्तरि करणे वा वाच्या। तथाहि—यद्दधिकरणकसंस्कारक्रियायुक्तं तदेव तत्र प्रत्ययेन वाच्यम्। तत्र दधिकृतस्योत्कर्षस्याधानं प्रयोगार्थरूपेण प्रतीयते इति। अत्रत्यं भेदमाह—**इह तु दधि केवलमाधारभूतमित्यादि।** अत्र हि दध्नः संस्कारक्रियाधाररूपत्वेनैवोपकारकत्वं, न तु करणरूपत्वेन। संस्कारकरणं तु

"Aho Shrutgyanam"

तत्र लवणादिरेवेति द्वयोः प्रत्ययोरर्थे भेदस्य स्पष्टत्वेन न तेनास्य गतार्थतेति पृथग्विधानमावश्यकमिति ॥६।२।१४३॥

वोदश्वितः ॥६।२।१४४॥

उदश्वित्शब्दात् सप्तम्यन्तात् संस्कृते भक्ष्ये इकण्प्रत्ययो वा भवति । उदकेन श्वयति उदश्वित् । अत एव निर्देशाद् ध्वृदभावः तत्र संस्कृतं भक्ष्यमौदश्वितम् औदश्वित्कम् ॥१४४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वोद० । उदश्वित्शब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—**उदकेन श्वयति** वर्धते इति । उदकपूर्वकात् श्वयतेः क्विप् । ननु क्विपि सति "व्रजादिवचेः किति" [४.१.७९.] इति ध्वृत् कुतो नेति चेदत आह—**अत एव निर्देशाद् ध्वृदभाव** इति सूत्रे निर्दिष्टं पदं निपातनपरं भवतीति शास्त्रकारशैलीसिद्धमिति भावः । उदश्वित् तक्रमुच्यते । **तत्र संस्कृतमित्यर्थे** इकणि आदिस्वरवृद्धौ "ऋवर्णोवर्णदेोसिसु०" [७.४.७१.] इतीकस्येकारलोपे **औदश्वित्कम्** । पक्षे तु औत्सर्गिकेऽणि औदश्वितम् इति ॥६।२।१४४॥

क्वचित् ॥६।२।१४५॥

अपत्यादिभ्योऽन्यत्राप्यर्थे क्वचिद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति ।

चक्षुषा गृह्यत इति चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । रासनो रसः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । उदूखले क्षुण्ण औदूखलो यावकः । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । अश्वैरुह्यते आश्वोरथः । संप्रति युज्यते सांप्रतम्, सांप्रतः ॥१४५॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—क्वचित्० । क्वचिदित्यर्थनिर्देशः । किंशब्दश्चिच्छब्दसाहचर्येणानिर्दिष्टार्थमाह—तथा च पूर्वं पश्चाद्वाऽनिर्दिष्टेऽप्यर्थे यथाविहितं प्रत्यया भवन्तीति लभ्यते । तेन गृह्यते इत्यर्थे तृतीयान्तात् पिष्ट इत्याद्यर्थे सप्तम्यन्तात्, उह्यते इत्याद्यर्थे च तृतीयान्तात् अव्ययेभ्य युज्यते इत्याद्यर्थेऽणूप्रत्ययो भवति । **चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपमित्यादि** सिध्यति । अन्ये च "शेषे" [६.३.१.] इत्यधिकारसूत्रस्य विधिसूत्रत्वं मत्वा एतान् प्रयोगान् साधयन्ति । परे च ग्राह्य-ग्राहकभावादिसंबन्धस्यापि षष्ठ्यर्थत्वाविशेषात् "तस्येदम्" [६.३.१६०.] इति सूत्रेणैव चाक्षुषादिसिद्धिमाहुः । **दृषदि पिष्टाः दार्षदाः सक्तव** इत्यादयश्च "संस्कृते भक्ष्ये" [६.२.१४०.] इत्यनेनापि सिद्धा इत्याहुरिति तेषां मते नैतादृशसूत्रस्यावश्यकत्वमिति । सर्वथा च व्याख्यानविशेषस्याश्रयणीयत्वेन व्याख्यानाद् वरं करणमिति न्यायेनाचार्येण पृथगिदं सूत्रमारब्धमिति प्रतीयते ॥६।२।१४५॥

मृदित्वा दोःकण्डूं समरभुवि वैरिक्षितिभुजां भुजादण्डे दध्रुः कति न नवखण्डां वसुमतीम् । यदेवं साम्राज्ये विजयिनि वितृष्णेन मनसा यशो योगीशानां पिबसि नृप ! तत् कस्य सदृशम् ॥

अन्वयः—कति (नृपाः) समरभुवि वैरिक्षितिभुजां दोःकण्डूं मृदित्वा नवखण्डां वसुमतीं भुजादण्डेन न दध्रुः ? हे नृप ! एवं विजयिनि साम्राज्ये वितृष्णेन मनसा योगीशानां यशः यत् पिबसि तत् कस्य सदृशम् ? ॥

व्याख्या—कति असंख्याता (नृपाः), **समरभुवि** संग्रामे, **वैरिक्षितिभुजाम्** शत्रुभूतभूपानाम्, **दोःकण्डूं** बाहुकण्डूतिं, **मृदित्वा** अपनीय (तान् विजित्येति भावः) **भुजादण्डे** बाहुदण्डोपरि, **नवखण्डां** नवभिरपि भारतादिभिः खण्डैः सहिताम्, **वसुमतीं** पृथ्वीं, **न दध्रुः** न धृतवन्तः अपि तु धृतवन्त एवेति काकुः । हे नृप ! सिद्धराज ! एवं पूर्वोक्तरूपेण शत्रुविजयपूर्वकं प्राप्ते, **विजयिनि** विजययुक्ते, **साम्राज्ये** चक्रवर्तिपदे **वितृष्णेन** उपेक्षायुक्तेन, **मनसा** चित्तेन, **योगीशानां** निःस्पृहाणां योगिश्रेष्ठानां **यशः** कीर्तिं यत् **पिबसि** जयसि तत् परमं निःस्पृहत्वं **कस्य सदृशम्** कस्यापि न तुल्यम् । अपि तु केवलं त्वयेवेदं दृश्यत इति व्यतिरेकालङ्कारध्वनिः ॥

इत्याचार्यश्रीविजयलावण्यसूरिकृते न्यासानुसन्धाने षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

॥ तृतीयः पादः ॥

शेषे ॥६।३।१॥

त० प्र०—अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः शेषेऽर्थे तद् वेदितव्यम् । उपयुक्तादन्यः

"Aho Shrutgyanam"

शेषः । अपत्यादिभ्यः संस्कृतभक्ष्यपर्यन्तेभ्यो योऽन्योऽर्थः स शेषः । तस्येदंविशेषा ह्यपत्यसमूहादयः तेषु वक्ष्यमाणा एयणादयो मा भूवन्निति शेषाधिकारः क्रियते । किञ्च सर्वेषु प्राक् जितात् कृतादिषु वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः यथा स्युः, अनन्तरेणैवार्थनिर्देशेन कृतार्थता मा विज्ञायि इति साकल्यार्थं शेषवचनम् ॥१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शेषे । एकपदस्यास्य सूत्रस्य वाक्यार्थबोधाजनकत्वेन किमर्थमिदमित्याशङ्कायामाह—**अधिकारोऽयमि**ति ।

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
प्रतिषेधोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ।

इत्युक्तदिशाऽधिकारलक्षणं सूत्रमिदमित्यर्थः । अधिकारत्वं नाम स्वदेशे वाक्यार्थबोधाजनकत्वे सति विधिसूत्रैकवाक्यतया बोधजनकत्वम् । 'शेषे' इत्येवमादीनामधिकारसूत्राणां हि स्वदेशे (स्वोच्चारणाधिकरणे) वाक्यार्थबोधो न भवति किन्तु वक्ष्यमाणेषु सूत्रेष्वस्य सम्बन्धेन तेन सूत्रेण सहैव लक्ष्यसंस्कारको वाक्यार्थबोधो जायते । "नद्यादेरेयण्" [६.३.२.] इत्येवमादिषु गत्वा तदाकाङ्क्षार्थसमर्पणेन तदीयवाक्यार्थबोधे सहकारित्वमस्येति भावः ।

ननु यद्यधिकारसूत्रस्य स्वदे शेवाक्यार्थबोधो न भवतीति मन्यते तदानुक्तेषु ग्रहणाद्यर्थेषु प्रत्ययः केन स्यात् ? तथा च चक्षुषा गृह्यते इति चाक्षुषं रूपम्, श्रवणेन गृह्यते इति श्रावणः शब्दः, उपनिषदा गृह्यते इत्यौपनिषदः पुरुषः इत्येवमादयः प्रयोगाः कथं सिध्येयुः, न ह्येवमादिष्वर्थेषु विशिष्य प्रत्ययविधायकं सूत्रान्तरं पठ्यते । अत एव चान्ये पाणिनीयादयो वैयाकरणाः "शेषे" [पा० सू० ४.२.९२.] इति सूत्रं विधिसूत्रत्वेनापि व्याचख्युः । न चैकस्य सूत्रस्य कथं कार्यद्वयकारित्वं स्यादिति वाच्यम्, आवृत्त्याश्रयणात् । ते हि 'शेषे' इत्यावर्तयन्ति । एकस्य चाधिकारत्वमपरस्य विधित्वमिति मन्यन्ते । एवं च तेषां प्रयोगाणां सिद्धयर्थमस्य विधिसूत्रत्वमपीति चेन्न, "तस्येदम्" [६.३.१६०.] इति सूत्रेणैव सर्वेषामुदाहृतसदृशप्रयोगाणां सिद्धेः सम्भवात् उक्तश्चायमर्थः पूर्वमेव । एतच्च 'तस्येदं विशेषा ह्यपत्यसमूहादयः' इति वक्ष्यमाणग्रन्थेनापि ध्वनितम्, न कोऽप्यर्थः 'तस्येदम्' इत्यर्थमतिक्रामति, प्रत्ययेन हि नाम्ना सह सम्बन्धविशेषा एव, येन केनापि रूपेणोच्यन्ते । तस्येति सम्बन्धसामान्यषष्ठ्यर्थे सर्वेषां विशेषाणामन्तर्भूतत्वादिति प्राकरणिकं यत्किञ्चिदेतत् ।

अधिकारत्वे सूत्रार्थः कीदृक् पर्यवस्यतीत्याह—**यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः शेषेऽर्थे तद् वेदितव्यमि**ति । इतः सूत्रादूर्ध्वं ये "नद्यादेरेयण्" [६.३.२.] इत्येवमादयः प्रत्ययविधयो वक्ष्यन्ते ते 'शेषे' अर्थे भविष्यन्तीति भावः । शेषत्वेन कस्याप्यर्थस्यानुक्तत्वात् कथं शेषार्थ इति जिज्ञासायामाह—**उपयुक्तादन्यः शेषः** इति । शिष्यतेऽतिरिच्यते इति शेषः इति व्युत्पत्त्या ये केचिदर्थाः पूर्वं प्रत्ययार्थत्वेनोपयुक्तास्तेभ्योऽतिरिच्यमाणा अर्थाः, इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः शेषत्वेन ज्ञेया इति भावः । उपयुक्तानर्थान् परिचाययति—**अपत्यादिभ्यः संस्कृतभक्ष्यपर्यन्तेभ्य** इति । "ङसोऽपत्ये" [६.१.२८.] इत्यारभ्य "संस्कृते भक्ष्ये" [६.२.१४०.] इति पर्यन्तं येऽर्था उक्तास्त एवोपयुक्ता इति वेद्यं, तदतिरिक्त एव चेह शेषपदार्थ इत्यर्थः ।

अधिकारप्रयोजनमाख्याति—**तस्येदंविशेषा ह्यपत्यसमूहादयः** इत्यादिना । हि यतः अपत्यसमुदायोऽर्थाः 'तस्येदम्' इति सामान्यार्थस्यैव विशेषरूपाः, तेष्वर्थेषु वक्ष्यमाणाः एयणादयः प्रत्यया नद्यादिभ्यो मा भूवन् इति तदर्थं शेषाधिकारः क्रियत इत्यर्थः । ननु यदि अपत्यादिष्वर्थेषु वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः स्युः तर्हि "प्राग्जितादण्" [६.१.१३.] इति प्रकरण एव ञ्यादय इव एयणादयोऽपि पठिता भवेयुः, न च ते तथा पठ्यन्ते, ततो ज्ञायते यत् एतेऽपत्यादिषु न भवन्तीति तदर्थं शेषाधिकारो नावश्यक इति मनसिकृत्य प्रयोजनान्तरमाह—**किञ्चेति** । अयमाशयः—"नद्यादेरेयण्" [६.३.२.] इत्यारभ्य "तत्र कृत-लब्ध-क्रीत-सम्भूते" [६.३.९४.] इत्यतः पूर्वं ये प्रत्यया उच्यन्ते ते कृतार्थादारभ्य जितार्थपर्यन्तं सर्वेष्वर्थेषु स्युः, न केवलं स्वसमीपोच्चारित एवार्थे इति सूचनार्थमपि अधिकारसूत्रमिदमारब्धव्यमिति । यदि च कृताद्यर्थानन्तरमेव "नद्यादेरेयण्" [६.३.२.] इत्यादिसूत्राणां पठनीयत्वेन, ततः पूर्वमेव पाठादेषां प्रत्ययानां वक्ष्यमाणार्थव्यापकता लभ्यत इति न तदर्थं शेषाधिकार आवश्यक इत्युच्यते तर्हि शेषाधिकारः—

"शैषिकान्मतुवर्थीयाच्छैषिको मतुवर्थिकः—
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥"

इति ज्ञापनार्थं इत्युक्तं शब्दकौस्तुभे । पाणिनीये "तदस्यास्त्यस्मिन्०" [पा० सू० ५.२.९४.] इति सूत्रे

"Aho Shrutgyanam"

महाभाष्येऽपि स्थितोऽयमर्थः । मतुबर्थीयो मत्वर्थीयः । शैषिकः प्रत्ययान्तात् शैषिकः प्रत्ययः, मत्वर्थीयप्रत्ययान्तान्मत्वर्थीयः प्रत्ययो नेष्टः, किं पुनरपि शेषेण ? नेत्याह-**सरूप** इति । शैषिकात् सरूप एव शैषिकः प्रत्ययो नेष्टः, एवं मत्वर्थीयात् सरूप एव मत्वर्थीयः प्रत्ययो नेष्टः, विरूपस्तु भवत्येव । एवं सन्नन्तात् पुनः सन् नेष्यते इति कारिकार्थः । अयमभिप्रायः, यथा शालायां भवः शालीय इति भवति तथा शालीये भवमुदकमित्यर्थे पुनरीयो न भवति, शेषाधिकारात् । तथा च स्यानुक्तेऽर्थे शैषिकः प्रत्ययः स्यादित्यर्थे शेषाधिकार इति । एवं गावः सन्त्यस्येति गोमान्, ततः गोमान् अस्त्यस्येत्यर्थे गोमत्शब्दान्मतुर्न भवति, पूर्वेणैव मतुना द्वयोरप्यर्थयोरुक्तत्वस्वीकारात्, पुनर्मत्वर्थविवक्षायां प्रत्ययान्तरं वाक्यमेव वा भवतीति पर्यवसितम् ॥६।३।१॥

नद्यादेरेयण् ॥६।३।२॥

त० प्र०-नद्यादिभ्यो यथासंभवं प्राग्जितीये शेषेऽर्थे एयण् प्रत्ययो भवति । नद्यां जातो भवो वा नादेयः । माहेयः । वानेयः । वन्य इति तु साधौ यः । शेष इति किम् ? नदीनां समूहो नादिकम् ।

नदी मही धाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वनकौशाम्बी वनवासी काशफरी खादिरी पूर्वनगर पूर्वनगरी पुर वन गिरि पुर वनगिरि पूर्वनगिरि पावा मावा माल्वा दार्वा सेतकी सैतवी इति नद्यादिः ।

इतः प्रभृति प्रकृतिविशेषोपादानमात्रेण प्रत्यया विधास्यन्ते तेषां कृतादयोऽर्था विभक्तयश्च परस्ताद् वक्ष्यन्ते ॥२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नद्या० । नदीशब्दमारभ्य पठितो गणो नद्यादिः, न च संपूर्णगणादेयण् भवितुमर्हतीति मत्वा **नद्यादिभ्य** इति बहुत्वेन व्याख्यातम् । तथा च गणपठितशब्दबहुत्वनिबन्धनं बहुवचनमिति प्रत्येकस्मात् प्रत्ययविधिरुपपद्यते । उदाहरति-**नद्यां जातो भवो** वेति । उभयोरर्थयोः सप्तम्या एव समर्थविभक्तित्वेन निर्देशात् । नदीशब्दाद् एयणि आदिस्वरवृद्धौ ईकारलोपे **नादेय** इति । एवं मह्यां जातो **माहेयः**, वने जातो **वानेयः** इति । 'वन्य'शब्दस्यापि वनसम्बन्धिनि जन्तौ पदार्थान्तरे वा प्रयोगस्य बहुलं दर्शनात्, कथं साधुत्वमित्याशङ्क्यायामाह-**वन्य इति तु साधौ यः** इति । तत्र साधुरित्यर्थे वक्ष्यमाणेन यप्रत्ययेन वन्यशब्दस्य सिद्धिः, तस्य चार्थस्य शेषाधिकारबहिर्भूतत्वेन न प्रकृतप्रत्ययप्रवृत्तिरिति भावः । अधिकारसंबन्धप्रयोजनं पृच्छति-**शेषे इति किमिति** ? पूर्वोक्तार्थेऽत्रत्यानां प्रत्ययानिवृत्त्यर्थमेव शेषग्रहणम्, इति प्रत्युत्तरयति-**नदीनां समूहो नादिकमिति** । "कचिद्हस्यचित्ताच्चेकण्" [६.२.१४.] इतीकणेवेह भवति, न तु प्रकृतसूत्रविहित एयणिति भावः । गणं निर्दिशति-**नदी-मही**त्यादिना ।

नन्वनेन सूत्रेण, वक्ष्यमाणैश्चात्रत्यैः सूत्रैः प्रत्ययमात्रविधानं क्रियतेऽर्थविशेषनिर्देशश्च नाश्रीयते इति कस्मिन्नर्थे **एते स्युरिति चेदत्राह-इतः प्रभृतीत्यादि** । इत आरभ्य "तत्र कृतलब्ध" [६.३.९८.] इत्येतत्सूत्रपर्यन्तं प्रकृतिविशेषोपादानमात्रेण केवलं प्रकृतिभूतानामनिर्देशेन प्रत्ययाः विधास्यन्ते, तेषां प्रत्ययानां कृतादयो वक्ष्यमाणा अर्थाः, विभक्तयश्च समर्थविभक्तयश्च तत्रेत्यादिरूपेण सप्तम्यादयः वक्ष्यन्ते । तथा च वक्ष्यमाणेष्वर्थेषु यथायथं नद्यादिप्रकृतिभ्यो यथास्वं प्रत्यया भविष्यन्तीति भावः । अयं चात्र विशेषः-अर्थनिर्देशप्रकरणात् पूर्वं पठिताः प्रत्ययाः परस्ताद् वक्ष्यमाणेषु सर्वेष्वर्थेष्वपि स्युः, परन्तु अर्थनिर्देशप्रकरणे यदर्थाधिकारे यस्याः प्रकृतेर्यः प्रत्ययो विशिष्य वक्ष्यते ततः स प्रत्ययस्तस्मिन्नेवार्थे स्यान्न पूर्वोक्ते वक्ष्यमाणे चार्थे । यथा "कुशले" [६.३.९५.] इत्यर्थाधिकारे पठितः "पथोऽकः" [६.३.९६.] इत्यकः, पथिन्शब्दादेव कुशलेऽर्थे एव च स्यात्, न त्वन्यलाभार्थे इति ॥६।३।२॥

राष्ट्रादियः ॥६।३।३॥

त० प्र०-राष्ट्रशब्दात् प्राग्जितीये शेषेऽर्थे इयः प्रत्ययो भवति । राष्ट्रे क्रीतः कुशलो जातो भवो वा राष्ट्रियः । शेष इत्येव ? राष्ट्रस्यापत्यं राष्ट्रिः ॥३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—राष्ट्र० । राष्ट्रादित्येकवचनेनात्र राष्ट्रशब्दस्य शब्दपरत्वमित्यवगम्यतेऽत आह-**राष्ट्रशब्दादिति** । यद्यर्थपरत्वं स्यात् तर्हि राष्ट्रेभ्य इयः इत्येवावक्ष्यत् । शेषाधिकारसंबन्धप्रयोजनमाह-**राष्ट्रस्यापत्यमिति** । यद्यपि जन्य-जनकभावसंबन्धमूल-

"Aho Shrutgyanam"

कमपत्यमिति अचेतने राष्ट्रे तद्वाधितमिव प्रतिभाति तथापि राष्ट्रशब्दस्य राष्ट्रवासिजनपरत्वेन तादृशजनितस्योपचाराद् राष्ट्रापत्यत्वं प्रसिद्धप्रायमेवेति न दोषः ॥६।३।३॥

दूरादेत्यः ॥६।३।४॥

त० प्र०–दूरशब्दात् शेषेऽर्थे त्यः प्रत्ययो भवति । दूरे भवो दूरेत्यः ॥४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–दूरा० । स्पष्टम् ॥६।३।४॥

उत्तराद्दहञ् ॥६।३।५॥

त० प्र०–उत्तरशब्दाच्छेषेऽर्थे आहञ्प्रत्ययो भवति । औत्तराहः । औत्तराहा स्त्री । औत्तराहीति उत्तराहिशब्दाद् भवार्थेऽणि ॥५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—उत्तरा० । औत्तराहीत्यपि स्त्रियां रूपं श्रूयते तत् कथम् ? आह जन्तस्य स्त्रियां ङ्यादौर्लम्यादित्याशङ्कायामाह–औत्तराहीति उत्तराहिशब्दादिति । नेदमुत्तरशब्दप्रकृतिकं रूपमपि तु उत्तराहीति प्रकृत्यन्तरमेव-प्राय उत्तरदिक्स्थितसर्पवाचकमुत सप्तम्यर्थप्रधानमव्ययं "वोत्तरात्" [७.२.१२१.] इत्याहिप्रत्ययान्तम् । अतस्मादणि, णन्तत्वात् स्त्रियां ङ्यां औत्तराही इति रूपं विज्ञेयमिति भावः ॥६।३।५॥

पारावारादीनः ॥६।३।६॥

त० प्र०–पारावारशब्दाच्छेषेऽर्थे ईनः प्रत्ययो भवति । अवारः समुद्रस्तस्य पारम्, राजदन्तादित्वात् पारावारस्तत्र भवो जातो वा पारावारीणः ॥६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पारा० । पारावारशब्दं व्युत्पादयति—अवारः समुद्र इत्यादिना । न वार्यतेऽन्येनेत्यवारः, स च शब्दः समुद्रे रूढः । तस्य पारमिति षष्ठीसमासे अवारपारमिति प्राप्ते राजदन्तादिगणे पाठात् पूर्वप्रयोगार्हस्य पारशब्दस्य परप्रयोगे पारावारशब्दः साधुः । तस्माद् भवार्थे जातार्थे वा प्रत्ययः–पारावारीण इति ॥६।३।६॥

व्यस्तव्यत्यस्तात् ॥६।३।७॥

त० प्र०–पारावारशब्दाद् व्यस्ताद् विपर्यस्ताच्च ईनः प्रत्ययो भवति । पारीणः । अवारीयः । अवारपारीणः ॥७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—व्यस्त० । व्यस्तो विभिन्न क्षिप्तः, व्यस्तो वैपरीत्येन क्षिप्तः, तदाह-व्यस्ताद् विपर्यस्ताच्चेति । व्यस्तमुदाहरति–पारीण इति । पारावारे भव इत्यस्मिन्नेव विग्रहे केवलं पारावारशब्दादपि, अवारशब्दादपि च प्रत्ययः । तथा च पारावारीण इत्यनेन सहार्थे साम्यमेवेति विज्ञेयम् । विपर्यस्तत्वे तु समानार्थकत्वं स्पष्टमेव । विपर्यासश्च पूर्वप्रयोगविधायकस्य "राजदन्ता०" [३.१.१४९.] इत्यस्य वैकल्पिकत्वेनैव सुलभः । व्यस्तत्वं च विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपाद् देवः, दत्तः, देवदत्त इतिवत् ॥६।३।७॥

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः ॥६।३।८॥

त० प्र०–दिवशब्दात् प्राच् अपाच् उदच् प्रत्यच् इत्येतेभ्यश्चाव्ययानव्ययेभ्यः शेषेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । दिवि भवं दिव्यम् । प्राचि प्राग् वा भवं प्राच्यम् । एवमपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् । दिग्देशवृत्तेः प्रागादेरयं यः कालवृत्तेस्त्वव्ययात् परत्वात् 'सायम्' [६.३.८७.] इत्यादिना तनद् । अनव्ययात् तु 'वर्षाकालेभ्यः' [६.३.७९.] इतीकण् । प्राक्तनम्, प्राचिकमित्यादि ॥८॥

श० म०–न्यासानुसन्धानम्—द्युप्राग० । कृतोत्वस्य दिवूशब्दस्य द्युरिति निर्देशो, न तु शब्दान्तरमेतदिति व्याख्यानेन स्फोरयति—दिवूशब्दादित्यादिना । अव्ययानव्ययेभ्य इति प्रागादीनामुभयविधानां प्रसिद्धेः । प्रागादयः शब्दाः पूर्वं त्रैविध्यं भजन्ते, दिग्वाचिनो देशवाचिनः, कालवाचिनश्चेति । तेषां त्रिविधानामपि द्वैविध्यमव्यया अनव्ययाश्चेति । तत्र दिग्वाचकात् "दिग्देश०" [७.२.११३.] इत्यादिना विहितधाप्रत्ययान्ता अव्ययाः, कृत् प्रत्ययान्ताश्चानव्यया इति । तत्र कथंभूतेभ्यः प्रागादिभ्योऽयं प्रत्यय इति व्यवस्थामाह–दिग्देशवृत्तेः प्रागादेरयं प्रत्यय इति ।

अयमाशयः-दिग्-देशवाचिभ्य उभयविधेभ्यः प्रागादिभ्योऽयं यः तथा च प्राचि देशे प्राग्देशे, प्राचि प्राच्यां वा दिशि, प्रागूदिशि वा भवं प्राच्यम् इत्यादि । कालवाचिनां विषयेऽव्ययानव्ययोर्भिन्नां व्यवस्थामाह—कालवृत्तेस्त्वव्ययादित्यादिना । तथा च प्राक्काले भवमित्यर्थे प्राक्तनमित्येव याऽपेक्षया तनटः परत्वात् तस्यैव प्रवृत्तेः । अनव्ययेभ्यः कालवृत्तिभ्यः प्रागादिभ्यश्च "वर्षा-

"Aho Shrutgyanam"

कालेभ्यः" [६.३.७९.] इतीकणेव परत्वादिति प्राचि काले भवं प्राचिकमित्येवेति ॥६।३।८॥

ग्रामादीनञ् च ॥६।३।९॥

त० प्र०-ग्रामशब्दाच्छेषेऽर्थे ईनञ् चकाराद्यञ् च प्रत्ययौ भवति । ग्रामीणः, ग्राम्यः । अकारः पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः । ग्रामीणा भार्याऽस्य ग्रामीणाभार्यः ॥९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—ग्रामा० । इह ग्रामशब्दादयञीनञ् विधीयते । तत्र च अकार आदिस्वरवृद्ध्यर्थो न भवितुमर्हति, तत्रादेः स्वरस्य स्वत एव वृद्धिरूपत्वादिति तस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्योत्तरयति—अकारः पुंवद्भावप्रतिषेधार्थ इति । अयमर्थः "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतु०" [३.२.५५.] इति सूत्रेणारक्तविकारार्थकवृद्धिनिमित्ततद्धितप्रत्ययान्त—स्त्रीलिङ्गशब्दस्य पुंवद्भावप्रतिषेध उक्तः स्यः, ग्रामीणा भार्या यस्य स ग्रामीणाभार्यः इत्यत्रापि स्यादित्येवमर्थं वृद्धिनिमित्तोऽयं अकारः प्रत्यये संनिवेशित इति ॥६।३।९॥

कत्र्यादेश्चैयकञ् ॥६।३।१०॥

त० प्र०-कत्रि इत्येवमादिभ्यो ग्रामशब्दाच्च शेषेऽर्थे एयकञ् प्रत्ययो भवति ।

काशेयकः पौष्करेयकः । ग्राम, ग्रामेयकः । एवं च ग्रामशब्दस्य त्रैरूप्यं भवति । कत्रि पुष्कर पुष्कल पौदन उम्पि औम्भि कुम्भी कुण्डिना नगर महिष्मती वर्मवती इति कत्र्यादिः । नगरशब्दो महिष्मत्यादिसाहचर्यात् संज्ञायामेकजमुत्पादयति, अन्यत्राणमेव ॥१०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कत्र्या० । कत्रिशब्दो यौगिकः, पुष्करादयो रूढाः । चेन पूर्वसूत्राद् ग्रामशब्दोऽनुकृष्यते । तत्र कुत्सितानि त्रीणि स्थानानि कत्त्रीणि, इति तत्पुरुषः समासः । कुत्सिताख्यो धर्मकामार्था यस्येति बहुव्रीहिणा कत्रिः पुरुषः । इत्युभयविधव्युत्पत्तिसंभवे उभयोरेव ग्रहणमुचितम् । भवार्थेषु तत्पुरुषस्य इदमर्थे च बहुव्रीहेर्योग्यतायाः सत्त्वात् । कत्रिषु भवः, कत्रयाणां कत्रेर्वा अयम् इत्यर्थे काशेयक इति । पुष्करे भवः पौष्करेयकः । पुष्करं कमलं क्षेत्रविशेषश्च । ग्रामे भवः ग्रामेयकः । ग्रामशब्दात् प्रत्ययद्वयस्य पूर्वमप्युक्तत्वेन तस्य शैषिके रूपत्रयं जातमित्याह; एवं च ग्रामशब्दस्य त्रैरूप्यं भवतीति । त्रीणि रूपाण्येव त्रैरूप्यम् मेघजादित्वात्ष्यण् । अत्र गणे नगरशब्देऽपि पठ्यते । ततश्च तस्माच्छैषिके 'नागरेयक' इत्येकमेव रूपं स्यात्; श्रूयेते च नागरः, नागरिके इति रूपे अपीति कथं तदेव्यवस्थेत्याकाङ्क्षायामाह—नगरशब्दो महिष्मत्यादिसाहचर्याद् इत्यादि । महिष्मतीत्यादयः संज्ञाशब्दाः प्रसिद्धाः, इति तत्साहचर्यात् नगरशब्दो यत्र संज्ञाभूततयोपयुज्यते तत्रैव तत एकवत् । अन्यत्रार्थे तु यथाप्राप्तमणूञौ शैषिके । निवासार्थे च इकणपीति नागरनागरिकयोः सिद्धिः । ब्राह्मणपरिशेषे 'नागर' शब्दप्रयोगश्च न शैषिकोऽपि तु देवताद्यर्थाणन्त इति विज्ञेयम् . शैषिकार्थ एव संज्ञानियमस्य युक्तत्वात् ॥६।३।१०॥

कुण्डाद्यादिभ्यो यलुक् च ॥६।३।११॥

त० प्र०-कुण्डाद्यादिभ्यः शेषेऽर्थे एयकञ् प्रत्ययो भवति । तत्संनियोगे यलुक् चैषां भवति । कौण्डेयकः । कौणेयकः ।

कुण्डा कुण्या उख्या भाण्डा ग्रामकुड्या तृण्या सन्या पल्या पुल्या मुल्या इति कुण्डाद्यादिः । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कुण्डाद्यादिभ्यो० । कुण्डमर्हति कुण्डा भूमिः । एवमादिभ्यः शब्देभ्यः शैषिकेऽर्थेऽयं विधिः । कुण्डायां जात इत्यर्थे कौण्डेयक इति । पाणिनीयादौ नायं गणः पठ्यते । कत्र्यादावेव गणसूत्रोणेदशानां यलोपो विधीयते । तत्र चाकृतिगणत्वेनेवेदशशब्दानां संग्रहः । तस्य स्वमतेऽपि सिद्धिमाह—बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थमिति । प्रयोगाननुसृत्येवमादयोऽन्येऽपि शब्दाः सङ्ग्राह्या इति सूचनायैवैकवचनमपहाय बहुवचनं प्रयुज्यत इति भावः ॥६।३।११॥

कुल-कुक्षि-ग्रीवाच्छ्वास्यलङ्कारे ॥६।३।१२॥

त० प्र०-कुल-कुक्षि-ग्रीवा इत्येतेभ्यो यथासंख्यं श्वा-ऽस्यलङ्कारविशिष्टे प्राग्जितीये शेषेऽर्थे एयकञ् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । कुले शुद्धान्वये भवो जातो वा कालेयकः श्वा । कौलोऽन्यः । कौक्षेयकोऽस्यिः । यः कङ्कुकुक्षिर्निर्जीर्णनायसा कृतः । कौक्षोऽन्यः । ग्रैवेयकोऽलङ्कारः । ग्रैवोऽन्यः ॥१२॥

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कुल० । अणोऽपवाद इति । प्राग्जितीयोऽण् सर्वेभ्योऽपि शैषिकेऽर्थे प्राप्त इति तस्यायं बाधकः । सर्वस्यापि क्वचित् कुले जातत्वादाह—शुद्धान्वय इति । यस्य शुन एकजातीयादेव सजातीयायामेव शुन्यामुत्पत्तिः स एवं कौलेयकशब्देनोच्यत इति भावः । कुक्षौ जातः कौक्षेयकोऽस्तिः । अयमपि शब्दो विशिष्टविषय एवेत्याह—यः कङ्ककुक्षिनिर्जीर्णेनायसा कृत इति । अयमभिप्रायः—"लोहपृष्ठस्तु कङ्कः स्यात्" इत्यमरकोशव्याख्यायाम् । वाशोपयोगिपक्षस्य पक्षिविशेषस्य कङ्क इति नामेति दृश्यते । तत्कुक्षिस्थानेऽव्ययः संभाव्यते । तेन पक्षिणा यदि किञ्चिदयो भुक्तम्, तदपि तत्कुक्षौ निर्जीर्णं संभाव्यते । तेनायसा कृतोऽसिस्तत्र जातत्वेन व्यवहर्तुं शक्यते नान्य इति । ग्रीवायां भवः ग्रैवेयकः ।

पातञ्जलमहाभाष्ये तु एतत्सूत्रस्थानीयस्य पाणिनीयसूत्रस्यानतिप्रयोजनत्वमन्यथापि एतत् संज्ञाप्रयोगाणां सिद्धया साधितम् । तच्च स्वमतेऽपि वक्तुं शक्यते । तथाहि "यैयकञावसमासे वा" [६.१.९७.] इति सूत्रेण केवलात् कुलशब्दादपि एयकञ् विहित एवेति स स्वार्थेऽपि प्रयोक्तुं शक्यते एव । कुक्षिशब्दात् "इति-कुक्षि०"[६.३.१३०.] इत्येयण् विहितः, तेन कौक्षेयं संसाध्यास्यर्थे वाच्ये स्वार्थे कना कौक्षेयकसिद्धिः । एवं ग्रीवाशब्दादपि "ग्रीवातोऽण् च" [६.३ १३२.] इत्येयणा ग्रैवेयं संसाध्य ततोऽलङ्कारेऽर्थे स्वार्थे कना ग्रैवेयकशब्दप्रयोगोऽपि सुसाध इति नातिप्रयोजनकमिदं सूत्रम् । तथापि स्पष्टप्रतिपत्तयेऽन्यार्थे प्रयोगाभावाय च सूत्रमिदमिति ज्ञेयम् ॥६।३।१२॥

दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यण् ॥६।३।१३॥

त० प्र०—एभ्यो शेषेऽर्थे त्यण् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । दक्षिणा दिक् तस्यां भवो दाक्षिणात्यः । अथवा दक्षिणस्यां दिशि वसति 'वा दक्षिणात् प्रथमा-सप्तम्या आ' [ ] इत्याप्रत्यये दक्षिणा तत्र भवो दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः, पौरस्त्यः । पश्चात्पुरःशब्दसाहचर्याद् दक्षिणा इति दिक्शब्दोऽव्ययं वा गृह्यते । तेनेह न भवति । दक्षिणायां भवानि दाक्षिणानि जुहोति । अत्र दक्षिणाशब्दो गवादिवचनः । अव्ययादेवेच्छन्त्येके॥१३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—दक्षिणा० । अणोऽपवाद इति । प्राग्जितीयस्येति भावः । दक्षिणाशब्दस्त्रिप्रकारः, सर्वादिर्दिग्गादिर्वाच्येकः, अपरश्च "वा दक्षिणात् प्रथमा सप्तम्या आः" [७.२.११९.] इत्याप्रत्ययान्तो दिग्वाच्येवाव्ययम् । अन्यश्च कर्मान्ते ब्राह्मणादिभ्यो देयस्य द्रव्यस्य वाचक इति । तत्र सर्वनाम्नो ग्रहणमिति मतमाश्रित्य विग्रहमाह—दक्षिणा दिक् तस्यां भव इति । नन्वेवं दक्षिणाशब्दात् सर्वादेस्त्यणि "सर्वादयोऽस्यादौ" [३.२.६१.] इति पुंवद्भावः कुतो नेति चेन्न, "कौण्डिन्यागस्त्ययोः०" [६.१.१२७.] इति सूत्रे कौण्डिन्येति निर्देशेन पुंवद्भावमात्रस्य (सर्वस्य पुंवद्भावस्य) अनित्यत्वज्ञापनात् । यदि च तस्य कौण्डिन्यस्वरूपमात्रनिपातनपरत्वमास्थीयते तदोपायान्तरमाह—अथवा दक्षिणस्यां दिशि वसतीति । आप्रत्ययान्तस्याव्ययस्यास्य स्त्रीत्वाभावेन सर्वादित्वाभावेन च न पुंवद्भावशङ्कादिः । तत्र भव इति सप्तम्यन्तत्वप्रतिपादनाय विग्रहमात्रम्, न त्वस्मात् सप्तमीविभक्तिः संभाव्यतेऽव्ययत्वात् सप्तम्यन्तादपि आप्रत्ययस्य विधानात् तदर्थस्य प्रकृतेरेव प्रतीतेः । पाश्चात्य इति—पश्चाद् भव इति विग्रहः । नन्वेवम्—

"नृपः पुरःस्थैः प्रतिरुद्धवर्त्मा
पश्चात्तनैः कञ्चन नुद्यमानः ।
यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं
लब्ध्वाऽप्यसिद्धार्थममन्यत स्वम् ॥

इति नैषधचरितमहाकाव्यस्थ-श्रीहर्षप्रयोगः कथं संगच्छते ? पश्चाच्छब्दात् त्यणो विधानेन तनटो बाधात् । अयं च श्लोकस्तत्र दमयन्तीस्वयंवराय कुण्डिनपुरं प्रति गच्छतां राज्ञां चेष्टादिवर्णनप्रसङ्गे समागतः । अस्यार्थः—कञ्चन नृपः यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं—यन्त्रे तिलादिपीडनयन्त्रे स्थितो यः सिद्धार्थः सर्षपः तस्य पदे स्थानेऽभिषेकं प्रतिष्ठां लब्ध्वाऽपि स्वम्-आत्मानम् असिद्धार्थम् असफलप्रयोजनम् अमन्यत । तत्र सिद्धार्थपदाभिषेकेऽप्यसिद्धार्थत्वावगतौ हेतुगर्भं विशेषणमाह—पुरःस्थैः अग्रयातैः प्रतिरुद्धवर्त्मा समाक्रान्तमार्गः, पश्चात्तनैः पृष्ठतः समागच्छद्भिश्च नुद्यमानः कृतप्रेरणः नृपः मध्ये पीड्यमानत्वेन यन्त्रे पीड्यमानसर्षपस्य प्रतिष्ठां लेभे । यद्यहमेवमेव मार्गे सीदन् विलम्बितो भविष्यामि, तर्हि ममाग्रतो गतेष्वेव कमपि दमयन्तीं वरयिष्यत्येवेत्यहमसिद्धार्थ एव । कदाचित् स्वयंवरसमये प्राप्तस्यापि मे मार्गे इत्थं कष्ट-

"Aho Shrutgyanam"

मनुभूतक्तः कान्तिरेव नङ्क्ष्यतीत्यतोऽपि न मे वरणस्य संभव इत्यसिद्धार्थत्वागतौ हेतुः । इत्थं च रूपान्तरेण सिद्धार्थमप्यसिद्धार्थमात्मानममन्यतेति विरोधाभासः ।

इति चेद्, अत्र केचिदेवमुत्तरयन्ति–पश्चात् तन्वन्तीत्यर्थे तनोतेरचि पश्चात्तन इति । एषा चागतिकगतिरित्यन्येऽन्ययोत्तरयन्ति–दिगूदेशवाचिनः पश्चाच्छब्दात् त्यणः सावकाशत्वेन, कालवाचिनस्तस्मात् तनट्माहुः । उक्तश्चायमर्थो "द्युप्रागपागु०" [६.२.८.] इति सूत्रे अनुमतश्च वृत्तिकार-न्यासकाराभ्याम् । नन्वत्र पश्चाद्देशस्थत्वस्यापि प्रतीतिर्भवतीति तन्निर्वाहः कथमिति चेत् ? क्वचिद् बाधकविषयेऽप्युत्सर्गस्य प्रवृत्तिस्वीकारात् । अथवा 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्तीत्येव शरणम् ।' **दक्षिणा**शब्दविषये पुनरपि विशेषं वक्तुमुपक्रमते–**पश्चात्-पुरः-शब्दसाहचर्यादित्यादिना** । पश्चात्-पुरःशब्दौ दिगूवाचकावव्यये । ताभ्यां सहचरितो दक्षिणाशब्दोऽपि दिगूवाचकोऽव्ययं गृह्यते, कर्मान्ते कर्मसाङ्गतार्थं दीयमाने द्रव्ये प्रयुक्तो दक्षिणाशब्दस्तु न दिगूवाचको, न वाऽव्ययमिति न तस्य ग्रहणम् । ततश्च न ततः प्रत्यय इति तदाह–**तेन नेह भवति, दक्षिणायां भवानि दाक्षिणानि जुहोतीति** । किमर्थोऽत्र दक्षिणाशब्द इत्याह–**अत्र दक्षिणाशब्दो गवादिवचन** इति । दक्षिणात्वेन प्रदत्तान् गवादीन् वक्तीति तादृश इत्यर्थः । एवं च पश्चाच्छब्दस्यापि दिगूवाचकस्यैव ग्रहणे देश-कालवाचकात् तनटि पूर्वोक्त-श्रीहर्षप्रयोगोऽपि समर्थितो भवति । वस्तुतस्तु पश्चात् पुरःशब्दयोरव्ययोर्दिगूमात्रवाचकत्वे न किमपि प्रमाणम्, देश-कालयोरपि तयोः प्रयोगस्य बहुशो दर्शनात् । तथा च व्याख्यानादेवात्राव्ययस्यैव दक्षिणाशब्दस्य ग्रहणं समर्थनीयम् । तदाह–**अव्ययादेवेच्छन्त्येक** इति । एके पाणिनीयादय इत्यर्थः । तैरत्र तथैव स्वीकारात् । अन्यथा पुंवद्भावस्य दुर्वारता स्यात् । पुंवद्भावानित्यत्वज्ञापकस्य चान्यार्थतायाः पूर्वमुक्तत्वादित्यास्तां प्रपञ्चेन ॥६।३।१३॥

वल्हगूर्दि-पर्दि-कापिश्याष्टायनण् ॥६।३।१४॥

त० प्र०–**बल्हि-ऊर्दि-पर्दि-कापिशी इत्येतेभ्यः शेषेऽर्थे टायनण् प्रत्ययो भवति । बाल्हायनः, बाल्हायनी । और्दायनः, और्दायनी । पर्दायनः, पार्दायनी । कापिशायनं मधु, कापिशायनी द्राक्षा । बह्वीति उष्मोपान्त्यः । केचिदत्र वकारं दीर्घान्तं पठन्ति** ॥१४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**वल्हगूर्दि०** । वल्हिर्देशविशेषः, ऊर्दिः, पर्दिश्च ग्राम्यक्रीडाविशेषः **कापिशी** नामाऽटवी । एतेभ्यः शैषिकेऽर्थे प्रत्ययः । तत्र टित्त्वस्य फलं स्त्रियां ङीरिति पुं-स्त्रियोरुभयोरुदाहरणानि प्रदत्तानि । वल्हिशब्दे मतभेदस्य दर्शनात् तं स्पष्टयति—**वल्हीति ऊष्मोपान्त्य** इति । वल्हिशब्दे ल-ह्योः संयोगो न तु ह-लयोरिति भावः । पाणिनीयादौ वाह्लीति दर्शनादाह—**केचिदत्र वकारं दीर्घान्तमिति** । न केवलमेतावानेव भेदोऽपि तु तत्र लोपान्त्योऽयं शब्दः इह च होपान्त्य इत्यपि विशेषो ज्ञेयः । ईदृशेषु शब्देषु वक्तुरुच्चारणादिकृतो लेखकप्रमादादिकृतोऽपि भेदः संभाव्यते । अव्युत्पन्नेषु शब्देषु वास्तविकस्य रूपस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् ॥६।३।१४॥

रङ्कोः प्राणिनि वा ॥६।३।१५॥

त० प्र०–**रङ्कुशब्दात् प्राणिविशिष्टे शेषेऽर्थे टायनण् प्रत्ययो वा भवति । राङ्कवायणः । पक्षेऽण् । राङ्कवो गौः । प्राणिनीति किम् ? राङ्कवः कम्बलः । मनुष्ये तु प्राणिन्यपि कच्छादिपाठात् 'कच्छादेर्नृस्थे' [६.३.५४.] इति परत्वादकञेव भवति । राङ्कवको मनुष्यः**॥१५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**रङ्कोः०** । रङ्कुशब्दो बहुवचनान्तो जनपद(राष्ट्र)वाची, तस्मात् शेषे प्राग्जितीयोऽण् प्राप्तः, तस्य "बहुविषयेभ्यः" [६.३.४५.] इत्यकञ्बाधकः । तस्य च देशवाचकादुवर्णान्ताद् विधीयमानः विशिष्य विधानात् "उवर्णादिकण्" [६.३.३९.] इतीकण् बाधकः । तद्बाधकः प्रतिपदोक्तः टायनण् अनेन विधीयते, एतदभावे च कच्छादित्वात् "कच्छादेर्नृ-नृस्थे" [६.३.५५.] इति अकञ्, अन्यत्र "कोपान्त्याच्चाण्" [६.३.५६.] इत्यण्, इति व्यवस्था विज्ञेया । रङ्कुषु भवः **राङ्कवायणः । पक्षेऽण्** इति । कच्छादित्वादिति भावः । मनुष्यस्यापि प्राणित्वेन तत्रापि रङ्कवायणः, राङ्कव इति स्यादिति शङ्कानिवारणार्थमाह–**मनुष्ये तु प्राणिन्यपीत्यादि** । परत्वादित्यभ्युच्चयः । वस्तुतस्तु विशेषविहितत्वरूपं प्राबल्यं परत्वापेक्षयाऽपि प्रबलम् । विशेषविहितस्यानवकाशत्वमूलमपवादत्वं प्रसिद्धम् । अपवाद-

"Aho Shrutgyanam"

शास्त्रस्य च— * परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयस्त्वस्य* न्यायनिर्णये सिद्धान्तितत्वात् । तथा च **राङ्कवको मनुष्य** इत्येव ॥६।३।१५॥

क्वेहामा-त्रतसस्त्यच् ॥६।३।१६॥

त० प्र०—क इह अमा इत्येतेभ्यस्त्रतसप्रत्ययान्तेभ्यश्च शेषेऽर्थे त्यच्प्रत्ययो भवति । क्रत्यः । इहत्यः । अमात्यः । तत्रत्यः । यत्रत्यः । ततस्त्यः । यतस्त्यः । कुतस्त्यः । आविश्शब्दादपि कश्चित् । आविष्टयः । चकारस्त्यण्-त्यचोः सामान्यग्रहणाविघातार्थः ॥१६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—क्वेहामा० । क भवः क्रय इत्यादिरूपेण विग्रहः । **आविश्शब्दादपि कश्चित्** इति । "अव्ययात् त्यप्" [पा०सू० ४.२.१०४.] इति सूत्रे महाभाष्ये अत्रेह क तसिनेभ्य एवेति परिगणनं कृतम् । पश्चाच्च आविष्टस्योपसंख्यानमिति वार्तिकं पठितम् । तेन 'आविः' शब्दादपि त्यच् इष्ट इत्यायाति । किन्तु तत्र तस्य छन्दसीत्यप्युक्तमिति लोके तत्प्रयोगाभावः स्वमते च छन्दसो रूपस्याव्याकरणीयतया तत्र कृतमिति न न्यूनता । केचिच्च 'प्रातस्त्य' इत्यपि प्रयोगमिच्छन्ति, तत्साधनाय च पृथग्वचनमारभन्ते । स्वमते च क्वेहामानां सर्वेषामव्ययानामुपलक्षकत्वं स्वीकृत्य तादृशरूपं साधयितुं शक्यते इत्यन्ये व्याख्यातारः । पूर्वोक्तमहाभाष्यरीत्या च नायं प्रयोग इष्ट इत्यायाति ।

ननु त्यणि णकारस्य वृद्ध्यर्थत्वेन तस्य सार्थक्येऽपि त्यचि चकारस्य वैयर्थ्यमेवेति शङ्कायामाह—**चकारस्त्यण्-त्यचोः सामान्यग्रहणाविघातार्थ** इति । अयमाशयः "स्व-शाऽज-भस्त्रा०" [२.४.१०८.] इति सूत्रे त्यप्रत्ययान्तस्य ग्रहणं क्रियते, तत्र च सामान्यतस्त्यण्-त्यचोर्ग्रहणं भवति । असति चकारेऽस्य त्यस्यानुबन्धरहितत्वात् । *निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य* इति न्यायस्यैव तत्र ग्रहणं स्यात्, न सानुबन्धस्य त्यण इति 'पाश्चात्यिका' इत्यादावित्त्वं न स्यात् । अत्र च चकारेऽनुबन्धे विहिते उभयोः सानुबन्धत्वेन तन्न्यायस्यावसराभावादुभयोर्ग्रहणं भवतीति । पाणिनीये चात्र चकारस्थाने पकारः पठ्यते । स्वरे विशेषार्थेऽपि स भवति । स्वमते च स्वरस्याविचार्यत्वेन चकार एव कृतः ॥६।३।१६॥

नेर्ध्रुवे ॥६।३।१७॥

त० प्र०—निशब्दाद् ध्रुवेऽर्थे त्यच्प्रत्ययो भवति । नित्यं ध्रुवम् ॥१७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नेर्ध्रुवे । ध्रुवे देशतः कालतश्चाविचलितेऽर्थे निशब्दादयं प्रत्ययः । नियतं भवं इत्यर्थे नित्यमिति ध्रुवं वस्तु कथ्यते ॥६।३।१७॥

निसो गते ॥६।३।१८॥

त० प्र०—निस्शब्दाद् गतेऽर्थे त्यचप्रत्ययो भवति । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्टयश्चण्डालः ॥१८॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—निसो० । निसिति निपातः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञः । ततो गतेऽर्थे, गतक्रियां प्रत्युपसर्गीभूतादयं प्रत्ययः । विगृह्योदाहरति—**निर्गतो वर्णाश्रमेभ्य** इति—ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राश्चत्वारो वर्णाः ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ्य-संन्यासेति चत्वार आश्रमाः । तेभ्यो बहिष्कृत इत्यर्थः ॥६।३।१८॥

एषमोह्यःश्वसो वा ॥६।३।१९॥

त० प्र०—एषमस्त्र ह्यस्त्र श्वस्त्र इत्येतेभ्यः शेषेऽर्थे त्यच प्रत्ययो वा भवति । एषमस्त्यम्, एषमस्तनम् । ह्यस्त्यम्, ह्यस्तनम् । श्वस्त्यम्, श्वस्तनम् । 'श्वसस्तादिः' [६.३.८३.] **इति इकणपि भवति । शौवस्तिकम्** ॥१९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—एष० । एषमस्-शब्दोऽव्ययम् । अस्मिन् वर्षे इत्यर्थकम् । 'ह्यस्' इति चाव्ययमव्यवहिते गतेऽहनि । श्वस्त्यनागतेऽव्यवहितेऽहनि । तेभ्योऽयं प्रत्ययः शैषिकेऽर्थे । एषमो भवमित्यादिरूपेण विग्रहः । त्यचो वैकल्पिकत्वेन पक्षेऽव्ययनिमित्तस्तनट् । श्वसस्तु त्यजभावपक्षे "श्वसस्तादिः" [६.३.८३.] इति तादिरिकण् वैकल्पिकः । आदिस्वरवृद्धिं बाधित्वा "श्वः पदान्तात् प्रागैदौत्" [७.४.५.] इति औति **शौवस्तिकम्** इति । तदभावपक्षे तनट् **श्वस्तनम्** इति प्रक्रिया ॥ ॥६।३।१९॥

कन्थाया इकण् ॥६।३।२०॥

त० प्र०—कन्था ग्रामविशेषः । कन्थाशब्दात् शेषेऽर्थे इकण्प्रत्ययो भवति । कान्थिकः ॥२०॥

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कन्था० । कन्थाशब्दस्यानेकार्थेषु प्रयोगादत्र ग्राह्यमर्थमाह—**कन्था ग्रामविशेषः** । ग्रामविशेष इत्यस्य ग्रामप्रभेदविशेष इत्यर्थः । तथा हि— यथा गोपालानां ग्रामो घोष इति कथ्यते, शबरादिवन्यमनुष्याणां ग्रामः पल्लीति कथ्यते तथैव कश्चन ग्रामप्रभेदः कन्थाशब्देन कथ्यत इति प्रतीयते । अत एवाग्रे वर्णुदेशस्थकन्थायाः प्रत्ययान्तरं विधीयते । नहि एकनामक एव ग्रामः प्रतिदेशे सम्भाव्यते । बालमनोरमायां वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी-टीकायां तिर्यक्स्यूतबहुवस्त्रसमूह कन्थेत्युक्तम् । देशविशेष इत्यपि कश्चिदिति तत्रैवोक्तम् । अमरकोशटीकायां तु कन्थाशब्दनिरूपणे "कन्था मृण्मयभित्तौ स्यात् तथा प्रावरणान्तरे" इति मेदिनीकोशः प्रमाणत्वेनोपन्यस्तः । एतदर्थद्वयमेव शब्दस्तोममहानिधौ कन्थाशब्दे उक्तम् । ग्रामविशेषार्थस्तु यद्यप्यन्यत्र क्वापि नोपलभ्यते तथापि आचार्यप्रामाण्यात् 'देशविशेषः' इति बालमनोरमोक्त्यनुवादाच्च तदर्थसत्ताऽवधारणीया । लोके च जीर्णवस्त्रखण्डसमूहनिर्मितप्रावरण एव "रथ्याकर्पटविरचितकन्थः" इत्यादिप्रकरणात् कन्थाशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते । कन्थायां भव इति विग्रहे **कान्थिक** इति ॥६।३।२०॥

वर्णावकञ् ॥६।३।२१॥

त० प्र०—वर्णुर्नाम ह्रदः । तस्य समीपो देशोऽपि वर्णुः, तत्र या कन्था ततः शेषेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति । इकणोऽपवादः । कान्थकः ॥२१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वर्णा० । कन्थाया इति सम्बध्यते । तस्य च वर्णावित्यनेनान्वयद्योतनार्थं वर्णुशब्दार्थमाह—**वर्णुर्नाम ह्रद** इति । शब्दकौस्तुभे तु वर्णुनाम नद इत्युक्तम् । काशिकायामपि तदेवोक्तम् । शब्देन्दुशेखरे च वर्णुः सिन्धुनद इत्युक्तम् । पूर्वोक्तग्रामविशेषार्थकस्य कन्थाशब्दस्य ह्रदार्थकेन वर्णुना नान्वयः सम्भवतीति तदर्थं विशेषतो ग्राहयति—**तस्य समीपदेशोऽपि वर्णुः** इति । प्रसिद्धवस्तुसांनिध्याद् देशविशेषस्य नाम ख्यातं भवतीति लोके दृष्टत्वात् तत्समीपदेशे वर्णुपदस्य निरूढा लक्षणेति भावः । वर्णोः अदूरभवो देश इत्यर्थे "निवासादूरभव इति देशे नाम्नि" [६.२.६९.] इत्यणन्तत्वे संभाविते व्याकरणान्तररीत्या तस्य लुपा प्रयोगः, स्वमते चास्यापि शब्दस्य देशविशेषवाचित्वं स्वभावत एवेत्याश्रित्य न तथा प्रत्ययोत्पत्तिलुबादिविधानावश्यकतेति, पूर्वपादे विचारितत्वाद् वर्णुर्देशोऽपि । **तत्र** देशे **या कन्था ग्रामविशेषस्ततोऽयं प्रत्ययः** । **इकणोऽपवाद** इति सामान्येन पूर्वसूत्रेण विहितस्यानेन विशेषसूत्रेण बाध इति भावः । तथा वर्णुदेशीयकन्थायां भव इति विवक्षायां कान्थिक इति न भवति, अपि तु **कान्थक** इत्येवेति ॥६।३।२१॥

रूप्योत्तरपदारण्याणः ॥६।३।२२॥

त० प्र०—रूप्योत्तरपदादरण्यशब्दाच्च शेषेऽर्थे णः प्रत्ययो भवति । वार्करूप्यः, वार्करूप्या । शैविरूप्यम्, शैवरूप्यम् । आरण्यः सुमनसः । आरण्याः पशवः । माणिरूप्ये जातो माणिरूप्यक इत्यत्र तु दुसंज्ञकत्वेन परत्वात् 'प्रस्थपुर०' [६.३.४२.] इत्यादिना ञ्योपान्त्यलक्षणोऽकञ्रेव भवति । अन्तग्रहणेनैव सिद्धे उत्तरपदग्रहणं बहुप्रत्ययपूर्वनिवृत्त्यर्थम् । बाहुरूप्यी ॥२२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—रूप्यो० । 'रूप्य'-शब्द उत्तरपदं यत्र तादृशान्नाम्नोऽरण्यशब्दाच्च शैषिकेऽर्थेऽयं प्रत्ययः । वृकरूप्ये भवः इत्यादिरूपेण विग्रहः । अरण्ये भवा इत्यर्थे **आरण्या** इति । मनुष्येऽर्थे प्रत्ययान्तरस्य विधीयमानत्वेन सुमनसः पशव इति च विशिष्य प्रयोगो दर्शितः । माणिरूप्यशब्दस्यापि रूप्योत्तरपदत्वेन ततोऽप्ययमेव प्रत्ययः स्यादित्याङ्कायामाह—**माणिरूप्ये जात** इत्यादिना ।

अयमाशयः-एतत्सूत्रस्थरूप्योत्तरपदांशस्य "प्रस्थपुर०" [६.३.४२.] इति सूत्रस्थयोपान्त्यांशस्य च परस्परं पृथक् पृथक् लब्धावकाशत्वम् । नहि सर्वत्र योपान्त्येऽस्य सूत्रस्य प्राप्तिः रूप्योत्तरपदेष्वेव प्रवृत्तेः, एवं नहि सर्वत्र रूप्यान्ते तस्य प्राप्तिः दोरेव योपान्त्यात् तेनाकञो विधानात् । इह च माणिरूप्यशब्दे रूप्योत्तरपदत्वमपि योपान्त्यदुसंज्ञकत्वमपीति तयोरुभयोः सूत्रयोः प्राप्तिरिति स्पर्धः स्पष्टः, तत्र च "स्पर्द्धे" [७.४.१११.] इति परिभाषासूत्रेणैव निर्णय इति परत्वाद् योपान्त्यलक्षणोऽकञेव भवति इति माणिरूप्यक इत्येवं रूपं भवतीति ।

ननु 'रूप्यान्तारण्याणः' इत्येव सूत्रमस्तु उत्तरपदग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, प्रशस्तं रूपमस्येत्यर्थे रूपशब्दात् रूपात् प्रशस्ताहतात्" [६.२.५४.] इति यप्रत्यये

"Aho Shrutgyanam"

रूप्य इति, ईषदूनो रूप्यो 'बहुरूप्य' इति "नाम्नः प्रागूबहुर्वा" [७.३.१२.] इति बहुप्रत्यये प्रागूविहिते सति भवति। अयमपि च रूप्यान्तः इति तस्मादपि णः स्यात्। तथा च तदन्तस्य स्त्रियां ङीर्न स्यात्। इष्यते त्वण्, तेन **बाहुरूप्यी** इति भवति। तदेतदाह **अन्तग्रहणेनैव सिद्धे उत्तरपदग्रहणं बहुप्रत्ययपूर्वनिवृत्त्यर्थमिति** ॥६।३।२२॥

दिक्पूर्वपदादनाम्नः ॥६।३।२३॥

त० प्र०–**दिक्पूर्वपदादनाम्नोऽसंज्ञाविषयाच्छेषेऽर्थे णः प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। पौर्वशालः, पौर्वशाला। आपरशालः, आपरशाला। अनाम्न इति किम्? पूर्वेषुकामशमी नाम ग्रामः। तस्यां भवः पूर्वेषुकामशमः। एवमपरेषुकामशमः। पूर्वकार्ष्णमृत्तिका। अपरकार्ष्णमृत्तिका। 'प्राग्ग्रामाणाम्' [७.४.१७.] इत्युत्तरपदवृद्धिः** ॥२३॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्–दिक्०**। अनाम्न इति नाम्न एव विशेषणम्। तस्य व्याख्यामाह–**असंज्ञाविषयादिति**। संज्ञाविषयभूतो यो दिक्पूर्वपदशब्दस्तन्न स्यादिति यावत्। **अणोऽपवाद** इति। स्वाभाविकस्य शैषिकस्याण इति भावः। णाणोः रूपे स्त्रियां विशेषो भवतीति स्त्रीलिङ्गरूपाण्प्युदाहरति। पूर्वस्यां पूर्वदिक् स्थितायां शालायां भव इति विग्रहे "दिगधिकं संज्ञा०" [३.१.९८.] इति समासे सति प्रत्ययोत्पत्तिः। स्त्रियामाप् **पौर्वशालेति**। **अनाम्न इति किमिति**। दिक्पूर्वपदस्य शब्दस्यावध्यपेक्षया प्रयोगान्नामत्वासंभव इति विशेषणमिदमव्यावर्तकमित्यभिमानेन प्रश्नः। अस्ति तादृशं नाम (संज्ञाबोधकं पदं) प्रसिद्धमित्याशयेन प्रत्युदाहरति–**पूर्वेषुकामशमीनाम ग्राम** इत्यादिना। तथाऽत्र पूर्वा पूर्वदिग्भवा या इषुकामशमीति विग्रहः। तथा च दिक्पूर्वपदसंज्ञात्वमिति स्पष्टम्। अत्र भवार्थे णः, **"प्राग्ग्रामाणाम्"** [७.४.१७.] **इत्युत्तरपदवृद्धिः** ॥६।३।२३॥

मद्रादञ् ॥६।३।२४॥

त० प्र०–**मद्रान्ताद् दिक्पूर्वपदाच्छेषेऽर्थेऽञ्प्रत्ययो भवति। पूर्वेषु मद्रेषु भवः पौर्वमद्रः, पौर्वमद्री। 'बहुविषयेभ्यः' [६.३.४४.] इत्यकञ प्राप्तस्तदपवादे 'वृजिमद्राद् देशात्कः' [६.३.३७.] इति के प्राप्तेऽञ्वचनम्। केवलादेव मद्रादकञ्कविधिरिति चेत् तर्हीदमेव ज्ञापकं सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्येति तदन्तविधेः। तेन सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्धपाञ्चालकः, पूर्वपाञ्चालकः। अपरपाञ्चालकः, सुमागधकः, सर्वमागधकः, सुवृजिकः, समुद्रकः इत्यादि सिद्धम्** ॥२४॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्–मद्रा०**। दिक्पूर्वपदादित्यनुवर्तते। मद्रशब्दस्योत्तरपदत्वं दिक्पूर्वपदत्वे स्पष्टमिति समुदायस्य मद्रान्तत्वं "विशेषणमन्तः" [७.४.११३.]इति परिभाषया लब्धम्। तदाह–**मद्रान्ताद् दिक्पूर्वपदादि**त्यादिना। उदाहरति–**पूर्वेषु मद्रेषु भव** इति। पूर्वशब्दः पूर्वदिग्भवार्थः। ननु कोऽर्थोऽनेन सूत्रेण यावता शैषिकेणाणैव पौर्वमद्र इत्यादीनां सिद्धिः स्यादेवेत्याशङ्क्य समाधातुमाह–**"बहुविषयेभ्यः"[६.३.४५.] इत्यकञ् प्राप्त** इत्यादिना। अयमाशयः–मद्राणां निवासभूते देशे बहुवचनान्तो मद्रशब्दः, तस्माच्छैषिकेऽर्थे सामान्यविहितमणं बाधित्वा "बहुविषयेभ्यः" [६.३.४५.] इत्यकञ् प्राप्तः। ततोऽपि विशेषविहितत्वेन "वृजिमद्राद् देशात्०" [६.३.३८.] इति कः प्राप्तः, दिक्पूर्वपदमद्रान्तात् प्रत्ययविधायकत्वेनायं ततोऽपि विशेषविधिः इति तं प्रबाध्यायं प्रवर्तत इत्यञ् भवति। अन्यथा पूर्वमद्रक इत्येव स्यात्, न तु पौर्वमद्र इति।

ननु "बहुविषयेभ्यः [६.३.४५.], "वृजिमद्राद् देशात्कः" [६.३.३८.] इति च सूत्रद्वयं केवलान्मद्रशब्दादेव प्रत्ययं विधास्यति, पूर्वमद्रशब्दात् तु शैषिकोऽणेव भविष्यतीत्यञो विशिष्यविधानं व्यर्थमेवेति शङ्कते–**केवलादेव मद्रादकञ् कविधिरिति चेदि**ति। उत्तरयति–**तर्हीदमेव ज्ञापकं सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्येति तदन्तविधेरि**ति। पूर्वोक्तरीत्या व्यर्थीभूतं सूत्रमिदं दिक्पूर्वादपि मद्रात् तदन्तविधिना प्रत्ययोत्पत्तिज्ञापनद्वारा एकदेशानुमत्या *सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य* इति तदन्तविधिविधायकन्यायं ज्ञापयतीति भावः। तथा च दिक्पूर्वपदान्मद्रान्तादपि "बहुविषयेभ्यः" [६.३.४५.] "वृजि-मद्रदेशात् कः" [६.३.३८.] इत्यनयोः प्राप्तिसंभवात् पूर्वमद्रकः, पौर्वमद्रक इत्यनयोरापत्त्या तद्वारणाय सूत्रमिदं स्वांशे चरितार्थम्। केवलं

स्वचारितार्थ्याय ज्ञापनं तु न शास्त्रकृत् सम्मतमिति तस्या-न्यत्रापि फलं दर्शयति–तेन सुपाञ्चालक इत्यादि। पूर्वोक्त-ज्ञापनादेव सुपूर्वात् सर्वपूर्वाद् अर्धपूर्वाद् दिक्पूर्वाच्च पञ्चालशब्दात् "बहुविषयेभ्यः" [६.३.४५.] इत्यकञ् सिद्धः। अन्यथा पञ्चालशब्दस्यैव बहुविषयदेशवाचित्वेन स्वादिपूर्वस्य तदन्तस्य तत्र ग्रहीतुमशक्यत्वेनोक्तप्रयोगेषु अकञ् न स्यात्। एवं सुवृजिकः सुमद्रक इत्यत्र "वृजि मद्रदेशात् कः" [६.३.३८.] इति कोऽपि तदन्तविधि-सत्त्वादेव भवतीति। अत्रायं विशेषः–मद्रशब्द इह देशवाच्येव गृह्यते, व्याख्यानाद् दिक्पूर्वपदत्वयोग्यत्वाच्च। नहि क्षेमपर्यायमद्रशब्दस्य दिग्वाचकेन सह समासः संभवति वैयधिकरण्यात्। मद्रशब्दश्च मद्रैकदेशेऽपि वर्तते, अन्यथा दिक्शब्देन सामानाधिकरण्यमेव न स्यादिति तद्धितार्थे समासो न स्यात्। एकदेशेऽपि मद्रशब्दप्रयोगाच्च पूर्वेषु मद्रेषु भव इति सामानाधिकरण्यं भवति। पाणिनीये तन्त्रे च "मद्रेभ्योऽञ्" [पा०सू० ४.२.१०८] इति सूत्रे बहुवचननिर्देशेन देशवाचकस्यैव ग्रहणमिति साधितं शब्दकौस्तुभादौ। स्वमते चायमर्थो दिक्पूर्वपदादित्युक्तया-ऽपि लभ्य इत्युपपादितं पूर्वमेवेति ॥६।३।२४॥

उदग्ग्रामाद् यकृल्लोम्नः ॥६।३।२५॥

त० प्र०–उदग्ग्रामवाचिनो यकृल्लोमनशब्दा-च्छेषेऽर्थेऽञ्प्रत्ययो भवति। याकृल्लोमः। उद-ग्ग्रामादिति किम्? अन्यस्मादणेव। याकृल्लो-मनः। यकृल्लोम्न इति किम्? प्रेक्षिणि भवः प्रैक्षिणः। कोष्टिन्यां भवः कौष्टिनः ॥२५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—उद्०। उदीच्यां दिशि स्थितो ग्राम उदग्ग्रामः, तद्वाचकाद् यकृल्लोमन्शब्दा-दित्यर्थः। यकृति लोमानि यस्येति यकृल्लोमा नाम कश्चि-दुदग्ग्रामः। तत्र जात इत्यर्थेऽञि आदिस्वरवृद्धौ अन्यस्वरादिलोपे याकृल्लोम इति। उदग्ग्रामग्रहणस्य फलमाह–**अन्यस्मादणेवेति**। उदग्ग्रामादन्यवाचिनो-ऽस्माच्छब्दात् स्वाभाविकोऽणेव भवतीति तत्रान्यस्वरादि-लोपस्य "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इति प्राप्तस्य "अणि" [७.४.५२.] इति निषेधे **याकृल्लोमन इत्येव** भवति। **यकृल्लोम्न इति किमिति**। सामान्यत उदग्ग्रामवाचिनोऽञ् विधीयतामिति भावः। प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति–**प्रेक्षिणि भव** इत्यादिना प्रेक्षी, कोष्टिनी चोदग्ग्रामौ, ततोऽणि "संयोगादिनः" [७.४.५३] इत्यन्त्यस्वरादिलोपनिषेधे **प्रैक्षिणः, कौष्टिन** इति भवति, अञि तु प्रैक्षः, कौष्ट इति स्यादिति तदर्थं यकृल्लोमग्रहणं सार्थकम् इति भावः ॥६।३।२५॥

गौष्टी-तैकी-नैकेती-गोमती-शूरसेन-वाहीक-रोमक-पटच्चरात् ॥६।३।२६॥

त० प्र०–गौष्टयादिभ्यः शेषेऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। गौष्टः। तैकः। नैकतः। एभ्यो वाहीक-ग्रामलक्षणयोर्णिकेकणोस्तैक्याः कोपा-न्त्यलक्षणस्येयस्य चापवादः। गौमतः। अस्मि-न्नीलक्षणस्याकञः। शौरसेनः। अत्र राष्ट्राकञः। वाहीकः। रौमकः। अत्र दुलक्षणस्येयस्य। पाटच्चरः। अत्र रोपान्त्यलक्षणस्याकञः। एके तु गौष्टीस्थाने गोष्टीं, तैकीस्थाने तैकीं, नैवीं च पठन्ति ॥२६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गौष्टी०। गौष्टी तैकी–नैकेती–गोमती–शूरसेन–वाहीक–रोमक–पट्चर इत्येते शब्दा गौष्टयादयः, तेभ्योऽञ्प्रत्ययः शैषिकेऽर्थे विधीयते अग्रे पठ्यमानमतान्तरीयपाठभेदप्रदर्शकग्रन्थेन चैषां स्वकीयपाठेऽपि भेदः प्रतीयते, स चाग्रे निरूपयिष्यते। एभ्योऽणापि रूपसिद्धौ सत्यां किमर्थमञ् विधीयते इत्या-शङ्कायां प्रत्येकं बाधक-बाधनार्थत्वं व्याख्यास्यति। गौष्ट्यां तैक्यां नैकेत्यां भव इति विग्रहः। एभ्यः कः प्रत्ययः प्राप्त इत्याह—**एभ्यो वाहीकग्रामलक्षणयोः णिकेकणोः तैक्याः कोपान्त्यलक्षणस्येयस्य चेति**। त्रयोऽप्येते वाहीकग्रामवाचिनस्तेषु गौष्ट्याः, नैकत्याश्च "वाहीकेषु ग्रामात्"[६.३.३६.] इति णिकेकणौ, तैक्याश्च विशिष्य "क-खोपान्त्य-कन्था०" [६.३.५९.] इतीयश्च प्राप्त इति तान् प्रबाध्यानेनाञ् भवतीत्यर्थः। गोमत्यां भव गौमतः। किमत्र बाध्यते इत्याह–**अस्मिन् ईलक्षणस्याकञ** इति। "ईतोऽकञ्" [६.३.४१.] इत्यग्रे विधीयमानस्येत्यर्थः। शूरसेनेषु भवः इत्यर्थे शौरसेनः। अत्र कः प्रत्ययो बाध्य इत्याह–**अत्र राष्ट्राकञ** इति। "बहुविषयेभ्यः" [६.३.४५.] इति सूत्रेण विधीयमानस्याकञ इत्यर्थः। वाहीकेषु भवः **वाहीकः**, रोमके भवः **रोमकः**। अत्र बाध्यमाह–**अत्र दुलक्षणस्येयस्य** इति। वाहीकः स्वत एव दुसंज्ञः, तस्मात् पुरुषवाचिनः "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयः प्राप्तः, देशवाचिनस्तु "क-खोपान्त्य०" [६.३.५६.]

"Aho Shrutgyanam"

इतीयः प्राप्तः। रोमकस्तु देशवाच्येव दुसंज्ञः, "प्राग्देशे" [६.१.१०.] इति सूत्रेणेति तस्मात् कोपान्त्यलक्षण ईयः। उभावपीयौ दुसंज्ञकादेव विहिताविति सामान्येन दुलक्षणस्येयस्येत्युक्तम्। पट्चरे भवः **पाटच्चरः**। अत्र "रोपान्त्यात्" [६.३.४२.] इत्यकञ् प्राप्तः, तं प्रबाध्यायं भवतीत्याह-**अत्र रोपान्त्यलक्षणस्याकञ इति**। अत्र सूत्रे पाठभेदमाह-एके तु **गौष्ठीस्थाने** इत्यादि। सूत्रे "गौष्टा" इति टोपान्त्यपाठः, इह च ठोपान्त्यपाठः स्वीक्रियते। **तैकीस्थाने तैकीं, नैवीं चेति**। अत्रोभयत्रापि "तैकी' इत्येव ऐकारविशिष्टः पाठो दृश्यते मुद्रितपुस्तके तत्र को भेद इति न निश्चीयते, नैवीति चाधिकं पठ्यते एकैरिति तु भेदः स्पष्टः ॥६।३।२६॥

शकलादेर्यञः ॥६।३।२७॥

त० प्र०-शकलादिभ्यो यञन्तेभ्यः शैषेऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। ईयस्यापवादः। गर्गादेरन्तर्गणः शकलादिः। शकलस्यापत्यं वृद्धं शाकल्यः, तस्य छात्राः शाकलाः। एवं काण्ठाः। गौकक्षाः। वामरथाः। यञ इति किम्? शकलो देवताऽस्य शाकलः, तस्येदं शाकलीयम्। कण्ठादागतः काण्ठः, तस्य छात्राः काण्ठीयाः ॥२७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शक०। यञ्प्रत्ययस्तेन तदन्तग्रहणम् *प्रत्ययग्रहणे स यस्माद् विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्* न्यायेन "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" [७.४.११५.] इति परिभाषासूत्रेण वा तदन्तग्रहणात् यञन्तेभ्य इत्यर्थो लभ्यते तदाह—**शकलादिभ्यो यञन्तेभ्य इति। ईयस्यापवाद** इति। यञन्तामेषां आदिस्वरवृद्ध्या दुसंज्ञकत्वेन "दोरीयः" [६.३.३२.] इति प्राप्तस्येति भावः। यञन्तत्वमुपपादयितुमाह-**गर्गादेरन्तर्गणः शकलादिः** इति। गर्गादिगण एवान्तर्भूतः शकलादिगण इत्यर्थः। ततश्च "गर्गादेः" [६.१.४२.] इति यञ् सिद्ध इति भावः। विग्रहोदाहरति—**शकलस्यापत्यं वृद्धमि**त्यादिना। यञ इति किमिति। शकलादीनां वृद्धापत्यार्थद्वारैवार्थान्तरेण सम्बन्ध इति गर्गादिपाठाद् यञन्तेभ्य एवैभ्यः शैषिके प्रत्ययः स्यादित्यभिमानेन प्रश्नः। केवलं युवापत्यार्थप्रत्ययविषय एवासौ नियमो नान्यत्रेति देवताद्यर्थकप्रत्ययान्तादपि अञ् स्यादित्याशयेन प्रत्युदाहरति-**शकलो देवताऽस्ये**त्यादिना। देवतार्थे आगतार्थे चार्णं विधाय तदन्तात् पुनस्तस्येदमर्थविवक्षायां "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीय एव भवति, नानेनाञ् इति भावः। यञो ग्रहणाभावे च स दुर्वार इति यञ्ग्रहणमावश्यकमिति ॥६।३।२७॥

वृद्धेञः ॥६।३।२८॥

त० प्र०-वृद्धे य इञ् विहितस्तदन्ताच्छेषेऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। ईयस्यापवादः। दक्षस्यापत्यं वृद्धं दाक्षिस्तस्य छात्राः दाक्षाः। प्लाक्षाः। वृद्धेति किम्? सुतंगमेन निर्वृत्ता सौतंगमी नगरी, तस्यां भवः सौतंगमीयः। शालङ्केरपत्यं युवा शालङ्किः। 'यञिञः' [६.१.५४.] इत्यायनणः पैलादिपाठाल्लुप्। तस्य छात्राः शालङ्का इत्यत्र तु आयनणि लुप्ते यद्यपीञन्तं यूनि वर्तते तथापीञ् वृद्ध इत्यञेव भवति ॥२८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वृद्धेञः। वृद्धे इञ् वृद्धेञ् तस्माद् इत्येवं व्याख्याने सप्तम्या द्विधा सम्बन्धः संभाव्यते विद्यमानक्रियया विहितक्रियया च तयोर्मध्ये प्रकृते विहितक्रिययैव सम्बन्धो न तु विद्यमानक्रिययेत्याशयेन व्याख्याति-**वृद्धे य इञ् विहित** इति। एतत्फलमग्रे स्फोरयिष्यति। **ईयस्यापवाद** इति। "दोरीयः" [६.३.३२] इति प्राप्तस्येति भावः। उदाहरति-**दक्षस्यापत्यं वृद्धमि**त्यादिना। अत्र "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञ्, आदिस्वरवृद्ध्यादौ दाक्षिरिति। तस्य छात्रा इत्यर्थे "दोरीयः" [६.३.३२] इतीये प्राप्तेऽनेनाञ् दाक्षा इति। एवं प्लाक्षा इत्यपि। **वृद्धे इति किमि**ति। इञः प्रायो वृद्धेऽर्थे एव विधानात् प्रश्नः। न केवलं वृद्धेऽर्थे एवेञ् विधीयतेऽपि त्वन्यत्रापीति प्रत्युदाहरति-**सुतङ्गमेन निर्वृत्ते**त्यादिना। चतुरर्थी "सुतङ्गमादेरिञ्" [६.२.८५] इतीञ् विहितः। तस्यां नगर्यां भव इत्यर्थे "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीय एव भवति, नानेनाञ् इति, तदर्थं वृद्धग्रहणमावश्यकमिति विहितविशेषणत्वेन व्याख्यानस्य फलमाह-**शालङ्केरपत्यं युवा शालङ्किरि**ति। अत्र शालङ्कशब्दात् "वृद्धाद् यूनि" [६.१.३०.] इति नियमात्, पूर्वं वृद्धेऽर्थे इञ् विधीयते, ततः "यञिञः" [६.१.५४] इति युवापत्ये आयनण्, तस्य "पैलादेः" [६.१.१४२.] इति लुपि शालङ्किरित्येव तिष्ठति। अत्रेञन्तमेव युवापत्यार्थे वर्तमानम्, इति तस्य छात्रा इत्यर्थेऽनेनाञ् एव भवति, न त्वीयः, इञो यून्यर्थे

"Aho Shrutgyanam"

विद्यमानत्वेऽपि वृद्धार्थ एव विहितत्वात् । विहितार्थाश्रयणाभावे च 'पाणिनीय' इत्यादाविवेहापि ईय एव स्यान्न त्वञ् इत्याशयः ॥६।३।२८॥

न द्विस्वरात् प्राग्भरतात् ॥६।३।२९॥

त० प्र०–**प्राच्यगोत्रवाचिनो भरतगोत्रवाचिनश्च नाम्नो वृद्धेऽन्ताद् द्विस्वरादञ् प्रत्ययो न भवति । पूर्वेण प्राप्तस्य प्रतिषेधः । प्राचः चैङ्कीयाः । पौष्पीयाः । चिङ्ग-पुष्पशब्दावाबन्तावपि तत्र बाह्वादित्वादिञ् । भरतात्, काशः काशीयाः । वाशः वाशीयाः । द्विस्वरादिति किम् ? पान्नागारे च्छात्राः पान्नागाराः । मान्थरेषणाः । प्राग्भरतादिति किम् ? दाक्षाः । प्लाक्षाः । प्राग्ग्रहणे भरतानां ग्रहणं न भवतीति स्वशब्देन ग्रहणम् ॥२९॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**न द्वि०** । प्रागिति पदं न भरतानां विशेषणमपि तु स्वतन्त्रमेवेत्याशयेन व्याचष्टे **–प्राच्यगोत्रवाचिनो भरतगोत्रवाचिनश्चेति । पूर्वेण प्राप्तस्य प्रतिषेध** इति । पूर्वसूत्रं "वृद्धेऽञः" [६.३.२८.] इति सामान्यत एव सर्वस्माद् वृद्धार्थेऽन्तादञो विधायकमिति प्राच्यगोत्रवाचिनो भरतगोत्रवाचिनश्च वृद्धेऽन्तादपि प्राप्त इति तस्यायं प्रतिषेध इति भावः । प्राग्गोत्रवाचिन उदाहरति–**प्राच** इति प्रकृत्य । चिङ्गस्य चिङ्गाया वा गोत्रापत्यमित्यर्थे "बाह्वादिभ्यो गोत्रे" [६.१.३२.] इतीयं प्रबाध्य पूर्वसूत्रेणाञ् प्राप्तस्यानेन निषेधे ईय एव भवतीति **चैङ्कीया** इति । एवं **पौष्पीया** इत्यपि । अत्रेञ्विधायकसूत्रस्य निर्णयार्थमाह—**चिङ्ग-पुष्पशब्दावाबन्तावपीति** । आबन्तात् "अत इञ्" [६.१.३१.] इत्यस्याप्राप्तेरस्य बाह्वादित्वमाश्रित्येञ् विधेय इति भावः । भरतगोत्रवाचिन उदाहरति–**भरताद्** इति प्रकृत्य । काशस्य गोत्रापत्यं काशिः तस्य छात्रा इत्यर्थेऽञ् निषिद्ध इतीय एव भवति । एवं **वाशीया** इत्यपि । द्विस्वरादिति किमिति । उदाहृतयोः काश-वाशयोः चिङ्गपुष्पयोश्च द्विस्वरयोरेव दर्शनात् प्रायः सर्वेऽपि प्राच्यगोत्रवाचिनो भरतगोत्रवाचिनश्च द्विस्वरा एव भवन्तीति मत्वा प्रश्नः । बहुस्वरा अपि तादृशाः सन्तीत्याशयेन प्रत्युत्तरयति–**पान्नागारे छात्रा** इति । पान्नागारस्यापत्यं गोत्रं पान्नागारिः । तस्य छात्रा इत्यर्थेऽञेव पूर्वसूत्रेण भवति, न त्वीय इति द्विस्वरग्रहणाभावे इहापि निषेधः प्रवर्तेतेत्यर्थः । प्राग् भरतादिति किमिति । सर्वस्माद् द्विस्वरादञ् निषिध्यतामित्याशयः । तथा सति पूर्वसूत्रोदाहरणानां दाक्षादीनामसिद्धिः स्यादित्याशयेन प्रत्युदाहरति **दाक्षा प्लाक्षा** इति । ननु भरता अपि प्राच्या एवेति प्राच्यग्रहणेनैव भरतानामपि ग्रहणं स्यादेवेति पृथक् स्वशब्देन तेषां ग्रहणं किमर्थमित्याशङ्क्यायां पूर्वं प्राग्भरते "बहुस्वरादिञः" [६.१.१२९.] इति सूत्रव्याख्यायां निर्णीतमर्थं स्मारयन्नाह–**प्राग्ग्रहणे भरतानां ग्रहणं न भवतीति** । तथा च विशिष्य तेषां ग्रहणाय स्वशब्देन ग्रहणमिति ॥६।३।२९॥

भवतोरिकणीयसौ ॥६।३।३०॥

त० प्र०–**भवतुशब्दाच्छेषेऽर्थे इकण् ईयस् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । ईयापवादौ । भवतः भवत्या वा इदं भावत्कम्, भावत्की । भवदीयः, भवदीया । सकारो 'नाम सिदय्व्यञ्जने' [१.१.२१.] इति पदत्वार्थः । उकारान्तग्रहणात् शत्रन्तान्न भवति । भवत इदं भावतम् ॥३०॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्–**भवतो०** । यद्यपि भवतुशब्दो न क्वापि लोके प्रयुज्यतेऽनुबन्धविनिर्मुक्तस्यैव लोकेऽर्थप्रत्यायकत्वात्, तथापि अनुबन्धरहितस्वसदृशान्यशब्दव्यावर्तनाय शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहायानुबन्धसहितस्य निर्देशः क्रियते तत्फलं चाग्रे स्फोरयिष्यते । **ईयापवादाविति** । भवतुशब्दस्य त्यदादौ पाठेन "त्यदादिः" [६.१.७.] इति दुसंज्ञा भवति । ततश्च "देारीयः" [६.१.३२.] इति शैषिकेऽर्थे ईयः प्राप्तः इति तस्यापवादौ इकणेयसावित्यर्थः । **भवतः, भवत्या वा इदमिति** । भवत्शब्दाद् भवतीशब्दाद् वा इकणि "सर्वादेयोऽस्यादौ" [३.२.६१.] इति पुंवत्त्वे तात्पर्यस्येकण इकारलोपे आदिस्वरवृद्धौ भावत्कम् इति । ईयसि च पदत्वात् तकारस्य "धुटस्तृतीयः" [२.१.७६.] इति दकारे भवदीय इति । सकारस्याप्रयुज्यमानत्वेन वैयर्थ्यमाशङ्क्याह–**सकारो "नाम सिदय्व्यञ्जने" [१.१.२९.] इति पदत्वार्थ** इति । पदत्वफलं च तकारस्य तृतीयविधानमुक्तमेव । भवच्छब्दो द्विधा व्युत्पन्नत्वेन प्रसिद्धः, भातेर्डवतुना भवतेः शत्रन्तस्य च । तत्रेह सूत्रे डकारान्तस्यानुकरणात् शत्रन्तस्य ग्रहणं वर्जनीयमिति स्फोरयति–**डकारान्तग्रहणादिति** । तथा च त्यदादिषु पठित डकारान्त इह गृह्यते । तस्यैवेणादिनिष्पन्नत्वेनाव्युत्पन्नत्वाद् त्यदादिषु पाठौचित्यात्, तथैव तत्र गणे पाठाच्च ।

"Aho Shrutgyanam"

नक्षत्रवाचक' भ 'शब्दान्मतुना निष्पन्नो भवच्छब्देऽपि यद्यप्युकारान्तेन ग्रहीतुं शक्यते, तथापि तस्याप्रसिद्धत्वेन गौणत्वाद् *गौण-मुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः* इति न्यायेनाग्रहणम्। न तु *लक्षणप्रतिपदोक्त०* न्यायेन तद्वारणमुचितम्, व्युत्पत्तिपक्षे सर्वेषां लाक्षणिकत्वात्। उणादयोऽव्युत्पन्नानीति पक्षमाश्रित्य त्यदादेः संग्रहे मत्वन्तस्य वारणे चाश्रिते शत्रन्तस्य वारणायोकारान्तग्रहणमित्यसङ्गतं स्यात्, शत्रन्तस्यापि लाक्षणिकत्वात् तस्मादिह *गौण-मुख्य०* न्यायेनैव मत्वन्तस्य वारणमाश्रयणीयम्। न च तेनैव शत्रन्तस्यापि वारणं स्यादिति शङ्कनीयम्, शत्रन्तस्य प्रयोगबाहुल्येनाप्रसिद्धत्वरूपगौणत्वाभावात्, तथाहि-"स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन् भवान्" इति माघकविरपि शत्रन्तं प्रायुङ्क्त। शत्रन्तस्य वारणेन यत् फलं तदाह-भवतः (उत्पद्यमानस्य) इदमिति। शैषिकेऽपि भावतमित्येव भवतीति भावः ॥६।३।३०॥

परजनराज्ञोऽकीयः ॥६।३।३१॥

त० प्र०-एभ्यः शेषेऽर्थेऽकीयः प्रत्ययो भवति। परकीयः। जनकीयः। राजकीयः। अकारः पुंवद्भावार्थः। राज्ञा इदं राजकीयम्। स्वकीयम्। देवकीयम्, इति तु स्वक-देवकयोर्गर्हादित्वात् सिद्धम्। ये तु स्व-देवशब्दाभ्यामकीयमिच्छन्ति तेषां स्वस्येदं सौवम्, दैवमायुः दैवी वाग् इत्यादि न सिध्यति ॥३१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-परजन०। प्रत्ययेऽकारकरणाभावेऽपि परकीयादिरूपसिद्धावकारोच्चारणं व्यर्थमित्याशङ्कायामाह-अकारः पुंवद्भावार्थ इति। राज्ञा इदमित्यर्थेऽनेनाकीये प्रत्ययस्य स्वरादित्वेन "जातिश्च णि-तद्धितयस्वरे" [३.२.५१.] इति पुंवद्भावो यथा स्यादित्येवमर्थः इति भावः। स्वस्येदमित्यर्थे स्वकीयं, देवस्येदमित्यर्थे देवकीयमिति प्रयोगो दृश्यते स कथमुपपद्यते इत्याशङ्कायामाह-स्वकीयं देवकीयमिति तु स्वक-देवकयोर्गर्हादित्वादिति। तथा च स्वार्थे कन्नन्तयोः स्वशब्द-देवशब्दयोर्गर्हादिगणे पाठसत्त्वेन "गर्हादिभ्यः" [६.३.६३.] इतीये स्वकीयं देवकीयमिति रूपे, न तु ताभ्यामकीयप्रत्यय इति भावः। स्वशब्द-देवशब्दाभ्यां साधने तु दण्डमाह-ये तु स्व-देवशब्दाभ्यामित्यादिना ये चान्द्रादयः स्वजन-परदेवराज्ञां कुकूचेति सूत्रयन्ति। एभ्यः ईयं विधाय कुगागमं विदधति, त एवेह कटाक्षिताः। तेषां मते राजन्शब्दस्य नलोपायापि यत्नान्तरमन्वेषणीयम्। कुकः कित्त्वेनान्तावयवत्वसम्पत्त्या नकारस्य पदान्तेऽविद्यमानत्वेन लोपाप्राप्तेः। अकीयस्य विधाने तु "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे रूपं सिद्ध्यति। यदि च द्वारादिषु स्वशब्दस्य पाठसामर्थ्यात् सौवमित्यत्राण् भविष्यति, अणभावे हि वृद्धेः प्राप्तेरभावेन "द्वारादेः" [७.४.६.] इत्यस्य विषयाभावात् तत्र गणे पाठो व्यर्थः स्यात्। दैवमायुरित्यादि चागताविदमर्थभिन्नेऽर्थे "देवाद् यञ् च" [६.१.२१.] इत्यत्रो विधानात् सिद्धम्, तदा तेषामपि मते न दोषः, केवलं न लोपाय यत्नान्तरमन्वेषणीयमित्यन्यदेतत्। स्वमते च ककारविशिष्टस्यैव ग्रहादौ पाठात् केवलस्य स्वस्य च प्रत्ययान्तरयोगे न किमपि बाधकमिति ॥६।३।३१॥

दोरीयः ॥६।३।३२॥

त० प्र०-दुसंज्ञकाच्छेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति। देवदत्तीयः। जिनदत्तीयः। तदीयः। यदीयः। गार्गीयः। वात्सीयः। शालीयः। गोनर्दीयः। भोजकटीयः। दोरिति किम्? सभासन्नयने भवः सभासन्नयनः। अणपवादो योगः ॥३२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-दोरीयः। देवदत्तस्यायं जिनदत्तस्यायमित्यादिरूपेण विग्रहः, देवदत्त-जिनदत्तयोः संज्ञात्वात् "संज्ञादुर्वा" [६.१.६.] इति दुसंज्ञा। त्यद्-तदोः "त्यदादिः" [६.१.७.] इति दुसंज्ञा गार्गीय इत्यादौ "वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः" [६.१.८.] इति दुसंज्ञा, गोनर्दीयः, भोजकटीय इत्यनयोः "प्राग्देशे" [६.१.१०.] इति दुसंज्ञा, तत ईयः। अणपवादो योग इति। प्राग्जितीयोऽण् सर्वेभ्यः प्राप्त इति दुसंज्ञावतो नाम्नस्तस्य बाधनार्थोऽयं योग इत्यर्थः ॥६।३।३२॥

उष्णादिभ्यः कालात् ॥६।३।३३॥

त० प्र०-उष्णादिपूर्वपदात् कालान्ताच्छेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति। उष्णकालीयः। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥३३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-उष्णा०। यद्यपि उष्णादिभ्यः परो यः कालशब्दस्तस्मात् प्रत्ययोऽय

"Aho Shrutgyanam"

बहुवचनान्तात् प्रत्ययौ इति सूत्रयितुं सूत्रे बहुवचनमित्युक्तम्, तिरोहितावयवभेदविवक्षायां तु एकवचनान्तादपि प्रत्ययौ भविष्यत एवेति द्वयोः संग्रहार्थैव तसन्तेन निर्देशः स्वमते कृत इति वोध्यम् । **देहांशयापवाद** इति । ग्रीवाया देहांशत्वेन ततो "दिगादिदेहांशाद् यः" [६.३.१२४.] इति यः प्राप्तस्तदपवादाविमौ प्रत्ययावित्यर्थः । **ग्रीवायां ग्रीवासु वा भवमिति** । पूर्वोक्तरीत्या स्वयं वक्ष्यमाणरीत्या च ग्रीवाशब्दार्थे एकत्वबहुत्वयोर्दर्शनादुभयथा विग्रहः । विग्रहवाक्यमुपपादयति— **ग्रीवाशब्दो यदा शिरोधमनीवचन** इत्यादिना । 'ग्रीवे शिरोधि-तच्छिरे' इति हैमाभिधानचिन्तामणौ "कन्धरा धमनिग्रीवा शिरोधिश्च शिरोधरा" इति पाठात् प्रतीयते । तस्याश्च धमन्या नैकस्याः शिरोधारकत्वमपि तु बह्वीनां तासामिति स्वभावाद् बहुत्वमेव युक्तम् । यदि च तिरोहितावयवभेदविवक्षा तदैकत्वमपि संभाव्यत इति मत्वोभयथा विग्रहप्रदर्शनमिति तत्त्वम् ॥६।३।१३२॥

चतुर्मासाण्णाम्नि ॥६।३।१३३॥

त०प्र०—चतुर्मासशब्दात् तत्र भवेऽण् प्रत्ययो भवति नाम्नि, समुदायश्चेन्नाम भवति । चतुर्षु मासेषु भवा चातुर्मासी, आषाढी, कार्तिकी, फाल्गुनी च पौर्णमासी भण्यते । अत्र विधानसामर्थ्यात् 'द्विगोरनपत्ये०' [६.१.२४.] इत्यादिना प्रत्ययस्य लुब् न भवति । नाम्नीति किम्? चतुर्षु मासेषु भवश्चातुर्मासः । अत्र 'वर्षाकालेभ्यः' [६.३.८०.] इतीकण । तस्य लुप् ॥१३३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चतु० । चतुर्षु मासेषु भवेति । चैत्रादारभ्य वर्षगणनेति मुख्यमते आषाढ्यादयः पौर्णमास्यः चतुर्षु मासेषु व्यतीतेषु भवन्तीति ताः चातुर्मास्य उच्यन्ते यद्यपि कुतश्चित् पूर्वमासादारभ्य सर्वा अपि पौर्णमास्यः चतुर्षु मासेषु भवितुं शक्नुवन्ति तथापि नाम्नीत्युक्ते रूढिरेव गृह्यत इति सा चैत्रादारभ्य गणनाऽपेक्षैवास्तीति गम्यते । अत्र भवार्थे यद्यपि औत्सर्गिकोऽण् प्राप्त एव, किन्तु तस्य "द्विगोरनपत्ये" [६.१.२४.] इति लुप् स्यादिति तद्बाधनार्थं विशिष्यविधानमित्याह— **अत्र विधानसामर्थ्यादित्यादिना** । कालेकण्बाधनार्थं विधानमिति तु न युक्तम्, चतुर्मासशब्दस्य नियतकालविशेषवाचकत्वाभावात्; प्रत्ययविधौ तदन्तविधेरभावाच्चेति कैयटमतम्, तदनुकूलं स्वमतमपि । वस्तुतस्तु तत्पुरुषे उत्तरपदार्थस्य मासस्य च नियतकालविशेषवाचकत्वेन समुदायस्यापीह कालार्थत्वमक्षतम् । ततश्च कालेकणेव बाध्यत इत्युचितम्, प्रत्युदाहरणे तस्यैव लुग्विधानादप्येतदेव स्वमतमतीति लभ्यते । अणो लुग् तु नाम्नीति कथनेनापि बारयितुं शक्यते, संज्ञायां दृष्टस्यैव रूपस्यानुविधानात् । अन्ये च कालेकणं विधाय तस्य च लुपं विदधति । ततः पुनरनेनाण्, तस्य विधानसामर्थ्यान्न लुबित्याहुः । सर्वथा फलैक्यमेव । नाम्नीत्युक्तिसामर्थ्यादपि न लुगिति—नाम्नीत्यस्य प्रत्युदाहरणे लुक्करणेन विज्ञायते । तस्य सिद्धिप्रकारमाह—"**अत्र वर्षाकालेभ्यः** [६.३.८०.] **इतीकणित्यादि** ॥६।३।१३३॥

यज्ञे ञ्यः ॥६।३।१३४॥

त०प्र०—चतुर्मासशब्दात् तत्र भवे यज्ञे ञ्यः प्रत्ययो भवति । चतुर्षु मासेषु भवानि चातुर्मास्यानि यज्ञकर्माणि ॥१३४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—यज्ञे० । चतुर्मासादिति पदं पूर्वसूत्रात् संबध्यते । अत्र चतुर्मासशब्दो वार्षिकेषु वर्षासु प्रसिद्धेषु चतुर्षु मासेषु मिलितेषु प्रसिद्ध एव गृह्यते, रूढियोगापहारिणीत्युक्तेः । यज्ञपदेन देवपूजाविषयकं कर्म, व्रतादिकं सर्वं गृह्यते, सर्वेष्वेषु चतुर्मास्यशब्दप्रयोगात् ॥६।३।१३४॥

गम्भीर-पञ्चजन-बहिर्देवात् ॥६।३।१३५॥

त०प्र०—गम्भीर पञ्चजन बहिर्देव इत्येतेभ्यस्तत्र भवे ञ्यः प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । गम्भीरे भवो गाम्भीर्यः । पाञ्चजन्यः । बाह्यः । दैव्यः । भवादन्यत्र गाम्भीरः । पाञ्चजनः । द्विगौ त्वणो लुपि पञ्चजनः । वाह्लीकः । दैवः । भवेऽपि वाह्लीक इत्येके ॥१३५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गम्भीर० । अणोऽपवाद इति । गम्भीरादौत्सर्गिकस्याणः पञ्चजनादपि तस्यैव । बहिर्देवाकणः, देवादञ्चायमपवाद इत्यर्थः । पञ्चजनशब्दस्यानेकेऽर्थाः । एकः पुरुषवाची 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इति कोशाद् परो दैत्यविशेषवाची, तृतीयः पातालवाची चेति अमरकोशटीकातोऽवगम्यते । तत्र

"Aho Shrutgyanam"

दैत्यविशेषवाचकात् पातालवाचकाद् वाऽनेन ञ्य इत्यर्थे मतभेदोऽस्ति । अत्रत्यः पञ्चजनशब्दो न द्विगुः पञ्चभिर्जन्यते इति व्युत्पत्तेः । पञ्चसु जनेषु भव इति विग्रहे त्वसंज्ञायां तद्धितार्थे द्विगुः । द्विगुरसंज्ञामेवेति तु न युक्तम्, संख्यावाचकस्य तद्धितार्थादन्यत्र संज्ञायामेव तत्पुरुषसमासविधानात् । तद्धितार्थे चेदसंज्ञायामेवेति तु युक्तम् । एवं च द्विगोर्विहितस्याणो लुबेव भवति । भवार्थ एवायं प्रत्ययः । भवार्थादन्यत्र तु यथाप्राप्तमेव प्रत्ययो भविष्यतीत्याह—**भवादन्यत्र गम्भीर** इत्यादि । **पाञ्चजन** इत्यत्रापि अणेव, द्विगुत्वाभावेन तस्य न लुक् । यदि पञ्चसु जनेषु भव इति विगृह्य तद्धितार्थे द्विगुर्विधीयते तदा ततो विहितस्याणो लुबेवेत्याह—**द्विगौ त्वणो लुपीति** । बाह्वीक इत्यत्र "बहिषष्टाकण् च" [६.१.१६.] इति ठीकण् । दैव इत्यत्र "देवाद् यञ् च" [६.१.२१.] इत्यञ् । **भवेऽपि बाह्वीक इत्येक** इति, तथाहि—"गम्भीराञ्ञ्यः" [पा० सू० ४.३.५८.] इति सूत्रे पञ्चजनादुपसंख्यानमित्येव वार्तिकं पाणिनीये दृश्यते । तथा च देव—बहिःशब्दाभ्यां भवार्थेऽपि पूर्वदेव रूपमिति लभ्यते, तत्र देवशब्दस्य दैव्य-दैवेतिरूपद्वयं भवार्थे तदन्यार्थे च तन्मते यथा भवति, तथा भवार्थेऽपि बहिःशब्दस्य बाह्यः, वाह्वीक इति रूपे स्यातामिति तदाशयः । ठीकणो बाधकस्य प्रत्ययस्याविधानात् । किन्तु "अन्तः पूर्वपदाट्ठञ्" [पा० सू० ४.३.६०.] इति सूत्रे महाभाष्ये "बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्योऽथ गम्भीराञ्ञ इष्यते" इति वदता पतञ्जलिना "गम्भीराञ्ञ्यः" [पा० सू० ४.३.५८.] इति सूत्रे बहिर्देवपञ्चजनादुपसंख्यानमिति वार्तिकस्य सूचितत्वेन, केवलं पञ्चजनादुपसंख्यानमिति वार्तिकलेखनं दीक्षितादीनामयुक्तमेव । एवं च दीक्षितानुसारिणाममरकोशटीकाकृतां मानुदीक्षितादीनामध्यत्रार्थे प्रमाद एवेत्यवधेयम् । अलं प्रसङ्गागत परमतप्रपञ्चेनेति ॥६।३।१३५॥

परिमुखादेरव्ययीभावात् ॥६।३।१३६॥

त०प्र०—परिमुख इत्येवमादिभ्योऽव्ययीभावेभ्यस्तत्र भवे ञ्यः प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । परितः सर्वतो मुखं परिमुखम् । अत एव वचनादव्ययीभावः वर्जनार्थो वा परिः । मुखात् परि परिमुखम्, 'पर्यपाङ्०' [३.१.३२.] इत्यादिनाऽव्ययीभावः । परिमुखे भवः पारिमुख्यः । पारिहनव्यः । पार्योष्ठ्यः । परिमुखादेरिति किम् ? औपकूलम् । औपमूलम् । औपशाखम् । औपकुम्भम् । औपखलम् । आनुकुम्भम् । आनुकूलम् । आनुखलम् । अव्ययीभावादिति किम् ? परिग्लानो मुखाय परिमुखः तत्र भवो पारिमुखः ।

परिमुख परिहनु पर्योष्ठ पर्यलूखल परिरथ परिसिर परिसीर उपसीर अनुसीर उपस्थूण उपस्थूल उपकलाप उपकपाल अनुपथ अनुगङ्ग अनुतिल अनुसीत (अनुशीत) अनमाष अनुयव अनुयूप अनुवंश अनुपद इति परिमुखादिः । अनुवंशाद् दिगादित्वाद् योऽपि । अनुवंश्यः ॥१३६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—परि० । अणोऽपवाद इति । औत्सर्गिकस्येति शेषः । अत्र ये परिपूर्वा अव्ययीभावास्तेषु परिर्वर्जनार्थश्चेत् तदैव "पर्यपाभ्यां वर्ज्ये" [२.२.७१.] पञ्चमी स्यात्, "पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या" [३.१.३२.] सूत्रेण पञ्चम्यन्तेन सहैव समासविधानात् चाव्ययीभावसमासोऽपि भवेत् । यदि च परितः सर्वतो मुखमिति रूपेण विग्रहे विधीयते तदा कथमव्ययीभावः समास इत्याशङ्कायामाह—**अत एव वचनादव्ययीभाव** इति । अत्र परिमुखादीनामुक्तार्थत्वस्येष्टत्वेन तत्राव्ययीभावसमास्याप्राप्तावपि अव्ययीभावादिति सूत्रोक्तेरेषु स समासो निपात्यते इति भावः ।

अथ वर्जनार्थ एवेह परिरिति मन्यते तदा न वचनसामार्थ्याश्रयणमिति तदनुसारमेव विग्रहवाक्यमाह—**मुखात् परीति** । परिहनु भवः पारिहनव्य इत्यादिरूपेण विग्रहः । परिमुखादौ पठितानां सर्वेषामव्ययीभावत्वाव्यभिचारादव्ययीभावादिति विशेषणं व्यर्थमित्याशयेन शङ्कते—**अव्ययीभावादिति किमिति** । प्रत्युदाहरणं विगृह्योत्तरयति—**परिग्लानो मुखायेति**, तथा च "प्रात्यव-परिनिरादयः" [३.१.४७.] इति तृतीयान्तेन तत्पुरुषसमासो न त्वव्ययीभाव इति नेह भवति ञ्यप्रत्ययोत्पत्तिरपि त्वणेवेति भावः ॥६।३।१३६॥

अन्तः पूर्वादिकण् ॥६।३।१३७॥

त० प्र० —अन्तःशब्दपूर्वपदादव्ययीभावात् तत्र भवे इकण् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । अगारस्यान्तः अन्तरगारम्, आन्तरगरिकः ।

"Aho Shrutgyanam"

आन्तर्गेहिकः । आन्तर्वेश्मिकः । आन्तर्पुरिकः । अव्ययीभावादित्येव ? अन्तर्गतमगारस्य अन्तःस्थं वाऽगारमन्तरगारम्, तत्र भवमान्तरगारम्। आन्तःपुरम् । आन्तःकरणम् ॥१३७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—अन्तः० । **अव्ययीभावादिति** सम्बध्यते तस्यैव विशेषणमिदमित्याशयेन सूत्रं विवृणोति—अन्तःशब्दपूर्वपदाव्ययीभावादिति । **अणोऽपवाद** इति औत्सर्गिकस्येति शेषः । अन्तःशब्दः सप्तम्यर्थप्रधानमव्ययम् । **अगारस्यान्तरि**ति विग्रहेऽव्ययीभावसमासेऽव्ययस्यास्य पूर्वप्रयोगः । तत इकण् । अन्तःशब्दस्याव्ययत्वेन तेन सहाव्ययीभावसमास एव संभावित इति समासान्तरात् प्रत्ययवारणार्थम् अव्ययीभावादित्यस्य संबन्धो नावश्यक इत्याशङ्कामपनेतुं तत्सम्बन्धं द्रढयति—**अव्ययीभावादित्येवे**ति । व्यावर्त्यमाह—**अन्तर्गतमगारस्ये**त्यादिना । अत्रार्थे समासविधायकसूत्रालाभमाशङ्क्य विग्रहान्तरं दर्शयति—**अन्तःस्थं वा अगारमि**ति । तथा च शाकपार्थिवादिवत् समासः । तथा च तत्पुरुषादस्मान्न प्रत्ययोत्पतिरिष्टेति तद्वारणायाव्ययीभावादित्यस्य सम्बन्ध आवश्यक इति भावः । अत्र च भवार्थे औत्सर्गिकोऽण् । एवमन्तर्गतं पुरम्, अन्तर्गतं करणमिति विग्रहेऽन्तःपुरमिति, अन्तःकरणमिति च विज्ञेयम् ॥६।३।१३७॥

पर्यनोर्ग्रामात् ॥६।३।१३८॥

त०प्र०-परि अनु इत्येताभ्यां परो यो ग्रामशब्दस्तदन्तादव्ययीभावात् तत्र भवे इकण् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । ग्रामात् परि परिग्रामम् । ग्रामस्य समीपमनुग्रामम् । तत्र भवः पारिग्रामिकः । आनुग्रामिकः । अव्ययीभावादित्येव ? परिगतो ग्रामः परिग्रामस्तत्र भवः परिग्रामः । आनुग्रामः ॥१३८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पर्यनोः० । उभयमपि पञ्चम्यन्तम् । अव्ययीभावादिति संबध्यते, तच्च विशेष्यमेव । सूत्रस्थं पदद्वयमपि परस्परं विशेष्यविशेषणभावापन्नत्वेन व्याख्याति—**परि अनु इत्येताभ्यां परो यो ग्रामशब्द** इति । **अणोऽपवाद** इति । **औत्सर्गिकस्यैवे**ति भावः । परिर्वर्जनार्थः । अनुः समीपार्थः इति तथैव विगृह्य दर्शयति—**ग्रामात् परि** इति ग्रामं वर्जयित्वेत्येव विग्रहवाक्यमुचितमव्ययीभावस्य नित्यसमासत्वस्वीकारात् । यदि च सर्वोऽपि समासो वैकल्पिक एव, एकार्थीभावव्यपेक्षारूपपक्षद्वयाश्रयणादित्युच्यते तदा स्वपदेनापि विग्रहो न दोषाय । पूर्ववद् अव्ययीभावादित्यस्य संबन्धस्यावश्यकत्वमाह—**अव्ययीभावादित्येवे**ति । प्रत्युदाहरणयोरपि पूर्ववदेव व्याख्या ॥६।३।१३८॥

उपाज्जानुनीविकर्णात् प्रायेण ॥६।३।१३९॥

त०प्र०-उप इत्येतस्मात् परे ये जानुनीविकर्णशब्दास्तदन्तादव्ययीभावाद् इकण् प्रत्ययो भवति, प्रायेण तत्र भवे यस्तत्र बाहुल्येन भवति । अन्यत्र च कदाचिद् भवति तस्मिन्नित्यर्थः । जानुनः समीपमुपजानु । प्रायेणोपजानु भवति औपजानुकः सेवकः। औपजानुकं शाटकम् । औपनीविकं ग्रीवादाम । औपनीविकं कार्षापणम् । औपकर्णिकः सूचकः । प्रायेण इति किम् ? नित्यं भवे मा भूत् । औपजानवं मांसम् । औपजानवं गडु । जानुशब्दो देहावयवो नोपजानुशब्द इति यो न भवति ॥१३९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—उपात्० । अव्ययीभादिति इकण् इति च संबध्यते । तत्र भवे इति च प्रकरणप्राप्तमेव, तस्यैव च विशेषणं प्रायेणेति पदं व्याख्यानात् । तथैव सूत्रं विवृणोति—**प्रायेण तत्र भवे** इति । अस्यैव व्याख्यानमाह—**यस्तत्र बाहुल्येन भवति, अन्यत्र कदाचित् भवती**ति । यतः प्रत्ययो विधीयते तत्र बाहुल्येन भवति, तदन्यत्रापि कदाचित् संभवतीत्यर्थः । अव्ययीभावानुकूलं विगृह्य ततः प्रकृतविग्रहमाह—**जानुनः समीपमुपजानु, प्रायेणोपजानु भवती**ति । सेवक इति विशिष्योक्तिः प्रायेण भवत्वसूचनाय । सेवको बाहुल्येन स्वामिनो जानुसमीपे तिष्ठति, नैतावता तस्यान्यत्र कादाचित्की स्थितिर्वार्यते । एवं शाटकोऽपि न्यूनपरिणाहो जानुसमीपपर्यन्तमेव तिष्ठति, यदि चान्यथा परिधीयते तर्हि कदाचिदग्रेऽपि गच्छति ।

औपनीविकं ग्रीवादामेति । ग्रीवास्थं माल्यादिरूपं दाम प्रायेण नीविमभिव्याप्य तिष्ठति बाहुल्येन, न तु तत्पर्यन्तस्थितिस्तस्य नियता, न्यूनाधिकस्याप्यवलोकितत्वात् । कार्षापणमपि मुद्रारूपं प्रायेण नीव्यां तत्समीपे वा स्थाप्यते । कदाचिदन्यत्रापि स्थाप्यत एवेति प्रयोगेष्वर्थसङ्गतिः

"Aho Shrutgyanam"

योजनीया । ननु सामान्ये भवार्थे एव प्रत्ययविधानेऽपि प्रायेण भवे विशेषेऽपि प्रत्ययः स्यादेव विशेषस्य सामान्यान्तर्भूतत्वादिति प्रायेणेति व्यर्थमित्याशङ्कते—**प्रायेणेति किमिति** । व्यावर्त्यमाह—**नित्यं भवे मा भूत्** इति । यस्तत्रैव भवति, नान्यत्र कदाचिदिति तत्र मा भूदित्यर्थः । **औपजानवं मांसमिति** । मांसस्य जानुसमीपे सत्ताया नित्यत्वात् । एवं गर्ह्येऽपि मांसवृद्ध्यादिरूपं जानुसमीपे तदा सर्वदा तत्रैव भवति, नान्यत्रेति नित्यभवयोरनयोरणेवेति भावः ।

ननूपजानुशब्दोऽपि देहांशवाच्येव, यथा जानुर्देहांशः, तथा तत्समीपदेशोऽपीति, ततः "दिगादिदेहांशाद् यः" [६.३.१२४.] इति य एव स्यात्, न त्वणिति चेदत्राह—**जानुशब्दो देहावयवो नोपजानुशब्द** इति । अत्र शब्दशब्दोऽर्थपर्यन्ततात्पर्येणोक्तः, शब्दस्य देहावयवत्वायोगात् । तथा च जानुशब्दो देहावयवार्थवाची नोपजानुशब्द इत्यर्थः । जानुसमीपदेशस्य देहावयवत्वेऽपि उपजानुशब्देन न कश्चिद् देहावयवः साक्षादुच्यते, अव्ययीभावस्याव्ययार्थप्राधान्येन सामीप्यार्थस्यैव तत्र प्राधान्यात् स चार्थतः कश्चिद् देहप्रदेशमाहेति त्वन्यदिति भावः ॥६।३।१३९॥

रूढावन्तःपुरादिकः ॥६।३।१४०॥

त०प्र०—अन्तःपुरशब्दात् तत्र भवे इकः प्रत्ययो भवति रूढौ, स चेदन्तःपुरशब्दो क्वचिद् रूढो भवति । क्व चायं रूढः एकपुरुषपरिग्रहे स्त्रीसमुदाये । उपचारात् तन्निवासेऽपि । अन्तःपुरे भवा अन्तःपुरिका स्त्री । रूढाविति किम् ? पुरस्यान्तर्गतम् अन्तःपुरम् यथान्तरङ्गुलो नख इति । तत्र भवः आन्तःपुरः । पुरस्यान्तरन्तःपुरमिति अव्ययीभावात् त्विकण् भवति आन्तःपुरिक इति ॥१४०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—रूढ० । तत्र भव इति प्रकृतम् । रूढाविति च न प्रत्ययान्तोपाधिरपि तु प्रकृतिविशेषणमेव व्याख्यानात् । तथा च सूत्रार्थं विवृणोति—**स चेदन्तःपुरशब्दः क्वचिद्रूढो भवतीति** । रूढिमेव स्फोरयितुं पृच्छति—**क्व चायं रूढ** इति । उत्तरयति—**एकपुरुषपरिग्रहे स्त्रीसमुदाये** इति । एकेन पुरुषेण परिग्रहः स्वीकारो यस्य तादृशे स्त्रीसमुदाये स्त्रीणां समूहे । एकेन स्वामिना स्वत्वेनाधीनीकृते स्त्रीसमूहे इति यावत् । एकशब्दोपादानेन विभिन्नस्वामिकस्त्रीसमुदाये नायं रूढ इति सूचितं भवति । अर्थान्तरेऽपि रूढिमुपचारयति—**उपचारात् तन्निवासेऽपीति** । तदाधारत्वसंबन्धेनोपलक्षिते तादृशस्त्रीसमुदायनिवासभूते स्थानेऽपि अन्तःपुरशब्दस्य रूढिरिति भावः । वस्तुतस्तु—"स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्" इत्यमरस्त्वारस्येन निवास एव मुख्यः प्रयोगः, स्त्रीसमूहे च तात्स्थ्यात् तदुपचार इति प्रतीयते । किमप्यस्तु उभयोरर्थयोः तत्प्रयोगो रूढ्यैवेति निर्विवादम् । **अन्तःपुरे भवा** इति विग्रहे उभयोरप्यर्थयोः प्रतीतिः । तादृशनिवासे विद्यमाना, तादृशसमुदाये वा विद्यमानेत्युभयोरर्थयोः प्रयोगतः प्रतीतेः । रूढावित्यस्याकथनेऽपि प्रकृतशब्दस्य रूढत्वनियमादन्यत्र प्रयोग एव नेति व्यर्थमिदं विशेषणमित्याशङ्कते—**रूढाविति किमिति** । यौगिकोऽप्ययं शब्दः संभाव्यते ततो मा भूदयं प्रत्यय इत्याशयेनास्य यौगिकत्वं व्युत्पादयति—**पुरस्यान्तर्गतमिति** । "नाम नाम्नैकार्थे०" [३.१.१८] इति समासः । तथा चान्तःशब्दस्य पूर्वनिपातः । नेयमगतिकगतिरपि तु एवमन्योऽपि प्रयोगः प्रयुज्यते इति सदृष्टान्तमाह—**यथाऽन्तरङ्गुलो नख** इति । पूर्ववत् समासेऽपि तत्पुरुषलक्षणाऽऽक्रान्तत्वाभावेऽपि संज्ञाभङ्गभिया "संख्याऽव्ययादङ्गुलेः" [७.३.१२४.] इति ङः । तस्मिन्नन्तःपुरे भव इति विग्रहे ऽणेव भवति, न त्विक इति भावः । रूढिग्रहणादव्ययीभावादित्यस्येहासंबन्धात् अव्ययीभावादन्तःपुरशब्दात् त्विकणेव भवतीत्याह—**पुरस्यान्तरिति** । "अन्तः पूर्वपदादिकण्" [६.३.१३७.] इतीकण् ॥ ६।३।१४०॥

कर्ण-ललाटात् कल् ॥६।३।१४१॥

त०प्र०—रूढाविति वर्तते । सेह रूढिः प्रकृति-प्रत्ययसमुदायस्य विशेषणम् । कर्ण-ललाटशब्दाभ्यां तत्र भवे कल् भवति रूढौ, प्रकृति-प्रत्ययसमुदायश्चेत् क्वचिद् रूढो भवति । कर्णिका कर्णाभरणविशेषः पद्माद्यवयवश्च । ललाटिका ललाटमण्डनम् । रूढावित्येव ? कर्णे भवं कर्ण्यम् । ललाट्यम् । लकारः स्त्रीत्वार्थः॥१४१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कर्ण० । रूढाविति वर्तते इति । पूर्वसूत्रादनुवर्तते इत्यर्थः । पूर्वसूत्रे च रूढाविति पदं प्रकृतिविशेषणत्वेन व्याख्यातमिह च कर्ण-

"Aho Shrutgyanam"

ललाटशब्दो रूढत्वान्यभिचारात् *संभव-व्यभिचाराभ्यां विशेषणमर्थवत्* इति न्यायानुसारं रूढावित्यस्य प्रकृति-विशेषत्वायोगात् प्रत्ययान्तविशेषणत्वस्यैव न्याय्यत्वमित्याह—**सेह रूढिः प्रकृति-प्रत्ययसमुदायस्य विशेषणमिति**। तथा च प्रत्ययान्तसमुदायश्चेत् क्वचिदर्थे रूढ इति तद्विशेषणत्वे पर्यवसितोऽर्थः स एव वृत्तौ प्रतिपादितः। कर्णे भवा **कर्णिका**। तस्या रुढिविषयमाह—**कर्णाभरणविशेषः पद्माद्यवयवश्चेति**। तथा च पद्ममध्यस्थकिञ्जल्कवेष्टिततदवयवे च रूढः, तस्यापि कर्णाभरणविशेषाकारत्वात्। अत्र पद्माद्यवयवश्चेत्यत्र आदिपदेन करिहस्तकरमध्याङ्गुलादयो ग्राह्याः, तदवयवेऽपि कर्णिकाशब्दस्य कोशादौ रूढत्वस्य स्पष्टमुपलब्धेः। तथाहि—विश्वकोशे मेदिनीकोशे च—

"कर्णिका करिहस्तोग्रकरमध्याङ्गुलावपि।
क्रमुकादिच्छदांशेऽब्जवराटे कर्णभूषणे॥' इत्युक्तम्।

एवे च कर्णे भवा इति विग्रहो व्युत्पत्तिमात्रनिबन्धनम्। प्रवृत्तिनिमित्तानि चान्यानि। रूढत्वेन योगार्थस्यापहारात् "रूढियोगापहारिणि" इत्युक्तेः। **कर्ण्यम्, ललाट्यम्** इति प्रत्युदाहरणयोश्च देहांशत्वाद् यः। लकारस्याप्रयोगित्वात् तत्फलमाह—**लकारः स्त्रीत्वार्थ** इति। "लिन्मिन्यनिण्यणि क्युक्ताः" (स्त्री० ६) इति स्त्रीलिङ्गप्रकरणे लिङ्गानुशासनवचनेन लित्वात् स्त्रीत्वं भवतीत्येतदर्थं लकार इत्कृत इति भावः ॥६।३।१४१॥

तस्य व्याख्याने च ग्रन्थात् ॥६।३।१४२॥

त०प्र०—**ग्रन्थः शब्दसंदर्भः। स व्याख्यायतेऽवयवशः कथ्यते येन तद् व्याख्यानम्। तस्येति षष्ठ्यन्ताद् व्याख्यानेऽर्थे तत्रेति सप्तम्यन्ताच्च भवेऽर्थे ग्रन्थवाचिनो यथाविहितं प्रत्ययो भवति। चकारस्तत्र भव इत्यस्यानुकर्षणार्थः। वाक्यार्थसमीपे चकारः श्रूयमाणः पूर्ववाक्यार्थमेव समुच्चिनोति।**

कृतां व्याख्यानं कृत्सु भवं वा कार्तम्। प्रातिपदिकीयम्। ननु च तस्य व्याख्यानेऽर्थे 'तस्येदम्' [६.३.१५९.] इत्यनेनैव प्रत्ययविधिः सिद्धः, चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव प्रत्ययविधिरुक्तस्तत् किमनयोर्युगपदुपादानम्, उच्यते, वक्ष्यमाणः सकलोऽप्यपवादविधिरनयोरर्थयोर्यथा स्याद् इत्येवमर्थम्। उत्तरेणैकयोगत्वे चानुकृष्टत्वात् तत्र भव इत्यस्य ततः परं नानुवृत्तिः स्यात्। योगविभागे त्विहानुवृत्तिरनर्थिकेति द्वयोरुत्तरत्रानुवृत्तिर्भवति। उदाहरणोपन्यासस्तु अनुवादमात्रम्। ग्रन्थादिति किम्? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसला। पाटलिपुत्रमेवं संनिवेशमिति सुकोसलया प्रतिच्छन्दकभूतया व्याख्यायते न तु पाटलिपुत्रं ग्रन्थ इत्युत्तरेणापवादिक इकण् न भवति ॥१४२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**तस्य**। ग्रन्थशब्दार्थः ग्राह्यति—**ग्रन्थः शब्दसन्दर्भ** इति ग्रथ्यते—संदृभ्यते इति व्युत्पत्त्या ग्रन्थे घञि ग्रन्थशब्दसिद्धया प्रकृतशब्दसंदर्भ एव ग्रन्थशब्दस्य प्रयोग इति भावः। 'व्याख्याने' इति प्रत्ययार्थनिर्देशकं पदमपि विवृणोति—**व्याख्यायतेऽवयवशः कथ्यते** इति। विशिष्टमाख्यानं कथनं व्याख्यानम्, तत्र वैशिष्ट्यं चावयवशः तदुपपत्तिनिर्देशकत्वमेवेति चकारेण 'तत्र भव' इति पूर्वानुसृतोऽर्थः समुच्चीयते, तथा च यः सूत्रार्थः संपन्नस्तमाह—**तस्येति षष्ठ्यन्तादि**त्यादिना। षष्ठ्यन्ताद् ग्रन्थवाचिनो नाम्नो व्याख्यानेऽर्थे, सप्तम्यन्ताच्च तस्मात् भवेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययः इति सूत्रार्थपर्यवसानम्।

ननु अर्थस्य प्रकृतेः समर्थविभक्तेश्च दर्शितत्वेन प्रत्ययस्य च यथाविधानमेव विधेयत्वेन चकारोऽत्र सूत्रे व्यर्थ इति चेदत्राह—**चकारस्तत्र भवः इत्यस्यानुकर्षणार्थ** इति। अन्यथाऽर्थस्यैकस्य निर्दिष्टत्वेन तदनुवृत्तिर्विहिता स्यादित्यग्रेऽपि तत्संबन्धो न स्यात्। ननु चकारेण किञ्चिदेकं पदमाकृष्टुं शक्यते, न तु संपूर्णं वाक्यमिति कथमिह चकारेण 'तत्र भवे' इति वाक्यमनुकर्षितुं शक्यते इति चेदत्राह—**वाक्यार्थसमीपे चकारः श्रूयमाण** इत्यादि। यद्यपीह न वाक्यार्थसमीपे चकारश्रुतिरपि तु वाक्यसमीपे, अर्थस्य शब्देन सह पौर्वापर्यासम्भवात्, तथापि शब्दार्थयोस्तादात्म्येनैवमुक्तिरित्यनुसन्धेयम्। एवं च 'तस्य व्याख्याने' इत्यर्थनिर्देशकवाक्यसमीपे उच्चारितश्चकार एतत्पूर्वानुसृतं 'तत्र भवे' इत्यर्थनिर्देशकवाक्यमेव समुच्चेतुं समर्थ इति भावः। उदाहरति—**कृतां व्याख्यानं कृत्सु भवमिति** वा। अत्र कृत्पदेन कृत्प्रत्ययविषयो ग्रन्थ उच्यते। कृत्शब्दात् प्रत्ययान्तस्याप्राप्ततया औत्सर्गिकोऽण्। प्रातिपदिक-

"Aho Shrutgyanam"

शब्दस्य दुसंज्ञकत्वेन तस्मात् दुनिमित्त ईयः ।

ननु 'तस्य व्याख्यानम्' इत्यर्थः, 'तस्येदम्' इत्यर्थान्तर्गत एव, 'तत्र भवः' इत्यर्थेऽपि पूर्वं प्रत्यया विहिता एवेति किमर्थमनयोरर्थयोः पुनरनेन प्रत्ययविधानमारभ्यत इति शङ्कते-**ननु च तस्य व्याख्यानेऽर्थे** इत्यादिना । पृथक् पृथगपि चेद् विग्रहः क्रियते, तदापि नैकदाऽर्थद्वयबोधः संभवति, *सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति* इति सिद्धान्तात् । तथा चेह द्वयोरर्थयोर्यैर्गमयेनोपादाने न किञ्चित् प्रयोजनं प्रतीयते इति प्रश्नार्थः । उत्तरयति—**उच्यते** इत्यादिना । **वक्ष्यमाणः** "प्रायो "बहुस्वरादिकण्" [६.३.१४३.] इत्यादिरपवादविधिरणादेरपवादशास्त्रम्—अनयोः 'तस्य व्याख्यानम्' 'तत्र भवः' इति चार्थयोः यथा—एतद्योगसत्त्व इव स्यात्—भवेत्, न त्वेकस्मिन्नेव तस्य व्याख्याने इत्येतदर्थमेवोभयोरर्थयोरिहोपादानं यौगपद्येनेति तदर्थः । नन्वेतन्मात्रार्थत्वे 'प्रायो बहुस्वरादिण्' इत्यत्रैवोभयोरर्थयोरुपादानमनेनैव प्रकारेण विधीयताम् ।

योगविभागः किमर्थं क्रियते इत्याशङ्कायामाह—**उत्तरत्रैकयोगत्व** इत्यादि । एकयोगत्वे सति तत्र चकारेणानुकृष्टं 'तत्र भवः' इति वाक्यमुत्तरसूत्रेषु नानुवर्तेत, *चानुकृष्टं नोत्तरत्र* इति न्यायात् । नन्वेवमत्र सूत्रे चानुकृष्टं 'तत्र भव' इति वाक्यमुत्तरत्र कथमनुवर्तेतेति चेदत्राह—**योगविभागे त्विहानुवृत्तिरनर्थिका** इत्यादि । अनुवृत्तेरानर्थक्यं चेत्थम्—पूर्वं 'तत्र भव' इत्यनेन यथाविहितं प्रत्ययाः विधीयन्त एव त एव ग्रन्थादपि भविष्यन्त्येवेति प्रकृतसूत्रे तदनुकर्षणं वृथैवेति । न चानेन सूत्रेण किमपि विधीयते, विहितानामर्थनिर्देशमात्रं क्रियते तच्च कृतमेवेति । तथा च स्वांशे प्रयोजनाभावेऽपि चानुकृष्टं वाक्यं, चानुकृष्टं नोत्तरत्रेति न्यायमुल्लङ्घ्योत्तरत्रापि गच्छतीति योगविभागफलं पर्यवसन्नम् ।

नन्वेवमस्य योगस्योत्तरत्रार्थनिर्देशमात्रफलत्वं साधितमित्येतदुदाहरणत्वेन कार्तं प्रातिपदिकीयमित्यादि कुत उपन्यस्तमिति चेदत्राह—**उदाहरणोपन्यासस्तु अनुवादमात्रमिति** । अयमाशयः—उत्तरत्र प्रायोग्रहणेन योऽर्थोऽभिधेयः प्रत्ययस्यानियतत्वरूपः—तस्यानुवादमात्रमेतदुदाहरणोपन्यासेन क्रियते, न त्वस्य योगस्यासाधारणमुदाहरणं तदिति । ननु ग्रन्थादित्यस्याभावेऽपि व्याख्यानपदसामर्थ्येनैव ग्रन्थार्थकादेव प्रत्ययः स्यात्, व्याख्यानं हि बाहुल्येन ग्रन्थस्यैव प्रसिद्धमिति शङ्कते—**ग्रन्थादिति किमिति** । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति—**पाटलिपुत्रस्येत्यादि** । ननु कथमत्र कोसलायां पुरि पाटलिपुत्रव्याख्यानत्वम्—व्याख्यानस्य पूर्वमवयवशः कथनरूपत्वेनोक्तत्वादित्याशङ्कायाम्—प्रकृतप्रयोगे व्याख्यानार्थं सङ्गमयति—**पाटलिपुत्रमेवं सन्निवेशमित्यादिना** । अयमाशयः—यथारूपा यथाप्रासादा यथोपवना यथासन्निवेशा च पाटलिपुत्रपुरी तथैव सकोशलापीति तां दृष्ट्वा पाटलिपुत्रमवयवशो व्याख्यातमिव भवतीति कोशलाया व्याख्यानत्वं सिध्यति । सति च व्याख्यानत्वे प्रत्ययोत्पत्तिर्दुर्वारेति तद्वारणाय ग्रन्थादित्यावश्यकमिति । न च तस्य ग्रन्थत्वमिति न भवति प्रत्ययः । अन्यथा बहुस्वरत्वेन प्रायो बहुस्वरादिकण् इति स्यादेवेति भावः ॥६।३।१४२॥

प्रायो बहुस्वरादिकण् ॥६।३।१४३॥

त०प्र०—बहुस्वराद् ग्रन्थवाचिनस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे प्राय इकण् प्रत्ययो भवति । अणादेरपवादः । षत्व-णत्वयोर्व्याख्यानं तत्र भवं वा षात्व-णत्विकम् । एवं नातानतिकम् । उदात्तानुदात्तयोः स्वरयोरेते नतानतसंज्ञे । आत्मनेपद-परस्मैपदिकम् । आव्ययीभावतत्पुरुषिकम् । नामाख्यातिकम् । आख्यातिकम् । ब्राह्मणिकम् । प्राथमिकम् । आध्वरिकम् । पौरश्चरणिकम् । प्रायोवचनात् क्वचिन्न भवति । सांहितम् । प्रातिपदिकीयम् ॥१४३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—प्रायो० । अत्र पूर्वसूत्रयोरुभयोरर्थयोः संबन्ध इति पूर्वसूत्रे निर्णीतमेव । प्रायःपदं च प्रत्ययोपधिरेव, अन्येन सह संबन्धासंभावाद् ग्रन्थादिति संबध्यत एव । तथा च सूत्रार्थमाह—**बहुस्वराद् ग्रन्थवाचिन** इति । **अणादेरपवाद** इति । औत्सर्गिकस्याणः, दुसंज्ञेभ्यः ईयस्येत्येवं यथाप्राप्तप्रत्ययानामयमिकणपवाद इत्यर्थः । **षत्व-णत्वयोर्व्याख्यानमित्यादि** । षत्व-णत्वपदे तद्विधायकग्रन्थपरे । एवमग्रेऽपि तत्तत्पदानां स्वविषयकग्रन्थपरत्वमूह्यम् । नतानतशब्दस्य क्रियाप्रधानत्वे ग्रन्थपरत्वं न स्यादित्याशङ्क्या तयोः प्रतिपाद्यविषयपरत्वं ग्राहयति—**उदात्तानुदात्तयोः स्वरयोरेते नतानतसंज्ञे इति** । प्रायः पाणिनीयमतानुसारमिदं संज्ञाकरणं प्रतिभाति । तत्र हि "नीचैरनुदात्तः" [पा० सू० १.२.३०.] इति सूत्रेण ताल्वादिसभागस्थानेषु

"Aho Shrutgyanam"

अधोभागोच्चारितस्य स्वरस्यानुदात्तसंज्ञा क्रियते, अधोभागनिष्पन्नत्वेनैव च तस्य **नतसंज्ञोचिता** । एवम् "उच्चैरुदात्तः" [पा० सू० १.२.२९.] इति सूत्रेण तादावादिषु समागेषु स्थानेपूर्वभागेनोच्चारितस्य स्वरस्य उदात्तसंज्ञा क्रियते, ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वेनैव च तस्य 'अनत'संज्ञोपपद्यते । आत्मने स्वस्मै पद्यते प्रयुज्यते **इत्यात्मनेपदम्**, परस्मै-स्वभिन्नाय पद्यते प्रयुज्यते इति परस्मैपदमिति, तादेः तिवादेश्चाख्यातस्य संज्ञे एते । आत्मनेपद-परस्मैपदयोर्व्याख्यानं तत्र भवं वेत्यादिरूपेण विग्रहः । कमपि फलविशेषमुद्दिश्य तत्प्राप्तये पूर्वमेवानुष्ठानविशेषः पुरश्चरणशब्देनोच्यते । कस्यापि ज्ञानतोऽज्ञानतो वा कृतस्य पापस्य फलविपाकात् पूर्वमेव तज्जन्यानिष्टफलपरिहारायानुष्ठीयमानं प्रायश्चित्तरूपं कर्म पुरश्चरणमिति केचित् । तत्प्रतिपादको ग्रन्थस्तेन शब्देनोच्यते । तस्य व्याख्यानं तत्र भवं वा पौरश्चरणिकम् । प्रायोग्रहणस्य क्वचिदप्रवृत्तिरूपं फलमाह– **प्रायोग्रहणात् क्वचिन्न भवतीति** । केत्याह– **सांहितम्, प्रातिपदिकीयमिति** । संहितायाः प्रातिपदिकस्य च व्याख्यानं तत्र भवं वेति विग्रहः । पूर्वत्राण् औत्सर्गिकः, परत्र दुलक्षण ईयः । प्रायोग्रहणाभावे च बहुस्वरत्वादिकण् दुर्वारः स्याद् ॥६।३।१४३॥

ऋगृद्-द्विस्वर-यागेभ्यः ॥६।३।१४४॥

त०प्र०-ऋच् इत्येतस्माद् ऋकारान्ताद् द्विस्वराद् यागशब्देभ्यश्च ग्रन्थवाचिभ्यस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अणादेरपवादः । ऋचां व्याख्यानमृक्षु भवं वा आर्चिकम् । ऋकारान्त, चतुर्षु होतृषु भव इत्यणो लुपि चतुर्होता ग्रन्थः । तस्य व्याख्यानं तत्र भवं वा चातुर्होतृकम । एव पाञ्चहोतृकम् । द्विस्वर, आङ्गिकम् । पौर्विकम् । सौत्रिकम् । तार्किकम् । नामिकम् । याग, अग्निष्टोमिकम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । पाकयज्ञिकम् । नावयज्ञिकम् । पाञ्चौदनिकम् । दाशौदनिकम् । ऋद्यागग्रहणं पूर्वस्यैव प्रपञ्चः । यागेभ्य इति बहुवचनं ससोमकानामग्निष्टोमादीनाम् असोमकानां पञ्चौदनादीनां च परिग्रहार्थम् ॥१४४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—ऋग्० । अणादेरपवाद इति । उभयोरर्थयोर्यथाविहितं प्राप्तस्यौत्सर्गिकस्याणो राजसूयादिभ्यो दुलक्षणस्येयस्य चापवाद इत्यर्थः । क्रमशः उदाहरति–**ऋचां व्याख्यानमित्यादिना** । छन्दोबद्धा मन्त्रा ऋचः । ऋकारान्तमुदाहरति– **चतुर्षु होतृषु भव इति** । चतुर्णां होतॄणां विषये निष्पन्नो विद्यमानो वा ग्रन्थः । एवं पञ्चसु होतृषु भव इत्यादिरूपेण विग्रहे जातस्याणः "द्विगोरनपत्ये लुबद्विः" [६.१.२४.] इति लुप् । अद्विरित्युक्तत्वात् पुनरुत्पन्नस्येकणो न लुप् । "ऋवर्णोवर्ण०" [७.४.७१.] इतीकस्येतो लुक्, आदिस्वरवृद्धिः, चातुर्होतृकमित्यादि । अङ्ग-पूर्व-सूत्र-तर्क-नामानि तत्तत्प्रतिपादकग्रन्थपराणि । याग-शब्देन चात्र अग्निष्टोमाद्यर्थेषु मन्त्र-ब्राह्मण-कल्पेषु वर्तमाना अग्निष्टोमादिशब्दा **गृह्यन्ते**, ग्रन्थानामेव व्याख्येयत्वात् । अग्नेः स्तोमः स्तुतिर्यस्मिन् सोऽग्निष्टोमः, राजा सोमः सूयतेऽत्रेति राजसूयः, राज्ञा नृपेण क्षत्रियेण वा सूयते राजसूयः, वाजो यवागूभेदः तस्य पेयो वाजपेयः । पाणिनीयमते राजसूय-वाजपेयावेवात्र यागस्य मुख्यमुदाहरणम् । पाकशब्दोऽन्यपर्यायः, पाकश्चासौ यज्ञ इति पाकयज्ञः । नवैर्व्रीहिभिर्यजनं नवयज्ञः । नवसु यज्ञेषु भव इति पूर्वं व्युत्पाद्य भवार्थस्याणो लुपि नवयज्ञशब्दं साधयति । ततः पुनर्व्याख्याने तत्र भवे च प्रत्यय इति केचित् ।

एवं पञ्चसु ओदनेषु, दशसु ओदनेषु वा भव इत्यादिरूपेण पूर्वं विगृह्य, पञ्चौदन-दशौदनशब्दौ साध्यौ । ननु ऋदृग्श्चतुर्होत्रादिभ्यः, यागेभ्यो राजसूयादिभ्यश्च बहुस्वरनिमित्तेनैवेकण् सिद्ध एवेति प्रकृतसूत्रे तद्ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह–**ऋदृयागग्रहणं पूर्वस्यैव प्रपञ्च** इति । पूर्वसूत्रप्राप्त एवार्थोऽनेन व्यक्तं प्रकाश्यते इत्यर्थः । क्रतु-यज्ञशब्दाविव यागशब्दोऽपि सोमसाध्येषु यागेष्वेव मुख्यतया प्रयुज्यते इति ससोमकानामग्निष्टोमादीनामेवेह ग्रहणं स्यान्न त्वसोमकानां पञ्चौदनादीनामित्याशङ्कायामाह– **यागेभ्य इति बहुवचनमित्यादि** । ऋंगृदृद्विस्वरयागा दित्येकवचननिर्देशो यत् क्रियते तेनेदं ज्ञायते यत् सर्वेषां यागानामविशेषेणेह ग्रहणमिति । एवं च गौण-मुख्यन्यायबाधपुरःसरं पञ्चौदनादीनामपि प्रकृतसूत्रे ग्रहणं निर्बाधमिति ॥६।३।१४४॥

ऋषेरध्याये ॥६।३।१४५॥

त०प्र०–ऋषिशब्देभ्यो ग्रन्थवाचिभ्यस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चाध्याये इकण् प्रत्ययो भवति । वसिष्ठस्य ग्रन्थस्य व्याख्यानस्तत्र

"Aho Shrutgyanam"

भवो वा वासिष्ठिकोऽध्यायः । वैश्वामित्रिकोऽध्यायः । अध्याय इति किम् ? वसिष्ठस्य व्याख्यानी तत्र भवा वा वासिष्ठी ऋक् । 'प्रायो बहुस्वरात्' [६.३.४२.] इति प्रायोग्रहणाद्प्राप्तिकल्पनायां विध्यर्थम्, प्राप्तिकल्पनायामध्याय एवेति नियमार्थं वचनम् ॥१४५॥

श० म० न्यासानुन्धानम्—ऋषेः० । ग्रन्था दिति संबध्यते । तथा च सूत्रार्थमाह—**ऋषिशब्देभ्यो ग्रन्थवाचिभ्य** इति । यद्यपि ऋषिवाचकशब्दानां ग्रन्थवाचित्वं न संभवति, यस्य योऽर्थो वाच्यः स एव तद्वाचकः कथ्यते, **ऋषिवाचकशब्दस्य** ऋषेरेव वाच्यो न तु ग्रन्थ इति न ग्रन्थवाचित्वम्, तथापि लक्षयोपचारेण वा ऋषिवाचकस्यापि व्याख्येयग्रन्थवाचकत्वमित्याश्रीयते । ऋषिशब्दो यद्यप्यन्यत्र मन्त्रद्रष्टरि प्रसिद्धः, तथापीह लक्ष्यानुरोधाद् 'असमानार्षगोत्रां कन्यामुद्वहेत्' इत्यादिवत् प्रवरपरत्वं तस्य । तथा प्रवराध्यायप्रसिद्धानामेव ऋषीणामिह ग्रहणं, न तु सामान्यतो मन्त्रद्रष्टृत्वेन ख्यातानाम् । गोत्रसपिण्डादिशब्दवत् योगरूढोऽयमृषिशब्द इति भावः ।

उदाहरति **वसिष्ठस्य ग्रन्थस्येति** । एवं विश्वामित्रस्य ग्रन्थस्येत्यपि । उभयत्र ऋषिशब्दो व्याख्येयग्रन्थपरः साहचर्यात् । ननु वसिष्ठादिशब्दा ये इह ग्रहीतुमिष्टास्तेषां बहुस्वरत्वेनाध्यायेऽपि वाच्ये "प्रायो बहुस्वरादिकण्" [६.३.१४३.] इतीकण् सिद्ध एवेति किमर्थमिदं सूत्रमित्याशङ्क्यायामाह—"**प्रायो बहुस्वरा०**" [६.३.४२.] **इति प्रायो ग्रहणादित्यादि** । बाहुलकवत् प्रायोग्रहणेनेच्छानुसारार्थकल्पनायाः संभवेन, कदाचिदध्यायेऽकल्पनायामप्राप्तस्येकणो विधानार्थं सूत्रम् । यदि चेष्टस्थले कुतोऽप्राप्तिकल्पनेत्याख्यायते ततो **नियमार्थं सूत्रमित्यर्थः** । नियमस्वरूपं च ऋषिवाचकालक्षणया व्याख्येयग्रन्थवृत्तेः शब्दात् तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे यदीकण्प्रत्ययः स्यात् तर्हि अध्यायेष्वेव वाच्येषु नान्यत्रेति । तेनान्यत्रार्थे तेषां वाक्यमेव, प्रत्ययान्तरमेव वा यथाप्राप्तमिति फलति ॥६।३।१४५॥

पुरोडाश-पौरोडाशादिकेकटौ ॥६।३।१४६॥

त०प्र०—**आभ्यां ग्रन्थवाचिभ्यां तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे इक इकट् इत्येतौ भवतः । अणयियोरिकणोऽपवादः । वचनभेदाद् यथासंख्याभावः । इकेकटोः स्त्रियां विशेषः ।**

पुरोडाशाः पिष्टपिण्डाः । तैः सहचरितो मन्त्रः पुरोडाशः तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पुरोडाशिकः । पुरोडाशिकी । पुरोडाशानामयं तत्र भवो वा पौरोडाशः तत्संस्कारको मन्त्रस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पौरोडाशिकः, पौरोडाशिका, पौरोडाशिकी ॥१४६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**पुरोडाश०** । **अणीययोरिकणोऽपवाद** इति । पुरोडाशादणः, पौरोडाशादीयस्य । यदि च प्रायो बहुस्वरादिति सूत्रेणैव, तयोर्वाध इत्याश्रीयते तदा तत्प्राप्तस्य इकणोऽपवाद इत्येवं व्याख्येयम् । प्रत्ययद्वयस्य प्रकृतिद्वयेन यथासंख्यमाशङ्क्याह—**वचनभेदाद् यथासंख्याभाव** इति । पुरोडाशपौरोडाशादिति समाहारेणैकवचनेन निर्देशादुभयोरेकत्र सहान्वयित्वं लभ्यते, तथा च प्रकृतिसमुदायस्य प्रत्ययसमुदायेनैवान्वय इत्युभाभ्यामुभौ प्रत्ययौ भवत इति भावः । नन्विकेकटौ रूपे विशेषाभावात् किमिति द्वयोरिहोपादानमिति चेदत्राह—**इकेकटोः स्त्रियां विशेष** इति । इके सति स्त्रियामाप् भवति, इकटि च सति ङीरिति स्त्रियामुभयविधप्रयोगार्थं प्रत्ययद्वयविधानमिति भावः । पुरोडाश-पौरोडाशशब्दयोर्ग्रन्थपरतामाख्यातुमुपक्रमते—**पुरोडाशाः पिष्टपिण्डविशेषा** इति । पुरोऽग्रे दाश्यते दीयते इति पुरोडाशः पुर उपपदाद्दाशेर्धञ्, अत्रैव निपातनाद् दकारस्य डत्वम् । एवं च यद्यपि पुरोडाशशब्दस्य मुख्योऽर्थः पिण्डविशेष एव, तथापि लक्षणया पुरोडाशेन सह पठितस्य मन्त्रस्यात्र पुरोडाशपदेन ग्रहणात् तस्य ग्रन्थपरत्वं व्याख्येयत्वं च भवति । पौरोडाशपदस्य च स्वत एव मन्त्रपरत्वं व्याख्याति—**पुरोडाशानामयं तत्र भवो वेत्यादिना** । तथा च तस्येदमित्यर्थे तत्र भव इत्यर्थे च औत्सर्गिकोऽण् । प्रत्ययान्तेन च पुरोडाश सम्बन्धवान् तत्संस्कारादौ विनियुक्तो मन्त्र उच्यते इति तस्य व्याख्येयमन्त्रग्रन्थपरत्वं संपद्यते ॥६।३।१४६॥

छन्दसो यः ॥६।३।१४७॥

त०प्र०—**छन्दःशब्दाद् ग्रन्थवाचिनस्तस्य व्याख्यानं तत्र भवे च यः प्रत्ययो भवति । ञिस्करेकणोऽपवादः । छन्दसो व्याख्यानस्तत्र भवो वा छन्दस्यः ॥१४७॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**छन्दसः०** ।

"Aho Shrutgyanam"

तदनुसारमेतत्रापि स्वमतं सूचितमिति बोध्यम् । पाणिनीये च नैतादृशं सूत्रमुपलभ्यते । तत्र तयानां कृते **नाट्यशिल्पेषु** व्युत्पाद्यते कर्मणि यत्रा । धर्मादिषु चामिनं सूत्रं तेषामपि संमतमेवेति ॥६।३।१६५॥

छन्दोगौक्थिक-याज्ञिक-बह्वृचाच्च धर्माम्नायसंघे ॥६।३।१६६॥

त०प्र०-**छन्दोगादिभ्यश्चरणेभ्यो नटशब्दाच्च तत्रेदमित्यर्थे धर्मादौ ण्यः प्रत्ययो भवति । छन्दोगादिभ्यश्चरणाकञो नटादणोऽपवादः । छन्दोगानां धर्मः आम्नायः संघो वा छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । याज्ञिक्यम् । बाह्वृच्यम् । नाट्यम् । धर्मादिष्विति किम् ? छन्दोगानां गृहं छान्दोगम् ॥१६६॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्-**छन्दो०। छन्दोगादिभ्यश्चरणाकञो नटादणोऽपवाद** इति । छन्दोगादयो बह्वृचान्ताश्चरणवाचिनः तेभ्यो वक्ष्यमाणः "चरणादकञ्" [६.३.१६८.] इत्यकञ् प्राप्तस्तस्यानेन बाधः, नटात् तु औत्सर्गिकत्वान्न इत्यर्थः । पाणिनीये 'चरणाद् धर्माम्नाययोरेव' इति नियमात्, धर्माम्नाययोरेवार्थयोः प्रत्ययो भवति, तत्साहचर्याच्च नटशब्दादपि तयोरेवार्थयोर्भवतीति "छन्दोगौक्थिक" [पा०सू०४.३.१२९.] इति सूत्रे शब्दकौस्तुभे उक्तम् । स्वमते तु संघेऽपि भवतीति विशेषः । अर्थविशेषनियमं परित्यज्येदमर्थ एव प्रत्ययो विधीयताम्, प्रायः एते एवार्था एतत्संबन्धिन इत्याशयेन शङ्कते-**धर्मादिष्विति किमिति** । नैत एवार्था एतत्संबन्धिनोऽपि तु गृहादयोऽपि सम्भवन्तीत्याशयेन समाधत्ते-**छन्दोगानां गृहमिति विगृह्य । अर्थेऽणेवेष्ट** इति भावः ॥६।३।१६६॥

आथर्वणिकादणिक-लुक् च ॥६।३।१६७॥

त०प्र०-**आथर्वणिकशब्दात् तत्रेदमित्यर्थे धर्मादावणप्रत्यय इकारोपश्चास्य भवति । अथर्वणा प्रोक्तं वेदं वेत्त्यधीते वा आथर्वणिकः । न्यायादित्यादिकण् । अत एव निपातनाद् गणपाठसामर्थ्याद् वा प्रोक्ताल्लुप् न भवति । आथर्वणिकानां धर्म आम्नायः संघो वा**

आथर्वणः । चरणादकञि प्राप्ते वचनम् ॥१६७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-**आथर्व०** । अत्र केचिद् आथर्वणिकादण् लुक् चेत्येवमेव न्यासः कर्तव्यः विधानसामर्थ्यादणो लुग् न भविष्यति । *प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्यैव* इति न्यायेन चेकस्यैव लुग् भविष्यतीति, इकग्रहणमिह व्यर्थमिति शङ्कयित्वा "चरणादकञ्" [६.३.१६८.] इत्यस्य बाधनेनाणो विधानस्य सार्थक्यसंभवे तत्सामर्थ्याद् अणो लुगभावस्य साधयितुमशक्यत्वेनाणिकयोरुभयोरपि लुक् मा भूदितीकग्रहणं कर्तव्यमित्याहुः । अत्रेदमाचक्ष्महे, अत्रेकस्य लोप इष्टस्तस्यान्यथा सिद्धत्वे हि तद्ग्रहणस्य वैयर्थ्यमाशङ्कयितुं शक्यते तच्चेह नान्यथा सिद्धमस्ति । न च *प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्* इति न्यायेन सिद्धमस्तीति वाच्यम्, प्रत्ययाप्रत्ययोरुभयोः साधारण्येन ग्रहणे प्राप्त एव तन्न्यायप्रसरात्, इह चेकस्य ग्रहणाभावे किमपि लुग्विधेयं गृह्यत एव न सूत्रेणेति कथं न्यायः प्रवर्तेत । यदि च लुगिति विधेयपदमेवोद्देश्यं कल्पयिष्यतीति कथ्येत तदा अनन्तरस्येति न्यायात् श्रूयमाणमेव षष्ठ्यन्तं कल्पयिष्योद्देश्यतां प्रापयिष्यतीतीकस्य लुगप्राप्त एव स्यात्, ततश्च यदुक्तमुभयोर्लोपो मा भूदितीकस्य ग्रहणं कर्तव्यमेवेति तदविचारितमेवेति । तस्माच्चेकस्य लुगन्यथा न सिद्ध इति तत्सिद्धये एवेकस्य ग्रहणमिति पूर्वोक्तशङ्कासमाधी निर्दिष्टे एव ।

अथार्थर्वणिकशब्दं पूर्वं व्युत्पादयति-**अथर्वणा प्रोक्तं वेदं वेत्त्यधीते** वेति । अस्मिन् विग्रहे प्रोक्तार्थेऽणन्तादध्येतृवेदितृर्थे न्यायादित्वाद् इकण्, अत्र "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इत्यधीते वेत्तीत्यर्थे विहितस्येकणो लुप् कुतो नेत्याशङ्कायामाह-**अत एव निपातनाद् गणपाठसामर्थ्याद् वेति** । अत्र सूत्रे आथर्वणिकेति निपातनाद् गणपाठसामर्थ्याद् वेति । अत्र सूत्रे आथर्वणिकेति निपातनात्, अथवा न्यायादिगणे आथर्वणशब्दस्य पाठसामर्थ्याच्च ततो विहितस्य प्रत्ययस्य न लुबिति भावः । अण औत्सर्गिकस्यैव प्राप्तौ सूत्रेण तद् विधानं व्यर्थं केवलमिकस्य लुग् विधीयतामित्याशङ्कायामाह-**चरणादकञि प्राप्ते** इति अणो विशिष्य विधानाभावे परत्वात् "चरणादकञ्" [६.३.१६८.] इत्यकञेव स्यादिति तद्बाधनार्थं वचनमिति भावः । अन्ये च प्रोक्तार्थलाक्षणिकेनाथर्वन्शब्देनैव वेत्त्यधीते इत्यर्थे आथर्वणिकशब्दमिहैव

"Aho Shrutgyanam"

निपातितं मन्यन्ते, न्यायादिकणे तस्यापि पाठं कल्पयन्ति । एषां मते न्यायादित्वादिकणि "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिसमुदायस्य लुगभावो निपातनाल्लभ्यः, स्वमते च प्रोक्ताल्लुगभावो निपातनादित्युभयोः साम्यमेवेति ॥६।३।१६७॥

चरणादकञ् ॥६।३।१६८॥

चरणशब्दो वेदशाखावचनस्तद्योगात् तदध्यायिषु वर्तते । चरणवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे धर्मादावकञ् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । ईयं तु परत्वाद् बाधते । कठानां धर्म आम्नायः संघो वा काठकः । चरकाणां चारकः । कलापानां कालापकः । पैप्पलादानां पैप्पलादकः । मौदानां मौदकः । आर्चाभिनामार्चाभकः । वाजसनेयिनां वाजसनेयकः ॥१६८॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—चरणा० ।

"चरणोऽस्त्री बह्वृचादौ मूले गोत्रे पदेऽपि च ।
भ्रमणे भक्षणे चापि नपुंसक उदाहृतः ॥

इति मेदिनीकोशानुसारं चरणशब्दस्यानेकार्थत्वेनेह किमर्थकत्वमित्याशङ्क्याऽमिह ग्राह्यमर्थमाह—**चरणशब्दो वेदशाखावचनस्तद्योगात् तदध्यायिषु वर्तत** इति । बह्वृचादौ कोशेन शक्तेः कथनात् शाखावचनत्वं सिध्यति, किन्तु वेदशाखाविशेषस्य धर्मादिना न संबन्धः संभावित इति शाखासंबन्धिनस्तदध्येतास्तेन शब्देनोच्यन्ते । तेषां च धर्म आम्नायः संघो वा संभवत्येव । अन्ये वैयाकरणा 'बह्वृच्'शाखायां 'बह्वृच्'शब्दं च तदध्येतरि प्रयुञ्जते, तथा च कोशेनाध्येतर्येव चरणशब्दः संकेतितः इति नोपचारावश्यकतेति मन्यन्ते । किमप्यस्तु प्रकृते चरणशब्दः शाखाध्येतृपर इति सर्वसम्मतम् । **अणोऽपवाद** इति । औत्सर्गिकस्येत्यर्थः । दुलक्षणमीयमपि बाधते इत्याह—**ईयं तु परत्वाद् बाधत** इति । **कठानां धर्म** इत्यादि । कठेन प्रोक्तमधीयते विदन्ति वा कठाः । प्रोक्तार्थे विहितस्य प्रत्ययस्य, 'कठादिभ्यो वेदे लुक्' [६.३.१८३.] इति लुक्, तदोऽध्येतृ-वेदितृरर्थे विहितस्य च "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इति लुक् । ततः तेषां धर्म आम्नायः संघो वेत्यर्थेऽनेनाकञि **काठक** इति । एवं **चारण** इत्यपि । 'कलापानां' इति कृतौ पाठो दृश्यते, परन्तु कलापिना प्रोक्तमधीयते विदन्ति वा इत्यर्थेऽणि, "कलापि-कुथुमि०" [७.४.६२.] इत्यन्त्यस्वरादेर्लुकि कालापा इत्येवमेव प्रयोगो जायत इति कालापानां धर्म आम्नायो वा इत्येव विग्रह उचितः । पिप्पलादेन प्रोक्तं विदन्त्यधीयते वेति पैप्पलादाः, मौदेन प्रोक्तमधीयते विदन्ति वा मौदाः, उभयत्र "मौदादिभ्यः" [६.३.१८२.] इत्यण् । ततस्तेषां धर्म इत्यादर्थेऽनेनाकञ् । ऋचामेन प्रोक्तमधीयते विदन्ति वा आर्चाभिनः शौनकादित्वाद् णिन्, आर्चाभिनां धर्म आम्नायो वेत्यादर्थेऽनेनाकञ् **आर्चाभकः** । वाजसनेयेन प्रोक्तमधीयते वाजसनेयिनः, शौनकादित्वाण्णिन्, तेषां धर्मादिः **वाजसनेयकः** ॥६।३।१६८॥

गोत्राददण्डमाणवशिष्ये ॥६।३।१६९॥

त०प्र०—गोत्रवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे दण्डमाणवशिष्यवर्जितेऽकञ् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । ईयाञौ तु परत्वाद् बाधते । औपगवस्येदमौपगवकम् । कापटवकम् । दाक्षकम् । प्लाक्षकम् । गार्गकम् । गार्ग्यायणकम् । म्लौचुकायनकम् । म्लौचुकायनकम् । अदण्डमाणवशिष्ये इति किम्? काण्वस्येमे काण्वा दण्डमाणवाः शिष्या वा । एवं गौकक्षाः । 'शकलादेर्यञः' [६.३.२६.] इत्यत्र । दाक्षेरिमे दाक्षाः । प्लाक्षाः । माहकाः । 'वृद्धेञः' [६.३.२८.] इत्यञ्ञ् । दण्डप्रधाना माणवा दण्डमाणवाः आश्रमिणां रक्षापरिचरणार्थाः । शिष्या अध्ययनार्था अन्तेवासिनः ॥१६९॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—गोत्रा० । गोत्रमिह लौकिकमेव । **अणोऽपवाद** इति । औत्सर्गिकस्याणोऽनवकाशत्वाद् बाधक इत्यर्थः । दुसंज्ञानिमित्त ईयः "वृद्धेञः" [६.३.२७.] इत्यादिसूत्रैर्विहितोऽत्रापि परत्वादनेन बाध्यते इत्याह—**ईयाञौ तु परत्वाद् बाधत** इति । उपगोरपत्यमौपगवः, तस्येदमित्यर्थेऽणि बाधित्वाऽकञ् **औपगवकमिति**, कुपटोरपत्यं कापटवः, तस्येदं **कापटवकम्**, अत्राप्यणेव बाध्यः । दक्षस्यापत्यं वृद्धं दाक्षिः, प्लक्षस्य प्लाक्षिः, तस्येदमित्यर्थे "वृद्धेञः" [६.३.२७.] इत्यञ्ञ बाधित्वाऽकञ् । गर्गस्य वृद्धापत्यं गार्ग्यः, तस्येदमित्यर्थे "शकलादेर्यञः" [६.३.२६.] इत्यञ्ञं बाधित्वाऽकञ्, गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः, तस्येदं गार्ग्यायणकम्, म्लुचुकस्य, म्लुचुकस्य चापत्यमित्यर्थे म्लुचुकायनिः, म्लुचुकायनिरिति, तस्येदमित्यर्थेऽकञ् । प्रत्युदाहरणेषु

"Aho Shrutgyanam"

प्रत्ययान्तरमेव प्रवर्तते तच्चोक्तमेव । 'दण्डमाणव'-'शिष्य'-शब्दयोरर्थं ग्राहयति–**दण्डप्रधाना माणवा** इति । मनोः कुत्सितान्यपत्यानि माणवाः, दण्ड एव प्रधानं मुख्यो येषां ते दण्डप्रधानाः, तयोः समासे शाकपार्थिवादिवत् मध्यमपदलोपः । दण्डप्राधान्यप्रयोजनमाह–**आश्रमिणां रक्षापरिचरणार्था** इति । आश्रमिणोऽन्यैरुपद्रुता मा भूवन्नित्येतदर्थमाश्रमेषु दण्डमादाय निवसन्त इति भावः । तेऽपि चाश्रमपतेः संबन्धिन इतीदमर्थेऽन्तर्भूताः । **शिष्या अध्ययनार्था अन्तेवासिनः** इति । अध्ययनमेव अर्थः गुरुसमीपवासिनः शिष्या उच्यन्ते इत्यर्थः । तेऽपि गुरुसंबन्धिन इतीदमर्थेन गाह्याः एवेति तेष्विदमर्थे नाकञ्, अपि तु यथाप्राप्तं प्रत्ययान्तरमेव स्यादित्येतदर्थं तद्वर्जनमिति भावः ॥६।३।१६९॥

रैवतिकादेरीयः ॥६।३।१७०॥

त०प्र०–**रैवतिकादेर्गोत्रवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे ईयः प्रत्ययो भवति । अकञादेरपवादः । रैवतिकस्येदं रैवतिकीयं शकटम् । रैवतिकीयः संघादिः । रैवतिकीया दण्डमाणवशिष्याः । गौरग्रीवीयं शकटम् । गौरग्रीवीयः संघादिः । गौरग्रीवीया दण्डमाणवशिष्याः ।**

रैवतिक गौरग्रीवि स्वापिशिष्य क्षैमधृति औदमेधि औदवाहि वैजवापि इति रैवतिकादिः ॥१७०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—रैवति० । **अकञादेरपवाद** इति । "चरणादकञ्" [६.३.१६८] इत्यकञः, औत्सर्गिकाणः, "क्षैम-धृत्यादिभ्यः वृद्धेञः" [६.३.२८.] इत्यञश्चापवाद इत्यर्थः । संघादेरपीदन्त्वेन विवक्षायामीय एवेति **रैवतिकीयं शकटम्, संघादिश्च रैवतिकीयः** । अयं च दण्डमाणवेषु शिष्येषु चेदन्त्वेन विवक्षितेषु प्रवर्तत एव ॥६।३।१७०॥

कौपिञ्जल-हास्तिपदादण् ॥६।३।१७१॥

त०प्र०–**आभ्यां गोत्रवाचिभ्यां तस्येदमित्यर्थेऽण प्रत्ययो भवति । अकञादेरपवादः । कुपिञ्जलस्यापत्यं कौपिञ्जलः । हस्तिपादस्यापत्यं हास्तिपदः । अतो निपातनादेवाण्, पादस्य च पद्भावः । तयोरिदं कौपिञ्जलं शकटम् । कौपिञ्जला दण्माणवशिष्याः । हास्तिपदं शकटम् । हास्तिपदा दण्डमाणवशिष्याः । अथाण्ग्रहणं किमर्थम् ? यथाविहितमित्येव ह्यण् सिद्धः । न चेयः प्राप्नोति । तदभीष्टौ हि रैवतिकादावेवैतौ पठ्येयाताम् । अकञ्प्राप्तौ वचनमनर्थकं स्यात् । नैवम्, असत्यण्ग्रहणे दण्डमाणवकशिष्येष्वकञर्थमेतत् स्यात् । तत्र ह्यकञ् प्रतिषिद्ध इति । णित्त्वं ङ्यर्थं पुंवद्भावाभावार्थं च । कौपिञ्जलीस्थूणः । हास्तिपदीस्थूणः ॥१७१॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्–कौपि० । गोत्रादिति पूर्वसूत्रादनुवर्तते तदाह–**आभ्यां गोत्रवाचिभ्यामिति** । अणः औत्सर्गिकतया तद्विधानस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याह–**अकञादेरपवाद** इति । "गोत्राददण्ड०" [६.३.१६९.] इति पूर्वसूत्रेण प्राप्तस्याकञः, आदिपदेन दुनिमित्तस्य चेयस्यापवाद इत्यर्थः । कौपिञ्जलहास्तिपदयोः सिद्धिं दर्शयति–**कुपिञ्जलस्यापत्यमित्यादि** विग्रहप्रदर्शनेन । अत्रार्थे प्रत्ययविधायकस्य संदिग्धत्वादाह–**अतो निपातनादेवाण्, पादस्य च पद्भाव** इति । अणुभयत्र पद्भावश्च केवलं हास्तिपदे । अकञादेरपवाद इत्युक्तं तदेव विस्पष्टयति–**अथाऽग्रहणं किमर्थमिति** शङ्कोत्थापनेन । तस्य वैयर्थ्यमुपपादयति–**यथाविहितमित्येव ह्यण्सिद्धः** इति । यथाविहितं प्रत्ययो भवतीत्यनुक्तेऽपि उक्तमेव भवतीति तावतैव प्रत्ययान्तरस्याभ्यां विधिष्य विधानाभावेनाण् स्यादेवेति भावः । अनयोर्दुसंज्ञकत्वेन तन्निमित्त ईयः स्यादिति शङ्कां वारयति–**न चेयः प्राप्नोतीति** । तत्र हेतुमाह–**तदभीष्टौ हि रैवतिकादावेवैतौ पठ्येयातामिति** । आभ्यामीयस्येष्टत्वे "रैवतिकादेरीयः" [६.३.१७०.] इति पूर्वसूत्रस्थे गणे एवैतयोरपि पाठः कृतः स्यादिति, तदकरणेनेयस्यानभीष्टत्वं प्रतीयते, इति न तत्प्राप्तिराशङ्कनीयेति भावः ।

ननु गोत्रत्वादकञ् स्यादिति चेदत्राह–**अकञ्प्राप्तौ वचनमनर्थकं स्यादिति** । विनाऽपि सूत्रं गोत्रत्वादकञ् प्राप्त एवेतिवचनान्तरेण तद्विधानं व्यर्थमेव स्यादित्यर्थः । इत्थमण्ग्रहणवैयर्थ्यं समर्थ्य निषेधति–**नैवमिति** । तत्कारणमाह–**असत्यण्ग्रहणे दण्ड-माणवशिष्येष्वकञर्थमेतत् स्यादिति** । तदेवोपपादयति–**तत्र ह्यकञ् प्रतिषिद्ध** इति । अत्रायं समुदितार्थः–पृथग्-

"Aho Shrutgyanam"

योगादीयस्य निवृत्तिरकञश्चानुवृत्तः स्यात् । यद्यप्यकञपि गोत्राददण्ड० इत्येव सिद्धः, तथापि तस्य दण्डमाणवशिष्येषु पर्युदस्तत्वेन तद्भिन्न एव प्रवृत्तिरिति दण्डमाणवशिष्येष्वपि विधानार्थत्वमस्य सूत्रस्येति विज्ञायेतेत्यनिष्टापत्तिरतोऽण्ग्रहणमावश्यकमिति । णकारस्य वृद्धिप्रयोजनकत्वेन वृद्धेश्च स्वतोऽत्र सिद्धतया तद्वैयर्थ्यमाशङ्क्याह-**णित्त्वं ङ्यर्थं पुंवद्भावार्थं चेति** । स्त्रियां ङीर्यथा स्यात्, ङ्यन्तस्य च बहुव्रीहिप्रवेशो वृद्धिनिमित्तकतद्धितान्तत्वप्रयुक्तः पुंवद्भावस्याभावश्च यथास्यादित्येवमर्थं णित्त्वमित्यर्थः । अणन्तत्वाद् ङीः, तदन्तस्य चान्यपदार्थे बहुव्रीहौ पूर्वपदस्थस्य "परतः स्त्रीपुंवत्" [३.२.४९.] इति पुंवद्भावे प्राप्ते "तद्धितः स्वरवृद्धि०" [३.२.५५.] इति पुंवद्भावप्रतिषेधो यथास्यादित्येवमर्थं णित्त्वमिति भावः । तथा च प्रयोगमाह-**कौपिञ्जलीस्थूण** इति । कौपिञ्जली स्थूणा यस्येत्यर्थे बहुव्रीहिः । एवं **हास्तिपदीस्थूण** इत्यत्रापि । हस्तिपदीति ह्रस्वादिस्वरकपाठोऽपपाठः ॥६।३।१७१॥

संघघोषाङ्कलक्षणेऽञ्यञिञः ॥६।३।१७२॥

त०प्र०-**अजन्ताद् यञन्ताद् इञन्ताच्च गोत्रवाचिनस्तस्येदमित्यर्थे संघादावण् प्रत्ययो भवति** । अकञोऽपवादः । **अञ्, बिदानामयं वैदः संघो घोषोऽङ्को वा । वैदं लक्षणम् । यञ्, गर्गाणामयं गार्गः संघो घोषोऽङ्को वा । गार्गं लक्षणम् । इञ्, दाक्षीणामयं दाक्षः संघो घोषोऽङ्को वा । दाक्षं लक्षणम् । संघादिष्विति किम् ? बिदानां गृहम् । अञ्यञिञ इति किम् ? औपगवकः संघादिः । गोत्रादित्येव ? सौतंगमीयः संघादिः । अथाङ्क-लक्षणयोः को विशेषः ? लक्षणं लक्ष्यस्यैव स्वम् । था शिखादि । अङ्कस्तु स्वामिविशेषविज्ञापकः । स्वस्तिकादिर्गवादिस्थो न गवादीनामेव स्वं भवति ॥ १७२ ॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—संघ० । अजादयः प्रत्ययास्ततः *प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्* इति न्यायेन तदन्तानामुपस्थितिरिति अजन्ताद् यञन्ताच्चाण्प्रत्ययः संघादाविदन्त्वेन विवक्षिते इति सूत्रार्थः पर्यवसन्न इत्याह-**अजन्तादित्यादिना । अकञोऽपवाद** इति । गोत्रत्वात् प्राप्तस्येति भावः । **बिदामयं वैद** इति । विदस्य वृद्धापत्यानि विदाः, "बिदादेर्वृद्धे" [६.१.४१.] इत्यञ्, तस्य "यञञोऽस्यापर्ण०" [६.१.१२६.] इति बहुत्वे लुप् । ततोऽनेन संघादेरिदमर्थेऽण् वैदः इति एवं गर्गस्य वृद्धापत्यानि गर्गाः, "गर्गादेर्यञ्" [६.१.४२.] इति यञो बहुत्वे पूर्वोक्तसूत्रेण लुपि गर्गा इति । ततोऽण् एवमेव दक्षस्य वृद्धापत्यानि दाक्षाः "अत इञ्" [६.१.३१.] इतीञ्, तदन्तादण् । इदमर्थेन संघादयो व्याप्ता एव, न चैभ्योऽन्यदिदन्त्वेन विवक्ष्यते इति संघादिग्रहणमव्यावर्तकमित्याशङ्क्याह-**संघादिष्विति किमिति** । व्यावर्त्यमाह-**बिदानां गृहमिति** एवमादावर्थेऽण् मा भूदपि तु वाक्यमेव तिष्ठेदित्येतदर्थं संघादिग्रहणमित्यर्थः । एवं पदान्तरकृत्यमपि स्फोरयति-**अञ्यञिञ इति किमित्यादिना** ।

"कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम् ।" इत्यमरकोशानुसारमङ्क-लक्षणयोः पर्यायतया द्वयोरिह ग्रहणं व्यर्थमिति शङ्कते-**अथाङ्कलक्षणयोः को विशेष इति** । उत्तरयति-**लक्षणं लक्ष्यस्यैव स्वम् इत्यादिना** । लक्ष्येण साक्षात् सम्बद्धत्वेन तत्स्वरूपपरिचायकं तल्लक्षणम् इत्यर्थः । **अङ्कस्तु** नाङ्कितस्य स्वरूपपरिचायकमपि तु **स्वामिविशेषसंबन्धज्ञापकमित्यर्थः** तथा चाङ्को लक्ष्यं न स्वरूपतो व्यावर्तयति किन्तु स्वामिविशेषसंबन्धद्वारेति तयोर्भेदः स्पष्ट इति भावः । पूर्वत्रोदाहरणं शिखादिः, परत्र च स्वस्तिकादिः । शिखादिर्लक्ष्यावयवीभूय मयूरादिकं साक्षादेवान्येभ्यो व्यावर्त्तयति । स्वस्तिकाद्यङ्कश्च न गवादीनां स्वं स्वरूपमात्मीयं वा वस्तु अपि तु स्वामिविशेषकृतं तत्संबन्धविज्ञापकमिति ॥६।३।१७२॥

शाकलादकञ् च ॥६।३।१७३॥

त० प्र०-**शाकलशब्दात् तस्येदमित्यर्थे संघादावण् अकञ् च प्रत्ययो भवति । शाकल्येन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा शाकलाः । तेषां संघो घोषोऽङ्को वा शाकलः, शाकलकः । शाकलं शाकलकं लक्षणम् ॥१७३॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शाक० । यद्यपि 'शाकलाद् वा' इत्युक्तेऽप्यणो वैकल्पिकत्वे पक्षे "चरणादकञ्" [६.३.१६८.] इत्यकञ् सिद्ध एव, तथापि तस्य संघादिष्वर्थेषु न विधानमिति तदर्थेऽपि विधानार्थमकञः पाठ आवश्यकः । शकलस्यापत्यं शाकल्यः गर्गा-

"Aho Shrutgyanam"

दित्वाद् यञ्, तेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वेत्यर्थे प्रोक्तार्थेऽणि अवर्णलोपे "व्यञ्जनात् तद्धितस्य" [२.४.८८.] इति यलोपेऽध्ययनादार्थे विहितस्य प्रत्ययस्य प्रोक्ताद् इति लुपि शाकला इति। ततस्तेषां संघादार्थेऽनेनाणि अकञि च शाकलः शाकलक इति ॥६।३।१७३॥

गृहेऽग्नीधो रण् धश्च ॥६।३।१७४॥

त० प्र०-अग्नीध् ऋत्विग्विशेषः। तस्मात् तस्येदमित्यर्थे गृहे रण् प्रत्ययो भवति, अन्तस्य च तृतीयबाधनार्थं धादेशः। अग्नीध इदं गृहमाग्नीध्रम् ॥१७४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गृहे०। अग्नीशब्दार्थं ग्राहयति-ऋत्विग्विशेष इति। अग्निमिन्धे दीप्यति इति व्युत्पत्त्याऽग्नीधशब्देन यज्ञेऽग्निदीपने नियुक्त ऋत्विगुच्यते। तस्य गृहमित्यर्थेऽनेन रणि धकारस्य दकारबाधनार्थं धकारादेशे आग्नीध्रमिति। तस्मिन् गृहे स्थितत्वात् स ऋत्विगपि चाग्नीध्रशब्देनोपचर्यते इति सम्प्रदायः॥ ६।३।१७४॥

रथात् सादेश्च वोढृङ्गे ॥६।३।१७५॥

त० प्र०-नियमसूत्रमेतत्। रथात् केवलात् सपूर्वाच्च षष्ठ्यन्तादिदमर्थे यः प्रत्ययः स रथस्य वोढरि रथाङ्गे एव च भवति। रथस्यायं वोढा रथ्योऽश्वः। रथस्येदं रथ्यं चक्रम्। रथ्यं युगम्। सादि, द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः। त्रिरथः। 'द्विगोरनपत्ये यस्वर०' [६.१.२४.] इत्यादिना यलुप्। अन्ये तु स्वरादेरेव लुपमिच्छन्ति। तन्मते द्विरथ्यः। त्रिरथ्यः। परमरथस्येदं परमरथ्यम्। उत्तमरथ्यम्। आश्वरथं चक्रम्। वोढृङ्ग एव इति नियमात् अन्यत्र वाक्यमेव न प्रत्ययः। रथस्येदं स्थानम्। अश्वरथस्य स्वामी ॥१७५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—रथात्०। सूत्रे विधीयमानस्य कस्यापि कार्यस्याश्रवणात् किमर्थमेतत्सूत्रमिति संशये आह-नियमसूत्रमेतदिति। उत्तरेण सामान्यतः तस्येदमित्यर्थे विधीयमानस्य 'यस्य' वोढरि, रथाङ्ग एव च विधिर्नान्यत्रेति नियमसूचनाय सूत्रमिदमित्याशयः, अन्यथा रथसंबन्धिनि गृहादावपि यः स्यादिति भावः। तथा च नियमस्वरूपमेव सूत्रार्थं विवृणोति-रथात् केवलादित्यादिना। यद्यपि अग्रे "वहति रथयुगप्रासङ्गात्" [७.१.२.] इति सूत्रेण वहत्यर्थे विहितेन येन वोढृर्थः कथ्यत एव, तथापि तस्य प्राग्जितीयाद् भिन्नत्वेन "द्विगोरनपत्ये यस्वर०" [६.१.२४.] इति यस्य लुग् न स्यादित्येतदर्थं प्राग्जितीयाधिकारमध्ये विशिष्यायं विहित इति। अन्ये तु स्वरादेरेव लुपमिच्छन्तीति। पाणिनीयानामपि मतमिदम्। "द्विगोर्लुगनपत्ये" [पा०सू० ४.१.८८.] इति सूत्रेण स्वरादेरेव लुको विधानं तैः क्रियते। अत एव च तैरत्र प्रकरणे वोढरि यप्रत्ययोऽपि न विधीयते, अग्निमसूत्रेणैव वहत्यर्थे यो विधीयते तेनैव तदर्थात्रगतेरिति। तन्मते द्विगोरपि द्वित्थ्य इत्यादेर्न रूपमित्याह-तन्मते द्विरथ्य इत्यादि। आश्वरथं चक्रमिति। 'पत्रपूर्वादञ्' [६.३.१७७.] इत्युत्तरसूत्रेणात्रा *अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा* इति न्यायं बाधित्वा व्यवहितस्यापि तस्य (पत्रपूर्वादञ्) इत्यस्य नियामकत्वमस्य सूत्रस्येति, तेनापि वोढृङ्ग एव प्रत्ययो भविष्यति, अनन्तरेण "यः" [६.३.१७६.] इति सूत्रेण तुल्ययोगक्षेमत्वात्। तथा च स्मरति-वोढृङ्ग एवेति नियमादन्यत्र वाक्यमेव न प्रत्ययः इति। एतत्कृतनियमसामर्थ्याद् रथात् सपूर्वादपि वोढरि तदङ्ग एव चेदन्त्वेन वाच्ये किंप्रत्ययः स्यात्, अन्यत्रार्थेऽभिधेये वाक्यमेव प्रयुज्यते इत्यर्थः। तथा च रथस्येदं स्थानमित्यर्थे "यः" [६.३.१७६.] इति यः, अश्वरथस्य स्वामीत्यर्थे च "पत्रपूर्वादञ्" [६.३.१७७.] इत्यञ् च न भवतीति ॥६।३।१७५॥

यः ॥६।३।१७६॥

त० प्र०-रथात् केवलात् सादेश्च षष्ठ्यन्तादिदमर्थे यः प्रत्ययो भवति। अणाद्यपवादः। रथस्यायं वोढा रथ्यः। द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः। त्रिरथः। रथ्यम्। परमरथ्यम्। काष्ठरथ्यं चक्रम् ॥१७६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—यः। अणाद्यपवादः इति। औत्सर्गिकस्याणः आदिशब्देन तुनिमित्तस्य च काष्ठरथादेः प्राप्तस्यापवादः। इदं सूत्रं पूर्वसूत्रेण नियन्त्रितमिति रथस्य वोढरि, रथाङ्गे चेदन्त्वेन वाच्य एव प्रवर्तेतेति तदनुसारमेव विग्रहमाह-रथस्यायं वोढेति। द्वयो रथयोर्वोढेत्यर्थे विहितस्य यस्य च "द्विगोरनपत्ये०" [६.१.२४.] इति लुबिति पूर्वसूत्र-

"Aho Shrutgyanam"

व्याख्यायामेव प्रतिपादितं वृत्तौ ॥३।३।१७६॥

पत्रपूर्वादञ् ॥६।३।१७७॥

त० प्र०–**पत्रं वाहनम्। तत्पूर्वाद् रथशब्दात् षष्ठ्यन्तादिदमर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। यापवादः। अश्वरथस्येदमाश्वं रथं चक्रम्। आश्वरथं युगम्। औष्ट्ररथम्। रासभरथम्** ॥१७७॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—पत्र० । पत्रशब्दस्य लोके वृक्षादिदले एव प्रसिद्धेरिह प्राह्यमर्थं परिचाययति–**पत्रं वाहनमिति**। पतन्ति गच्छन्ति अनेनेति करणे त्रे, पत्रशब्दस्य सिद्धया वाहनपरत्वं तस्य। यद्यपि रथोऽपि वाहनमेव, तथापि तस्याश्वादिवाहनपूर्वकत्वं प्रयोगेषु प्रसिद्धम्। **यापवाद** इति पूर्वसूत्रेण प्राप्तस्य यस्यायं बाधक इत्यर्थः। नन्वसत्यपि अञ्ग्रहणे सूत्रस्य बाधकबाधनार्थत्वोपगमात् "प्राग्जितादण्" [६.१.१३.] इत्यधिकारलब्धेनाणैव सिद्धेऽणग्रहणं व्यर्थमिति चेत्–सत्यम्, उत्तरसूत्रे संबन्धार्थं तस्यावश्यकत्वात्। न च तत्राप्यणैव सिद्धिरिति वाच्यम्, अणि सति हस्तिनोऽयं हास्तो रथ इत्यत्रान्त्यस्वरादिलोपो न स्यात् "संयोगादिनः" [७.४.५३.] इति निषेधात्। अञि च सति तदप्रवृत्त्याऽन्त्यस्वरादिलोपः सिध्यति। **अश्वरथस्येदमिति**। अश्वेन युक्तो रथः अश्वरथः, इत्येवंरूपेण पूर्वं तृतीयासमासे ततोऽञ् सर्वत्र ॥६।३।१७७॥

वाहनात् ॥६।३।१७८॥

त० प्र०–**वाहनवाचिनस्तस्येदमित्यर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। अणादेरपवादः। उष्ट्रस्यायमौष्ट्रः। रासभः। हास्तो रथः** ॥१७८॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—वाहनात्० । वहन्ति स्थानात् स्थानान्तरं गच्छन्त्यनेनेति वाहनम्, तद्वाचिन उष्ट्राश्व-हस्ति-रासभादयः। **अणादेरपवाद** इति। अण औत्सर्गिकस्य, आदिपदादीयस्य–रासभात् प्राप्तस्य, तथा मुख्याश्वादिपरात् 'अश्वपति-गजपति' आदिशब्दात् पत्युत्तरपदनिमित्तस्य अस्य चापवाद इत्यर्थः। उदाहरति–**उष्ट्रस्यायमिति**। अत्र नियमस्य वक्ष्यमाणत्वात् वाह्यादिशब्दयोगे एवेयं षष्ठी, वाह्यादेरवेदन्तया भानात् तथा च उष्ट्रस्यायं वाह्यः पन्था वा **औष्ट्रः** इत्येवमादिरूपेण विग्रहः ॥६।३।१७८॥

वाह्य-पथ्युपकरणे ॥६।३।१७९॥

त० प्र०–नियमसूत्रमिदम्। वाहनाद् योऽयं प्रत्यय उक्तः स वाह्ये पथि उपकरणे एव चेदमर्थे भवति, नान्यत्र। अश्वस्यायमाश्वो रथः। आश्वः पन्थाः। आश्वं पल्ययनम्। आश्वी कशा। **वाह्य-पथ्युपकरण एवेति नियमादन्यत्र वाक्यमेव न प्रत्ययः। अश्वानां घासः** ॥१७९॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—वाह्य० । वाहनादिति संबध्यते। तथा च वाहनवाचिनो वाह्यपथ्युपकरणरूपेऽर्थे अञ्प्रत्ययोऽनेन विधीयते इत्यर्थाश्रयणे सूत्रस्य वैयर्थ्यमेव, पूर्वसूत्रेणैतेष्वर्थेषु इदन्त्वेन विवक्षितेषु प्रत्ययस्य सिद्धत्वात्। तथा चास्य विध्यर्थत्वाभावेन नियमार्थत्वमित्याह–**नियमसूत्रमिदमिति**। तथा च नियमाकारं वृत्तावाह–**वाह्ये, पथि, उपकरणे एव चेदमर्थे नान्यत्रेति**। पूर्वसूत्रेणैकवाक्ये तु एष्वर्थेषु अञ् स्यात्, अन्यत्रार्थेऽणादयो यथाप्राप्तमित्येवार्थः स्यादिति घासादावि-दन्त्वेन वाच्येऽणादिः स्यात्। नियमे च कृते तत्र वाक्यमेवेतिध्वनीति वक्ष्यति। स्पष्टमन्यत् ॥६।३।१७९॥

वहेस्तुरिश्रादिः ॥६।३।१८०॥

त० प्र०–**वहेः परो यस्तृचस्तृनो वा तृशब्दस्तदन्तान्नाम्नस्तस्येदमित्यर्थेऽञ् प्रत्ययस्तृशब्दस्य चादिरिकारो भवति।**

सांवोढुः सारथेरिदं सांवहित्रम् ॥१८०॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—वहेः । अत्र तुरिति तृच्-तृनोस्तृशब्दस्य सामान्येनानुकरणात् पञ्चम्येकवचने रूपम्। तथा च सूत्रार्थमाह–**वहेः परो यस्तृचस्तृनो वेत्यादि**। *प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणस्य* न्यायसिद्धत्वात् तृच्प्रत्ययान्तात् तृन्प्रत्ययान्ताच्च वहिप्रकृतिकान्नाम्न इत्यर्थः पर्यवस्यति। पदावधिकेऽन्वाख्याने 'संवह तृ अस्' इत्यवस्थायां प्रत्ययः, ततो ढत्वादीनामसत्त्वादिकारागमे ढत्वादीनां पुनः प्राप्त्यवसराभावात् आदिस्वरवृद्ध्यादौ–**सांवहित्रमिति** सिद्धम् ॥६।३।१८०॥

तेन प्रोक्ते ॥६।३।१८१॥

प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तम्, न तु कृतम्। तत्र कृत इत्येव गतत्वात्। तस्मिन्नर्थे तेनेति तृतीयान्तान्नाम्नो यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि। गणधरप्रत्येक-

"Aho Shrutgyanam"

बुद्धादिभिः कृतानि तेन व्याख्यातानीत्यर्थः । याज्ञवल्क्येन याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि । पाणिनिना पाणिनीयम् । आपिशलिना आपिशलम् । काशकृत्स्निना काशकृत्स्नम् । उशनशा औशनसम् । बृहस्पतिना बार्हस्पत्यम् ॥१८१॥

शु० म० न्यासानुसन्धानम्-तेन० । तेनेति सर्वनाम्ना तृतीयान्तेन तृतीयासमर्थविभक्त्यन्तं नामोपस्थाप्यते । प्रकर्षेणोक्तं **प्रोक्तम्**-इति व्युत्पत्तौ प्रकर्षस्य प्राथम्यरूपस्य विवक्षणे प्रथमस्य कथयितुः तत्तद्ग्रन्थादि कर्तुरेव प्रत्ययः स्यात् स चेह नेष्ट इति, प्रोक्तशब्दार्थमन्यथा ग्राहयति-**प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वेति** । कर्त्रा च केवलमुच्यते । कथने प्रकर्षश्च व्याख्यात्राऽध्यापकेन वा प्रकाश्यते स एव प्रवाचकत्वेन ग्राह्य इति भावः । कर्तुग्रहणे बाधकमाह-**तत्र कृतं इत्येव गतार्थं स्यात्** इति । प्रोक्ते इत्यस्य प्रवचनकर्तुः तत्कर्तुः (ग्रन्थादिविधायकस्य) ग्रहणेऽग्रे वक्ष्यमाणेन "कृते" [६.३.१९२.] इति सूत्रेणैव प्रत्ययः स्यादेवेत्यस्य वैयर्थ्यं स्यादिति भावः । प्रोक्तार्थस्योक्तरूपस्य लक्ष्ये प्रतीतिमुपापदयति-**गणधर-प्रत्येकबुद्धादिभिः कृतानीत्यादिना** । उत्तराध्ययवसूत्राणि प्रत्येकबुद्धादिभिर्गणधरैः कृतानि भद्रबाहुना व्याख्यातानि इति **भाद्रबाहवाण्युच्यन्ते** । भाद्रबाहवानीत्यत्राण् । पाणिनेन, **पाणिनिना वा प्रोक्तम्-पाणिनीयम्**, अत्र दुलक्षण ईयः । बार्हस्पत्यमित्यत्र पत्युत्तरपदलक्षणो ण्यः । अन्यत्र सर्वत्राणेवेति यथाविहितं प्रत्यया बोध्याः ॥६।३।१८१॥

मौदादिभ्यः ॥६।३।१८२॥

त० प्र०-**मौद** इत्येवमादिभ्यस्तेन प्रोक्ते यथाविहितं प्रत्ययो भवति । स चापवादैर्बाधितोऽणेव । अपवादस्यैव भावे वचनानर्थक्यात् । **मौदेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा मौदाः** । 'वेदेन ब्राह्मणमत्रैव' [६.२.१३०.] इति नियमात् । अत्र वेदित्रध्येतृविषय एवाण् । एवं **पैप्पलादाः । जाजलाः । माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः । सौलभानि ब्राह्मणानि । मौदादयः प्रयोगगम्याः** ॥१८२॥

शु० म० न्यासानुसन्धानम्-मौदा० । यथाविहितं प्रत्यय इत्येतावदुक्तौ दुर्लक्षकेभ्य ईयः स्यात् इति शङ्कायामाह- **स चापवादैर्बाधितोऽणेवेति** । अयमाशयः-औत्सर्गिकोऽण् ईयादिभिरपवादैर्बाधितः, इति सूत्रं विनाऽपीयादयो भविष्यन्त्येव 'तेन प्रोक्तम्' इत्यर्थे, इति सूत्रस्य कृतानर्थक्यमेव । क्रियते च सूत्रमिति तद्बाधकबाधनार्थं सदीयादिबाधकत्वेनाणो विधायकं पर्यवस्यति । तदेवाह-**अपवादस्यैव भावे वचनानर्थक्यादिति** । "मौदेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा" इति विग्रहे पूर्वमनेनाण् ततो वेदित्रध्येतृविषयेऽण् तस्य "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इति लुप् । कुतः प्रोक्तार्थस्य वेदित्रध्येत्रर्थाभ्यां सहैव विग्रहवाक्यं प्रदर्श्यते इत्याशङ्कायामाह-"**वेदेनब्राह्मणमत्रैव**" [६.२.१३०.] **इति नियमादित्यादि** । इति सूत्रप्रदर्शितेन नियमेन प्रोक्तप्रत्ययान्तस्य वेदवाचिनोऽध्येतृ-वेदितृप्रत्ययमात्रविषयतायां नियन्त्रितत्वेनोभयविधार्थस्य सहैव प्रदर्शयितुमौचित्यमिति भावः । पिप्पलादेन पैप्पलादेन वा प्रोक्तं वेदमधीयते विदन्ति वा **पैप्पलादाः**, जाजलेन जाजलिना प्रोक्तं वेदमित्यादिर्विग्रहः । वेदादन्यत्र प्रोक्तार्थमात्रे प्रत्यय इति तथैव वृत्तिं दर्शयति-**माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिरिति** । अणि सति स्त्रियामणन्तत्वान्ङीः । सौलभेन सुलभेन वा प्रोक्तानि **सौलभानि ब्राह्मणानि** । मौदादीनामपठितत्वादाह-**मौदादयः प्रयोगगम्या** इति । प्रयोगेणैवाणन्तेन तेऽनुगन्तुं शक्यन्ते नेयत्तया परिच्छिद्य पठितुं शक्या इति भावः ॥६।३।१८२॥

कठादिभ्यो वेदे लुप् ॥६।३।१८३॥

त० प्र०-**कठ** इत्येवमादिभ्यः प्रोक्ते यः प्रत्ययस्तस्य लुप् भवति, स चेत् प्रोक्तो वेदो भवति । कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा **कठाः** । **चरकाः** । **कर्कराः** । **धेनुकण्ठाः** । **गोगडाः** । 'वेदेन ब्राह्मणमत्रैव' [६.२.१३०.] इति नियमात् वेदित्रध्येत्रोरेव विषये प्रत्ययस्य लुप् । वेद इति किम् ? चरकेण प्रोक्ता-**श्चारकाः श्लोकाः** । **चरको वैशम्पायनः** । **कठादयः प्रयोगगम्याः** ॥१८३॥

शु० म० न्यासानुसन्धानम्—कठा० । अत्र लुप् विधीयते, न च तदुद्देश्यत्वेन किञ्चिदुपादीयते सूत्रे, तथापि प्रत्यासत्त्या प्रोक्तेऽर्थे विहितस्यैव लुबिति गम्यते । **कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वेते** विग्रहे

"Aho Shrutgyanam"

कठशब्दात् शौनकादित्वात् णिन्, तस्यानेन लुप् पुनर्वेदित्यर्थयोर्विहितस्याणः "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इति लुप् इत्येवं प्रक्रिया विज्ञेया। अत्रापि पूर्वोक्तरीत्या "**वेदेनब्राह्मणमत्रैव**" [६.२.१३०.] **इति नियमप्रवृत्त्योक्तरूपेण** विग्रहादिरिति पुनः सूचयति। वेदादन्यत्र विषये तु न लुप् इति सूचयितुं पृच्छति—**वेद इति किमिति** अन्यत्रार्थे विहितोण् श्रूयत एव न लुप्यते इत्येतदर्थं वेदग्रहणमित्याह—**चरकेण प्रोक्ताश्चारकाः श्लोका इति।**

ननु य एव वेदस्य प्रवक्ता चरकः स एवायमुतान्य इत्याशङ्कायामाह—**चरको वैशम्पायन** इति, नायं वेदस्य प्रवक्ताऽपि तु पुराणप्रवक्तृत्वेन श्रुतो वैशम्पायन एव चरकशब्देनेह प्रोक्त इति भावः। **कठादयः प्रयोगगम्या** इति। नेयत्तया ते पठितुं शक्या इति भावः। पाणिनीये च न कठादिगणः श्रूयतेऽपि तु "कठ-चरकाल्लुप्" [पा० सू० ४.३.१०७.] इति सूत्रे द्वावेव कठ-चरकौ पठितौ। अन्येभ्यो लुपः प्रयोगस्याभिधाने तु तेषां शब्दानां प्रोक्तार्थे लक्षणेति वर्णयन्ति ॥६।३।१८३॥

तित्तिरि-वरतन्तु-खण्डिकोखादीयण् ॥६।३।१८४॥

त० प्र०—तित्तिरि वरतन्तु खण्डिक उख इत्येतेभ्यस्तेन प्रोक्तेऽर्थे ईयण् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः; स चेत् प्रोक्तो वेदो भवति। तित्तिरिणा प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। खाण्डिकीयाः। औखीयाः। वेदे इत्येव? तित्तिरिणा प्रोक्तास्तैत्तिराः श्लोकाः। अत्रापि 'वेदेन ब्राह्मणमत्रैव' [६.२.१३०.] इत्युपतिष्ठते ॥१८४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तित्तिरि०। प्रोक्ते वेदे इत्यनुवर्तत एव। तथा चार्थमाह—**प्रोक्तेऽर्थे ईयण् भवति, अणोऽपवादः, स चेत् प्रोक्तो वेदो भवतीति।** अण् तेन प्रोक्ते इत्यनेनौत्सर्गिक एव प्राप्त ईयणा बाध्यते। तित्तिरिणा, वरतन्तुना, खण्डिकेन, उखेन च प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वेत्यर्थे प्रत्ययः। आदिस्वरवृद्धिः। वरतन्तोरुवर्णस्यादेशोऽपि। वेदादन्यत्राणेवेत्याह—**तैत्तिराः श्लोका इति। अत्यापि सूत्रस्य वेदविषयत्वादत्रापि नियमप्रवृत्तिमाह—अत्रापि "वेदेनब्राह्मण०"** [६.२.१३०.] **इत्युपतिष्ठत** इति। अत एव तथैव विग्रह प्रदर्शित इति भावः ॥६।३।१८४॥

छगलिनो णेयिन् ॥६।३।१८५॥

त० प्र०—छगलिन् शब्दात् तेन प्रोक्ते वेदे णेयिन् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। छगलिना प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा छागलेयिनः ॥१८५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—छगलिनो०। स्पष्टम् ॥६।३।१८५॥

शौनकादिभ्यो णिन् ॥६।३।१८६॥

त० प्र०—शौनक इत्येवमादिभ्यस्तेन प्रोक्तं वेदे णिन् प्रत्ययो भवति। अणाद्यपवादः। शौनकेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा शौनकिनः। शाङ्करविणः। वाजसनेयिनः। वेद इत्येव? शौनकीया शिक्षा।

शौनक शाङ्करव वाजसनेय शापेय काकेय (शाकेय) शाष्पेय शाल्केय स्कन्ध स्कम्भ देवदर्श रज्जुभार रज्जुतार रज्जुकण्ठ दामकण्ठ कठ शाठ कुशाठ कुशाप कुशायन आश्वपथ्य तलवकार पुरुषांसक हरिद्र तुम्बुरु उपलप आलम्बिक पलिङ्ग कमल ऋचाभ आरुणि ताण्डय श्यामायन खादायन कषायतल स्तम्भ इति शौनकादयः।

आकृतिगणोऽयम्। **तेन भाल्लविना प्रोक्तं ब्राह्मणं विदन्त्यधीयते वा भाल्लविनः, शाठायनिनः, ऐतरेयिणः** इत्यादि सिद्धं भवति। ब्राह्मणमपि वेद एव। मन्त्रब्राह्मणं हि वेदः ॥१८६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शौन०। अणाद्यपवाद इति। अण् तु सामान्यतः सर्वेभ्यः प्राप्त एव, ये च दुसंज्ञका अत्र पठितास्तेभ्य ईयस्य प्राप्तिरिति तस्यापि बाधकोऽयमित्यर्थः। अत्रापि वेदविषयत्वेनाध्येतृ-वेदितृ-अर्थविषयतेति तथैव विग्रहः क्रियते। तत्र प्रोक्तार्थेऽनेन णिन्, ततोऽध्ययनादावर्थे विहितस्याणः "प्रोक्तात्" [६.२.१२९.] इति लुप्। अत्र गणे प्रयोगे च 'शाङ्करव'-शब्दो दृश्यते रेफरहितः। पाणिनीये 'शाङ्करव' इति रेफविशिष्टः पाठो दृश्यते, तदौचित्यमपि प्रतिभाति, शङ्करस्य

"Aho Shrutgyanam"

विकारं शार्ङ्गं धनुः, तस्येव रवो यस्येत्यर्थे शार्ङ्गरवशब्दस्यैव युक्तत्वात्, पुराणकथासु तादृशस्यैव नाम्नः श्रुतत्वात्-'शार्ङ्गरव'शब्दस्य चार्थाप्रतीतेरिति लेखकप्रमादादेव रेफरहितः पाठो जात इति प्रतिभाति । वेदादन्यत्र चेय एवेत्याह-**शौनकीया शिक्षेति** । **आकृतिगणोऽयमिति** । शौनकादेरित्येकवचनेनैव निर्देशेष्वे बहुवचनान्तप्रयोगात् तथात्वावगतिरिति भावः । तत्फलमाह-**तेन भाल्लविना प्रोक्तं ब्राह्मणं विदन्ती**त्यादि । अत्रापि णिनिरिति भावः ।

ननु वेदे इत्यस्य संबन्धेन ब्राह्मणेऽर्थे कथं प्रत्यय इति चेदत्राह-**ब्राह्मणमपि वेद एवेति** । अत्रार्थे प्रमाणवाक्यमाह-**"मन्त्र-ब्राह्मणं हि वेद"** इति । 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' । इति निरुक्तोक्तयास्कवचनेन ब्राह्मणमपि वेदशब्देनाच्यते । वेदो द्विधा, मन्त्रभागः, ब्राह्मणभागश्च । तत्र मन्त्रभागे यानि कर्माणि चर्चितानि, येषु च तेषां मन्त्राणां प्रयोगः, तेषां कर्मणां प्रक्रियांशो ब्राह्मणभागे गद्येन प्रोक्त इति तस्यापि वेदवत् प्रामाणिकत्वं प्रमाणिकैरङ्गीकृतमिति वेदत्वेनैव व्यवहारः सर्वत्रेति ॥६।३।१८६॥

पुराणे कल्पे ॥६।३।१८७॥

त० प्र०-**तेनेति** तृतीयान्तात् प्रोक्तेऽर्थे **णिन** प्रत्ययो भवति । अणाद्यपवादः । **स चेत् प्रोक्तः पुराणः कल्पो** भवति । **पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पुराणः पैङ्गीकल्पः** । तृणपिङ्गेन **तार्णपिङ्गीकल्पः** । **अरुणपराजेन आरुणपराजीकल्पः** । **येऽपि पैङ्गिनं कल्पं विदन्त्यधीयते वा तेऽपि पैङ्गिनः** । **आरुणपराजिनः** । **प्रोक्ताद्धि लुबुक्तैव** । **पुराण इति किम्? आश्मरथः कल्पः** । **आश्मरथ्येन प्रोक्तः उत्तरकल्पेभ्य आरातीय इति भूयते** ॥१८७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-पुराणे० । कल्पो नाम कल्प्यतेऽनेनेति व्युत्पन्नो वेदानुसारि कर्मणामिति कर्तव्यतासूचकः कल्पसूत्रापरनामा वेदाङ्गभूतः । स च द्विविधः श्रौतः, स्मार्तश्च । तैत्तिरीयसंहितादेः ब्राह्मणेभ्यश्च समुद्भूतः श्राद्धादिविधिप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः श्रौतः कल्पः । स्मृत्युपजीवी च स्मार्तः । स च यथासमयं बहुभिः ऋषिभिः कल्पितः, तत्र यः पुराणेन मुनिना कल्पितस्तत्रैवानेन प्रत्ययो नार्वाचीनकल्पिते । तत्र पुराणनवीनकालविभाग आचारादेव । **पिङ्गेन प्रोक्त** इति । पिङ्गादयोऽरुणपराजान्ताः पुराणा ऋषयस्तेभ्यः णिन् । एभ्यो णिन्प्रत्यय यान्तेभ्योऽध्येतृवेदितृर्थे जातस्य प्रत्ययस्य **"प्रोक्तात्"** [६.३.१२९.] **इति लुपि** समानमेव रूपमित्याह-**येऽपि पैङ्गिनं कल्पं विदन्त्यधीयते वा तेऽपि पैङ्गिन एवेति** ।

कुत इत्याह-**प्रोक्ताद्धि लुबुक्तैवेति** । पुराणग्रहणस्य व्यावर्त्यमाह-**आश्मरथः कल्प** इति । अश्मरथस्यापत्यमाश्मरथ्यः, गर्गादित्वाद् यञ् । तेन प्रोक्त इत्यर्थेऽणि व्यञ्जनात् तद्धितस्येति यलोपे आश्मरथ इति । अयं हि नवीन ऋषिरिति ततो न णिन् भवति । तस्य नवीनत्वमेवाह-**आश्मरथ्येन प्रोक्तः कल्प** इत्यादि । आरातीय इति आराद्भवः इत्यर्थे दुनिमित्त ईयः, पश्चाद्भव इत्यर्थः । **इति भूयते** इति कथनेनास्य व्यवहारस्य आचारप्राप्तत्वमेव प्रकाश्यते ॥६।३।१८७॥

काश्यप-कौशिकाद् वेदवच्च ॥६।३।१८८॥

त० प्र०-**आभ्यां तेन प्रोक्ते पुराणे कल्पे णिन् प्रत्ययो भवति** । **ईयापवादः** । **वेदवच्चास्मिन् कल्पे कार्यं भवति** । **काश्यपेन प्रोक्तं पुराणं कल्पं विदन्त्यधीयते वा काश्यपिनः** । **कौशिकेन कौशिकिनः** । **काश्यपिनां धर्म आम्नायः संघो वा काश्यपकः** । **कौशिकिनां कौशिकिकः** । **वेदवच्चेत्यतिदेशाद् वेदेन ब्राह्मणमत्रैवेति नियमाद् वेदिग्रध्येतृविषयता 'चरणादकञ्'** [६.३.१६७.] **इत्यकञ् च भवति** । **कल्प इत्येव? काश्यपीया संहिता** । **पुराण इत्येव? इदानींतनेन गोत्रकाश्यपेन प्रोक्तः कल्पः काश्यपीयः** । **वेदवच्चेति अतिदेशार्थं वचनम्** ॥१८८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—काश्यप० । **ईयापवाद** इति । उभयोर्दुसंज्ञत्वादीस्य प्राप्तिः, तद्बाधकोऽयमित्यर्थः । पुराणे कल्पे इत्यस्य संबन्धात् तथैव विग्रहमाह-**काश्यपेन प्रोक्तं पुराणं कल्पमित्यादि** । अनयोः प्रत्ययान्तयोः धर्माम्नायाद्यर्थेषु वेदवत् कार्यातिदेशात् अकञपि भवतीति तदुदाहरति-**काश्यपिनां**

"Aho Shrutgyanam"

धर्म आम्नायः संघो वा काश्यपक इति । "चरणादकञ्" [६.३.१६७.] इत्यकञि अन्त्यस्वरादिलोपः । वेदवदित्यतिदेशस्य फलं स्पष्टयति-**वेदवच्चेत्यतिदेशादि**त्यादिना । कल्पादन्यत्रेय एवेत्याह-**काश्यपीया संहितेति** । पुराण इत्यस्य व्यावर्त्यमाह-**इदानीन्तनेन गौत्रकाश्यपेनेति** । कस्यपस्यानन्तरापत्यं काश्यपो मुनिः पुराणः, यश्च तद्रोत्रे भवः सोऽपि काश्यपः, स च न पुराण इति ततः प्रोक्तेऽर्थे ईय एवेति भावः ।

ननु पुराणे कल्पे इति सूत्रेणैवेयापवादो णिन् सिद्ध एवेति किमर्थमिदं सूत्रमिति चेदत्राह-**वेदवच्चेति अतिदेशार्थं वचनमिति** । अतिदेशस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥६।३।१८८॥

शिलालि-पाराशर्याभ्यां भिक्षुसूत्रे॥६।३।१८९॥

त० प्र०-**शिलालिन् पाराशर्य इत्येताभ्यां तेन प्रोक्ते यथासंख्यं नटसूत्रे च णिन् प्रत्ययो भवति । अणश्चपवादः । वेदवच्चास्मिन् कार्यं भवति । नटानामध्ययनं नटसूत्रम् । भिक्षूणामध्ययनं भिक्षुसूत्रम् । शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रं विदन्त्यधीयते वा शैलालिनो नटाः । पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं विदन्त्यधीयते वा पाराशरिणो भिक्षवः । शैलालिनां धर्मः आम्नायः संघो वा शैलालकम् । पाराशरकम् । अतिदेशाद् वेदाध्येतृविषयता चारणादकञ् च भवति । नटभिक्षुसूत्र इति किम् ? शैलालं पाराशरम् ॥१८९॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**शिलालि०** । शिलं कणिशार्जनमलते शीलयति तच्छीलः शिलाली । पराशरस्यापत्यं पाराशर्यः व्यासः । नटाश्च भिक्षवश्चेति नट-भिक्षवः, तेषां सूत्रमिति समासे सूत्रशब्दस्योभाभ्यां संबन्धे भिक्षुसूत्रे च यथाक्रमं प्रत्ययः । तथा च शिलालिनो नटसूत्रे पाराशर्याच्च भिक्षुसूत्रे इत्यर्थो लभ्यते । **अणश्चपवाद इति** । तेन प्रोक्त इति प्राप्तस्यौत्सर्गिकस्याणः शिलालिनः, "शकलादेर्यञः" [६.३.२७.] इति प्राप्तस्याञः पाराशर्याच्च, बाधकोऽयम् । **वेदवच्चेत्यप्यनुवृत्तमिति** तदतिदेशोऽपि भवतीति अध्येतृ-वेदितृप्रत्ययविषयताऽपि भवति । नट-भिक्षुसूत्रयोरर्थमाह-**नटानामध्ययनमिति** । नटानां स्वकर्मविषयकमध्येतव्यं सूत्रमित्यर्थः । एवं भिक्षुणामध्येतव्यं सूत्रमित्यर्थः । शिलालिना नटशिक्षासूत्राणि प्रणीतानि । पाराशर्येन व्यासेन च वेदान्तसूत्राणि प्रणीतानि । तानि च संन्यासिभिरेवाध्येतव्यानीति भिक्षुसूत्राण्युच्यन्ते । वेदवत्त्वातिदेशाच्च "चरणादकञ्" [६.३.१६८.] इत्यपि भवतीत्याह-**शिलालिनां धर्म** इत्यादिना । नट-भिक्षुसूत्रग्रहणव्यावर्त्यमाह-**शैलालं पाराशरमिति** । शिलालिना पाराशर्येण च प्रोक्तेऽन्यस्मिन् ग्रन्थे यथायथमण् अञ् च भवतीति भावः ॥६।३।१८९॥

कृशाश्वकर्मन्दादिन् ॥६।३।१९०॥

त० प्र०-**आभ्यां तेन प्रोक्ते यथासंख्यं नटसूत्रे भिक्षुसूत्रे च इन् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । वेदवच्चास्मिन् कार्यं भवति । कृशाश्वेन प्रोक्तं नटसूत्रं विदन्त्यधीयते वा कृशाश्विनो नटाः । कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं विदन्त्यधीयते वा कर्मन्दिनो भिक्षवः । अतिदेशादकञ् च । काशाश्विकम् । कार्मन्दकम् । नटसूत्रे कापिलेयशब्दादपीच्छन्त्येके । कापिलेयिनो नटाः कापिलेयक आम्नायः ॥१९०॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**कृशा०** । नट-भिक्षुसूत्रे इति वेदवच्च, इति च पूर्वतोऽनुसृतम् । तथा चार्थमाह-**आभ्यां तेन प्रोक्ते** इत्यादिना । अणः औत्सर्गिकस्यायमपवाद इत्याह-**अणोऽपवाद** इति । **वेदवत्त्वातिदेशादध्येतृ**-वेदितृप्रत्ययविषयताऽपीति तथैव विग्रहवाक्यमाह-**कृशाश्वेन प्रोक्तं नटसूत्रमित्यादिना** । अत्र मतान्तरमाह-**नटसूत्रे कापिलेयशब्दादपीच्छन्त्येके** इति । तथा च तेषां मते तथैव सूत्रमपि विभज्येतेत्यपरं गौरवम् । तथा च तस्य वेदवत्त्वातिदेशोऽपि भविष्यतीत्यध्येतृ-वेदितृप्रत्ययविषयता, धर्मादौ चरणादकञ् चेति सर्वमेव स्यादिति तथैव रूपद्वयमाह-**कापिलेयिनो नटाः, कापिलेयक आम्नाय** इति ॥६।३।१९०॥

उपज्ञाते ॥६।३।१९१॥

त० प्र०-**तेनेति वर्तते । प्रथमत उपदेशेन विना वा ज्ञातमुपज्ञातं प्रथमतः कृतं वोपज्ञातम् । तस्मिन्नर्थे तृतीयान्ताद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति । पाणिनेन पाणिनिना वोपज्ञातं पाणिनीयम् अकालकं व्याकरणम् । काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् ॥१९१॥**

"Aho Shrutgyanam"

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—उप०। तेनेति **वर्तते** इति । समर्थविभक्तिसमर्पकं तेनेति पदं पूर्वतः संबध्यत इति भावः । उपज्ञातपदार्थं ग्राहयति; प्रथमत उपदेशेन विना वा ज्ञातमित्यादिना । उपशब्द आद्यर्थक इति प्रसिद्धेः प्राथमिकज्ञानविषय इति उपज्ञातशब्दार्थ इति भावः । अनादावस्मिन् ज्ञात-ज्ञातृ-ज्ञेयप्रवाहे केनेदं पूर्वमेव ज्ञातमिति निर्णेतुमशक्यमिति मत्वाऽर्थान्तरमाह—**उपदेशेन विना ज्ञातमिति** । अन्योपदेशमनपेक्ष्य ज्ञानविषयीकृतमिति तदर्थः ।

ननु पाणिन्यादीनामपि केनचिद् रूपेणेश्वरोपदेशापेक्षा आसीदेवेति विश्रुतत्वात् कथं तर्हि पाणिन्युपज्ञं व्याकरणं कथ्येतेति विषयेऽर्थान्तरमाह—**प्रथमतः कृतं वेति** । अस्तु नामेदृशं ज्ञानमन्यस्यापि कस्यचित्, अस्तु वा परोपदेशापेक्षाऽपि किन्तु यथा तत्कृतं वस्तु संप्रत्युपलभ्यते तथाऽन्यकृत नोपलभ्यत इत्येव तस्य प्रथमकर्तृत्वमिति स उपज्ञाता भवति, इति पाणिनीयादिशास्त्रस्य तथाभूतत्वेन **तत्पाणिनेन पाणिना वोपज्ञातं** कथयितुं शक्यत इति भावः तथा च पाणिनशब्दस्य पाणिनिशब्दस्य वा दुसंज्ञकत्वेन ततोऽस्मिन्नर्थे "दोरीयः" [६.३.३२.] इति विहित ईयो भवति । **अकालकं व्याकरणमिति** विशेष्यनिर्देशः । तत्राकालकमिति विशेषणस्यायमर्थः—काल-परिभाषारहितमिति । नास्ति कालः काल-परिभाषा यत्रेत्यर्थात् । पाणिनितः पूर्वैः शर्चार्यैरद्यतनादिकालपरिभाषा कृता, पाणिनिना च सा न कृता, प्रत्युत तत्करणं निषिद्धमपि । तथाहि "कालोपसर्जने च तुल्यम्" [पा०सू०१.२.५७.] इति तदीयं सूत्रम् । तस्यायमर्थः—कालपरिभाषणमुपसर्जनपरिभाषणमपि लिङ्ग-वचनाद्यनुशासनवद् अनारम्भणीयमेव लोकत एवास्यार्थस्य सिद्धेरिति । शास्त्रेण हि अज्ञातार्थज्ञापकेन भवितव्यम्, तथासत्येव तत्र प्रामाण्योपपत्तेः । ये ह्यर्था लोकप्रसिद्धा एव कृतं तत्र शास्त्रव्यापारेणेति तदाशयः । **काशकृत्स्नं गुरुलाघवमिति** । काशकृत्स्नेन गौरव-लाघवविषयकं शास्त्र प्रोक्तमिति तद्गुरु-लाघवपदेनोच्यते । **गौरव-लाघवार्थे** गुरुलाघवपदस्य कथं प्रयोग इति "प्रोष्ठमद्रपदाज्जाते" [७.४.१३.] इति सूत्रव्याख्यायां बृहद्वृत्तौ निरूपितमेवेति तत एवावगन्तव्यम् ॥६।३।१९१॥

कृते ॥६।३।१९२॥

त० प्र०—तेनेति तृतीयान्तात् कृते उत्पादितेऽर्थे यथाविहितमणादयो भवन्ति । शिवेन कृतो ग्रन्थः शैवः । वाररुचानि वाक्यानि । जलूकेन जलूकया वा कृता जालूकाः श्लोकाः । जालूकिना जालुकाः । अत्र 'वृद्धेञः' [६.३.२८.] इत्यञ् । सिद्धसेनीयः स्तवः इष्टिकाभिः कृतः प्रासादः ऐष्टकः । नारदेन कृतं गीतं नारदीयम् । मनसा कृता मानसी कन्या । तक्षणा कृतः प्रासादः इत्यादावनभिधानान्न भवति । कृते ग्रन्थे एवेच्छन्त्यन्ये ॥१९२॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—कृते०। तेनेति संबध्यते, तच्च प्रकरणवशाद् यद्यपि कर्तृतृतीयान्तोपस्थापकं तथापि सामान्यत एव व्याख्यायते सर्वैः—**तेनेति तृतीयान्तात् कृते** इत्यादि । कृधातोः क्रियासामान्यपरत्वेऽपि उत्पत्तिः, उत्पादनानुकूलः उत्पत्त्यनुकूलो वा व्यापार एव बाहुल्येनाभिधीयते इति तदाशयेनाह—**उत्पादितेऽर्थे** इति । **यथाविहितमिति** कथनेन येभ्यः ये प्रत्ययाः पूर्वोक्तसूत्रानुसारं प्राप्तास्त एवेहातिदिश्यन्ते इति भावः । तथा च शिवशब्दादौत्सर्गिकोऽण्, वररुचिना कृतानीत्यर्थेऽपि स एवेति **वाररुचानि वाक्यानि**—वार्तिकानि ।

"वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम् ।
पाणिनिं सूत्रकारं च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम् ॥"

इत्यादिदर्शनाद् वररुचेर्वाक्यकारत्वं प्रसिद्धम् । जालूकाः जालुका वा श्लोकाः प्रसिद्धाः, तत्र कुर्वन्नाम न प्रसिद्धमिति तत्पदं त्रिधा व्याख्याति, **जलूकेन जलूकया वा कृता जालूका, जालुकिना कृता जालुका इति** । पूर्वयोरौत्सर्गिकोऽण्, परत्र च "वृद्धेञः" [६.३.२८.] इत्यञ् । सिद्धसेनशब्दस्य नामत्वात् "संज्ञादुर्वा" [६.१.६.] इति दुसंज्ञया, "दोरीयः" [६.३.३२.] इतीयः। **इष्टिकाभिः कृता** इति । अत्र चेष्टकानां करणत्वेऽपि तृतीयान्तसामान्यस्य ग्रहणेन प्रत्ययः । पाणिनीये तु तृतीयाया अत्र प्रकरणे कर्तृवाचिकाया ग्रहणं स्वीकृत्येदृशप्रयोगे वाक्यमेवेति आश्रीयते । सति चेदृशप्रयोगस्याभिधाने इष्टिकानामयमितीदमर्थ एव प्रत्यय आश्रीयते । क्वचिच्च कर्तृतृतीयान्तादपि न प्रत्ययः इत्याह—**तक्षणा कृतः प्रासादः इत्यादावनभिधानान्नेति** तेन कृतम् इत्यनेन उत्पत्तौ स्वातन्त्र्यं प्रत्याय्यते, तक्षादेश्च न तत्र स्वातन्त्र्यमपि तु परप्रेरणया प्रवृत्तिरिति तत्कृतेः प्रत्ययेनाभिधानं न भवतीति स्वभाव इति भावः ।

"Aho Shrutgyanam"

मतान्तरमाह–**कृते ग्रन्थे** एवेच्छन्त्यन्ये इति । पाणिनीयमतमिदम् । तत्र हि "कृते ग्रन्थे" [पा०सू० ४.३.११६.] इत्येव सूत्रमस्ति, न तु सामान्यतः कृते इति । यदि च ग्रन्थादन्यत्रापि कृतार्थे प्रयोगः प्रसिद्धः तर्हि तदग्रिमसूत्रेण "संज्ञायाम्" [४.३.११७.] इत्यनेन स्वमते यथा 'नाम्नि मक्षिकादिभ्यः' [६.३.१९३.] इति सूत्रमस्ति तत्स्थानीयेन, साधनीयमिति तेषां मतम् ॥६।३।१९२॥

नाम्नि मक्षिकादिभ्यः ॥६।३।१९३॥

त०प्र०–**मक्षिकादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः कृतेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति नाम्नि, प्रत्ययान्तं चेन्नाम भवति । मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधु । सरघाभिः सारघम् । गर्मुद्भिर्गार्मुतम् । नर्मुकाभिर्नार्मुकम्? मक्षिकाभिः कृतं शकृत् । वातपैः कृतं वातपमित्यत्राणन्तं नाम नेयान्तमितीयो न भवति ।**

मक्षिका सरघा गर्मुत् नर्मुका पुत्रिका क्षुद्रा भ्रमर वटर वातप इति मक्षिकादयः प्रयोगगम्याः ॥१९३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**नाम्नि०** । तेनेत्यनुवृत्तम्, तृतीयान्तमात्रपरमिति तत्र बहुवचनैकवचनादिविभागोऽनभिमत इति तथा सूत्रं व्याख्याति–**मक्षिकादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्य** इति । **माक्षिकमित्यादौ** सर्वत्राण् । वातपशब्दस्यात्र पठितस्य दुर्लक्षत्वे सत्यपि **वातपमित्यस्यैव** नामत्वेन नेयः किन्तु अणेवेत्याह–**वातपैः कृतमित्यादिना** । नाम्नि हि दृष्टस्यैवानुविधानमिति तत्र न्यायाप्रसरात् । मक्षिकादीनां दिक्प्रदर्शनाय पठितत्वेऽपि नेयत्तया पाठ इति सूचयति–**मक्षिकादयः प्रयोगगम्या** इति । प्रयोगदर्शनेनैव परिच्छेद्या इत्यर्थः । अत एवैकवचनान्तप्रयोगमनादृत्य बहुवचनेन निर्देशः कृत इति भावः ॥६।३।१९३॥

कुलालादेरकञ् ॥६।३।१९४॥

त० प्र०–**कुलाल इत्येवमादिभ्यस्तेन कृतेऽर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति नाम्नि, संज्ञायाम् । कुलालेन कृतं कौलालकम् । वारुटकम् । नाम्न्नीत्यभिधेयनियमार्थम् । तेन घट-घटी-शरावोदञ्चनाद्येव भाण्डं कौलालकम्, न यत्किञ्चित् कुलालकृतम् । शूर्प-पिटक-पटलिका-पिच्छिकाद्येव भाण्डं वारुटकम्, नान्यत् । एवमन्यत्रापि** ॥

कुलाल वरुट कर्मार निषाद चण्डाल सेना सिरन्ध्र देवराजन् देवराज परिषद् वधू भ्रत्र अनड्वह ब्रह्मन् कुम्भकार अश्वपाक रुरु इति कुलालादिः ॥१९४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**कुला०** । कुलालः कुम्भकाराभिधो जातिविशेषजातः । वरुटो वंशपात्रनिर्माताऽन्त्यजविशेषः । एवमन्येऽपि कारव एवात्र गणे विशेषतः पठ्यन्ते । अत्रापि पूर्वतो नाम्नीति संबध्यते एवेत्याह–**नाम्नीत्यभिधेयनियमार्थमिति** । शब्दानां पठितत्वेन तेभ्यः प्रत्ययः उत्पन्नः स्वत एव नाम स्यादेवेति नाम्नीति व्यर्थमिति शङ्कायां उत्तरमिदम् । तथा च तन्मात्रकृतित्वेन प्रसिद्धेऽर्थे एव प्रत्ययो न तु तत्कृतिसामान्ये इति भावः । तथा च यानि वस्तूनि कुलालकृतिमात्रसाध्यानि तेष्वभिधेयेष्वेव प्रत्ययो भवति, न तु तत्कृतेऽप्यन्यस्मिन् वस्तुनि । तदेव स्पष्टयति–**तेन घट** घटीत्यादिना । एवं **वारुटकमित्यस्याप्यभिधेयान्याह–शूर्पपिटकेत्यादिना** । न केवलमनयोरेव विषये किन्त्वन्यत्रापि कार्मरकादावित्याह–**एवमन्यत्रापीति** ॥६।३।१९४॥

सर्वचर्मण ईनेनञौ ॥६।३।१९५॥

त० प्र०–**सर्वचर्मन्शब्दात् तेन कृते ईन ईनञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । नाम्नीत्यधिकारादभिधेयनियमः । सर्वश्चर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः, सार्वचर्मीणः । अत्र सर्वशब्दस्य कृतापेक्षस्य चर्मशब्देनायोगिनाऽपि 'नाम नाम्ना' [३.१.१८.] इत्यादिना समासः** ॥१९५॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—**सर्व०** । नाम्नीति संबध्यते, तेन कृते इति च । तत्र नाम्नीत्यधिकारस्य फलमाह–**अभिधेयनियम** इति । अभिधेयार्थविशेष एवायं प्रयोगो न त्वन्यस्मिन्नपि चर्ममये वस्तुनि । ईने आदिस्वरवृद्ध्यभावः, ईनञो च वृद्धिरादिस्वरस्येति भेदः । **सर्वश्चर्मणा कृत** इति विग्रहवाक्ये कृत इत्यस्य सर्वशब्देन सामर्थ्यं चर्मणेत्यनेन च, किन्तु सर्वशब्दस्य चर्मणा सह न साक्षादपेक्षेति परस्परनिरपेक्षत्वेनासामर्थ्यात् समासाप्राप्तावाह–"**नाम नाम्ना०**" [३.१.१८.] इत्यादिना **समास** इति । तत्र बहुलग्रहणसत्त्वेन तस्य च

"Aho Shrutgyanam"

सर्वोपाधिव्यभिचारेऽपि प्रवृत्त्यर्थत्वेनासामर्थ्येऽपि समास इति भावः ॥६।३।१९५॥

उरसो याणौ ॥६।३।१९६॥

त० प्र०–उरस्शब्दात् तेन कृते य अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो नाम्नि। उरसा कृतः उरस्यः, औरसः ॥१९६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–उरसः०। अत्रापि नाम्नीत्यधिकारात् पुत्रादिरूपेऽर्थे वाच्य एवेमौ प्रत्ययौ नान्यस्मिन्नुरसा संपादितेऽपि। तादृशेऽर्थे वाक्यमेव भवति ॥६।३।१९६॥

छन्दस्यः ॥६।३।१९७॥

त० प्र०–छन्दस्शब्दात् तेन कृते यः प्रत्ययो निपात्यते नाम्नि। छन्दसा इच्छया कृतश्छन्दस्यः, न तु प्रवचनेन गायत्र्यादिना वा। नाम्नीत्यधिकारादभिधेयव्यवस्था। निपातनात् क्वचिदन्यत्रापि भवति। ओश्रावयेति चतुरक्षरम्। अस्तु श्रौषट इति चतुरक्षरम्, ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरं द्व्यक्षरो वषट्कारः, एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यो यज्ञमनुविहितः। अत्र स्वार्थे यः। यदा अनुष्टुबादिरक्षरसमूहश्छन्दस्तथैषां सप्तदशानामक्षराणां समूहश्छन्दस्य उच्यते ॥१९७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–छन्दस्यः। तेन कृते, नाम्नि इति पदत्रयं संबध्यते एव। तथा चाभिधेयनियमे प्राप्ते, छन्दःशब्दस्यापि अनेकाभिधेयत्वेन यदर्थकस्येह ग्रहणं तद्विग्रहवाक्येन स्पष्ट्यति–छन्दसा इच्छया कृतमिति। ऐच्छिके वस्तुन्येवास्य शब्दस्य प्रयुक्तत्वेन तत्रैव नामत्वेन व्यवहारः, अन्यत्रार्थे तु वाक्यमेव–तदेव स्पष्ट्यति–न तु प्रवचनेन गायत्र्यादिना वा। प्रवचनं वेदपारायणम्, वेदस्यापि छन्दःशब्दाभिधेयत्वात्, अक्षरमात्रावृत्तार्थत्वस्यापि छन्दःशब्दे सत्त्वेन, तद्व्युदासाय, गायत्र्यादिना वेत्युक्तम्। गायत्रीग्रहणं वृत्तान्तरस्याप्युपलक्षणम्–गायत्रीप्रभृतिवृत्तैः कृतेऽपि नायं प्रयोग इत्यर्थः। तत्र मानमाह–नाम्नीत्यधिकारादभिधेयव्यवस्थेति। उक्तमेवैतत् पूर्वम्। ननु छन्दसो यः, उरसोऽण् चेत्येव सूत्रे कृतेऽपि छन्दस्य इति प्रयोगः स्यादेवेति किमर्थं प्रयोगनिपातनमिति चेदत्राह–निपातनात् क्वचिदन्यत्रापि भवतीति। निपातनाश्रयणवशात् कृतार्थविरहेऽपि नामत्वे सति तस्य प्रयोगो भवतीत्यर्थः। क्वेत्याह–ओश्रावयेत्यादि। सप्तदशाक्षरसमूह एवात्र छन्दस्यशब्दस्य प्रयोगः, स च न क्रियाविषय इति कृतार्थत्वाभावः स्पष्टः, तथा चाह–अत्र स्वार्थे यः इति। यज्ञमुद्दिश्य विहितोऽयमक्षरसमुदायः इत्युक्तम्–यज्ञमनुविहित इति। अत्र छन्दस्त्व कथमित्याह–यथानुष्टुबादिरित्यादि ॥६।३।१९७॥

अमोऽधिकृत्य ग्रन्थे ॥६।३।१९८॥

त० प्र०–कृत इति वर्तते। अम इति द्वितीयान्तादधिकृत्य कृते ग्रन्थेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। अधिकृत्य प्रस्तुत्य उद्दिश्येत्यर्थः। तदपेक्षा द्वितीया। सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः। भद्रां भाद्रः। सुतारां सौतारः। भीमरथामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका भैमरथी। ग्रन्थ इति किम्? सुभद्रामाधिकृत्य कृतः प्रासादः। कथं वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता, उर्वशी, सुमनोहरा, बलिबन्धनम्, सीताहरणमिति। उपचाराद् ग्रन्थे तच्छब्दार्थं भविष्यति ॥१९८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—अमो०। अम इति द्वितीयाविभक्त्यन्तनामोपलक्षकम्। कृत इति वर्तते इति। समर्थविभक्तेः साक्षान्निर्दिष्टत्वात् तेनेत्यस्य निवृत्तावणि कृते इत्यनुवर्तते एवेति भावः। अधिकृत्य शब्दार्थं ग्राहयति–प्रस्तुत्य उद्दिश्येत्यर्थः, अधिकारस्य व्याकरणे प्रस्तावार्थकत्वेन प्रसिद्धेः। प्रस्तावार्थमेव स्पष्टयति–उद्दिश्येतिशब्देन। तदपेक्षा द्वितीयेति। अधिकृत्यशब्दसंबन्धमपेक्ष्यैव द्वितीयाविभक्तिर्विग्रहवाक्ये प्रयुज्यत इत्यर्थः। क्रियापेक्षां विना कर्मत्वाभावेन द्वितीयाऽप्राप्तेरिति शेषः। सुभद्रामधिकृत्येत्यादेः सुभद्रायाश्चरितमधिकृत्य तत्प्रस्तावे कृत इत्यादिरर्थः। अधिकृत्येत्यर्थस्य प्रस्तुत्येत्यादिना वर्णितस्य ग्रन्थ एव प्रवृत्तेः ग्रन्थे इत्यव्यावर्तकमिति शङ्कते–ग्रन्थे इति किमिति। व्यावर्त्यमाह–सुभद्रामधिकृत्य कृतः प्रासाद इति। सुभद्राया निवासार्थं कृतः प्रासादस्तामुद्दिश्यैव कृतो भवतीति तत्रापि अधिकारार्थस्य सत्त्वेन प्रत्ययप्रवृत्तिर्मा भूदिति ग्रन्थे इत्यावश्यकमिति भावः। 'वासवदत्ता' इत्यादयः शब्दास्तां तां नायिकामुद्दिश्य कृते ग्रन्थे प्रसिद्धाः तत्र कथं

"Aho Shrutgyanam"

न प्रत्ययोत्पत्तिरिति शङ्कते-**कथं वासवदत्तामधिकृत्य कृतेत्यादि**। उत्तरयति-**उपचाराद् ग्रन्थे तच्छब्दश्यं भविष्यति** इति। उद्देश्यवाचकस्य शब्दस्य तदुद्देशेन कृते ग्रन्थे तत्त्वमुपर्यप्रयोग इति भावः। लाक्षणिकः प्रयोग इति यावत्। तथाहि-

"तात्स्थ्यात् तथैव तादर्म्यात् तत्सामीप्यात् तथैव च।
तत्साहचर्यात् तादर्थ्याज्ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः॥"

इत्यभियुक्तोक्तया तादर्थ्यरूपं निमित्तमाश्रित्य, तस्य शब्दस्य प्रयोग इति तत्त्वम्। स चासौ शब्दः तच्छब्दः तस्य भावः प्रयोगः **तच्छब्दश्यम्**। तच्छब्दप्रयोगः ॥६।३।१९८॥

ज्योतिषम् ॥६।३।१९९॥

त० प्र०-**ज्योतिःशब्दादमोऽधिकृत्य कृते ग्रन्थेऽण् प्रत्ययो वृद्धयभावश्च निपात्यते। ज्योतीं ष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्** ॥१९९॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्- ज्योति०**। निपातनपरं सूत्रम्। **अमोऽधिकृत्य ग्रन्थे** इति **कृते** इति च सम्बध्यते। अमन्ताज्ज्योतिः-शब्दादपि प्रकृतेऽर्थे निपातनमिदम्। पाणिनीयादौ च नेदृशं निपातनं दृश्यते। न च क्वापि ग्रन्थेऽयं शब्दः संप्रति प्रयुक्तो दृश्यते। प्रयोगश्च ज्योतिःसम्बन्धिनि शास्त्रे ज्योतिषशब्दस्यैव। तत्र च संबन्धसामान्ये तस्येदमित्यर्थेऽण्। यदि च वृद्धिरहित एव प्रामाणिकः प्रयोग उपलभ्येत तदा तन्मतानुसारेण मत्वर्थीयेनार्शआद्यच्चा स प्रयोगः समर्थनीयः। स्वमते च सूत्रमेवारभ्यते इति विशेषः ॥६।३।१९९॥

शिशुक्रन्दादिभ्य ईयः ॥६।३।२००॥

त० प्र०-**शिशुक्रन्द इत्येवमादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्योऽधिकृत्य कृते ग्रन्थे ईयः प्रत्ययो भवति। शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः। यमसभीयः। इन्द्रजननीयः। प्रद्युम्नप्रत्यागमनीयः। प्रद्युम्नोदयनीयः। सीताहरणीयः। सीतान्वेषणीयः। शिशुक्रन्दादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः। शिशुक्रन्दशब्दात् केचिन्नेच्छन्ति। शैशुक्रन्दम्** ॥२००॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्-शिशु०**। अमोऽधिकृत्यग्रन्थे कृते इति संबध्यत एव। शिशूनां क्रन्दनं **शिशुक्रन्दः** तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इत्यर्थे ईयः। यमस्य सभा यमसभं तदधिकृत्य कृत इत्यादिर्विग्रहः। शिशुक्रन्दादिगणस्यापठितत्वादाह-**शिशुक्रन्दादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्या** इति। प्रयोगानुसारेणैव तद्ग्रणान्तर्गतत्वं विज्ञेयमिति सूचनार्थं बहुवचनमिति भावः ॥६।३।२००॥

द्वन्द्वात् प्रायः ॥६।३।२०१॥

त० प्र०-**द्वन्द्वात् समासादमोऽधिकृत्य कृते ग्रन्थे प्राय ईयः प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। वाक्यपदीयम्। द्रव्यपर्यायीयम्। शब्दार्थसम्बन्धीयम्। श्येन-कपोतीयम्। प्राय इति किम्? दैवासुरम्। राक्षोसुरम्। गौणमुख्यम्** ॥२०१॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्- द्वन्द्वात्०**। पूर्ववत् समर्थविभक्तिरर्थश्च संबध्यते। येभ्यो द्वन्द्वेभ्य एष प्रत्यय इष्टस्तेभ्यः शिशुक्रन्दादित्वकल्पनयैव प्रयोगेषु साध्येषु नात्यावश्यकमिदं सूत्रमिति केचित्। **प्रायः**ग्रहणस्य देवासुरादिभ्य ईयबाधनार्थस्यापि नावश्यकता तेषां शिशुक्रन्दादिबहिर्भूतत्वकल्पनयैव ईयाभावसिद्धेः। न च गौणमुख्यमित्यत्र "दोरीयः" [६.३.३२.] इति स्यादिति वाच्यम्, प्रायःग्रहणस्य तद्बाधकत्वकल्पनापेक्षया *संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः* इति न्यायाश्रयणेनैव दुसंज्ञानिमित्तस्य तस्य लक्ष्यानुरोधादनित्यत्वकल्पनासंभवात्। गुणशब्दस्यापि गौणशब्दसमानार्थत्वाद् गुण-मुख्यशब्दादेवाणि तत्सिद्धेः सम्भवाच्चेति सर्वदोषवारणसंभवेऽपि *व्याख्यानाद् वरं करणम् * इति न्यायेन सूत्रमेव कृतमित्यनुसन्धेयम् ॥६।३।२०१॥

अभिनिष्क्रामति द्वारे ॥६।३।२०२॥

त० प्र०-**द्वितीयान्तादभिनिष्क्रामति अभिनिर्गच्छत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, तच्चेदभिनिष्क्रामद् द्वारं भवति। स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कन्यकुब्जद्वारम्। माथुरम्। नादेयम्। राष्ट्र्यं द्वारम्। करणभूतस्यापि द्वारस्याभिनिष्क्रमणक्रियायां स्वातन्त्र्यविवक्षा। यथा साध्वसिश्छिनत्तीति। रचनाबहिर्भावे वा निष्क्रमिः। यथा गृहकोणो निष्क्रान्तः। द्वार इति किम्? स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति चैत्रः** ॥२०२॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्-अभि०**। पूर्ववदमोऽधिकृत्य ग्रन्थे कृते इत्यस्य संबन्धस्तु नेह-अर्थस्य निर्दिष्टत्वेन समर्थविभक्तिमात्रस्यापेक्षणात् *अपेक्षातोऽ-

"Aho Shrutgyanam"

धिकारः* इति सिद्धान्तादेकदेशमात्रस्य 'अमः' इति पदस्य संबन्ध इत्याह–**द्वितीयान्तादित्यादि**। अभिनिष्क्रामतीत्यस्यार्थमाह–**अभिनिर्गच्छतीत्यर्थे** इति। अभिनिर्गमनं तद्दिशं प्रति स्थितत्वमेव। द्वारस्याचेतनस्य गत्यर्थेनोत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारेण वास्तविकसंबन्धासम्भवात्, स्वयं चाग्रार्थं समाधानं वक्ष्यति। द्वारमिति न प्रकृतिनिर्देशोऽपि तु प्रत्ययान्तार्थनिर्देशः। तथा चाह–**तच्चेदभिनिष्क्रामद्द्वारं भवतीति**। अभिनिष्क्रमणकर्तृत्वेन द्वारं चेदुच्येतेत्यर्थः। **खुग्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारमिति**। कान्यकुब्जदेशस्य राजधान्याः वा द्वारं यत्, खुग्नदेशाभिमुखं स्यात् तदेवेत्थमुच्यते इति भावः। अचेतनस्य द्वारस्य कथमभिनिष्क्रमणकर्तृत्वमित्याशङ्कायामाह–**करणभूतस्यापीत्यादिना**। द्वारं हि अभिनिष्क्रमणस्य–कञ्चित् प्रत्यासिमुख्येन निर्गमनस्यासाधारणं साधनमिति करणं भवितुमर्हति, न तु कर्तृ इति वस्तुस्थितौ सत्यामापि *विवक्षातः कारकाणि भवन्ति* इति सिद्धान्तमनुसृत्य करणस्यापि तस्य कर्तृत्वविवक्षेति भावः। तत्र प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह–**यथा साध्वसिश्छिनत्तीति**। सौकर्यातिशयद्योतनायेह यथा करणस्याप्यसेः कर्तृत्वं विवक्षितं तद्वदिति भावः। समाधानान्तरमाह–**रचनाबहिर्भावे वा निष्क्रमिरिति**। रचनावस्थतो बहिर्भूतं निष्क्रान्तमुच्यते, अभिरित्युपसर्गश्च देशान्तरस्याभिमुख्यमात्रमाहेति खुग्नाभिमुखं स्थितमिदं द्वारं रचनातो बहिर्भूतमिति प्रयोगार्थ इति भावः। किन्तु इय प्रौढोक्तिरेव। देशविशेषद्वारस्य देशान्ताराभिमुख्येन रचनातो बहिर्भूतत्वस्य व्यवहारानुपयोगात्, किन्तु तद् देशं प्रति गच्छतां करणरूपत्वमेव तस्य युक्तमिति मत्वाऽनास्थायामेव वाशब्दः प्रयुक्तो न तु समाधानान्तराशयेन। दृष्टान्ते. **यथागृहकोणो निष्क्रान्त** इत्यत्र कञ्चित् प्रत्याभिमुख्यस्याप्रतीतेः। तथा च पूर्वोक्ता स्वातन्त्र्यविवक्षैव वरं समाधानमिति ॥६।३।२०२॥

गच्छति पथि दूते ॥६।३।२०३॥

त० प्र०–**द्वितीयान्ताद् गच्छत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ गच्छति स चेत् पन्था दूतो वा भवति। खुग्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा। माथुरः। नादेयः। राष्ट्रियः। पथिस्थेषु गच्छत्सु तद्धेतुः पन्था अभिगच्छतीत्युच्यते। खुग्नादिप्राप्तिर्वा पथो गमनम्। पथिदूत इति किम्? खुग्नं गच्छति साधुः। पाटलिपुत्रं गच्छति नौः पण्यं वणिग् वा ॥२०३॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**गच्छति०**। अम इति संबध्यते। पथि दूते इति पदद्वयं प्रत्ययान्तार्थबोधकम्। तदाह–**योऽसौ गच्छति स चेत् पन्था दूतो वेति। यथाविहितमित्युक्त**-पूर्वोक्तानामेव यथाप्राप्तप्रत्ययानामस्मिन्नर्थे विधानमिति विज्ञायते। तथा च स्रौघ्नः माथुर इत्यनयोरौत्सर्गिकोऽण्, नादेयः इत्यत्र "नद्यादेरेयण्" [६.३.२.], राष्ट्रिय इत्यत्र "राष्ट्रादियः" [६.३.३.] इत्येवं प्रत्ययाः विज्ञेयाः। अत्राप्यचेतनस्य पथो गमनक्रियाकर्तृत्वमनुपपन्नमिति तदुपपादयति–**पथिस्थेषु गच्छत्सु** इत्यादिना। तथा च गन्तृणां व्यापारः पथ्युपचर्यते इति तथैवेहापि तदुपचारो भवतीत्यर्थः। **अन्यथापि पथः कर्तृत्वं समर्थयति। खुग्नादिप्राप्तिर्वा पथो गमनमिति**। खुग्नादिदेशपर्यन्तप्राप्तत्वमेव तस्य गतिः, तत्र च तस्य (पथः) कर्तृत्वं व्यवहर्तुं शक्यत इति भावः। अर्थविशेषनियमनमावश्यकमित्याह–**खुग्नं गच्छति साधुरि**त्यादिप्रत्युदाहरणेन। तथा चैवमादिष्वर्थेषु प्रत्ययोत्पत्त्यभावाय पथि दूते इत्यावश्यकमिति भावः ॥६।३।२०३॥

भजति ॥६।३।२०४॥

त०प्र०–**द्वितीयान्ताद् भजत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। खुग्नं भजति स्रौघ्नः। माथुरः। नादेयः। राष्ट्रियः ॥२०४॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**भजति**। अम इत्यधिकृतम्। भज्धातुः सेवार्थक इहाश्रयणेऽपि प्रयुज्यते। खुग्नादयो देशविशेषाः, तत्संबन्धे भजतेराश्रयणार्थस्यैव युक्तत्वात् ॥६।३।२०४॥

महाराजादिकण् ॥६।३।२०५॥

त० प्र०–**महाराजशब्दाद् द्वितीयान्ताद् भजत्यर्थे इकण्प्रत्ययो भवति। महाराजं भजति माहाराजिकः ॥२०५॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**महाराजा०**। अम इति संबध्यते। महांश्चासौ राजा महाराजः। अत्र भजतिः सेवार्थकोऽपि भवितुमर्हति। तत्प्रीत्यर्थं तदीयसेवायां कर्तृत्वस्य प्रसिद्धेः। स्पष्टमन्यत् ॥६।३।२०५॥

"Aho Shrutgyanam"

अचित्तादेशकालात् ॥६।३।२०६॥

त० प्र०–देश-कालवर्जितं यदचित्तमचेतनं तद्वाचिनो द्वितीयान्ताद् भजत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। अणादेर्बाधकः। अपूपान् भजति आपूपिकः। शाष्कुलिकः। मौदकिकः। पायसिकः। अचित्तादिति किम्? दैवदत्तः। अदेश-कालादिति किम्? स्रौघ्नः। हैमनः ॥२०६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-अचि०। अणादेर्बाधक इति। अण औत्सर्गिकस्य आदिपदेन पायसिक इत्यादावीयस्य च बाधक इत्यर्थः। अपूपान् भजति इति। प्रीत्या भक्षणमेवात्र भजतेरर्थः। पदकृत्यमाख्यातुं अचित्तादिति किमिति। चेतनान्मा भूदित्याह–दैवदत्त इति। देवदत्तं भजतीति विग्रहे औत्सर्गिकोऽण्। देशस्य कालस्य वा भजनमप्रसिद्धमिति मत्वा पृच्छति–अदेश-कालादिति किमिति। भजनं न भक्त्या सेवनमेव अपि तु आश्रयणमपीति देशाश्रयणस्य कालाश्रयणस्य च संभवात् तत्र मा भूदित्याह–स्रौघ्नः। हैमन इति। स्रुघ्नो देशः। हेमन्तः कालः, हेमन्तादणि तलोपोऽपि विहितपूर्व इति हैमनस्य सिद्धिः ॥६।३।२०६॥

वासुदेवार्जुनादकः ॥६।३।२०७॥

त० प्र०–आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां भजत्यर्थेऽकः प्रत्ययो भवति। ईयाकञोरपवादः। वासुदेवं भजति वासुदेवकः। यदा वासुदेवशब्दः संज्ञाशब्दोऽक्षत्रियचनस्तदोत्तरेणाकञ् न प्राप्नोति, किन्तु 'दोरीयः' [६.३.३२.] इतीयः स्याद् इति तद्ग्रहणम्। अर्जुनं भजति अर्जुनकः। अर्जुनशब्दः क्षत्रियवाचीत्युत्तरेणाकञ् स्यादिति केनैवसिद्धेऽकविधानं वासुदेवौ भजति वासुदेवकः। अर्जुनीमर्जुनक इति पञ्चमर्थम् ॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वासु०। ईयाकञोरपवाद इति। दुर्निमित्तस्येयस्य क्षत्रियनिमित्तस्याग्रे वक्ष्यमाणस्याकञश्चापवाद इत्यर्थः। ननु वासुदेवशब्दादकाकञोरूपे विशेषाभावेन तस्मादग्रिमसूत्रेणा कञिरूपसिद्धेरकविधानार्थं तस्येह पाठो व्यर्थ इति चेदत्राह–यदा वासुदेवशब्दः संज्ञाशब्द इत्यादि। अयमाशयः–वसुदेवस्यापत्यं वासुदेव इति विग्रहाश्रयणे वृष्णित्वेन ततः "ऋष्यन्धक०" [६.१.६१.] इत्यणि वासुदेवशब्दो निष्पन्नः क्षत्रियविशेषवाची भवति। किन्तु परमात्मनो नामाऽपि वासुदेवः।

"सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिकीर्तितः ॥"

इति स्मृतेः। तथा च ततोऽकञस्याप्राप्तेरीयबाधनार्थमकविधानस्यावश्यकत्वमिति। एतच्च "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" [पा०सू०४.३.९८.] इति सूत्रे महाभाष्येऽपि प्रतिपादितम्। अर्जुनं भजति अर्जुनक इति। अत्राकञि सति आर्जुनक इति मा भूदित्येतदर्थमकविधानम्। नन्वेतदर्थं क एव विधीयतामकविधानं किमर्थमिति चेदत्राह–वासुदेवौ भजति वासुदेवकः, अर्जुनीमर्जुनक इत्येवमर्थमिति। अयमाशयः–वासुदेवार्जुनयोरके के च रूपे विशेषाभावेऽपि *नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्* इतिन्यायेन वासुदेवीशब्दादर्जुनीशब्दाच्च यदि को विधीयते तर्हि "ङ्यादीदूतः के" [२.४.१०४.] इति ह्रस्वत्वे वासुदेविकः, अर्जुनिकः इति रूपे स्याताम्–इष्यते तु वासुदेवकः, अर्जुनक इत्येव। स हि अके सति "जातिश्च णितद्धितयस्वरे" [३.२.५१.] इति पुंवत्त्वेनैव सिध्यतीति तदर्थमकविधानमावश्यकमिति भावः ॥६।३।२०७॥

गोत्र-क्षत्रियेभ्योऽकञ् प्रायः ॥३।३।२०८॥

त० प्र०–गोत्रवाचिभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यश्च द्वितीयान्तेभ्यो भजत्यर्थेऽकञ् प्रत्ययो भवति प्रायः। अणाद्यपवादः। ग्लुचुकायनिं भजति ग्लौचुकायनकः। औपगवकः। दाक्षकः। गार्गकः। गार्ग्यायणकः। क्षत्रिय, नाकुलकः। साहदेवकः। दौर्योधनकः। दौःशासनकः। बहुवचनं क्षत्रियविशेषपरिग्रहार्थम। प्राय इति किम्? पाणिनोऽपत्यं पाणिनः तं भजति पाणिनीयः। पौरवीयः ॥२०८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गोत्र०। अणाद्यपवादः इति। आदिपदेन औपगवक इत्यादावीयस्य प्राप्तस्य बाधकः। ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लुचुकायनिर्गोत्रम् "अदोरायनिः प्रायः" [६.१.११३.] इत्यायनिः, ततो भजत्यर्थेऽनेनाकञ्–ग्लौचुकायनक इति उपगोरपत्यम् औपगवो गोत्रम्। ततोऽकञ्। दाक्षेः दाक्षक इत्यादिर्विग्रहः। गोत्रमुदाहृत्य क्षत्रियमुदाहरति–नाकुलक इति, नकुलं भजतीत्यादिर्विग्रहः।

"Aho Shrutgyanam"

ननु लाघवात् समाहारेण निर्देशस्य स्वमतानुसारित्वात् बहुवचनेनात्र निर्देशः किमर्थ इति चेदत्राह–**बहुवचनं क्षत्रियविशेषपरिग्रहार्थमिति** । अन्यथा क्षत्रियशब्दादेव प्रत्ययः स्यात् न तु तद्विशेषेभ्य इति भावः । इदं च गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यः" [पा०सू० ४.३.९०.] इति सूत्रे काशिकायामपि स्पष्टम् । प्रायःग्रहणस्य फलमाख्यातुं पृच्छति–**प्राय इति किमिति** । प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति–**पणिनोऽपत्यं पाणिनिः** गोत्रम् , **तं भजति पाणिनीय** इति । एवं पुरोरपत्यं पौरवः क्षत्रियः तं भजति **पौरवीय** इति । अनयोरीय एवेष्टो न त्वञिति तदर्थं प्रायःग्रहणम् । प्रायःग्रहणेन चानियतत्वं सूच्यतेऽतोऽत्र नाञिति भावः ॥६।३।२०८॥

सरूपाद् ढ्रेः सर्वं राष्ट्रवत् ॥६।३।२०९॥

त० प्र०–राष्ट्र-क्षत्रियात् सरूपाद् राजाऽपत्ये ढ्रिरञ्' [६.१.११४.] इति प्रस्तुत्य सरूपाद् यो ढ्रिः प्रत्यय उक्तस्तदन्तस्य द्वितीयान्तस्य भजतीत्यर्थे सर्वं प्रत्ययः प्रकृतिश्च राष्ट्रवद् भवति । राष्ट्रवाचिनी या प्रकृतिर्वृजि इत्यादिस्तत्र च यः प्रत्ययो 'वृजि-मद्राद् देशात् कः' [६.३.३८.] इत्यादिना विहितस्तदुभयं वार्ज्य इत्येवमादेः सरूपस्य ढ्रिप्रत्ययान्तस्य भजतीत्यस्मिन् विषये भवतीत्यर्थः । वार्ज्यं वार्ज्यौ वृजीन् वा भजति वृजिकः । माद्रं माद्रौ मद्रान् वा भजति मद्रकः । अत्र कप्रत्ययः । पाण्डवं पाण्डवौ, पाण्डून् वा भजति पाण्डवकः । आङ्गकः । वाङ्गकः । पाञ्चालकः । वैदेहकः । औदुम्बरकः । तैलखलकः । अत्र 'बहुविषयेभ्यः' [६.३.४५.] इत्यकञ् । कौरवकः । कौरवः । यौगन्धरकः । यौगन्धरः । अत्र 'कुरु-युगन्धराद् वा' [६.३.५३.] इति वाकञ् । पैक्ष्वाकः । अत्र 'कोपान्त्याच्चाण' [६.३.५६.] इत्यण् । सरूपादिति किम् ? पौरवीयम् । अत्र पुरु राजा अनुखण्डो जनपद इति सारूप्यं नास्ति । अत एव 'पुरु-मगध०' [६.१.११६.] इत्यादौ द्विस्वरत्वेनैव सिद्धे पुरुग्रहणमसरूपार्थं कृतम् । ढ्रेरिति किम् ? पञ्चालान ब्राह्मणान् भजति पाञ्चालः । अत्र 'बहुविषयेभ्यः' [६.३.४५.] इत्यकञ् न भवति । सर्वग्रहणं प्रकृत्यतिदेशार्थम् । तच्च वार्ज्य-माद्र-पाण्डव-कौरव्याः प्रयोजयन्ति । अन्यत्र हि नास्ति विशेषः ॥२०९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सरूपाद्० । अत्र सरूपादित्यस्य सनिरूपकपदार्थवाचित्वेन किं निरूपितं सारूप्यं विवक्षितमित्यस्य संदिग्धतया तस्य स्फोरणायाह–**राष्ट्रक्षत्रियात् सरूपादित्यादि** । अयमाशयः–"राष्ट्र-क्षत्रियाद्०" [६.१.११४.] इति सूत्रेण राष्ट्रवाचिसरूपात् क्षत्रियसरूपाच्च राष्ट्रवाचिनः प्रत्ययो विधीयते, तथा च राष्ट्र-क्षत्रिययोरेवेह परस्परं सारूप्यनिरूपकत्वम् । इह च क्षत्रियवाची शब्दः प्रकृतिः, स च द्विप्रत्ययान्तो गृह्यते तस्मिन्नेव सारूप्यस्य सिद्धत्वात् । राष्ट्रवदित्येतावत्युक्त एव प्रत्ययप्रकरणाद् राष्ट्रवत्प्रत्ययः स्यादेवेति सर्वग्रहणमधिकलाभार्थमिति प्रकृतिरपि राष्ट्रवद् भवति । तथा च वृजिशब्दाद् राजनि ञ्ये **वार्ज्य** इति भवति । तस्य बहुत्वे यद्यपि राष्ट्रेण समानं रूपं वृजय इति, तथापि एकत्व-द्वित्वयोस्तु वैरूप्यमेवेति तत्रापि वृजीति रूपादेव प्रत्ययः इति । अन्यथा बहुवचनान्तेन विग्रहे "वृजि-मद्राद् देशात् कः" [६.३.३८.] इतिवत् के वृजिक इति स्यात्, एकवचन-द्विवचनाभ्यां विग्रहे तु वार्ज्यक इति प्राप्तं तन्मा भूदिति तदर्थमेव सर्वग्रहणम् । एतदेव स्पष्टयति–**राष्ट्रवाचिनी या प्रकृतिरित्यादिना** । वृजेरपत्ये राजनि च "दुनादिकुर्वित्०" [६.१.११८.] इति द्विसंज्ञके ञ्ये **वार्ज्य** इति भवति, बहुत्वे तु "बहुष्वस्त्रियाम्" [६.१.१२४.] इति प्रत्ययस्य लुपि वृजयः राष्ट्रेण समानं रूपम् इति । तदेव रूपम् इति । तदेव रूपमेकवचनान्तस्यापि आश्रितमिति ततो भजतीत्यर्थेऽपि के वृजिक इत्येव ।

मद्रशब्दाद् राजापत्ये "पुरु-मगध०" [६.१.११७.] इति द्विस्वरनिमित्तोऽण् भवतीति माद्र इति रूपमेकत्वे द्वित्वे च बहुत्वे तु मद्रा इति पूर्ववत्, ततो भजत्यर्थेऽपि **मद्रक** इति । एवं पाण्डूनां राजा पाण्डवः "पाण्डोर्ढ्यण्" [६.१.११९.] इति भवति, राष्ट्रं पाण्डुः इति, ततः शेषे "राष्ट्रेभ्यः" [६.३.४४.] इत्यकञ् भवतीतीहापि स एवेति **पाण्डवकः** इत्येवं सर्वत्र राष्ट्रवत् प्रत्ययादिर्विचार्य निरूपणीयः । सारूप्यं च यः क्षत्रियो यस्य राष्ट्रस्य राजा तेन राष्ट्रेण सहैवेष्ट इति तदुपादानस्य फलं

"Aho Shrutgyanam"

सूचयितुं पृच्छति–**सरूपादिति किमित्यादिना** । यत्र राजाऽन्यः, राष्ट्रं चान्यदिति तत्र मा भूदिति **पौरवीयमिति** । अत्र पुरुः पुरोरपत्यं पौरवो वा राजा, राष्ट्रं च अनुसण्डो जनपद इति सारूप्यं नास्तीति राष्ट्रवत् प्रत्ययाऽभावे भजतीत्यर्थे ईय एव भवति, न तु राष्ट्रवत् प्रत्ययः । असारूप्यं प्रमाणयति–**अत एव पुरु-मगध** इत्यादाविति । एतच्च "पुरु-मग्ध०" [६.१.११७.] इति सूत्र एव निरूपितम् । **द्वेरिति किमिति** । पञ्चालान् ब्राह्मणान् । अयमाशयः–पञ्चालवासिषु ब्राह्मणेषु पञ्चालशब्दस्यामेदोपचारादेव प्रयोगो न तु बहुत्वे द्विप्रत्ययस्य लुपा इति नात्र द्विप्रत्ययान्तत्वमित्यकञ् भजत्यर्थेन न भवति, किन्तु औत्सर्गिकोऽणेव भवति । **सर्वग्रहणं प्रकृत्यतिदेशार्थमिति** । एतच्च पूर्वमेव व्याख्यातम् । तत्प्रयोजनं न सर्वत्रापि तु कतिपयेष्वेत्याह–**तच्च वाऽर्थे**त्यादिना । अन्यत्र सारूप्यस्य स्वाभाविकत्वान्नातिदेशावश्यकतेति तदाह–**अन्यत्र नास्ति विशेष** इति । उदाहृतेषु आङ्गक इत्यादिषु विशेषो नास्तीत्यर्थः । तेनावन्त्यः इत्यादिषु प्रकृतिवद् रूपातिदेशस्य प्रयोजनेऽपि दोषाभावः ॥६।३।२०९॥

टस्तुल्यदिशि ॥६।३।२१०॥

त० प्र०–ट इति सहार्थतृतीयान्तात् तुल्यदिश्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । तुल्या समाना साधारणा दिग् यस्य स तुल्यदिक् । एकदिगित्यर्थः । सुदाम्ना एकदिक् सौदामनी विद्युत् । सुदामा नाम पर्वतो यस्यां दिशि तस्यां विद्युत् । तेन सा सुदाम्ना सहैकदिगुच्यते । सूर्येण सहैकदिक् सौरी बलाका । हिमवता एकदिक् हैमवती गङ्गा । त्रिककुदा एकदिक् त्रैककुदी लङ्का ॥२१०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—टस्तुल्य० । ट इति तृतीयाविभक्तेरेकवचनमनुकृतम्, तद्विभक्त्यर्थे प्रयुक्तम् । तुल्यशब्दप्रयोगाच्च तस्यास्तृतीयायाः सहार्थविवक्षायां विहितत्वमित्यपि समायाति, तदाह–**सहार्थतृतीयान्तादिति** । तुल्यदिक्शब्दार्थं ग्राहयति–**तुल्या समाना साधारणेत्यादिना** । तुल्यत्वं सामान्यं वा द्वयोर्भवति, तच्चेहानुपपन्नं दिश एकत्वादित्याशयेनोक्तं साधारणेति साधारण्यं चोभाभ्यामेकस्या आश्रितत्वमेवेति फलितमर्थमाह–**एकदिगित्यर्थ** इति । सुदाम्ना पर्वतेन एकदिगित्यर्थेऽपि **सौदामनी**ति । एकदिक्त्वं प्रयोगे संगमय्य दर्शयति–**सुदामा नाम पर्वतो यस्यां दिशी**त्यादिना । **सूर्येण सहैकदिगिति** । यां दिशमाश्रितः सूर्यः तामेव दिशमाश्रिता बलाकेति भावः । एवं सर्वत्र प्रयोगेऽर्थोऽनुसन्धेयः ॥६।३।२१०॥

तसिः ॥६।३।२११॥

त० प्र०–ट इति तृतीयान्तात् तुल्यदिश्यर्थे तसिरित्ययं प्रत्ययो भवति । पूर्वेण यथास्वमणादय एयणादयश्च विहिताः प्रत्ययान्तरमिदं सर्वप्रकृतिविषयं विधीयते । सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः । सूर्यस्तः । हिमवत्तः । त्रिककुत्तः । पीलुमूलतः । पार्श्वतः । पृष्ठतः । इकारो 'वत्तस्याम्' [१.१.३४.] इत्यत्र विशेषणार्थः ॥२११॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तसिः । अस्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रसमानयोगक्षेमत्वं व्याख्याति–**ट इति तृतीयान्तादित्यादिना** । तथा च पूर्वेण सहास्य पाक्षिकत्वं सिद्धयतीति पूर्वत्रोदाहृतानामेव प्रकृतीनां रूपान्तराणीहोदाहियन्ते–**सुदाम्ना एकदिगित्यादि** विग्रहप्रदर्शनपुरःसरम् । एकयोगत्वे हि तसिनाऽणादयो बाधिताः स्युरिति पूर्वेण त एव यथास्वं विहिता अनेन तसिरिति विधानसामर्थ्यादुभयमपि भवति । इकारस्य प्रत्यये श्रुतस्य प्रयोगेष्वश्रूयमाणत्वाद् वैयर्थ्यमाशङ्क्यमाह–**इकारो "वत्तस्याम्" [१.१.३४.] इत्यत्र विशेषणार्थ** इति । अनेन सूत्रेण तसिप्रत्ययान्तस्याव्ययत्वं विधीयते इति प्रकृतसूत्रविहितस्य तसेस्तत्र ग्रहणार्थमिकारविशिष्टं रूपं कृतं प्रत्ययस्य । तत्रेकारश्च "व्याश्रये तसुः" [७.२.८१.] इत्यादिना विहितस्य तसोर्व्युदासार्थः इत्युभयोः परस्परव्यावृत्तत्वं सिद्धयति ॥६।३।२११॥

यश्चोरसः ॥६।३।२१२॥

त० प्र०–उरस् इत्येतस्मात् तृतीयान्तात् तुल्यदिश्यर्थे यः प्रत्ययश्चकारात् तसिश्च भवतः । अणोऽपवादः । उरसा एकदिक् उरस्यः । उरस्नः ॥२१२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—यश्चो० । **अणोऽपवाद** इति । "टस्तुल्यदिशि" [६.३.२१०.] इति सामान्येन प्राप्तस्येति भावः । उरसा एकदिगिति, समानदिङ्मुख इत्यर्थः ॥६।३।२१२॥

"Aho Shrutgyanam"

सेर्निवासादस्य ॥६।३।२१३॥

त० प्र०–सेरिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत् तत् प्रथमान्तं निवासश्चेत् स भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो देश उच्यते । सुघ्नो निवासोऽस्य सौघ्नः । माथुरः । नादेयः । राष्ट्रियः ॥२१३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सेर्निवासा० । सेरिति समर्थविभक्तिनिर्देशः वचनं त्वविवक्षितम् इति प्रथमान्तादित्यर्थः । सेरिति प्रत्ययः, तस्माच्च तदन्तविधिना प्रथमान्तान्निवासवाचिन इत्यर्थः, तमर्थं स्फोरयन् आह–यत् तत् प्रथमान्तं निवासश्चेत् स भवति इति । वसत्यत्रेति वासः इति वासपदोपादानेऽपि सिद्धे उपसर्गविशिष्टस्य ग्रहणेऽर्थविशेषविवक्षां सूचयति–निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो देश इति । नैकस्य कस्यचिद् वासस्थानमिह निवासत्वेन विवक्षितं तथा सति गृहादिपदादपि प्रत्ययः स्याद् अपि तु बहूनां निवासभूतो देशोऽत्र निवासपदेन ग्राह्यः इति भावः । सुघ्नो नाम देशविशेषः स निवासोऽस्येत्यादिविग्रहे पूर्ववद् यथाप्राप्तप्रत्ययाः ज्ञेयाः ।

नन्वत्र अस्येति कृद्योगे षष्ठी, सा च कर्तरि तथा च सुघ्नाधिकरणकवासकर्तेत्यर्थः । ईदृशार्थस्य च भवार्थविहितप्रत्ययेनापि कथनसंभवात् किमनेन पृथगर्थस्य च निर्देशपूर्वकं प्रत्ययविधानेनेति चेन्न, वासस्य चेतनमात्रकर्तृकतया प्रसिद्धत्वेन भवार्थवैलक्षण्यात् । अयमाशयः–यद्यपि भवार्थप्रत्ययेनापि तत्र सत्त्वैवार्थः उच्यते, निवासेनापि स एवार्थः, तथापि तत्र सत्त्वं चेतनाचेतनसाधारणम्, तदधिकरणकनिवासकर्तृत्वं च चेतनमात्रधर्म इति तयोर्भेदः स्पष्ट इति । नन्वेवं 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि' इति माघप्रयोगः । 'वासेन सम्यक्कृक्षमयोश्च तस्मिन्' इति श्रीहर्षप्रयोगश्चासंगतः स्यात् । पूर्वत्र प्रेम्णः, परत्र च पृथिव्याः, क्षान्तेश्च वासकर्तृत्वकथनादिति चेत्, सत्यम्, अचेतनेष्वपि चेतनव्यवहारारोपादिति गृहाण ॥६।३।२१३॥

आभिजनात् ॥६।३।२१४॥

त० प्र०–सेर्निवासादस्येति वर्तते । अभिजनः, पूर्ववान्धवाः, तेषामयमाभिजनः । सेः प्रथमान्तादाभिजनान्निवासादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । सुघ्नोऽस्याभिजनो निवासः सौघ्नः । माथुरः । नादेयः । राष्ट्रियः ॥२१४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—आभि० । सूत्रार्थं वर्णयितुं पूर्वसूत्रसंबन्धमाह–सेर्निवासादस्येति वर्तते इति । पूर्वसूत्रं सर्वमिहानुवर्तत इति भावः । तथा च तत्रस्थनिवासादिति पदस्यैव विशेषणम्, आभिजनादिति पदम् । तदर्थमेव निर्वक्ति–अभिजनः, पूर्वबान्धवा इति । अभिजायते एभ्यः इति व्युत्पत्त्याऽभिजनशब्देन पूर्वजा उच्यन्ते । तेषामयमिति तत्संबन्धनिरूपितोऽयं निवासः आभिजनो निवास इत्यर्थः । पूर्वेण च सांप्रतिकस्वनिवासात् प्रत्ययो विधीयतेऽनेन च पूर्ववान्धवनिवासादित्यनयोर्भेदः । उभयोरर्थयोः पार्थक्येन प्रत्ययविधानार्थमुत्तरत्र चास्यैव संबन्धार्थं पृथग्योगकरणम् । पाणिनीये त्वभिजनशब्दस्यैव पूर्वजनिवासपरत्वमाश्रितम् । तदुक्तम् "अभिजनश्च" [पा०सू०४.३.९०.] इतिसूत्रे महाभाष्ये, निवासो नाम संप्रत्युष्यते, अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितमिति । अभिजनशब्दस्य पूर्ववान्धवार्थत्वप्रसिद्धेर्देशवाचकत्वं कथमित्याशङ्क्य 'निवाससाहचर्याच्चाभिजनो देशो गृह्यते न तु पूर्ववान्धवाः' इत्युक्तं कैयटेन तत्रैव । पूर्ववत् प्रत्ययाः यथास्वं विधेयाः ॥६॥३।२१४॥

शण्डिकादेर्ण्यः ॥६।३।२१५॥

त० प्र०–शण्डिक इत्येवमादिभ्यः प्रथमान्तेभ्य आभिजननिवासवाचिभ्योऽस्येत्यस्मिन्नर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति । अणाद्यपवादः । शण्डिक आभिजनो निवासोऽस्य शाण्डिकयः । कौचवार्यः ।

शण्डिक कूचवार सर्वसेन सर्वकेश शङ्ख शक शट रक चरण शङ्कर बोध इति शण्डिकादिः ॥२१५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शण्डि० । पूर्वानुसृतं सर्वं शण्डिकादेरित्यस्य विशेषणम् । तदाह–शण्डिक इत्येवमादिभ्यः प्रथमान्तेभ्य इत्यादि । शण्डिकादयः तत्तद्देशरूढाः शब्दाः ॥६।३।२१५॥

सिन्ध्वादेरञ् ॥६।३।२१६॥

त० प्र०–सिन्ध्वादिभ्यः प्रथमान्तेभ्य आभिजननिवासवाचिभ्योऽस्येत्यस्मिन्नर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति । सिन्धुराभिजनो निवासोऽस्य सैन्धवः वार्णवः ।

"Aho Shrutgyanam"

सिन्धु वर्णु मधुमत् कम्बोज कुलूज गन्धार कश्मीर सल्व क्किष्किन्ध गब्दिक उरस् दरद् ग्रामणी काण्डवरक। सल्वान्तेभ्यो नृनृस्थाकञोऽपवादोऽञ्। शेषेभ्यो बहुविषयराष्ट्रलक्षणस्थाकञो ग्रामणीकाण्डवरकाभ्यामीयस्य। तक्षशिलादिभ्यस्तु अञ् नोच्यते उत्सर्गेणैव सिद्धत्वात् ॥२१६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सिन्ध्वा० । अस्य बाधकबाधनार्थत्वं वक्ष्यति । सिन्धुर्वर्णुश्च तत्तन्नदप्रान्तस्थितौ देशौ । ताभ्यामञ् "अस्वर्यभुवोऽञ्" [७.४.७०.] इत्यवादेशः । वाच्यविशेषमाह—**सल्वान्तेभ्य** इति । अयमाशयः—सिन्ध्वादयः सल्वान्ताः कच्छादिषु पठ्यन्ते, तेभ्यः "कच्छादेर्नृनृस्ये" [६.३.५५.] इत्यकञ् प्राप्तः तद्बाधनार्थमञ्विधानमन्यथा औत्सर्गिकेनाणापि रूपसिद्धेः । अन्ये च बहुविषया राष्ट्रवाचिन इति तेभ्यः "बहुविषयेभ्यः" [६.३.४५.] इत्यकञ् प्राप्तः, ग्रामणीकाण्डवरकशब्दौ दुसंज्ञाविति ताभ्यां दुलक्षण ईयः प्राप्त इति सर्वेषां बाधनार्थमञो विधानमिति । अन्ये तक्षशिलादिभ्योऽप्यञं विदधति तस्यानावश्यकतामाह—**तक्षशिलादिभ्यस्तु अञ् नोच्यते** इति । तत्कारणमाह—**उत्सर्गेणैव सिद्धत्वादिति** । औत्सर्गिकेणाणैवाञा साध्यस्य रूपस्य सिद्धेः पृथक्प्रत्ययान्तरविधानानर्थक्यादिति भावः । ननु तर्हि अन्यैः कुतो विधीयते इति चेत्, सत्यम्, तेषां मतेऽणञोः स्वरे विशेषस्येष्टत्वेन तथाविधानावश्यकत्वेऽपि स्वमते स्वरे विशेषस्यानादरणादनावश्यकत्वमिति गृहाण ॥६।३।२१६॥

सलातुरादीयण् ॥६।३।२१७॥

त० प्र०—**सलातुरशब्दात् प्रथमान्तादाभिजननिवासवाचिनोऽस्येत्यस्मिन्नर्थे ईयण् प्रत्ययो भवति। सलातुर आभिजनो निवासोऽस्य सालातुरीयः** पाणिनिः ॥२१७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सलातु० । औत्सर्गिकाणोऽपवादोऽयं प्रत्ययविधानम् । परे च शलातुरशब्दं तालव्यादिं पठन्ति, अत्र च दन्त्यादिः पठित इति विशेषः । स्पष्टमन्यत् ॥६।३।२१७॥

तूदी-वर्मत्या एयण् ॥६।३।२१८॥

त० प्र०—**तूदी-वर्मतीशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्यामाभिजननिवासवाचिभ्यामस्येत्यर्थे एयण् प्रत्ययो भवति। तूदी आभिजनो निवासोऽस्य तौदेयः। वार्मतेयः** ॥२१८॥

श० म० न्यासानुन्धानम्—तूदी० । तूदी च वर्मती चेति विग्रहे द्वन्द्वात् सौत्रमेकवचनम् । ग्रामविशेषावेतौ । अणोऽपवादः प्रत्ययः ॥६।३।२१८॥

गिरेरीयोऽस्त्राजीवे ॥६।३।२१९॥

त० प्र०—**गिरिर्य आभिजनो निवासस्तदभिधायिनः प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे ईयः प्रत्ययो भवति। अस्त्राजीवे, अस्त्रमाजीवो जीविका यस्य तस्मिन्नायुधजीविन्यभिधेय इत्यर्थः। हृद्गोलपर्वत आभिजनो निवासोऽस्यास्त्राजीवस्य हृद्गोलीयः। एवं भोजकटीयः। रोहितगिरीयः। अन्धरश्मीयः। गिरेरिति किम्? सांकाश्यकोऽस्त्राजीवः। 'प्रस्थ-पुर०' [६.३.४३.] इत्यादिनाकञ्। अस्त्राजीव इति किम्? ऋक्षोदः पर्वत आभिजनो निवासोऽस्य आक्षोदो ब्राह्मणः। पृथुः पर्वत आभिजनो निवासोऽस्य पार्थवः** ॥२१९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गिरेः । गिरिरित्येकवचननिर्देशेऽपि गिरिविशेषाणामेव ग्रहणं, न तु गिरिशब्दस्य व्याख्यानात् । अस्त्राजीवपदं व्याख्याति—**अस्त्रमाजीवो जीविका यस्येति** । योऽस्त्रबलेन परान् निहत्य तद्धनमपहृत्य जीवति जीवान् निहत्य तन्मांसमुपयुज्य वा, अथवाऽस्त्रनिर्माणव्यापारेण जीवति सोऽस्त्राजीव इत्यर्थः । अन्ये च वैयाकरणा अस्त्रामाजीवपदमपहाय आयुधजीविपदमेवोपाददते । अस्त्र-शस्त्रयोरुभयोर्ग्रहणस्येष्टत्वे एकस्यास्त्रस्य शस्त्रस्य वा ग्रहणेऽभीष्टार्थालाभ इति तन्मतम् । अस्यतेऽनेनेत्यस्त्रमिति व्युत्पत्तौ धनुरादिरस्त्रम्, अस्यते यदिति कर्मव्युत्पत्त्या बाहुलकात् त्रे अस्यमानं बाणादिरस्त्रम् । शस्त्रं तु खड्गादिर्हिंसासाधनं सर्वमेवेति भेदः । स्वमतेऽप्यस्त्र-शस्त्रयोरुभयोर्ग्रहणमिति सूचनायै—**आयुधजीविन्यभिधेये** इत्युक्तम् । योधा अपि आयुधोपयोगं जीविकार्थं विदधति—परन्तु तेनायुधजीविनः कथ्यन्ते, तेषां तन्मात्राजीवत्वाभावात् । तथा च वन्याः व्याधादय एवायुधजीवित्वेनेह ग्राह्याः । ते च पर्वतविशेषमाश्रिता भवन्तीति प्रसिद्धिः । ते च लोकबहिष्कृता भवन्ति । स्पष्टं चेदं "ब्राह्मणाग्नाग्नि" [७.१.१८४.] इति सूत्रव्याख्यायां बृहद्वृत्तावेवेति तत्रैवाधिकं वक्ष्यते ।

"Aho Shrutgyanam"

पदकृत्यमाख्यातुं पृच्छति–**गिरेरिति किमिति** । सर्वस्मादेव देशवाचिनोऽस्राजीवेऽभिधेये प्रत्ययो विधीयतामित्याशयः । प्रत्युदाहरति–**सांकाश्यकोऽस्राजीव** इति । सांकाश्यः आभिजनो निवासोऽस्येत्यर्थे "प्रस्थपुर०" [६.३.४२.] इत्यकञ्येव भवति, न त्वीय इत्यर्थः। गिरिवासिनः प्रायोऽस्राजीवा एव भवन्तीत्यस्राजीवपदमव्यावर्तकमित्याशयेन पृच्छति–**अस्राजीव इति किमिति**। न केवलमस्राजीवा पर्वतवासिनोऽपि तु ब्राह्मणादयः सत्कर्मस्था अपीत्याह–**ऋक्षोदः पर्वतः आभिजनो निवास** एषामित्यादि। तथा चैवमादावणेवेष्टे न त्वीय इति तद्व्यावृत्तयेऽस्राजीव इति वक्तव्यमेवेति शम् ॥६।३।२१९॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ षष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः॥६।३॥

जयस्तम्भान् सीमन्यनुजलधिवेलं निहितवान्
वितानैर्ब्रह्माण्डं शुचिगुणगरिष्ठैः पिहितवान्।
यशस्तेजोरूपैरलिपत जगन्त्यर्धघुसृणैः
कृतो यात्रानन्दो विरमति न किं सिद्धनृपतिः ? ॥

जयस्तम्भानित्यादि०–सिद्धनृपतिः अनुजलधिवेलं सीमनि जयस्तम्भान् निहितवान्, शुचिशोणगरिष्ठैः। वितानैः ब्रह्माण्डं पिहितवान्, यशस्तेजोरूपैः अर्धघुसृणैः जगन्ति अलिम्पत, यात्रानन्दः कृतः, किं न विरमति ? इत्यन्वयः । पादान्ते कोमलव्यापकव्याकरणनिर्माणप्रेरकस्य स्वशिष्यस्य सिद्धराजनृपतेः कीर्तिं प्रस्तौति–**सिद्धनृपतिः** सिद्धराजनामा नृपतिः; अथ च स्वतः सिद्धो न केनचित् साधितो नृपतिरिति अन्तर्गर्भिताशयः, **अनुजलधिवेलं** जलधीनां समुद्राणां वेला–तटभूमिर्जलधिवेला, तामनुगतं यथा स्यात् तथा, **सीमनि**–स्वराज्यमर्यादास्थाने (आसमुद्रं क्षितेः स्वायत्तीकरणं व्यज्यते) **जयस्तम्भान्**–विजयसूचकस्थूणाः, **निहितवान्**–स्थापितवान्, **शुचिगुणगरिष्ठैः** शुचयः–पवित्राः स्वच्छाश्च गुणाः शौर्यादयः; अथ च तन्तवः गरिष्ठाः–गुरुतरा यस्मिन् तादृशैः, **वितानैः** उल्लोचैः, **यशश्च ब्रह्माण्डं**–त्रिभुवनं, **पिहितवान्**–आच्छादितवान्; **यशस्तेजोरूपैः**–यशश्च तेजश्चेति यशस्तेजसी तद्रूपैस्तदनुकारिभिः **अर्धघुसृणैः**–अर्धं घुसृणानामिति अर्धघुसृणानि–चन्दनमिश्रितानि कुङ्कुमानि तैः, जगन्ति लोकान्, **अलिम्पत**–उपदिग्धवान्, इत्थं **यात्रानन्दः**–यात्रायां–विजययात्रायां आनन्दः–महोत्सवः, **कृतः** विहितः, (इति कर्तव्यान्तराभावात्) किं कुत **न विरमति** विजययात्रादिव्यापाराद् न निवर्तते ? इति भावः । एतेन तस्य कृतकृत्यतायां सत्यामपि सदा जागरूकत्वं ध्वनितम् ॥

इति आचार्यश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तेः व्याकरणवाचस्पतिकविरत्न-शास्त्रविशारदाचार्यश्रीमद्विजयलावण्यसूरिकृते शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धाने षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः संपूर्णः ॥

॥ चतुर्थः पादः ॥

इकण् ॥६।४।१॥

त० प्र०–अणः पूर्णोऽधिः । अधिकारोऽयम् आपादपरिसमाप्तेः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रापवादविषयं परिहृत्येकणित्यधिकृतं वेदितव्यम् ॥१॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्–इकण् । अस्याधिकारसूत्रत्वं वक्ष्यमाण संगमयितुमाह–**अणः पूर्णोऽधिरिति** । "प्राग्जितादण्" [६.१.१३.] इति सूत्रेण जितशब्दसंकीर्तनमवधीकृत्याणोधिकार उक्तः । अव्यवहितोत्तरसूत्रे च जितशब्दसंकीर्तनमित्यणोऽत्रैवावधिः समाप्तः। इह च प्रत्ययस्य निर्देश एवेत्यस्मिन् सूत्रे तस्य (अणः) सबन्धाभावः स्वभावसिद्ध एव । अस्य सूत्रस्य न विधायकत्वमर्थ–समर्थविभक्ति-प्रकृतिविशेषादिनिर्देशाभावात् । तथा च किमनेन सूत्रेण क्रियत इत्याशङ्कायामाह–**अधिकारोऽयमिति** । अधिकारत्वं च स्वदेशे लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थशून्यत्वे सति उत्तरोत्तरविधिसूत्रसंबन्धाल्लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थबोधोपयोगित्वम् । एवं च यत्र प्रत्ययो न पठ्यते तत्रास्योपस्थितत्वाद् विधेयसमर्पकत्वं भवति । यत्र च प्रत्ययः पठ्यत एव तत्रास्य न प्रवृत्तिः, व्यापकत्वेन सावकाशतयाऽनवकाशेन तेनास्य बाधात् । अन्यथा तेन प्रत्ययेन सहास्यापि लक्ष्ये प्रवृत्तौ विकल्पापत्तेः ।

"Aho Shrutgyanam"

ननु कियत्पर्यन्तमस्याधिकार इत्याशङ्कायामवधिं सूचयति-**आपादपरिसमाप्तेरिति**। प्रकृतस्य षष्ठाध्यायचतुर्थपादस्य परिसमाप्तिरेवास्याधिकारस्यावधिरित्यर्थः। सप्तमाध्यायादौ "यः" [७.१.१.] इति प्रत्ययान्तरमधिक्रियते इति भावः। तथा च सूत्रार्थमाह-**यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम इत्यादि**। इतोऽस्मात् सूत्रात् ऊर्ध्वमेतत्पादीयद्वितीयादिसूत्रमनुक्रमिष्यामः लक्ष्यसंस्कारकसूत्राणि प्रतिपादयिष्यामः, **तत्र** तेषु सूत्रेषु **अपवादविषयं परिहृत्य** विशेषविहितप्रत्ययप्रवृत्तिस्थलं विहाय 'इकण्' इति प्रत्ययरूपम् अधिकृतं संबद्धं वेदितव्यम्, विज्ञेयमित्यर्थः। अपवादविषयपरिहारश्च *प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते* इति न्यायानुमतः। अपवादशास्त्र-प्रत्ययादिविषयं प्रवृत्तिस्थलं प्रकल्प्य परिहृत्य ततः तस्मादन्यस्मिन् विषये उत्सर्गः सामान्यसूत्रं प्रत्ययो वा अभिनिविशते स्वविषयतां समासादयति इति न्यायस्यार्थः। एतन्न्यायविषयेऽन्यत्र प्रपञ्चितम् ॥३।४।१॥

तेन जित-जयद्-दीव्यत्-खनत्सु ॥६।४।२॥

त० प्र०-**तेनेति तृतीयान्ताज्जिते जयति दीव्यति खनति चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति। अक्षैर्जितमाक्षिकम्। शालाकिकम्। अक्षैर्जयति आक्षिकः। अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः। शालाकिकः। अक्ष्या खनति आक्षिकः। कौदालिकः। अक्षी काष्ठमयी तीक्ष्णाग्रा। इह तेनेति करणे तृतीया वेदितव्या नान्यत्रानभिधानात्। तेन देवदत्तेन जितम्, धनेन जितम् इत्यत्र न भवति। अक्ष्या खनन्नङ्कुल्या खनतीत्यत्र तु सत्यप्यङ्कुलेः करणत्वे मुख्यकरणभावोऽक्ष्या एव नाङ्कुलेरित्यङ्कुलिशब्दान्न भवति। यथा खड्गादागच्छन् वृक्षमूलादागत इति। जयदादिषु त्रिषु कालो न विवक्षितः, जिते तु विवक्षितः। बहुवचनं तु पृथगर्थताभिव्यक्त्यर्थम् ॥२॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तेन०। तत्पदं प्रकृतिसामान्योपस्थापकम्, विभक्तिश्च तत्सामर्थ्योपयुक्ता। तथा च सूत्रार्थमाह-**तृतीयान्ताज्जिते जयति** इत्यादि जितपदं जयकर्मीभूतोपस्थापकं जयतीत्यादि पदं च कर्तृ-उपस्थापकम्। 'सर्वं हि वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते' इति नियमानुसारं यथासंभवमर्थाः क्रियया (आख्यातान्तेनैव) निर्देष्टुमुचिता अपि, लाघवानुरोधेनैव सूत्रे शत्रन्तेन निर्दिष्टा इति ध्वनयितुं धृतौ आख्यातान्तं प्रयोजयति-**जयति दीव्यतीत्यादिना**। तथैव च विग्रहवाक्येऽपि आख्यातान्तस्यैव प्रयोगः कृतः। 'जित'पदे तु कर्मत्वस्य लाघवेन बोधायैव कृदन्तप्रयोगः।

केचित् त्वेवमाहुः- शत्रन्तेनैव-जयन् इत्यादिना (जयतीत्यादेः स्थाने) विग्रह उचितः, तथा कृत एव तद्धितान्ते सत्त्व(द्रव्य)प्राधान्यं सुरक्षितं स्यादिति, तन्न रोचयामहे-यदि विग्रहस्यास्याख्यातार्थप्रधानत्वे वृत्तेः (कृत-तद्धितादेः) द्रव्यप्राधान्यं विनश्येत, आख्यातार्थप्राधान्यमागच्छेदिति नियमः स्यात् तर्हि शत्रन्तस्यापि क्रियाप्रधानत्वमेव स्यात्, जयतीति विग्रहे एव 'जयत्'शब्दस्य निष्पन्नत्वादिति शत्रन्तेनापि प्रकृते विग्रहे प्रदर्शिते स दोषः शिरसि पतेदेव। तथा च-क्रियाप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति क्रियाप्रधानविग्रहे वृत्तेः सत्त्व(द्रव्य)प्रधानत्वं सुलभमेवेति, न तदर्थं शत्रन्तेन विग्रहे आग्रहः कार्यः। उदाहरति- **अक्षैर्जितम्-आक्षिकमिति**। अक्षाः-पाशा द्यूतव्यवहार-साधनभूताः तेषामनुकूल्यातेन स्वायत्तीकृतमित्यर्थः। शलाकया जितं **शालाकिकम्**। शलाकाऽपि द्यूतादिजयविजयप्रयोजक-क्रीडासाधनमेव। एवं जयत्याद्यर्थेऽपि प्रयोगा ज्ञेयाः। अत्र तृतीया समर्थविभक्तिः सा च कर्तरि करणे हेतौ च भवति। तेषु क्रियया साक्षात् संबन्धोपयोगात् कारकविभक्तित्वमेवेति हेतुतृतीयाया असंभवेऽपि कर्तरि करणे वेयं तृतीयेति संदेहः, तथाहि-जितमिति कर्मणि निर्देशेन कर्तृतृतीया संभाव्यते, जयदित्यादि शत्रन्तकर्तृषु कर्तरि तृतीयाया अनुपपत्तेः करणे तृतीयेयमिति संभवादुभयोः पक्षयोरेकस्य निर्णेतुमशक्यत्वमित्याशङ्कायामाह-**इह तेनेति करणे तृतीया वेदितव्येति**। तथा स्वीकृत एव सर्वैरर्थैः सह तस्याः सामञ्जस्यं भवेत्। कर्तरि कर्मणि वा वाच्ये करणे तृतीयायाः सत्त्वे बाधकाभावात्, कर्तरि तु प्रथमा-तृतीये यथोचितं भवेताम्। अन्यथा कर्तरि तृतीयाया आश्रयणे जयदादिष्वर्थेषु प्रथमा समर्थविभक्तिः कल्पनीया स्यात्, तथा च देवदत्तो जयति, देवदत्तेन जितमित्यादावपि प्रत्ययः स्यान्न चैवमर्थे प्रत्ययाभिधानं दृश्यते। तदाह-**नान्यत्रानभिधानादिति**। अन्यत्र कर्तरि हेतौ वा तृतीया न, कर्तृतृतीयान्तेन हेतुतृतीयान्तेन वा विग्रहे प्रत्ययेनार्थाभिधानादर्शनादित्यर्थः। अनभिधानमेवोदाहरति—**तेन देवदत्तेन जितमित्यत्र न**

"Aho Shrutgyanam"

भवतीति । प्रथमे कर्तरि तृतीया, द्वितीये हेतावितीदृशे विग्रहे वाक्यमेव तिष्ठति प्रत्ययोत्पत्तिः भवतीति ।

नन्वस्तु करणे तृतीया, किन्तु यत्रौकस्यां क्रियायां करणद्वयस्यान्वयविवक्षा तत्र कस्मात् कारणात् प्रत्ययः स्यादिति शङ्कामुत्थाप्योत्तरयति–**अभ्रया खनन्नङ्गुल्या खनतीति** । अयमाशयः–ईदृशस्थले करणद्वयस्य प्रयोगेऽपि मुख्य-गौणभावस्य स्पष्टं प्रतीयमानतया सम्भवति मुख्ये कार्यप्रसङ्गे गौणकार्यस्याप्रसगात्, अभ्रया एव मुख्यतः खननसाधनत्वमङ्गुलिस्तु तया खाताया मृदो बिलादुद्धरणादौ प्रयुक्ता खननसाधनत्वेनोपचर्यत इति तस्या गौणं कारणत्वमित्याभ्रिकोऽङ्गुल्या खनतीत्येव वाक्यम् । अथवा **आभ्रिक इत्येव प्रयोगः** । वस्तुतस्तु **ईदृशस्थले** वाक्यमेवोचितम्, प्राधान्यस्य विवक्षाधीनत्वात् । प्रत्युत मुख्या क्रिया खनतीत्येव, तदपेक्षं करणत्वं तु अङ्गुलेरेवेति तस्या एव मुख्यं करणत्वं शब्दतः प्राप्तमिति तत एव प्रत्यय उचितः प्रतिभाति । न चाङ्गुलिकरणकखननं प्रति पूर्वोक्तरीत्या अभ्या एव करणत्वमिति सैव मुख्यं करणमिति वाच्यम्, तावता तस्याः प्राधान्यासिद्धेः, प्रत्युत मुख्यकरणोपकारकत्वेनाप्राधान्यस्यैवौचित्यात् । यदि चोक्तप्रयोगे नान्तरीयकतयाऽङ्गुलेः करणत्वमित्युच्यते तदा पूर्वोक्तं सम्यगेव । नान्तरीयकत्वमेव स्पष्टी कर्तुमुदाहरति **यथा स्रुघ्नादागच्छन् वृक्षमूलादागत इति** । अत्र प्रधानमपादानं स्रुघ्न एव । वृक्षमूलं तु पथि पतितमिति नान्तरीयकमेव । अत एव वृक्षमूलान्नागतार्थे प्रत्यय इत्युक्तं पूर्वं "तत आगते" [६.३.१४९.] इति सूत्रव्याख्यायां बृहद्वृत्तौ । काशिकायां तु अङ्गुल्या खनतीत्यत्रापि अनभिधानादेव प्रत्ययो नेत्युक्तम् । जयद्-दीव्यत्-खनत्सु वर्तमानायां शत्रन्तेन निर्दिष्टेषु जयतीत्यर्थे एव प्रत्ययो न तु जिगाय इत्यादि भूतार्थे इति शङ्कायामाह–**जयदादिषु त्रिषु कालो न विवक्षितः** इति । तस्मात् कालत्रयेऽपि प्रत्ययो भविष्यतीति भावः । शब्दकौस्तुभे तु [४.४.२.] पुरुषसंख्याकाला अविवक्षिता इत्युक्तम्, तेन कालत्रये पुरुषत्रये वचनत्रये च प्रत्ययोत्पत्तिरिति । तच्च स्वमतेऽपि न प्रतिकूलम्–आश्विकाः पुरुषाः, आश्विकस्त्वम्, आश्विकोऽहम् इत्यादिप्रयोगाणां स्वमतेऽपि विरोधाभावात् । एवंस्थिते जितमित्यत्रापि कर्मत्वमात्रं विवक्षितं, न तु काल इत्याशङ्कायामाह–**जिते तु विवक्षित एवेति** । तथैव प्रयोगाभिधानादित्याशयः । समाहारेणैकवचनेनैव निर्देष्टव्ये बहुवचनं व्यर्थमित्याशङ्कायामाह–**बहुवचनं पृथगर्थताभिव्यक्त्यर्थमिति** । एषु प्रत्येकं प्रत्ययार्थता, न तु मिलितानामिति स्पष्टं प्रतिपादयितुं बहुवचनमिति भावः ॥६।४।२॥

संस्कृते ॥६।४।३॥

त० प्र०–**तेनेति तृतीयान्तात् संस्कृतेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । न्त उत्कर्षाधानं संस्कारः । दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारिचिकम् । शार्ङ्गवेरिकम् । उपाध्यायेन संस्कृतः औपाध्यायिकः शिष्यः । विद्यया संस्कृतो वैद्यिकः । योगविभाग उत्तरार्थः** ॥३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**संस्कृते** । तेनेति संबध्यते तदाह–**तेनेति तृतीयान्तादिति** । संस्कृतेत्यस्य संस्कारविषयीभूतेत्यर्थः । संस्कारश्च योगार्थानुसारं सम्यक्करणमेव । तथा च सम्यक्कृतयोत्पत्तिविषयीभूते इत्यर्थो लभ्यते । न चायमर्थोऽत्राभिमतः । लोके उत्पन्नस्यैव संस्कारविषयतायाः प्रसिद्धेः, अतः संस्कारशब्दस्य योगरूढमर्थमाह–**न्त उत्कर्षाधानमिति** । सतो लब्धोत्पत्तिकस्यात्मानं धृतवतो धर्मिणः उत्कर्षस्य (दृष्टस्यादृष्टस्य वाऽतिशयस्य) आधानं संपादनं संस्कारशब्दवाच्यम् । विशेषणोत्कर्षनिष्ठोत्पत्तिर्विशिष्टेधर्मिणि व्यवह्रियत इति भावः । उदाहरति–**दध्ना संस्कृतमित्यादि** विग्रहप्रदर्शनपूर्वकम् । दधिकरणकोत्कर्षविशिष्टमित्यर्थः । न केवलं दृष्ट एवोत्कर्ष इह गृह्यतेऽपि त्वदृष्टोऽपीति तथैवोदाहरति–**उपाध्यायेन संस्कृत औपाध्यायिकः शिष्य** इति । उपाध्यायेन शिष्ये मन्त्रोपदेशेन विद्योपदेशेन वाऽदृष्ट एवोत्कर्षो जन्यते । एवं विद्यया संस्कृत इत्यत्रापि विज्ञेयम् । पूर्वयोग एवास्यापि अर्थस्य निर्देशे लाघवमिति शङ्कां निरस्यति–**योगविभाग उत्तरार्थ** इति । उत्तरसूत्रेषु संस्कृतार्थस्यैकस्यैव संबन्धाय योगविभाग इत्यर्थः । एकयोगनिर्दिष्टत्वे तु सहैव सर्वेषां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यादिति भावः ॥६।४।३॥

कुलत्थकोपान्त्यादण् ॥६।४।४॥

त० प्र०–**कुलत्थशब्दात् ककारोपान्त्याच्च शब्दरूपात् तेन संस्कृतेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । इकणोऽपवादः । कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम् । अन्ये तु कुलत्थशब्दात् सकाराक्रान्तथकारात्**

"Aho Shrutgyanam"

प्रत्ययं मन्यन्ते। कौलस्थः। कोपान्त्यः-तित्तिडीकेन तित्तिडीकाभिर्वा संस्कृतं तैत्तिडीकम्। दर्दुरूकेण दार्दुरूकम्। मरण्डूकेन मारण्डूकम्। अन्ये तु कवर्गोपान्त्यादपीच्छन्ति। मौद्गम्। सारघम् ॥४॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्-कुलत्थ०। इकणोऽपवाद इति। तेन संस्कृतेऽर्थे सामान्यतो विहितस्येत्यर्थः। कुलत्थं द्विदलान्नविशेषः, तेन संस्कृतमित्यर्थेऽण् कौलत्थ इति। कुलत्थशब्दविषये मतान्तरमाह-अन्ये तु कुलत्थशब्दात् सकाराक्रान्तथकारादित्यादि अयमाशयः-कुं पृथ्वीं लाति गृह्णातीति कुलम्, सदिव तिष्ठति ईत्यर्थे कुलत्थशब्दव्युत्पत्तिः, कप्रत्ययान्तात् स्थाधातोः पृषोदरादित्वात् साधुः कुलत्थशब्दः। तथा च प्रत्ययसंनियोगेन पूर्वं रूप परावर्तत इति कुलत्थशब्दादेव प्रत्यय इति। तेषामाशयः, परमिदं पाणिनीयादौ कापि न दृश्यते। कोपान्त्यविषयेऽपि मतान्तरमाह-अन्ये तु कवर्गोपान्त्यादपीति। तथा च सूत्रे कूपान्त्यादिति पाठस्तैः कल्प्यते इत्याशयः। तथा च गोपान्त्याद् घोपान्त्याच्च भवतीत्युदाहरति-मौद्गम्, सारघमिति। मुद्गेन संस्कृतम्, सारघेन मधुना संस्कृतमिति च विग्रहः ॥७।४।४॥

संसृष्टे ॥६।४।५॥

त० प्र०-तेनेति तृतीयान्तात् संसृष्टेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। मिश्रणमात्रं संसर्ग इति पूर्वोक्तात् संस्कृताद् भेदः। दध्ना संसृष्टं दाधिकम्। शार्ङ्गवेरिकम्। पैप्पलिकम्। वैषिका भिक्षाः। आशुचिकमन्नम् ॥५॥

शं० म० न्यासानुसन्धानम्—संसृष्टे०। सम्यक्सर्जनविषयीभूतत्वमेव संसृष्टशब्दार्थ इति मत्वा पूर्वोक्त संस्कृतार्थेन सहास्य गतार्थत्वमिति वैयर्थ्यमाशङ्क्याह-मिश्रणमात्रं संसर्ग इति पूर्वोक्तात् संस्कृताद् भेद इति। संस्कृतार्थस्य सत उत्कर्षाधानस्य, मिश्रणसंमेलन-मात्रार्थकात् संसृष्टार्थात् भेदः-पार्थक्यमिति नास्य गतार्थत्वमित्यर्थः।

नन्वेवं संसृष्ट इत्यस्य व्यापकत्वं, संस्कृतार्थस्य व्याप्यत्वम्, संस्कृतार्थेऽपि दध्यादिना संसर्गेणैव गुणमाधीयते, तथा च गुणाधाने सति असति वा सर्वत्र प्रत्यय इष्ट इति ससृष्टार्थेनैव सर्वत्र निर्वाहः स्यादिति पृथगर्थनिर्देशपूर्वकं प्रत्ययविधानं व्यर्थमेवेति चेन्न, असत्यपि संसर्गे मिश्रीभावे यत्र संस्कार उत्पद्यते, यथा-औपाध्यायिकः शिष्य इत्यादौ तत्रापि प्रत्ययो यथा स्यादित्येवमर्थं तस्यावश्यकत्वात्। संसर्गश्च द्रव्ययोरेव भवति, उपाध्यायस्य विद्योपदेशादिद्वारैव गुणान्तराधायकत्वेन तेन सह संयोगादिसंबन्धेन मिश्रीभावस्यानुपयोगात्। अथ संसर्गपदेन संबन्धसामान्यमेव विवक्षितम्-न संयोगमात्रम्, अस्ति च विद्यादिनाऽपि समवायादिः संसर्गः सर्वथाऽसंबद्धे वस्तुनि उत्कर्षाधानस्यासंभवात् तथा चेदृशेऽर्थेऽपि प्रकृतसूत्रेणैव निर्वाह इति संस्कृतेऽर्थे पृथक्प्रत्ययविधिः व्यर्थ एवेत्युच्यते तन्न, कुलत्थकोपान्त्यादणित्यर्थं तस्यावश्यकत्वात्। कुलत्थादिभिः कृते उत्कर्षे सत्येव प्रत्यय इष्यते, न तु संबद्धमात्रे, तच्च विना पृथगर्थनिर्देशं न सिद्धयेदिति तदर्थं पृथगर्थे प्रत्ययविधानमिति ॥६।३।५॥

लवणादः ॥६।४।६॥

त० प्र०-लवणशब्दात् तेन संसृष्टे अकारः प्रत्ययो भवति। लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः। लवणः शाकः। लवणा यवागूः। लवणशब्दो द्रव्यशब्दोः गुणशब्दश्च। तत्र द्रव्यवाची लवणशब्दः प्रत्ययं प्रयोजयति, न गुणवाची। गुणेन विश्लेषपूर्वकस्य संसर्गस्याभावात् ॥६॥

शं० म० न्यासानुसंधानम्—लव०। लवणशब्दो द्रव्यशब्दो गुणशब्दश्चेति। 'पञ्चलवणानि' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् तस्य द्रव्यशब्दत्वं द्रव्यवाचकशब्दत्वं प्रतीयते, षट्सु रसेषु लवणस्यापि गणनात् तस्य रसरूपगुणवाचकत्वमायाति। तत्र च गुणवाचकादसत्यपि प्रत्यये गुण-गुणिनोरभेदोपचारस्य शुक्लः पटः इत्यादौ दृष्टतया विनाऽपि प्रत्ययं संसृष्टार्थप्रतीतिः स्यादेवेति व्यर्थमिदं प्रत्ययविधानमित्याशयवानाह-तत्र द्रव्यवाची लवणशब्दः प्रत्ययं प्रयोजयति, न गुणवाचीति। तत्र प्रकृतोपयोगि कारणमाह-गुणेन विश्लेषपूर्वकस्य संसर्गस्याभावात इति। गुणो हि द्रव्यद्वारैव द्रव्यान्तरेण संसृज्यते तस्य द्रव्याश्रितत्वनियमात्। संसर्गश्च विश्लेषपूर्वकः संबन्धः, तस्य च द्रव्येण सह न विश्लेषः संभवतीति तस्य (गुणस्य) स्वतः संसर्गोऽपि न संभवतीत्यर्थः ॥६।४।६॥

"Aho Shrutgyanam"

चूर्ण-मुद्गाभ्यामिनणौ ॥६।४।७॥

त० प्र०-आभ्यां तेन संसृष्टे यथासंख्यमिन् अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः। चूर्णिन्यो धानाः। मुद्गैः संसृष्टो मौद्ग ओदनः। मौद्गी यवागूः ॥७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चूर्ण० । चूर्णमिहान्नादिपेषणजन्यं तदीयसूक्ष्मावयवरूपं, न तु सुधा, मुद्गशब्दसाहचर्येणान्नरूपस्यैव ग्रहणात् तस्यैवापरेणान्नेन संसर्गस्य योग्यत्वाच्च । अत एव बहुवचनान्तेन विग्रहः चूर्णैः संसृष्टा इति। अत्र मत्वर्थीयेनेनापि प्रकृतरूपार्थयोर्लाभसंभवेऽत्रेनविधानं संसृष्टार्थविवक्षायामिकणो बाधनार्थम् ॥६।४।७॥

व्यञ्जनेभ्य उपसिक्ते ॥६।४।८॥

त० प्र०-व्यञ्जनवाचिनस्तृतीयान्तादुपसिक्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। सूपेन उपसिक्तः सौपिक ओदनः। दाधिक ओदनः। घार्तिकः सूपः। तैलिकं शाकम्। व्यञ्जनेभ्य इति किम्? उदकेन उपसिक्त ओदनः। व्यञ्जनशब्दो रूढया सूपादौ वर्तते। उपसिक्त इति किम्? सूपेन संसृष्टा स्थाली। उपसिक्तमिति यद् भोजनार्थमुपादीयते भोज्यादि तदुच्यते न स्थाल्यादि। उपसिक्तं संसृष्टमेव तत्र 'संसृष्टे' [६.४.५.] इत्येव सिद्धे नियमार्थं वचनम्। व्यञ्जनैः संसृष्टे उपसिक्त एव उपसिक्ते च व्यञ्जनैरेव। बहुवचनं स्वरूपविधेर्निरासार्थम्॥८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—व्यञ्ज० । व्यज्यतेऽनेनोदनादिरस इति व्यञ्जनम्, अथवा व्यज्यते म्रक्ष्यतेऽनेनौदनादिरिति व्यञ्जनम्, तच्च लोकप्रसिद्ध्यनुरोधेन सूपादिकमेव गृह्यते। तथा चोदाहरति-सूपेनोपसिक्तः सौप इति। सूपो द्विदलपाकः, तेनार्द्रीकृत इत्यर्थः। दध्नोपसिक्तो दाधिकः, घृतेनोपसिक्तो घार्तिकः। तैलेनोपसिक्तं तैलिकमिति विग्रहः। उपसेको व्यञ्जनेनैवेति व्यञ्जनैरिति नावश्यकमिति शङ्कते-व्यञ्जनेभ्य इति किमिति? न केवलं व्यञ्जनैरेवोपसेकोऽपि तु जलेनापि स संभवतीत्याशयेन प्रत्युदाहरति-उदकेनोपसिक्त ओदन इति। ननूदकस्यापि म्रक्षणसाधनत्वसंभवादस्यापि कुतो न व्यञ्जनत्वमिति चेदत्राह-व्यञ्जनत्वमिति रूढया सूपादौ वर्तत इति। रूढिर्लोकप्रसिद्धिः, सा च सूपादिषु भोजनोपकारिद्रव्येष्वेव, तथैव लोकव्यवहारादिति भावः। उपसेकोऽपि संसर्गविशेषः एवेति संसृष्टार्थे प्रत्ययेनोपसिक्तार्थोऽपि विज्ञास्यत एवेत्युपसिक्तार्थे पृथक् प्रत्ययविधानमनावश्यकमिति शङ्कते-उपसिक्त इति किमिति। उपसिक्तग्रहणाभावे संसृष्टार्थ एव प्रत्ययो व्यञ्जनेभ्योऽपि स्यादिति सूपेन संसृष्टा स्थालीत्यादावपि प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्, सा चानभिमतेत्याह-सूपेन संसृष्टा स्थालीति अयं भावः, उपसिक्तं नाम सिञ्चनेन मृदूकृतम्, न च स्थाल्याः सूपसंसर्गात् कश्चन विकारो भवति मृदूभावादिः। संसर्गश्च तस्याः सूपादिनाऽपि संभाव्यत एवेति सौपिका स्थालीति प्रयोगो मा भूदित्येतदर्थमुपसिक्तग्रहणमिति। एतदेवान्यथा सूचयति-उपसिक्तमिति यद् भोजनार्थमुपादीयते भोज्यादीत्यादि। यथा व्यञ्जनशब्दो रूढया सूपादीनाह तथैवोपसिक्तशब्दोऽपि व्यञ्जनजन्यार्द्रीभावादियुक्तं भोज्यपदार्थमेवाह, तत्रैव वाच्ये प्रत्ययः स्यान्नान्यत्रेति विज्ञानार्थमुपसिक्तग्रहणमिति। इदं च परस्परनैयत्यं यथा लभ्यते तदुपपादयति-उपसिक्तं संसृष्टमेवेत्यादिना।

अत्रायं निर्गलितोऽर्थः, वस्तुत उपसिक्तार्थेन संसृष्टार्थतः कोऽपि विशेषो नाभिधीयते संसर्गविशेषस्यैवोपसेकपदार्थत्वात्, एवं च उपसिक्तग्रहणं व्यर्थमेव। व्यर्थीभूतं च तन्नियमार्थं भवति, *सिद्धे सत्यारभ्यमाणस्य नियमार्थत्वोपगमात्*। नियमश्च द्विधा संभवति-अर्थनियमः प्रकृतिनियमश्चेति। तत्र पूर्वमर्थनियममाह-व्यञ्जनैः संसृष्टे (चेत्) उपसिक्त एवेति। एवं सति सूपेन संसृष्टा स्थालीत्यत्र प्रत्ययवारणम्। प्रकृतिनियममाह-उपसिक्ते (चेद्) व्यञ्जनैरेवेति। तेन उदकेनोपसिक्त ओदन इत्यत्र प्रत्ययवारणं भवति। इत्थं च प्रकृतसूत्रस्थपदद्वयमपि परस्परनियामकमिति विशेयम्। ननु 'व्यञ्जनादुपसिक्ते' इत्येकवचनान्तमेव सूत्रे प्रयुज्यतां बहुवचननिर्देशः किमर्थ इति चेदत्राह-बहुवचनं स्वरूपविधेर्निरासार्थमिति। स्वरूपाद् व्यञ्जनशब्दाद् विधिः प्रत्ययोत्पत्तिः, तस्या निरासार्थम्-वारणार्थमित्यर्थः। बहुवचननिर्देशेन व्यञ्जनविशेषेभ्य एव प्रत्ययो भवति, न व्यञ्जनशब्दादिति भावः। नहि व्यञ्जनशब्दार्थो

"Aho Shrutgyanam"

व्यञ्जनम्—अपि तु व्यञ्जनविशेष प्रतिपादकाः शब्दा एव व्यञ्जनवाचका इति तेभ्यो एव प्रत्ययो यथा स्यादिति फलति ॥६।४।८॥

तरति ॥६।४।९॥

त० प्र०—तेनेति तृतीयान्तात् तरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। उडुपेन तरति औडुपिकः। काण्डप्लविकः। शरप्लविकः। गोपुच्छिकः॥९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तरित० । तेनेति वर्तते। सामर्थ्याच्च तरणसाधनादेव प्रत्ययः, तस्यैव तरणे करणत्वात्। उडुपेन तरतीति। अन्यत्र 'उडुप' शब्द एवोपलभ्यते क्षुद्रनौकायां तृणादिनिर्मिते तरणसाधने वा। 'अभिधानचिन्तामणौ' तु 'उडुपः प्लवः' [३. ५४३.] इत्यस्य टीकायां "उडेरुपक्" [उणा० ३११.] इत्युक्तत्याऽपि उडुपशब्द एवोपलभ्यते। उडुनि स्वल्पजलाशये पाति—रक्षतीति उडुपशब्दव्युत्पत्तिरपि कोशादौ दृश्यते टीकासु। 'उडुप'शब्दोऽप्येवं व्युत्पादयितुं शक्यते, उडुनि स्वल्पजलाशये वाति—गच्छतीति। किमत्र साधीय इति लक्ष्यैकचक्षुष्का एव जानीयुः। काण्डप्लवेन, शरप्लवेन, गोपुच्छेन (गोः पुच्छं गृहीत्वा) तरतीत्येवं विग्रहः ॥६।४।९॥

नौ-द्विस्वरादिकः ॥६।४।१०॥

त० प्र०—नौशब्दाद् द्विस्वराच्च नाम्नस्तृतीयान्तात् तरत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति। नावा तरति नाविकः। नाविका। द्विस्वरः, घटिकः। प्लविकः। दृतिकः। बाहुकः। बाहुका ॥१०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नौद्वि० । नौः प्रसिद्धा तरणसाधनम्। द्विस्वरेषु घट-प्लव-दृति-बाहवः तरणसाधनानि। तेभ्य इके घटादिषु आदिस्वरवृद्ध्यभावः स्त्रियामाप् इति ङीर्णो विशेषः। नावा, घटेन, प्लवेन, बाहुभ्यां तरतीति विग्रहः ६।४।१०॥

चरति ॥६।४।११॥

त० प्र०—तेनेति तृतीयान्ताच्चरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। चरतिरिह गत्यर्थो भक्ष्यार्थश्च गृह्यते। गत्यर्थः, हस्तिना चरति हास्तिकः। शाकटिकः। घाण्टिकः। आकषिकः। आकषः सुवर्णनिकषोपलः, औषधपेषणपाषाणश्च। भक्ष्यर्थः, दध्ना चरति दाधिकः। शार्ङ्गबेरिकः ॥११॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चरति० । *सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति* इति चरतिशब्द एकामेव क्रियां गतिरूपां भक्षणरूपां वा कथयेदिति प्रकृते कोऽर्थ इत्याशङ्कायामाह-चरतिरिह गत्यर्थो भक्ष्यार्थश्च गृह्यते इति। भक्ष्यार्थ इत्यस्य भक्षणार्थ इत्यर्थः। भक्ष्यं हि भक्षणीयं वस्तु, न तु क्रिया। भवतीति—भक्ष्यार्थ इत्यपपाठः प्रतिभाति, भक्षार्थ इति युज्यते। भक्षणं भक्ष इति भावे घञा भक्षशब्दस्य क्रियावाचकत्वसंभवात्। अथवा भक्ष्यमर्थो विषयो यस्येति विगृह्य भक्ष्यार्थ इति पाठोऽपि समर्थयितुं शक्यते। उदाहरणावसरे च 'भक्ष्यर्थ' इति पाठो दृश्यते स चोचित एवेति तदनुरोधेनात्रापि स एव पाठोऽनुसंधेयो लेखकप्रमादान्मुद्रक प्रमादाद् वा त्रुटितियम्। गतिरिहोपलक्षणं व्यवहारसामान्यस्य, तथा च हास्तिक-शाकटिकेति प्रयोगयोर्हस्ति-शकटयोः स्पष्टतो गतिसाधनत्वम्, घाण्टिकाऽऽकषिकयोः घण्टा-ऽऽकषयोः न गतिसाधनत्वमपि तु तत्तद्व्यवहारसाधनत्वमेवेति ताभ्यामपि प्रत्ययो भवति। घण्टया चरतीत्यस्य घण्टामादाय चरति, आकषेण चरतीत्यस्य आकषमादाय चरतीति प्रतीतिजनकत्वम्। तथा च घाण्टिकाऽऽकषिकयोः यो व्यवहारो वाणिज्यादि—तत्तत्साधनत्वेन चरतिं प्रति करणत्वं घण्टा-ऽऽकषयोः सिद्धम्। आकषशब्दोऽपरिचितार्थ इति तदर्थं परिचाययति—आकषः—सुवर्णनिकषोपलः, औषधपेषणपाषाणश्चेति। सुवर्णक्रय-विक्रयव्यवहारी तत्परीक्षणार्थमाकषमादायैव चरति। एवं वैद्योऽपि तमादायैव चरति, तं विना प्रथमस्य सुवर्णपरिचयाभावो द्वितीयस्यौषधिप्रयोगाभावश्च स्यात्। भक्ष्यर्थप्रयोगमुदाहरति—दध्ना चरतीति। दधि प्रसिद्धमेव। शृङ्गबेरमार्द्रकम्। एतयोर्भक्षणसाधनत्वमौपचारिकमेवासाधारणकारणत्वाभावात् ॥६।४।११॥

पर्पादेरिकट् ॥६।४।१२॥

त० प्र०—पर्प इत्येवमादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यश्चरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति। पर्पेण चरति पर्पिकः। पर्पिकी। अश्विकः। अश्विकी। पर्प अश्व अश्वत्थ रथ अर्ध्य व्याल व्यास इति पर्पादिः ॥१२॥

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पर्पा० । पर्पादयः सर्वे गतिकरणान्येव । पर्पः—पक्ष्णूनां गतिसाधनभूतः पीठः । अश्वः प्रसिद्ध एव । अश्वत्थार्घ्यव्यालादयो हेतवोऽपि करणत्वेन विवक्षिताः प्रत्ययमुत्पादयन्ति । अश्वत्थो पिप्पलवृक्षः, अर्घ्यं पूजाप्रदेयजलम्, व्यालः—सर्पः, व्यासः निस्त्राः इत्येतेषां साक्षाद् गतिसाधनत्वमनुपपन्नमेवेत्यौपचारिकं तद् बोध्यम् ॥६।४।१२॥

पदिकः ॥६।४।१३॥

त० प्र०—पादशब्दात् तेन चरत्यर्थे इकद् प्रत्ययो भवति, अस्य पद्भावश्च निपात्यते । पद्भ्यां चरति पदिकः ॥१३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पदिकः । पर्पादिगण एव पादशब्दस्यापि पाठेन सिद्धे, पदादेशविधानार्थं निपातनसूत्रमिदम् । यद्यपि पादशब्दसमानार्थः पदशब्दोऽप्यस्ति तेन पर्पादिगणे पठितेन रूपं सिद्धचेत्, तथापि पादशब्दादिकणा पादिक इति मा भूदित्येतदर्थं निपातनारम्भस्यावश्यकत्वम् ॥६।४।१३॥

श्वगणाद् वा ॥६।४।१४॥

त० प्र०—श्वगणात् तेन चरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो वा भवति । श्वगणेन चरति श्वगणिकः । श्वगणिकी । पक्षे इकण् श्वागणिकः । श्वागणिकी, 'श्वादेरिति' [७.४.१०.] इति वात् प्रागौर्न भवति ॥१४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—श्वग० । शुनां गणः श्वगणः तस्य गतिसाधनत्वमप्यौपचारिकमेव, तमादाय चरन् वधिकादिरेवमुच्यते । तस्य गत्युद्देश्यं मृगयादि, तत्साधनं श्वगणः इति तमादाय चरतोऽस्य गतिस्तत्करणिका भवति । इकोऽभावे "चरति" [६.४.११.] इति इकण् भवति । तत्रादिस्वरवृद्धिं बाधित्वा "वयः पदान्तात् प्रागैदौत्" [७.४.५.] इति प्रकरणे "द्वारादेः" [७.४.६.] इति औतः प्राप्तावाह—"श्वादेरिति" [७.४.१०.] इति वात् प्रागौर्नेति । औतो निषेधे आदिस्वरवृद्धौ श्वागणिक इति, स्त्रियां श्वागणिकीति ॥६।४।१४॥

वेदनादेर्जीवति ॥६।४।१५॥

त० प्र०—तेनेति वर्तते । वेतन इत्येवमादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो जीवत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । वेतनेन जीवति वैतनिकः । वाहिकः ।

वेतन वाह अर्धवाह धनुस्त्र दण्ड धनुर्दण्ड जाल वेश उपवेश प्रेषण भृति उपवेश उपस्था उपास्ति उपस्थान सुख शय्या सुखशय्या शक्ति उपनिषत् उपरिजन स्फिज स्फिग वाल पुतचाल उपदेश पाद उपहस्त इति वेतनादिः ॥१५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वेतना० । समर्थविभक्तिं सूचयति—तेनेति वर्तते इति । पूर्वतः संबध्यते इत्यर्थः । जीवतीत्यस्य यद्यपि प्राणधारणमर्थः । वेतनादेश्च न साक्षात् प्राणधारणसाधनत्वमपि तु प्राणधारणोपयोगि वस्तु संपादनद्वारेति बोध्यम् ॥६।४।१५॥

व्यस्ताच्च क्रय-विक्रयादिकः ॥६।४।१६॥

त० प्र०—क्रय-विक्रयशब्दात् समस्ताद् व्यस्ताच्च तेन जीवत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति । क्रय-विक्रयेण जीवति क्रय-विक्रयिकः। क्रयिकः। विक्रयिकः ॥१६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—व्यस्ता० । क्रय-विक्रययोरुभयोः व्यस्तयोश्च जीविकासाधनत्वमिति समस्ताद् व्यस्ताच्च प्रत्ययविधानम् । कश्चिज्जीविकार्थं वस्तु सुलभमूल्येन क्रीत्वाऽधिकमूल्येन च विक्रीय जीवति । कश्चित् क्रीत्वोपयुज्य जीवति, अन्यः स्वोत्पादितमेव वस्तु जीविकार्थं विक्रीय जीवतीति सर्वथा प्रयोगसंभावना ॥ ६।४।१६॥

वस्नात् ॥६।४।१७॥

त० प्र०—वस्नात् तेन जीवत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति । वस्नं मूल्यं तेन जीवति वस्निकः ॥१७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वस्नात् । वस्नशब्दोऽप्रसिद्धार्थ इति तदर्थं ग्राहयति—वस्नं-मूल्यमिति । मूल्येन आनाम्यं मूल्यम् । "द्रुघ-पद्य०" [७.१.११.] इति यः, निष्क्रयद्रव्यं मूल्यमित्युच्यते, तथा च निष्क्रयद्रव्यं वेतनमप्युच्यते, तेनैव स्वीयपारिश्रमिकादिरूपेण निर्वहति यः स वास्निकः ॥६।४।१७॥

आयुधादीयश्च ॥६।४।१८॥

त० प्र०—आयुधशब्दात् तेन जीवत्यर्थे ईयश्चकारादिकश्च प्रत्ययौ भवतः । आयुधीयः ।

"Aho Shrutgyanam"

आयुधिकः । आयुधिका । आयुधादिकेकणोः स्त्रियां विशेषः ॥१८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—आयुधा० । चकारेण पूर्वसूत्रोक्त इकः समुच्चीयते । तस्येहेकेकणोः कृतयो रूपे मेदाभावेनेयस्य विकल्पेन विधाने पक्षे औत्सर्गिकेनेकणाऽपि गतार्थता संभवतीत्याशङ्क्य रूप एव भेदं सूचयति—**आयुधादिकेकणोः स्त्रियां विशेषः** । इके सति स्त्रियामापि आयुधिकेति भवति, तदेव चेष्टम्, इकणि तु स्त्रियां ङीः स्यात् । किञ्च, बहुव्रीहौ आयुधिका भार्या यस्येति विग्रहे पुंवत्त्वे आयुधिकभार्य इति रूपं भवति, इकणि तु "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुरस्त्रविकारे" [३.२.५५.] इति पुंवत्त्वनिषेधादायुधिकीभार्य इति स्यादित्यपि विशेषः ॥६।३।१८॥

व्रातादीनञ् ॥६।४।१९॥

त० प्र०—**व्रातशब्दात् तेन जीवत्यर्थे इनञ् प्रत्ययो भवति । नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरायासजीविनः संघा व्राताः । तत्साहचर्यात् तत्कर्मापि व्रातम् । तेन जीवति व्रातीनः । अकारो वृद्ध्यर्थः । तेन 'तद्धितः स्वरवृद्धि०' [३.२.५५.] इत्यादिना पुंवद्भावो न भवति । व्रातीनाभार्यः ॥१९॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—व्राता० । तेन जीवतीति संबध्यते । तथा च तृतीयान्ताद् **व्रातशब्दाज्जीवत्यर्थे इनञ्** इत्यर्थः । व्रातशब्दस्य लोके संघातवाचकत्वेन प्रसिद्धेः निरुपपद(केवल)संघार्थस्य जीवनसाधनत्वासंभवात् किमर्थकोऽयं व्रातशब्द इत्याकाङ्क्षायामाह—**नानाजातीया** इत्यादि । अत्र नानाजातीया इति कथनेनैकजातिक्षत्रियादिसंघनिराकरणम्, अनियता-अनिश्चिता वृत्तिः एकत्र स्थितिर्येषां तेऽनियतवृत्तयः, अनेन विशेषणेनायुधजीविसंघव्यावृत्तिः, तेषां स्थितेर्नियतत्वात्, शरीरायासेन कायपरिश्रमेण जीवन्तीति शरीरायासजीविनः संघाः समूहाः, एवं च नानास्थानाद् गतागतं कुर्वन्तो विभिन्नजातीयाः कल्पितसमूहा भारवहनादिकर्म कुर्वन्तो जना व्राता इति । ईदृशस्य व्रातशब्दार्थस्यापि न जीवनसाधनत्वं साक्षादित्यत आह—**तत्साहचर्यात् तत्कर्माऽपि व्रातमिति** । तेन संघेन साहचर्यं नियतसंबन्धः तस्मात् तेषां कर्माऽपि व्रातशब्देनोपचर्यते इत्यर्थः । तस्य च जीवनसाधनत्वं स्पष्टम् । कैयटे तु "व्रातेन जीवति" [पा० सू० ५.२.२१.] इति सूत्रीयमहाभाष्यव्याख्यायां व्रातानां कर्मव्रातमित्यर्थेऽत्रैव सूत्रे निपातनादियं बाधित्वा तस्येदमित्यर्थेऽणित्युक्तम् । तथा च नोपचारोपयोग इति तदाशयः । व्रातशब्दस्य स्वत एवादिस्वरवृद्धिमत्त्वेन अकारस्य वैयर्थ्यं प्रत्यये इत्याशङ्क्य वृद्ध्यर्थत्वमेवेत्याह—**अकारो वृद्ध्यर्थ** इति । ननु वृद्धिरिह स्वाभाविकीति चेदत्राह—**तेन "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतु०"** [३.२.५५.] इत्यादि । अत्र बहुव्रीहौ व्रातीनां भार्या यस्येत्यर्थे पूर्वपदपुंवद्भावस्य "तद्धितः स्वरवृद्धि०" [३.२.५५.] इति निषेधः । स च अकारस्य प्रत्यये सत्त्वं विना न स्यात् तं विना तद्धितस्य स्वरवृद्धिहेतुत्वाभावात्, तथा च वृद्धिस्वरूपोपधायकनिमित्तत्वं अकारस्य न फलोपधायकत्वमिति केचित् । वस्तुतस्तु *पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या* वृद्धिफलोपधायकत्वमप्यस्त्येवेति ॥६।४।१९॥

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादेः ॥६।४।२०॥

त० प्र०—**अक्षद्यूत इत्येवमादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अक्षद्यूतेन निर्वृत्तमाक्षद्यूतिकं वैरम् । जाङ्घाप्रहतिकं वैरम् ।**

अक्षद्यूत जङ्घाप्रहत जङ्घाप्रहार पादस्वेद पादस्वेदन कण्टकमर्द कण्टकमर्दन शर्करामर्दन गत आगत गतागत यात उपयात यातोपयात गतानुगत अनुगत इत्यक्षद्यूतादिः ॥२०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—निर्वृ० । तेनेति इकणिति च संबध्यते । तेन तृतीयान्तेभ्योऽक्षद्यूतादिशब्देभ्यो निवृत्तेऽर्थे इकण् भवतीत्यर्थः । अक्षसाधनकं द्यूतमक्षद्यूतं तेन निर्वृत्तं संपन्नं वैरम् **आक्षद्यूतिकम्** । जङ्घया प्रहतमाघातो जङ्घाप्रहतं तेन निर्वृत्तं **जाङ्घाप्रहतिकमिति** ॥६।४।२०॥

भावादिमः ॥६।४।२१॥

त० प्र०—**भावयाचिनस्तेन निर्वृत्तेऽर्थे इमः प्रत्ययो भवति । पाकेन निर्वृत्तं पाकिमम् । सेकिमम् । त्यागिमम् । रोगिमम् । कुट्टिमम् । संमर्दिमम् ॥२१॥**

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—भावा० । अत्र भावशब्दस्यानेकार्थत्वेऽपि क्रियापर्यायस्यैव भावशब्दस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । भावः–क्रिया, सा चेह सत्त्व(द्रव्य)स्वभावमापन्ना भावशब्देनोच्यते ।

"असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्कृत्पदैरभिधीयते ।
सत्त्वस्वभावमापन्ना क्रियानामभिरुच्यते ॥"

इत्यभियुक्तोक्त्या नाम्नामसत्त्वभूतभाववाचकत्वस्यैव सिद्धान्तसिद्धत्वात् । स च भावो घञाद्यन्तेनोच्यत इति घञन्तमुदाहरति–**पाकेन निर्वृत्तम्**इत्यादि । पाक-सेक-रोगत्याग-कुट्ट-संमूर्च्छाः सर्वे घञन्ता एव ॥६।४।२१॥

याचितापमित्यात् कण् ॥६।४।२२॥

त० प्र०–याचित अपमित्य इत्येताभ्यां तेन निर्वृत्ते कण् प्रत्ययो भवति । याचितेन याञ्चया निर्वृत्तं याचितकम् । अपमित्येति यबन्तम् । अपमित्य प्रतिदानेन निर्वृत्तमापमित्यकम् ॥२२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—याचिता० । याचितमित्यत्र क्लीबे भावे क्तः । अपमित्येत्यपि यबन्तं पूर्वकालिकभाववाचकम्, तस्य चाव्ययत्वेन न तृतीयान्तत्वाग्रहः । भावार्थकत्वमेव प्रतिशब्देन प्रकटितं विग्रहे याचितेन –याञ्चया, अपमित्यप्रतिदानेनेति । प्रतिदानं हि गृहीतस्य वस्तुनः तुल्यस्य वस्त्वन्तरस्य प्रदानम् ॥६।४।२२॥

हरत्युत्सङ्गादेः ॥६।४।२३॥

त० प्र०–उत्सङ्गादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो हरत्यर्थे इकण्प्रत्ययो भवति । उत्सङ्गेन हरत्यौत्सङ्गिकः । उत्रुपेन औत्रुपिकः । उडुपेन औडुपिकः ।

उत्सङ्ग उत्रुप उडुप उत्पुत उत्पुट पिटक पिटाका इत्युत्सङ्गादिः ॥२३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—हर० । तेनेति संबध्यतेऽत आह–**उत्सङ्गादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्य** इति । उत्सङ्गः क्रोडः, तस्य हरण-(नयन)साधनत्वं प्रसिद्धम्, बालादीनां तेन नीयमानत्वात् । उत्रुपोऽप्रसिद्धः । उडुपः प्लवः । उत्पुनोत्पुटावपि सांप्रतमप्रसिद्धावेव पिटक-पिटाकौ वंशादिनिर्मितपात्रविशेषार्थौ । एषां नयन-(हरण) साधनत्वं प्रसिद्धम् ॥६।४।२३॥

भस्त्रादेरिकट् ॥६।४।२४॥

त० प्र०–भस्त्रादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो हरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति । भस्त्रया हरति भस्त्रिकः । भस्त्रिकी । भरटिकः । भरटिकी ।

भस्त्रा भरट भरण शीर्षभार शीर्षेभार अङ्कभार अङ्केभार अंसभार अंसेभार इति भस्त्रादिः ॥२४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–भस्त्रा० । भस्त्रा चर्ममयी वह्निसंदीपनी तया हरति-मुष्णाति (तस्यां संगोप्य लोहादिकं नयति कर्मारः) **भस्त्रिकः** । टित्त्वात् स्त्रियां ङीः **भस्त्रिकी** ॥६।४।२४॥

विवध-वीवधाद् वा ॥६।४।२५॥

त० प्र०–विवध-वीवध इत्येताभ्यां तेन हरत्यर्थे इकट् प्रत्ययो भवति । विवधेन हरति विवधिकः । विवधिकी । वीवधिकः । वीवधिकी । पक्षे इकण् । वैवधिकः, वैवधिकी । विवध-वीवधशब्दौ समानार्थौ पथि पर्याहारे च वर्तते ॥२५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—विवध० । तेन हरतीति संबध्यते । विवधेन वीवधेन वा **स्कन्धवोढ्याकाष्ठदण्डेन** हरति स्थानात् स्थानान्तरं भारं प्रापयति विवधिकः वीवधिकः टित्त्वात् स्त्रियां ङीः । **पक्षे इकण्** इति । यद्यपि हरत्यर्थे इकण् न सामान्यतः केनापि विहितः, "हरत्युत्सङ्गादेः" [६.४.२३.] इत्यत एव हरत्यर्थाधिकारः; तच्च सूत्रमुत्सङ्गादिसंबद्धमिति न सामान्यम्। तथापि विकल्पविधानसामर्थ्यात्, तत्रैव सूत्रे हरतीति योगं विभज्य इकण् साधनीय इति भावः। विवध-वीवधशब्दावप्रसिद्धार्थकाविति तदर्थं परिचाययति–**विवध–वीवधशब्दौ समानार्थाविति**त्यादिना। तत्र पथि तु प्रयोगो न दृश्यते पर्याहारे–स्कन्धार्थे उभयतो बद्धशिक्ये भारवहनकाष्ठे, प्रयोगस्तु माघकाव्ये दृश्यते–

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम् ।
उपरुध्नन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः ॥
(शि०व० सर्ग २) इति ॥६।४।२५॥

कुटिलिकाया अण् ॥६।४।२६॥

त० प्र०–कुटिलिकाशब्दात् तृतीयान्ताद्

"Aho Shrutgyanam"

धरत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । कुटिलिकाशब्देनाग्रेवक्रा लोहादिमयी अङ्गाराकर्षणी यष्टिर्वा कुटिला गतिर्वा पलालोत्क्षेपणोऽग्रेवको दण्डो वा परिव्राजकोपकरणविशेषो वा चौराणां गृहाधारोहणार्थं दामाग्रप्रतिबद्ध आयसोऽङ्कुशो वोच्यते । कुटिलिकया हरत्यङ्गारान् कौटिलिकः कर्मारः । कुटिलिकया हरति व्याधं कौटिलिको मृगः । कुटिलिकया हरति पलालं कौटिलिकः कर्षकः । कुटिलिकया हरति पुष्पाणि कौटिलिकः परिव्राजकः । कुटिलिकया हरति नावं कौटिलिकश्चौरः ॥२६॥

शु० म० न्यासानुसन्धानम्—कुटि० । तेन हरतीति संबद्धम् । कुटिलिकाशब्दोऽवक्रार्थकः, स चेह रुढ्यर्थको ग्राह्यः । रुढिश्च बहुधेति तां परिचाययति—कुटिलकाशब्देनाग्रेवक्रेत्यादिना । तथा च पञ्चार्थी कुटिलिका यथासम्भवमुक्ता । पाणिनीये वै सिद्धान्तकौमुद्यां तु शब्दकौस्तुभानुसारं "कुटिलिका व्याधानां गतिविशेषः, कर्मारोपकरणभूतं लोहं च" इति द्वावेवार्थौ लिखितौ । तथैव चोदाहृतम्, कुटिलिकया हरति मृगानङ्गारान् वा कौटिलिको व्याधः कर्मारश्चेति । स्वमते च मृगस्यैव गतिः कुटिलिकाशब्देनोक्ता । अन्ये च त्रयोऽर्था अधिका एवोक्ताः, तथैव च पञ्चोदाहरणानि प्रदत्तानि । स्पष्टं सर्वम् ॥६।४।२६॥

ओजःसहोम्भसो वर्तते ॥६।४।२७॥

ओजस् सहस् अम्भस् इत्येतेभ्यस्तृतीयास्तेभ्यो वर्तते इत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । वृत्तिरात्मयापना चेष्टा वा । ओजसा बलेन वर्तते औजसिकः । सहसा प्रसहनेन पराभिभवेन वा साहसिकः । अम्भसा जलेन आम्भसिकः ॥२७॥

शु० म० न्यासानुसन्धानम्—ओजः० । तेनेति संबध्यते । वर्तते इति प्रत्ययार्थः, तस्य च वर्तमानकालिका वृत्तिरर्थः । तत्र वृत्तिः कः पदार्थ इत्याकाङ्क्षायामाह—**वृत्तिरात्मयापना चेष्टा** वेति । आत्मनः—स्वस्य, यापना—निर्वहणं समवस्थापन-सत्तयाऽवधारणं वा, चेष्टा चैतन्याविष्करणमित्यर्थः । उदाहरति—**ओजसा—बलेन वर्तते औजसिक** इति । ओजः—करणकात्मनिर्वहणकर्त्री, तत्करणकचेष्टावानिति वा घोंघः । एवमन्यत्रापि बोध्यम् ॥६।४।२७॥

तं प्रत्यनोर्लोमेपकूलात् ॥६।४।२८॥

त० प्र०—तेनेति निर्वृत्तम् । **तमिति द्वितीयान्तात् प्रति अनु इत्येताभ्यां परो यो लोमशब्दः ईपशब्दः कूलशब्दश्च तदन्ताद् वर्तते इत्यर्थे इकण्प्रत्ययो भवति । प्रतिलोमं वर्तते प्रातिलोमिकः । आनुलोमिकः । प्रातीपिकः । आन्वीपिकः । प्रातिकूलिकः । आनुकूलिकः । अकर्मकस्यापि वृत्तेर्योगे प्रतिलोमादेः क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीया । तमिति पुंल्लिङ्गनिर्देशोऽसंदेहार्थः ॥२८॥**

शु० म० न्यासानुसन्धानम्—तं प्रत्य० । **तमिति** समर्थविभक्तिनिर्देशात् प्रकरणप्राप्ता तृतीयाविभक्तिरिह न संबद्धुमर्हतीत्यत आह—**तेनेति निर्वृत्तमिति** । तमिति द्वितीयान्तनामोपस्थापकम् ; नाम्नः साक्षात्कथने च सामान्यतो द्वितीयाविभक्तेरेवोपस्थापकम् । तस्याश्च प्रत्ययत्वेन तदन्तविधिना द्वितीयान्तादित्यर्थो भवति । प्रत्यनुभ्यां परा लोमोपकूलशब्दाः क्रमेण प्रतिकूलानुकूलार्थकाः इति सर्वेषां समानार्थत्वमेव । व्युत्पत्तिस्तु प्रतिगतं लोम यत्र, अनुगतं लोम यत्र, प्रतिगता आपो यत्र, अनुगता आपो यत्र, प्रतिगतं कूलं यत्र, अनुगतं कूलं यत्रेति । **एषु** विग्रहेषु प्रतिलोमानुलोमप्रतीपान्वीपप्रतिकूलानुकूलशब्दाः साधवः । प्रतिलोमानुलोमयोः 'प्रत्यन्ववात् साम-लोम्नः' [७.३.८२.] इति अः समासान्तः, प्रतीपान्वीपशब्दयोः "ऋक्पूः पथ्यपोऽत्" [७.३.७६.] इत्यत् समासान्तः, द्वयन्तरनवर्णोपसर्गादप ईप्" [३.२.१०९.] इतीपादेशश्च ।

ननु धृत्धातोरकर्मकत्वेन तद्योगे द्वितीयाऽसंभवात् प्रतिलोमं वर्तते इत्यादिर्विग्रहः कथमिति चेदत्राह—**अकर्मकस्यापि वृत्तेरि**त्यादि । तथा च "क्रियाविशेषणात्" [२.२.४१.] इति द्वितीया, न तु कर्मणि द्वितीयेत्यर्थः । ननु सर्वत्रेदशस्थले 'सामान्ये नपुंसकम्' इत्यनुशासनानुसारं नपुंसकेनैव निर्देशो ग्रन्थकृतां शैलीसिद्धः । तस्य लिङ्गसर्वनामत्वेन तथानिर्देशे सर्वेषां पुंल्लिङ्गादीनां ग्रहणे सौकर्यात् । पुंल्लिङ्गनिर्देशे तु पुंल्लिङ्गस्यैव ग्रहणं स्यादिति चेदत्राह—**तमिति पुंल्लिङ्गनिर्देशोऽसन्देहार्थ** इति । तदिति नपुंसकनिर्देशे प्रथमान्तमिदं द्वितीयान्तं वेति संदेहः स्यादिति तन्निवृत्तये पुंल्लिङ्गनिर्देशो न त्वत्र तस्य विव-

"Aho Shrutgyanam"

षेति सर्वलिङ्गप्रकृतिविशेषणत्वे बाधाभाव इति भावः॥ ६।४।२८॥

परेर्मुखपार्श्वात् ॥६।४।२९॥

त० प्र०—परिशब्दाद् यो मुखशब्दः पार्श्वशब्दश्च तदन्ताद् द्वितीयान्ताद् वर्तते इत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकः । परिपार्श्वं वर्तते पारिपार्श्विकः । परिर्वर्जने सर्वतोभावे वा । स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा वर्तमानोऽथवा यतोयतः स्वामिमुखं ततस्ततो वर्तमानः पारिमुखिकः सेवकः । एवं पारिपार्श्विकः ॥२९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—परेः । तमिति वर्तते इति च संबध्यते । परिशब्दस्य द्वयर्थकतया परिमुखशब्देन कोऽर्थो ग्राह्यः इति संशये आह—परिर्वर्जने सर्वतो भावे वेति । उभयोरप्यर्थयोर्यथोपयोगं ग्राह्यत्वमिति भावः । तथा च पारिमुखिकस्यार्थमाह—स्वामिनो मुखं वर्जयित्वेत्यादि । स्वामिनो मुखवर्जने कारणद्वयं संभवति भक्तिर्विरक्तिश्च । भक्तश्च न सदा मुखमेवावलोकतेऽपि तु कार्ये लग्नस्तिष्ठति, सम्मुखे तिष्ठन्नपि दृष्टिमधः पातयन्नाज्ञां प्रतीक्षते । विरक्तोऽपि यथाकथञ्चित् समयं यापयन् स्वामिमुखं वर्जयति, नासौ मामवलोकयेदिति । एवं स्वामिनो मुखानुसारमपि वृत्तिर्भक्तस्य विरक्तस्य च संभवति । भक्तः कर्म विनैवानुकूलाचरणाय सर्वदा मुखेङ्गितमवलोक्यस्तिष्ठति । एवं विरक्तोऽपि कदाऽस्य कीदृशी दृष्टिर्मोपरि स्यादिति परिचयाय मुखमवलोकयँस्तिष्ठति । पारिपार्श्विकेऽप्येवमेव योजनीयमित्यतिदिशति, एवं पारिपार्श्विक इति । विशेषश्चायं विरक्तस्य वर्जनपक्षोऽनुरक्तस्य सर्वतो भावपक्ष इति । विरक्तः कथमपि सामीप्यं त्यक्तुमिच्छति । अनुरक्तः सर्वदा सामीप्यमिच्छतीति ।

"प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च, यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति ।" इति नीतिमनुसृत्य पार्श्वभजनस्य राजानरागवर्धकत्वात् ॥६।४।२९॥

रक्षदुञ्छतोः ॥६।४।३०॥

त० प्र०—तमिति द्वितीयान्ताद् रक्षति उञ्छति चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । समाजं रक्षति सामाजिकः । सामवायिकः । नागरिकः । सांनिवेशिकः । बदराण्युञ्छति उच्चिनोति बादरिकः । श्यामाकिकः । नैवारिकः ॥३०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—रक्ष० । तमित्यनुवर्तते । शत्रन्तेन वर्तमाना क्रिया कथ्यते इति वृत्तौ रक्षति उञ्छतीत्यर्थवर्णनम् । समाजो मनुष्णां संघः, तं रक्षति सामाजिकः । समवायोऽपि संघसामान्यमेव । नगरं रक्षति, संनिवेशं (समीपस्थं) रक्षति इति विग्रहः । बदराणि प्रसिद्धफलानि । श्यामाकं धान्यविशेषः नीवारोऽपि स एव । उञ्छः उच्चयनं संग्रहः । 'उञ्छः कणश आदानम्' इति कोशात् प्रत्येकं चयनमुञ्छशब्देनोच्यते ॥६।४।३०॥

पक्षि-मत्स्य-मृगार्थाद् घ्नति ॥६।४।३१॥

त० प्र०—तमिति द्वितीयान्तेभ्यः पक्ष्यर्थेभ्यश्च मत्स्यार्थेभ्यो मृगार्थेभ्यश्च घ्नत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः । मात्स्किकः । मार्गिकः । अर्थग्रहणात् तत्पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यश्च भवति । शाकुनिकः । मायूरिकः । तैत्तिरिकः । मैनिकः । शाफरिकः । शाकुलिकः । हारिणिकः । सौकरिकः । नैयङ्कुकः । अथाजिह्मान् हन्ति अनिमिषान् हन्तीत्यत्र कस्मान्न भवति ? नैतन्मत्स्येत्यस्य स्वरूपं न विशेषो न पर्यायः अपि त्वसाधारणं विशेषणं यथा जिह्मगा भुजगाः अनिमिषा देवा इति ॥३१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पक्षि० । तमिति संबध्यते । 'घ्नति' इति शत्रन्तस्य हन्तेः सप्तम्यन्तम् । विग्रहश्च वर्तमानान्तक्रिययैव पूर्ववत्, कालस्य चाविवक्षाऽपि पूर्ववदेवेति कालत्रयेऽपि प्रत्ययः । अत्र स्वरूपात्, पर्यायाद्, विशेषाच्च विधिः । तत्र स्वरूपमुदाहरति—पक्षिणो हन्ति पाक्षिक इति । इकणि, अन्त्यस्वरादिलोपः, आदिस्वरवृद्धिश्च । मत्स्यान् हन्ति मात्स्यिकः अत्र मात्स्किक इति यकाररहितः पाठो बृहद्वृत्तिपुस्तके संप्रत्युपलभ्यते स नोचितः, यतो "मत्स्यस्य यः" [२.४.८७.] इति ङ्यामेव यलोपविधानं दृश्यतेऽतो यलोपाप्राप्तेः । मृगान् हन्ति मार्गिकः । *स्वरूपाद् विधिस्तु स्वभावादेव स्वं रूपं शब्दस्य* इति न्यायाच्च । पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यश्च विधानं साधयति—अर्थग्रहणात् तत्पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यश्चेति । पक्षि-मत्स्य-मृगादित्युक्त एवोदाहृतप्रयोगेषु सिद्धेषु अर्थग्रहणेन तदर्थवाचकास्तत्पर्यायशब्दाः, तदर्थभूता विशे-

"Aho Shrutgyanam"

षाश्च ग्रहीतुं शक्यन्ते इति तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि भवति प्रत्ययः इत्यर्थः। तत्र पक्षिशब्दस्य शकुनिः पर्यायः, मयूर-तित्तिरौ विशेषौ। मत्स्यस्य मीनः पर्यायः शफर-शकुली विशेषौ, मृगस्य हरिणः पर्यायः सूकर-न्यङ्कू-विशेषौ। आरण्यकचतुष्पात्सु हरिणे च वृत्तेर्द्वयर्थो मृगशब्दः, तत्रारण्यकचतुष्पाज्जातेर्हरिणोऽपि विशेष एव, द्वितीयस्यैव पर्यायः। तथैव चोदाहरणानि-**शाकुनिक** इत्यादीनि। **अजिह्मगानिमिषशब्दयोरपि** मत्स्यार्थे प्रयोगदर्शनात् ताभ्यामपि प्रत्ययः स्यादिति शङ्कते-**अथाजिह्मगान् हन्ति, अनिमिषान् हन्ति इत्यत्र कस्मान्न भवतीति**। उत्तरयति-**नैतन्मत्स्येत्यस्य स्वरूपमित्यादि**। स्वरूपात्-पर्यायाद् विशेषाच्च विधिरिति प्रतिपादितं प्राक्। अजिह्मानिमिषशब्दयोः मत्स्यस्वरूपत्वाभावः स्पष्ट एव, पर्यायत्वमपि कोशेषु न दृश्यते। मत्स्यविशेषोऽपि नैतन्नाम्ना कश्चिदिति नास्ति प्रत्ययप्राप्तिरित्यर्थः।

ननु तदा कथमनयोः शब्दयोर्मत्स्यार्थे प्रयोगः? इति चेदत्राह-अपि त्वसाधारणं विशेषणमिति। असाधारणं तन्मात्रवृत्तिविशेषणं व्यावर्तकशब्द इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तेन प्रकृतमर्थं द्रढयति-यथा **जिह्मगा भुजगा अनिमिषा देवा** इति। कुटिलगामित्वस्य सर्पमात्रवृत्तित्वादसाधारण्यम्। एवमनिमेषनेत्रत्वस्य देवमात्रवृत्तित्वादसाधारणत्वम्। अत्रायमभिसन्धिः त्रिधा चतुर्धा वा शब्दानां प्रवृत्तिर्दृश्यते, जातिनिमित्ता गुणनिमित्ता, क्रियानिमित्ता, मतान्तरे यदृच्छानिमित्ता चेति। यथा गौरिति जाति-प्रवृत्तिनिमित्तकः शब्दो गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्। शुक्ल इत्यादिर्गुणप्रवृत्तिनिमित्तकः। पाचक इत्यादिः क्रियाप्रवृत्ति-निमित्तकः। यदृच्छाप्रवृत्तिनिमित्तश्च डित्थ-डवित्थादि-र्निरर्थकः। तत्र पर्यायग्रहणे यत्प्रवृत्तिनिमित्तकः शब्दः तत्प्रवृत्तिनिमित्तक एव तत्पर्यायोऽपि ग्रहीतुं शक्यते। मत्स्यशब्दश्च जातिप्रवृत्तिनिमित्तक इति तादृश एव तत्पर्यायः स्यात्। अजिह्मानिमिषशब्दौ च गुणक्रियाप्रवृत्त्या मत्स्यार्थमाहतुर्न तु जातिप्रवृत्त्येति न पर्यायौ, विशेषत्वं त्वप्रसिद्धमेवेति ताभ्यां न प्रत्यय इति ॥६।४।३१॥

परिपन्थात् तिष्ठति च ॥६।४।३२॥

त० प्र०-परिपन्थशब्दाद् द्वितीयान्तात् तिष्ठति घ्नति चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति। परिपन्थं तिष्ठति हन्ति वा पारिपन्थिकश्चौरः। अत एव निर्देशात् परिपथशब्दस्येकणोऽन्यत्रापि वा परिपन्थादेशः। तेन परिपन्थं गच्छति परिपन्थं पश्यति इत्याद्यपि भवति ॥३२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—परि०। अत्र चकारः प्रत्ययार्थान्वयीति, तेनार्थान्तरस्य पूर्वसूत्रोक्तस्यापि समुच्चयादाह-**घ्नति चार्थे** इति। अत्रापि परिवर्जनार्थः सर्वतो भावार्थश्च गृह्यते। तत्र वर्जनार्थे पथः परीत्यर्थेऽव्ययीभावः, पन्थानं परि (परितः) इत्यर्थेऽत्र निर्देशसामर्थ्यादेव समासः। आद्यपक्षे क्रियाविशेषणत्वात् कर्मत्वेन द्वितीया, द्वितीयपक्षे च गन्तव्याध्ववाचकत्वेन कर्मत्वमिति विवेकः। तथा च पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा स्थितः पारिपन्थिकश्चौरः। एवं हन्तीत्यर्थेऽपि योजनीयम्। नेदं प्रत्ययसन्नियोगेन पथः, पन्थेति निपातनमपि तु (एतस्मान्निपातनात्) प्रत्ययं विनाऽपि परिपन्थशब्दप्रयोगः सिद्ध्यतीत्याह-**अत एव निर्देशात् परिपन्थशब्दस्येकणोऽन्यत्रापि वा परिपन्थादेश** इति। तत्फलमाह-**तेन परिपन्थं गच्छतीत्यादि**। वृत्तेरन्यत्रापि वैकल्पिकः प्रयोग इति भावः। अन्यैश्चायमर्थोऽन्यथैव साधितः स च प्रक्रियाभेदनिबन्धन इति नेहोच्यते ॥६।४।३२॥

परिपथात् ॥६।४।३३॥

त० प्र०-तिष्ठतीति वर्तते। परिपथशब्दाद् द्वितीयान्तात् तिष्ठत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। परिर्वर्जने सर्वतोभावे वा। पथः परि सर्वतः पन्थानं वा परिपथम्। परिपथं तिष्ठति पारिपथिकः। पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः ॥३३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—परि०। तिष्ठतीति **वर्तते** इति। पूर्वसूत्रे चकारेणाकृष्ट घ्नतीतीह नानुवर्तते *चानुकृष्टं नोत्तरत्र* इति न्यायादितिभावः। पन्थादेशनिपातनवर्जं सर्वं यद्यपि पूर्ववदेव, तथापि घ्नतीत्यस्यासम्बन्धोऽपि योगविभागप्रयोजनम्। परिरिहापि पूर्ववदेवोभयार्थ इत्याह-**परिर्वर्जने सर्वतोभावे** वेति। तदनुसारं परिपथशब्दं व्युत्पादयति-**पथः परि सर्वतः पन्थानं** वेति। पूर्वत्र "पर्यपाङ्वहि०" [३.१.३२.] इति, "पर्यपाभ्यां वर्ज्ये" [२.२.७१.] इति विहितपञ्चम्यन्तेनाव्ययीभावसमासः, द्वितीयेऽर्थे च अत एव निपातनात् समासः। "ऋक्पूः पथ्यपोऽत्" [७.३.७६.] इति समासान्तोऽत्। तस्माद् इकणि पारिपथिक इति। तदर्थमाह-**पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठ-**

"Aho Shrutgyanam"

तीति। चौराणामरीणां वा तथास्थितेः प्रसिद्धत्वादु-भयत्रायं प्रयोगो विशेषणत्वेनेष्टः ॥६।४।३३॥

अवृद्धेर्गृह्णति गर्ह्ये ॥६।४।३४॥

त०प्र०–तमिति द्वितीयान्ताद् वृद्धिशब्द-वर्जिताद् गृह्णत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। योऽसौ गृह्णाति स चेदन्यायेन ग्रहणाद् गर्ह्यो निन्द्यो भवति। द्विगुणं गृह्णाति द्वैगुणिकः। त्रैगुणिकः। वृधुषीं वृद्धिं गृह्णाति वार्धुषिकः। अल्पं दत्त्वा प्रभूतं गृह्णन्नपन्यायकारी निन्द्यते। अवृद्धेरिति किम्? वृद्धिं गृह्णातीति वाक्य-मेव। गर्ह्ये इति किम्? दत्तं गृह्णाति ॥३४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–अवृद्धेः। तिमिति संबध्यते, गृह्णतीति शत्रन्तस्य सप्तम्यन्तम्, तच्च पूर्ववत्-क्रियैव (आख्यातेनैव) निर्दिश्यते वृत्तौ विग्रहवाक्ये च। गर्ह्ये इति प्रत्ययान्तस्य, प्रत्ययार्थभूतस्य कर्तुर्वा विशेषणं तदाह–**योऽसौ गृह्णाति स चेदन्यायेन ग्रहणाद् गर्ह्यो भवति** इति। पाणिनीये च द्विगुणार्थे दातुरेव गर्ह्यत्वम्, इह च द्विगुणं गृह्णतः तन्मते तादृशबुद्ध्या दानात् प्रभृत्येव गर्ह्यताप्रतीतिरिह च ग्रहणानन्तरमित्येता-वानेव विशेषः। तन्मते च द्विगुणार्थे द्विगुणपदस्य लक्ष-णाऽपि समाश्रयणीया भवति, तेन च ते निन्दातिशय-प्रतीतिरूपं प्रयोजनमाहुः, स्वमते च–अतिगर्ह्यस्यापि गर्ह्यत्वव्याप्यत्वादेव लाभ इति जघन्यवृत्तिसमाश्रयणं परि-त्यज्यते। द्विगुणं दत्तापेक्षया द्विरावृत्तं गृह्णाति **द्वैगुणिकः**, एवं त्रिगुणं गृह्णाति **त्रैगुणिक** इति। वृधुषीशब्दस्या-परिचितत्वात् तदर्थबोधनाय वृद्धिमित्युक्तम्, न ततः प्रत्ययः। वृधुषीशब्दश्च प्रयुक्तधनपोषी शब्दस्थाने पृषो-दरादित्वात् साधुरिति केचित्। पाणिनीयाश्च वृद्धिशब्दस्यैव वृधुषीशब्दमादेशं विदधति, न त्ववृद्धेरिति सूत्रे पठन्ति। तथा च वृद्धिशब्दस्य न प्रत्ययान्तं रूपमिति समानमेव। वार्धुषिकशब्दविषये नागेशेन विवरणे "योऽल्पवृद्धिदानम-ङ्गीकृत्य परकीयं धनं गृहीत्वा बहुवृद्धयेऽन्यस्मै प्रयच्छति तत्रायं प्रयोग इति केचिदित्युक्तम्। अत्र निन्दायाः कारणं विवृणोति–**अल्पं दत्त्वा प्रभूतं गृह्णन्नपन्यायकारी निन्द्यत** इति। यः किलाधमर्णः ऋणं गृहीत्वा बहोः कालादनन्तरं प्रत्यर्पयति, ततो द्विगुणग्रहणस्य क्वचित् त्रिगुणग्रहणस्य च स्मृत्यादावनुमतत्वेन तादृशस्थले द्विगुणादिगृहीता नान्यायकारी भवति, शास्त्रानुमतत्वेन तस्य न्यायविरुद्धत्वाभावात्। अत उक्तमपन्यायकारीति। तादृशस्थले द्विगुणादिग्रहणं न्यायविरुद्धमन्यायो मा स्तु, अपकृष्टो न्यायस्त्वस्त्येव दत्तादधिकग्रहणस्य प्रशस्तत्वाभावात्। अत एव चान्यैः पाणिनीयादिभिः "प्रयच्छति गर्ह्यम्" [४.४.३०.] इति सूत्रयद्भिर्द्विगुणार्थं प्रयच्छत एव गर्ह्यत्वमुक्तम्। तस्यायमाशयः य आदावेव द्विगुणप्रत्यर्पणं स्वीकारयित्वैव प्रयच्छति स एव गर्ह्य इति। स्वमते च द्विगुणाद्यर्थं दातुर्द्विगुणादिगृहीतुश्च गर्ह्यत्वमित्यु-भयमर्थादेव लभ्यते इत्यपरमनुकूलमित्यलं प्रसङ्गागत-प्रपञ्चेनेति ॥६।४।३४॥

कुसीदादिकट्ट ॥६।४।३५॥

त०प्र०–तमिति द्वितीयान्तात् कुसीदशब्दाद् गर्ह्ये गृह्णत्यर्थे इकट्प्रत्ययो भवति। कुसीदं वृद्धिस्तदर्थं द्रव्यमपि कुसीदम्। तद्गृह्णाति कुसीदिकः। कुसीदिकी। टकारो ङ्यर्थः ॥३५॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–कुसी०। कुसीद-शब्दस्यार्थमिह ग्राह्यं सूचयति–**कुसीदं वृद्धिरिति**। दत्तस्य द्रव्यस्य कलान्तरं वृद्धिरित्युच्यते तदेव च कुसीद-शब्दवाच्यम्। यद्यपि "कुसीदार्थप्रयोगौ वृद्धिजीवने" [अभि० चि० कां० ३, श्लो० ५४४] इत्यभिधान-चिन्तामण्यनुसारं वृद्ध्या जीवने उत्तमर्णव्यवहार एव कुसीद-शब्द इति लभ्यते, परन्तु वृद्धावपि तत्प्रयोगः प्रामाणिकै-र्विधीयते तादर्थ्यात् तत्र कुसीदशब्दस्य निरूढा लक्षणा वा। तत्र पुनर्लक्षणमाह–**तदर्थं द्रव्यमपि कुसीदमिति**। वृद्ध्यर्थं दीयमानं द्रव्यमपि कुसीदशब्देनोपचारात् कथ्यते इत्यर्थः। तद् गृह्णातीति। एवं च ऋणग्रहीताऽधमर्ण एवात्र कुसीदिक उच्यते, तस्यापि निन्द्यत्वमेव। यो ह्यन्यायं करोति स इव योऽन्यायं सहते तस्यापि निन्द्य-त्वस्यौचित्यात्। पाणिनीयमतेऽपि कुसीदशब्दे एवमेव लक्षणा क्रियते, किन्तु तत्र दातुरेव प्रत्ययार्थतेति **कुसी-दिक**शब्देनोत्तमर्ण एव निन्द्यत्वेनोच्यते इति भेदः। टकारस्याप्रयोगादाह–**टकारो ङ्यर्थ** इति। तेन स्त्रियां टित्वान्ङीः **कुसीदिकी**त्युक्तम् ॥६।४।३५॥

दशैकादशादिकश्च ॥६।४।३६॥

त०प्र०–तमिति द्वितीयान्ताद् दशैकादश-

"Aho Shrutgyanam"

शब्दाद् गर्ह्ये गृह्णत्यर्थे इकञ्चकारादिकद् च प्रत्ययो भवति। दशभिरेकादश दशैकादशाः, तान् गृह्णाति दशैकादशिकः। दशैकादशिका दशैकादशिकी। दशैकादशादित्यत एव निपातनादकारान्तत्वम्। तच्च वाक्ये प्रयोगार्थम्। दशैकादशान् गृह्णाति। अन्ये दशैकादश गृह्णातीति विगृह्णन्ति। तदपि अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्तीति न्यायादुपपद्यते ॥३६॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्–दशै०। तिमिति संबध्यते। दशैकादशशब्दं व्युत्पादयति–दशभिरेकादशेति। दशभिर्दत्तैरेकादश ग्राह्या इति तदर्थः। एतच्च वृत्त्यर्थप्रदर्शनमात्रम्। विग्रहस्तु दश च एकादशेति, दशैवैकादशार्थत्वादेकादशत्वेनोपचर्यन्ते, वस्तुतो दशानामेव ग्रहणकाले एकादशत्वेन परिणतिरिति तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्। ननु 'दशैकादशन्' इति नान्तस्य पञ्चम्यां कथं दशैकादशादिति निर्देश इति चेदत्राह–**दशैकादशादित्यत एव निपातनादकारान्तत्वमिति**। तथा च समासान्तोऽकारप्रत्ययो निपात्यत इति भावः।

ननु विनापि निपातनं दशैकादशिक इति प्रयोगः स्यादेवेके सति "नोऽपदस्य तद्धिते" [७.४.६१.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपादिति निपातनं व्यर्थमेव, सूत्रे च दशैकादशाभ्य इत्येव निर्दिश्यतामिति चेत्, अत्राह–**तच्च वाक्ये प्रयोगार्थमिति**। निपातनं च वाक्येऽपि दशैकादशेत्यकारान्तस्य प्रयोगो यथा स्यादित्येवमर्थमित्यर्थः। वाक्यमेव प्रयुज्य दर्शयति–**दशैकादशान् गृह्णातीति**। मतान्तरमाह–**अन्ये दशैकादश गृह्णातीति** विगृह्णन्ति। निपतितरूपस्य प्रयोगमकृत्वा यथाप्राप्तस्यैव प्रयोगं कुर्वन्तीत्यर्थः। ननु सूत्रनिर्देशोपपत्तये निपातनाङ्गीकरणमावश्यकम्। निपातनं चान्यादृशे प्रयोगे प्राप्तेऽन्यादृशप्रयोगनियमनमेव। ततश्च तद्विरुद्धः प्रयोगो बाध्येतेवेति कथं दशैकादश गृह्णातीति विग्रह इति चेदत्राह–**तदपि *अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति* इति न्यायादुपपद्यते** इति। न्यायश्चायं भाष्यादावनुक्तोऽपि नवीनैरङ्गीकृत एवेति सिद्धवदुल्लिखितः ॥६।४।३६॥

अर्थ-पद-पदोत्तरपद-ललाम-प्रतिकण्ठात् ॥६।४।३७॥

त०प्र०–**गर्ह्ये इति निवृत्तम्। अर्थात् पदात् पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्माद् ललामात् प्रतिकण्ठाच्च द्वितीयान्ताद् गृह्णत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। अर्थं गृह्णाति आर्थिकः। पदं पादिकः। पदोत्तरपद, पूर्वपदं पौर्वपदिकः। औत्तरपदिकः। आदिपदिकः। आन्तपदिकः। ललाम, लालामिकः। प्रतिकण्ठं प्रातिकण्ठिकः। अव्ययीभावसमासाश्रयणादिह न भवति। प्रतिगतः कण्ठं प्रतिकण्ठः तं गृह्णाति। उत्तरपदग्रहणाद् बहुप्रत्ययपूर्वान्न भवति। बहुपदं गृह्णाति ॥३७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–अर्थ०। **गर्ह्य इति निवृत्तमिति**। अत आरभ्य गृह्यार्थस्यासम्बन्धः, अयोग्यत्वाद् व्याख्यानाद् वेत्यर्थः। अर्थश्च पदश्च पदोत्तरपदश्च ललामश्च प्रति कण्ठं चेति विग्रहे समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी। तदनुसारमेव सूत्रार्थमाह–**अर्थात् पदादित्यादिना**। पदोत्तरप्रसिद्धान् चतुरः शब्दानुदाहरति–**पौर्वपदिक इत्यादिना**। पूर्वपदम्, उत्तरपदम्, आदिपदम् अन्तपदं च गृह्णातीति विग्रहः। प्रतिकण्ठशब्दो द्विधा व्युत्पन्नः कण्ठं कण्ठं प्रतीति वीप्सायां यथार्थत्वेनाव्ययीभावः प्रतिकण्ठमिति, प्रतिगतः कण्ठमिति विग्रहे प्रादितत्पुरुषः। तत्र लक्ष्यानुसारिव्याख्यानादिहाव्ययीभावस्यैव ग्रहणं, न तु तत्पुरुषस्येत्याह–**अव्ययीभावसमासाश्रयणादिह न भवति–प्रतिगतः कण्ठमित्यादि**। ननु पदोत्तरपदस्य स्थाने पदान्तग्रहणमेव क्रियतां किमुत्तरपदग्रहणगौरवेणेति चेदत्राह–**उत्तरपदग्रहणाद् बहुपूर्वान्न भवतीति**। अयमाशयः– उत्तरपदशब्दस्य समासचरमावयवे रूढत्वात्–पदोत्तरपदशब्देन पदशब्दान्तसमासस्यैव ग्रहणं भवति, पदान्तादित्युक्ते तु यत्र पदशब्दादीषदूनेऽर्थे "नाम्नः प्रागूबहुर्वा" [७.३.१२.] इति बहुः प्रत्ययो नाम्नः प्राग् भवति, स तद्धितः पदशब्दान्तः इति **बहुपदं गृह्णातीत्यर्थे** प्रत्ययो मा भूदित्येतदर्थमुत्तरपदग्रहणमावश्यकमिति ॥६।४।३७॥

परदारादिभ्यो गच्छति ॥६।४।३८॥

त०प्र०–**परदारादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो गच्छत्यर्थे इकणप्रत्ययो भवति। परदारान् गच्छति पारदारिकः। गौरुदारिकः। गौरुतल्पिकः। सभर्तृकां गच्छति साभर्तृकिकः। भ्रातृजायिकः। परदारादयः प्रयोगगम्याः ॥३८॥**

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पर० । **तमिति** संबध्यते । गच्छतीति शत्रन्तस्य सप्तम्याम् । दारशब्दो नित्यबहुवचनान्तः पुंलिङ्ग इति तथैव विग्रहमाह—**परदारान् गच्छतीति** । तेन बहुत्वविवक्षायामेव प्रत्यय इति न भ्रमितव्यम् । एवं गुरुदारान् गच्छतीत्यादिर्विग्रहः सभर्तृका विद्यमानभर्तृका । भ्रातुर्जाया भ्रातृजाया तां गच्छति । अत्र षष्ठीसमासे सति "ऋतां विद्यायोनिसंबन्धे" [३.२.३७.] इति षष्ठ्या अलुप् स्यात् इत्याहुः तन्न चारु, तस्य सूत्रस्य पूर्वोत्तरपदार्थयोर्विद्याकृते योनिकृते च परस्परसम्बन्ध एव प्रवृत्तेः । अत्र च भ्रातुर्जायया संबन्धो न विद्याकृतो न वा योनिकृतः । योनिर्हि उत्पत्तिः सा च जन्मार्थिका । न चैतयोरुत्पत्त्यैष सम्बन्धोऽपि तु पश्चान्मन्त्रादिना संपादितः—आरोपितः संबन्ध इति तत्सूत्राप्राप्तेः । अतः भ्रातरि जायेति सप्तमी समासस्य भ्रातुः सकाशाद् वा जायेतिक्लिष्टकल्पनया पञ्चमीसमासादेश्च कल्पनमनावश्यकमिति प्रतिभाति । योनिसम्बन्धाभावे सत्येव तस्या जायात्वं भवति, अन्यथा तया सह विवाहस्यैवानौचित्यादित्यादि विभावनीयं सूरिभिः । परदारादिगणस्यापठितत्वेन कथं तद्गम इत्याशङ्कायामाह—**परदारादयः प्रयोगगम्याः** इति । प्रयोगदर्शनेनैव शब्दस्य तद्गणान्तर्गतत्वं कल्पनीयमिति भावः । अत एव परदारादेरित्यनुक्त्वा परदारादिभ्य इति बहुवचनेन निर्देश इति हृदयम् ॥ ६।४।३८॥

प्रतिपथादिकश्च ॥६।४।३९॥

त०प्र०—प्रतिपथशब्दाद् द्वितीयान्ताद् गच्छत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति । चकाराद् यथाप्राप्त इकण् । पन्थानं पन्थानं प्रति पथोऽभिमुखमिति वा प्रतिपथम् । तद् गच्छति प्रतिपथिकः प्रातिपथिको वा ॥३९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—प्रति० । **तमिति** गच्छतीति च संबध्यते । सूत्रे चकारः प्रकरणप्राप्तस्येकणोऽपि संग्रहार्थ इत्याह—**चकाराद् यथाप्राप्त इकण्** इति । **प्रतिपथमित्यव्ययीभाव** एवेहापि तथा च तद्विग्रहमाह—**पन्थानं पन्थानं प्रतीति पथोऽभिमुखमिति** वेति । पूर्वत्र प्रतेर्वीप्साद्योतकत्वमुत्तरत्राभिमुख्यद्योतकत्वम् । **तद्गच्छतीत्यर्थे इके प्रतिपथिकः** इकणि च आदिस्वरवृद्धिः **प्रातिपथिक** इति । स्त्रियां तु प्रतिपथिका, प्रातिपथिकीति ॥६।४।३९॥

माथोत्तरपद-पदव्याक्रन्दाद् धावति ॥६।४।४०॥

त०प्र०—तमिति वर्तते । **माथ उत्तरपदं यस्य तस्मान्नाम्नः पदवीशब्दादाक्रन्दशब्दाच्च द्वितीयान्ताद् धावत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । दण्डमाथं धावति दाण्डमाथिकः । माथशब्दः पथिपर्यायः । दण्ड इव माथो दण्डमाथः ऋजुमार्ग उच्यते । पदवीं धावति पादविकः । आक्रन्दति यत्र स देश आक्रन्दः आक्रन्द्यते इति वा आक्रन्दः आर्तायनं शरणमुच्यते । आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः । उत्तरपदग्रहणाद् बहुप्रत्ययपूर्वान्न भवति । बहुमाथं धावति** ॥४०॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—माथो० । **तमिति वर्तते** इति । द्वितीयैव समर्थविभक्तिः । धावतीति शत्रन्तात् सप्तमी । माथोत्तरपदं च पदवी च आक्रन्दश्चेति समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी । तथा चार्थमाह—**माथ उत्तरपदं यस्येति** । माथशब्दार्थमाह—**माथशब्दः पथिपर्यायः** इति । मथ्यते गन्तृभिरिति कर्मणि घञ् । दण्ड इव माथ इति वृत्त्यर्थवर्णनम् । विग्रहवाक्यं तु दण्डाकारो माथः इति मध्यमपदलोपी समासः । दण्ड इव माथ इति विग्रहे तु उपमेयस्य माथस्यैव पूर्वप्रयोगः स्यादिति माथदण्ड इति रूपं स्यात् । भावार्थमाह—**ऋजुमार्ग** उच्यते इति । सरलो मार्गो दण्डमाथपदेनोच्यत इत्यर्थः । आक्रन्दशब्दार्थं ग्राहयति—**आक्रन्दन्ति यत्रेति** । यत्र गत्वा स्वदुःखनिवेदनाय जना रुदन्ति तत्स्थानमाक्रन्द इत्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—**आर्तायनं शरणमुच्यते** । आर्तैः परित्राणार्थमीयते—प्राप्यते इति आर्तायनं, शरणं रक्षणस्थानमाक्रन्द उच्यते इत्यर्थः । माथान्त इत्यनुक्त्वा माथोत्तरपदेति गौरवाश्रयणस्य फलमाह—**उत्तरपदग्रहणाद् बहुप्रत्ययपूर्वान्नेति** । एतच्च "अर्थपदपदोत्तरपद०" [६.४.३७.] इति सूत्रेऽपि स्पष्टीकृतम्, तद्वदिहाप्यवगन्तव्यम् ॥६।४।४०॥

पश्चात्यनुपदात् ॥६।४।४१॥

त०प्र०—पश्चातीति प्रकृतिविशेषणम् । **पश्चादर्थः पश्चात् । पश्चादर्थे वर्तमानादनुपदशब्दाद् द्वितीयान्ताद् धावत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । पदस्य पश्चादनुपदम्, अनुपदं धावति आनुपदिकः । प्रत्यासत्त्या धावतीत्यर्थः । पश्चातीति किम् ? अनुपदं धावति । अत्र 'दैर्घ्येऽनुः**

"Aho Shrutgyanam"

[३.१.३४.], समीपे 'प्रात्यव' [३.४.४७.] इत्यादिना वा समासः ॥४१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पश्चा०। पश्चातीति प्रकृतिविशेषणमिति। अनुपदमिह प्रकृतिस्तदर्थनियमनाय पश्चातीति तद्विशेषणतयेहोपात्तमिति भावः। "ननु पश्चाच्छब्दोऽव्ययमिति ततः कथं सप्तमीविभक्तौ पश्चातीति रूपं निर्दिष्टमिति चेदत्राह-**पश्चादर्थः पश्चादिति।** पश्चादर्थवाचके लाक्षणिकोऽयं पश्चाच्छब्द इति पश्चादित्यव्ययानुकरणमिदं नान्ययमिति भावः। पश्चादर्थत्वमनुपदशब्दस्य संपादयितुं विग्रहं प्रदर्शयति-**पदस्य पश्चादिति।** "विभक्तिसमीप०" [३.१.१९.] इति पश्चादर्थेऽव्ययीभावसमासः। प्रयोगार्थमाह-**प्रत्यासत्त्या धावतीत्यर्थः।** प्रत्यासत्तिः सामीप्यम्। अव्यवहित एव पश्चाद्भूतो धावतीत्यर्थः। अनुपदशब्दस्य प्रायः पश्चादर्थ एव प्रयोगः अनोरव्ययस्य पश्चादर्थत्वादिति पश्चातीति तद्विशेषणं व्यर्थमिति शङ्कते-**पश्चातीति किमिति।** उत्तरयति-**अनुपदं धावतीति।** पदस्य समीपमित्यर्थे पदवद् दैर्घ्ययुक्तमित्यर्थे वाऽनुपदशब्दः। पूर्वत्र **अनुगतं पदस्य इत्यर्थे "प्रात्यव०"[३.१.४७.] इति,** परत्र **"दैर्घ्येऽनुः" [३.१.३४.] इति समासः,** तदाह-**अत्र दैर्घ्येऽनुरित्यादि।** तथा चानुपदशब्दस्यानेकार्थत्वेनेष्टार्थपरिच्छेदाय पश्चातीति विशेषणमावश्यकमिति दैर्घ्यार्थे वाक्यमेव तिष्ठतीति ॥६।४।४१॥

सुस्नातादिभ्यः पृच्छति ॥६।४।४२॥

त०प्र०—तमिति वर्तते। सुस्नातादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः पृच्छत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः। सौखरात्रिकः। सौखशायनिकः। सौखशय्यिकः। सुस्नातादयः प्रयोगगम्याः ॥४२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सुस्ना०। तमिति वर्तते इति। द्वितीया समर्थविभक्तिरिहापि संबध्यत इति भावः। सुस्नातमिति भावे क्लीबे क्तः। सुष्ठु स्नातं भवतेति यः पृच्छति स **सौस्नातिक** उच्यते। स्नाने काऽपि त्रुटिस्तु न जातेति पृच्छाया आशयः। एवं **सुखरात्रिं** पृच्छतीति विग्रहे **सौखरात्रिकः।** इयं रात्रिः सुखेनातिवाहिता न वेति पृच्छाया आशयः। एवं **सुखशयनं,** सुखशय्यां पृच्छतीति विग्रहः, उभयोरप्येकार्थत्वमेव, शय्याऽपि शयनपर्याय एव भावार्थ एवेहोभयोः प्रयोगः। सुस्नातादिगणस्यापठितत्वेन कथं तदवगम इत्याकाङ्क्षायामाह-**सुस्नातादयः प्रयोगगम्या** इति। प्रयोगानुसारमेवैषामवगतिरित्यर्थः। एतदर्थमेव सुस्नातादेरित्यनुक्त्वा सुस्नातादिभ्य इति बहुवचनप्रयोग इति भावः ॥६।४।४२॥

प्रभूतादिभ्यो ब्रुवति ॥६।४।४३॥

त० प्र०—प्रभूतादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो ब्रुवत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। प्रभूतं ब्रूते प्राभूतिकः। पर्याप्तं ब्रूते पार्याप्तिकः। वैपुलिकः। वैचित्रिकः। नैपुणिकः। क्रियाविशेषणादयमिष्यते। तेनेह न भवति। प्रभूतमर्थं ब्रूते इति। क्वचिदक्रियाविशेषणादपि। स्वर्गमनं ब्रूते सौवर्गमनिकः। स्वागतिकः। सौवस्तिकः। प्रभूतादयः प्रयोगगम्याः ॥४३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—प्रभू०। ब्रुवतीति शत्रन्तस्य सप्तम्याम्। तथा च ब्रुवत्यर्थे इति लभ्यते। प्रभूतं ब्रूते, पर्याप्तं ब्रूते, विचित्रं, निपुणं ब्रूते इति विग्रहे प्राभूतिकादयः प्रयोगाः कर्मत्वमूलका उत क्रियाविशेषणत्वमूलका इति संदेहे आह-**क्रियाविशेषणादयमिष्यते** इति। तथा चोक्तेषु प्रयोगेषु प्रभूतादीनि क्रियाविशेषणानि, क्रियाया वचनरूपायाः प्रभूतत्वादिकं कथयन्ति, न कर्मण इति भावः। फलमाह-**तेनेह न भवतीति।** क्रियाविशेषणादेव प्रत्ययस्येष्टत्वेन वक्ष्यमाणस्थले कर्मभूतात् प्रभूतादेर्न प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। केत्याह-**प्रभूतमर्थं ब्रूते पर्याप्तमर्थं ब्रूते** इति। अत्र प्रभूतादयोऽर्थविशेषणानि, न तु क्रियाविशेषणानीति वाक्यमेव तिष्ठतीति भावः। इदं च लक्ष्यानुरोधिव्याख्यानमूलकमिति क्वचित् कर्मभूतादपि प्रत्ययो भवतीति दर्शयति-**स्वर्गमनं ब्रूते** इत्यादिना। अत्र स्वर्गमनादीनां क्रियाविशेषणत्वासंभवात् कर्मण्येव द्वितीयेति तेभ्योऽपि लक्ष्यानुरोधात् प्रत्ययः। स्वागतं ब्रूते इति **स्वागतिकः** स्वस्तीति ब्रूते इति **सौवस्तिकः।** पूर्वत्र "न अ-स्वाङ्गादेः" [७.४.९.] इति निषेधात् वः प्रागौत्, परत्र च व्युत्पत्तिपक्षे "व्यः पदान्तात्" [७.४.५.] इत्यौत्। प्रभूतादीनामपठितत्वेन कथमवगम इत्याह-**प्रभूतादयः प्रयोगगम्या** इति। एतच्च बहुवचननिर्देशादवगम्यत इति भावः ॥६।४।४३॥

माशब्द इत्यादिभ्यः ॥६।४।४४॥

त० प्र०—माशब्द इत्यादिभ्यो ब्रुवत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। इतिशब्दो वाक्यपरामः

"Aho Shrutgyanam"

र्थः । माशब्द इति ब्रूते माशब्दिकः । मा शब्दः क्रियतामिति ब्रूत इत्यर्थः । कार्यः शब्द इति ब्रूते कार्यशब्दिकः । नित्यः शब्द इति ब्रूते नैत्यशब्दिकः । माशब्द इत्यादयः प्रयोगगम्याः। वाक्यात् प्रत्ययविधानार्थं वचनम्॥४४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-माशब्द० । माशब्दादिभ्यः इत्यनुक्त्वा माशब्द इत्यादिभ्य इति । यदिति शब्दसंकीर्तनं तस्य फलमाह-इति शब्दो वाक्यपरमार्थार्थ इति । माशब्द इति वाक्यस्वरूपावधारणार्थ इति भावः । माशब्द इति वाक्यमेवेति शब्देन परामृष्टं कर्मभावमुपगच्छतीति, इतिना कर्मत्वस्योक्तत्वान्न द्वितीयेति तत्त्वम् । माशब्द इति ब्रूते इत्यस्य विग्रहवाक्यस्यार्थं स्पष्टयति-माशब्दः क्रियतामिति ब्रूते इत्यर्थ इति । तथा च क्रियतामिति क्रियामध्याहृत्य वाक्यार्थबोधः संपादनीय इति भावः । कार्यः शब्द इति ब्रूत इत्यादि । शब्दानित्यतावादिनां नैयायिकादीनामिदं कथनम् । नित्यः शब्द इति ब्रूते इति, शब्दस्य नित्यतां वदतां वैयाकरणानां कथनमिदम् । वाक्यात् प्रत्ययविधानार्थं वचनमिति । अयमाशयः-नाम्न एव प्रत्ययविधानं दृश्यते 'मा शब्द' इति च पदद्वयमिति नास्य नामत्वमपि तु वाक्यत्वम्, कथमस्मात् प्रत्यय इति न शङ्कनीयम्, तदर्थमेव पृथग्वचनोपन्यासात्, अन्यथा माशब्दादयः प्रभूताद्यन्तर्गततयैव कल्पनीयाः स्युः किं पृथगनेन सूत्रेण प्रयोजनं स्यात् । क्रियते च सूत्रम्, तेन वाक्यादप्राप्तोऽपि प्रत्ययविधिर्भवतीति ॥६।४।४४॥

शाब्दिक-दार्दरिक-लालाटिक-कौक्कुटिकम् ॥६।४।४५॥

त० प्र०-शाब्दिकादयः शब्दा यथास्वं प्रसिद्धेऽर्थविशेषे इकण्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शब्दं करोति शाब्दिकः । यः कश्चिच्छब्दं करोति न स सर्वः शाब्दिकः किं तर्हि, यः शब्दं जानाति वैयाकरणः स एवाविनष्टं शब्दमुच्चारयन् शाब्दिक उच्यते । एवं दार्दरिकः । दर्दरो घटो वादित्रं च तत्र वादित्रं कुर्वन्नेवमुच्यते । ललाटं पश्यति लालाटिकः । ललाटदर्शनेन दूरावस्थानं लक्ष्यते तेन च कार्येष्वनपस्थानम् । यः सेवको दूरं स्वामिनो ललाटमिति दूरतो याति न स्वामिकार्येषूपतिष्ठते स एवमुच्यते । ललाटमेव वा कोपप्रसादलक्षणाय यः पश्यति स लालाटिकः । कुक्कुटीं पश्यति कौक्कुटिकः । कक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातो लक्ष्यते । तेन च देशस्याल्पता । यो हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपे देशे चक्षुः संयम्य पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षी गच्छति स एवमुच्यते । यो वा तथाविधमात्मानमतथाविधोऽपि संदर्शयति सोऽपि कौक्कुटिकः । दाम्भिकचेष्टा वा मिथ्याशौचादिः कुक्कुटी । तामाचरन् कौक्कुटिकः । हृदयावयवो वा कुक्कुटी तां पश्यति काक्कुटिको भिक्षुः, निभृत इत्यर्थः । तदेतत् सर्वं निपातनाल्लभ्यते ॥४५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शाब्दिक० । तत्तच्छब्देभ्यः प्रत्ययविधानेनैव रूपसिद्धेः रूपेषु कस्यचिदलाक्षणिकस्य कार्यस्यानुपलम्भान्निपातनानर्थक्यशङ्कां वारयति-यथास्वं प्रसिद्धेऽर्थविशेषे इति । तथा चार्थविशेषविषयकत्वव्यवस्थार्थमेव निपातनारम्भणमिति भावः । प्रयोगेषु प्रसिद्धमर्थविशेषमेव क्रमेण ग्राहयति-यः कश्चिच्छब्दं करोति न स सर्व इत्यादिना । यः शब्दं जानाति इति । शब्दज्ञानं च प्रकृति-प्रत्ययविभागज्ञानपूर्वकमेव, न केवलं तत्स्वरूपज्ञानम्, अत एव वैयाकरण इति कर्तुर्विशेषणम् । स एवाविनष्टमिति । वैयाकरण एव प्रकृति-प्रत्ययविवेकपूर्वकं यथोचितरूपेणाहीनं शब्दमुच्चारयति इति मुक्ता तस्य शाब्दिकसंज्ञा । अवैयाकरणो हि घुणाक्षरन्यायेन यथोचितं शब्दमुच्चारयन्नपि संशेत एवेति न स शाब्दिकाख्यायोग्यः । एवं दार्दरिक इति । दार्दरिकशब्दविषयेऽपि प्रसिद्धार्थ एव ग्राह्य इत्यर्थः ।

प्रसिद्धमर्थमेव दर्शयति-दर्दरो घटो वादित्रं चेति । तथा च वादित्र(वाद्यभाण्ड)निर्मातैव दार्दरिकशब्देनोच्यते । पाणीनीयतन्त्रग्रन्थेषु दर्दरशब्दस्थाने 'दर्दुर' इत्युकारमध्यः शब्द इह पठ्यते "श्वशुर-कुकुन्दुर-दर्दुर०" [उणा० ४२६.] इति सूत्रेण दर्दुरशब्द एव साध्यते । यद्यपि तत्र दर्दुरो मेको मेघश्चेत्येवोक्तम्, तथापि कोशेषु वाद्यविशेषभाण्डविशेषवाचकतयाऽपि दर्दुरशब्द एव कोशेषु समुपलभ्यते । तदुक्तममरकोशटीकायाम्-"दर्दुरस्तोयदे भेके वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः" [१.१०.२५.] इति । अकारमध्यः 'दर्दर'शब्दोऽपि पर्वतविशेषे किञ्चिद

"Aho Shrutgyanam"

भिन्नभाण्डे च प्रयुज्यते–"दर्दरः पर्वते पुंसि त्रिष्वीषद्भिन्नभाजने" इति। अत्र च क्वापि 'दुर्दर' इत्यपि पाठः समुपलभ्यते परं कोशान्तरसंवादेन 'दर्दर' इत्येव पाठो युक्त इति प्रतिभाति।

पूर्वत्रोदाहृतटीकास्थकोशे 'वाद्य-भाण्डाद्रिभेदयोः' इत्यस्य स्थाने 'वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः' इत्येव पाठः समीचीनः, अन्यथा वाद्ये भाण्डाद्रिभेदयोः' इत्येव पठनीयं स्यात्। पर्वतार्थे च 'दर्दर' इत्यकारमध्य एव हैम-मेदिनीकोशयोः पठ्यते इत्यमरकोशटिप्पण्यां म०म० शिवदत्तदाथिमथा आहुः। परं हैमकोशे (अभिधानचिन्तामणौ) दर्दरशब्दोऽकारमध्यो नोपलभ्यते। रघुवंशमहाकाव्येऽपि पर्वतविशेषे दर्दुरशब्दस्योकारमध्यस्यैव पाठः संप्रति समुपलभ्यते–

"स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलय-दर्दुरौ॥" इति रघुवंशे चतुर्थसर्गे।

पाणिनीये तु दार्दुरिक इति कुम्भकारस्य नाम इत्युक्तमिति घटनिर्मातर्यैव प्रसिद्धिस्तन्मते इति, शब्दकौस्तुभ काशिकादिरीत्या ज्ञायते। दर्दुरशब्दस्यानुकरणविशेषवाचकत्वमित्यपि शब्दकौस्तुभे उक्तम्। एवं चेह 'दर्दर' इत्यकारमध्यपाठो लेखकप्रमादप्राप्त इत्यनुमीयते। लालाटिकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह-**ललाटदर्शनेन दूरावस्थानं लक्ष्यते** इत्यादिना। सर्वावयवापेक्षया ललाटस्य दूरादेव दृश्यत्वेन ललाटदर्शनेन दूरत एव तस्य स्थितिरिति विज्ञायते इति भावः। दूरवस्थानलक्षणाप्रयोजनमाह–**तेन च कार्येष्वनुपस्थानमिति**। अस्य प्रतीयत प्रतीयत इति शेषः। एवं च पर्यवसितं प्रयोगार्थमाह–**यः सेवको दृष्टं स्वामिनो ललाटमित्यादिना**।

अर्थान्तरेणापि प्रयोगार्थं संगमयति–**ललाटमेव वा कोपप्रसादलक्षणायेत्यादि**। स्वामी कुपितः प्रसन्नो वेति परिचयाय सततं ललाटमेव पश्यति, तदाकारविशेषेण कोपस्य प्रसादस्य वा लक्षयितुं शक्यत्वात्। तथा च यः स्वामिनः कोपप्रसाददर्शनपर एव न कार्यपरः स सेवक एवमुच्यते इति। अमरकोशेऽप्युक्तम्–"लालाटिकः प्रभोर्भालदर्शी कार्याक्षमश्च यः" [३.३.१७.] इति। तट्टीकायां च कोशान्तरसंवादोऽपि दर्शितः–"लालाटिकः सदा-लक्ष्यप्रभुभावनिदर्शिनि" (अजयकोशः) इति। अनेनापि कोपप्रसादलक्षणमात्रपर इति स्वष्टमवगम्यते। "बहवोऽपि कथं दद्याल्लालाटिक्यै ललाटिकाम्" इति कविप्रयोगे ललाटिकीशब्दो ललाटमात्रावलोकनपरायां सेविकायां प्रयुक्तः। तथा च ललाटमात्रावलोकनपरायै सेविकायै दानशीलोऽपि प्रभुः ललाटिकां ललाटालङ्कारविशेषं कथं दद्यात्, तस्यां कार्याक्षमायां परितोषाभावादित्यर्थः। **कौक्कुटिक**शब्दस्य प्रसिद्धमर्थं दर्शयति–**कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपादो लक्ष्यत** इत्यादिना। कुक्कुटी यावद्दूरमुत्प्लुत्य गच्छति तावान् देशः कुक्कुटीशब्देन लक्ष्यत इत्यर्थः। तस्या अनतिदूरोत्पतिष्णुत्वस्वाभाव्यं प्रसिद्धम्। तदेवाह–**तेन च देशस्याल्पतेति**। देशस्य चक्षुर्विषयीभूतभूमेः प्रदेशस्य अल्पता अनत्यायतत्वं लक्ष्यते इति शेषः। अल्पत्वमेव दृष्टिविषयस्य स्पष्टयति–**यो हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिरित्यादि**। अविक्षिप्तदृष्टित्वस्य मार्गमात्रं पश्यन्नन्यत्र चक्षुरक्षिपन्नित्यर्थः। तदेवाधिकं विवृणोति–**पादविक्षेपे देशे चक्षुः संयम्य युगमात्रदेशप्रेक्षो गच्छति स एवमुच्यते** इति। भिक्षोः पादतले जीवघातं वारयतः पादप्रक्षेपप्रदेशमात्रं पश्यतो युगमात्रदेश एव चक्षुर्विषयो भवति। ततोऽधिकदूरं चक्षुःप्रेरणे स्वल्पजीवानां दर्शनं न स्यात् इति तथा पश्यन् कौक्कुटिकशब्देनोच्यते। युगो नाम हस्तचतुष्कम्।

"युगो हलरथाद्यङ्गे न द्वयोस्तु कृतादिषु।
युग्मे हस्तचतुष्केऽपि वृद्धिनामौषधेऽपि च॥" इति मेदिनीकोशात्।

तथा च योऽग्रे हस्तचतुष्टयमात्रं प्रदेशं पश्यन् गच्छति स भिक्षुः कौक्कुटिक इति। अर्थान्तरमाह–**यो वा तथाविधमात्मानमतथाविधोऽपि संदर्शयति सोऽपि कौक्कुटिक** इति। यो वस्तुतः संयतदृष्टिर्नास्ति किन्तु लोकप्रतारणायामात्मानं संयतदृष्टिं प्रकाशयति सोऽपि कौक्कुटिकशब्देनोच्यत इत्यर्थः। इममर्थमन्यथाऽप्युपपादयति **दाम्भिकचेष्टा वा मिथ्याशौचादिः कुक्कुटीति**।

"कुकुटथनृतचर्यायां पुंसि स्याच्चरणायुधे।
निषाद-शूद्रयोः पुत्रे तृणोल्कायां च कुक्कुभे॥"

इति विश्व-मेदिनीकोशाभ्यां कुक्कुटीशब्दस्य अनृतचर्यायां मिथ्याशौचादिदर्शनरूपायामभिहितत्वेन दाम्भिकचेष्टावाचकत्वं स्पष्टम्, तादृशचेष्टः दाम्भिकः कौक्कुटिक इति कथ्यते इत्यर्थः। पुनरन्यमर्थमाह–**हृदयावयवो वा कुक्कुटीति**। हृदयावयवे कुक्कुटीशब्दस्य वृत्तिरन्यत्र नोऽस्या आचार्यप्रमाणादेवाऽवगम्यते। अथवा कुक्कुटी-

"Aho Shrutgyanam"

शब्देन स्वल्पदेशो लक्ष्यते इत्युक्तमेव। हृदयावयवदेशस्यापि स्वल्पत्वेति तत्रापि तदुपचार इत्यवगम्यते। **तां पश्यति कौक्कुटिको भिक्षुरिति**। य आत्मदर्शनार्थं हृदयप्रदेशस्थं सूक्ष्मस्थानं दहराकाशशब्दवाच्यं पश्यति स निश्चलदर्शनः कौक्कुटिको भिक्षुरित्यर्थः। भिक्षुपदेनात्र यतिरुच्यते। हृदयावयवमात्रदर्शिनं शब्दान्तरेणाह–**निभृत इत्यर्थ** इति। चक्षुरादीन्द्रियदृशीकारादचञ्चल इति भावः। कथमेतावानर्थो लभ्यत इत्याह–**तदेतत् सर्वं निपातनाल्लभ्यत** इति। निपाताश्रयणसामर्थ्यादेवैतावति प्रसिद्धेऽर्थे एषां शब्दानां शक्तिर्लभ्यत इत्यर्थः ॥६।४।४५॥

समूहार्थात् समवेते ॥६।४।४६॥

त० प्र०–समूहवाचिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः समवेते तादात्म्यात् तदेकदेशीभूतेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। समूहं समवैति सामूहिकः। सामाजिकः। सांसदिकः। सामवायिकः। गौष्ठिकः। तदेकदेशीभावमनुभवन्नेवमुच्यते। समवेत्यापगते तु समवेतशब्दो न वर्तते यथा सुप्तोत्थिते सुप्तशब्द इति तत्र न भवति ॥४६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—समू०। तमिति द्वितीयासमर्थविभक्त्युपस्थापकं पदमनुवर्तत एव। समूहोऽर्थो येषां ते समूहवाचिनः शब्दाः। समाज–ससत्–समवाय–गोष्ठ्यादयः। तान् समवैति तादात्म्येन तदेकदेशतां गच्छति स सामाजिकः सामवायिक इत्यादिशब्दैरुच्यते। समूहादिषु कथञ्चिन्मिलित्वा पश्चादपक्रान्ते प्रत्ययस्यानिष्टत्वात् समवेतशब्दस्यार्थो वृत्तावेवोक्तः तादात्म्यात् तदेकदेशीभूतेऽर्थे इति। तमेव च प्रयोगार्थमाह–**तदेकदेशीभावमनुभवन्नेवमुच्यत** इति। अयमाशयः समवपूर्वकस्येण्धातोः प्रविश्यैकदेशीभवनमर्थः। समवेतत्वनाम समवायसंबन्धेन संबद्धत्वम्, तच्चावयवावयविनोः गुण-गुणिनोः क्रिया-क्रियावतोर्जाति-व्यक्तयोश्च भवति। अत्र चावयवावयवित्वमेवेष्टम्। तथा च यः समूहावयवतामापन्न एव तिष्ठति स एव सामूहिक इत्याख्यातुं शक्यते, अवयविपृथग्भूतस्यावयवस्यावयवत्वापायात्। किञ्चैकावयवरहितोऽवयव्यप्यन्य एव सम्पद्यते। एवं च यो यत्समूहावयवः स चेत् तस्मादपक्रामति तर्हि स समूहोऽपि नश्येतैवेति, तस्मादपगतस्य तस्य तदवयवत्वाशा दूरापेतैव। तदेव स्पष्टयति–**समवेत्यापगते तु समवेतशब्दो न वर्तते** इति। समवेतशब्दः समवेतार्थकः सामूहिक इत्यादिशब्दः तत्र न वर्तते न प्रयुज्यते। तमेवमर्थं दृष्टान्तेन द्रमयति–**यथा सुप्तोत्थिते सुप्तशब्द** इति। 'सुप्त'शब्दार्थो भूतकालिकस्वापकर्तापि स च शब्दः तस्य स्वापावस्थायां सत्यामेव प्रयुज्यते, न तु सुप्तोत्थिते। जाग्रदवस्थायां स्थिते तत्र पूर्वावस्थाव्यवहारस्यासंभवात्, यद्यपि तस्य स्वापो भूतः सम्प्रत्यपि कथयितुं शक्यते, तथापि स शब्दो न तत्र प्रयुज्यते। वर्तमानकालेऽपि भ्रीद्म्यः क्तप्रत्ययस्य विहितत्वेन स्वापस्यानुवृत्तावेव तथाव्यवहारः न तु निवृत्तौ। तथा समवेतशब्दोऽपि भूतकालार्थोऽपि सन् वर्तमानकालेऽपि समवेतावे सत्येव व्यवहर्तुं शक्यते, न ततोऽपगते इति भावः ॥६।४।४६॥

पर्षदो ण्यः ॥६।४।४७॥

त० प्र०–पर्षच्छब्दाद् द्वितीयान्तात् समवेतेऽर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति। पर्षदं समवैति पार्षद्यः। परिषच्छब्दादपीच्छन्त्यन्ये। पारिषद्यः ॥४७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पर्ष०। तमिति समर्थविभक्त्युपस्थापकं पदमनुवर्तते, तदाह–**पर्षच्छब्दाद् द्वितीयान्तादिति**। परितः सीदन्त्यस्यामित्यर्थे परिपूर्वात् सदेः क्विपि परिषदिति, पृणन्त्येनामित्यर्थे "प्रः सद्०" [उणा० ८९७.] इति पर्षदिति। तत्र पर्षद एव स्वमते प्रत्ययः इति **पर्षदं समवैतीत्यर्थे पार्षद्यः**, परिषदं समवैतीत्यर्थे तु समूहार्थेकणि पारिषदिक इत्येव। मतान्तरमाह–**परिषच्छब्दादपीच्छन्त्यन्ये** इति। पाणिनीये तु परिषद एव ण्यो विधीयते न पर्षदः इति भेदः। एवं चोभाभ्यामपि मतभेदेन प्रत्यय इष्ट एवेत्याशयेन वा 'अपि' शब्दः प्रयुक्तः ॥६।४।४७॥

सेनाया वा ॥६।४।४८॥

त० प्र०–सेनाशब्दाद् द्वितीयान्तात् समवेतेऽर्थे ण्यः प्रत्ययो वा भवति। सेनां समवैति सैन्यः। पक्षे समूहार्थात् समवेते इतीकण्। सैनिकः। सेनैव सैन्यमिति तु भेषजादित्वात् स्वार्थे टच्ण् ॥४८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सेना०। सेनाशब्दो भटसमूहवाचक इति तस्मादनेन ण्ये **सैन्य** इति। अस्य वैकल्पिकत्वपक्षे केन प्रत्यय इत्याकाङ्क्षायामाह–**समूहार्थात् समवेत इतीकणिति**। सेनार्थेऽपि सैन्य-

"Aho Shrutgyanam"

शब्दप्रयोगस्य बहुशः कविभिः कृतत्वात् तत्र समवेतार्थाभावात् कथं प्रत्यय इत्याकाङ्क्षायामाह-**सेनैव सैन्यमिति स्थिति**। "**भेजसादिभ्यष्टक्**"[७.२.१६४.] इति बहुवचननिर्देशस्याकृतिगणार्थत्वेन स्वार्थे ट्यणित्यर्थः ॥६।४।४८॥

धर्माधर्माच्चरति ॥६।४।४९॥

त० प्र०-**धर्म अधर्म इत्येताभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां चरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। चरतिस्तात्पर्येणानुष्ठाने। धर्मं चरति धार्मिकः। अधार्मिकः** ॥४९॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—धर्मा०। तमिति वर्तते। चरेः शत्रन्तस्य सप्तम्यां चरतीति। ततः चरत्यर्थे इत्यर्थो लभ्यते। चरतेर्गतौ भक्षणे च पठितत्वेन धर्माधर्मकर्मभ्यां तस्य कथमन्वय इत्याकाङ्क्षायामाह-**चरतिस्तात्पर्येणानुष्ठाने** इति। तत्परतया धर्माधर्मयोः सेवने एवेह प्रयुज्यते धातूनामनेकार्थत्वादिति भावः। एवं च यः कश्चिदधार्मिकोऽपि कदाचिदानुषङ्गिकतया लोकदर्शनाय वा किमपि धर्मं चरति तेन स न धार्मिक इति कथयितुं शक्यते। एवं धार्मिकोऽपि कदाचिदज्ञानादिना यद्यधर्मं करोति तेनासौ न धार्मिकः, यश्च धर्मविमुख एव भूत्वा तद्विरुद्धाचरणमेव तात्पर्येण करोति सोऽधार्मिक इति विवेकः ॥६।४।४९॥

षष्ठ्या धर्मे ॥६।४।५०॥

त० प्र०-**षष्ठ्यन्ताद् धर्म्येऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। धर्मो न्यायोऽनुवृत्त आचारस्तस्मादनपेतं धर्म्यम्। शुल्कशालाया धर्म्यम् शौल्कशालिकम्। आपणिकम्। गौल्मिकम्। आतरिकम्** ॥५०॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**-षष्ठ्या०। षष्ठीह समर्थविभक्तिरुपदिश्यते धर्म्ये इति चार्थनिर्देशः प्रकृतिश्च नामसामान्यम्। प्रत्ययश्चाधिकारलब्ध इकणेवेति सूत्रार्थमाह-**षष्ठ्यन्तादि**त्यादिना। धर्म्यशब्दार्थज्ञापनाय तद्व्युत्पत्तिमाह-**धर्मो न्याय** इत्यादि। नयति लोकव्यवहारमिति न्यायः, स क इत्याह-**अनुवृत्त आचार** इति। य आचारो यत्र परम्परया शिष्टैरनुष्ठितोऽनुवर्तते स एव तत्र धर्मो न्यायो वा तस्मादनपेतमच्युतं वृत्तं धर्म्यमिति कथ्यते इत्यर्थः। "**छन्द-पद्य०**" [७.१.११.] इतिनिपातनाद् धर्म्यमिति। शुल्कशाला नगराद् बहिर्यातायातकरग्रहणशाला तस्या धर्म्यं न्याय्यं करग्रहणादि **शौल्कशालिकम्**। आपणस्य धर्म्यमापणिकम्। गुल्मः नगरादिरक्षक पुरुषस्थानम् ('थाना' इत्यादिशब्दैर्व्यवहृतम्। तस्य धर्म्यं **गौल्मिकम्**। आतरो मार्गस्थितनदीतरणघट्टः, तस्य धर्म्यम् आतरिकमिति ॥६।४।५०॥

ऋन्नरादेरण् ॥६।४।५१॥

त० प्र०-**ऋकारान्तेभ्यो नरादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो धर्म्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। नुर्धर्म्यं नारम्। स्त्रियां नारी। मातुर्मात्रम्। पितुः पैत्रम्। शास्तुः शास्त्रम्। विकर्तुः वैकर्त्रम्। होतुर्हौत्रम्। पोतुः पौत्रम्। उद्गातुः औद्गात्रम्। नरादि, नरस्य धर्म्यं नारम्। स्त्रियां नारी। नृशब्देनैव रूपद्वये सिद्धे नरशब्दादिकण् मा भूदिति तद्ग्रहणम्। महिष्या माहिषम।**

नर महिषी प्रजावती प्रजापति विलेपिका प्रलेपिका अनुलेपिका वर्णक पेषिका वर्णकपेषिका मणिपाली पुरोहित अनुचारक अनुवाक यजमान होतृयजमान इति नरादिः ॥५१॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—ऋन्न०। षष्ठ्या इति संबध्यते। धर्म्ये इति चेति तथैव सूत्रार्थमाह-**ऋकारान्तेभ्य** इत्यादिना। नृशब्दोऽपि ऋकारान्त इति नुर्धर्म्यमिति सामान्येन विग्रहे **नारमिति**। नुः धर्म्या इति स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थेऽणन्तत्वाद्ङीः **नारी**ति। मात्रादयो ऋकारान्ताः सप्तोदाहृताः। नरादीनुदाहरति-**नरस्य धर्म्यमिति**। अत्रापि स्त्रीत्वविशिष्टेन विग्रहे नारीत्येवेति नृशब्दात् संपन्नेन रूपेण सर्वथा साम्यमिति नरशब्दस्य गणे पाठो व्यर्थ इत्याशङ्कां स्वीकृत्योत्तरयति-**नृशब्देनैव रूपद्वये सिद्धे** इत्यादि। तथा च नरस्य धर्म्यमित्यर्थे नारिकमिति रूपं मा भूदित्येतदर्थमेव नरग्रहणमिति ॥६।४।५१॥

विभाजयितुर्विशसितुर्णिङ्लुक् च ॥६।४।५२॥

त० प्र०-**आभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां धर्म्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे च विभाजयितुर्णिलुक् विशसितुश्चेट्लुक् भवति। विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्। विशसितुर्वैशस्त्रम्** ॥५२॥

श० म० **न्यासानुसन्धानम्**—विभा०। षष्ठ्या

"Aho Shrutgyanam"

रादिस्वरस्य वृद्धिसत्त्वेनेकणो रूपे विशेषाभाव इति इकणाधिकारपरिप्राप्तेनैव स्त्रिद्वे किमिति इको विकल्पेन विधानमित्याशङ्कायामाह–**इकेकणोः स्त्रियां विशेषः** इति। इके सति स्त्रियामाप् भवति, इकणि च ङीरिति विशेष इति भावः। मतान्तरमाह–**अन्ये त्विकं नेच्छन्ति** इति। तथा च तेषां स्त्रियां ङीरेवेति श्राणिका मांसौदनिकेति रूपं तेषामनिष्टमिति सिद्धयति ॥६।४।७१॥

भक्तौदनाद् वाऽणिकट् ॥६।४।७२॥

त० प्र०–'भक्त' 'ओदन' इत्येताभ्यां यथासंख्यमण् इकट् प्रत्ययौ वा भवतः, तदस्मै नियुक्तं दीयते इत्यस्मिन् विषये। भक्तमस्मै नियुक्तं दीयते भाक्तः। औदनिकः। औदनिकी। पक्षे इकण्, भाक्तिकः। औदनिकः। औदनशब्दादिकणं नेच्छन्त्यन्ये ॥७२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–भक्तौ०। तदस्मै नियुक्तं दीयत इति संबध्यते। भक्तं च ओदनं चेति समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी। अण् चेकट् चेत्यपि समाहारद्वन्द्व एवेति, तयोः प्रकृति-प्रत्यययोः समसंख्यत्वेन यथासंख्यं भक्तादण् ओदनाच्च इकट् सिध्यति। विकल्पपक्षे चोभाभ्यामिकण्। **ओदनशब्दादिकणं नेच्छन्त्यन्ये** इति। एतच्च पाणिनीयमतमपि। तत्र तन्त्रे पूर्वसूत्रेण नित्यमेवेकट् विधीयते, तत्र मांसौदनशब्दविषये संघातविगृहीतोभयग्रहणं साधितमिति मांसाद् ओदनाच्च प्रत्येकमर्णकट् विहित इति ओदनिकः, ओदनिकीत्येव, न त्वौदनिक इति। अत्र सूत्रे चौदनग्रहणं न क्रियते। तथा च स्त्रियाम् ओदनिकेति रूपमपि तत्र न भवति ॥६।४।७२॥

नवयज्ञादयोऽस्मिन् वर्तन्ते ॥६।४।७३॥

त०प्र०–**नवयज्ञादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो वर्तन्त इत्येवमुपाधिभ्योऽस्मिन्निति सप्तम्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। नवा यज्ञा अस्मिन् वर्तन्ते नावयज्ञिकः। पाकयज्ञिकः। नवयज्ञादयः प्रयोगगम्याः** ॥७३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नव०। तदिति संबध्यते। तथा च प्रथमान्तेभ्यो नवयज्ञादिभ्यः अस्मिन् वर्तन्ते इत्यर्थे प्रत्ययविधानम्। नवशब्दो न संख्यावाचकोऽपि तु प्रत्यग्रवाचकः। संख्यावाचकत्वे नवयज्ञीति स्यात्। तदेव विग्रहवाक्येन स्पष्टयति–**नवा यज्ञा अस्मिन् वर्तन्ते** इति। अन्ये च 'नवयज्ञ' 'पाकयज्ञ' इति समुदायादेव प्रत्ययं विदधति, नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते इत्येवंरूपेण विग्रहणन्ति। स्वमते च सूत्रबहुवचनान्तेन निर्देशाद् विग्रहेऽपि बहुवचनान्तप्रयोगाद् बहुवचनान्तेभ्य एव प्रत्ययविधानमिति प्रतीयते। वस्तुतस्तु सूत्रे बहुवचनस्य नवयज्ञादीनां प्रयोगगम्यत्वप्रतीत्यर्थतया संगतैरेकवचनान्त-द्विवचनान्तेभ्योऽपि प्रत्ययः स्यादेव। अन्ये च वैयाकरणा अत्रैकवचनान्तेनैव विग्रहं विदधति ॥६।४।७३॥

तत्र नियुक्ते ॥६।४।७४॥

त० प्र०–**तत्रेति सप्तम्यन्तान्नियुक्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारित इत्यर्थः। पूर्वकस्य नियुक्तमित्यस्य क्रियाविशेषणरूपस्याव्यभिचारो नित्यमिति चार्थः। प्रत्ययार्थश्चायम्। स तु प्रकृत्यर्थोपाधिः। शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः। आपणिकः। आतरिकः। दावारिकः। आक्षपटलिकः** ॥७४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—त त्र०। **तत्रेति सप्तम्यर्थपरमिति** सप्तमीसमर्थविभक्तिबोधकम्। नियुक्तपदं पूर्वमपि "नियुक्तं दीयते" [६.४.७०.] इति सूत्रे समायातमिति साम्यस्य संदेहो मा भूदित्यर्थं ततोऽस्य भेदस्य परिज्ञानार्थं नियुक्तशब्दार्थं विषयभेदं च परिचाययति–**नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारित इत्यर्थः**। नियतं युज्यते स्म इत्यर्थे नियुक्तशब्द इति कस्यचन कुत्रापि कार्ये नियमेन योजनकर्मीभूतत्वार्थको नियुक्तशब्दः। स च कृताधिकारत्व कथयतीति अधिकृत इत्यर्थकः। तमेवार्थं शब्दान्तरेणाह–**व्यापारित** इति। तत्र व्यापारे योजित इति भावः। इत्थं च पूर्वस्मादयं भेद इत्याह–**पूर्वकस्य नियुक्तमित्यस्येत्यादि**। नियुक्तं दीयते इति पूर्वसूत्रोपात्तस्य क्रियाविशेषणत्वम्। अव्यभिचारवाचकत्वं चेति नित्यार्थे पर्यवसानं भवति। किञ्चात्र नियुक्तशब्दः प्रत्ययार्थत्वेनोपात्तः तत्रत्यश्च प्रकृत्यर्थोपाधित्वेनेत्यपि भेदः। तथा च तत्र नियुक्तार्थः प्रकृत्यर्थान्तर्गतः, अत्र प्रत्ययार्थरूपः इति भावः। उपाधिश्च विशेष्ये विद्यमानत्वाभावेऽपि व्यावर्तको भवति, इति तस्य व्यावर्तकमात्रत्वं, न तु विशेष्यान्वयित्वमपि। अत्र च प्रत्ययार्थे नियुक्तार्थस्य वर्तमानत्वमपि प्रतीयते इति ॥६।४।७४॥

"Aho Shrutgyanam"

अगारान्तादिकः ॥६।४।७५॥

त० प्र०–अगारान्तात् तत्र नियुक्तेऽर्थे इकः प्रत्ययो भवति। देवागारिकः, देवागारिका। भाण्डागारिकः, भाण्डागारिका। आयुधागारिकः, आयुधागारिका। कोष्ठागारिकः, कोष्ठागारिका ॥७५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—अगा०। तत्र नियुक्ते इति संबध्यते। तथा च सप्तम्यन्तादगारान्तान्नियुक्तेऽर्थे प्रत्ययो लभ्यते। देवानामगारो देवागारस्तत्र नियुक्तो देवागारिक इति। स्त्रियामाप् देवागारिकेति। भाण्डानामगारो भाण्डागार इत्यादिरूपेण सर्वत्रोह्यम् ॥६।४।७५॥

अदेशकालादध्यायिनि ॥६।४।७६॥

त० प्र०–तत्रेति वर्तते। अध्ययनस्य यौ प्रतिषिद्धौ देश-कालौ तावदेशकालौ। तद्वाचिनः सप्तम्यन्तादध्यायिन्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति।

अदेशः, अशुचावध्यायी आशुचिकः। श्मशानेऽध्यायी श्माशानिकः। श्मशानाभ्यासिकः। अकालः, सान्ध्यिकः औत्पातिकः। आनध्यायिकः। अदेश-कालादिति किम्? स्वाध्यायभूमावध्यायी। पूर्वाह्णेऽध्यायी ॥७६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—अदे०। तत्रेति वर्तत इति। सप्तम्येव समर्थविभक्तिरिहापीत्यर्थः, सा च सप्तम्यधिकरणे, तथा चाध्येतुराधारवाचकात् प्रत्ययः, अध्येतुराधारश्च देश-कालाभ्यामन्यः को भवितुमर्हति। देश-कालाभ्यां च प्रत्ययः पर्युदस्यत एव 'अदेशकालात्' इति कथनेन। तथा च प्रकृत्यलाभेन सूत्रस्य वैयर्थ्यमेवापतेदिति शङ्कायां नञो नात्र पर्युदासार्थकत्वमपि तु विरोधार्थकत्वमित्याह–अध्ययनस्य यौ प्रतिषिद्धौ देश-कालाविति। शास्त्रेणाध्ययनार्थं प्रतिषिद्धौ यौ देश-कालौ तावध्ययनस्य विरुद्धौ। नञर्थाश्च षड्भिर्युक्तैरुक्ताः–

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥" इति।

यदि चाध्ययनेन सह देश-कालयोर्विरोधस्य प्रतीत्यभाव इत्युच्यते, तर्ह्यप्राशस्त्यार्थकत्वमेव नञोऽत्रेति मन्तव्यम्। देशविशेषस्य कालविशेषस्य च तत्र तत्राध्ययनानुपयुक्तत्वस्मरणात् तयोरप्राशस्त्यं स्पष्टमेव। तथा च तयोः प्रतिषिद्धत्वं सिध्यति। एवं चादेश इत्यस्यास्याप्रशस्तदेशपरत्वम् अप्राशस्त्यं च प्रतिषिद्धत्वमेव। एवमकालशब्दविषयेऽपि योजनीयम्। तत्र पूर्वमदेशोदाहरणमाह– अशुचावध्यायीति। अशुचि–अपवित्रं स्थानं तत्राध्ययनं शीलमस्येत्यर्थः। अपवित्रे स्थानेऽध्ययनं निषिद्धं मनुना–

"द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥" [४.१२७.] इति। श्मशानेऽध्यायीति। श्मशानेऽपि निषिद्धमध्ययनं मनुनैव–

'नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च॥' [४.११६.] इति। एवं श्मशानाभ्यासेऽध्यायोऽन्यत्रापि बोध्यम्। निषिद्धकालोदाहरणमाह–सान्ध्यिक इति। सन्ध्यायामध्यायीति विग्रहः। अह्नो रात्रेश्च सन्धिसमयः सन्ध्या, सा च रात्र्यवसाने, दिनारम्भे प्रातःसन्ध्या कथ्यते, दिनावसाने रात्र्यारम्भे च सायंसंध्या कथ्यते। तयोरुभयोरपि पठनं निषिद्धं मनुना।

'नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरुभयोरपि।
अमावास्या-चतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च॥' [४.११३.] इति। औत्पातिक इति। उत्पातेऽध्यायीति विग्रहः। शुभाशुभसूचको महाभूतविकार उत्पातः; उत्पातशब्देन च तत्संबद्धः कालः उच्यते। तत्रापि पठनं निषिद्धं मनुना, तथाहि–

"चौरैरुपप्लुते ग्रामे संग्रामे चाग्निकारिते।
आकालिकमनध्यायं विद्यात् सर्वाद्भुतेषु च"। इति। [४.११८.]

अत्राद्भुतशब्देनोत्पातो गृह्यत इति कल्लूकभट्टः। आनध्यायिकः इति। अनध्यायेऽध्यायीति विग्रहः। अनध्यायश्च शास्त्रेषु पूर्वोक्तातिरिक्तोऽपि बहुधा वर्णितः, नाधीयते यस्मिन् काले–निषिद्धत्वात् सोऽनध्यायः इति व्युत्पत्त्याऽध्ययनार्हकालसामान्यमनध्यायः। किञ्च देशोऽप्यनध्यायो भवितुमर्हत्युक्तव्युत्पत्त्या कस्मिन्नपि निषिद्धे देशे काले वाऽधीयानो जन आनध्यायिक इति कथयितुं शक्यते। अध्यायिन्येतावदेवोच्यताम्, प्रयोगार्थमहिम्नैवादेशकालप्रतीतिर्भविष्यतीति शङ्कते-अदेश-कालादिति किमिति। अध्ययनार्हदेश–कालाभ्यां प्रत्ययो नेष्ट इत्युदाहरणाभ्याम्,

"Aho Shrutgyanam"

स्वाध्यायभूमावध्यायी, पूर्वाह्णेऽध्यायीति । स्वाध्यायभूमिर्देशो न त्वदेशः, एवं पूर्वाह्णः काल एव, न त्वकाल इति न भवति ॥६।४।७६॥

निकटादिषु वसति ॥६।४।७७॥

त०प्र०-निकटादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो वसत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । निकटे वसति नैकटिकः । आरण्यकेन भिक्षुणा ग्रामात् क्रोशे वस्तव्यमिति यस्य शास्त्रितो वासः स एवोच्यते । एतदर्थ एव च तत्रेत्यधिकारे सप्तमीनिर्देशः । वृक्षमूले वसति वार्क्षमूलिकः । श्मशानिकः । आभ्यवकाशिकः । आवसथिकः । निकटादयः प्रयोगगम्याः ॥७७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-निकटादिषु० । नैकटिकशब्दस्याभिधेयविशेषनियन्त्रितत्वमाह । किञ्च निकटशब्दस्यावधिसापेक्षतया तं विनाऽर्थबोधनस्याभावात् प्रयोगस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याप्याह-आरण्यकेन भिक्षुणेत्यादि । आरण्यकेनेत्यस्य वानप्रस्थेनेत्यर्थः । ग्रामात् क्रोशे वस्तव्यमिति । ग्रामनिकटात् क्रोशाभ्यन्तर एव वस्तव्यं-वासो विधेयः इति । यस्य शास्त्रितो वास इति । शास्त्रित इत्यस्य शास्त्रं शासनं संजातमस्येत्यर्थः । शास्त्रेण विहित इत्यर्थः । कुतोऽयमभिधेयविशेषनियमो लब्ध इत्याशङ्कायामाह-एतदर्थ एव च तत्रेत्यधिकारे सप्तमीनिर्देश इति । तत्रेति प्रकृतेन सप्तमीसमर्थविभक्तिर्लब्धैव, पुनश्च 'निकटादिषु' इति सप्तम्या निर्देशो व्यर्थः सन अमुमभिधेयविशेषनियमं ज्ञापयतीति भावः । आरण्यकस्य ग्रामनिकटवासश्चोपद्रवादिभ्यो रक्षार्थं समये भिक्षायाः सौलभ्यार्थं चोचितः । सूत्रे बहुवचनस्य प्रयोजनमाह-निकटादयः प्रयोगगम्या इति । प्रयोगैरेव निकटादिपठितत्वं ज्ञेयं न ते इयत्तया पठिता इत्यर्थः ॥६।४।७७॥

सतीर्थ्यः ॥६।४।७८॥

त० प्र०-सतीर्थ्य इति समानतीर्थशब्दात् तत्र वसत्यर्थे यः प्रत्ययो निपात्यते, समानशब्दस्य च सभावः । समानतीर्थे वसति सतीर्थ्यः । तीर्थमिह गुरुरुच्यते ॥७८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-सतीर्थ्यः । तत्रेत्यधिकृतमेवेति तदधिकारे यः विधेयः 'सतीर्थ्याद् यः' इति तथाऽकृत्वा निपातनाश्रयणमलाक्षणिकस्य कस्यचित् कार्यस्य लाभायेति विज्ञायते, तच्च कार्यं समानस्य सादेश एवेत्याह-यः प्रत्ययो निपात्यते समानस्य च स-भाव इति । एतेन निपातने लाघवमिति सूचितम् । तीर्थशब्दस्य पवित्रस्थानादिषु बहुषु प्रयोगेऽप्यत्र ग्राह्यमर्थमाह-तीर्थमिह गुरुरिति । सतीर्थ्यपदे तीर्थशब्दार्थो गुरुरित्यर्थः । तथा च समानगुरुकः सतीर्थ्यपदेनोच्यते इति भावः । समानत्वं चैकत्वमित्येकगुरुकत्वं पर्यवस्यति ॥६।४।७८॥

प्रस्तार-संस्थान-तदन्त-कठिनान्तेभ्यो व्यवहरति ॥६।४।७९॥

त० प्र०-'प्रस्तार' 'संस्थान' इत्येताभ्यां प्रस्तारान्तात् कठिनान्ताच्च व्यवहरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । व्यवहरतिरिह क्रियातत्त्वे क्रियाया अविपरीतस्वभावे । यथा लौकिको व्यवहार इत्यत्र । प्रस्तारे व्यवहरति प्रस्तारिकः । सांस्थानिकः । तदन्त, कांस्यप्रस्तारिकः । लौहप्रस्तारिकः । गौसंस्थानिकः । आश्वसंस्थानिकः । कठिनान्त, वांशकठिनिकः । वार्ध्रकठिनिकः । कठिनं तापसभाजनं पीठं वा बहुवचनं कठिनान्तेति स्वरूपग्रहणव्युदासार्थं रूढ्यर्थं च । प्रस्तार-संस्थानाभ्यां तदन्ताभ्यां केचिन्नेच्छन्ति ॥७९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-प्रस्तार० । तत्रेति संबध्यते, तथा च सप्तम्यन्तेभ्य एभ्यो व्यवहरतीत्यर्थे प्रत्ययः । वि-अवेत्युपसर्गद्वयपूर्वस्य हरतेर्बहुष्वर्थेषु प्रयोगो दृश्यते यथा विवादे, वृक्षविशेषे, पणे, क्रियातत्त्वे च । तथाहि-"विवादो व्यवहारः स्यात्" [१.६.९.] इत्यमरः । किञ्च व्यवहारपदस्य विवादार्थत्वं कात्यायनेनेत्थं व्युत्पादितम् ।

"वि नानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते ।
नानासंदेहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः ॥" इति ।

अन्येषां त्रयाणामर्थानां हैमकोशाल्लाभः । तथाहि-"व्यवहारः स्थितौ पणे । द्रुभेदे" इति तत्र पाठः ।

स्थितिश्च वस्तुतत्त्वं क्रियातत्त्वं वा । तयोरत्र क्रियातत्त्वस्यैव ग्रहणमिति व्याख्यातिं-व्यवहरतिरिह क्रियातत्त्वे, एतदेव स्फुटयति-क्रियाया अविपरीतस्वभावे इति ।

यत्र देशे या क्रिया यथानुष्ठेया तत्र तस्यास्तथैवानुष्ठानं क्रियातत्त्वमिति यावत् । उदाहरणेनेदं स्पष्टयति-यथा

"Aho Shrutgyanam"

लौकिको व्यवहार इत्यत्रेति। अत्र व्यवहारशब्दः परम्पराप्राप्तमनुष्ठानस्य-आचारस्यानुगतिं बोधयति। एतादृशार्थकस्यैव ग्रहणे मानं च लक्ष्येषु तथाऽर्थावगतिरेव। **'प्रस्तारे व्यवहरति'** इत्यस्य प्रस्तारविषयां क्रियां यथावदनुतिष्ठतीत्यर्थः। एवं सर्वत्र।

कठिनशब्दस्यात्र न प्रसिद्धकठोरार्थपरत्वमपि तु पारिभाषिकत्वमित्याह-**कठिनं तापसभाजनं पीठं वा** इति "कठिनमपि निष्ठुरे स्यात् स्तब्धेऽपि त्रिषु नपुंसकम्। स्थाल्यां कठिनी खट्टिकायामपि कठिना गुड-शर्करायां च॥"

इति मेदिनीकोशात् कठिनशब्दस्य स्थालीरूपभाजनवाचकत्वोपलब्धावपि तापससंबन्धिभाजनवाचकत्वं परिभाषितत्वेनैव लब्धम्। पीठार्थता च कोशेषु नोपलभ्यत इति मूलतः पारिभाषिक्येव। पाणिनीयमते तु दीक्षितादिभिः वांशकठिनिक इति प्रयोगे वंशा वेणवः कठिना यस्मिन् देशे इत्यादिरीत्या व्याख्यानमाचरद्भिरिह कठिनशब्दस्य लोकप्रसिद्धनिष्ठुरार्थवाचकत्वमेवेति प्रकटीकृतम्। क्वचिद्व्याख्यपुस्तकेऽपि तथैव पाठः समुपलभ्यते। समाहारद्वन्द्वमाश्रित्य एकवचनेनैव निर्देशे कर्तव्ये कठिनान्तेभ्य इति बहुवचननिर्देशः किमर्थ इत्याशङ्क्यायोमाह-**बहुवचनं कठिनान्तेति स्वरूपग्रहणव्युदासार्थमिति**। 'कठिनान्त' इति शब्दस्वरूपात् प्रत्ययो मा भूत्-अपि तु कठिनशब्दोऽन्ते येषां तेभ्य एव इत्येतदर्थमित्यर्थः। प्रयोजनान्तरं च तस्येत्याह-**रूढ्यर्थं चेति**। रूढिः कठिनशब्दस्य तापसभाजन-पीठोभयवाचिन एव ग्रहणमित्यादिकार्यविशेषप्रसिद्धिर्यथा गृह्येत तदर्थमपीत्यर्थः। पाणिनीयादितन्त्रसम्मतमर्थं मतान्तरत्वेनाह- **प्रस्तारसंस्थानाभ्यां तदन्ताभ्यां केचिन्नेच्छन्ती**ति। तत्र हि "कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु" [पा०सू०४.४.७२.] इत्येव सूत्रम्। प्रास्तारिकः सांस्थानिक इत्येव चोदाहरणं दत्तमिति तदन्तात् प्रत्ययो नेष्टस्तत्रेति स्पष्टम्॥६।४।७९॥

संख्यादेश्चार्हदलुचः ॥६।४।८०॥

त० प्र०-आ अर्हदर्थादित ऊर्ध्वं या प्रकृतिरुपादास्यते तस्याः केवलायास्तदन्तायाश्च संख्यापूर्वाया वक्ष्यमाणः प्रत्ययो भवतीति वेदितव्यम्, न चेत् सा लुगन्ता भवति। चन्द्रायणं चरति चान्द्रायणिकः। द्वे चन्द्रायणे चरति द्वैचन्द्रायणिकः। पारायणमधीते पारायणिकः। द्वे पारायणे अधीते द्वैपारायणिकः। संख्यादेरिति किम्? परमपारायणमधीते। महापारायणमधीते। चकारः केवलार्थः। आर्हत इत्यत्राकारोऽभिविधौ। तेनार्हदर्थेऽपि भवति। द्वे सहस्रे द्विसहस्रं वाऽर्हति द्विसाहस्रः। अलुच इति किम्? द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्। अत्र 'शूर्पाद् वाञ्' [६. ४. १३७.] इत्यञ्। 'अनाम्यद्विः प्लुप्' [६.४.१४९.] इति लुप्। द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकम्। त्रिशौर्पिकम्। पुनरपि 'शूर्पाद् वाञ्' [६. ४. १३७.] इत्यञ् न भवति॥८०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—संख्या०। आ अर्हतः इत्यर्थेऽव्ययीभावसमासे आर्हदिति। प्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषिद्धत्वात् संख्यादेस्तदन्तात् प्रकृतेः प्रत्ययोत्पत्तिप्राप्तेति साऽत्र प्रकरणे सूत्रेणानेन साध्यते। तत्र केवलं संख्यादेरिति कथनेन संख्यादेस्तदन्तादेव स्यान्न तु केवलादिति। केवलादपि तत्स्यान्नाम्नः प्रत्ययविधानार्थं चकारोऽपि पठ्यते। तथा च सूत्रार्थमाह-**आ अर्हदर्थादिति**। अर्हदर्थश्च "तमर्हति" [६.४.१७७.] इति सूत्रनिर्दिष्टः। तेन सहेत ऊर्ध्वमनुक्रान्ताभ्यः प्रकृतिभ्योऽयं नियमो विधीयते। तथा चोदाहरति-चन्द्रायणं चरतीति। "चन्द्रायणं च चरति" [६.४.८१.], "तुरायण-पारायणं यजमानाऽधीयाने" [६.४.९२.] इति सूत्राभ्यां वक्ष्यमाण इकण् यथा केवलात् चान्द्रायणात्, पारायणात् च भवति तथा संख्यादेस्तदन्तादपीति **चान्द्रायणिकः, द्वैचन्द्रायणिक** इत्यादि भवति। तदन्ताच्चेत्येवोच्यतां किमिति विशिष्य संख्यादेरित्युच्यते इति पृच्छति-**संख्यादेरिति किमिति**।

प्रत्युदाहरति-**परमपारायणमधीते** इति। संख्यारिरिक्तादेः परमपारायणशब्दात् प्रत्ययो न भवति, संख्यादेरित्यस्याभावे तदन्ताद् विधाने इहापि स्यादित्यर्थः। **चकारः केवलार्थ** इति। व्याख्यातपूर्वमेतत्। अर्हदर्थं परित्यज्य ततः पूर्वमेवायं नियम उत तमपि गृहीत्वेति संशये आह-**आर्हत इत्याकारोऽभिविधाविति**। अभिविधिशब्दार्थश्च अभिव्याप्त्यविधिरिति व्युत्पत्त्या योऽवधित्वेन निर्दिष्टस्तेन सह विधिरिति, तत्फलमाह-**तेनार्हदर्थेऽपि भवतीति**। अर्हदर्थेऽपि संख्यादेस्तदन्तात् प्रत्ययो भवतीत्यर्थः कुत्याह-**द्वे सहस्रे द्विसहस्रं वार्हतीति**। द्विसहस्रशब्दादपि अर्हदर्थे "सहस्रशतमानादण्" [६.४.

"Aho Shrutgyanam"

१३६.] इत्यण् भवतीत्यर्थः । अलुच् इति किमिति । लुगन्तात् प्रत्ययः किमर्थं पर्युदस्यत इति प्रश्नः । प्रत्युदाहरति-द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतमित्यादिना । अत्र द्विशूर्पशब्दात् "शूर्पाद् वाञ्" [६.४.१३७.] इति विहितस्याञः "अनाम्यद्विः प्लुप्" [६.४.१४१.] इति प्लुपि,द्विशूर्पमिति । तेन क्रीतमित्यर्थे पुनः "शूर्पाद् वाञ्" [६.४.१३७.] इत्यञ् न भवति, किन्त्वधिकारप्राप्त इकणेव भवति, तस्मिंश्च सति "मान-संवत्सरस्य०" [७.४.१९] इत्युत्तरपदादिस्वरवृद्धिरिति । अलुचः इत्यस्याभावे तु अञ् दुर्वारः स्यात् ॥६।४।८०॥

गोदानादीनां ब्रह्मचर्ये ॥६।४।८१॥

त० प्र०—गोदानादिभ्यो निर्देशात् षष्ठ्यन्तेभ्यो ब्रह्मचर्येऽभिधेये इकण् प्रत्ययो भवति । गोदानस्य ब्रह्मचर्यं गौदानिकम् । आदित्यव्रतानामादित्यव्रतिकम् । महानाम्नीनां माहानाम्निकम् । गोदानादयः प्रयोगगम्याः । येभ्योऽस्मिन्नर्थे इकण् दृश्यते ते गोदानादयः ॥८१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—गोदा० । गोदानादीनामिति षष्ठ्या निर्देशेन षष्ठ्येव समर्थविभक्तिरिति लभ्यते तदाह-गोदानादिभ्यो निर्देशात् षष्ठ्यन्तेभ्य इति । गोदानस्य ब्रह्मचर्यमिति । गावः केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽत्रेति गोदानं समावर्तनाख्यं कर्म तत्सम्बन्धि-तदवधिपर्यन्तं स्थायि ब्रह्मचर्यं वेदाध्ययनमित्तं स्त्रीतैलादिवर्जनरूपं व्रतं गौदानिकमित्युच्यते । आदित्यव्रतानां संबन्धि ब्रह्मचर्यम् आदित्योपासनार्थं व्रतानि आदित्यव्रतानि तेषामनुष्ठानार्थं कृतं ब्रह्मचर्यमित्यर्थः । महानाम्न्यो नाम काश्चिदृचः तासामध्ययनार्थं ब्रह्मचर्यं महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यं कथ्यते । गोदानादीनामपठितत्वात् कथमत्रवाणमित्याशङ्क्यायामाह-येभ्योऽस्मिन्नर्थे इकण् दृश्यते इति । इकणन्तप्रयोगे ब्रह्मचर्यार्थप्रतीतिर्यत्र ते गोदानादिपठिता ज्ञेया इत्यर्थः ॥६।४।८१॥

चन्द्रायणं च चरति ॥६।४।८२॥

त० प्र०—चन्द्रायणशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयान्ताद् गोदानादिभ्यश्चार्थाद् द्वितीयान्तेभ्यश्चरत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति ।

चन्द्रायणं चरति चान्द्रायणिकः । गोदानं चरति गौदानिकः । आदित्यव्रतिकः । माहानाम्न्यो नाम ऋचः । तत्साहचर्यात् तासां व्रतमपि महानाम्न्यः । महानाम्नीव्रतं चरति माहानाम्निकः ॥८२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—चान्द्रायणं० । चान्द्रायणमिति द्वितीयान्तनिर्देशाद् द्वितीयैव समर्थविभक्तिः। चकारेण च गोदानादीनां समुच्चयः साहचर्याच्च तेभ्योऽपि द्वितीयान्तेभ्यः चरत्यर्थे इकण् । महानाम्नी शब्दस्य ऋग्विशेषाणां वाचकस्य चरत्यर्थेन कथं संबन्ध इत्युपपादयति तत्साहचर्यात् तासां व्रतमपीति । महानाम्नी ऋक्सहचरितं व्रतमपि महानाम्नीशब्देनोच्चर्यत इत्यर्थः । तत्र व्रतस्य क्लीबत्वेन महानामव्रतमिति स्यादिति न शङ्कनीयं स्वलिङ्गसंख्ये अजहदेव महानाम्नीशब्दो व्रते वर्तते इत्याचार्याशयात् । एवं चात्र प्रत्ययप्रयोगे पुंवद्भावं विधाय महानामिक इति रूपं कथयन्तो हरदत्तादय उपेक्ष्याः भाष्यविरुद्धत्वात् ॥६।४।८२॥

देवव्रतादीन् डिन् ॥६।४।८३॥

त० प्र०—देवव्रतादिभ्यो निर्देशादेव द्वितीयान्तेभ्यश्चरत्यर्थे डिन प्रत्ययो भवति । देवव्रतं चरति देवव्रती । तिलव्रती । अवान्तरदीक्षी । महाव्रती । देवव्रतादयः प्रयोगगम्याः । डित्करणमुत्तरत्रान्त्यस्वरादिलोपार्थम् ॥८३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—देवव्रता० । द्वितीयान्तनिर्देशाद् द्वितीयान्तेभ्य एव देवव्रतादिभ्योऽयं प्रत्ययः । तत्र देवव्रताशब्दस्य ककारान्तत्वेन "अर्धर्चस्य" [७.४.६८.] इत्यर्धर्चोपेनैव रूपसिद्धौ प्रत्यये डित्करणानर्थक्यमाशङ्क्याह-डित्करणमुत्तरत्रान्त्यस्वरादिलोपार्थमिति । उत्तरसूत्रे गण्यचत्वारिंशतः प्रत्ययविधानेन तत्रान्त्यस्वरादिलोपार्थं डित्त्वमावश्यकमिति प्रत्ययद्वयविधाने गौरवं स्यादिति लाघवानुरोधेनैव डित्त्वं विहितमिति भावः । तेन च तत्रानुवृत्तमेतत् "डित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपनिमित्तं भवतीति भावः ॥६।४।८३॥

डकश्चाष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणाम् ॥६।४।८४॥

त० प्र०—वर्षाणां संबन्धिनोऽष्टाचत्वारिंशच्छब्दाद् व्रतवृत्तेर्निर्देशादेव द्वितीयान्ताच्चरत्यर्थे डकश्चकाराद्विन् च प्रत्ययो भवति ।

"Aho Shrutgyanam"

अष्टाचत्वारिंशद्वर्षसहितं व्रतमष्टाचत्वारिंशत् तच्चरति अष्टाचत्वारिंशकः। अष्टाचत्वारिंशी ॥८४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्— डकः। अत्र वर्षाणामिति परिचायकमात्रं नास्य कापि प्रकृत्यर्थे प्रत्ययार्थे वा प्रवेशः प्रत्ययान्तसमुदायेनापि नार्थतः प्रत्याय्यन्ते वर्षाण्यपि तु तात्पर्यतः। अत एव पाणिनीयादिभिरिह वर्षाणामिति नोच्यते। अष्टाचत्वारिंशत्संख्यैव तात्पर्यतो वर्षोपस्थापिका भवतीति ते मन्यन्ते। प्रतिवेदं द्वादशवर्षाणां व्रतस्याध्ययनार्थमन्यत्र विहितस्य चतुर्णां वेदानामध्ययनार्थमन्यत्र विहितस्य चतुर्णां वेदानामध्ययनार्थमेतदष्टाचत्वारिंशत्वर्षाणां संख्या। स्मरन्ते च स्पष्टं परिचयाय वर्षाणामुपादानं कृतम् ॥६।४।८४॥

चातुर्मास्यं तौ यलुक् च ॥६।४।८५॥

त० प्र०—चातुर्मास्यशब्दाद् व्रतवृत्तेर्निर्देशादेव द्वितीयान्ताच्चरत्यर्थे तौ डक-डिनौ प्रत्ययौ यलोपश्च भवति। चतुर्षु मासेषु भवानि 'यज्ञे ञ्यः' [६.३.१३३.] इति ञ्यः, चातुर्मास्यानि नाम यज्ञाः। तत्सहचरितानि व्रतानि चातुर्मास्यानि तानि चरति चातुर्मासकः, चातुर्मासी ॥८५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-चातु०। व्रतविषयकमत्र प्रकरणे व्याख्यानलभ्यं प्रतीयते। चान्द्रायणानां सहचारादेषां व्रतवृत्तित्वमिति वा कल्पनीयम्। द्वितीयान्तनिर्देशाच्च द्वितीयान्तादेव प्रत्ययविधिरिति। तथा च सूत्रार्थमाह-**चातुर्मास्यशब्दाद् व्रतवृत्तेरित्यादिना।** चातुर्मास्यशब्दस्य व्रतवृत्तित्वं साधयति-**चतुर्षु मासेषु भवानीत्यादिना।** एते चत्वारो मासाश्च वार्षिकाः (वर्षासु भवाः) एवेति प्रसिद्धेरवगम्यते। भवन्ति च तत्र नानाविधा यज्ञाः। यज्ञेषु दीक्षितैः सनियमैः स्थीयते, त एव चाहारविहारनियमा व्रतत्वेनोच्यन्ते, चातुर्मास्ययज्ञसाहचर्यात् तद्व्रतमपि चातुर्मास्यशब्देनोपचर्यते। ततो डकेऽन्त्यस्वरादिलोपे "व्यञ्जनात् तद्धितस्य" [२.४.८८.] इति यलोपे च चातुर्मासकः, डिनि **चातुर्मासी** इति॥६।४।८५॥

क्रोश-योजनपूर्वाच्छताद् योजनाच्चाभिगमार्हे ॥६।४।८६॥

त० प्र०—क्रोशशब्दपूर्वाद् योजनशब्दपूर्वाच्च शतयोजनशब्दाच्च निर्देशादेव पञ्चम्यन्तादभिगमार्हेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। क्रोशशतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिको मुनिः। यौजनशतिको मुनिः। यौजनिकः साधुः ॥८६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—क्रोश०। क्रोशशताद् योजनशतात् केवलाच्च योजनशब्दात् प्रत्ययः। निर्देशबलादेव पञ्चम्यन्तादित्यर्थलाभः। अभिगमनं स्वागतार्थं प्रत्युद्गमनम्। मुनिरागच्छन् विज्ञातश्चेत् क्रोशशतमग्रे गत्वा प्रत्युद्गमनीय इत्यर्थः—**क्रौशशतिक** इत्यस्य। एवं योजनशतिकस्यापि। यश्च न मुनिः केवलं साधुः स योजनमग्रे गत्वाऽभिगमनीय इति **यौजनिकः साधुरित्यस्यार्थः** ॥६।४।८६॥

तद् यात्येभ्यः ॥६।४।८७॥

त० प्र०—तदिति द्वितीयान्तेभ्यः एभ्यः 'क्रोशशत योजनशत योजन' इत्येतेभ्यो याति गच्छत्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, क्रोशशतं याति क्रौशशतिकः। यौजनशतिकः। यौजनिको दूतः। एभ्य इति किम्? नगरं याति चैत्रः ॥८७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्— तद्या०। यातीति क्रियापदसान्निध्यात् तदित्यस्य द्वितीयान्तार्थत्वमित्याह-**तदिति द्वितीयान्तेभ्य एभ्य** इति। तद् यातीत्यर्थे सामान्यत एव प्रत्ययो विधीयतां किमिति एभ्य एव विधीयते इति पृच्छति-**एभ्य इति किमिति।** नान्यस्माद्दिष्ट इत्याह—**नगरं याति चैत्र** इति ॥६।४।८७॥

पथ इकट् ॥६।४।८८॥

त० प्र०—पथिन्शब्दात् तदिति द्वितीयान्ताद् यात्यर्थे इकट्प्रत्ययो भवति। पन्थानं याति पथिकः, पथिकी स्त्री। टकारो ङ्यर्थः। द्वौ पन्थानौ याति द्विपथिकः, द्विपथिकी स्त्री। कटमकृत्वा इकड्वचनं परत्वात् समासान्ते कृतेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥८८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पथः। तद् यातीति संबध्यते। तथा च सूत्रार्थमाह-**पथिन्शब्दात् तदिति द्वितीयान्तादिति।** इकटि सत्यन्त्यस्वरादिलोपे-**पथिक** इति। टित्वात् स्त्रियां ङीः, **पथिकी**ति। 'कट्' इत्येतावति प्रत्यये कृते नलोपे पाथिक इति सिद्धयदेवेति इकारविशिष्टस्य प्रत्ययस्य फलनाख्यातुमुदाह-

"Aho Shrutgyanam"

रति—द्वौ पन्थानौ यातीति । अत्र तद्धितार्थे समासे कृते "ऋक्पूः पथ्यपोऽत्" [७.३.७६.] इति समासान्तेऽति कृते तत इकटि अवर्णलोपे सति पथिक इति भवति । एतदर्थमेवेकारोच्चारणमित्याह—**कटमकृत्वा इकड्वचनमित्यादि** । समासान्ताश्च प्रत्ययाः सप्ताध्याय-तृतीयपादविहिता इति अस्मादिकटः पराः इति तत्प्रवृत्त्युत्तरमेवेकट् प्रवर्तते । एवं च कटि कृते पथक् इत्येव स्यान्न पथिक इति भावः ॥६।४।८८॥

नित्यं णः पन्थश्च ॥६।४।८९॥

त० प्र०—**नित्यमिति प्रत्ययार्थविशेषणम् । पथिनशब्दाद् द्वितीयान्तान्नित्यं यात्यर्थे णः प्रत्ययो भवति, पथिनशब्दस्य च पन्थादेशः । पन्थानं नित्यं याति पान्थः पान्था स्त्री । द्वौ पन्थानौ नित्यं याति द्वैपन्थः, द्वैपन्था स्त्री । नित्यमिति किम् ? पथिकः** ॥८९॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—**नित्यं०** । सन्निधानाद् नित्यमित्यस्य प्रत्ययेन सह संबन्धमाशङ्क्य तस्यानेष्टत्वेन प्रत्ययार्थे सह संबन्धमाह—**नित्यमिति प्रत्ययार्थविशेषणमिति** । नित्यमिति यदुच्यते तत् प्रत्ययार्थस्य यात्यस्य पूर्वतः प्राप्तस्य विशेषणं व्यावर्तकं तथा च नित्यं यातीति प्रत्ययार्थः संजातः । अत्रायमभिसन्धिः, प्रत्ययविधिविशेषणत्वे, **पन्थानं यातीत्यर्थे 'पान्थ'** इत्येव रूपं नित्यं स्यात्, न तु पूर्वसूत्रसिद्धं पथिक इति रूपम्, ततश्च पूर्वसूत्रस्य वैयर्थ्यं स्यात्, तच्च नोचितम्, स्वस्यैव सूत्रस्य सूत्रान्तरेण वैयर्थ्यापादनस्याचार्यशैलीविरुद्धत्वात् ।

अथ पूर्वसूत्रारम्भसामर्थ्यात् तदपि रूपं स्यादेवेति चेत् तर्हि नित्यमित्यस्यैव वैयर्थ्यमिति सर्वसामञ्जस्याय व्यवहितेनापि प्रत्ययार्थेनैव संबन्धो न तु सन्निहितेन प्रत्ययेनेति । "पन्थो ण नित्यम्" [पा.सू. ५.१.७६] इति सूत्रे महाभाष्ये तु नित्यग्रहणं प्रत्याख्यातम् । तत्र कैयटेनेत्थमुक्तम्, नित्यग्रहणं प्रत्ययान्तरनिवृत्त्यर्थं तावदिह न भवति । पूर्वोक्तः ष्कन् (स्वमते इकट्) प्रत्ययश्च विधानसामर्थ्यात् स्यादेव, अन्यस्य च प्राप्तिरेव नेति । प्रत्ययार्थविशेषणमपि न, पन्थानं नित्यं गच्छतीति यद्यप्यर्थः संभवति, तथापि नात्रैवार्थे पान्थशब्दस्य प्रयोग इष्यते, कदाचिद् गच्छत्यपि तस्य प्रयोगात् । वाक्यनिवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणं स्यात् । एतदप्यप्रयोजनं वाक्यस्यापि शिष्टैः प्रयुक्तत्वात् । न च नित्यग्रहणं पन्थादेशरूपविकारेण संबध्यते—पन्थादेशो नित्यं णप्रत्ययविषये एव भवति, न तु तेन वाक्यं करणीयम् इति, अन्यथा सर्वविषयं पन्थशब्दस्य साधुत्वं स्यात्, प्रत्ययविधानं त्वन्वाचीयमानं विज्ञायेतेति वाच्यम्, सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपाय इति न्यायात् । अयमर्थः—विशेषप्रयोगसिद्धये ययोरेकस्मिन् विषये विधिस्तयोरेतद्विषयादन्यत्रैकस्याप्रयोगे परोऽपि न प्रयुज्यते इति णाभावे पन्थादेशस्य प्रयोगाप्राप्तेः, इति न तदर्थमपि नित्यग्रहणमिति फलाभावात् प्रत्याख्येयमेव तदिति । यदि च नित्यमित्यस्य पौनःपुन्यार्थत्वं मन्यते, इष्यते च तादृशार्थ एव पान्थ इत्यस्य प्रयोगः, यो हि पुनः पुनः पन्थानं गच्छति स पान्थ इति, तदा नित्यग्रहणमस्तु इति वृत्तिकारादीनां हृदयं तच्च भाष्यविरुद्धमिति भाष्य—प्रदीपोद्द्योते निरूपितं नागेशेनेति ॥

पन्थानं नित्यं यातीति । नित्यमित्यस्य प्रतिदिनमित्यर्थः, न तु सर्वकालावच्छेदेनेति, तथाऽर्थस्यासंभवात् । स्त्रियामाप् **पान्था स्त्री**ति । संख्यादेस्तदन्तविधेरिह—**द्वौ पन्थानौ गच्छतीति** । तद्धितार्थे समासे, समासान्तेऽति सत्यपि पन्थादेशः स्यादेव, *एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्* । **नित्यमिति किमिति** ? प्रत्ययार्थे नित्यमिति विशेषणमव्यावर्तकमिति पृच्छार्थः । **पथिक** इति । कदाचिद् यात्यर्थे इकड्येव भवति, न णसन्नियोगवान् पन्थादेशः । नित्यमित्यस्याभावे चायं विषयविभागो न स्यात्, नित्यमिति सत्त्वे **नित्यं याति पान्थ** इति प्रयोगोऽन्यत्र **पथिक** इति ।

यद्यपि कोशेषु पान्थ-पथिकयोः पर्यायतयैव पाठो दृश्यते, "तथाहि—अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः, पान्थः पथिकः" इत्यपि [इत्यमरः, २.८.१७.] तथापि शास्त्रव्यवस्थया द्वयोरपि विषयविभागः आवश्यक एव । यथा अध्वानमलंगामी इत्यर्थे "अध्वान खेनौ" [७.१.१०३.] इति सूत्रेणाध्वन्यः' अध्वनीन इति साध्येते, परमुक्तकोशानुसारम् अध्वगोऽपि तत्पर्याय एवेति, न तेन शास्त्रस्य वैयर्थ्यम्, कोशस्य सामान्यार्थमादाय प्रवृत्तेः, शास्त्रेण तु सूक्ष्मोऽर्थभेदोऽपि प्रतिपादनीय एवेत्यलमतिविस्तरेणेति ॥६।४।८९॥

शङ्कूत्तर-कान्तराज-वारि-स्थल-जङ्गलादेस्तेनाहृते च ॥६।४।९०॥

त० प्र०—'**शङ्कु उत्तर कान्तार अज**

"Aho Shrutgyanam"

वारि स्थल जङ्गल' इत्येतत्पूर्वपदात् पथिन्नन्तात् तेनेति तृतीयान्तादाहृते याति चार्थे इकणप्रत्ययो भवति । शङ्कुपथेनाहृतो याति वा शाङ्कुपथिकः । औत्तरपथिकः । कान्तारपथिकः । आजपथिकः । वारिपथिकः । स्थालपथिकः । जाङ्गलपथिकः ॥९०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-शङ्कु० । पथ इति संबध्यते तस्यैव विशेषणत्वेन शङ्कु-इत्यादेरिति । शङ्क्वादय आदौ यस्य तस्मात् पथ इत्युक्ते एतत्पूर्वपदात् पथिन्नन्तादित्यर्थो भवति । अर्थसन्निधौ चकारः पठितः पूर्वमुक्तमर्थं समुच्चिनोति । तत्र चार्थे द्वितीया स्वमर्थविभक्तिरुक्ताऽत्रोक्तार्थे च तृतीयेति यद्यपि भेदस्तथाऽपि कर्मण एव करणत्वविवक्षया तृतीयान्तेनापि यातीत्यस्य सामर्थ्यं भवतीति एकयैव विभक्त्योरुभयोरर्थयोर्विग्रहमाह-**शङ्कुपथेनाहृतो याति वे**ति । शङ्ववयवकारः पन्थाः शङ्कुपथः । उत्तरः पन्थाः उत्तरपथः एवं यथायोगं विग्रहः कार्यः ॥६।४।९०॥

स्थलादेर्मधुक-मरिचेऽण् ॥६।४।९१॥

त० प्र०—स्थलपूर्वपदात् पथिन्नन्तात् तृतीयान्तादाहृतेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, तच्चेदाहृतं मधुकं मरीचं वा भवति । स्थलपथेनाहृतं मधुकं मरिचं वा स्थालपथम् । मधुकमरिच इति किम् ? स्थालपथिकमन्यत् ॥९१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-स्थला० । *चानुकृष्टं नोत्तरत्र*इति न्यायेन यातीत्यर्थस्येहासंबन्धः । आहृतार्थे तु मधुक-मरिचयोः कर्मत्वेन संबन्धः, यातीत्यनेन तयोः कर्मत्वेन संबन्धोऽसंभवीत दर्थे कर्तुरेव वाच्यत्वात्, कर्तृत्वं च तयोरचेतनयोरसंभवीति, तदसंबन्ध एवोचितः। कैयटेन तु "मधुक-मरिचयोरण्स्थलात्" इति वार्तिक [५.१.७७.] व्याख्यावसरे आहृत एव च प्रत्ययमिच्छन्ति, मधुक-मरिचयोः मुख्यगमनासंभवात् । अन्ये तु-'गौणगमनाश्रयणेन यातीत्यर्थेऽपि प्रत्ययमाहुः' इत्युक्तम्। गौणगमनाश्रयणेनेत्यस्य रथो गच्छतीत्यादावन्याधिष्ठितस्य रथादेर्गौणगमनवदन्यैर्नीयमानयोर्मधुक-मरिचयोरपि गमनकर्तृत्वसंभवादित्यर्थः । **स्थालपथिकमन्यदिति** । अन्यस्मिन्नाहृतेऽर्थे इकणेवेत्यर्थः ॥६।४।९१॥

तुरायण-पारायणं यजमानाधीयाने ॥६।४।९२॥

त० प्र०—आभ्यां निर्देशादेव द्वितीयान्ताभ्यां यथासख्य यजमानेऽधीयाने चार्थे इकणप्रत्ययो भवति । तुरायणं नाम यज्ञस्तं यजते तौरायणिकः । पारायणमधीते पारायणिकः ।९२।

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तुरा० । अत्र निर्देशादेव समर्थविभक्तिर्द्वितीया प्राप्ता । तुरायणयज्ञं यजते, पारायणमधीते इति यथासंख्यमर्थयोः संबन्धः । अन्ये च वैयाकरणाः चान्द्रायणमप्यत्रैव सूत्रे पठन्ति । वर्तयतीत्यर्थे च प्रत्ययं विदधति । प्रकृत्यर्थशेषेण च, तुरायणं वर्तयन् यजमानः, ग्रन्थपाठरूपं पारायणं वर्तयन्, अधीयानः चान्द्रायणं वर्तयन् व्रती च प्रतीयते इत्यर्थभेदगौरवान्नाश्रयन्ति । स्वमते तु स्पष्टप्रतीतये त्रयोऽर्थाः प्रयोगत्रयस्य दर्शिता इत्यवधेयम् ॥६।४।९२॥

संशयं प्राप्ते ज्ञेये ॥६।४।९३॥

त० प्र०—संशयमिति द्वितीयान्तात् प्राप्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, स चेत् प्राप्तोऽर्थो ज्ञेयो भवति । संशयं प्राप्तः सांशयिकः । सांशयिकोऽयमूर्ध्वो न जाने स्थाणुरुत पुरुष इति सांशयिकश्चैत्रो न जाने जीवति उत मृत इति । ज्ञेय इति किम् ? संशयितरि मा भूत् । सोऽपि हि संशयं प्राप्तो भवति । तस्य तत्र भावात् ॥९३॥

श० म० न्यासानुन्धानम्—संश० । संशयमिति निर्देशादेवात्र द्वितीयास्मर्थविभक्तिः । प्राप्ते इति प्रत्ययान्तार्थस्वरूपम् । ज्ञेय इति च कर्मणः संशयविषयताबोधनार्थं प्रत्ययान्तार्थस्य संशयविषयत्वज्ञानार्थमिति यावत् । उदाहरति-**संशयं प्राप्तः सांशयिक** इति । प्राप्तपदस्य कर्तृप्रधानत्वमपि संभवतीति कर्मप्रधानत्वबोधनाय प्रयोगार्थवर्णनायोपक्रमते-**सांशयिकोऽयमूर्ध्वं** इत्यादिना । अयमूर्ध्वः ऊर्ध्वाधःक्रमेणोन्नतः पदार्थः सांशयिकः संशयविषयभूतः । कीदृशः संशय इत्याह-**न जाने स्थाणुरुत पुरुष** इति । किमयं स्थाणुः जडीभूतः निःशाखो वृक्षः उत अथवा पुरुषः पुमान् इति निश्चेतुमशक्यम् इत्यर्थः । न केवलमचेतनस्यैव संशयविषयत्वमपि तु चेतनस्यापीति बोधयितुमुदाहरणान्तरमाह-**सांशयिकश्चैत्र** इति अत्रापि कर्मप्रधानबोधमेवोपपादयति-**न जाने जीवति उत मृत** इति । तथा चैवं संशयिता चैत्रादन्य एवेति चैत्रस्य कर्मत्वमेव । 'संशयविषयताया ज्ञेये एव संभवाज् ज्ञेयः' इति पदमव्यावर्तकमिति मत्वा शङ्कते-**ज्ञेय इति किमिति** ।

"Aho Shrutgyanam"

उत्तरयति-**संशयितरि मा भूदिति**।

अयमाशयः - प्रापेर्गत्यर्थकतया ततः कर्त्तर्यपि क्तप्रत्ययस्य संभवात् संशयकर्तुः प्रत्ययार्थत्वव्युदासार्थं 'ज्ञेयः' इति पदमिति। तदेवोपपादयति—**सोऽपि हि संशयं प्राप्तो भवतीति**। कर्ताऽपि संशयेन संबध्यत इति भावः। कथं तस्य तेन संबन्ध इत्याह—**तस्य तत्र भावादिति**। तस्य संशयितुः तत्र संशये भावात् सत्त्वादित्यर्थः। संशये पतितोऽस्मीत्यादिव्यवहारेण संशयितुस्तत्र स्थितिः सिद्धेति भावः। कर्तृ-कर्मद्वारैव क्रियाधारस्याधिकरणत्वेन कर्तापि तेन संबद्धो भवत्येवेति यावत्। वस्तुतस्तु संशयादयः सविषयाः पदार्थाः, तेनैषां विषयाकाङ्क्षित्वं नियतमिति संशयसमभिव्याहारेण प्राप्तपदार्थौ कर्मणि क्तस्यैव प्राथम्येन बुद्ध्युपारोह इति 'विनाऽपि ज्ञेये' इतिपदं कर्मण्येव प्रत्ययः स्यात्, कर्तरि तु संशयकर्मिका प्राप्तिर्गौणीति तस्य बोधः पार्ष्णिक इति ज्ञेय इति स्पष्टार्थमेव। अत एवान्ये "संशयमापन्नः" [पा० सू० ५.१.७३.] इत्येवमेव सूत्रं विदधति, तेषामपि मते कर्मण्येव प्रत्यय इष्टः इति ज्ञेय इति पदं विनापि सिध्यति ॥६।४।९३॥

तस्मै योगादेः शक्ते ॥६।४।९४॥

त० प्र०—**योगादिभ्यस्तस्मै इति चतुर्थ्यन्तेभ्यः शक्तेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। योगाय शक्तः यौगिकः। सांतापिकः।**

योग सन्ताप सन्नाह संग्राम संयोग संपराय संघात संपाद संपादन संक्रम संपेष संवेश संमोदन निष्पेष निःसर्ग निर्घोष निसर्ग विसर्ग उपसर्ग प्रवास उपवास सक्तु मांस ओदन मांसौदन सक्तुमांसौदन इति योगादिः ॥९४॥

शं०म० न्यासानुसन्धानम्—तस्मै०। तस्मै इति पदं चतुर्थ्यन्तसमर्थनामोपस्थापकम्। तच्च योगादेरित्यस्य विशेषणमिति तथैव सूत्रार्थमाह— **योगादिभ्यः तस्मै इति चतुर्थ्यन्तेभ्य** इति। शक्तशब्दयोगे "शक्तार्थ-वषट्" [२.२.६८] इति सूत्रेण चतुर्थ्या अनुशासनात् सैवात्र समर्थविभक्तिरुचितेति भावः। योगोऽत्र चित्तवृत्तिनिरोधरूपः समाधिः। तत्रैव शक्तेः संदिग्धत्वात् तदाख्यानावश्यकत्वादेवं प्रयोगः। एवं सन्तापादयोऽपि शक्यपेक्षा एव विज्ञेयाः। शकेरकर्मकत्वात् कर्तरि क्ते कर्तुरेवात्र प्रत्ययार्थत्वम् ॥६।४।९४॥

योग-कर्मभ्यां योकञौ ॥३।४।९५॥

त० प्र०—**आभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यां शक्तेऽर्थे यथाक्रमं य उकञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। योगाय शक्तः योग्यः। कर्मणे शक्तं कामुकम्। एवं योगशब्दस्य द्वैरूप्यम् ॥९५॥**

शं० म० न्यासानुसन्धानम्—योग०। तस्मै इति संबध्यते। तथा चार्थमाह—**आभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यामिति**। योगशब्दस्य योगादिगणान्तर्गतत्वेन पूर्वसूत्रविहित इकणपि स्यादेवेति योगशब्दस्य शक्तार्थे रूपद्वयं भवतीत्याह—**एवं योगशब्दस्य द्वैरूप्यमिति** ॥६।४।९५॥

यज्ञानां दक्षिणायाम् ॥६।४।९६॥

त० प्र०—**यज्ञवाचिभ्यो निर्देशादेव षष्ठ्यन्तेभ्यो दक्षिणायामर्थे इकण् प्रत्ययो भवति। यज्ञकर्मकृतां चेतनादानं दक्षिणा। अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी। वाजपेयिकी। राजसूयिकी। नाक्षत्रयज्ञिकी। पाञ्चौदनिकी। पैकादशाहिकी। द्वादशाहिकी। द्वैवाजपेयिकी। बहुवचनं स्वरूपविधेर्व्युदासार्थम् ॥९६॥**

शं० म० न्यासानुसन्धानम्—यज्ञानां०। तस्मै इति न संबध्यते, दक्षिणाशब्देन, तदर्थेन वा सह चतुर्थ्यन्तस्यासामर्थ्यात्, ततश्च काऽत्र समर्थविभक्तिरित्याकाङ्क्षायामाह—**निर्देशादेव षष्ठ्यन्तेभ्य** इति। प्रत्ययविधौ पञ्चम्या निर्देशस्यौचित्ये षष्ठ्यन्तनिर्देशादेव षष्ठ्येवात्र समर्थविभक्तिरिति भावः। दक्षिणाशब्दस्याप्रसिद्धार्थतया तदर्थमाह—**यज्ञकर्मकृतां चेतनादानं दक्षिणेति**। इदं तात्पर्यार्थकथनम्। तथाहि-यज्ञप्रतिष्ठार्थं दक्षिणा दीयते। तथाहि 'दक्षिणादानसंकल्पे कृतस्य कर्मणः प्रतिष्ठार्थमेतद् द्रव्यादिरूपां दक्षिणां ददे' इत्येव वाक्यं प्रयुज्यते। एवं च दानपर्यन्तं न दक्षिणाशब्दार्थो भवितुमर्हति। व्यवहारतः ये यज्ञं कुर्वन्ति, तत्र च पद्धत्यादि वाचयन्ति सर्वेभ्यः पारिश्रमिकरूपेण यद् द्रव्यं दीयते सा दक्षिणा कथ्यते, सैव च यज्ञस्य प्रतिष्ठा, पूर्तिरिति यावत्। अदक्षिणस्य कर्मणो

"Aho Shrutgyanam"

निष्फलत्वश्रुतेः । श्रौतेषु ग्रन्थेषु च यज्ञस्य पत्नीत्वेन दक्षिणा व्यवहृताऽस्ति । तया विना यज्ञो विधुरः कथ्यते । एवं च व्यवहारतः यज्ञकर्मकृतां वेतनं दक्षिणेति कथ्यते ।

तथा चोदाहरति–अग्निष्टोमस्य दक्षिणेति । स्तुतिः स्तोमः, अग्नेः स्तोमः अग्निष्टोमो नाम यज्ञः । तस्य नियता दक्षिणा आग्निष्टोमिकी । वाजस्यान्नस्य पेयं पानयोग्यद्रव्यं यत्र स वाजपेयो नाम यज्ञः । राजा सोमः सूयते अभिषवद्वारा संपाद्यते यत्रासौ राजसूयः । नवाः प्रारम्भिका यज्ञा यत्र स नवयज्ञो नामैको यज्ञः । पञ्चौदनानि यत्रासौ पञ्चौदनः । एकादशानामह्नां समाहारः, एकादशभिरहोभिः संपाद्य इत्यर्थः । एवं द्वादशानामह्नां समाहारः द्वादशाहोभिः संपाद्यो द्वादशाहः । द्वयोर्वाजपेययोर्दक्षिणेत्यादिर्विग्रहः । यज्ञस्य दक्षिणायामित्येकवचननैव सिद्धे यज्ञानामिति बहुवचननिर्देशस्य फलमाह–**बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थमिति** । स्वरूपाद् यज्ञशब्दाद् विधिः स्वरूपविधिः तस्य निरासार्थ–निराकरणार्थमित्यर्थः । यज्ञस्य दक्षिणेत्येतावत्युक्ते हि यज्ञशब्दादेव षष्ठ्यन्तात् प्रत्ययस्य विधिरित्यर्थो लभ्येत, न तु यज्ञानां यज्ञवाचकशब्दानामन्येषां ग्रहणं स्यात्, इत्यग्निष्टोमादिभ्यो यज्ञविशेषवाचकशब्देभ्यः प्रत्ययो न स्यादित्येतेभ्य एव प्रत्ययो भवतु, न तु यज्ञशब्दादित्यर्थं बहुवचनमिति भावः ॥६।४।९६॥

तेषु देये ॥६।४।९७॥

त० प्र०—यज्ञवाचिभ्यस्तेष्विति निर्देशादेव सप्तम्यन्तेभ्यो देयेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अग्नष्टोमे देयम् आग्निष्टोमिकम् । वाजपेयिकं भक्तम् ॥ ९७ ॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–तेषु० । तत्पदस्य प्रक्रान्तपरामर्शकत्वेन यज्ञेष्वित्यर्थकत्वम् । निर्देशादेव सप्तमीसमर्थविभक्तिः । देयं देवोद्देश्येन प्रक्षेप्यं भक्तादि । स एव प्रत्ययार्थः ॥६।४।९७॥

काले कार्ये च भववत् ॥६।४।९८॥

कालवाचिनो निर्देशादेव सप्तम्यन्ताद् देये कार्ये चार्थे भववत् प्रत्यया भवन्ति । यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषेण ये प्रत्यया भवेऽर्थे भवन्ति ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषेण कार्ये देये चार्थे ते प्रत्यया भवन्ति । वद्धि सर्वसादृश्यार्थः । यथा वर्षासु भव्यं वार्षिकम्, मासिकम्, शारदिकम् श्राद्धं कर्म शारदिकः शारदो वा रोग आतपो वा नैशम्, नैशिकम्, प्रादोषिकम्, शौवस्तिकम्, चिरत्नम्, परुत्नम्, पुराणम्, पूर्वाह्णेतनम्, सायंतनम्, चिरन्तनम्, पौषम्, शैशिरम्, सान्ध्यम्, सांवत्सरम् फलं पर्व वा हैमन्तम्, हैमनम्, प्रावृषेण्यमिति भवति । एवं वर्षासु देयं कार्यं वा वार्षिकम्, मासिकमित्यादि भवति । प्रत्ययस्य भावोऽतिदिश्यते नाभाव इति द्विगोः परस्य लुप् न भवति । द्वयोर्मासयोर्देयं कार्यं वा द्वैमासिकम् । त्रैमासिकम् ॥९८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–काले० । काले इति प्रकृतिनिर्देशः, समर्थविभक्त्युपस्थापनाय सप्तम्यन्ततया निर्देशः, प्रकृतेः पञ्चम्या औचित्यात् । तथा च वृत्तौ पञ्चम्यन्ततया विपरिणमयति–**कालवाचिन** इति । कार्ये इत्यर्थनिर्देशः, तत्समीपोच्चारितश्चकारः पूर्वसूत्रोक्तमर्थं समुच्चिनोति । भववदित्यस्यार्थं स्पष्टतो ग्राहयति–**यकाभ्य** इत्यादिना । याभ्यः काभ्यः प्रकृतिभ्यः येन केनचिद्विशेषणेनार्थादिरूपेण ये केचित् प्रत्यया भवेऽर्थे पूर्वमुक्तास्त एवैतयोरप्यर्थयोः सप्तम्यन्तात् कालवाचिनो भवन्तीत्यर्थः । कथमेकेन वता एतावानर्थो लभ्यत इत्याह–**वद्धि सर्वसादृश्यार्थ** इति । अयमाशयः–'काले कार्ये च भवार्थः' इत्येवं न्यासेऽपि भवार्थविहितप्रत्ययानां विधेः सिद्धौ वत्प्रत्ययान्तनिर्देशेन सर्वथा भवार्थेन प्रत्ययेन सादृश्यमभिमतमाचार्यस्येति लभ्यते, सर्वथा सादृश्यं चोक्तप्रकारेणैवेति । केचित् तु भवार्थेनैव कार्यार्थस्यापि लाभः, कार्यमपि हि काले भवत्येवेति कार्येऽर्थे विशिष्य प्रत्ययविधानं नावश्यकमित्याहुः, तदनतिरमणीयम्, यतः कार्यं हि कर्तुमर्हं, तच्चेत् कृतं तदैव भवार्थेन गतार्थमन्यथा कार्यावस्थापन्नमेवेति तदर्थे विशिष्य प्रत्ययविधानमावश्यकम् । सर्वथा सादृश्यमेव दर्शयति–**यथेत्यादिना** । **प्रावृषेण्यमितीत्यन्तेन** । प्रकृते निगमयति–**एवं वर्षासु देयं कार्यं** इत्यादिना ।

ननु वद्ग्रहणस्य सर्वसादृश्यार्थत्वमुक्तम्, तथा च भवार्थे द्विगोर्विहितस्य प्रत्ययस्य प्राग्जितीयस्य लुप् "द्विगोरनपत्ये०" [६.१.२४.] इति सूत्रेण विहित इति कार्यार्थे विहितस्यापि प्रत्ययस्य लुप् स्यादिति चेदत्राह–**प्रत्ययस्य भावोऽतिदिश्यते नाभाव इतीति** । अयमाशयः–

"Aho Shrutgyanam"

प्रत्ययविधायकमिदं सूत्रम्, विशेषतो भवार्थे कालवाचकाद् विहितस्य प्रत्ययस्य विधिमतिदिशति, प्रत्ययस्य लुक् तु न कालवाचकाद् भवार्थे विशिष्य विधीयते इति तस्य वत्करणेनातिदेष्टुमशक्यत्वेन न स भवतीति । "संख्या-देश्चार्हदलुचः" [६.४.८०.] इत्युक्तत्वादाह–द्वयोर्भवः-योरित्यादि । संख्यादेस्तदन्तात् कालवाच्यन्तादपि प्रत्ययो भवतीति ॥६।४।९८॥

व्युष्टादिष्वण् ॥६।४।९९॥

त० प्र०—व्युष्टादिभ्यो निर्देशादेव सप्तम्यन्तेभ्यो देये कार्ये चार्थेऽण् प्रत्ययो भवति । व्युष्टे देयं कार्यं वा वैयुष्टम् । नैत्यम् । व्युष्ट-साहचर्यान्नित्यशब्दः कालवाची गृह्यते ततः सप्तम्यपवादेन 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' [२.२.४२.] इत्यनेन द्वितीयाविधानात् नित्यं देयं कार्यं वेति द्वितीयान्तादेव प्रत्ययः । अन्ये तु सप्तम्यन्तादपीच्छन्ति । नित्ये विष्णुवति षड्भिरराचरैर्मुहूर्तैरनाक्रम्यमाणे देयं कार्यं वा नैत्यम् । व्युष्ट नित्य निष्क्रमण प्रवेशन तीर्थ संग्राम संघात अग्निपद पीलुमूल प्रवास उपवास इति व्युष्टादिः । बहुवचनादाकृतिगणो ऽयम् ॥९९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–व्युष्टा० । सप्तम्या निर्देशः समर्थविभक्त्युपस्थापक इति सप्तम्यन्तानां व्युष्टादीनां प्रकृतित्वमित्याह–व्युष्टादिभ्यो निर्देशादेवेत्यादि । व्युष्टं प्रभातकालः तत्र देयं कार्यं वेत्यर्थेऽण् आदिस्वरवृद्ध्यपवादे ऐति वैयुष्टमिति । इह गणे नित्यशब्दोऽपि पठ्यते स चानेकार्थ इति किमर्थकस्येह ग्रहणमिति निर्णयति–व्युष्टसाहचर्यादित्यादि । व्युष्टशब्दः प्रभातवाचीति कालवाचकत्वं तस्येति तत्सहचरितो नित्यशब्दोऽपि तादृशः कालवाच्येव ग्राह्यो न त्वाकाशादिवाचीत्यर्थः । ततः किमित्याह–ततः सप्तम्यपवादेनेति । व्याप्तौ सत्यां कालवाचकात् सप्तमी न भवति, किन्तु "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" [२.२.४२.] इति द्वितीयैवेति, सप्तम्यन्तात् प्रत्ययविधानेऽपि नित्यशब्दात् सप्तम्या असम्भवात् तस्माद् द्वितीयान्तादेव प्रत्ययो गणे पाठसामर्थ्यादिति भावः ।

अत्र मतान्तरमर्पयन्नाह–अन्ये त्विति । तेषामयमाशयः–व्युष्टशब्दस्य न केवलं कालवाचकत्वमपि तु कालातीतद्रव्यादिवाचकत्वमपि तत्र कालातीतद्रव्यादेर्दानाधिकरणतायां असंभावितत्वेन कालवाचकस्यैव तस्येह ग्रहणमिति न तस्माच्चरेण नित्यशब्दस्येह कालार्थत्वमाश्रयितुं शक्यते, अन्यार्थकस्याप्यस्य दानाधिकरणतायोग्यत्वात्, ततश्च कालमात्रवाचकत्वाभावान्न सप्तम्या अभाव इति सप्तम्यन्तादपि नित्यशब्दात् प्रत्ययो भविष्यति, न निर्दिष्टसमर्थविभक्तिबाधकस्यावश्यकतेत्यपरमनुकूलम् । उदाहरणं तन्मतानुकूलमाह–नित्ये विष्णुवति० इत्यादि । "समरात्रिंदिवे काले विषुवद्विषुवं च तत् ।" इत्यमरकोशेन समरात्रिंदिवः तुला-मेषसंक्रान्तेः संनिहितः कालो विषुवदित्युच्यते । सांप्रतिकगणनायाः पूर्वमकरन्दगणनातो भेदेन तुला-मेषसंक्रान्तिदिवस एव न समरात्रिंदिवः समयो भवति, किन्तु कियद्भिरंशैर्न्यूनाधिकः समय एवेति ज्योतिर्विदां समयः । तस्य नित्यत्वहेतुमाह–षड्भिरराचरैर्मुहूर्तैरनाक्रम्यमाण इति । तथा च चराचरैर्मुहूर्तैरनाक्रम्यमाणत्वेनैकरूप्यादेव तस्य नित्यत्वमित्यर्थः । तथा चात्र नित्ये विष्णुवति दानादेर्व्यापकत्वस्याविवक्षितत्वात् द्वितीयाया अप्राप्तौ सप्तम्यपि समर्थविभक्तिः सम्भवतीति भावः । एतच्च पाणिनीयानामप्यनुमतम् । गणपाठमुपदिशति–व्युष्ट-नित्य-निष्क्रमणेत्यादिना । गणे पठिता एव न व्युष्टादयोऽपि त्वधिका अपीति बोधयितुमाह–बहुवचनादाकृतिगणोऽयमिति । व्युष्टादिष्विति बहुवचननिर्देशात् पठितातिरिक्ता अप्येतदाकृतयः शब्दा अत्र गणे परिगणनीया इति ज्ञायत इत्यर्थः ॥६।४।९९॥

यथाकथाचाणः ॥६।४।१००॥

त० प्र०—'यथाकथाच'शब्दोऽव्ययसमुदायोऽनादरेणेत्यर्थे वर्तते, तस्माद् देये कार्ये चार्थे णः प्रत्ययो भवति । यथाकथाच दीयते याथाकथाचम् । याथाकथाचा दक्षिणा ॥१००॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—यथा० । 'यथाकथाच' शब्दस्यापरिचितार्थत्वादाह – 'यथाकथाच' शब्दोऽव्ययसमुदाय इति । यः प्रकारो येन वा प्रकारेणेत्यर्थे यथाशब्दः, "प्रकारे था" [७.२.१०२.] इति था प्रत्ययान्तोऽव्ययम् । एवम् 'अवाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' इत्याश्रये किमूशब्दादपि प्रकारे थाप्रत्यये 'कथा' इति अव्ययमेव, चकारश्च समुच्चयार्थकोऽव्ययमित्येतेषामव्ययानां समुदायोऽयमव्यवस्थितप्रकारपरत्वादनादरेणेत्यर्थे पर्यवस्यति । तस्मादुक्तेऽर्थे णे–याथाकथाचमिति सामान्ये नपुंसकम्–दक्षिणायामनादरेण दीयमानायां स्त्रीत्वमिति

"Aho Shrutgyanam"

यथाकथाचा दक्षिणेति ॥६।४।१००॥

तेन हस्ताद् यः ॥६।४।१०१॥

त० प्र०—तेनेति तृतीयान्ताद्धस्तशब्दाद् देये कार्ये चार्थे यः प्रत्ययो भवति । हस्तेन देयं कार्यं वा हस्त्यम् ॥१०१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–तेन० । सप्तमी समर्थविभक्तिः प्रकृता न च सेह हस्तशब्दस्य सामर्थ्यमाख्यातुमुपयुक्ता, तस्य (हस्तस्य) कार्याधिकरणताया दानाधिकरणताया वा असम्भवादिति तेनेति तृतीया समर्थविभक्तिरुपदिष्टा, हस्तस्य कार्ये दाने च करणताया उपयुक्तत्वात् । तथा च विग्रहमाह–हस्तेन देयमित्यादि॥ ६।४।१०१॥

शोभमाने ॥६।४।१०२॥

त० प्र०—तेनेति तृतीयान्ताच्छोभमानेऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । कर्णवेष्टकाभ्यां शोभते कार्णवेष्टकिकं मुखम् । एवं वाह्ययुगिकं शरीरम् । औपानहिकौ पादौ । असमर्थनञ्समासोऽप्यस्मिन् विषये भवति । कर्णवेष्टकाभ्यां न शोभते अकार्णवेष्टकिकम् । अवाह्ययुगिकम् ॥१०२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शोभ० । शुभेः कर्तरि शानः । तेनेति समर्थविभक्तिसमर्पकं पदं वर्तते । कर्णवेष्टकाभ्यामिति । कर्णौ वेष्टेते इति कर्णवेष्टौ "कर्मणोऽण्" [५.१.८२.] इत्यणि कर्णवेष्टशब्दं व्युत्पाद्य ततः स्वार्थे के कर्णवेष्कौ भूषणविशेषौ । अथवा वेष्टेः कर्तरि णके वेष्कौ कर्णयोर्वेष्कौ कर्णालंकारविशेषौ ताभ्यां शोभते इति विग्रहः । प्रकृतं विग्रहमन्यत्राप्यतिदिशति–एवं वाह्ययुगिकं शरीरमिति । वह्ययुगेन शोभते इति विग्रहः । उपानद्भ्यां शोभेते औपानहिकौ पादौ । अकार्णवेष्टकिकमित्यादिप्रयोगस्याभिधानमाश्रित्य तत्सिद्धये आह–असमर्थनञ्समासोऽप्यस्मिन् विषये भवतीति । असमर्थेन सह समासः "समर्थः पदविधिः" [७.४.१२२.] इति परिभाषासूत्रविरुद्धः, यद्यपि तथापि विशिष्टप्रयोगे क्वचन लक्ष्यानुरोधादसमर्थसमासोऽपि भक्तोत्याश्रीयते, यथा असूर्यंपश्या राजदारा इत्यादौ । तथेहापि कर्णवेष्टकाभ्यां न शोभते इति विग्रहे नञः क्रियया सह संबन्धेन कर्णवेष्टकाभ्यां सह सामर्थ्याभावेऽपि समासः प्रत्ययश्च भवतीति भावः । यद्यपि "असूर्योग्राद् दृशः" [५.१.१२६.] इत्येवमादिसूत्रनिर्देशसामर्थ्यादसूर्यंपश्या राजदारा इत्यादौ तथा स्वीकारावश्यकत्वेऽपि अकार्णवेष्टकिकमित्यादौ तथास्वीकारस्य नावश्यकत्वम्, किन्त्वेतादृशस्थले कार्णवेष्टकिकस्यैव नञा समासे प्रकृतार्थबोधः कर्तुं शक्यते, तथाप्याचार्यप्रामाण्यादीदृशविग्रहेऽपि समासादिरित्याश्रयणीयमिति ॥६।४।१०२॥

कर्मवेषाद् यः ॥३।८।१०३॥

त० प्र०—कर्मन् वेष इत्येताभ्यां तृतीयान्ताभ्यां शोभमानेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति । कर्मणा शोभते कर्मण्यं शौर्यम् । वेषेण शोभते वेष्यो नटः । पूर्ववन्नञ्समासो भवति । अकर्मण्यः । अवेष्यः । केचिद् वेषस्थाने वेशं पठन्ति । वेश्या नर्तकी ॥१०३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–कर्म० । तेनेति शोभमाने इति च संबध्यते । तत्सूत्रार्थमाह–कर्मन् वेष इत्येताभ्यां तृतीयान्ताभ्यामित्यादि । कर्म चरितम्, वेषो नेपथ्यम् । अत्राप्यसमर्थसमासोऽप्यभिधानादाश्रीयत इत्याह–पूर्ववन्नञ्समास इति । कर्मणा न शोभते इत्येवंरूपे विग्रहे इति भावः । पाठान्तरमाह–केचिद् वेषस्थाने वेशमिति । "वेश्याश्रयः पुरं वेशः" इत्यभिधानचिन्तामण्युक्तेः वेश्यानामाश्रयस्थानं वेशः, तेन शोभते वेश्या रूपजीवा नर्तकी ॥६।४।१०३॥

कालात् परिजय्य-लभ्य-कार्य-सुकरे ॥६।४।१०४॥

त० प्र०—कालविशेषवाचिनः शब्दात् तेनेति तृतीयान्तात् परिजय्ये लभ्ये कार्ये सुकरे चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । परितो जेतुं शक्यं परिजय्यम् । शक्ते कृत्यः । लभ्यकार्ययोः शक्तेऽर्हे वा । अकृच्छ्रेण क्रियते यत् तत् सुकरम् । मासेन परिजय्यो मासिको व्याधिः । आर्धमासिकः । सांवत्सरिकः । मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्यं मासिकं चान्द्रायणम् । मासेन सुकरः मासिकः प्रासादः । कालादिति किम्? चैत्रेण परिजय्यम् ॥१०४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—कालात्० । तेनेति संबध्यते । कालपदं कालवाचकशब्दसामान्यपरम्, तथा

"Aho Shrutgyanam"

च सूत्रार्थमाह—**कालविशेषवाचिन** इत्यादि । अर्थसमर्थकपदानां प्रत्येकं विविक्तमर्थं बोधयति—**परितो जेतुं शक्यमि**त्यादिना । यद्यपि कृत्प्रत्ययान्तस्य साधारण्येन कर्मभावार्थत्वं प्रसिद्धं तथापीह विशिष्टेऽर्थे "**शक्य-अय्यौ शक्तौ**" [४.३.९०.] इति सूत्रेण नियमनादाह—**शक्तेकृत्य** इति । **अर्हे** हि परिजेयमित्येव भवति । **लभ्यकार्यशब्दाभ्यां** कृत्यप्रत्ययान्तौ तत्र च न शक्तार्थनियमोऽपितु यथालक्ष्यं व्यवस्येत्याह—**लभ्यकार्ययोः शक्तेऽर्हे वेति** । लब्धुं शक्यमर्हं वा लभ्यम्, कर्तुं शक्यमर्हं वा कार्यमिति लक्ष्यानुसारमर्थो ज्ञेय इति भावः । यद्यपि कर्मणि प्रत्यये तस्य शक्यत्वं गम्यते, न तु शक्तत्वं, तस्य कर्तृधर्मत्वात् तथाऽपि कर्मणः शक्यत्वे तत्कर्तुः शक्तत्वमर्थतो गम्यत इत्याशयेन, शक्ते इत्यर्थनिर्देशः । एवं कर्मणोऽर्हत्वं तु गम्यत एव कृत्यप्रत्ययेन । तथापि परम्परया कर्तुरर्हत्वं भासत एव । कर्मणस्तदर्हत्वे तस्यापि (कर्तुरपि) तदर्हत्वस्यार्थादेव लाभात् । अत एव "**शक्तार्हे कृत्याश्च**" [५.४.३५.] इति सूत्रे कर्तरि गम्य इत्येवोक्तम्, न तु वाच्ये इति । सुकरशब्दस्य "**दुःस्वीषतः कृच्छ्रा०**" [५.३.१३९.] इति खलन्तत्वेन तदर्थमाह—**अकृच्छ्रेण यत् क्रियत** इति । नास्यार्थस्य कर्तुं शक्यमर्हं वेत्यर्थकेन कार्यशब्देन लाभ इत्यस्य पृथग्ग्रहणमावश्यकमिति भावः । उदाहरति—**मासेन परिजय्य** इत्यादिना । मासमात्रेण कालेन चिकित्स्य इत्यर्थः । कालवाचकादन्यतो प्रत्ययो नेष्ट इत्यर्थ कालादित्यावश्यकमिति पदकृत्यप्रश्नेन सूचयति—**कालादिति किमि**त्यादिना ॥६।४।१०४॥

निर्वृत्ते ॥६।४।१०५॥

त० प्र०—**तेनेति कालादिति च वर्तते । कालवाचिनस्तृतीयान्तान्निर्वृत्तऽर्थे इकण् प्रत्ययो भवति । अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम् । मासिकम् । आर्धमासिकम् । सांवत्सरिकम् । योगविभाग उत्तरत्रास्यानुवृत्त्यर्थः** ॥१०५॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—**निर्वृत्ते** । सूत्रार्थं वर्णयितुं पदानुवृत्तिमाह—**तेनेति कालादिति च वर्तते** इति । पदद्वयमेतत् पूर्वतः संबध्यत इत्यर्थः । तथा च सूत्रार्थमाह—**कालवाचिनस्तृतीयान्तादित्यादिना** । निःशेषेण वृत्तं संपन्नं निर्वृत्तम् । तत्र च तृतीयान्तं कालवाचिहेतुभूतमेव न करणं, तस्य निर्व्यापारत्वात्, व्यापारवदसाधारणं करणं हि करणम् । अह्ना-त्रिंशद्घट्यात्मकेन सूर्यदर्शनयुक्तेन कालविशेषेण निर्वृत्तं संपन्नं कार्यम् **आह्निकम्** । एवं **मासिकमि**त्यादि । पूर्वसूत्र एवास्यार्थस्यापि पाठेन लाघवे सिद्धे पृथग्योगारम्भगौरववैयर्थ्यमाशङ्क्याह—**योगविभाग उत्तरत्रानुवृत्त्यर्थ** इति । उत्तरसूत्रेष्वेकस्यास्यैवार्थस्य संबन्धार्थः पृथग्योग इत्यर्थः । अन्यथा *एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः* इति न्यायेनैकस्यास्य पृथगनुवृत्तिर्न स्यादित्याशयः ॥६।४।१०५॥

तं भाविभूते ॥६।४।१०६॥

त० प्र०—**कालादिति वर्तते । तमिति द्वितीयान्तात् कालवाचिनो भाविनि भूते चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । स्वसत्तया व्याप्स्यमानकालो भावी । व्याप्तकालो भूतः । मासं भावी मासिक उत्सवः । मासं भूतो मासिको व्याधिः** ॥१०६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**तं भावि०** । अत्रापि कालवाचिन एव प्रत्ययस्येष्टत्वमित्याह—**कालादिति संबध्यते इति** । तमिति च द्वितीयान्तोपस्थापकम् । द्वितीयया च काले व्याप्तिर्विशायते । व्याप्तिविवक्षायामेव कालवाचिनो द्वितीयाविधानात् । तथा च तदनुकूलमेव भावि-भूतपदार्थमाह—**स्वसत्तये**त्यादिना । स्वस्य आत्मनः सत्तया स्थित्या **व्याप्स्यमानः** भविष्यद्व्याप्तिविषयीकृतः **कालो** येन पदार्थेनोत्सवादिना स **भावी**ति कथ्यते इत्यर्थः । एवं स्वसत्तयाऽतीतव्याप्तिविषयीकृतः कालो येन पदार्थेन स भूत इत्यर्थः । **मासं भावी**ति । त्रिंशद्दिनात्मकः कालविशेषो मासः, तमभिव्याप्य वर्तिष्यमाण उत्सवः, अतीतो वा मासिकः उत्सवो भविष्यत्यभूद् वा । विना तादृशक्रियान्तरप्रयोगेण विशिष्यभावित्व-भूतत्वयोरनवगमात् । अत्र कालपदेन कालवाचितया प्रसिद्धस्यैव ग्रहणान्न तु कालविशेषणत्वेन कालवृत्तेः, तस्य कालवाचित्वाभावादिति कालविशेषणात् प्रत्ययापादनं तत्समाधानायानभिधानाश्रयणादिकं चाप्राप्तचिन्तनमेव केषाञ्चिदित्यवधेयम् ॥६।४।१०६॥

तस्मै भृताधीष्टे च ॥६।४।१०७॥

त० प्र०—**कालादितिवर्तते । तस्मै इति तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तात् कालवाचिनो भृतेऽधीष्टे चार्थे इकण् प्रत्ययो भवति । भृतो वेतनेन क्रीतः ।**

"Aho Shrutgyanam"

अधीष्टः सत्कृत्य व्यापारितः। मासाय भृतः मासिकः कर्मकरः। मासं कर्मणे भृत इत्यर्थः। मासायाधीष्टो मासिक उपाध्यायः। मासमध्यापनायाधीष्ट इत्यर्थः। एवं वार्षिकः। सांवत्सरिकः। चकारस्तेन निर्वृत्ते तं भाविभूते तस्मै भृताधीष्टे चेति सूत्रत्रयस्याप्युत्तरत्रानुवृत्त्यर्थः ॥१०७॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—तस्मै। कालादिति वर्तत इति। कालवाचिन एवानेनापि सूत्रेण प्रत्ययो विधीयत इत्यर्थः। यद्यपि पूर्वमेवास्याप्यर्थस्य पाठः कार्यः, समर्थविभक्तिश्चैकत्र द्वितीयाऽऽश्रयणीया, भृताधीष्ट्योरपि मासार्थत्वान्मासव्याप्यकत्वं सूपपादं, क्रियते चान्यैरेकत्रैव योगेऽधीष्टभृतभाविनामर्थानां निर्देशः समर्थयन्ति च तेऽधीष्टभृतयोरपि पूर्वोक्तरीत्योपचारेण मासादिकालव्याप्तिं तथापि स्पष्टप्रतिपत्तये उपचाराश्रयणदोषवारणाय च पृथगेव योगारम्भः कृत इत्यवधेयम्। **तस्मै इति** पदेन चतुर्थीसमर्थविभक्तिरुपस्थाप्यते। भृताधीष्ट्योः शब्दयोः पारिभाषिकमर्थमाह—**भृतो वेतनेन क्रीत** इति। वेतनेन पारिश्रमिकरूपतया नियतेन द्रव्यादिनाऽवक्रयेण क्रीतः कस्मैचन नियताय कालाय कर्म कर्तुं स्वीकृत इत्यर्थः। **अधीष्टः सत्कृत्य व्यापारित** इति। सत्कृत्य आदरसूचकवाक्यादिभिरुचितोपकरणसमर्पणादिभिश्च संभूय कस्मैचन नियताय कालायाभीष्टे कार्ये नियुक्त इत्यर्थः। एवं च भरणकर्मणि, अध्येषणकर्मणि च प्रत्ययविधिः। मासाय भृत इत्यस्यार्थमाह—**मासं कर्मणे भृत इत्यर्थ** इति। मासं व्याप्य कर्म कर्तुं वेतनेन स्वीकृत इत्यर्थः।

ननु सूत्रे चकारः किमर्थः, न च पूर्वसूत्रोक्तार्थानुकर्षणार्थ इति वाच्यम्, तत्र द्वितीयायाः समर्थविभक्तित्वादिह चतुर्थ्याः ताभ्यां भावि-भूताभ्यामर्थाभ्यां सामर्थ्ययोगात् इत्याशङ्कायां सूत्रत्रयस्य समुच्चयार्थत्वं चकारस्याह **चकारस्तेन निर्वृत्ते** इत्यादि। चकारेण पूर्वसूत्रद्वयमिह समुच्चीयते, समुच्चितेन च सूत्रद्वयेन सहैतत्सूत्रमुत्तरत्र संबध्यते इत्येतदर्थं चकार इति भावः। न च* चानुकृष्टं नोत्तरत्र* इति न्यायेन चानुकृष्टयोस्तयोः सूत्रयोरुत्तरत्रानुवृत्तिः कथं स्यादिति वाच्यम्, तस्य न्यायस्यानुकर्षणार्थचकारमात्रविषयत्वादस्य च चकारस्य समुच्चयार्थत्वात्। समुच्चयस्थले च नायं न्यायः प्रवर्तते इति न्यायार्थमङ्गीकृत्यायां स्पष्टमुक्तेः ॥६।४।१०७॥

षण्मासाद्वयसि ण्येकौ ॥६।४।१०८॥

त० प्र०—षण्मासशब्दात् कालवाचिनस्तेन निर्वृत्ते तं भाविभूते तस्मै भृताधीष्टे चेत्यस्मिन् विषयेऽवयसि गम्यमाने ण्य इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। षड्भिर्मासैर्निर्वृत्तः षण्मासान् भावी भूतो वा षण्मासेभ्यो भृतोऽधीष्टो वा षाण्मास्यः। षाण्मासिकः। अवयसीति किम्? षण्मासान् भूतः षण्मास्यः। 'षण्मासाद्ययणिकण्' [६.४.११५.] इति यः ॥१०८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—षण्मासा०। षण्णां मासानां समाहारः षण्मासम्। कालवाचकसमूहवाचकत्वाप्यस्य कालवाचकत्वमक्षतमेवेति न दोषः। पदकृत्यमाह—**अवयसीति किमिति** शङ्कोत्थापनद्वारा। वयसि वाच्ये प्रत्ययान्तरमे वविधास्यते इत्याह—**षण्मासाद्ययणिकणिति**। तथा च विषयविभागार्थमवयसीति कार्यमेवेत्यर्थः ॥६।४।१०८॥

समाया ईनः ॥६।४।१०९॥

त० प्र०—समाशब्दात् तेन निर्वृत्त इत्यादि पञ्चकविषय ईनः प्रत्ययो भवति। समया निर्वृत्तः समो भूतो भावी वा समायै भृतोऽधीष्टो वा समीनः ॥१०९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—समा०। समा शब्दो वर्षपर्यायः कालवाची, तस्माद् यथायथं तृतीयान्ताद् द्वितीयान्ताच्चतुर्थ्यन्ताच्च निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु ईनो विधीयते इति स्पष्टम् ॥६।४।१०९॥

रात्र्यहःसंवत्सराच्च द्विगोर्वा ॥६।४।११०॥

त० प्र०—'रात्रि अहन् संवत्सर' इत्येतदन्तात् समाशब्दान्ताच्च द्विगोस्तेन निर्वृत्त इत्यादिपञ्चकविषये ईनः प्रत्ययो वा भवति। द्वाभ्यां निर्वृत्तोः द्वे रात्री भूतो भावी वा द्वाभ्यां रात्रिभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्विरात्रीणः। एवं द्व्यहीनः। द्विसंवत्सरीणः। द्विसमीनः। पक्षे इकण्, द्वैरात्रिकः। द्वैयह्निकः। द्व्यहिक इति तु द्व्यहशब्दात् समाहार-द्विगोरिकणि भवति। द्विसांवत्सरिकः। 'मानसंवत्सरस्य' [७.४.१९.] इत्यादिनोत्तरपदवृद्धिः। द्वैसमिकः। रात्र्यन्ताद्यहरन्ताच्च परमपि समासान्तं बाधि-

"Aho Shrutgyanam"

त्वा अनवकाशत्वादीन एव भवति। तथा च समासान्तसंनियोगे उच्यमानः 'सर्वांशसंख्याव्ययात्' [७.३.११८.] इत्यह्नादेशो न भवति। समासात् पूर्वेण नित्ये प्राप्ते शेषेभ्योऽप्राप्ते विकल्पः ॥११०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—राज्यहः० । राज्यादीनां केवलानां द्विगुत्वमसंभवि, संख्यापूर्वस्य तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्य समासस्य द्विगुत्वादिति राज्याद्यन्तत्वं द्विगोरस्य स्वभावतो लब्धमिति न तदन्तविधिप्रतिषेधः शङ्कयः। किञ्च, "संख्यादेश्चाहर्दलुचः" [६.४.८०.] इत्यत्र प्रकरणे संख्यादेस्तदन्तात् प्रत्ययविधिसाधकम्। चकारेण च पूर्वसूत्रोक्तः समाशब्दोऽप्यनुकृष्यते, तथा च सूत्रार्थमाह—**रात्रि-अहन्-संवत्सर इत्येतदन्तादित्यादिना**। **उदाहरति—द्राभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्त** इत्यादिना। **तद्धितार्थे** समासे सति, द्विरात्रिशब्दादीनः। द्राभ्यामहोभ्यां निर्वृत्तः **द्रयहहीनः**, द्राभ्यां संवत्सराभ्यां समाभ्यामित्यादि विग्रहः। ईनस्य वैकल्पिकत्वेन पक्षे प्रकरणप्राप्त इकणित्याह—**पक्षे इकणिति**। इकणि विवक्षिते तु तं बाधित्वा परत्वाद् राज्यन्तात् "संख्यातैक०" [७.३.११९.] इत्यत्समासान्तः, "अवर्णेवर्णस्य" [७.४.६८.] इतीकारलोपे सतीकण्, **द्वैरात्रिक** इति, अहरन्तात् "सर्वांशसंख्याव्ययात्" [७.३.११८.] इत्यटि अहनोऽह्नादेशे च सतीकणिति द्वैयह्निक इति। **द्वैयहिक** इत्यपि रूपं दृश्यते तत् कथमित्याशङ्कायामाह—**द्वयहिक इति द्रयहशब्दात् समाहार-द्विगोरिति**। तत्र हि "द्विगोरनह्नोऽट्" [७.३.९९.] इत्यट् केवलं भवति, नाह्नादेश इति द्वयह इत्येव रूपं भवति, न तु द्वयह्नः इति भावः।

द्राभ्यां संवत्सराभ्यां निर्वृत्त इत्यर्थे चेनाभावपक्षे इकणि, "मान-संवत्सर०" [७.४.१९.] इत्युत्तरपदादिस्वरवृद्धिरादिस्वरवृद्धिं बाधते इति **द्विसांवत्सरिक इत्येव** रूपम्। द्वैसमिकः इतीनाभावे समान्तस्य रूपम् द्विरात्रीणां द्रयहीन इत्यनयोः समासान्तप्रत्ययस्याप्रवृत्तिमुपपादयति— **राज्यन्तादहरन्ताच्चेत्यादिना**।

समासान्तानां सप्तमाध्यायतृतीयपादे वक्ष्यमाणत्वाद् यद्यपि परत्वं तथापि समासान्तेऽह्नादेशे च सति राज्यन्तत्वमहरन्तत्वं च न स्यादितीनस्य प्रवृत्तिरेव न स्यादित्यनवकाशत्वेन परापेक्षया बलवत्त्वमितीन एव भवति, न तु समासान्त इति भावः। यदि च सत्यपि समासान्ते इवर्णलोपेऽह्नादेशे च *एकदेशविकृतमनन्यवत्* इति न्यायमाश्रित्य ईनः प्रवर्तयितुं शक्यते इत्युच्यते तदा समासान्तविधेरनित्यत्वादेव न स इति मन्तव्यम्। न च समासान्तविधेरनित्यत्वकल्पनापेक्षया, ईनस्यानवकाशत्वमेवैकदेशविकृतन्यायचलत्वाश्रयणेन कुतो नाश्रीयते इति वाच्यम्, चलत्वस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वेनात्र च प्रत्ययप्रवृत्तेरेवेष्टत्वेन तदभावाय चलत्वाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। तदपेक्षया च समासान्तविधेरेवानित्यत्वाश्रयणस्य युक्तत्वात्। *एकदेशविकृतमनन्यवत्* इत्यस्य लोकतोऽपि सिद्धत्वेन तस्यानित्यत्वे लक्ष्यानुरोधं विहाय प्रबलतरप्रमाणाभावात्। लक्ष्यस्य च समासान्तविधेरनित्यत्वाश्रयणेनैव सिद्धत्वात्।

न च "संख्याहर्दिवाविभा" [५.१.१०२.] इत्यादिसूत्रे लिपि-लिब्योः पृथग्ग्रहणेनास्यानित्यत्वमिति वाच्यम्। मुकुटमतेन लिबेर्धात्वन्तरत्वेन लिबिशब्दस्य शब्दान्तरत्वेनैकग्रहणेन लिपि-लिब्योर्द्वयोर्ग्रहणस्यासम्भवेन तस्यैकदेशविकृतन्यायानित्यत्वज्ञापकत्वासंभवात्। आश्रितं चान्यैरत्र समासान्तविधेरनित्यत्वमेव। समासान्तविधिबाधनस्य फलान्तरमप्याह—**तथा च समासान्तसंनियोगे उच्यमान** इत्यादि। "सर्वांशसंख्याव्ययात्" [७.३.११८.] इत्यनेन हि अह्नसंनियोगेनाह्नादेशो विधीयते, अनेन सूत्रेणानवकाशत्वात् समासान्तविधेरनित्यत्वाद् वाऽटि बाधिते *संनियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः* इति न्यायेनाह्नादेशोऽपि न भवतीत्यर्थः।

अस्य सूत्रस्य प्राप्ताप्राप्तविभाषात्वमाह—**समासान्तात् पूर्वेण नित्ये प्राप्त** इत्यादि। "संख्यादेश्चाहर्दलुचः" [६.४.८०] इत्यनेन संख्यादेस्तदन्तात् प्रत्ययविधानस्य शिष्टत्वेन "द्विसमीन इत्यादौ "समाया ईनः" [६,४.१०९.] इत्यनेनैव सिद्धिरिति तदंशे प्राप्तविभाषात्वमन्यांशे केनापि प्रत्ययस्याप्राप्तत्वादप्राप्तविभाषात्वमिति तात्पर्यम्। तथा चात्र भावाभावयोरुभयोर्विधानमिति फलति। यदंशे प्राप्तं तत्र पक्षेऽभावमात्रं विधीयते भावस्य सिद्धत्वात्। यत्र चाप्राप्तं तदंशे भावमात्रं पक्षे विधीयतेऽभावस्य स्वतः सिद्धत्वात् तस्यानुवादमात्रम्। एतच्च सर्वविकल्पस्थले विज्ञेयं, न केवलं विभाषापदप्रयोगे एवेति प्रकृते वाशब्देन विकल्पविधानेऽपि लगति। वेत्यनेन हि पाक्षिकी प्रवृत्तिरिति लभ्यते। तत्र यत् सिद्धमेव तत्र प्रवृत्तेरनुवादमात्रत्वं पक्षेऽप्रवृत्तेरेव विधेयत्वम्। यदंशे चाप्राप्तं तत्र स्वीयां पाक्षिकीं प्रवृत्तिमेव

"Aho Shrutgyanam"

कल्पयतीति बोध्यम्, प्रपञ्चितं चैतदन्यत्रेति नेह प्रतन्यते ॥६।४।११०॥

वर्षादश्च वा ॥६।४।१११॥

त० प्र०–वर्षशब्दो यः कालवाची तदन्ताद् द्विगोस्तेन निर्वृत्त इत्यादिपञ्चकविषयेऽकारचकारादीनश्च वा भवति। पक्षे इकण्। एवं त्रैरूप्यं भवति।

द्वाभ्यां वर्षाभ्यां निर्वृत्तो द्वौ वर्षौ द्वे वर्षे वा भूतो भावी वा द्वाभ्यां वर्षाभ्यां भूतोऽधीष्टो वा द्विवर्षः। द्विवर्षीणः। द्वैवार्षिकः। त्रिवर्षः। त्रिवर्षीणः। त्रैवार्षिकः। 'संख्याऽधिकाभ्यां वर्षस्याभाविनि' [७.४.१८.] इत्युत्तरपदवृद्धिः। भाविनि तु प्रतिषेधाद् द्वैवार्षिकः। त्रैवार्षिकः ॥१११॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वर्षा०। वर्षशब्दस्य वर्षणमप्यर्थः, किन्तु तस्य प्रकृतानुपयुक्ततयाऽत्र कालवाचिन एव वर्षशब्दस्य ग्रहणं व्याख्याति–**वर्षशब्दो यः कालवाची**त्यादिना। चकारेण पूर्वोक्तस्य ईनस्य संग्रहः। विकल्पपक्षे प्रकरणप्राप्त इकणिति प्रत्ययत्रयमत्र तदाह–**पक्षे इकण् एवं त्रैरूप्यं भवती**ति। इकणि सति आदिस्वरवृद्धेः प्राप्तौ उत्तरपदादिस्वरवृद्धिमाह–**संख्याधिकाभ्या**मित्यादिना तथा चार्थचतुष्टये उत्तरपदादिस्वरवृद्धिः, भाविन्यर्थे तु आदिस्वरस्यैवेति विवेकः ॥६।४।१११॥

प्राणिनि भूते ॥६।४।११२॥

त० प्र०–कालवाचिवर्षशब्दान्ताद् द्विगोर्भूतेऽर्थे अः प्रत्ययो भवति, स चेद् भूतः प्राणी भवति। द्वे वर्षे भूतो द्विवर्षो दारकः। त्रिवर्षो वत्सः। प्राणिनीति किम्? द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः सरकः। भूत इति किम्? शेषेष्वर्थेषु पूर्वेण विकल्प एव। द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिको मनुष्यः। भाविन्यपि केचिदिच्छन्ति। एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु। पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थो विधिः ॥११२॥

श० म० न्यासानुसंधानम्—प्राणिनि०। भूते विशिष्यविधानादर्थान्तराणां निवृत्तिः। तथा चोदाहरति–**द्वे वर्षे भूत इति। अतीतसत्तया द्वे वर्षे व्याप्तवानित्यर्थः। प्राणिनीति किमिति**। प्रायः प्राणिन्येव वयसो गणनाया दृष्टत्वादन्यत्र स्वभावत एवाप्रयोग इत्याशयेन प्रश्नः। **द्विवर्षीणः द्विवार्षिक** इत्येव प्रत्युदाहरणम्। **द्विवर्ष** इति तु प्रकृतसूत्रस्याप्यनुकूलमेव। तथा चाप्राणिनि पूर्वेण प्रत्ययत्रयमपि भवति, प्राणिभिन्नेऽप्यतीतकालस्य गणनाया व्यवहृतत्वमिति तत्रास्याप्रवृत्तिरेवेष्टेति भावः। **भूत इति किमिति**? प्रकरणप्राप्तेषु सर्वेष्वर्थेषु विधेय इति प्रश्नाशयः। उत्तरयति–**शेषेष्वर्थेषु पूर्वेण विकल्प एवेति**। इष्ट इति शेषः। मतान्तरमाह–**भाविन्यपि केचिदिच्छन्तीति**। पाणिन्यादिव्याकरणे हि भूते न दृश्यते। तथा च प्रकरणप्राप्तेषु सर्वेष्वर्थेषु प्राणिनि वर्षान्ताद् द्विगोरकारप्रत्यय एव, नान्यौ। भाविनि चार्थे प्रयोगो न भवतीत्यन्यदेतत्। प्राणिनः कस्यचन उत्पत्तेः पूर्वमज्ञातत्वात् तथार्थस्य प्रयोक्तुमशक्यत्वमेव वा तत्र मूलम्। अग्रिमसूत्रत्रयविषये प्रकृतमर्थविचारमतिदिशति–**एवमुत्तरेष्वपि त्रिष्विति**–एवमित्यस्य स्वमते भूतमात्रे प्रत्ययो मतान्तरे भाविन्यपीत्यर्थः। ननु पूर्वसूत्रेणैव भूतेऽप्यर्थेऽकारः प्रत्ययः स्यादेवेति किमनेन सूत्रेणेति चेदत्राह–**पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थे** इति पूर्वेण सूत्रेण प्राणिन्यप्राणिनि वा भूते भाविनि वा विकल्पेनैव विधानमनेन भूते प्राणिनि नित्यमेव विधानमित्येतदर्थमेव पृथग्योगारम्भ इति भावः ॥६।४।११२॥

मासाद् वयसि यः ॥६।४।११३॥

त० प्र०–मासशब्दान्ताद् द्विगोर्भूतेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति, वयसि गम्यमाने। द्वौ मासौ भूतो द्विमास्यः। त्रिमास्यो दारकः। वयसीति किम्? द्वैमासिको व्याधिः। त्रैमासिको व्याधिः त्रैमासिको नायकः। भूत इत्येव? द्वौ मासौ भावी द्वैमासिको युवा ॥११३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–मासाद्०। द्विगोरिति संबध्यते, तदनुरोधात् मासशब्दे तदन्तविधिः, एवं पूर्वत्रापि विज्ञेयम्। वयःशब्दोऽनेकार्थः–"वयः पक्षिणि बाल्यादौ यौवने च नपुंसकम्" इति मेदिनीकोशात्। तथापीह कालवाचकमासशब्दप्रत्यासत्त्या बाल्याद्यवस्था विषयस्यैव वयःशब्दस्यात्र ग्रहणमिति निश्चीयते। यद्यपि यौवनमपि कालापेक्ष्येवेति सोऽप्यर्थः प्रत्यासत्त्याऽऽक्षिप्तः स्यात् तथापि* असति बाधके प्रमाणानां सामान्ये पक्षपातः* इति न्यायेनेह सामान्यतः शरीरावस्थावाचकानां बाल्यादीनां ग्रहणम्, न यौवनमात्रस्य। वस्तुतस्तु प्राणिनाऽतीत-

"Aho Shrutgyanam"

मासुरेव वयः-शब्देन सामान्यतो व्यवह्रियते इति तस्यैवेह ग्रहणमिति मन्तव्यम् । बाल्यादिरूपस्य कालकृतस्यावस्था विशेषस्याप्राणिषु व्यवहाराभाव इति, तत्र वयोव्यवहारोऽपि न घटते इति वस्तुगतिमनुरुध्याचेतनस्य वयोव्यवहारो नोचित इति द्वैमासिको व्याधिरिति प्रत्युदाहृतम् । पूर्वसूत्राद् भूते इत्यस्य संबन्ध आवश्यक इत्याह-**भूत इत्येवेति**। व्यावर्त्यमाह-**द्वौ मासौ भावीति** । भाविमासद्वय-व्यापकत्वं यौवनस्येति तदर्थः ॥६।४।११३॥

ईनञ् च ॥६।४।११४॥

त० प्र०-द्विगोरिति निवृत्तं योगविभागात्। मासशब्दाद् भूतेऽर्थे ईनञ् चकाराद् यञ्च प्रत्ययो भवति, वयसि गम्यमाने। मासं भूतो मासीनः मास्यो दारकः। अकारो वृद्धिहेतुत्वेन पुंवद्भावार्थः। मासीना स्वसाऽस्य मासीनास्वसृकः। वयसीत्येव? मासिको नायकः॥ ११४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्-ईनञ्० । ननु पूर्व-सूत्र एव प्रत्ययद्वयं पठ्यतां "मासाद् वयसि येनञौ" इति, किमर्थं पृथक्सूत्रमिदमारभ्यत इति चेदत्राह-**द्विगोरिति निवृत्तं योगविभागादिति**। योगविभागस्येष्ट-सिद्ध्यर्थत्वेन राज्यहः "संवत्सराच्च द्विगोर्वा" [६.४.११०] इत्यतोऽनुवर्तमानं द्विगोरिति पदमिह न संबध्यते इति लभ्यत इत्यर्थः । तथा च मासादित्येव संबध्यत इति केवलादेव मासशब्दात् प्रत्ययद्वयमनेन सूत्रेण विधीयते इति योगविभागफलमिति भावः । **मासं भूत** इति । अतीत-मासव्यापको दारक इति बोधः ।

ननु द्विगोरित्यस्य निवृत्त्या केवलादेव मासात् प्रत्ययः, मासशब्दश्च स्वभावतो वृद्धादिरिति वृद्धिप्रयोजनो अकारः प्रत्यये किमर्थमुपादीयते इति चेदत्राह-**अकारो वृद्धिहेतुत्वेन पुंवद्भावार्थ इति। मासीना स्वसा अस्येत्यर्थे** बहुव्रीहिसमासे प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतु०" [३.२.५५] इति सूत्रेण निषेधो यथा स्यादित्येवमर्थः अकारः क्रियते इत्यर्थः । तथा च *पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या* इह वृद्धेः स्वतः सिद्धत्वेऽपि वृद्धिः प्रवर्तत एवेति अकारस्य स्वरवृद्धिहेतुत्वं भवति। वृद्धिहेतुत्वमिह सूत्रे फलोपहितं स्वीक्रियते, न तु केवलं स्वरूप-योग्यम्, अत एव वैयाकरणी भार्या यस्येत्यर्थे वैयाकरणभार्य इत्येव रूपं भवति, न तु तत्र पुंवद्भाव-निषेधो भवति । तत्र हि वस्तुतो वृद्धेः सत्त्वेऽपि वृद्धि-शब्देन वृद्धेर्विधानाभावात्, तद्धितस्य स्वरवृद्धिहेतुत्वं नेति सिद्धान्ततमाकरग्रन्थेषु ।

ननु मासशब्दात् भूतार्थे प्रत्ययविधाने वयो गंस्यत एवेति किमर्थमिह सूत्रे वयःसंबन्ध आश्रीयत इत्यभि-सन्धेर्वारणायाह-**वयसीत्येवेति**। व्यावर्त्यमाह-**मासिको नायक** इति । वयो हि प्राणिनां कालकृतोऽवस्थाविशेष इत्युक्तं प्राक् । अत्र च नायके कालेन न कश्चन विशेष आधीयत इति नात्र वयोऽवगतिरपि तु नायकत्वस्यावधि-मात्रं प्रत्याय्यते इति न येनञौ किन्त्विकणेवेति भावः ॥६।४।११४॥

षण्मासाद् य-यणिकण् ॥६।४।११५॥

त० प्र०-षण्मासशब्दात् कालवचिनो भूतेऽर्थे य यण् इकण् इत्येते प्रत्यया भवन्ति, वयसि गम्यमाने । षण्मासान् भूतः षण्मास्यः, षाण्मासिकः। भूत इत्येव? षण्मासान् भावी। वयसीत्येव? षाण्मास्यः षाण्मासिको नायकः ॥११५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-षण्मासा० । **षण्मासशब्दात्** "मासाद् वयसि यः" [६.४.११३.] इति यस्य सिद्धावपि पुनरनेन यस्यापि विधानमीनञोऽनु-वृत्त्यभावाय । "प्राणिनि भूते" [६.४.११२.] इत्यतो भूत इत्यनुवर्तते तत्फलमाख्यातुमाह-**भूत इत्येवेति** । व्याव-वर्त्यमाह-**षण्मासान् भावीति**। तथा च तत्र वाक्यमेव तिष्ठति न स्वाभाविकोऽपीकण् । एतदर्थमेव षण्मासा-द्ययण् वेति न सूत्रितम् । अन्यथाऽनयोरभावे पक्षे "तं भाविभूते" [६.४.१०६.] इति स्वाभाविक इकण् स्यादेवेति कृतमिकणो विधानेन तथा चेकणोऽपि षण्मास-शब्दाद् भूतार्थमात्र एवेष्टत्वमिति भाविन्यर्थे वाक्यमेव तिष्ठतीति भावः । पाणिनीये च यद्यप्येषु सूत्रेषु भूतार्थ-मात्रस्य न संबन्धः, किन्तु सामान्यतोऽर्थ-प्रञ्चकप्रकरण-एवैषां सूत्राणां पाठः, तथापि वयोग्रहणसामर्थ्याद् भूतार्थ-मात्र एव प्रत्ययविधानमाश्रीयते। भूतकाल एव च वयः-शब्देन व्यवह्रियत इति नावश्यकं 'भूते' इति पदमिति मन्यते । एतच्च काशिकायां स्पष्टम्, किन्तु तस्य न्यासे खण्डनमपि कृतमित्येतत् सर्वं विचार्यैव स्वमते भूते इति

"Aho Shrutgyanam"

ऽभ्यत एवेत्याश्रीयते इत्यलमन्यदीयविचारविस्तरेण । वयसीत्यस्य व्यावर्त्यमाह—**षाण्मास्यः षाण्मासिको नायक** इति । अत्र " षण्मासादवयसि ष्येकौ " [६.४.१०८.] इति ष्येकावेव भवतो न येकणाविति भावः ॥६।४।११५॥

सोऽस्य ब्रह्मचर्य-तद्वतोः ॥६।४।११६॥

त० प्र०—स इति प्रथमान्तात् कालवाचिनोऽस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, ब्रह्मचर्यं तद्वति चाभिधेये यत्-तदस्येति निर्दिष्टं तच्चेद् ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचारी वा भवतीत्यर्थः । मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम् । आर्धमासिकम् । सांवत्सरिकम् । मासोऽस्य ब्रह्मचारिणो मासिको ब्रह्मचारी । मासं ब्रह्मचर्यमस्येत्यर्थः । एवमार्धमासिकः । सांवत्सरिकः ॥ ६।४।११६॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—सोऽस्य० । स इति समर्थविभक्त्युपस्थापकं पदम् । अस्येति प्रत्ययार्थः । **ब्रह्मचर्यतद्वतोरित्यनेन** मासेन परिच्छेदो ब्रह्मचर्यस्य **ब्रह्मचारिणश्चेति** लभ्यते । किन्तु मासेन ब्राह्मचारिणः परिच्छेदो न सम्भवी, मासपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मचारित्वासंभवात्, एवं चोभयथा मासेन ब्रह्मचर्यस्यैव परिच्छेदः पर्यवस्यति । अत एव **मासिको ब्रह्मचारी**त्यस्यापि 'मासं ब्रह्मचर्यस्येत्यर्थः' इत्युक्तम् । एवं च ब्रह्मचर्येऽभिधेये **मासोऽस्येति** प्रथमान्तस्य मासशब्दस्य समर्थत्वम्, ब्रह्मचारिण्यभिधेये च मासं ब्रह्मचर्यमस्येति द्वितीयान्तस्य तस्य समर्थत्वमिति विविच्य विग्रहो युक्तः । अत एव पाणिनीये "तदस्य ब्रह्मचर्यम्" [पा० सू० ५. १.९४.] इति सूत्रे तदित्यत्र तन्त्रेण प्रथमा-द्वितीययोरुभयोर्निर्देश इति व्याख्यायते । एवं चोक्तार्थद्वयमञ्जसा सिध्यति । स्वमते च स इति निर्देशेन केवलं प्रथमाया एव समर्थविभक्तित्वं स्वीक्रियते, इति ब्रह्मचारिण्यभिधेये भावप्रधाननिर्देशमाश्रित्य ब्रह्मचर्यस्यैव मासिकत्वं स्वीक्रियते *स्थितस्य गतेश्चिन्तनीयत्वात्* ॥६।४।११६॥

प्रयोजनम् ॥६।४।११७॥

त० प्र०—सोऽस्येति वर्तते । स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति यत्-तत् प्रथमान्तं तच्चेत् प्रयोजनं स्यात् । प्रयोजनं प्रयोजकम्, प्रवर्त्तनम्, जनकमुत्पादकम् । जिनमहः प्रयोजनमस्य जैनमहिकम् । ऐन्द्रमहिकम् । आभिषेचनिकम् । दैपोत्सविकम् ॥११७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—प्रयो०। सूत्रार्थवर्णनाय पदानुवृत्तिमाह—**सोऽस्येति वर्तते** इति । पूर्वसूत्रात् समर्थविभक्तिः प्रत्ययार्थविशेषणविभक्तिश्च संबध्यत इति भावः । 'प्रयोजनम्' इति च प्रथमान्तविशेष्यम् । तदाह—**यत् तत् प्रथमान्तं तच्चेत् प्रयोजनं भवति** इति प्रयोजनशब्दस्यानङन्तत्वेन करणार्थकत्वभ्रमव्युदासायाह—**प्रयोजनं प्रयोजकमित्यादि** । तथा च बहुलकात् कर्तर्यन इति भावः । अवशिष्टं प्रयोजकत्वमदृष्टमतः स्पष्टप्रतिपत्तय आह—**प्रवर्तनमिति** । अस्यापि करणसाधनत्वमुत भावसाधनत्वमेव वा प्रसिद्धमिति पुनः स्फुटीकुर्वन्नाह—**जनकमुत्पादकमिति** च । जनकत्वं कर्तृमात्रधर्म इति कारणस्य सर्वस्यापि संग्रहायोत्पादकमित्युक्तम् । एवं चोत्पत्तौ साक्षात् परम्परया वा कारणभूतमिह प्रयोजनपदप्रतिपाद्यमिति । **जिनमहः प्रयोजनमस्येति** । यथाकथञ्चिज्जिनमहमाश्रित्य जातमित्यर्थः । एवमिन्द्रमहः प्रयोजनमस्येत्यादिरूपेण विग्रह ऊह्यः ॥६।४।११७॥

एकागाराच्चौरे ॥६।४।११८॥

त० प्र०—एकागारशब्दात् तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषये इकण् प्रत्ययो भवति, चौरे यत्-तदस्येति निर्दिष्टं स चेत् चौरो भवति । एकमसहायमगारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकश्चौरः । ऐकागारिकी । चौरे नियमार्थं वचनम्, तेनान्यत्र न भवति । एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति वाक्यमेव ॥११८॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—एका०। सोऽस्येति संबध्यत एव । अत्रास्येति षष्ठ्या निर्दिष्टस्य चौरो विशेष्य इत्याह—**यत् तदस्येति निर्दिष्टं स चेच्चौरो भवतीति** । "एकं संख्यान्तरे श्रेष्ठे केवलेतरयोस्त्रिषु" इति मेदिनीकोशात् केवलार्थस्यैकशब्दस्यासहायार्थत्वमेव पर्यवस्यतीति मत्वाऽऽह—**एकमसहायमगारं प्रयोजनमस्येति** । मुमुक्षोश्चौरस्य शून्यं गृहं प्रयोजकं भवति, असहायपदेन च रक्षकजनशून्यमुच्यते । अनेकपुरुषाधिष्ठितं तु ससहायमिति न तन्मोषितुं शक्यम् ।

ननु पूर्वसूत्रेणैवात्रापि प्रत्यये सिद्धे किमर्थमिदं सूत्रमिति चेदत्राह—**चौरे नियमार्थं वचनमिति** । एका-

"Aho Shrutgyanam"

गारशब्दाच्चौरे वाच्य एव प्रत्ययो यथा स्यात्, नान्यस्मिन्नभिधेये इति नियमार्थमित्यर्थः । नियमफलमाह—**तेनान्यत्र न भवतीति** । तेनाभिधेयान्तरे प्रत्ययो न भवति किन्तु वाक्यमेव तिष्ठतीति भावः । तादृशं स्थलमाह—**एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति** । "एकागारे चरेद् ग्रामे तत् पुराणं मुनेर्व्रतम्" इत्युक्तत्वादेकस्मादेव गृहादेकां भिक्षां यश्चरति तादृशे व्रतिनि भिक्षावभिधेये न प्रत्ययोत्पत्तिरिति । तथा च तत्र पूर्वसूत्रेणापि न प्रत्ययो नियमसामर्थ्यादिति वाक्यमेव तिष्ठति ॥६।४।११८॥

चूडादिभ्योऽण् ॥६।४।११९॥

त० प्र०—चूडादिभ्यस्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषयेऽण् प्रत्ययो भवति । चूडा प्रयोजनमस्य चौडम् । चूला चौलम् । उपनयनम् औपनयनम् । श्रद्धा, श्राद्धम् । चूडादयः प्रयोगगम्याः ॥११९॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—चूडा० । सोऽस्य प्रयोजनमिति पूर्ववतः संबद्धम् । शिरसि विशिष्य स्थापिता अखण्डिताः केशाः चूडा, शिखेति तात्पर्यः । बालानां प्रथमकचकर्तनावसरे शिरोमध्येऽखण्डिताः केशाः कियन्तः स्थाप्यन्ते, सा चूडेति शिखेति चोपदिश्यते । सा प्रयोजनमस्य कर्मणः तच्चौडम् । ड-ल्योरभेदात् चूडैव चूलापि, ततः प्रत्यये **चौलमिति** । उप—गुरोः समीपे नयनं—संस्कारार्थं प्रापणमुपनयनम्, द्विजत्वप्रापकसंस्कारविशेषे रूढमिदं पदम् । तत्प्रयोजनमस्येति विग्रहे **औपनयनम्** । एवं श्रद्धा प्रयोजनमस्येति **श्राद्धमौर्ध्वदेहिकं पित्र्यं कर्म** । चूडादिगणस्यापठितत्वादाह—**चूडादयः प्रयोगगम्या** इति । प्रयोगानुसारमेव परिचेया न पठितुं शक्या इत्यर्थः ॥६।४।११९॥

विशाखाषाढान्मन्थ-दण्डे ॥६।४।१२०॥

त० प्र०—विशाखा आषाढा इत्येताभ्यां तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषयेऽण् प्रत्ययो भवति, यथासंख्यं मन्थे दण्डे चाभिधेये । मन्थो विलोडनं दण्डो वा । विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आषाढा आषाढे आषाढाः प्रयोजनमस्य आषाढो दण्डः ॥१२०॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—विशाखा० । सोऽस्य प्रयोजनमिति संबध्यत एव । विशाखाषाढे तारे । तयोस्तासु वा मन्थो दण्डश्चोत्पाद्येते, इति तयोर्वैशाखाऽऽषाढौ प्रयुक्तौ । मथ्यतेऽनेनेति मन्थः, मन्थनदण्डस्याधारभूतं काष्ठं चतुष्कोणाद्याकारं विलोडनमुच्यते । दण्डोऽपीह मन्थसाहचर्यात् तत्संबद्धो व्रतविशेषे धार्यो वा ग्राह्यः । विशाखाख्यनक्षत्रस्यैकत्वात् विशाखेत्येकवचनेन विग्रहः । आषाढायाः स्वरूपतऽैक्यादेकवचनम्, पूर्वोत्तरामेदेन द्वित्वाद् द्विवचनम्, 'दत्त्वोत्तरास्वाषाढासु' इति महाभारतादि प्रयोगाद् बहुत्वमपीति बहुवचनमिति तथैव त्रिधा विग्रहः कृतः **आषाढा आषाढे, आषाढाः वा प्रयोजनमिति** । वस्तुतस्तु विशाखाशब्दोऽपि नक्षत्रचतुष्टयवाचक इति तस्यापि बहुत्वम्, किन्तु लोकप्रसिद्धयनुरोधादेकवचनेन विग्रहः । अषाढाशब्दो ह्रस्वादिरेवेति प्रामाणिकाः, 'फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ वक्तव्यौ' इति वार्तिकप्रयोगात् महिष्यषाढयोर्जायेष्टकाख्या चेदिति फिट्सूत्रम्, अषाढानक्षत्रमिति तैत्तिरीयकाणां पदपाठः, "रोहिण्योऽनलभं च वत्सरतनुर्नाभिस्त्वषाढाद्वयम्" इति बृहत्संहितायां वराहमिहिराचार्यप्रयोगश्च ह्रस्वादेरेवास्य सत्त्वे प्रमाणम् । वृत्तौ आषाढा इति दीर्घादिपाठो लेखकप्रमादादिति प्रतीयते ॥६।४।१२०॥

उत्थापनादेरीयः ॥६।४।१२१॥

त० प्र०—उत्थापन इत्येवमादिभ्यस्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषये ईयः प्रत्ययो भवति । उत्थापनं प्रयोजनमस्योत्थापनीयः । उपस्थापनीयः ।

उत्थापन उपस्थापन अनुप्रवचन अनुवाचन अनुवदन अनुवादन अनुज्ञान अनुवासव आरम्भण समारम्भण इत्युत्थापनादिः ॥१२१॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—उत्था० । उत्थापनादयः सर्वे भावप्रत्ययान्ता अवस्थाविशेषसंपाद्यक्रियापराः । उत्सवविशेषाश्च प्रत्ययान्तैरुच्यन्ते । उत्थापनं प्रबोधनम् । उत्थापनमावाहनम् एवमनुप्रवचनादयः योगार्थपरा व्याख्येयाः ॥६।४।१२१॥

विशि-रुहि-पदि-पूरि-समापेरनात् सपूर्वपदात् ॥६।४।१२२॥

त० प्र०-विशि-रुहि-पदि-पूरि-समापि इत्येतेभ्योऽनप्रत्ययान्तेभ्यः सपूर्वपदेभ्यस्तदस्य प्रयोजनमित्यर्थे ईयः प्रत्ययो भवति ।

"Aho Shrutgyanam"

विशि, गृहप्रवेशनं प्रयोजनमस्य गृहप्रवेशनीयम् । संवेशनीयम् । अनुवेशनीयम् । अनुप्रवेशनीयम् । समावेशनीयम् । रूहि, प्रासादारोहणीयम् । आरोहणीयम् । प्ररोहणीयम् । अनुरोहणीयम् । अन्वारोहणीयम् । पदि, अभ्वप्रपदनीयम् । गोप्रपदनीयम् । पूरि, प्रपापूरणीयम् । महापूरणीयम् । समापि-अङ्ग-समापनीयम् । श्रुतस्कन्धसमापनीयम् । व्याकरणसमापनीयम् ॥१२२॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—विशि० । विश्वादयो धातवोऽनप्रत्ययान्ताः सपूर्वपदाः प्रकृतित्वेनोपात्ताः । प्रत्ययान्तानां निर्देशे गौरवादेवमुक्तिः । प्रत्ययान्तेन कर्म किञ्चित् तन्नाम्ना प्रसिद्धमुच्यते, सर्वेषां क्लीबत्वेन निर्देशात् । स्पष्टं सर्वमन्यत् ॥६।४।१२२॥

स्वर्ग-स्वस्ति-वाचनादिभ्यो य-लुपौ ॥६।४।१२३॥

त० प्र०-स्वर्गादिभ्यः स्वस्तिवाचनादिभ्यश्च यथासंख्यं तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन् विषये यः प्रत्ययो लुप् च भवतः । स्वर्गादिभ्यो यः । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् । काम्यम् । धन्यम् । स्वस्तिवाचनादिभ्य इकणो लुप् स्वस्तिवाचनं प्रयोजनमस्य स्वस्तिवाचनम् । शान्तिवाचनम् । पुण्याहवाचनम् । स्वर्गादयः स्वस्तिवाचनादयश्च प्रयोगगम्याः । गणद्वयोपादानाद् वचनभेदेऽपि यथासंख्यम् ॥१२३॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—स्वर्ग० । स्वर्गश्च स्वस्तिवाचनं चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वस्यादिशब्देन बहुव्रीहिः । * द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य चादिशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् * स्वर्गादिभ्यः स्वस्तिवाचनादिभ्यश्चेति विविच्य लभ्यते । तत्र स्वर्गादिभ्यो यः प्रत्ययो विधेयः, स्वस्तिवाचनादिभ्यश्च औत्सर्गिकस्येकणो लुप् इति यथासंख्येनान्वयः । तदेव विविच्याह—स्वर्गादिभ्यो य इति । अत्रापि प्रत्ययान्तेन कर्मैव विशेष्यम् । एवं लुबन्तेष्वपि विज्ञेयम् । स्वर्गादीनां स्वस्तिवाचनादीनां पाठाभावात् कथं गणावगम इति चेदत्राह—स्वर्गादयः स्वस्तिवाचनादयश्च प्रयोगगम्या इति । प्रयोगैरेवैतेऽनुगन्तव्या इत्यर्थः । न चात्र संख्याभेदेन प्रकृति-प्रत्ययोः सूत्रे पाठात् समसंख्यात्वाभावात् कथं यथासंख्यमन्वयः कृत इति चेदत्राह—गणद्वयोपादानाद् वचनभेदेऽपीति । अयमाशयः—गणद्वयोपादानसामर्थ्यादुद्देश्यगतां श्रूयमाणां संख्यामनादृत्य वास्तविकीं गणगतां द्विसंख्यामाश्रित्य च समानवचनत्वमिति विधेयद्वयेन यथा संख्यमुपपन्नमिति ॥६।४।१२३॥

समयात् प्राप्तः ॥६।४।१२४॥

त० प्र०-सोऽस्येत्यनुवर्तते । समयशब्दात् प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् प्रत्ययो भवति, योऽसौ प्रथमान्तः प्राप्तश्चेत् स भवति । समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकं कार्यम् । उपनतकालमित्यर्थः ॥१२३॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—सम० । सोऽस्येत्यनुवर्तत इति । समर्थविभक्त्युपस्थापकं प्रत्ययार्थभूतं च पदमुपतिष्ठत इत्यर्थः । समर्थविभक्तिश्च प्रकृतिविशेषणत्वेन संबध्यते प्राप्तार्थश्च तत्र पश्चात् संबध्यते, तथा च सूत्रार्थमाह—समयशब्दात् प्रथमान्तादित्यादिना । उदाहरति—समयः प्राप्तोऽस्येति । समयशब्देनेह तदनुष्ठानोचितः काल उपलक्ष्यते, तथा च प्रयोगार्थमाह—उपनतकालमित्यर्थ इति । उपनतः उपस्थितः कालो यस्य तदित्यर्थः ॥६।४।१२४॥

ऋत्वादिभ्योऽण् ॥६।४।१२५॥

त० प्र०-ऋतु इत्येवमादिभ्यः सोऽस्य प्राप्त इत्यर्थे अण् प्रत्ययो भवति । ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्तवं पुष्पफलम् । उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम् । प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम् । ऋत्वादयः प्रयोगगम्याः ॥१२५॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—ऋत्वा० । सोऽस्य प्राप्त इति पूर्वतोऽनुसृतम् । तथा च प्रथमान्तेभ्य ऋतु इत्येवमादिभ्यः प्रातार्थविशिष्टेभ्यः षष्ठ्यर्थे प्रत्ययः । ऋतुशब्देनोत्पत्तिनियतो वसन्तादिः कालविशेषो वाच्यः । उपवस्ता उपोषिता प्राप्तः विद्यमानोऽस्येत्यर्थः तथा चौपवस्त्रं पारणाद्रव्यम् । उपवासोऽप्यौपवस्त्रमुच्यते, तत्र च उपवस्तु कर्मेति विग्रहः, युवादित्वकल्पनयाऽण् । प्राशितेत्यत्र प्रशब्द आद्यर्थः, प्रारम्भार्थो वा तथा च प्राशितेत्यस्य प्रारम्भिको भोक्तेत्यर्थः, स प्राप्तोऽस्येत्यर्थेन भोजनं प्रारम्भिकमुच्यते, तत्र बालस्यैव भवति यः प्रथममेव

"Aho Shrutgyanam"

शुमेऽहनि विधिवत् प्राश्यते । ऋत्वादीनामपठित्वादाह–**ऋत्वादयः प्रयोगगम्या** इति ।६४।१२५।

कालाद् यः ॥६।४।१२६॥

त० प्र०–**कालशब्दात् सोऽस्य प्राप्त इत्यर्थे यः प्रत्ययो भवति । कालः प्राप्तोऽस्य काल्यस्तापसः । काल्या मेघाः** ॥१२६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—**कालाद् यः । सोऽस्य प्राप्त** इति इत्यर्थे य इति सूत्रार्थः पर्यवस्यति । कालशब्देन तदनुष्ठानोचितः तदागमनोचितो वा समयो बोध्यते । कालः समागमनसमयः प्राप्त उपस्थितोऽस्येत्यर्थः॥ ६।४।१२६॥

दीर्घः ॥६।४।१२७॥

त० प्र०–**कालशब्दात् प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण्प्रत्ययो भवति, योऽसौ प्रथमान्तः स चेद् दीर्घो भवति । दीर्घः कालोऽस्य कालिकमृणम् । कालिकं वैरम् । कालिकी संपत् । योगविभागादिकण् । यविधाने हि कालाद् यो दीर्घश्चेत्येकमेव सूत्रं क्रियेत** ॥१२७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–**दीर्घः०** । कालात् सोऽस्येति पूर्वतोऽनुसृतम् । तथा च सूत्रार्थमाह–**कालशब्दात् प्रथमान्तादित्यादिना** । दीर्घ इति च विशेषणमुपस्थितत्वात् स इति पदोपस्थाप्यस्य प्रथमान्तस्यैवेत्याह–**योऽसौ प्रथमान्तः स चेद् दीर्घो भवति** । स एव चेद् दीर्घशब्देन (तदर्थेन) विशेष्यते इति भावः । **दीर्घः कालोऽस्येति** । यस्य ऋणस्य शोधनसमयोऽधिककालव्यवहितो नियतः स्यादिति **तदृणं कालिकमित्यर्थः । कालिकं वैरमित्यस्य** दीर्घकालव्यापकमित्यर्थः । **एवं कालिकी संपदित्यत्रापि** बोधः । पूर्वसूत्रविहितो य एव कुतो न संबध्यते, इकणो व्यवहितत्वादित्याह–**योगविभागादिकण्** इति । पूर्वयोग एवास्याप्यर्थस्य पाठे कर्तव्ये पृथग्योगारम्भात् प्रत्ययान्तरं विधेयमिति प्रतीयते । तस्य च व्यवहितस्यापि प्रकरणप्राप्तत्वाल्लाभ इति भावः । तदेवाह–**यविधाने ह्रीत्यादिना** । यविधाने ह्रीत्यस्य इष्टे सतीति शेषः ॥६।४।१२७॥

आकालिकमिकश्चाद्यन्ते ॥६।४।१२८॥

त० प्र०–**आकालिकमिति शब्दरूपमिकान्तमिकणन्तं च निपात्यते । आकालशब्दादिकइकण् च भवत्यर्थे भवतीत्यर्थः । आद्यन्ते आदिरेव यद्यन्तो गम्यते । कथं चादिरेवान्तो भवति । यस्मिन् काले यत् प्रवृत्तमनध्यायादि तस्मिन्नेव काले प्रत्यावृत्ते यदि तदुपरमेत । यदि वा यस्मिन्नेव काले क्षणादौ विघ्नादेर्जन्म यदि तस्मिन्नेव काले विनश्येन्नात्मलाभकालादूर्ध्वं तिष्ठेदित्यर्थः । आकालं भवति आकालिकोऽनध्यायः । पूर्वेद्युर्यस्मिन काले तृतीये चतुर्थे वा यामे प्रवृत्तः पुनरपरेद्युरपि आ तस्मात् कालाद् भवन् आकालिकोऽनध्याय उच्यते । आकालिका आकालिकी वा वृष्टिः । क्रियामिकेकणोर्विशेषः । आकालिका आकालिकी वा विद्युत् । आजन्मकालमेव भवन्ती जन्मान्तरविनाशिनी ऊर्ध्वमननुवर्तमाना एवमुच्यते । एवं च द्वेधाऽप्यादिरेवान्तो भवति । आद्यन्त इति किम्? सर्वकालभाविनि मा भूत् । निपातनमादावन्ते चेति द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थम् । अथवा निपातनस्येष्टविषयत्वात् समानकालशब्दस्याकालादेशः । आद्यन्त इति च द्वन्द्वः प्रकृतिविशेषणम् । आद्यन्तयोर्वर्तमानात् समानकालशब्दात् प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकेकणौ प्रत्ययौ निपात्येते, समानकालशब्दस्य चाकालादेशः । समानकालावाद्यन्तावस्याकालिकोऽनध्यायः । आकालिका आकालिकी वा विद्युत् । समानकालताद्यन्त्योः पूर्ववद् वेदितव्या ॥१२८॥**

श० म० न्यासासनुन्धानम्–आका० । निपातनपरं सूत्रम् । निपातनस्य प्रयोजनमग्रे स्वयमेव स्पष्टीकरिष्यति । भवतीत्यर्थोऽपि निपातनलभ्य एव, तस्य पृथगुपादानाभावात्, आदिश्चासावन्तश्चेति कर्मधारयसमासमाश्रित्याद्यन्तशब्दस्यार्थमाह–**आदिरेव यद्यन्तो गम्यत** इति । आद्यन्तयोः परसत्त्व-पूर्वसत्त्वाभ्यां परस्परप्रतिक्षेपकत्वात् कथं सामानाधिकरण्यमित्याशङ्क्य, तथाहि परस्मिन् सति यस्मात् पूर्वो नास्ति स आदिः, पूर्वस्मिन् सति यस्मात् परो नास्ति सोऽन्त इत्याद्यन्तयोः परिभाषेति तयोः परस्परव्याहतत्वम् । तदेव पृच्छति–**कथं चादिरेवान्तो भवतीति** । स्वरूपतः साम्यमूलमेवोभयोरैक्यमित्याह–**यस्मिन् काले यत् प्रवृत्तमनध्यायादीति** । यस्मिन् प्रातरादौ काले कालविशेषे प्रवृत्तः प्रारब्धः अनध्यायादिः अध्ययनायोग्यः कालदोषविशेषः, एवं प्रकारोऽन्यो वा प्रकारः,

"Aho Shrutgyanam"

पुनरग्रिमदिने तस्मिन्नेव प्रातरादौ प्रत्यावृत्ते परावर्तमाने सति **यदि तत्** स एवानध्यायादिः (सामान्येन निर्देशात् तदिति क्लीबोपादानम्) **उपरमेत** समाप्येत चेत् तदाद्यन्तयोरैक्यमित्यर्थः। तथा च साजात्यनिबन्धनः कालेऽभेद व्यवहारो न तु वास्तविक इति भावः। आद्यन्तशब्दयोर्जन्मनाशवाचकत्वमाश्रित्य प्रकारान्तरं वर्णयति-**यदि वेति**। तथा च पूर्ववत् यस्मिन् प्रातरादौ कालविशेषे, क्षणविशेषे वा जन्म तदव्यवहिते काले क्षणे वा यदि तस्य नाशस्तथापि सूक्ष्मकालकलामादाय कालभेदेऽपि स्थूलरूपेणाद्यन्तयोरेककालिकत्वमेवेत्यर्थः।

तथा चाशुतरविनाशित्वसूचनायैव कालस्यैक्यव्यवहारः, न तु वस्तुगत्या। तदेवाह-**नात्मलाभकालादूर्ध्वं तिष्ठेदिति**। **आकालं भवती**ति। आ-कालादिति मर्यादायामव्ययीभावः उत्पत्तिकालं-तत्समानकालं वा यावद् य आत्मानं धारयति स आकालिक इत्यर्थः। तदेव स्पष्टयति-**पूर्वेद्युर्यस्मिन् काले** इत्यादिना। एवमाकालिका वृष्टिरित्यत्रापि योजनीयम्। आकालशब्दस्य वृद्ध्यादित्वादिकेकणो रूपे विशेषाभावादुभयविधानस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याह-**स्त्रियामिकेकणोर्विशेष** इति। इके सति स्त्रियामाम्, इकणि च ङीरिति भेद इत्यर्थः। आदिशब्दस्यादिकालपरत्वमनन्तशब्दस्यान्तकालपरत्वमिति प्रथमं व्याख्यानमाश्रित्येदमुदाहरणद्वयं दत्तम्। आदिशब्दस्य जन्मपरत्वमन्तशब्दस्य च नाशपरत्वमिति द्वितीयं व्याख्यानमाश्रित्योदाहरति-**आकालिका आकालिकी वा विद्युदिति**। अत्रोक्तं व्याख्यानं घटयति-**आजन्मकालमेव भवन्तीत्यादिना**। जन्मकालं यावदेवात्मानं धारयन्ती तत ऊर्ध्वमदृष्टा आकालिकोच्यत इत्यर्थः। द्वयोरर्थयोरुदाहरणयोः सङ्गतिं निगमयति-**एवं द्वेधाप्यादिरेवान्तो भवतीति**। आद्यन्तशब्दयोराद्यन्तकालवाचकत्वेऽत्र य एव काल आदिः स एवान्त इति सौक्ष्म्येण कालभेदाज्ञानात्। किञ्च जन्म यस्मिन् काले तस्मिन्नेव नाशोऽपीति द्वेधाऽप्यादिरेवान्त इति घटते इति भावः। आकालशब्दादिकेकणौ विधेयौ व्यर्थं निपाताश्रयणमिति शङ्कां निरस्यति-**निपातनमादावन्ते चेति द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमिति**। आद्यन्तशब्दयोर्द्वन्द्वे प्रत्येकस्य प्रत्ययार्थतया प्रयोगार्हतया वाऽन्वये प्रत्येकस्मिन्नर्थे पृथक् पृथक् प्रत्ययोत्पत्त्याऽनिष्पत्तिरिति भावः। कृते च निपातने निपातनस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वेन पूर्वोक्तार्थलाभः।

अथ विनाऽपि निपातनेनाद्यन्तशब्दे व्याख्यानादुक्तसमासलाभ इति नार्थो निपातनेनेति शङ्कायां पक्षान्तरमाह-**अथवा निपातनस्येष्टविषयत्वादित्यादि**। तथा च समानकालशब्दः प्रकृतिराकालशब्दश्चादेशः। आद्यन्तशब्देऽपि न समासक्लेश इत्याह-**आद्यन्त इति द्वन्द्वः प्रकृतिविशेषणमिति**। तथा च सूत्रार्थमाह-**आद्यन्तयोर्वर्तमानादित्यादि**। ननु चोत्पाद-विनाशयोरयौगपद्यात् कथं समानकालता तयोरित्याशङ्कामपनयति-**समानकालताद्यन्तयोः पूर्ववद् वेदितव्येति**। अयमाशयः-नञ्ना जन्म-नाशयोरेककालसत्ता प्रतिपाद्यतेऽपि तु तयोरधिकरणकालस्य सूक्ष्मत्वं सजातीयत्वं वेति पूर्वमुपपादितरीत्याऽवसेयमिति। विद्युदादेरस्थायित्वं केवलं प्रतिपाद्यमिति तदेवंरीत्या विग्रहे गम्यते। तथा च समानकालशब्दस्याकालादेशः एवमर्थविशेषश्च निपातनादेव लभ्यते, न केवलं प्रत्ययविधानादिति भावः। एतच्च "आकालिकडाद्यन्तवचने" [पा० सू०.५.१.११४.] इति पाणिनीयसूत्रव्याख्यानावसरे महाभाष्यकैयटयोरपि स्पष्टम्। तत्राप्यन्ते समानकालादेव प्रत्ययविधानं निपातनाच्चाकालादेश इत्येव सिद्धान्तितमिति विशेषजिज्ञासुभिस्तत एवावगन्तव्यमिति ॥६।४।१२८॥

त्रिंशद्-विंशतेर्डकोऽसंज्ञायामार्हदर्थे ॥६।४।१२९॥

त०प्र०-त्रिंशद्-विंशति इत्येताभ्यामार्हदर्थाद् योऽर्थो वक्ष्यते तस्मिन् डकः प्रत्ययो भवति, कापवादः असंज्ञायां विषये न चेत् प्रत्ययान्तं कस्यचित् संज्ञा भवति। त्रिंशता क्रीतं त्रिंशकम्। विंशत्या क्रीतं विंशकम्। त्रिंशतमर्हति त्रिंशकः। विंशकः। आर्हदर्थ इत्यभिविधावाकारः। असंज्ञायामिति किम्? त्रिंशत्कम्। विंशतिकम् ॥१२९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—त्रिंश०। अत्र प्रत्ययः प्रकृतिश्चेति द्वे उच्चारिते। अर्थाश्च वक्ष्यमाणाः तत्तत्समर्थविभक्त्यश्चार्थानुरूपमेव योजनीयाः, अर्थे इति चैकवचनं जातिपक्षाश्रयणेन। "तमर्हति" [६.४.१७७.] इत्यत्रार्हदर्थो वक्ष्यते, तदवधयः सर्वेऽप्यर्था विषयत्वेनाश्रिताः। तथा च सूत्रार्थमाह-**'त्रिंशद्-विंशति' इत्येताभ्यामिति** त्रिंशद्-विंशतिरिति सर्वविभक्तिको निर्देशः उचितः, अपदं न प्रयुञ्जीतेति निषेधश्रवणात्, तथापि शब्दस्वरूपमात्रनिर्देशार्थमविभक्तिको निर्देशो लेखकप्रमादो वेत्यवधेयम्। "मूल्यैः क्रीते" [६.४.१५०.] इति क्रीतार्थे प्रत्ययो वक्ष्यते, मूल्यार्थात् तृतीयान्तात्।

"Aho Shrutgyanam"

त्रिंशद्विंशती सामान्यतः संख्यावाचकौ अपि शब्दौ तत्संख्यमुद्रादिमूल्यपरावित्याश्रित्य विग्रहमाह—**त्रिंशता क्रीतं त्रिंशकमिति** । त्रिंशत्शब्दात् डके डित्त्वाद् "डित्यन्त्यस्वरादेः" [२.१.११४.] इत्यन्त्यस्वरादिलोपे **त्रिंशकमिति** । विंशत्या क्रीतमित्यर्थे डके, "विंशतेस्तेर्डिति" [७.४.६७.] इति तिलोपे **विंशकमिति** एवमर्हदर्थेऽपि ।

नन्वर्हदर्थस्याविधितया तत्रार्थे कथमनेन प्रत्ययः, ततः पूर्वमेवास्य प्रवृत्त्यौचित्यादिति चेदत्राह—**आर्हदर्थ इत्यभिविधावाकार** इति । अयमाशयः—मर्यादाऽभिविधिरेति द्विधाविधिः, द्वावप्यर्थावाङा निपातेनोच्येते । तत्र व्याख्यानाल्लक्ष्यानुरोधाच्चाभिविधिरूप एवार्थ इहाङा बोध्यते अभिविधिश्चाभिव्याप्य विधिरित्यर्थानुरूपमविभूतमप्यभिव्याप्नोतीत्यर्हदर्थेऽपि प्रकृतसूत्रस्य प्रवृत्तिरिति । पदकृत्यं पृच्छति—**असंज्ञायामिति किमिति** । संज्ञायामुत्तरसूत्रविधीयमान औत्सर्गिकः क एवेष्ट इत्याशयेन प्रत्युदाहरति—**त्रिंशत्कः, विंशतिकः** ॥६।४।१२९॥

संख्या-डतेश्चाशत्-ति-ष्टेः कः ॥६।४।१३०॥

त०प्र०—**शदन्त-त्यन्त-ष्टचन्तवर्जितायाः संख्याया डतिप्रत्ययान्ताच्च शब्दाच्चकारात् त्रिंशद्विंशतिभ्यां च आर्हदर्थे कः प्रत्ययो भवति । एकणोऽपवादः । संख्या, द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम् । त्रिकम् । पञ्चकम् । बहुकम् । गणकम् । यावत्कम् । तावत्कम् । अध्यर्धकम् । अर्धपञ्चमकम् । डति, कतिभिः क्रीतं कतिकम् । त्रिंशत्, त्रिंशत्कम् । विंशति, विंशतिकम् । अशत्-ति-ष्टेरिति प्रतिषेधे प्राप्ते डति-त्रिंशद्, विंशतीनामुपादानम् । अशत्तिष्टेरिति किम्? चात्वारिंशत्कम् । पाञ्चाशत्कम् । साप्ततिकम् । आशीतिकम् । नावतिकम् । षाष्टिकम् ॥१३०॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—संख्या० । संख्याशब्देनात्र लोकप्रसिद्धानामेकादीनामेव न ग्रहणमपि तु "डत्यतुसंख्यावत्" [१.१.३९.] इत्यादि सूत्र चतुष्टयेन संख्यावदतिदिष्टानामपीत्युदाहरणावलोकनेन विज्ञायते । उचितं चैतत्* कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः* इति न्यायेन कृत्रिमाया एव संख्याया ग्रहणौचित्येऽपि प्रकृतसूत्र एव त्यन्त-ष्टयन्तसंख्यायाः पर्युदासेनोभयगतिरिह भवतीति विज्ञानाल्लोकप्रसिद्धाया अपि संख्याया ग्रहणात् । **इकणोऽपवाद** इति । प्रकरणप्राप्तस्येत्यर्थः । **द्विकं त्रिकं पञ्चकमिति** लोके प्रसिद्धसंख्यो **बहुकमित्यादि** संख्यावदतिदिष्टानाम् ।

ननु संख्यात्वेनैव डत्यन्त-त्रिंशद्विंशतीनां ग्रहणे सिद्धे डतेः साक्षात् त्रिंशद्विंशत्योश्चकारेणोपादानं व्यर्थमित्याशङ्क्यायामाह—**अशत्तिष्टेरिति प्रतिषेधे प्राप्त** इति । 'अशत्तिष्टः' इति शदन्त-त्यन्त-ष्टयन्तसंख्याप्रकृतिकोटेः पर्युदस्यते, पर्युदासे च फलतः प्रतिषेध एव भवतीति त्रिंशतः शदन्तत्वेन डत्यन्तविंशत्योस्त्यन्तत्वेन पर्युदासो मा भूदिति तेषां पृथगुपादानमित्यर्थः ।

नन्वस्तु नाम शदन्तत्वेन त्रिंशतोऽप्राप्तौ तद्ग्रहणमावश्यकम्, डत्यन्त-विंशत्योस्तु न त्यन्तपर्युदासः प्राप्तः *अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य* इति न्यायेनार्थवत् त्यन्तस्यैव प्रतिषेधादिह डत्यन्ते विंशतौ च तेरनर्थकत्वात् तयोः पर्युदासासंभवत् तदग्रहणं व्यर्थमेव । समुदायो ह्यर्थवान् । तस्यैकदेशोऽनर्थक इति न्यायेन डतिः, शतिश्चार्थवन्तौ न तदेकदेशभूतस्तिः । न च केवलप्रत्ययस्य लोके प्रयोगाभावात् । तस्यार्थबोधकत्वेन क्वाप्यदर्शनात् लौकिके प्रयोगे प्रसिद्धत्वस्यार्थवत्त्वाभावात् प्रत्ययविषये *अर्थवद्ग्रहण०* न्यायो न प्रवर्त्तत इति वाच्यम्, अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्यापि शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहार्थमर्थवत्त्वस्य स्वीकार्यत्वात् । यदि हि केवलप्रत्ययस्य लोकेऽप्रयोगाद् तस्यार्थवत्त्वं न स्वीक्रियते तर्हि केवलायाः प्रकृतेरपि लोके प्रयोगाभावात् तत्राप्यर्थवत्त्वं न स्यादिति गतमर्थवत्तया प्रकृति-प्रत्यय-समुदायादपि अवयवेष्वदृष्टस्यार्थवत्त्वस्य समुदाये दुर्लभत्वाद् ।

ततश्च यस्मिन् प्रत्यये सति योऽर्थो बुध्यते यस्मिन्नासति सोऽर्थो नावगम्यते, सोऽर्थस्तस्यैव प्रत्ययस्येति निश्चीयत इति सूपपन्नान्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्याप्यर्थवत्ता । किञ्च लौकिके प्रयोगे केवलप्रत्ययस्याप्रयोगाल्लोके तस्यार्थवत्ता माऽस्तु नाम, शास्त्रकारैस्तु शास्त्रव्यवस्थार्थं प्रत्ययानामर्था निरूपिता एव तत्र तत्रेति शास्त्रीयप्रक्रियासु तेषामर्थवत्त्वस्य दुर्वारत्वम् । अत एव धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते ।

कृत्-तद्धितानामर्थश्च केवलानामलौकिकः इति वाक्यपदीयेन वचनेन धात्वादीनां लौकिक एवार्थो निषिध्यते न शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहक इत्यवधेयम् । एवं च *अर्थवद्ग्रहण०* न्यायसहकारेण डत्यन्त-विंशत्योस्त्यन्तत्वानेबन्धनपर्युदासाभावे सिद्धे प्रत्ययोत्पत्तौ निराबाधायां डतेर्विंशते-

"Aho Shrutgyanam"

अत्र सूत्रे ग्रहणं निरर्थकमिति चेन्न, *अर्थवद्ग्रहण०* न्यायस्य चलत्वज्ञापनाय तदिति स्वीकारात्। चले च तस्मिन् कदाचिड्डत्यन्त-विंशत्योरपि त्यन्तत्वनिबन्धनः प्रतिषेधः स्यादिति तद्वारणाय (ताभ्यामपि प्रत्ययोत्पत्त्यर्थं) डतेर्विंशतेश्च ग्रहणस्य सार्थक्यम्। यदि च तदनित्यत्व-ज्ञापनस्यान्यत्र फलाभावः। ज्ञापकं च स्वाचारितार्थ्य-साधकमन्यत्र फलावायकं च सदेव वस्तु ज्ञापयित्वा स्वचारि-तार्थ्यं लभते, न स्वसार्थक्यमात्रसाधनेनेति फलान्तराभा-वान्न चलत्वख्यापनार्थमस्यावश्यकत्वमिति कथ्यते तदा स्पष्टा-र्थमेव डतेर्ग्रहणं, विंशतेश्च पूर्वसूत्रे त्रिंशता सह पठित-त्वात्, त्रिंशतः शदन्तत्वनिबन्धनप्रतिषेधाभावाय संग्रही-तमावश्यकत्वात् चकाराकृष्टेन तेन सहैव समुच्चय इति सोऽपि स्पष्टार्थ एवास्तु।

एवं षष्टिशब्देऽपि तिप्रत्ययान्तत्वमेवेति त्यन्तत्वेनैव तद्वारणे सिद्धे ष्टेर्ग्रहणमपि अव्युत्पत्तिपक्षाभिया कृतं वस्तुतः स्पष्टार्थमेव। सप्तत्यादौ त्यन्तत्वनिबन्धनप्रतिषेधस्य व्युत्पत्ति-पक्षाश्रयणं विनाऽसिद्धत्वादेकस्मिन्नेव सूत्रे पक्षद्वयाश्रयण-स्यानौचित्यात्। "विंशत्यादयश्च" [६.४.१७३.] इति सूत्रेण प्रकृतिप्रत्ययार्थव्युत्पादनपुरःसरं साधिता एवैते शब्दा इति अव्युत्पन्नत्वकथनासङ्गतेः। एवं च षष्टौ तिप्रत्ययस्यानुशिष्टत्वेन त्यन्तत्वनिबन्धन एव तत्र प्रतिषेधः सुलभ इति ष्टेर्ग्रहणमपि स्पष्टार्थमेवेति प्रतीमः। अत एव उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानीति न्यायव्याख्यावसरे बृहद्वृत्तौ न्याये उणादिपदस्योपलक्षणत्वमाश्रित्य अन्येषामपि नाम्ना-मव्युत्पन्नत्वं प्रसाध्यात्रत्यष्टेर्ग्रहणस्य सार्थक्यमात्रं फलमुक्त-मिति तदपि *स्थितस्य गतेश्चिन्ता*रूपमेव नान्यदिति प्रतिभाति, फलान्तरस्यानुक्तेः। ष्टिग्रहणमात्रसार्थक्यायोप-लक्षणत्वस्वीकारस्य दुर्बलत्वादिति चिन्त्यम् ॥६।४।१३०॥

शतात् केवलादतस्मिन् येकौ ॥६।४।१३१॥

त०प्र०—**आ अर्हदर्थाद् योऽर्थो वक्ष्यते तस्मिन् केवलाच्छतशब्दाद् य इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, कापवादौ, अतस्मिन् स चेदर्थो वस्तुतः प्रकृत्यर्थादभिन्नो न भवति। शतेन क्रीतं शत्यम्, शतिकम्। शतमर्हति शत्यः, शतिकः। शतं वर्षाणि मानमस्य शत्यः, शतिकः पुरुषः। केवलादिति किम्? द्वयुत्तरं शतं द्विशतम्। तेन क्रीतं द्विशतकम्। संख्यादे-श्चार्हदलुच इति प्राप्नोति। अतस्मिन्निति किम्? शतं मानमस्य शतकं स्तोत्रम्। शतकं निदानम्। अत्र हि प्रकृत्यर्थ एव श्लोकाध्याय-शतं प्रत्ययान्तेनाभिधीयते। अन्यस्मिंस्तु शते भवत्येव। शतेन क्रीतं शाटकशतम्, शत्यम्, शतिकम् ॥१३१॥**

श०म० न्यासानुसन्धानम्—शतात्०। आर्हदर्थे इति संबध्यते। केवलादिति पदं "संख्यादेश्चार्हदलुचः" [६.४.८०.] इति प्राप्तस्य संख्यादेः शतस्य व्यवच्छेदाय। तथा च सूत्रार्थमाह—**आ अर्हदर्थाद् योऽर्थो वक्ष्यत** इत्यादिना। **कापवादाविति** "संख्या-डतेश्चाशत्-तिष्टेः कः" [६.४.१३०.] इति पूर्वसूत्रप्राप्तस्य कस्या-पवादौ प्रत्ययाविमाविति्यर्थः। अतस्मिन्निति पदं व्याख्याति-**स चेदर्थ** इत्यादिना। **वस्तुत** इति कथनं प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः प्रतीयमानस्य प्रातिभासिकस्य भेदस्य सत्त्वेऽपि पारमार्थिकस्यामेदस्य ग्रहणाय। क्रमशोऽर्थेषु उदाहरति—**शतेन क्रीतमित्यादिना**। अत्र मानार्थस्यार्हदर्थात् पूर्वोपस्थितत्वेऽपि पश्चादुपादानं स्मृत्यारूढं क्रममादायैव। **केवलादिति किमिति**। *प्रत्ययविधौ तदन्तग्रहणस्य निषेधः* इत्यभिमानेन प्रश्नः। "संख्यादेश्चार्हदलुचः" [६.४.८०.] इति संख्यादेस्तदन्ताद् विशिष्य प्रत्यय-विधानस्यानुशिष्टत्वेन प्रत्युदाहरति—**द्वयुत्तरं शतं द्विश-तमिति**। शतद्वयविवक्षायां तु समाहारे सति द्विशती-त्यापत्तेरिदं विग्रहप्रदर्शनं कृतम्।

प्राप्तिं स्मारयति—**"संख्यादेश्चार्हदलुचः" [६.४.८०.] इति प्राप्नोतीति**। प्रकृत्यर्थात् प्रत्ययान्तार्थस्य भेदावश्यंभावात् **शङ्कते अतस्मिन्निति किमिति**। प्रत्युदाहरति—**शतं मानमस्य शतकं स्तोत्रमिति**। अत्र कथं प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययान्तार्थयोरभेद इत्युपपादयति—**अत्र हि प्रकृत्यर्थ एवेत्यादिना**। अयमाशयः शतं मानमस्येति विग्रहे प्रत्ययोत्पादनाय प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयो-र्भेदविवक्षौपचारिकी। तात्त्विकस्तु तयोरभेद एव। अत्र शतसंख्यावच्छिन्नः श्लोकसमुदायो वा प्रत्ययार्थः। स च वस्तुतः शतमेव, शतशब्दस्य तत्संख्यापरिच्छिन्नमेवार्थः। ततश्च प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थाद् वस्तुतो न भिद्यते। तदेव हि श्लोकादीनां शतं प्रकृत्याऽभिधीयते यः प्रत्ययान्तेनो-च्यते इति न प्रकृत्यर्थात् प्रत्ययार्थो भिद्यते। यथा शतमित्यत्र विभक्तिवाच्ये एकत्वे सत्यपि शतत्वरूपं बहुत्वं न निवर्तते तद्वत्। एवं च यत्र प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थाद्

"Aho Shrutgyanam"

भिन्नः तत्र प्रत्ययः प्रवर्तते यथा शतेन क्रीतः शत्योऽश्वः, शतं वर्षाणि मानमस्य शत्यः पुरुष इत्यादौ, तत्र हि शताद् भिन्नोऽश्वपुरुषादिः प्रत्ययार्थः। सदृशं दृष्टान्तमाह– **अन्यस्मिंस्तु शते भवत्येवेति** । अत्रायमभिसन्धिः– प्रत्ययार्थस्य द्विविधं शतत्वम्, प्रकृत्यर्थाभिन्नं तदभिन्नं च। प्रथमस्योदाहरणं शतं श्लोका मानमस्येति शत्यं, शतिकं वा स्तोत्रम्। द्वितीयस्य (प्रकृत्यर्थभिन्नस्य) उदाहरणम्– **शतेन क्रीतं शाटकशतं शत्यमिति** ।

अत्र हि शब्दान्तरप्रयोगसमधिगम्यं शाटकेषु शतत्वम्, न स्वत इति प्रकृत्यर्थात् प्रत्ययार्थस्य भेदः । अयमत्र विशेषः शत्य-शतिकौ सामान्यशब्दौ । सामान्यशब्दाश्च न प्रकरणादिविशेषासमवधानमन्तरेण विशेषे वर्तन्ते । तेन यावत् शाटकशतमित्येतत् पदान्तरं न प्रयुज्यते तावत् प्रत्ययार्थस्य शतत्वं नावसीयते, तत्र पदान्तरसन्निधानेन गम्यमानं शाटकेषु शतत्वं पदार्थान्तरं भवति, न तु शत्य इति प्रयोगप्रकृत्यर्थः । शतकं स्तोत्रमित्यत्र श्रवणमात्रेण प्रत्ययार्थगता शतसंख्या प्रतीयत इति न तत्र पदान्तरप्रयोगापेक्षेति भेदः । ततः पूर्वोक्तं शत्यं शाटकशतमित्यत्र अत्तस्मिन्निति निषेधो न प्रवर्तते, शतकं स्तोत्रमित्यत्र प्रवर्तते ।

अथ चार्थः "शताच्च ठन् यतावशते" [पा०सू० ५.१.२१.] इति सूत्रे महाभाष्येऽपि "शत प्रतिषेधेऽन्यशतत्वेऽप्रतिषेधः" वार्तिकेनानुमतः । तत्र च पक्षद्वयमन्यस्मिन् शते अशते इति प्रतिषेधः स्वयमेव न प्रवर्तते इति वार्तिकाशय इत्येकः पक्षः । अन्यस्मिन्नपि शते शाटकादिगते अशते इति निषेधो न प्रवतते इति विशिष्य वक्तव्यमित्यपरः पक्षः । प्रथमपक्षे युक्तिरियम्–शतशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तेः योऽयमशते इति प्रतिषेधः सूत्रे क्रियते स अन्यस्मिन् पदान्तरप्रयोगेण गम्यमाने न प्रवर्तते तस्य प्रकृत्यर्थभिन्नत्वादिति सिद्धमेवार्थं वार्तिकोऽनुवदतीति ।

द्वितीयपक्षे चेयं युक्तिः–शतकं स्तोत्रमित्यत्र स्तोत्रस्यैकत्वात् प्रत्ययार्थे शतत्वं न शब्दमर्यादया लभ्यते, किन्तु अवयवगतं शतत्वं समुदाये आरोप्य शब्दजबोधोत्तरं प्रतीयते इति न प्रत्ययार्थत्वं शतस्य । यथा वृक्ष इत्यत्र मूलशाखाद्यवयवसमवेतबहुत्वसंख्याश्रयं बहुवचनं न भवति बहुत्वस्य शब्दजप्रतीति विषयत्वाभावात्, किन्त्वेकत्वमेव समुदायगतं प्रतीयते शब्देन । एवं शतकं स्तोत्रमित्यत्र शतत्वप्रतीतिनिमित्तो निषेधो न भविष्यति, तस्य शब्दजप्रतीतिविषयत्वाभावात्, किन्तु यत्र प्रत्ययार्थस्य परिमेयस्य शतसंख्यत्वं भविष्यति यथा शत्यं शाटकशतमित्यत्र तत्र प्रतिषेधः प्रवर्तिष्यते इति तत्र अप्रतिषेधो वक्तव्य एव। एवं चान्यशतत्वे प्रतिषेधोऽप्रवर्तमानः सामर्थ्यादनुमीयमानशतत्वविषयः संपद्यते। तेन शतकं स्तोत्रमित्यत्र प्रतिषेधः सिद्धो भवतीति। यत् तु शत्यं शाटकशत्यमित्यत्र शतस्य पदान्तरेण प्रतिपद्यमानत्वात् पदार्थान्तरत्वमित्युक्तं तदपि न विचारसहम्, पदान्तरसमभिव्याहारेण प्रतीयमानत्वमात्रेण पदार्थान्तरत्वानुपपत्तेः 'गौः शोभना' इत्यादौ स्त्रीत्वं पदान्तर(शोभना)समभिव्याहारेणैव प्रतीयत इति किं स्त्रीत्वं गोपदार्थो न स्यात्?। शत्यं शाटकशतमित्यादौ शत्यस्य शाटकद्वयादेरपि संभवात् तद्व्युदासाय स्पष्टीकर्तुमेव शाटकशतमिति प्रयुज्यते शतस्य साधारणत्वात् साधारणशब्दाश्च न विशेषमन्तरेण विशेषे वर्तन्त इत्युक्तत्वात्। वस्तुतस्तु शाटकशतमेव शतेन क्रीतमिति तस्य प्रत्ययार्थत्वमेव। एवं च तत्र प्रतिषेधाभावाय यत्नः कर्तव्य एव। ततश्चालब्धप्रसरोऽतस्मिन्निति प्रतिषेधः प्रत्ययार्थस्तोत्रावयवगतशतत्वमादाय शतकं स्तोत्रमित्यत्र प्रवर्तिष्यते इति प्रतिभाति। किन्तु आचार्यवचनानुरोधेन स्वमतेऽन्यस्मिन् शते निषेधो न प्रवर्तते इत्यवसेयम्। तत्र च युक्तिरुक्तैवेति कृतमधिकप्रपञ्चेन परमताश्रितेनेति ॥६।४।१३१॥

वातोरिकः ॥६।४।१३२॥

त०प्र०–अत्यन्तायाः संख्याया आ अर्हदर्थाद्योऽर्थो वक्ष्यते तस्मिन्निकः प्रत्ययो वा भवति । यावतिकम्, यावत्कम्। तावतिकम्, तावत्कम् । विधानसामर्थ्यादिकारलोपो न भवति ॥१३२॥

श० म० न्यायासानुसन्धानम्—वातो०। प्रकरणाच्चातुःप्रत्ययान्ता संख्यैव गृह्यते, न तु भातेर्डवतुप्रत्ययेन निष्पन्नो भवदादिशब्दः। **यावतिकमित्यादौ** "ऋवर्णोवर्ण०" [७.४.७१.] इति इकेकारस्य लोपमाशङ्क्याह–**'विधानसामर्थ्यादिकारलोपेनेति**। अयमाशयः–इकारलोपस्येष्टत्वे इकप्रत्ययविधानमेव व्यर्थं स्यात्, रूपे विशेषाभावात्, यदेव हि केन रूपं तदेव चेदिकेनापि भवेदिकस्य विधानं व्यर्थमेव स्यादिति ॥६।४।१३२॥

"Aho Shrutgyanam"

कार्षापणादिकट् प्रतिश्चास्यवा ॥६।४।१३३॥

त०प्र०-कार्षापणशब्दादार्हदर्थे इकट्प्रत्ययो भवति, अस्य च कार्षापणशब्दस्य प्रति इत्यादेशो वा भवति। कार्षापणिकम्। कार्षापणिकी। प्रतिकम्। प्रतिकी। चकार आदेशस्य प्रत्ययसंनियोगशिष्टत्वार्थः। अत एव द्विगोर्लुपि प्रत्ययादेशो न भवति। द्विकार्षापणम् अस्येति स्थानिप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा प्रतिः प्रत्ययान्तरं विज्ञायेत। टकारो ङ्यर्थः ॥१३३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कार्षा०॥ कार्षापणशब्दो रूप्यकचतुर्थांशवाचकः। आर्हदर्थे इति पूर्वतः संबध्यत एवेत्येवं सति सूत्रार्थमाह-**कार्षापणशब्दादित्यादिना।** कार्षापणेन क्रीतमिति विग्रहः। इकटि, अवर्णलोपे **कार्षापणिकम्,** टित्त्वात् स्त्रियां ङीः, कार्षापणेन क्रीता **कार्षापणिकी**ति। कार्षापणस्य प्रत्यादेशे इवर्णलोपे च **प्रतिकम्**इति। स्त्रियां **प्रतिकी**ति। ननु 'प्रतिरस्य वा' इत्येव निर्देष्टव्यमादेशस्यैकत्वेन सकृच्छ्रवणेऽपि चकारो व्यर्थ इत्याशङ्कायामाह-**चकार आदेशस्य सन्नियोगशिष्टत्वार्थ** इति। प्रत्ययसन्नियोगेनैवादेशो भवति, न तु तदभावे इत्युभयोः सहावस्थितिविज्ञानार्थ इत्यर्थः। प्रत्ययापाये सति तत्सन्नियोगशिष्टप्रत्यादेशस्याप्यपायः। *सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः *इति न्यायादिति भावः। तदेव दर्शयति-**अत एव द्विगोर्लुपी**ति। यः द्विगोः परस्येकटो "द्विगोरनपत्ये य स्वरादेर्लुबद्विः" [६.१.२४.] इति लुप् विधीयते, तत्र प्रत्यादेशो न भवतीत्यर्थः। तदेवोदाहरति-**द्विकार्षापणम्,** अध्यर्धकार्षापणमिति। अत्र द्वाभ्यां कार्षापणाभ्यां क्रीतमित्यर्थे तद्धितार्थे द्विगुसमासे कृतेऽनेनेकटि, तस्य पूर्वोक्तसूत्रेण लुपि द्विकार्षापणमिति। एवमध्यर्धकार्षापणमित्यपि।

ननु कार्षापणादिकट् प्रतिश्च वेत्येव सूत्रं क्रियताम्, आदेशसन्निधानाच्च तत्संबन्धार्थं कार्षापणशब्दस्य स्वमात्त एव षष्ठ्यन्ततया विपरिणामः स्यादेवेति 'अस्य' इति पदं सूत्रे व्यर्थम्, इति चेदत्राह-**अस्येति स्थानिप्रतिपत्त्यर्थमि**ति। कार्षापणशब्दस्य स्थानित्वप्रतीत्यर्थमिति तदर्थः। ननु च *अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामेनैव* स्थानित्वप्रतीतिः स्यादिति चेदत्राह-**अन्यथा प्रतिः प्रत्ययान्तरं विज्ञायेते**ति। अयमाशयः-अस्येति षष्ठ्यन्तस्य सन्निधानादेव प्रतेरादेशत्वं गम्यते, तदभावेऽयमन्यः प्रत्यय एव कार्षापणशब्दाद् विधीयते इत्यवगम्येतेति। टकारस्याप्रयोगित्वादाह-**टकारो ङ्यर्थ** इति॥६।४।१३३॥

अर्धात् पलसंकर्षात् ॥६।४।१३४॥

त०प्र०-अर्धशब्दपूर्वात् पलसंकर्ष इत्येवमन्तान्नाम्न आर्हदर्थे इकट्प्रत्ययो भवति। अर्धपलिकम्, अर्धपलिकी। अर्धकंसिकम्, अर्धकंसिकी। अर्धकर्षिकम्, अर्धकर्षिकी ॥१३४॥

श० म० न्यासासन्धानम्—अर्धात्०। पञ्चम्यन्तयोः पदयोः सह प्रकृतित्वासंभवाद् विशेषण-विशेष्यभावेन सूत्रार्थमाह-**अर्धशब्दपूर्वादित्यादिना।** अर्धादित्यत्र परशब्दयोगे पञ्चमी। परशब्दश्चाप्रयुक्तोऽप्यर्थद्वारा युज्यते। तथा चार्धात् परात् पलकंसकर्षादित्यर्थे लब्धे फल्गोऽर्धशब्दपूर्वात् पलसंकर्षादित्यर्थोऽवसीयते। पलस्यार्धमर्धपलं तेन क्रीतमिति विग्रहः। सामान्ये क्लीबम्। स्त्रीत्वविवक्षायां टित्त्वाद् ङीः॥ ६।४।१३४॥

कंसार्धात् ॥६।४।१३५॥

त०प्र०-कंस अर्ध इत्येताभ्यामार्हदर्थे इकट्प्रत्ययो भवति। कंसिकम्, कंसिकी। अर्धिकम्। अर्धिकी ॥१३५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कंसा०। स्पष्टम् ॥६।४।१३५॥

सहस्रशतमानादण् ॥६।४।१३६॥

त०प्र०-सहस्र शतमान इत्येताभ्यामार्हदर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। केकणोरपवादः। सहस्रेण क्रीतः साहस्रः। शतमानेन शातमानः। 'वसनात्' [६.४.१३८.] इत्यत्र सहस्रशतमानग्रहणमकृत्वाऽण्वचनम्, 'नवाणः' [६.४.१४२.] इति एवमर्थम् ॥१३६॥

श० म० न्यासनुसन्धानम्—सहस्र०। केकणोरपवादः इति। सहस्रशब्दस्य संख्यावाचकत्वेन ततः "संख्याडतेः०" [६.४.१३०.] इति कः प्राप्तः, शतमानशब्दश्च परिमाणविशेषवचनत्वान्मूल्यरूप इति "मूल्यैः क्रीते" [६.४.१५०.] इतीकण्, ततः प्राप्त इति तयोरपवादोऽयमण् इत्यर्थः। ननु "वसनात्" [६.४.१३८.] इति सूत्रेणाञ् विधीयते तत्रैवानयोरपि ग्रहणं कार्यमणञो रूपे भेदाभावादिति किमर्थमिदं पृथक्प्रत्ययविधानमिति

"Aho Shrutgyanam"

शङ्कामुत्थाप्य समाधत्ते-वसनादित्यत्रेत्यादिना। अयमाशयः-"वसनात्" [६.४.१३८.] इति सूत्रेणाञ् विधीयते, तस्य च "अनाम्यद्विः०" [६.४.१४१.] इति प्लुप् भवति नित्यम्। अणश्च "नवाणः" [६.४.१४२.] इति विकल्पेन प्लुप् विधीयते, इति अणञोर्विधाने फले भेदस्य स्पष्टत्वात् पृथगनेन सूत्रेणाभ्यामण् विधानस्य सार्थक्यमिति ॥६।४।१३६॥

शूर्पाद् वाञ् ॥६।४।१३७॥

त० प्र०-शूर्पशब्दादार्हदर्थेऽण् प्रत्ययो वा भवति । इकणोऽपवादः । शौर्पम् । शौर्पिकम् ॥१३७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-शूर्पाद्०। अत्र मुद्रितपुस्तके बृहद्वृत्तौ 'अण्' प्रत्ययो वेति पाठो दृश्यते स मुद्रणदोषात्, सूत्रेऽत्र एव पाठादग्रिमसूत्रेऽपि तस्यैवानुवृत्तेर्दर्शनाच्च। इकणोऽपवाद इति। "मूल्यैः क्रीते" [६.४-१५०.] इत्यादिसामान्यसूत्रैः प्राप्तस्येति शेषः। शूर्पशब्दस्य मूल्यवाचकत्वं तु तत्परिमितधान्यादिपरत्वेऽभ्याहृतमेव। केवलस्य शूर्पस्यापि विनिमयसाधनत्वाश्रतेः शूर्पं दत्त्वा वस्त्वन्तरस्य विनिमातुं शक्यत्वात् ॥६।४।१३७॥

वसनात् ॥६।४।१३८॥

त० प्र०-वसनशब्दादार्हदर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति वसनेन क्रीतं वासनम् ॥१३८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-वसनात्। वसनशब्दोऽत्र तद्रूपमूल्यार्थकः। वसनेन-वस्त्रेण मूल्येन क्रीतं वासनम् ॥६।४।१३८॥

विंशतिकात् ॥६।४।१३९॥

त०प्र०-विंशतिकशब्दादार्हदर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। विंशतिर्मानमस्य विंशतिकम्, तेन क्रीतं वैंशतिकम्। योगविभाग उत्तरार्थः ॥१३९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—विंशति०। आर्हदर्थेऽञ् इति पूर्वतः संबध्यते। विंशतिकशब्दो न प्रसिद्ध इति तं व्युत्पाद्य दर्शयति-विंशतिर्मानमस्येति। तथा च विंशतिशब्दान्मानेऽर्थे "संख्याऽतेः" [६.४.१३०] इति के विंशतिपरिमितः समुदायो विंशतिकशब्देनोच्यते। तेन क्रीतमित्यर्थेऽनेनाञ् विंशतिकमिति। ननु वसनादित्यत्रैव विंशतिकशब्दोऽपि पठ्यतां किमिति पृथक् सूत्रं क्रियते इति चेदत्राह-योगविभाग उत्तरार्थ इति। उत्तरस्मिन् दिगोरीनः इति सूत्रे विंशतिकशब्दमात्रस्य संबन्धार्थ इत्यर्थः। एकयोगनिर्देशे हि केवलस्य विंशतिकशब्दस्यानुवृत्तिर्न स्याद् इति भावः ॥६।४।१३९॥

द्विगोरीनः ॥६।४।१४०॥

त० प्र०-विंशतिकशब्दान्ताद् द्विगोरार्हदर्थे ईनः प्रत्ययो भवति। अञोऽपवादः। विधानसामर्थ्याल्लुप् न भवति। द्विविंशतिकीनम्। त्रिविंशतिकीनम्। अध्यर्धविंशतिकीनम् अर्धपञ्चमविंशतिकीनम् ॥१४०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-द्विगो०। विंशतिकादिति संबध्यते। केवलस्य तस्य द्विगुत्वाभावात् तदन्तविधिना तदन्ताद् द्विगोरित्यर्थः संपद्यते। अञोऽपवाद इति। "संख्यायाश्चार्हदलुचः" [६.४.८०.] इति संख्यावाचकपूर्वादपि प्रत्ययविधेरनुशिष्टत्वेन "विंशतिकात्" [६.४.१३९.] इति विहितोऽञ् द्विगोरपि तदन्तात् प्राप्त इति तदपवादोऽयमित्यर्थः।

ननु विधीयतामीनोऽनेन, तस्योत्तरसूत्रेण प्लुप् स्यादिति चेदत्राह-विधानसामर्थ्याल्लुप् न भवतीति। द्विगोरेवेनो विधीयते तस्य च नित्यं लुपि तद्विधानमेव व्यर्थं स्यादिति तत्सामर्थ्यादेव लुप् न भवतीत्यर्थः। द्वाभ्यां विंशतिकाभ्यां क्रीतमिति विग्रहे तद्धितार्थे द्विगौ कृते ईनः द्विविंशतिकीनमिति। एवं त्रिविंशतिकीनमित्यादावपि बोध्यम्। "क-समासेऽर्धर्द्धः" [१.१.४१.] "अर्धपूर्वपदः पूरणः"[१.१.४२.]इति सूत्राभ्यामर्धर्द्ध-अर्धपञ्चमशब्दयोः संख्यावत्त्वातिदेशाद् द्विगुसमासे अध्यर्द्धविंशतिकीनम्, अर्धपञ्चमविंशतिकीनमिति ॥६।४।१४०॥

अनाम्यद्विः प्लुप् ॥६।४।१४१॥

त० प्र०-द्विगोः समासादार्हदर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य पिल्लुप् सकृद् भवति, न तु द्विः अनाम्नि न चेत् प्रत्ययान्तं कस्यचिन्नाम भवति। द्वाभ्यां कंसाभ्यां द्विकंस्या वा क्रीतं द्विकंसम्। त्रिकंसम्। अध्यर्धकंसम्। अर्धपञ्चमकंसम्। द्विशूर्पम्। त्रिशूर्पम्। अध्यर्धशूर्पम्। अर्धपञ्चमशूर्पम्। अद्विरिति किम्? द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्। अञ्लुप्। द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकम्। अनाम्नि इति किम्? पञ्चलोहित्यः परिमाणमस्य पाञ्चलोहितिकम्। 'जातिश्च णि०'

"Aho Shrutgyanam"

[३.२.५१.] इत्यादिना पुंवद्भावः। पञ्चकलायाः परिमाणमस्य पाञ्चकलायिकम्। परिमाणविशेषनाम्नी एते। अत एव 'मानसंवत्सर०' [७.४.१९.] इत्यादिना नोत्तरपदवृद्धिः। लुपः पित्त्वात् पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीतः पञ्चगर्ग इत्यत्रैकणो लुपि पुंवद्भावो भवति। संख्यान्ताद् द्विगोर्लुपं नेच्छन्त्येके। द्वाभ्यां षष्टिभ्यां क्रीतं द्विषाष्टिकम्। त्रिषाष्टिकम् ॥१४१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-अना०। द्विगोरिति संबध्यते। प्रकरणादार्हदर्थे उत्पन्नस्यैव लुबिति तदनुसारं सूत्रार्थमाह-**द्विगोः समासा**दित्यादिना। अनाम्नीति विशेषमुपस्थितस्य द्विगोरथवा प्रत्ययान्तस्येत्यनिर्णये स्पष्टयति-**न चेत् प्रत्ययान्तं कथंचिन्नामेति**। द्विगोर्नामत्वे प्रत्यबलुबेव नामत्वं संपत्स्यत इति निषेधानर्थक्यमिति निषेधसामर्थ्याद् व्याख्यानाच्च प्रत्ययान्तस्यैव विशेषगमिदमिति भावः। **द्वाभ्यां कंसाभ्या**मिति विग्रहे तद्धितार्थे द्विगुः **द्विकंस्या क्रीत**मिति विग्रहे च समाहार-द्विगोः प्रत्ययः इति विशेषः। अत्र "कंसाद्वा" [६.४.१३५.] इति विहितस्येकणे लुप्। **द्विशूर्पमित्यादौ** "शूर्पादञ्" [६.४.१३७.] इति विहितस्याञः। **अद्विरिति किमिति**। *लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते* इति न्यायेन सकृदेव लुप् प्रवर्तते वेति अद्विरिति व्यर्थम्। किञ्च नेदं भावकार्यविधायकमपि तु प्रत्ययस्य लुपं शास्ति। सकृत्प्रवृत्त्यैव प्रत्यये लुप्ते विलोप्याभावादेव न पुनः प्रवर्तिष्यते इति नार्थोऽद्विरिति कथनमस्येति प्रभुराशयः। प्रत्युदाहरणेनोत्तरयति-**द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतमित्यादिना**। एवं च पूर्वमञो लुप्, पश्चादञो वैकल्पिकत्वेन इकण् भवतीति तस्यापि लुप् स्यात्, प्रत्ययान्तरसत्त्वाच्च लक्ष्यभेद इति भावः। **अनाम्नीति किमिति**। प्रायः आर्हदर्थे प्रत्ययान्ताः शब्दा विशेषगतयैव प्रयुज्यन्ते इति तेषां नामत्वमित्युत्तरयति-**पञ्चलोहिन्यः परिमाणमस्ये**ति। लोहिन्यो गुञ्जाः। कलायो द्विदलान्नविशेषः। तैः पञ्चभिः कृत्वैकं परिमाणान्तरं प्रसिद्ध्यतीति। तयोर्नामत्वमित्याह-**परिमाणविशेषनाम्नी एते** इति। नामत्वादेव च **द्विशौर्पिकमितिवत्** "मानसंवत्सरस्य०" [७.४.१९.] इत्युत्तरपदादिस्वरस्य वृद्धिर्न भवति किन्तु आदिस्वरवृद्धिरेवेत्याह-**अत एवेत्यादिना**। लुपः पित्त्वं यद् विहितं तस्य प्रयोजनं दर्शयति-**पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीत** इति। गर्गस्यापत्यं स्त्रियोगार्ग्यः, तासामपि क्रयसाधनत्वं संभवतीति "मूल्यैः क्रीते" [६.४.१५०.] इतीकण्। तस्यानेन पिल्लुपि "क्यङ्-मानि-पित्तद्धिते" [३.२.५०.] इति पुंवद्भावे "यञञोऽस्या०" [६.१.१२६.] यञो लुप्, पञ्चगर्ग इति। मतान्तरमाह—**संख्यान्ताद् द्विगो**रिति। एतत्प्रणीयेऽपि न दृश्यते। सति चाभिधाने "अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" [पा०सू० ५. १.२८] इति सूत्रे "विभाषाकार्षापणसहस्राभ्याम्" [५.१.२९.] इत्यग्रिमसूत्राद् विभाषाग्रहणमपकृष्य व्यवस्थितविभाषां चाश्रित्य समाधेयमिति न्यासस्त्वरसो दृष्टः ॥६।४।१४१॥

नवाणः ॥६।४।१४२॥

त० प्र०-द्विगोः परस्यार्हदर्थे विहितस्याणः पिल्लुप् वा भवति, न तु द्विः। द्विसहस्रम्, द्विसाहस्रम्। अध्यर्धसहस्रम्, अध्यर्धसाहस्रम्। अर्धषष्ठसहस्रम्, अर्धषष्ठसाहस्रम्। द्विशतमानम्, द्विशातमानम्। अध्यर्धशतमानम्। अध्यर्धशातमानम्। अर्धषष्ठशतमानम्, अर्धषष्ठशातमानम्। अण इति किम्? द्वौ द्रोणौ पचति द्विद्रोणः। अध्यर्धद्रोणः। पूर्वेण नित्यमेव लुप्॥१४२

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नवा०। द्विगोः प्लुप् अद्विः इति पदत्रयमनुवर्तते आर्हदर्थे विहितस्येति प्रकरणप्राप्तमेव। तथा च सूत्रार्थमाह—**द्विगोः परस्ये**त्यादिना। द्वाभ्यां सहस्राभ्यां क्रीतमित्यर्थे "संख्यादेराहदलुचः" [६.४.८०.] इति बलात् सहस्रशतमानादण् इत्यण् तस्यानेन पिल्लुप्। पक्षे द्विसाहस्रमिति "मानसंवत्सरस्य०" [७.४.१९.] इति उत्तरपदादिस्वरवृद्धिः, सा चादिस्वरवृद्धिं बाधते। एवं सर्वत्र। **अण इति किमिति**। सामान्यतः सर्वस्यैवार्हदर्थस्य द्विगोर्विहितस्य वा लुप् विधीयतामिति प्रभुराशयः। प्रत्युदाहरति-**द्वौ द्रोणौ पचतीति**। अत्र तं पचति "द्रोणाद् वाञ्" [६.४.१६१.] इति विहितस्याञो नित्यं पूर्वसूत्रेण प्लुप् भवति, इत्यत्रापि विकल्पेनैव परत्वात् स्यादिति भावः। तदाह—**पूर्वेण नित्यमेव लुबिति**। पूर्वसूत्रम्—"अनाम्न्यद्विः प्लुप्" [६.४.१४१.] इति ॥६।४।१४२॥

सुवर्ण-कार्षापणात् ॥६।४।१४३॥

त०प्र०-सुवर्णान्तात् कार्षापणान्ताच्च द्विगोः परस्यार्हदर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य वा लुप्

"Aho Shrutgyanam"

भवति, न तु द्विः । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम् । द्विसौवर्णिकम् । अध्यर्धसौवर्णिकम् । द्विकार्षापणम् । द्विकार्षापणिकम् । द्विप्रति । द्विप्रतिकम् । अध्यर्धकार्षापणम् । अध्यर्धकार्षापणिकम् । अध्यर्धप्रतिकम् ॥१४३॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—सुवर्ण० । द्विगोरिति संबध्यते, अद्विः प्लुप् इति च । आर्हदर्थे विहितस्येति प्रकरणलब्धम् । तथा च सूत्रार्थमाह—**सुवर्णान्तादित्यादि** । द्विगोः संबन्धादेव तदन्तविधिः । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतमित्यर्थे तद्धितार्थे द्विगौ "मूल्यैः क्रीते" [६.४.१५०.] इतीकण्, तस्य लुप् **द्विसुवर्णम्**, पक्षे "मानसंबत्सरस्य०" [७.४.१९.] इत्युत्तरपदादिस्वरवृद्धिः **द्विसौवर्णिकमिति** । द्वाभ्यां कार्षापणाभ्यां क्रीतमित्यर्थे कार्षापणादिकद् "प्रतिश्चास्य वा" [६.४.१३३.] इतीकद् तस्यानेन लुप्, **द्विकार्षापणम्** पक्षे **द्विकार्षापणिकम्** प्रत्यादेशस्यापि स्थानिवद्भावात् अनेन प्रत्ययलुपि **द्विप्रतीतिः** । पक्षे **द्विप्रतिकमिति** । अध्यर्द्धशब्दस्यापि वा लुप् ॥६।४।१४३॥

द्वि-त्रि-बहोर्निष्क-बिस्तात् ॥६।४।१४४॥

त० प्र०—द्वि-त्रि-बहु इत्येतेभ्यः परौ यौ निष्क-बिस्तशब्दौ तदन्ताद् द्विगोरार्हदर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुप् वा भवति, न तु द्विः । द्विनिष्कम्, द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम्, त्रिनैष्किकम् । बहुनिष्कम्, बहुनैष्किकम् । द्विबिस्तम्, द्विबैस्तिकम् । त्रिबिस्तम्, त्रिबैस्तकम् । बहुबिस्तम् । बहुबैस्तिकम् ॥१४४॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—द्वित्रि० । द्विगोरिति संबध्यत एव । द्विगुश्च यद्यपि संख्यापूर्वः तद्धितार्थे विहितः सर्वोऽपि समासः तथापीह द्वि-त्रि-बहुपूर्वस्यैव ग्रहणमिष्टं तत्पूर्वादेव निष्कविस्तात् प्रत्ययलुप उक्तेः । द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतमित्यर्थे तद्धितार्थे द्विगुसमासे "मूल्यैः क्रीते" [६.४. १५०.] इतीकण्, तस्य पक्षे लुप्, **द्विनिष्कम्**, लुबभावे **द्विनैष्किमित्यादि** ॥६।४।१४४॥

शताद् यः ॥६।४।१४५॥

त०प्र०—शतान्ताद् द्विगोरार्हदर्थे यः प्रत्ययो वा भवति । पक्षे संख्यालक्षणः कः तस्य लुप् भवति । अस्य तु विधानसामर्थ्यान्न भवति । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतं द्विशत्यम्, द्विशतम् । अध्यर्धशत्यम्, अध्यर्धशतम् । अर्धषष्ठशत्यम्, अर्धषष्ठशतम् ॥१४५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शता० । द्विगोरिति वर्तते । तत्सामर्थ्यात् तदन्तविधिः, तदाह—**शतान्ताद् द्विगोरिति** । वेत्यनुवृत्तेः येन मुक्ते क एवेत्याह—**पक्षे संख्यालक्षणः कः तस्य लुप् भवतीति** । यप्रत्ययवाभावे "शतात् केवलात्" [६.३.१३१.] इत्यत्र केवलादित्युक्तेः इकस्याभावे "संख्याडतेः०" [६.४. १३०.] इति को भवति, तस्य च "अनाम्यद्विः प्लुप्" [६.४.१४१.] इति प्लुप् ।

ननु तुल्यन्यायादनेन विहितस्य यस्यापि लुप् कुतो न भवतीति चेदत्राह—**अस्य तु विधानसामर्थ्यान्न भवतीति** । यद्यस्यापि लुबेव नित्यं भवेत् कार्यं श्रूयेत, द्विगोरेव विधानात्, ततश्च नित्यं प्लुप् "अनाम्यद्विः प्लुप्" [६.४.१४१.] इति विहितः, इति यविधानस्य वैयर्थ्यमेव स्यादिति भावः, स्पष्टमन्यत् ॥६।४।१४५॥

शाणात् ॥६।४।१४६॥

त०प्र०—शाणान्ताद् द्विगोरार्हदर्थे यः प्रत्ययो वा भवति । पक्षे इकण्, तस्य लुप्, अस्य तु न भवति विधानसामर्थ्यात् । पञ्चशाणम्, पञ्चशाण्यम्, अध्यर्धशाण्यम् । अध्यर्धशाणम् । अर्धपञ्चमशाण्यम्, अर्धपञ्चमशाणम् । योगविभागः उत्तरार्थः ॥१४६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—शाणात् ० । द्विगोरिति संबध्यते, तत्सामर्थ्यात् तदन्तविधिरिति तथैव सूत्रार्थमाह—**शाणान्ताद् द्विगोरित्यादि** । यप्रत्ययाभावे औत्सर्गिक इकण्, तस्य "अनाम्यद्विः प्लुप्" [६.४. १४१.] इति प्लुप् । अनेन विहितस्य यस्य तु पूर्ववद् विधानसामर्थ्यादेव न प्लुप् इत्येतत् सर्वं पूर्वसूत्रवदाह—**पक्षे इकण् इत्यादिना** । ननु सर्वस्य कार्यस्य पूर्वसूत्रवदेवेष्टत्वाद् तत्रैव शाणशब्दपाठोऽपि विधीयतां किमिति पृथक्सूत्रमारभ्यते इति चेदत्राह—**योगविभाग उत्तरार्थ इति** । उत्तरस्मिन् "द्वि-त्र्यादेर्याणू वा" [६.४.१४७.] इति सूत्रे केवलस्य शाणशब्दस्यैव संबन्धोऽस्तु, न शतशब्दस्यापीत्येतदर्थं पृथक् सूत्रमारब्धमित्यर्थः । एकयोगपाठे तु उभयोरनुवृत्तिर्दुर्वारा स्यादिति ॥६।४।१४६॥

"Aho Shrutgyanam"

द्वि-त्र्यादेर्याण् वा ॥६।४।१४७॥

त० प्र०–द्वि-त्रि इत्येतत्पूर्वो यः शाणशब्दस्तदन्ताद् द्विगोरार्हदर्थे य-अण् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः। वाग्रहणमुत्तरत्र वानिवृत्त्यर्थम्। द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्विशाण्यम्, द्वैशाणम्। पक्षे इकण् तस्य लुप्, द्विशाणम्, एवं त्रिशाण्यम्, त्रैशाणम्, त्रिशाणम्। एवं च त्रैरूप्यं भवति ॥१४७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–द्वित्र्या०। शाणाद् द्विगोरिति संबध्यते। तथा च सूत्रार्थमाह–द्वि-त्रि एतत्पूर्वो यः शाणशब्दस्तदन्ताद् द्विगोरिति। ननु वाशब्दस्य "न वाणः" [६.४.१४२] इति सूत्रादेवानुवर्तमानत्वादिहापि तस्यानुवृत्तिः स्यादेवेति पृथगिह किमर्थं वाग्रहणं विधीयते इति चेदत्राह–वाग्रहणमुत्तरत्र वा निवृत्त्यर्थमिति। अनुवर्तमाने वाग्रहणे पुनः क्रियमाणं वाग्रहणमेतदध्येव तदनुवृत्तिरिष्टा। नातः परमिति सूचयतीति इतोऽग्रे; नवाशब्दस्य संबन्ध इति सिध्यतीत्यर्थः। द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतमित्यर्थे तद्धितार्थे द्विगौ कृतेऽनेन येऽणि च द्विशाण्यं, द्वैशाणमिति। अस्य सूत्रस्य वैकल्पिकत्वपक्षे औत्सर्गिके इकणि तस्य "अनाम्यद्विः प्लुत्" [६.४.१४१.] इति लुपि द्विशाणमिति। एवं त्रिशाण्यमित्यादापि विज्ञेयम्। तथा च प्रत्येकं रूपत्रयमित्याह–एवं च त्रैरूप्यं भवतीति। त्रीणि रूपाण्येव त्रैरूप्यम्, तद्धितार्थे समासात् स्वार्थे ष्यण् ॥६।४।१४७

पण-पाद-माषाद् यः ॥६।४।१४८॥

त०-प्र०–पण-पाद-माष इत्येवमन्ताद् द्विगोरार्हदर्थे यः प्रत्ययो भवति। विधानसामर्थ्यान्न लुप्। द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतं द्विपण्यम्। त्रिपण्यम्। अध्यर्धपण्यम्। द्विपाद्यम्, त्रिपाद्यम्, अध्यर्धपाद्यम्। माष-पणसाहचर्यात् पादः परिमाणं गृह्यते, न प्राण्यङ्गम्, तेन 'हिमहतिकाषिये पद्' [३.२.९६.] इति पद्भावो न भवति, तत्र प्राण्यङ्गस्यैव ग्रहणात्। यद्वा पादसंबन्धी यकारस्तत्र गृह्यते, अयं द्विगुसंबन्धीति न भवति। द्विमाष्यम्। त्रिमाष्यम्। अध्यर्धमाष्यम् ॥१४८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पण०। द्विगोरिति संबध्यते, तदनुसारं तदन्तविधिरिति तथैव सूत्रार्थमाह–पणपादमाष इत्येवमन्ताद् द्विगोरिति। नन्वस्तु प्रत्ययः, तस्य "अनाम्यद्विः प्लुत्" [६.४.१४१.] इति लुत् स्यादिति चेदत्राह–विधानसामर्थ्यान्न लुबिति। व्याख्यातपूर्वमेतत् पूर्वसूत्रेषु। द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतमित्यर्थे ये द्विपाद्यम् इत्यत्र "हिम-हति-काषि०" [३.२.९६.] इति पादशब्दस्य पदादेशः कुतो नेति चेदत्राह–माष-पणसाहचर्यादिति। माष-पणशब्दौ परिमाणविशेषवाचिनाविति तत्सहचरितः पादशब्दोऽपीह चतुर्थांशपरिमाणरूप एव गृह्यते इति सिद्धे प्राण्यङ्गविशेषवाचकस्य पादशब्दस्येह ग्रहणाभावान्न ततोऽयं प्रत्ययः। पदादेशविधौ च प्राण्यङ्गवाचकस्यैव ग्रहणमित्याह–तेन "हिम-हति-काषि०" [३.२.९६.] इति पद्भावो न भवतीति।

ननु पदादेशविधौ प्राण्यङ्गवाचकस्यैव ग्रहणमित्यत्र किं मानमिति चेन्न "हृदयस्य हृल्लासलेखाण् ये" [३.२.९४.] इति सूत्रेण प्राण्यङ्गवाचकस्य हृदयशब्दस्य हृदादेशविधानात्, तत्प्रकरणपठितस्य पादशब्दस्यापि प्राण्यङ्गवाचकस्यैव ग्रहीतुमौचित्यात्। साहचर्यन्यायस्य चलत्वमाशङ्क्य समाधानान्तरमाह–यद्वा पादसंबन्धीति। "हिम-हति-काषि०" [३.२.९६.] इति सूत्रे पादस्येति संबध्यते। तच्च पदमावर्त्यते पादस्य पदादेशो भवति, पादस्य–ये इति। एवं च यत्र स्वतन्त्रात् (केवलात्) पादशब्दादेव यो विधीयते तस्मिन्नेव परे पदादेशः, इह च पादशब्दान्ताद् द्विगोर्यः कृत इति तत्र न पदादेश इत्यर्थः। तथा च प्राण्यङ्गादपीह प्रत्ययोऽस्तु तथापि न पदादेश इति भावः ॥६।४।१४८॥

खारी-काकणीभ्यः कच् ॥६।४।१४९॥

त० प्र०–खारी-काकणी इत्येवमन्ताद् द्विगोर्बहुवचनात् केवलाभ्यां च खारी-काकणीभ्यामार्हदर्थे कच् प्रत्ययो भवति। विधानसामर्थ्याच्च नलुप्। द्वाभ्यां खारीभ्यां क्रीतं द्विखारीकम्। त्रिखारीकम्। अध्यर्धखारीकम्। अर्धतृतीयखारीकम्। एवं द्विकाकणीकम्। त्रिकाकणीकम्। अध्यर्धकाकणीकम्। अर्धतृतीयकाकणीकम्। केवलाभ्याम्, खारीकम्। काकणीकम्। चकारो 'न कचि' [२.४.१०४.] इति प्रतिषेधार्थः ॥१४९॥

श० म०न्यासानुसन्धानम्—खारी०। द्विगो-

"Aho Shrutgyanam"

रिति संबध्यते, तथा च सूत्रार्थमाह–खारी काकणी इत्येवमन्तात् द्विगोरित्यादिना । एवमर्थस्यैकवचनेन वा निर्देशेऽपि सिद्धेः खारी-काकणीभ्यः इति बहुवचनान्तनिर्देशेन द्विधाप्याभ्यां प्रत्यय इति सूच्यते; तदाह–बहुवचनात् केवलाभ्यां खारी-काकणीभ्यामिति । तथा चावृत्तिकृतमिह बहुत्वम् । खारी च खारी चेति खार्यौ, काकणी च काकणी चेति काकण्यौ, खार्यौ च काकण्यौ च खारी-काकण्यः ताभ्यः खारी-काकणीभ्यः इत्येवं समासमाश्रित्यैव बहुवचनेन निर्देशः कृतः । तथा च प्रत्येकं खारी-काकणीशब्दौ द्विगोर्विशेषणे यदा तदा तदन्ताद् द्विगोरित्यर्थः, यदा च स्वतन्त्रे प्रकृती तदा केवलात् खारीशब्दात् काकणीशब्दाच्च कच् इति सूत्रस्यार्थद्वयं तात्पर्यमिति भावः । यत्र च द्विगोः कच् विधास्यते तत्र तस्य "अनाम्यद्विः प्लुत्" [६.४.१४१.] इति पिलुबपि नित्यं प्राप्स्यते इति तदभावमाह–विधानसामर्थ्याच्च न लुप् इति । एतच्च पूर्वत व्याख्यातमेव चकारस्याप्रयोगित्वेन वैयर्थ्यमाशङ्क्याह–चकारः "न कचि" [२.४.१०४.] इति प्रतिषेधार्थं इति । अत्र द्विखारीकमित्यादौ "ङ्यादीदूतः के" [२.४.१०४.] इति ईकारस्य ह्रस्वे प्राप्ते सति तस्य "न कचि" [२.४.१०५.] इति निषेधो यथा स्यादित्येवमर्थं इत्यर्थः ॥६।४।१४९॥

मूल्यैः क्रीते ॥६।४।१५०॥

त० प्र०–मूल्यवाचिनो निर्देशादेव तृतीयान्तात् क्रीतेऽर्थे यथाविहितमिकणादयः प्रत्यया भवन्ति । प्रस्थेन क्रीतं प्रास्थिकम् । सप्तत्या सात्ततिकम् । आशीतिकम् । नैष्किकम् । पाणिकम् । पादिकम् । त्रिंशकम् । विंशकम् । द्विकम् । त्रिकम् । शत्यम् । शतिकम् । मूल्यैरिति किम् ? देवदत्तेन क्रीतम् । पाणिना क्रीतम् । वृत्तौ संख्याविशेषानवगमाद् द्विवचनबहुवचनान्तान्न भवति । प्रस्थाभ्यां प्रस्थैर्वा क्रीतमिति । यत्र तु संख्याविशेषावगमे प्रमाणमस्ति तत्र भवत्येव । द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम् । त्रिकम् । द्वाभ्यां प्रस्थाभ्यां क्रीतं द्विप्रस्थम् । त्रिप्रस्थम् । यथा मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम् । माषिकम् । न द्रोकेन मुद्गेन माषेण वा क्रयः संभवति ॥१५०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–मूल्यै० । एतावत्पर्यन्तं केवलानार्हदर्थे तत्तन्नाम्यो विशिष्य विहितान् प्रत्ययानुक्त्वा, तेषामर्थान् निर्देष्टुमारभतेऽनेन सूत्रेण । मूल्यमवक्रयद्रव्यम्, यद्विनिमयेनेष्टं वस्तु लभ्यते तदिति यावत् । तृतीयाऽत्रेष्टा । समर्थविभक्तिः, सा च मूल्यैरिति तृतीयान्तनिर्देशाल्लभ्यत इत्याह–मूल्यवाचिनो निर्देशादेव तृतीयान्तादिति । अत्र मूल्येन क्रीते इत्येकवचनेनैव निर्देशे कर्तव्ये बहुवचननिर्देशो व्यर्थ इति न शङ्कनीयम्, स्वरूपात् प्रत्ययविधानपरिहारार्थं तथानिर्देशात्, मूल्येनेत्युक्तौ मूल्यशब्दादेव तृतीयान्तात् प्रत्यय इत्येवमर्थः स्यात् । किञ्चैकवचननिर्देशे गौरवमपि केचिन्मन्यन्ते ।

वस्तुतस्तु इदृशेऽर्थे लाघव-गौरवविचारो न युक्तः, अर्थभेदस्य विवक्षितस्य प्रतीतये गौरवस्यापि योग्यतायां तदादरात् । उदाहरति–प्रस्थेन क्रीतमित्यादिना । इत आरभ्य पादिकमिति पर्यन्तमिकणन्ताः । त्रिंशकं, विंशकमित्येतौ डकान्तौ । द्विकम्, त्रिकमित्येतौ कान्तौ शत्यं, शतिकमिति क्रमेण येकान्तौ, एतेषां प्रातिस्विकरूपेण विधानं पूर्वं कृतमेवेति प्रकृतसूत्रेणार्थस्यैव निर्देशः । इकणेव औत्सर्गिकः, स चानेनैव विधेयः ।

ननु तेन क्रीते इत्येवोच्यतां, क्रयणसाधनं हि मूल्यमेवेति विनाऽपि मूल्यग्रहणं मूल्यवाचकादेव प्रत्ययो भविष्यतीत्याशङ्कते–मूल्यैरिति किमिति । क्रीतशब्दयोगेन केवलं मूल्यवाचिन एव तृतीयान्तत्वमपि तु कर्तुस्तदुपकारकस्य च पाण्यादेरिति तेभ्यः प्रत्ययो मा भूदिति मूल्यग्रहणमावश्यकमिति प्रत्युदाहरणेनाह–देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतमिति । तथा चेदृशस्थले वाक्यमेव तिष्ठति, तेन क्रीते इत्येतावदुक्तौ च प्रत्ययो दुर्वार एवेति भावः । अन्ये च 'तेन क्रीतम्' इत्येव सूत्रं विदधति, मूल्यवाचिन एव च प्रत्ययमिच्छन्ति । तेषामयमाशयः कर्तुः करणान्तराच्च पाण्यादेरनभिधानादेव प्रत्ययो न भविष्यतीति मूल्यैरिति नावश्यकम्, क्रय्यस्य मूल्येनैव प्रत्यासत्तेरिति क्रयणं हि द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण विनिमयः, ततश्च क्रयणविनिमयसाधनद्रव्यमेव प्रत्यासन्नम्, स्वार्थान्तर्भावात् इति तदर्थकधातुसहचरितं विनिमयसाधनद्रव्यमेव मुख्यतया ग्रहीष्यते, तस्य च संबन्धः कर्त्रादिभ्यः प्रत्ययोत्पत्त्या न प्रतीयते इति तेभ्यः प्रत्ययो न भविष्यतीति ।

एवं च तृतीयान्तोपस्थापकते नेति पदेनापि निर्वाहे

"Aho Shrutgyanam"

मूल्यैरिति स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थमेवेति प्रतिभाति। व्याख्यानाद् वरं करणमिति न्यायात् प्रत्यासत्तिन्यायबलेन कर्त्रादिभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः प्रत्ययोत्पत्तिवारणवर्णनापेक्षया मूल्यपदोपादानस्यैव लघीयस्त्वात्। द्विवचन-बहुवचनान्तेभ्यः प्रत्ययानुत्पादस्येष्टत्वात् तत्र युक्तिं दर्शयति—**वृत्तौ संख्यानवगमात् द्विवचन-बहुवचनान्ताभ्यां न भवतीति**। वृत्तौ तद्धितादिप्रत्ययप्रयोगादौ संख्यायाः प्रकृतिगतद्वित्व-बहुत्वादेः अनवगमात् अप्रतीतेः सामान्यत एकत्वस्यैव प्रतिभासनाच्च द्विवचन-बहुवचनान्तेभ्यो नामभ्यः प्रत्ययोत्पत्तिर्न भवतीत्यर्थः। उक्तं च वाक्यपदीये वृत्तौ संख्यानवभासनमित्थम्—

"यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः।
अविभागेन वर्तन्ते संख्यां तां तादृशीं विदुः॥"
परित्यक्तविशेषं वा संख्यासामान्यमेव तत्॥" इति।

अयमर्थः—यथा नानौषधिरसा मधुनि समर्पितात्मानो विभक्ततया न प्रतीयन्ते, तथा वृत्तावपि संख्या विशेषतो नावगम्यते, अतः संख्याविशेषावगमाय वृत्त्यभाव एव शरणम् इति। न हि प्रास्थिकमित्युक्ते प्रस्थाभ्यां प्रस्थैर्वा क्रीतमिति विशेषतोऽवगम्यते, एकत्वसंख्यायाश्च स्वाभाविकत्वात् तस्यैव, संख्यासामान्यस्य वा प्रतीतिर्भवति, न तु द्वित्वादेः प्रचयरूपस्य तादृशार्थस्य प्रतीतौ कारणभूताया विभक्तेस्तत्राश्रवणात्। ततश्च तत्प्रतीतिर्वाक्य एव भवतीति तत्र वाक्यमेव समर्थम्।

नन्वेवं द्विवचन-बहुवचनान्ताभ्यां प्रत्ययो नोत्पद्यते इत्येव भवतां मतमित्यायाति, तर्हि द्वाभ्यां प्रस्थाभ्यां क्रीतं द्विप्रस्थं, त्रिभिः प्रस्थैः क्रीतं त्रिप्रस्थमित्यादयः प्रयोगा न भविष्यन्तीति चेदत्राह—**यत्र तु संख्याविशेषावगमे प्रमाणमस्ति तत्र भवत्येवेति**।

अयमाशयः—संख्याविशेषानवगमो द्विवचन-बहुवचनान्तेभ्यः प्रत्ययानुत्पत्तौ हेतुः। द्वादयस्तु शब्दा लुप्तायामपि विभक्तौ स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतां संख्यामवगयन्ति, इति तेभ्यो द्विवचन-बहुवचनान्तेभ्यः प्रत्ययोत्पत्तौ बाधकाभाव इति। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा **मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकमि**त्यादि। एषु प्रत्यये विभक्तौ लुप्तायामपि बहुत्वस्य स्वभावत एव भानं भवतीति बहुवचनान्तादपि प्रत्ययोत्पत्तिर्भवत्येव। बहुत्वस्य भाने कारणमाह **न—ह्येकेन मुद्गेन माषेण वा क्रयः संभाव्यत** इति। तथा चाभिधानानभिधानस्वभावमनुरुध्यैवेदमुक्तं यत् प्रस्थाभ्यां प्रस्थैर्वा क्रीतमिति विग्रहेण प्रत्ययोत्पत्तिरिति, न तु सर्वथा द्विवचन-बहुवचनान्तानां तद्धितवृत्तौ प्रवेशाभाव एवेति। वस्तुस्वभावमनुरुध्यैव चैषा व्यवस्था विज्ञेया। यदा तु मुद्गादीनां जातिशब्दत्वमभ्युपेयते, तदैकवचनान्तेभ्योऽपि तेभ्यः प्रत्ययोत्पत्तिर्भवत्येव, भवति च तत्र सामान्यतो मुद्गजातीयद्रव्यकृतविनिमयावगतिरिति नैकमुद्गव्यक्तिकृतविनिमयासंभवावभासः।

ननु "सोऽस्य भृति-वस्नांशम्" [६.४.१६८.] इति विहितेन प्रत्ययेन मूल्यक्रीतार्थस्यापि भानं भविष्यत्येवेति पृथगस्मिन्नर्थे प्रत्ययविधानं व्यर्थम्, येन हि यत् क्रियते तदेव तस्य मूल्यं भवतीत्युभयोरर्थयोः स्वरूपे भेदाभावादिति चेन्न यस्य वास्तविकं मूल्यं शतं नास्ति तत्कार्यवशात्, मूल्यापरिज्ञानाद् वा शतेन क्रीतं तत्रापि प्रत्ययः स्यादित्येतदर्थं पृथगस्मिन्नर्थे प्रत्ययविधानस्यावश्यकत्वात्। स्पष्टश्चायमर्थः "तेन क्रीतम्" [पा०सू० ५.१.३७.] इति सूत्रे कैयटे ॥६।४।१५०॥

तस्य वापे ॥६।४।१५१॥

त० प्र०—तस्येति षष्ठ्यन्ताद् वापेऽर्थे यथाविधि इकणादयो भवन्ति। उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम्। प्रस्थस्य वापः प्रास्थिकम्। द्रौणिकम्। मौद्गिकम्। शत्यम्। शतिकम्। खारीकम् ॥१५१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तस्य०। तस्येति षष्ठ्यन्तप्रतिरूपकं षष्ठीसमर्थविभक्त्युपस्थापकं पदम्। वापशब्दो घञन्तः, घञ् च भावे कर्तृभिन्ने कारके च भवति। तत्रात्र किमर्थकं वापदमिति संदेहे तस्याधिकरणपरतां व्याख्याति—**उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रमिति**। बीजानां प्रक्षेप्स्याधिकरणं वापपदेनोच्यत इति तद् वस्तुतः क्षेत्ररूपमेव पर्यवस्यति। तथा च परिमाणविशेषपरिमितबीजविशेषप्रक्षेपयोग्यं क्षेत्रं प्रत्ययान्तेनोच्यते। **प्रस्थस्य वापः क्षेत्रं प्रास्थिकमिति**। प्रस्थः परिमाणविशेषः, तत्परिच्छिन्नं बीजं च। यत्र क्षेत्रे प्रस्थपरिमितं बीजं वप्तुं योग्यं तत् **प्रास्थिकमिति**। एवं **मौद्गिकमित्यादि** मुद्गादिरोहणयोग्यक्षेत्रपरम् ॥६।४।१५१॥

वात-पित्त-श्लेष्म-संनिपाताच्छमन-कोपने ॥६।४।१५२॥

त० प्र०—वातादिभ्यस्तस्येति षष्ठ्यन्तेभ्यः

"Aho Shrutgyanam"

शमने कोपने चार्थे यथाविहितमिकण् प्रत्ययो भवति । शाम्यति येन तच्छमनम् । कुप्यति येन तत् कोपनम् । वातस्य शमनं कोपनं वा वातिकम् । पैत्तिकम् । श्लैष्मिकम् । सांनिपातिकम् । पथ्यमपथ्यं च द्रव्याद्येवमभिधीयते प्रकरणात् तु विशेषगतिः ॥१५२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—वात०। वातादयः त्रयः शरीरस्था दोषाः । सन्निपातश्च तेषां सर्वेषामेकसमये प्रकोपः । एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः शमन-कोपनयोरर्थयोः प्रत्ययः । तत्र शमन-कोपनशब्दयोरपि अनङन्तयोर्भावप्रधानत्वमुत कारकान्तरप्रधानत्वमिति संदेहे करणार्थपरतया व्याख्याति-शाम्यति येन तच्छमनमिति । कुप्यति येन तत् कोपनमिति । तथा च संख्याभेदाद् यथासंख्यमन्वयसम्भवे चतुर्थ्येऽप्येभ्यो द्वयोरप्यर्थयोः पर्यायेण प्रत्ययः । वातादीनां शमनं च तत्र दोषे उद्रिक्ते यत् पथ्यत्वेनायुर्वेदे समुपदिष्टम् । तुल्यन्यायात् कोपनमपि तदेव यत् साम्येन स्थितेष्वपि तेषु सेवितं तत्तद्दोषोद्रेकहेतुत्वेनापथ्यतया आयुर्वेदे समुपदिष्टमिति । तदेवाह—पथ्यमपथ्यं च द्रव्याद्येवमभिधीयत इति । वाते पथ्यं द्रव्यं तच्छमनं कथ्यते, अपथ्यं च तत्कोपनं कथ्यते ।

नन्वस्तूभयोरप्यर्थयोर्वाचकत्वं वातिकादिशब्दानां, किन्तूभयोरेतयोरर्थयोः परस्परविरुद्धत्वेनैकत्रावस्थानासंभवात् । क्व शमनार्थत्वं, क्व प्रकोपनार्थत्वमिति कथं निर्णेयमिति चेदत्राह—प्रकरणात् तु विशेषगतिरिति । अयमर्थः—अनेकार्थस्य शब्दस्य क्व कोऽर्थो ग्राह्य इति संदेहे निर्णायकाः संयोगादयः शास्त्रकृद्भिरुक्ताः, तेषु प्रकरणमपि निर्णायकमुक्तम्, यथा सैन्धवशब्दोऽश्व-लवणयोरुपस्थापकोऽपि भोजनप्रकरणे लवणार्थकतया, यात्राप्रकरणे चाश्वार्थकतया निर्णीयते, तथेहापि पथ्यप्रकरणे शमनार्थकतया अपथ्यप्रकरणे च कोपनार्थकतया निर्णयो भविष्यतीति । ते संयोगादयश्चैवमुक्ता भर्तृहरिणा—

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥" इति ।

अस्यार्थः— सम्यग्योगः प्रसिद्धः संबन्धः संयोगः । पूर्वस्य प्रसिद्धसंबन्धस्य ध्वंसः विप्रयोगः । साहचर्यमेकदेशकालावस्थायित्वम् । विरोधिता वध्यघातकभावत्वं सहानवस्थायित्वं च । अर्थः प्रयोजनापरपर्यायमन्यथासाध्यं फलम् । प्रकरणं वक्तृ-श्रोतृ-बुद्धिस्थतादि । लिङ्गं संयोगातिरिक्तसंबन्धेन परपक्षव्यावर्तको धर्मः । शब्दस्यान्यस्य संनिधिः— समासाद्यनधीनसमानार्थकशब्दसमभिव्याहारः । सामर्थ्यं करणता । औचिती योग्यता । देशविशेषः कालविशेषश्च । व्यक्तिः स्त्रीत्व-पुंस्त्वादि लिङ्गम् । स्वराः—उदात्तानुदात्तादयः । आदिपदाद् अभिनयापदेशौ । एते संयोगादयः शब्दार्थस्य अनेकार्थशब्दाभिधेयस्य अनवच्छेदे अत्र कोऽर्थो ग्राह्य इति संदेहे विशेषस्य प्रकृते विवक्षितस्यार्थविशेषस्य स्मृतौ उद्बोधने समुपस्थापने वा हेतवः तज्जनका इति । उदाहरणानि विस्तरभयान्नोक्तानि सत्यामपेक्षायां वैयाकरणलघुमञ्जूषायाः शक्तिनिरूपणे काव्यप्रकाशीयद्वितीयोल्लासे तट्टीकायां चावलोकनीयमिति ॥६।४।१५२॥

हेतौ संयोगोत्पाते ॥६।४।१५३॥

त० प्र०-तस्येति षष्ठ्यन्ताद्धेतावर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ हेतुः स चेत् संयोग उत्पातो वा भवति । हेतुर्निमित्तम् । संयोगः संबन्धः । प्राणिनां शुभाशुभसूचको महाभूतपरिणाम उत्पातः । शतस्य हेतुरीश्वरसंयोगः शत्यः, शतिकः । साहस्रः । उत्पातः-सोमग्रहणस्य हेतुरुत्पातः सोमग्रहणिको भूमिकम्पः । सांग्रामिकमिन्द्रधनुः । सौभिक्षिकः परिवेषः । शतस्य हेतुर्दक्षिणाक्षिस्पन्दनम् शत्यं शतिकम् । साहस्रम् । संयोगोत्पात इति किम् ? शतस्य हेतुश्चैत्रः ॥१५३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—हेतौ०। तस्येति समर्थविभक्त्युपस्थापकं पदमनुवर्तते । संयोगोत्पातयोर्द्वयोरपि समाहारेणोपस्थापितयोरेकत्वाऽवभासनाद् हेतावित्यनेन सामानाधिकरण्यम् । तेन संयोगोत्पाताभिन्ने हेतावर्थे इत्येवं बोधो भवति । हेतुशब्दस्य समवायादिकारणत्रये करणादौ च प्रयोगादिह हेतुपदेन कस्य ग्रहणमिति संदेहे आह—हेतुर्निमित्तमिति । संयोगोत्पातशब्दयोः लोके प्रसिद्धार्थकत्वेऽपि प्रकृतोपयोग्यर्थं विविच्याह—संयोगः संबन्ध इत्यादिना । संयुज्यन्ते लोकाः फलविशेषैः येन निमित्तेन स सर्वः

"Aho Shrutgyanam"

संयोगः। स च संबन्धविशेषो वाऽस्तु यागादिकर्म वाऽस्तु सर्वं संयोगत्वेन व्यपदेष्टुं शक्यते। **प्राणिनां शुभाशुभसूचकः महाभूतपरिणाम उत्पात** इति। येनोपनतेन जीवानां शुभाशुभं वा निमित्तविधया सूच्यते ईदृशः महाभूतानां पृथिव्यादिपञ्चकस्य संबन्धी परिणामः—कम्पादिविकारः उत्पातशब्देनोच्यते इत्यर्थः। महाभूतपदमुपलक्षकम् तेनातर्कितोपनतः महाभूतपरिणामः, वस्त्रादेर्भेददाहादिः, उपानत्पादुकादेः छेदो वा अशुभसूचक उत्पातः, जलादानादिसमयेऽकस्मादागतं पक्षादि, ताम्बूलादिपर्ण वा, एवमादि शुभसूचक उत्पातः इति महाभाष्य-कैयटादुक्तम्।

ननु एतेषां संयोगानामुत्पातानां वा फलेन सह संबन्धाभावात् कथं तत्कारणत्वमेतेषामिति चेत्, फलविशेषविषयबुद्ध्युत्पत्तुहेत्तित्वात्। अयमाशयः—एभिः संयोगादिभिरवश्यप्राप्तव्यफलविषयिणी बुद्धिरुत्पद्यते, फलानि तु स्वस्वनियतकारणादेव भवन्ति, न तु तत्रोत्पातादेः कोऽपि व्यापारः। उत्पातादिभिः भाविफलं पूर्वमेव सूच्यते इति तावन्मात्रे हेतुत्वं तेषाम्। फलरूपकार्यनियतपूर्ववृत्तित्वेन तु तेषु तत्कारणत्वग्रहो लौकिकानाम्। यथा जन्मकाले तत्तत्स्थानस्थिताः नवग्रहाः तानि तानि फलानि जनयन्तीति व्यपदेशो लौकिकानां स्थूलदृष्ट्या शास्त्रकाराणामपि। नहि ग्रहाः फलजनकाः फलं स्वस्वपूर्वानुष्ठितकर्मजन्यादृष्टानुसारमेव, ते तादृशादृष्टस्य सूचका एव, तथैव संयोगोत्पातावपि सूचकावेव तयोः फलनिमित्तव्यवहारो लौकिकानामुपचारादेव विज्ञेयम्।

उदाहरति—**शतस्य हेतुरीश्वरसंयोग** इति। ईश्वरेण राज्ञा संयोगः स्वस्वामिभावादिसंबन्धः शतस्य शतसंख्याकद्रव्यप्राप्तेः हेतुरिति। शतशब्दात् "शतात् केवलादतस्मिन् येकौ" [६.४.१३१.] इति येकौ शत्यः, शतिक इति। सहस्रस्य निमित्तमित्यर्थे "सहस्रशतमानादण्" [६.४.१३६.] इत्यण् साहस्रः। सोमग्रहणस्य (चन्द्रग्रहणस्य) निमित्तहेतुरुत्पातः सौमग्रहणिको भूमिकम्प इति। औत्सर्गिक इकण्। यद्यपि वेदाङ्गज्यौतिषे भूमिकम्पस्य चन्द्रग्रहणे हेतुत्वं न दृश्यते, बृहत्संहितायाम्—'भूकम्पः प्रवरनृपमृत्युम्' इत्येतत् फलं निर्दिष्टमस्ति तथापि ज्यौतिषान्तरमनुसृत्येदमिति प्रतिभाति। भूकम्पलक्षणं चोक्तं सिद्धान्ततत्त्वविवेके मध्यमाधिकारे भौगोलिकप्रकरणे—

"पाषाणैः कठिना भूमिर्यत्र तत्र कुतो बलात्।
वाष्पनिःसरणात् कम्पः शब्दोऽपि सततं भुवि ॥ २०६ ॥" इति।

यत्र भूमिः पाषाणैः कठिना तत्र भूमितः सहसा वाष्पनिःसरणात् भूमिकम्पो भवतीत्यर्थः। संग्रामस्य निमित्तं **सांग्रामिकमिन्द्रधनुः**। इन्द्रधनुर्लक्षणमुक्तं तत्रैव—

"अग्न्यम्बु-वायुप्रभवाः स्युर्दोर्ध्वं बाष्पाः कुपृष्ठाद् गगनं प्रयान्ति। अनेकवर्णं विततीन्द्रचापं" (ग्रहान् समन्तात् परिवेष उक्तः) ॥ २०० ॥ इति।

भूमिपिण्डान्तर्गताग्नि-जल-वायुप्रभवाः बाष्पाः भूपृष्ठाद् गगनं प्रयान्ति। ते (तत्र गत्वा) अनेकवर्णमिन्द्रधनुर्जनयन्तीत्यर्थः। तेषामनेकवर्णत्वं धनुराकारत्वं च कुत इत्यस्योपपत्तिरित्थमुक्ता सार्वभौमे।

"तेजोमिश्राश्च पीतत्वं नीलत्वं जलमिश्रिताः।
धूममिश्राश्च लौहित्यं पृथग् यान्ति रवेः कराः॥
तद्रश्मीनां सांनिहित्यं खगोलार्धे यतो भवेत्।
यतस्तच्चापरदृशं शक्रचापं बुधैः स्मृतम्॥" इति।

अस्य फलमुक्तं बृहत्संहितायाम्—

"निर्घातः सुरचापं दण्डश्च क्षुद्भयं सपरचक्रम्।
गृहयुद्धं नृपयुद्धं केतुश्च सदैव संदृष्टः॥ इति।

तथा च नृपयुद्धहेतुत्वात् सांग्रामिकत्वं तस्य।

सौभिक्षिकः परिवेष इति सुभिक्षस्य हेतुरित्यर्थः। परिवेषस्य लक्षणं बृहत्संहितायाम्—

"संमूर्च्छिताः रवीन्द्वोः किरणाः पवनेन मण्डलीभूताः।
नानावर्णाकृतयस्त्वन्वभ्रे व्योम्नि परिवेषः॥" इति।

तत्फलं यद्यपि "परिवेषो रुक्पीडाम्।" इत्युक्तम्, तथापि तस्य रवीन्दुसमीपस्थस्य शीघ्रं वृष्टिहेतुत्वं दूरस्थस्य विलम्बेन वृष्टिहेतुत्वमित्यन्यत्र प्रतिपादितमिति वृष्टिहेतुत्वात् परम्परया सुभिक्षहेतुत्वमपि भवति। **शतस्य हेतुर्दक्षिणाक्षिस्पन्दनमिति**। पुरुषस्य दक्षिणाक्षिस्पदनं शुभदमिति प्रसिद्धं, तद् यदि कस्यचित् शतस्य सहस्रस्य वा प्राप्तेर्निमित्तं स्यात् तदेदमुदाहरणम्। हेतुत्वमेव प्रत्ययार्थोऽस्तु संयोगोत्पातयोः किमिति ग्रहणं क्रियते इति पृच्छति **संयोगोत्पात इति किमिति**। यत्र यत्र चैत्रादिः कस्मैचित् शतादिपरिमितं धनं दापयति तत्र प्रयोजकत्वेन तस्यापि हेतुत्वमिति तदर्थेऽपि प्रत्ययः स्यादित्याह—**शतस्य हेतुश्चैत्र** इति। कृते तु संयोगोत्पातयोर्ग्रहणे वाक्यमेव तिष्ठतीति ॥६।४।१५३॥

"Aho Shrutgyanam"

पुत्राद् येयौ ॥६।४।१५४॥

त० प्र०–पुत्रशब्दात् तस्येति षष्ठ्यन्ताद्धेतावर्थे य ईय इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, स चेद्धेतुः संयोग उत्पातो वा भवति । पुत्रस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा पुत्र्यः । पुत्रीयः ॥१५४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पुत्राद्० । तस्येति संबध्यते हेतौ संयोगोत्पाते इति च । तथा च सूत्रार्थमाह-पुत्रशब्दात् तस्येति षष्ठ्यन्तादित्यादिना । पुत्रस्य हेतुरिति । पुत्रप्राप्तेः सूचक इत्यर्थः । येययोः कृतयोरवर्णलोपे पुत्र्यः पुत्रीय इति ॥६।४।१५४॥

द्विस्वर-ब्रह्मवर्चसाद्योऽसंख्यापरिमाणाश्वादेः ॥६।४।१५५॥

त० प्र०-संख्यापरिमाणाश्वादिवर्जिताद् द्विस्वरान्नाम्नो ब्रह्मवर्चसशब्दाच्च तस्येति षष्ठ्यन्ताद्धेतावर्थे यः प्रत्ययो भवति, स चेद्धेतुसंयोग उत्पातो भवति । इकणादीनामपवादः । धनस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा धन्यः । यशस्यः । आयुष्यः । वात्या विद्युत् । ब्रह्मवर्चसस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा ब्रह्मवर्चस्यः । कथं गोर्हेतुः संयोग उत्पातो वा गव्यः । द्विस्वराभावात् 'गोः स्वरे यः' [६.१.२७.] इति भविष्यति । द्विस्वरेति किम् ? विजयस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा वैजयिकः । आभ्युदयिकः । ब्रह्मवर्चसग्रहणमद्विस्वरार्थम् । असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम् ? संख्या—पञ्चानां हेतुः संयोग उत्पातो वा पञ्चकः । सप्तकः । परिमाण, प्रास्थिकः । खारीकः ।

'ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः॥'

इति संख्यापरिमाणयोर्विशेषः । अश्वादि, आश्विकः । गाणिकः । वासुकः ।

अश्व गण वसु वस्त्र ऊर्णा उमा भङ्गा वर्षा अश्मन् इत्यश्वादिः ॥१५५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—द्विस्वर० । तस्य हेतौ संयोगोत्पाते इति संबध्यते एव । तथा सूत्रार्थमाह–संख्यापरिमाणश्वादिवर्जितादित्यादिना । इकणादीनामपवाद इति । इकणौत्सर्गिकः, आदिपदेन यथासंभवं द्विस्वरेभ्यः प्राप्तानामन्येषां संग्रहः । गोशब्दादपि परैर्योऽत्र विशिष्य विहितः, तन्मते 'गोः स्वरे यः' [६.१.२७.] इत्यस्य प्राग्दीव्यतीयत्वात् तदवधेः समाप्तेः इति स्वमते तन्नावश्यकम्, अस्य (गोः स्वरे यः इत्यस्य) प्राग्जितीयत्वात् तदवध्यन्तर्गतत्वादस्यार्थस्येति सूचयितुं पृच्छति– कथं गोर्हेतुरित्यादिना । अन्यथैवाऽत्र यः सिद्ध इत्युत्तरयति–"गोः स्वरे यः" [६.१.२७.] इति भविष्यतीति ।

ननु परितो मीयतेऽनेनेति करणप्रत्ययान्तपरिमाणशब्दस्य क्रियाशब्दत्वात् परिच्छेदहेतुमात्र(सकलपरिच्छेदहेतु)-वाचकत्वं भवति । संख्याऽपि परिच्छेदहेतुरेवेति तस्या अपि परिमाणत्वेनैव ग्रहणं स्यादिति तद् ग्रहणं पृथङ्नावश्यकमिति शङ्कायां संख्या-परिमाणयोर्भेदं विविच्य ग्राहयितुं सर्वेषां लक्षणमाह-ऊर्ध्वमानमित्यादिना । ऊर्ध्वदिगवस्थितं परिच्छेदकमुन्मानमिति । यथा–हास्तिनमुदकमित्यत्र हस्तीति केचनाहुः । वस्तुतस्तु हस्त्यादेः प्रमाण एवान्तर्भावात्, तुलादण्डादावारोप्य येन द्रव्यान्तरपरिच्छिन्नगुरुत्वेन पलादिशब्दवाच्येन पाषाणादिना सुवर्णादेर्गुरुत्वं मीयते तदुन्मानम्, तच्चोर्ध्वारोपणादूर्ध्वमित्युच्यते । परिमाणं तु सर्वत इति । परितो मीयते सर्वतः परिच्छिद्यते येन तत् परिमाणमित्यर्थः । आयामस्तु प्रमाणं स्यादिति । आयामो दैर्घ्यं विस्तारो वा दारुवस्त्रादीनां येन मीयते तत् प्रमाणं हस्तादि । तच्चायामपरिच्छेदकत्वादुपचारादायामशब्देनोच्यते । संख्या बाह्या तु सर्वतः इति । संख्या एक-द्व्यादिका सर्वत उन्मानादेर्बाह्या संनिवेशादिनिरपेक्षत्वान्नान्तःपरिच्छेदिकाऽत एव बहिर्भूतपरिच्छेदकत्वात् बाह्या । उक्तं च–

"भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्चन" इति ।

अयमाशयः– परिमाणशब्दः क्रियाशब्दत्वेऽपि विशिष्टपरिच्छेदहेतौ द्रोणादौ रूढो न संख्याभिधेयत्वेन गृह्णाति तथा च योगरूढोऽयमिति । यथा पङ्कजशब्दः पङ्काधिकरणजननकर्तरि व्युत्पन्नोऽपि, पङ्कमेवाभिधत्ते, न कुमुदादिकमपि । संख्या तु भेदमात्रमाह–सा हि पदार्थानां भेदं संख्यान्तरप्रयोजकवस्तुसाहित्याभावरूपं संख्यान्तरनिवर्तकवस्तुसाहित्यरूपं च वैलक्षण्यं केवलं प्रतिपादयति, मूर्तामूर्तगणनात्मकत्वात् संख्यायाः । मूर्तमपचितपरिमाणमुपचितपरिमाणं वा वस्तु । अमूर्तमात्मादि । सर्वमपि संख्यया

"Aho Shrutgyanam"

परिच्छिद्यते, यथा त्रयः परमाणवः, सप्तकुलपर्वताः इति, द्वावात्मानावित्यादि च। तदुक्तम्-

"दृष्टिप्रस्थसुवर्णादिमूर्तभेदाय कल्पते।
क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका ॥" इति।

परिमाणं तु आरोह-परिणाहाभ्यां, धान्यादि येन काष्ठादिमयेन पात्रेण मीयते तत् प्रस्थादिकमुच्यते। संख्या च परिमाणस्यापि परिच्छेदिका-यथा द्वौ द्रोणाविति। प्रस्थादिकं तु न संख्यां परिच्छेत्तुमलं, तस्य संनिवेशसापेक्षत्वात्। तथा च संनिवेशसापेक्षत्व-निरपेक्षत्वमपि संख्या-परिमाणयोः पार्थक्यम्। सर्वं चेदम्-"आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाढक्" [पा०सू०५.१.१९.] इति सूत्र-भाष्य-प्रदीपोद्द्योतेषु सुविवेचितम्। एवं च संख्या परिमाणयोर्भेदात् पृथगुक्तिरावश्यकीति ॥६४।१५५॥

पृथिवी-सर्वभूमेरीश-ज्ञातयोश्च ॥६।४।१५६॥

त० प्र०-पृथिवी-सर्वभूमिशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यामीश-ज्ञातयोस्तस्य हेतुः संयोग उत्पात इत्यस्मिन् विषये चाञ्प्रत्ययो भवति। ईशः स्वामी। पृथिव्याः ईशः पार्थिवः। सर्वभूमेः सार्वभौमः। सर्वभूमेरनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। पृथिव्या ज्ञातः पार्थिवः। कर्तरि षष्ठी संबन्धविवक्षायां वा। एवं सार्वभौमः। पृथिव्या हेतुः संयोग उत्पातो वा पार्थिवः। सार्वभौमः। ईश-ज्ञातयोरिति द्विवचनं हेतुविशेषणत्वशङ्काव्यवच्छेदार्थम् ॥१५६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-पृथिवी०। तस्येति प्रकृतम्। ईश-ज्ञातयोरर्थयोः चकारात् संयोगोत्पातयोरर्थयोश्च प्रत्ययविधानम्। ईशशब्दस्यार्थान्तरेऽपि प्रयोगादिह ग्राह्यनर्थमाह-ईशः स्वामीति। सर्वभूमिशब्दस्योभयपदवृद्धिः कथं दृश्यते इत्यपेक्षायां तस्यानुशतिकादित्वं स्मारयति-सर्वभूमेरनुशतिकादित्वादिति। ईशार्थे उदाहृत्य ज्ञातार्थे उदाहर्तुमाह-पृथिव्या ज्ञात इति।

नन्वत्र षष्ठी कथं युज्यते पृथिव्या ज्ञाततायाधिकरणत्वे सप्तमी, ज्ञानकर्तृत्वविवक्षायां वा तृतीया स्यादित्याशङ्कायामाह-कर्तरि षष्ठीति। वर्तमानार्थकस्य क्तस्य योगे "क्तयोरेदाधारे" [२.२.९१.] इति सूत्रेण षष्ठीनिषेधस्य "पर्युदस्तत्वात् कर्तरि" [२.२.८६.] इति षष्ठीविधानादिति भावः।

नन्वत्र ज्ञातशब्दे वर्तमानार्थक एव क्त इत्यत्र न मानम्, न हि वर्तमानकालमात्रज्ञानविषये तथाप्रयोगो भवति, किन्तु भूतेऽपि, ततश्च षष्ठीनिषेधात् कथं षष्ठ्यन्तेन सामर्थ्यमिति चेदत्राह-**संबन्धविवक्षायां** वेति। नात्र पृथिव्या अधिकरणत्वादिविवक्षा अपि तु संबन्धसामान्यविवक्षा, संबन्धसामान्यविवक्षायां तु सर्वेषु कारकेषु षष्ठ्या निर्विवादत्वात् कारकत्वस्य विवक्षामूलत्वात्। सर्वभूमिशब्दादपि षष्ठ्यन्तादेव, ज्ञातेऽर्थे प्रत्यय इति निर्दिशति-**एवं सार्वभौम** इति। सर्वभूमेर्ज्ञात इत्येव विग्रहोऽत्रापीत्यर्थः। संयोगोत्पातयोरपि हेतुत्वे प्रयोगमाह-**पृथिव्या हेतुः संयोग** इत्यादिना। नन्वीशज्ञात इति समाहारनिर्देश एवास्तु किमिति द्विवचनेन निर्दिश्यतेऽत आह-**ईश-ज्ञातयोरिति द्विवचनमिति**। यथा संयोगोत्पातौ हेतुविशेषणतया संबद्धौ तथैवेमावप्यर्थौ तद्विशेषणे इति मा ज्ञायिषातामिति द्विवचनेन निर्देशः कृत इत्यर्थः। तथा च विभिन्नविभक्तिकतया न हेतुविशेषणतासंभव इति पृथगर्थत्वप्रतीतिरन्यथा पार्थिवादौ पृथिवीनिमित्तत्वप्रतीतिः स्यादिति भावः ॥६।४।१५६॥

लोक-सर्वलोकाज्ज्ञाते ॥६।४।१५७॥

त० प्र०-लोक-सर्वलोकशब्दाभ्यां तस्येति षष्ठ्यन्ताभ्यां ज्ञातेऽर्थे यथाविहितमिकण्प्रत्ययो भवति। लोकस्य ज्ञातो लौकिकः। सार्वलौकिकः। सर्वलोकशब्दस्यानुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः ॥१५७॥

श०म० न्यासानुसंधानम्-लोक०। तस्येति समर्थविभक्त्युपस्थापकं पदं संबध्यते। प्रत्ययान्तरस्यानुक्तेः पादादावधिकृत इकणेव संबध्यते इत्याह-**यथाविहितमिकण्प्रत्ययो भवति** इति। लोकपदं सर्वसाधारणजनपरं जगत्परं वा। इकणि आदिस्वरवृद्धिः लौकिक इति। सर्वलोकशब्दे तूभयपदादिस्वरवृद्धिरित्याह-**सर्वलोकशब्दस्यानुशतिकादित्वादिति** ॥६४।१५७॥

तदत्रास्मै वा वृद्ध्याय-लाभोपदा-शुल्कं देयम् ॥६।४।१५८॥

त० प्र०-तदिति प्रथमान्तादत्रेति सप्तम्यर्थे, अस्मै इति चतुर्थ्यर्थे वा यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत् तत् प्रथमान्तं तच्चेद् वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयं भवति।

"Aho Shrutgyanam"

अधमर्णेनोत्तमर्णाय गृहीतधनातिरिक्तं देयं वृद्धिः। ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग आयः। पटादीनामुपादानं मूल्यातिरिक्तं प्राप्तं द्रव्यं लाभः। उपदा उत्कोचः। लञ्च उत्कोट इति यावत्। वाणिजां रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कम्। पञ्चास्मिन् शते वृद्धिः पञ्चकं शतम्। पञ्चास्मिन् ग्रामे आयः पञ्चको ग्रामः। पञ्चास्मिन् पटे लाभः पञ्चकः पटः। पञ्चास्मिन् व्यवहारे उपदा पञ्चको व्यवहारः। पञ्चास्मिन् शते शुल्कं पञ्चकं शतम्। एवं शतमस्मिन् वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयं शत्यं शतिकम्। साहस्रम्। प्रास्थिकम्। द्रौणिकम्। अस्मै, पञ्चास्मै देवदत्ताय वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयं पञ्चको देवदत्तः। शत्यः। शतिकः। साहस्रः। प्रास्थिकः। द्रौणिकः। वृद्ध्यादिग्रहणं किम्? पञ्च मूल्यमस्मिन्नस्मै वा दीयते ॥१५८॥

श०म०न्यासानुसन्धानम्-तद०। तदिति सामान्येन नपुंसकं प्रथमाविभक्त्युपस्थापकं पदम्। अत्रेति विषयसप्तमी; अस्मै इति संप्रदानचतुर्थीसमर्पकं च प्रत्ययार्थनिरूपकम्। तथा च सूत्रार्थमाह-**तदिति प्रथमान्तादित्यादिना।** अनयोः पृथक् पृथक् प्रत्ययार्थत्वम्। एकत्र द्वयोरर्थयोः समन्वयासंभवात्। वृद्ध्यादीनां समानार्थत्वभ्रमवारणाय तेषामर्थं विविच्य ग्राहयति-**अधमर्णेनोत्तमर्णायेत्यादिना।** अधमर्णस्य कृतेऽसावुत्तमर्णः ऋणग्राही, तस्य हि कृते वित्तक्षयकारित्वादपमानजनकत्वाच्च ऋणमधमम्। उत्तममृणस्य कृतेऽसावुत्तमर्णः वृद्ध्यर्थं धनप्रयोक्ता। तस्य धनप्रयोगेण धनस्य वृद्धिर्भवतीति तस्य कृते ऋणमुत्तमम्। तथा च ऋणदातोत्तमर्णः ऋणग्रहीताऽधमर्णः। तदुक्तम्—

"उत्तमर्णाधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमादिति।" [अमर० २.९.५.] तथा च ऋणग्रहीत्रा ऋणदात्रे गृहीतधनादधिकं यथा प्रतिज्ञातं यद् द्रव्यं दीयते तदेव वृद्धिशब्दवाच्यमिति लभ्यते।

ननु स्वशास्त्रे "वृद्धिरादैदौत्" [३.३.१.] इति परिभाषिता वृद्धिस्तस्या एव ग्रहणमुचितम् *कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः * इति न्यायादिति चेन्न, तस्या दानेन संबन्धासंभवात् कृत्रिमस्य संभवे एव हि तस्य कार्यं भविष्यति नासंभवे। **ग्रामादिषु स्वामिग्राह्य इति।** आदिना नगरस्य क्षेत्रादेश्च परिग्रहः, तथा चास्मिन् ग्रामे नगरे क्षेत्रे वा निवासकृष्यादिकृते एतावद् देयमिति रूपेण निश्चितो राजभाग आयः। **पटादीनामुपादानमूल्यातिरिक्तं प्राप्तं द्रव्यं लाभ इति।** पटादीनां निर्माय विक्रीयमाणानां पदार्थानां यदुपादानं सूत्रादि तस्य यदुचितं मूल्यं तस्मादतिरिक्तमधिकं यद् द्रव्यं तद्विक्रयेणलभ्यं स लाभः कथ्यते। **उपदा उत्कोच इति।** उपदीयते इति समीपं गत्वा तत्संतोषाय गुप्तरूपेण प्रदीयते सा उपदा भिदादित्वात् कर्मणि स्त्रियामङ्। उत्कोच इति तत्पर्यायः उपायनमित्यर्थः। "उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा।" इत्यमरः। वणिजां रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कमिति वणिजां क्रयविक्रयेण व्यवहर्तृणां धनादे रक्षा राजपुरुषैः क्रियते, तदर्थं राज्ञो भागरूपत्वेन नियतं द्रव्यं शुल्कमित्युच्यते इत्यर्थः।

ननु शुल्कमप्याय एव ग्रामादीनामपि रक्षानिमित्तमेव राज्ञो भागो भवति, स च पूर्वमायशब्देनोक्त एवेति किमर्थमिदं पृथगुपादीयते इति चेन्न, पञ्चास्मिन् ग्राम आय इत्येवमुक्तौ ग्रामस्यायं प्रति अधिकरणभावः प्रतीयते, उत्पद्यमानस्यायस्याधेयभावात्। शुल्के तु नैवं संभवति, पञ्चास्मिन् शते शुल्कम् इति शतं न शुल्कस्य तादृशमधिकरणम्, किं तर्हि, इयत्तापरिच्छेदः शतेन क्रियते शुल्कस्य। तथा चात्र शतस्य विषयतयैवाधिकरणभावो न तु साक्षात् क्रियाधिकरणत्वेन। एवं च तयोः (आयशुल्कयोः) प्रतीतौ भेदान्नैकेनोभयोः संग्रहः स्यादिति शुल्कं पृथगुपात्तम्।

अत्रेदं विचार्यते अस्मै अस्मिन् इति प्रत्ययार्थ-द्वयनिरूपणं किमर्थम्, एकेनापि सप्तम्यर्थेनोभयोः अधिकरण-संप्रदानयोर्बोधसंभवात्। तथाहि श्रूयते-

"सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
अधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे॥" इति।

अत्र संप्रदानार्थेऽप्यधिकरणत्वविवक्षया सप्तम्याः प्रयोगदर्शनात् पञ्चास्मिन् देवदत्ते वृद्धिरादिर्देयेत्यर्थे प्रत्ययविधानेऽपि संप्रदानत्वस्य प्रतीतेः। अत एवान्यैः पाणिन्यादिभिः "तदस्मिन् वृद्ध्याय-लाभ-शुल्कोपदा दीव्यते" [पा०सू०५.१.४७] इत्येवमेव सूत्रं क्रियते, न तत्र चतुर्थ्यर्थे विधानं स्वीक्रियते। स्पष्टं चैतत्, तत्रैव सूत्रे

"Aho Shrutgyanam"

महाभाष्य-कैयटयोरिति चेन्न, येषां मते स्पष्टं वचनं नास्ति तैः क्लिष्टकल्पनया संप्रदानास्याधिकरणत्वविवक्षामाश्रित्य निर्वाहः क्रियतां नाम, अस्मन्मते चाचार्येण स्पष्टं चतुर्थ्यर्थे प्रत्ययस्य विहितत्वोपलम्भेऽत्र तादृशीं कल्पनामाश्रित्य वैयर्थ्योपादनस्यायुक्तत्वात्। ननु तदत्रास्मै वा देयमित्येतावदेव सूत्रमस्तु प्रायो वृद्धयादय एव दीयन्ते, इति किमर्थमिह तेषामुपादानमिति शङ्कते—**वृद्ध्यादिग्रहणं किमिति**। वृद्धया व्यतिरिक्तं मूल्याद्यपि देयमिति तद्विवक्षायां मा भूत् प्रत्ययोऽपि तु वाक्यमेव तिष्ठेदित्येतदर्थं तस्यावश्यकत्वात् ॥६।४।१५८॥

पूरणार्द्धादिकः ॥६।४।१५९॥

त०प्र०—पूरणप्रत्ययान्तादर्धशब्दाच्च तदिति प्रथमान्तादस्मिन्नस्मै वा दीयत इत्यर्थयोरिकः प्रत्ययो भवति, यत्तत् प्रथमान्तं वृद्ध्यादि चेत् तद् भवति। इकणिकटोरपवादः। द्वितीयमस्मिन्नस्मै वा वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयम् द्वितीयिकः। तृतीयिकः। पञ्चमिकः। षष्ठिकः। अर्ध, अर्धिकः अर्धिका स्त्री। अर्धशब्दो रूपकार्धे रूढः ॥१५९॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—पूरणा०। तदत्रास्मै वेत्यादि पूर्वसूत्रं संबध्यते। तथा च योऽर्थः संपन्नस्तमाह—**पूरणप्रत्ययान्तादर्द्धशब्दाच्चेत्यादि**। **इकणिकटोरपवाद** इति। पूरणप्रत्ययान्तादव्यवहितपूर्वसूत्रेकण् प्राप्तः, अर्धशब्दाच्च "कंसार्धात्" [६.४.१३५.] इतीकट् प्राप्त इति तयोर्बाधस्त्वपवादोऽयमिकः। द्वितीयमित्यादौ पूरणप्रत्ययान्तो भागपरः, गृहीतस्य ऋणं द्वितीयो भागः, आयादावपि, ग्रामादीनामायस्य द्वितीयादिर्भागो ग्राह्यः। इकेकटो रूपे विशेषं दर्शयितुमर्धशब्दस्य स्त्रियामपि रूपमुदाहृतम्। इकटि तु टित्त्वाद् ङीः स्यादिति विशेष इति भावः।

नन्वर्धशब्दस्योपदाभिन्नेनायादिनार्थेन कथञ्चित् संबन्धसंभवेऽपि उपदार्थेन संबन्धासंभवः, नहि तत्र प्रकृतं किञ्चिद् यदर्धं दीयेतेति शङ्कायामाह—**अर्धशब्दो रूपकार्धे रूढ** इति। रूपकं स्वनाम्ना प्रसिद्धा रौप्यमुद्रा। तस्य च प्रकृतानपेक्षत्वाद् भवत्युपदयाऽपि संबन्ध इति भावः ॥६।४।१५९॥

भागाद् येकौ ॥६।४।१६०॥

त० प्र०—भागशब्दात् तदस्मिन्नस्मै वा वृद्ध्यादीनामन्यतमं देयमिति विषये य इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। इकणोऽपवादौ। भागोऽस्मिन्नस्मै वा वृद्ध्यादीनामन्यतमं देयं भाग्यः। भागिकः। भागिका स्त्री। भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः ॥१६०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—भागा०। तदत्रास्मै वेत्यादिसूत्रं संबध्यते। तथा च सूत्रार्थमाह—**भागशब्दादित्यादिना**। भागशब्दस्यांशपरत्वेनांशिसापेक्षत्वादस्यान्यार्थेन कथं संबन्ध इत्याशङ्कायामाह—**भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचक** इति। एवं च रूपकार्धे रूढस्यास्य नांशवाचकत्वेनांशिविशेषसापेक्षत्वमिति तदुपादानं विनाऽपि वृद्ध्यादिभिः सामानाधिकरण्यम्। भागाद् यञ्चेत्येव न्यासे कृते चेन इकस्याकर्षणे सिद्धे इकग्रहणं स्पष्टार्थमेव ॥६।४।१६०॥

तं पचति द्रोणाद् वाञ् ॥६।४।१६१॥

त० प्र०—तमिति द्वितीयान्ताद् द्रोणशब्दात् पचत्यर्थे अञ्प्रत्ययो वा भवति। पक्षे इकण्। द्रोणं पचति। द्रौणः। द्रौणिकः। द्रौणी, द्रौणिकी स्थाली गृहिणी वा। द्वौ द्रोणौ पचति द्विद्रोणी। 'अनाम्यद्विः प्लुप्' [६.४.१४१.] इति अञ्त्रिकणोर्लुप् ॥१६१॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—तं पच०। तमिति द्वितीयान्तोपस्थापकं पदम्। तथा च द्वितीयाऽत्र समर्थविभक्तिरिति लभ्यते। वेत्यनेन विकल्पेन प्रत्ययविधानादेतदभावे कः प्रत्यय इत्याकाङ्क्षायामाह—**पक्षे इकणिति**। इकणः पादादावेव प्रकृतत्वात् तस्य सर्वत्रौत्सर्गिकत्वादिति भावः। **द्रोणं पचतीति**। द्रोणो नाम परिमाणविशेषः, तथा चोक्तम्—

"अष्टमुष्टिर्भवेत् कौञ्चः कौञ्चैरष्टभिराढकम्।
चतुराढको भवेद् द्रोणः खारी द्रोणचतुष्टयम्॥" इति।

तथा च तस्य कथं पाचनक्रियया संबन्ध इति चेत्, सत्यम्, द्रोणशब्दस्य तत्परिमितिपचनीयओदनादौ निरूढा लक्षणेति तस्य पाकेन संबन्धस्य सुपपन्नत्वात्। स्थाल्यादौ विवक्षिते स्त्रीत्वात् ङ्यां **द्रौणी** इत्यञि, इकणि तु **द्रौणिकी**ति। "संख्यायाश्चार्हदलुचः" [६.४.८०.]

"Aho Shrutgyanam"

इति तदन्तविधेराह–द्वौ द्रोणौ पचतीति । तद्धितार्थे द्विगौ सति अनेनापि पक्षे इकणि च तयोः "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" [६.४.१४१.] इति पिल्लुपि स्त्रियां द्विद्रोणीति ॥६।४।१६१॥

संभवदवहरतोश्च ॥६।४।१६२॥

त० प्र०–तमिति द्वितीयान्तान्नाम्नः पचति संभवदवहरतोश्चार्थयोर्यथाविहितमिकणादयो भवन्ति । तत्राधेयस्य प्रमाणानतिरेकेण धारणं संभवः । अतिरेकेणावहारः । प्रस्थं पचति संभवत्यवहरति वा प्रास्थिकः कटाहः । प्रास्थिकी स्थाली । एवं खारीकः । कौडविकः । संभवतिः अकर्मकः सकर्मकश्च संभवति । तत्र सकर्मक इह ग्राह्यः । संभवत्यवगृह्णातीत्यर्थः । चकारः पचता संभवदवहरतोः समुच्चयार्थः । तेनोत्तरत्रार्थत्रयस्याप्यनुवृत्तिः ॥१६२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—संभ० । तमिति संबध्यते । चकारेण च पूर्वार्थस्य पचतः समुच्चयस्तथा सूत्रार्थमाह–तमिति द्वितीयान्तान्नाम्न इति । संभवदवहरतोः प्रत्ययवाच्यत्वेन गृहीतयोरर्थं विविच्य ग्राहयति–तत्राधेयस्य प्रमाणानतिरेकेण धारणमिति तत्र तयोः संभवदवहरतोर्मध्ये, आधेयस्य स्वस्मिन्नाहितस्य प्रस्थादेः (प्रस्थपरिमिततण्डुलादेः) प्रमाणात् स्वीयाद् विस्ताराद् अनतिरेकेण अतिरेकाधिक्यं तदभावेन अन्तर्गततयेति यावत् धारणं संभवशब्दवाच्यमित्यर्थः । अथावहारपदार्थमाह–अतिरेकेणावहार इति । आधेयस्य प्रमाणातिरेकेण धारणम्, आधिक्येन धारणमिति यावत् अवहारशब्दवाच्यम् । आधेयस्यामीयमानत्वमवहार इति भावः । काशिकायां तु उपसंहरणमवहार इत्युक्तम् । बालमनोरमाकारैश्च उपसंहरणमित्यस्य किञ्चिदूनमपि यथा प्रस्थपरिमितं भवति तथा धारणमित्यर्थ उक्तः । स च उक्तादर्थाद् भिन्न एव पर्यवस्यति, किमत्र युक्तमिति लक्ष्यैकचक्षुष्का एव जानीयुः । उदाहरति-प्रस्थं पचतीत्यादिना । प्रस्थमित्यस्य प्रस्थमितमित्यर्थः । भूधातोरकर्मकतया संपूर्वस्यापि तस्याकर्मकत्वमेवेति तद्योगे कथं द्वितीयेति शङ्कायां तस्य सकर्मकत्वमपीति सूचयति-संभवतिरकर्मकः सकर्मकश्चेति । यदा संभवतिना कर्तृस्था क्रियोच्यते तदा तस्याकर्मकत्वम्, यदा चान्तर्भावितण्यर्थतया कर्मस्था क्रिया तेनोच्यते तदा सकर्मक इति ।

अत्र च सकर्मकस्यैव ग्रहणमित्याह–तत्र सकर्मक इह ग्राह्य इति । प्रस्थादिरन्तर्भाति तमयं समावेशयतीत्यर्थप्रतीतेस्तदाह-संभवत्यवगृह्णातीत्यर्थ इति । ननु पचत्यर्थे पूर्वमेव वैकल्पिकस्याजः, पक्षान्तरे इकणस्याप्युदाहृत एवेति पुनरत्र तदनुकर्षणार्थश्चकारो व्यर्थ इति चेदत्राह–चकारः पचता संभवदवहरतोः समुच्चयार्थ इति । तेन च पचता सह समुच्चितयोरनयोरर्थयोः सहैवोत्तरत्रानुवृत्तिर्भवतीत्यग्रिमसूत्रेषु सर्वेषां (त्रयाणामपि) संबन्धः सिद्धो भवति । अनुकर्षणार्थत्वे तु* चानुकृष्टं नोत्तरत्र* इति न्यायेन पचदर्थस्योत्तरत्रानुवृत्तिर्न स्यात् । तदाह–तेनोत्तरत्रार्थत्रयस्याप्यनुवृत्तिरिति ॥६।४।१६२॥

पात्राचिताढकादीनो वा ॥६।४।१६३॥

त० प्र०-पात्र आचित आढक इत्येतेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः पचत्संभवदवहरत्स्वर्थेषु ईनः प्रत्ययो वा भवति । पक्षे इकण् । पात्रं पचति संभवत्यवहरति वा पात्रीणः । पात्रिकः । पात्रीणा । पात्रिकी स्थाली । आचितीना । आचितिकी । आढकीना । पात्रादयः आढकिकी । परिमाणशब्दाः ॥१६३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—पात्रा० । तमिति पचति संभवदवहरतोरिति च संबध्यते । तथा च सूत्रार्थमाह-पात्र आचित आढक इत्येतेभ्य इत्यादिना । ईनस्य विकल्पेन विधानात् तदभावपक्षे औत्सर्गिक इकणित्याह–पक्षे इकणिति । पात्रादीनां भाजनाद्यर्थवाचिनां पचदाद्यर्थैः कथं संबन्ध इत्याशङ्कायामाह—पात्रादयः परिमाणशब्दा इति । तथा च परिमाणवाचकानामेषां स्वपरिमितान्नपरत्वे पचत्यादिभिः संबन्धः सूपपादः इति भावः ॥६।४।१६३॥

द्विगोरीनेकटौ वा ॥६।४।१६४॥

त० प्र०-पात्राचिताढकान्ताद् द्विगोर्द्वितीयान्तात् पचदादिषु त्रिष्वर्थेषु ईन इकट् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः । पक्षे इकण् । तस्य च 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' [६.४.१४१.] इति लुप् नानयोर्विधानसामर्थ्यात् । द्वे पात्रे पचति संभवत्यवहरति वा द्विपात्रीणः । द्विपात्रिकः । द्वि-

"Aho Shrutgyanam"

पात्रः। द्विपात्रीणा। द्विपात्रिकी। द्विपात्री। द्व्याचितीना। द्व्याचितिका। द्व्याचिता। आचितान्ताद् ङीर्न भवति, अबिस्ताचितकम्बल्यादिति प्रतिषेधात्। द्व्याढकीना। द्व्याढकिकी। द्व्याढकी। टकारो ऽधर्थः ॥१६४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—द्विगो०। पात्राचिताढकादिति, तमिति, पचत-संभवदवहरत्सु इति च वर्तते। तस्य द्विगोरित्यनेन संबन्धात् तदन्तविधिः। तदाह—**पात्राचिताढकान्ताद् द्विगोरित्यादिना**। अस्य च वैकल्पिकत्वेनैतदभावपक्षे औत्सर्गिक इकण्, तस्य च प्लुप् भवतीत्याह—**पक्षे इकण् तस्य च अनाम्न्यद्विरित्यादि**।

ननु इकण एव प्लुप् कुतः स्यात् ईनेकटोरपि कुतो न स्यादिति चेदत्राह—**नानयोर्विधानसामर्थ्यादिति**। अयमाशयः—यद्यनयोरपि तेन नित्यं प्लुप् स्यात् तर्हि अनयोर्विधानस्य वैयर्थ्यं स्यात् काप्यश्रवणादिति विधानसामर्थ्याद् लुप् न प्रवर्तते इति।

ननु वेत्युक्त्या इकणपि पक्षे शास्त्रेणानुशिष्ट एवेति तस्यापि विधानमेवेति विधानसामर्थ्यात् तस्यापि लुप् न स्यादिति चेत् न, तस्य विधानाभावात्, वेत्यनेन पक्षे विधीयमानप्रत्ययस्याभाव एवाभ्यनुज्ञायते, न तु प्रत्ययान्तरस्य प्रवृत्तिरिति तत्प्रवृत्तेरेतच्छास्त्रतात्पर्यविषयत्वाभावात्। तथा चोदाहरति—**द्विपात्रीणः, द्विपात्रिकः, द्विपात्र** इत्यादिना। स्त्रियां तु ईनान्ते आप्, इकडन्ते ङीः, लुबन्तेऽपि परिमाणान्तद्विगुत्वनिमित्तो ङीरिति। एवं चाचितान्तस्यापीकणो लुपि स्त्रियां परिमाणान्तद्विगुत्वाद् ङीः स्यादित्याशङ्कायामाह—**आचितान्ताद् ङीर्न भवतीत्यादि**।

अत्र द्विगोरिकट् च वेति न्यासेन चकारेणेनस्यापि समुच्चये कृते तस्याग्रेऽपि संबन्ध संभवन्नपि स्पष्टप्रतिपत्तये *समुच्चयार्थत्वव्याख्यानाद् वरं करणम्* इति न्यायाद् वेनस्यापि ग्रहणं कृतमिति बोध्यम्। चकारानुकर्षणार्थत्वप्रतीतौ तदनुकृष्टस्योत्तरत्र संबन्धः कथमिति शङ्कावारणार्थसमुच्चयार्थत्वव्याख्यानस्यावश्यकत्वापातात् ॥६।४।१६४॥

कुलिजाद् वा लुप् च ॥६।४।१६५॥

त० प्र०—**कुलिजान्ताद द्विगोर्द्वितीयान्त।त पचदादिषु त्रिष्वर्थेषु ईन इकट् इत्येतौ प्रत्ययौ वा भवतः। पक्षे इकण्, तस्य च लुप् वा भवति। तेन चातूरूप्यं संपद्यते। द्वे कुलिजे पचति संभवत्यवहरति वा द्विकुलिजीना द्विकुलिजिकी। पक्षे द्विकुलिजी। द्विकुलिजिकी। लुपि 'परिमाण०' [२.३.२३.] इत्यादिना ङीः। अन्ये तु लुप् विकल्पं न मन्यन्ते, तन्मते त्रैरूप्यमेव ॥१६५॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—कुलिजा०। तमिति, पचदादिरर्थः पूर्वविहितेनेकटौ चेति सर्वं संबध्यते तदाह—**कुलिजान्ताद् द्विगोरित्यादिना**। ईनेकटौ इकण् चेति प्रत्ययत्रयं लुप् चेकणः इति चत्वारि रूपाणि भवन्तीत्याह—**तेन चातूरूप्यमिति**। चत्वारि रूपाण्येवेति स्वार्थे ष्यण् चातूरूप्यमिति। कुलिजमपि परिमाणविशेषः, स च परिमितान्नादिपरत्वे पचदाद्यर्थेन संबन्धं लभते। द्विकुलिजीत्यत्र परिमाणात् "तद्धित-लुकि०" [२.४.२३.] इति ङीरित्याह—**'लुपि परिमाण०'** [२.३.२३.] इत्यादिनेति। मतान्तरमाह—**अन्ये तु लुब्विकल्पं न मन्यन्ते** इति। पाणिनीयमतमिदम्। "कुलिजाल्लुक् खौ च" [पा० सू० ५.१.५५.] इति सूत्रे महाभाष्य-कैयटयोरिदं स्पष्टम्। काशिकाकृता दीक्षितेन च यद्यपि रूपचतुष्टयं प्रदर्शितं, तथापि तद्भाष्यविरुद्धमित्युद्द्योते निरूपितम् ॥६।४।१६५॥

वंशादेर्भाराद् धरद्-वहदावहत्सु ॥६।४।१६६॥

त० प्र०—**वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्ताद् द्वितीयान्तान्नाम्नो हरति वहति आवहति चार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वंशभारं हरति वहति आवहति वा वांशभारिकः। कौटभारिकः। वंशादेरिति किम्? भारं वहति। भारादिति किम्? वंशं हरति। अपरोऽर्थः। भारभूतेभ्यो वंशादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो हरदादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति। भारभूतान् वंशान् हरति वहति आवहति वा वांशिकः। कौटिकः। वाल्वजिकः। भारादिति किम्? एकं वंशं हरति। हरतिर्देशान्तरप्रापणे चौर्ये वा। वहतिरुत्क्षिप्य धारणे। आवहतिरुपादाने।**

"Aho Shrutgyanam"

वंश कुट कुटज यत्वज मूल स्थूणा अक्ष अश्मन् इक्षु खट्वा प्लक्षण इति वंशादिः । बहुवचनमर्थत्रयसूचनार्थम् ॥ १६६ ॥

श०म० न्यासानुसन्धानम्—वंश ० । वंशादेरिति भारादित्यस्य विशेषणमिति तदन्तार्थलाभो भवतीत्याह—**वंशादिभ्यः परो यो भारशब्द** इत्यादिना । तदनुरूपं चोदाहरति-**वंशभारं वहती**त्यादिना । विशेषण-विशेष्यभावविवक्षायां कामचाराद् भारादित्यस्य विशेषणत्वं वंशादेरेव विशेष्यत्वमिति विवक्षायामर्थान्तरत्वमपि संभाव्यते, तदाह-**अपरोऽर्थ** इति । तमेवार्थं स्वरूपत आह—**भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य** इति । एवं सति भारादिति वंशादिनामुपलक्षणविधया विशेषणं न कार्यान्वयित्वेनेति केवलं वंशादेरेव प्रत्ययो भवतीति । तदाह-**भारभूतान् वंशानि**त्यादिना ।

ननु वंशादयोऽपि शब्दा भार इत्यपि शब्द एव, न च शब्दः शब्दान्तरस्य समानाधिकरणं विशेषणमुपपद्यते, तत् कथं भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इत्येषोऽर्थः संभवतीति चेन्न, वंशादिशब्दार्थं प्रति भारशब्दस्य मुख्यविशेषणत्वस्य संभवत्वेन स्वार्थद्वारा तयोः शब्दयोरपि परस्परं विशेष्य-विशेषणभावसंभवात् । तथा चौपचारिकः शब्दयोर्विशेष्य-विशेषणभाव इति बोध्यम् ।

हरतेर्वहदावहतोश्च लोके समानार्थतया प्रतीतेरेकेनैव गतार्थत्वशङ्कावारणार्थमेषामर्थान् विविच्य ग्राहयति-**हरतिर्देशान्तरप्रापणे चौर्ये** चेत्यादिना । भारं हरति, धनं हरति इत्यादिप्रयोगेषु तयोरर्थयोः प्रसिद्धेः । **वहतिरुरिक्षिप्य धारणे** इति । यद्यपि नदी वहतीत्यादौ गतिमात्रं प्रतीयते, तथापि धुरं वहति इत्यादावुपरि निक्षिप्य धारयतीत्येतावानेव तदर्थोऽनुभूयते इति भावः। 'वह प्रापणे' इत्यादिरूपेण धात्वर्थनिरूपणं स्थूलदृष्ट्या, धातूनामनेकार्थत्वस्योत्सर्गतः प्रतीयमानस्य सर्वांशेन निरूपयितुमशक्यत्वात् । **आवहतिरुपादाने** इति । उपादानं ग्रहणम् । काशिकायां तु आवहतिरुत्पादने इति दृश्यते । युक्तं चैतत् प्रतीयते, 'नेदृशं कार्यं भवतः शोभामावहति', 'असदृशैः पराभवः कस्य न लज्जामावहति' इत्यादिप्रयोगेषु उत्पादनार्थस्यैव प्रतीतेः। सूत्रे हरदादीनामर्थानां समाहारेण निर्देशे एकवचनस्यैव युक्तत्वाद् बहुवचनेन निर्देशः किमर्थ इति चेदत्राह—**बहुवचनमर्थत्रयसूचनार्थ**मिति । एतेषां प्रत्येकं प्रत्ययार्थत्वमिति सूचनायेति भावः । व्याख्यानादर्थत्रयस्य प्रतीतिसंभवेऽपि स्पष्टप्रतिपत्तये बहुत्वेन निर्देशः, अन्यथा कदाचिदेषामपि विशेष्य-विशेषोपचारादेकार्थत्वं स्यादिति हृदयम् ॥६।४। १६६॥

द्रव्य-वस्नात् केकम् ॥६।४।१६७॥

त० प्र०—द्रव्य-वस्न इत्येताभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां हरति वहति आवहति चार्थे यथासंख्यं क इक इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । द्रव्यं हरति वहति आवहति वा द्रव्यकः । एवं वस्निकः ॥१६७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-द्रव्य०। तमिति हरद्वहदावहत्सु इति च संबध्यते, तथा च सूत्रार्थमाह—**द्रव्य-वस्न इत्येताभ्यां द्वितीयान्ताभ्यामिति** । समसंख्यत्वात् प्रत्ययोः यथासंख्यमन्वय इति द्रव्यात् कन् वस्नादिक इति विविच्य प्रत्ययोत्पत्तिर्भवति । द्रव्यं यद्यपि गुण-क्रियावत् सर्वमेव वस्तु तथापि लोके व्यवहारसाधनत्वेन कल्पितं मुद्रादिद्रव्यशब्देन व्यवह्रियते, मूल्यविशेषवाचकवस्नशब्दसाहचर्यादिह तस्यैव ग्रहणं युक्तम् । तथा चोदाहरति—**द्रव्यं हरति वहती**त्यादिना । वस्नादप्येवं विग्रहे एव प्रत्यय इत्याह—**एवं वस्निक** इति । इके सति अवर्णलोपात् सिद्धिः ॥६।४।१६७॥

सोऽस्य भृति-वस्नांशम् ॥६।४।१६८॥

त० प्र०—स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितमिकणादयो भवन्ति । यत्तत् प्रथमान्तं तच्चेद् भृतिर्वस्नमंशो वा भवति । भृतिर्वेतनम् । वस्नो नियतकालक्रयमूल्यम् । अंशो भागः । पञ्चास्य भृतिः पञ्चकः कर्मकरः । पञ्चास्य वस्नं पञ्चकः पटः । पञ्चास्यांशाः पञ्चकं नगरम् । एवं सप्तकः । अष्टकः । शत्यः । शतिकः । साहस्रः । प्रास्थिकः ॥१६८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—सोऽस्य० । स इति प्रथमान्तोपस्थापकं, न लिङ्गसंख्यादेः तत्र विवक्षा ।

"Aho Shrutgyanam"

तस्य च प्रथमान्तस्य विशेषणं भृतिवस्नांशमिति। तथा च सूत्रार्थमाह–**यततत् प्रथमान्तं तच्चेद् भृतिरि**त्यादि। भृत्यादीनां वाच्यमर्थं विविच्य ग्राहयति–**भृतिर्वेतनमि**त्यादि। भ्रियते पोष्यतेऽनया सेवक इति भृतिः, करणे स्त्रियां क्तिः। तथा च सेवकेभ्यो दीयमाना वृत्तिर्भृतिरित्यर्थः। **वस्नो नियतकालक्रयमूल्यमिति**। एतावति समयेऽस्य वस्तुन एतावन्मूल्यमिति कालनियमेन युक्तं वस्तुनो मूल्यं वस्न इति कथ्यत इत्यर्थः। **अंशो भाग इति**। भागः अधिकृतं ग्राह्यं द्रव्यादि, न स्ववयवार्थको भागशब्दः भृत्यादिभिः साहचर्यात् इति केचित्। वस्तु-तस्तु **पञ्चास्यांशाः, पञ्चकं नगरम्** इत्युदाहरणानुसारमंशशब्दोऽयमवयववाच्येवेति, भागशब्दोऽपि तदर्थ एव पर्यायतया दत्त इति प्रतीयते। यथाविहितमिकणादयो भवन्तीत्युक्त्वा पञ्चादिभ्यः संख्यानिमित्तकः कः, शतशब्दात् "शताद् केवलादतस्मिन् येकौ" [६.४.१३१.] इति येकौ, सहस्रशब्दात् "सहस्रशतमानादण्" [६.४.१३६.] इत्यण्, प्रस्थशब्दादौत्सर्गिक इकणिति विवेकः ॥६।४।१६८॥

मानम् ॥६।४।१६९॥

त० प्र०–**सोऽस्येति वर्तते। स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं त्ययो भवति, यत्तत्प्रथमान्तं तच्चेन्मानं भवति। मीयते येन तन्मानम्। प्रस्थो मानमस्य स्थिको राशिः। प्रौणिकः। खारीकः। खारीशतिकः। खारीसाहस्रिकः। वर्षशतं मानमस्य वार्षशतिको देवदत्तः। वार्षसाहस्रिकः। पञ्च लोहितानि पञ्च लोहित्यो वा मानमस्य पाञ्चलोहितिकम्। पाञ्चकलायिकम्। अनयोः संज्ञाशब्दत्वात् 'नाम्न्यद्विः प्लुप्' [६. ४. १४१.] इति लुप् न भवति। अथ मासो मानमस्य वर्षं मानमस्येत्यादौ कस्मात् त्ययो न भवति। न कालो मानग्रहणेन गृह्यते 'मान-संवत्सरस्य' [७.४.१९.] इत्यादौ मानग्रहणे सत्यपि संवत्सरग्रहणात् ॥१६९॥**

श० म० न्यासानुसन्धानम्—मानम्०। सोऽस्येति संबध्यते इत्याह—**सोऽस्येति वर्तते** इति। तथा च सूत्रार्थमाह–**स इति थमान्तादित्यादिना**। मानशब्दार्थमाह–**मीयते येन तन्मानम्** इति। तथा च परिच्छेदसाधनं सर्वमेव मानशब्देनोच्यते। एवम् उन्मान-परिमाण-प्रमाण-संख्यादीनां सर्वेषां परिच्छेदसाधनवाचकानां मानशब्देन संग्रहः। प्रस्थादयः उन्मानवाचकाः शब्दा इति पूर्वमुक्तमेव। वर्षशतमित्यादौ वर्षादीनां कालपरिच्छेदकशब्दानामग्रे वक्ष्यमाणरीत्येह मानत्वेन ग्रहणाभावेऽपि शतादिसंख्याया मानत्वाक्षतेर्मानशब्देन सह सामानाधिकरण्येन निर्देशः वर्षशतं मानमस्येत्यादौ।

लोहिन्यो गुञ्जाः, कलाया द्विदलान्नविशेष इति पूर्वमुक्तमेव। तयोरपि मानत्वेन व्यवहारो लोके। अत्र **पाञ्चलोहितिकमि**त्यादौ तद्धितार्थे द्विगौ विहिते प्रत्ययः, "जातिश्च णितद्धित०" [३.२.५१.] इति पुंवद्भावः। एवं द्विगोः परस्य प्रत्ययस्य "अनाम्न्यद्विः०" [६.४.१४१.] इति पिलुप् प्राप्नोतीति शङ्कायां नामत्वात् तद्वारणमाह–**अनयोः संज्ञाशब्दत्वा**दित्यादिना। मानशब्देन परिच्छेदसाधनस्य सर्वस्यापि ग्रहणात् कालपरिमाणवाचकानां मासादीनामपि ग्रहणौचित्ये प्राप्ते शङ्कते–**अथ मासो मानमस्ये**त्यादि। एषां कालवाचकानां मासादीनां मानत्वे सत्यपि इह मानशब्देन न ग्रहणमिति समाधानमाह–**न कालो मानग्रहणेन गृह्यत** इति। "मान-संवत्सरस्य" [७.४.१९.] इति सूत्रे मानत्वेनैव कालमानविशेषस्य संवत्सरस्यापि ग्रहणे सिद्धे पृथक्संवत्सरग्रहणेन कालमानवाचकानां मानत्वेनेह ग्रहणं न भवतीति विज्ञापनात् मासादीनां मानत्वेनाग्रहणादिह न प्रत्ययोऽपि तु वाक्यमेव तिष्ठतीति भावः। न च यावता संवत्सरग्रहणस्य चारितार्थ्यं तावदेव ज्ञापयिष्यति तथा संवत्सरातिरिक्तकालपरिमाणानां वृद्धिर्न, इति ज्ञापनेनैव स्वांशे चारितार्थ्यम्, फलं च द्वैसमिक इत्यादावुत्तरपदादिस्वरवृद्ध्यभाव इति न तत्सामान्येन मानग्रहणे कालपरिमाणानामग्रहणस्य ज्ञापकं भवितुमर्हतीति वाच्यम्* असति बाधके प्रमाणानां सामान्ये पक्षपातः* इति न्यायात् सामान्यतः कालमानस्य मानत्वेनाग्रहणस्य ज्ञापने बाधकाभावात्। फलं चास्य सामान्यज्ञापनस्य मासादिभ्यः काल-मानेभ्यः प्रत्ययाभाव एवेति भावः। स्पष्टं चेदं संख्यायाः "संवत्सरसंख्यस्य च" [पा० सू० २.३.१५.] इति सूत्रे महाभाष्येऽपि ॥६।४।१६९॥

जीवितस्य सन् ॥६।४।१७०॥

त० प्र०–**जीवितस्य यन्मानं ततः प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं त्ययो भवति,**

"Aho Shrutgyanam"

स च सन् तस्य 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' [६.४.१४१.] इति लुप् प्राप्ता न भवतीत्यर्थः । षष्टिर्जीवितमानमस्य षाष्टिकः । साप्ततिकः । वार्षशतिकः । वार्षसहस्रिकः । द्वे षष्टी जीवितमानमस्य द्विषाष्टिकः । त्रिषाष्टिकः । द्विसाप्ततिकः । त्रिसाप्ततिकः । द्विवार्षशतिकः । त्रिवार्षशतिकः । द्विवार्षसहस्रिक । त्रिवार्षसहस्रिकः । कथं पुनः षष्ट्यादयो जीवितमानं भवन्ति । वृत्तौ वर्षशब्दलोपात् । यथा शतायुर्वै पुरुष इति । एवं तर्हि मानमित्यनेनैव सिद्धे किमर्थमिदम् ? नैवम् । शस्थिक इत्यादौ ब्रौह्यादय एव मेयाः त एव च प्रत्ययार्थाः । अत्र तु जीवितं मेयं पुरुषस्तु प्रत्ययार्थ इत्येतदर्थं लुब्भावार्थं च ॥१७०॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—जीवि० । सोऽस्य इति मानमिति च संबध्यते । जीवितस्येति च योग्यत्वाद् मानमित्यनेन संबध्यते, तथा च योऽर्थः संपन्नस्तमाह—जीवितस्य यन्मानमित्यादिना । सूत्रे सन्निति पदं यदुपात्तं तदन्वयं योजयति-स च सन् तस्य "अनाम्न्यद्विः०" [६.४.१४१.] इति लुप् प्राप्ता न भवतीति । यत्र "संख्यादेरवार्हदल्लुवः" [६.४.८०.] इति बलात् द्विर्लोपे प्रत्ययो विधीयते, तत्र तस्य "अनाम्न्यद्विः०" [६.४.१४१.] इति लुप् प्राप्ता, सा न भवतीत्यर्थः ।

उदाहरति-षष्टिः जीवितमानमस्येति । जीवितं जीवनमायुरिति यावत्, यस्य षष्टिवर्षात्मकमायुः स षाष्टिक इत्यर्थः । यदि च जीवितशब्दोऽतीतस्य जीवनकालस्य वाचक इति स्वीक्रियते, तदा तु व्यतीतायुःपरिच्छेदकत्वमेव षष्ट्यादीनाम्, षष्टयर्षश्च तथापि पुरुष एवेति स एव प्रत्ययार्थः । एवं साप्ततिक इत्यादावपि । विशिष्टेभ्यः प्रत्ययान्तरविधानादौत्सर्गिक इकणेव भवति । षष्ट्यादिशब्दानां संख्यामात्रवाचकत्वात् कथं कालात्मकजीवितमानपरत्वमित्याशङ्कते—कथं पुनः षष्ट्यादयो जीवितमानं भवन्तीति । समाधानमाह वृत्तौ-वर्षशब्दलोपादिति । वृत्तौ तद्धितरूपायां वर्षशब्दलोपात्-वर्षशब्दप्रयोगं विनाऽपि तदर्थस्य प्रतीतेरित्यर्थः । किमिदं भवताभिनवा कल्पनाऽथवा पूर्वमपि कापि प्रयोग एवं दृष्ट इत्याशङ्क्यां दृष्टान्तेनोत्तरयति दर्शयति—यथा शतायुर्वै पुरुष इति । अयमाशयः—यथा शतं वर्षाणि आयुरस्येत्यर्थे शतायुःशब्दः प्रसिद्ध्या आयुषः शतवर्षपरिमितत्वं बोधयति, तत् कुतः ? वृत्तिस्वाभाव्यात् । तथा च वृत्तौ वर्षशब्दलोप इति तत्राभ्युपेयते । एतन्मिहापि षष्टिवर्षाणि जीवितमानमस्येति प्रयोक्तव्ये वर्षशब्दस्य लोपात् षष्टिशब्दमात्रं वृत्तौ श्रूयते । सूत्रानावश्यकत्वमाक्षिपति-एवं तर्हीति । उक्तयुक्त्या षष्टिशब्दस्य मानवाचकत्वे व्यवस्थापिते "मानम्" [६.४.१६९.] इत्ययेनैवात्राप्यर्थे प्रत्यये सिद्धे पुनरस्य सूत्रस्यारम्भो व्यर्थ इति शङ्काग्रन्थार्थः । अर्थभेदं रूपभेदं च प्रयोजनत्वेन व्यवस्थापयन् शङ्कां प्रतिक्षिपति-नैवमिति । कुत इत्याह-शस्थिक इत्यादाविति । पूर्वसूत्रोदाहरणेषु मानं प्रकृत्यर्थो मेयः प्रत्ययार्थः, एतदुदाहरणेषु, मानसहितं मेयं प्रकृत्यर्थः, मेयवान् पुरुषः प्रत्ययार्थः इत्यर्थभेदः । रूपभेदमाह-लुब्भावार्थं चेति । पूर्वेण विहितस्य "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" [६.४.१४१.] इति लुप् भवति, अत्र च सन्नित्युक्तेः लुपोऽप्रवृत्तिरिति द्विषाष्टिक इत्यादिसिद्धिः । पूर्वत्र द्विषष्टिरित्येव स्यादिति पृथक्सूत्रारम्भ आवश्यक इति ॥६।४।१७०॥

संख्यायाः संघसूत्रपाठे ॥६।४।१७१॥

त० ० संख्यावाचिनः थमन्तादस्य मानमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तदस्येति निर्दिष्टं तच्चेत् संघः सूत्रं पाठो वा भवति । संघः प्राणिनां समूहः । सूत्रं शास्त्रम् । पाठोऽधीतिरध्ययनम् । पञ्च गावो मानमस्य पञ्चकः संघः । सप्तकः । अष्टाध्यायी मानमस्याष्टकं पाणिनीयं सूत्रम् । दशकं वैयाघ्रपदीयम् । शतकं निदानम् । अष्टौ रूपाणि धारा मानमस्याष्टकः पाठोऽधीतः । संघः-सूत्रपाठ इति किम् ? पञ्च वर्णा मानमस्य पञ्चतयं पदम् । पदं न संघो न सूत्रं न पाठ इति को न भवति, अपि तु तयडेव । एवं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । पञ्चादीनां संख्येयानामवयवतया संघादेर्मानत्वान्मानमित्यनेनैव सिध्यति, परत्वात् तु तयट् प्नोति तद्बाधनार्थं वचनम् । न चातिप्रसङ्गः । भेदरूपापन्ने संघादौ तयायटोर्बाधकमिदम् । भेदरूपापन्ने तु तयडेव । चतुष्टये ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः । द्वये देव-मनुष्याः । स्याद्वादाश्रयणाच्चात्र भेदाभेदयोः संघ इति ॥१७१॥

"Aho Shrutgyanam"

श० म० न्यासानुसन्धानम्—संख्यायाः । सोऽस्येति मानमिति च संबध्यते–तथा च सूत्रार्थमाह–**संख्यावाचिनः प्रथमान्तादस्य मानमित्यर्थे** इत्यादिना। अत्र मानं प्रकृत्यर्थ एव, न तु प्रत्ययार्थः, प्रत्ययार्थस्तु अस्येतावन्मात्रम्। मानार्थस्य प्रकृत्यैव लाभात् प्रत्ययस्य तत्र शक्तिकल्पनायोगात्। तत्र मानं संख्यावाचकस्योपाधिः कार्यानन्वयि व्यावर्तकम्। न च संख्यावाची शब्दः, मानमपि शब्द एव तत् कथं शब्दस्य शब्दो विशेषणं संभवतीति वाच्यम् तयोरर्थयोर्विशेषण-विशेष्यभावाभ्युपगमात्।

ननु तस्यापि (तयोरर्थस्यापि) विशेषण-विशेष्यभावो न संभवति, संख्या हि नैव मानमिति चेन्न, मानशब्दस्य परिमाणादिवद् रूढत्वाभावेन, मीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या क्रियाशब्दत्वाभ्युपगमात् संख्ययाऽपि सर्वं वस्तु मीयते–परिच्छिद्यतेऽतस्तस्या मानत्वमक्षतम्। नन्वेवमपि मानमिति संख्याया उपाधिर्विशेषणं वा न संभवति, संख्यायाः परिच्छेदकत्वाव्यभिचारात्,* संभव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत् *इति न्यायात्। न च क्वचनापरिच्छेदिका संख्याऽस्ति, यत् तस्या व्यावर्तनाय मानमिति विशेषणं सार्थकं स्यात् इति चेत्, सत्यं, संख्यायाः परिच्छेदकत्वाव्यभिचारः, परन्तु सा स्वस्याभिधेयमेव नैयत्येन परिच्छिनत्ति, यथा–'पञ्चास्य संघस्य पुत्राः' इत्यत्र, पुत्राणामेव परिच्छेदमाह संख्या न तु संघस्येयत्ताम्। अतश्च षष्ठ्यन्तार्थस्येयत्तां नियमेन न परिच्छिनत्ति, किन्तु सत्यामेव विवक्षायाम्। इह तु पञ्चसंख्या मानमस्य संघस्येति कथने भवति संघस्यापीयत्ता परिच्छिन्ना तस्मात् षष्ठ्यन्तार्थस्य मानत्वेन संख्या यत्र विवक्षिता तत्रैव प्रत्ययः स्यादित्यर्थं मानमिति संख्याया विशेषणमावश्यकमिति। विशदीकृतश्चायं पन्था न्यासे।

संघादीनां वाच्यार्थं विविच्य ग्राहयति–**संघः प्राणिनां समूह** इति। यद्यपि **भागुरिः**–

'संघ-संघात-पुञ्जौघ-सार्थ-यूथ-कदम्बकाः ।'

इति पठन् सर्वेषामेकार्थतारूपां पर्यायतामाह, परन्तु 'संघ-सार्थौ तु जन्तुभिः' इत्यमरादिकोशप्रामाण्येन संघशब्दस्य प्राणिसमूहवाचकत्वं लभ्यते। **सूत्रं शास्त्रग्रन्थ** इति सूच्यते सीव्यते वाऽनेनेति सूत्रम्, तथा चोक्तं हैमे–

"सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तु-व्यवस्थयोः ।" इति।

एवं च–

"अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"

इति लक्षणलक्षितः शासनसूचनग्रन्थः सूत्रमिति। **पाठोऽधीतिरध्ययनमिति**। पठनं पाठ इति भावार्थकः पाठशब्दोऽध्ययनक्रियापरो न तु पठ्यत इति कर्मणि घञि ग्रन्थपर इति सूत्राद् भेदः। उदाहरति–**पञ्च गावः मानमस्य पञ्चकः संघ** इति। अस्मिन्नर्थे "संख्याऽडतेः०" [६.४.१३०.] इति कः। **अष्टकं पाणिनीयम्**, पाणिनिना प्रोक्तमष्टाध्यायात्मकम्। व्याघ्रादस्यापत्यं वैयाघ्रपदः, तेन प्रोक्तं **वैयाघ्रपदीयम्**। निदानमिति रोगकारणप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः, अष्टकादय एते सूत्रसंबन्धग्रन्थविशेषाणां संज्ञा।

अथ पाठमुदाहरति–**अष्टौ रूपाणि वारा** इति। अयमर्थः–अष्टौ इति निर्दिष्टा संख्या अध्ययनक्रियायाः साक्षान्मानं न भवितुमर्हति, किन्तु तद्रूपस्याध्ययनरीतेः, तद्द्वारस्य तदावृत्तेर्वा। एवं चाष्टामी रूपैरष्टाभिरावृत्तिभिर्वाऽध्ययनमस्येत्यर्थः। सूत्रानावश्यकत्वमाक्षिप्य परिहर्तुमाह–**संघसूत्रपाठेष्विति किमिति**। अवयवद्वारा समुदाये प्रश्नः सूत्रमेव किमर्थमिति प्रश्नाशयः। मानवाचकत्वमाश्रित्य "मानम्" [६.४.१६९.] इत्यनेनैव सिद्धेरिति हृदयम्। अनिष्टेष्वपि प्रत्ययातिप्रसङ्गेन समाधत्ते–**पञ्च वर्णा मानमस्येति**। अत्रार्थे "संख्या-डतेः०" [६.४.१३०.] इति कः स्यात्, स मा भूदिति अर्थविशेषवचनमावश्यकमिति भावः।

तदेवाह–**पदं न संघ** इत्यादिना। काभावे कः प्रत्ययः इति चेदत्राह–**अपि तु तयडेवेति**। "अवयवात्" [७.१.१५१.] इति सूत्रेणेति भावः। अन्यत्राप्येवमेव काभावे तयडेव भवतीत्याह–**एवं चतुष्टयी शब्दानां वृत्तिरिति**। जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यरूपाः चतुरोऽवयवा यस्याः सा चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। शब्दविषयिणी प्रकृष्टा वृत्तिः अभिधानरूपा शक्तिरित्यर्थः।

ननु कथमत्र तयट्, अवयववाचकाद्धि स विधीयते, नात्रावयववाचकं पश्यामः इत्याशङ्कायामुत्तरगर्भं सूत्रावश्यकतां प्रकारान्तरेणाह–**पञ्चादीनां संख्येयानामि**त्यादि। 'आदशतः संख्याः संख्येये' इति नियमात् पञ्चतयं पदमित्यादौ पञ्चादिपदं संख्येयवर्णादिवाचकम्, वर्णाश्च पदावयवा इति, 'अवयवात्' [७.१.१५०] इति तयटः प्राप्तिः। चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्यत्रापि चतुः

"Aho Shrutgyanam"

संख्येयाः जातिगुण क्रियाद्रव्यरूपाः शब्दप्रवृत्तेरवयवा एवेति, अवयवाचकत्वनिबन्धनः तयड् भवति। सूत्राभावे तु एष्विव पञ्चकः संघ इत्यादिष्वपि अवयवाचकत्वनिबन्धनस्तयडेव परत्वात् स्यात् इति तद्बाधनार्थमस्य सूत्रस्यावश्यकत्वमिति भावः। न चैवं संघादौ वाच्येऽवयवार्थविवक्षायामपि क एव स्यादस्य नियमार्थत्वाद् इत्यतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। कुत इत्याह—**अभेदरूपान्न** इत्यादि। मानार्थे संघादिः प्रत्ययार्थोपाधिरिति प्रत्ययान्तेन वस्तुतोऽभिन्नमेव, केवलमनुवादकतया पञ्चकः संघ इत्यादौ संघशब्दप्रयोगः क्रियते। तथा च तत्रावयवार्थे प्राप्तयोः तयायटोरिदं बाधकम्।

अवयवार्थे तु साधारणतोऽन्यपदार्थस्य प्रत्ययार्थत्वविवक्षायां संघादीनां विशिष्य प्रत्ययार्थत्वेनाविवक्षितत्वात् अस्याप्रवृत्तौ तयडादय एव भवन्ति। तत्र च संघादयः शब्दाः प्रयुक्ता अपि प्रत्ययार्थतो भिन्नाः, अत एव नास्य सूत्रस्य प्राप्तिरिति तयड् भवति, तथापि तत्र संबन्धान्तराप्रतीतेरभिन्नतयैव बोधो भवतीति। तदेतदुदाहरणेन स्पष्टयति-**चतुष्टये ब्राह्म-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा** इति। अत्र न केवलं चत्वारोऽवयवरूपा इत्यर्थे तयटो विधानेऽपि चतुष्टयशब्देन ब्राह्मणादीनां प्रतीतिरपि तु तेषां पृथक्कथने नैव। ननूभयत्र स्थले प्रतीत्यविशेषात् कथमिदमवकल्पते यत् पञ्चकः संघ इत्यत्राभिन्नः संघः, पञ्चतयः संघ इत्यत्र भिन्न इति चेदत्राह—**स्याद्वादाश्रयादिति**। शास्त्रे "सिद्धिः स्याद्वादात्" [१.१.२.] इत्युक्तयाऽनेकान्तपक्षस्यापि प्रतिस्वमेकरूपेणैकान्तत्वेनाश्रयणाभावात् भेदाभेदयोरप्येकत्र विवक्षानुसारं सत्त्वादित्यर्थः।

वस्तुतस्तु शब्दा अपि नियताः, तेभ्यो यत्र यादृशार्थबोधो जायते सोऽपि नियत एव, केवलमर्थबोधनाय शास्त्रकारैर्बाला व्युत्पाद्यन्ते। तथा ह्युक्तम्—

'उपायाः शिक्षयन्तीनां बालानामुपालभनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥' इति।

एवं बालव्युत्पादनमात्रफलकेषु शास्त्रेषु व्युत्पन्नबुद्धिभिर्नाधिकं श्रोद्धव्यः कश्चिदपि तु यथाशास्त्रं प्रतिपत्तव्यम्। अन्ततः सर्वस्य जगतोऽनैकान्तिकत्वाद् विचारासहत्वस्य एकत्वेन व्यवस्थितत्वाभावस्य वा भूयस्त्वात्। वस्तुतस्तु मानत्वेन विवक्षायामयम्, अवयवत्वेन विवक्षायां च तयड् प्रवर्तिष्यते इति नातिप्रसङ्गशङ्का। न चैवं पञ्चमर्थो मानस्य पञ्चतय पदमित्यादेः का गतिरिति शङ्क्यम्, अस्य सूत्रस्य संख्यावाचकाच्चेत् मानार्थे प्रत्ययस्तर्हि संघादिष्वेवेति नियमार्थत्वेनान्यत्र मानार्थे वाक्यस्यैवेष्टत्वात्, पञ्चतयं पदमित्यादयः प्रयोगास्त्ववयवार्थ एवेति व्यवस्थाऽऽश्रयणीयेति तत्त्वम्॥ ६।४।१७१॥

नाम्नि ॥६।४।१७२॥

त० व०-संख्याया अचिनस्तदस्य मानमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, नाम्नि समुदायेन्नाम भवति। पञ्चेति संख्या मानमेषां पञ्चकाः शकुनयः। त्रिकाः शालङ्कायनाः। सप्तका ब्रह्मवृक्षाः। अष्टका राजर्षयः। योगविभागकरात् संज्ञायां पञ्चैव पञ्चकाः, त्रय एव त्रिका इति स्वार्थे एव वा त्ययो भवति ॥१७२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—नाम्नि। सोऽस्य मानम् संख्याः इति पदानि संबध्यन्ते। तथा च सूत्रार्थमाह—**संख्याया अचिनस्तदस्य मानमित्यर्थे** इत्यादि। नाम्नीति प्रत्ययान्तार्थविशेषणम्। तथा चाह—**समुदायेन्नाम भवतीति**। समुदाय इति, प्रकृति-प्रत्ययमिश्रः प्रत्ययान्त इति यावत्। पञ्चकादिका शकुन्यादीनां संज्ञा।

ननु पूर्वसूत्र एव नाम्नि चेति वक्तव्यं किमिति योगविभागः क्रियतेऽत आह—**योगविभागकरात् संज्ञायां पञ्चैव पञ्चका** इत्यादि। अयमाशयः—आद्यशब्दः संख्याः संख्येये, ततः परा तु संख्याने संख्येये चेति नियमेन पञ्च शकुनय इत्युक्तेऽपि, य एव शकुनयः पञ्चत्वसंख्यायुक्ताः त एव पञ्चशब्दवाच्याः, पञ्चकाः शकुनय इत्यत्रापि त एव पञ्चकशब्दवाच्याः, ततश्च मान-मेयभावाभावात् स्वार्थ एव प्रत्ययो न्याय्यः। एवं च योगैक्ये संघादिषु मानमेयभावप्रतीतेस्तत्र मानार्थ एव प्रत्ययो विधेयः इति नाम्न्यपि तदर्थप्रतीतौ सत्यामेव विधानं स्याद् इति पृथग्योग आरब्धः।

यदि च वृत्तिविषये पञ्चादीनां संख्यामात्रवाचकत्वमाश्रीयते, अत एव च "द्वेयकोर्द्विवचनैकवचने" इत्यादिषु द्वेयकशब्दयोर्द्वित्वैकत्ववाचकत्वमाश्रित्य द्विवचनेन निर्देशः क्रियते; संख्येयार्थत्वे हि द्वेयकेष्विति बहुवचनेन निर्देशः आवश्यकः स्यात् इत्युच्यते तदा तथा मान-मेयभावाश्रयणेऽपि शक्यः प्रत्यय उत्पादयितुमिति पक्षान्तरत्वमाह—**स्वार्थे एव वेति**। वाक्यतोऽस्य पक्षत्वानास्थायाम्। तथा च पूर्वमेव पञ्चसंख्या मानमेयमिति विग्रहे संख्याशब्दोपादानं

"Aho Shrutgyanam"

पञ्चकाः शकुनय इत्यत्र । अन्यथा पञ्चमानमित्येव वदेत् । परमत्र मते (वृत्तिविषये पञ्चादीनां संख्यामात्रवाचकत्वमिति पक्षे) पञ्चसंख्यः संघ इत्यर्थेऽपि पञ्चकः संघ इति प्रयोगः स्यात्, न च स इष्यते, संघादिषु संख्येयपरादेव पञ्चादेः प्रत्ययस्येष्टत्वात् । अनेन प्रत्ययेन हि संघान्तर्गतानां पञ्चसंख्यावत्त्वं प्रतीयते । संख्यावाचिभ्यः प्रत्ययोत्पत्तिस्वीकारे तु पञ्चसंख्या मानमस्येत्यर्थे प्रत्ययविधाने संघस्य पञ्चसंख्यावत्त्वं प्रतीयेत, न च तदिष्टमिति संख्येयपरेभ्यः एव पञ्चादिभ्यः प्रत्ययविधानमुचितमिति नाम्नीत्यनेन स्वार्थ एव प्रत्ययविधानं स्वीकार्यमित्युचितः पन्थाः ॥६।४।१७२॥

विंशत्यादयः ॥६।४।१७३॥

त० ०–**विंशत्यादयः शब्दा नाम्नि विषये तदस्य मानमित्यर्थे साधवो भवन्ति । द्वेर्दशदर्थे विंभावः शतिश्च प्रत्ययः ।**

द्वौ दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य विंशतिः । त्रेर्त्रिभावः शच्च प्रत्ययः । त्रयो दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य त्रिंशत् । चत्वारिंभावः शच्च प्रत्ययः । चत्वारो दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य चत्वारिंशत् । पञ्चन् दशन् शब्दयोर्नान्तयोर्लोपो मानमेषां संख्येयानामन्तमस्य वा संख्यानस्य पञ्चाशत् । षषस्तिः षष्च । षट् दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य षष्टिः । सप्तनस्तिः । सप्त दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य सप्ततिः । ष्टनोऽशी च । अष्टौ दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य अशीतिः । नवनस्तिः । नव दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य नवतिः । दशतः शभावस्तश्च प्रत्ययः । दश दशतो मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य शतम् । दश शतानि मानमेषां संख्येयानामस्य वा संख्यानस्य सहस्रम् । एवं दशसहस्राण्ययुतम् । दशायुतानि नियुतम् । दश नियुतानि प्रयुतम् । दश प्रयुतान्यर्बुदम् । दशार्बुदानि न्यर्बुदम् । बहुवचनाल्लक्ष-कोटि-खर्व-निखर्वादयो भवन्ति । पञ्च पादा मानमस्याः पङ्क्तिश्छन्दः । पिपीलिकापङ्क्तिरित्यादौ पचुग् विस्तारे इत्यस्मात् क्यन्ताद् भवति । यदत्र लक्षणेनानुत्पन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धम् । लिङ्गसंख्यानियमश्च विंशत्याद्या शतादिति सिद्धः ॥१७३॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–विंश० । तदस्य मानमिति पूर्वतः संबद्धम् । तथा च सूत्रार्थमाह–**विंशत्यादयः शब्दा** इत्यादिना । लोके विंशत्यादीनां संख्यायां संख्येये च प्रयोगो दृश्यते, तत्र लौकिकार्थानुगुणं प्रत्ययार्थमाश्रित्य साधुत्वायैषामाख्यानं क्रियत इत्यर्थः । तत्र संख्येयानां मानार्थे प्रत्यये विहिते संख्येयप्रतीतेः, संख्यानस्य मानार्थे प्रत्यये च विहिते संख्याप्रतीतिरित्युभयप्रतीत्यनुगं विग्रहमाह–**द्वौ दशतो मानमेषां संख्येयानां संख्यानस्य वाऽस्येति** । अत्रार्थे दशन्शब्दात् शतेः प्रत्ययः, दशन्शब्दस्य 'विन्' इत्यादेशः विंशतिरिति । दशमानमस्य वर्गस्येत्यर्थे दशन्शब्दः साधिष्यते, "पञ्चदशद्वर्गे वा" [६.४.१७५.] इति सूत्रेण । तथा च नवतिपर्यन्तं सर्वत्र दशन्शब्द एव प्रकृतिः प्रत्ययाश्च तत्र तत्र निरूपिता एव ।

समुदायनिपातने हि नान्तरीयकं प्रकृति-प्रत्ययावयवानां प्रकृतेरादेशविशेषस्य च निपातनमिति तथैव सर्वत्र प्रकृतिप्रत्ययादिकल्पना प्रदर्शिता, अत एव चात्र प्रकरणे विंशत्यादीनां साधुत्वाख्यानमन्यथाऽव्युत्पन्नत्वमेव षां स्वीकृतं स्यात् । विधि-निपातनयोश्चायमेव भेदो यत्, यत्रावयवा निर्दिश्यन्ते समुदायोऽनुमीयते स विधिः, यत्र च समुदायः श्रूयतेऽवयवाश्चानुमीयन्ते तन्निपातनमिति । एतन्नियमानुसारमेव प्रकृति-प्रत्ययौ पृथगुक्ताविह । पङ्क्तिशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह–**पञ्चपादा** इति । अत्र पञ्चपादशब्दस्य पञ्च इत्यादेशः तिः प्रत्ययः । व्युत्पत्त्यर्थेन छन्दसि प्रवृत्तिः, सन्निवेशविशेषे दशसंख्यायां च रूढया प्रयोगः इति पाणिनीयादिमतम् । स्वमते छन्दसि व्युत्पत्तिः सन्निवेशविशेषे चान्यथा व्युत्पत्तिमाह–**पिपीलिका पङ्क्तिरित्यादाविति** ।

तथा च पञ्चवातुः प्रकृतिः क्तिन्प्रत्ययो भावार्थे कर्मणि वा । दशसंख्यायामप्यस्य शब्दस्य प्रयोगो दृश्यते । 'दशरथ'शब्दस्यार्थे 'पङ्क्तिरथ'शब्दस्य प्रयोगः कालिदासेन कृतः । तथाहि–

"Aho Shrutgyanam"

"नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत् कृतवान् पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः॥"
[इति रघुवंशे नवमसर्गे]

मृगयार्थं चरन् दशरथः मुनिपुत्रेण श्रवणेन आपूर्यमाणस्य घटस्य शब्दं श्रुत्वा, तच्च गजशब्दं मत्वा तमुद्दिश्य शब्दवेधी बाणः प्रक्षिप्तः तेनासौ मृतः। तद्विषये एवेदं कविनोक्तम्। अस्याशयः-दशरथो गजशब्दमपि मत्वा यद् बाणं प्रक्षिप्तवान् तत् नृपतेः कृते प्रतिषिद्धमेव, युद्धादन्यत्र गजस्यावध्यत्वं नृपतेरुक्तम्, तथापि च तेन यदिदं कृतम्, तेनेदं सिद्ध्यति राजसा जनाः श्रुतिज्ञानसत्त्वेऽपि अपथे प्रवृत्ताः भवन्तीति। दशार्थेऽत्र पङ्क्तिशब्दस्य प्रयोगः। तथा च कोशेऽपि—

"पङ्क्तिर्दशाक्षरं छन्दो दशसंख्यादिषु। स्त्रियाम्"
[इति मेदिनी]

आदिपदेन सन्निवेशविशेषस्य संग्रहः। अन्येषामपि संख्यावाचिनां लक्षकोट्यादिशब्दानामत्र बहुवचनेन संग्रहः उक्त एव। तदेतत् सर्वं निपातनाश्रयणस्य फलत्वेन संग्रहीतुमाह—**यदत्र लक्षणेनानुत्पन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धमिति**। अलाक्षणिकं कार्यजातं साधयितुमेव हि निपातनमाश्रीयत इति भावः। एषु कस्य शब्दस्यैकवचनान्तत्वं कस्य सर्वविभक्त्यन्तत्वमित्यादि कथं ज्ञेयमित्यत्र विनिगमकमाह—**लिङ्गसंख्यानियमश्चेति**।

'विंशत्याद्याशतात् द्वन्द्वे सा चैक्ये द्वन्द्वमेययोः' [स्त्री० लि० ७] इति लिङ्गानुशासनवचनेनैषां लिङ्गसंख्यादिनियम उक्तः। विवृतं चेदं वचनं स्वोपज्ञवृत्तावित्थम्—**विंशत्याद्या** विंशतिरित्येवमादिका संख्या संख्येये संख्याने च वर्तमाना स्त्रीलिङ्गा। इयं विंशतिर्घटाः, इयं विंशतिर्घटानाम्। विंशत्या घटैः घटानां वा। एवं त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, सप्ततिः, अशीतिः, नवतिः। षष्टेः स्त्रीलिङ्गत्वं शतादीनां पुं-नपुंसकतादि वक्ष्यते। विंशत्याद्येति किम्? एकः, एका, एकम्; द्वौ, द्वे, द्वे; त्रयः, तिस्रः, त्रीणि; चत्वारः, चतस्रः, चत्वारि। गुणवृत्तित्वादाश्रयलिङ्गता। नन्तसंख्यायास्त्वलिङ्गत्वं वक्ष्यते।

आशताद् द्वन्द्वे द्वन्द्वे समासे वर्तमाना विंशत्याद्या संख्या आशताच्छतादर्वाक् नवनवतिपर्यन्ताः स्त्रीलिङ्गाः। द्वन्द्वः समाहारो वचनं प्रयोजयति। इतरेतरयोगे परवल्लिङ्गः-तयैव स्त्रीत्वसिद्धेः। **एकश्च विंशतिश्च इयमेकविंशतिः**। एकविंशत्या। एवं द्वाविंशतिः, यावन्नवनवतिः। आशतादिति किम्? एकश्च शतं च एकशतमित्यादौ द्वन्द्वे कत्वेति [न०लि०९] नपुंसकत्वमेव। द्वन्द्व इति किम्? पञ्चानां विंशतिनां समाहारः इदं पञ्चविंशति। 'अन्यस्य सर्वो नपुंसकः" [स्त्रीलि०५] इति नपुंसकत्वमेव, 'द्वन्द्वे कत्वेति' [न०लि०९] नपुंसकत्वापवादो योगः।

"सा चैक्ये द्वन्द्वमेययोः" सा पुनर्विंशताद्या संख्या द्वन्द्वे समासे मेये संख्येये च वर्तमाना ऐक्ये एकत्व एव प्रयोक्तव्या। द्वन्द्व-इतरेतरयोगो वचनं प्रयोजयति। समाहारे हि सिद्धमेवैक्यम्। एकश्च विंशतिश्च एकविंशतिर्घटाः घटानां वा। एवं द्वाविंशतिः, त्रयोविंशतिः, चतुर्विंशतिः। एकत्रिंशत्, एकचत्वारिंशत्, एकपञ्चाशत्, एकषष्टिः, एकसप्ततिः, एकाशीतिः, एकनवतिः। एकशतम्, द्विशतम्, एकसहस्रम्, द्विसहस्रम्। एकलक्षम्, द्विलक्षमित्यादि। संख्येये खल्वपि विंशतिर्घटाः, विंशत्या घटैः। एवं त्रिंशत्, त्रिंशता, यावन्नवतिः नवत्या। शतं घटाः, शतेन घटैः, एवं सहस्रम्, सहस्रेण। लक्षम्, लक्षेणेत्यादि।

द्वन्द्व-मेययोरिति किम्? द्वे विंशती घटानाम्, तिस्रो विंशतयो गवाम्। विंशत्यादेः संख्यास्थानस्यैव द्वित्व-बहुत्वविवक्षायां द्विवचन-बहुवचने। यद् वामनः—

"विंशत्याद्येकार्था स्त्रियां तु नित्यं नपुंसकेऽदन्ता।
संख्या शतादिरिष्टा द्वित्वाद्यर्थे च संख्यायाम्॥"

सा चेति प्रसिद्धसंख्यापरामर्शात् तत्प्रत्यासत्त्या प्रसिद्धसंख्यारूपद्वन्द्वपरिग्रहः इतीह न भवति। एकश्चैत्राय दीयतां विंशतिर्मैत्रायेत्येकविंशती आभ्यां दीयतामिति द्विवचनमेव भवति। "द्वन्द्वे द्वित्व-बहुत्वयोर्मेये तु बहुत्वस्यापवादो योगः" इति। एवं पातञ्जलमहाभाष्य-कैयटविवरणादिषु विंशत्यादिशब्दविषये बहु विचारितम्। तस्य सारभूतोऽशः प्रकृतोपयोगी संक्षिप्य प्रदर्श्यते—यद्यपि पङ्क्तिविंशति०" [पा०सू० ५.१.५९.] इति सूत्रेण शत्यन्तिदयो तदस्य मानमित्यर्थे निपात्यन्ते। एवं च गवां विंशतिरित्यादौ भेदनिबन्धना षष्ठी न प्राप्नोति। विंशतिशब्देन ता एव गाव उच्यन्ते, न तदधिकं किञ्चिदर्थान्तरमिति भेदानुपपत्तेः। तथापि निपातनस्य सर्वानुपपन्नार्थलाभप्रयोजनकत्वोपगमेन, अत्र विंशत्यादीनां, गुणवाचकशुक्लादिशब्दानां गुण-गुण्युभयपरत्ववत्, संख्या-संख्येयोभयार्थपरत्वेन, यत्र संख्यामात्रपरत्वं तत्र गवां विंशतिरिति षष्ठ्याः प्रयोगः, यत्र च संख्येयपरत्वं तत्र विंशतिर्गाव इति

"Aho Shrutgyanam"

सामानाधिकरण्येन प्रयोगः । न च गवां बहुत्वात् तत्सामानाधिकरण्यस्य विंशतिशब्दस्यापि बहुवचनान्तत्वमुचितमिति वाच्यम्—

"विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येय-संख्ययोः ।"

इति नामलिङ्गानुशासनेन तेषां नित्यैकवचनान्तत्वात् । दृष्टं चान्येषामपि शब्दानां स्वाभाविकं स्वलिङ्गसंख्यानुविधानम्-यथा वेदाः प्रमाणम्, 'पुरुरवो माद्रवसो विश्वेदेवाः' इति । यद्यपि प्रमाणादयः शब्दा विवक्षावशात् विशेष्याधीनां स्वसंख्यां कथयन्ति, तथापि लिङ्गात्यागमात्रेऽत्र तेषां दृष्टान्तत्वम् । एवं च विंशत्यादीनां यदिह साधारणशब्देभ्यो विरुद्धतया प्रतीयते तत् सर्वं शब्दस्वभावाधीनमिति स्वीकार्यम्, नागेशभट्टैश्च कैयटोक्तदिशा भाष्याशयं व्याख्याय, विंशत्यादीनामेकवचनान्तत्वं, द्वयादीनां द्विवचन बहुवचनान्तत्वमिति विचारकाले स्वाभिप्राय इत्थं प्रकाशितः । यदुक्तं कैयटेन विंशत्यादिसंख्यासमुदितद्रव्यसमवायिनी, न तु प्रत्येकं शुक्लादिगुणवत् परिसमाप्तेति द्रव्यगते लिङ्गसंख्ये नानुवर्तते । "पञ्चादयस्तु नित्यं संख्येयवचना इति संख्येयलिङ्गसंख्यानुविधायिनः" इति, अत्र वदन्ति-विंशति आदिशब्दानां द्वयादिशब्दानां च को विशेषः? समुदितद्रव्यसमवायित्वस्योभयत्र तुल्यत्वात्, द्व्येकयोरित्यादौ "द्व्येकयोः०" [पा०सू० १.४.२२.] इत्यादौ तेषामपि (द्वयादीनामपि) संख्यामात्रवचनताया दृष्टत्वाच्च । तस्मादयमत्र भाष्याशयः-विंशत्यादयो द्वयादयश्च शब्दा (धर्म-धर्मिणोः) भेदाभेदौ । विंशत्याद्याः कदाचिद् भेदेन संख्यां वदन्ति, कदाचिदभेदेनेति, गवां विंशतिः, विंशतिर्गाव इति च प्रयोगः । विंशतिप्रचये तु बहुवचनमिष्टमेव, यथा-द्वे विंशती, तिस्रो विंशतय इति । द्वयादयस्तु स्वगतवाच्यसंख्या विशिष्टद्रव्याभेदेन तद्गतसंख्याविशिष्टमेव धर्मं प्रतिपादयन्ति शब्दशक्तिस्वाभाव्यादिति तत्र नैकवचनान्तम् ॥६।४।१७३॥

त्रैंशं चात्वारिंशम् ॥६।४।१७४॥

त० ०- त्रिंशच्चत्वारिंशद् इत्येताभ्यां तदस्य मानमित्यर्थे ञ्य निपात्यते, त्रयाणां चेत् कस्यचिन्नाम भवति । त्रिंशदध्याया मानमेषां त्रैंशानि चात्वारिंशानि कानिचित ब्राह्मणान्येवमुच्यन्ते ॥१७४॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—त्रैंश० । तदस्य मानम्, नाम्नि इत्येतत् सर्वं संबध्यते । तथा च सूत्रार्थमाह-त्रिंशच्चत्वारिंशदित्येताभ्यामिति । एवं चैतदपि सूत्रं निपातनपरमेव । ञ्यि सति आदिस्वरवृद्धौ डित्यादन्त्यस्वरादिलोपे त्रैंशानि, चत्वारिंशानीति ब्राह्मणग्रन्थविशेषाणां नाम ॥६।४।१७४॥

पञ्चद् दशद् वर्गे वा ॥६।४।१७५॥

त० म०-पञ्चद् दशद् इत्येतौ शब्दौ तदस्य मानमित्येतस्मिन् विषये वर्गेऽभिधेये डत्प्रत्ययान्तौ निपात्येते वा । पक्षे को भवति । पञ्च मानमस्य वर्गस्य पञ्चद्वर्गः । पञ्चको वर्गः । दशद्वर्गः । दशको वर्गः ॥१७५॥

श० ० न्यासानुसन्धानम्—पञ्च० । तदस्य मानमिति संबध्यत एव । निपातनाश्रयणादेव रूपसिद्ध्यनुकूलप्रत्ययानुमानं प्रकृत्यनुमानं च । तथा च पञ्चन्शब्दाद् डति अन्त्यस्वरादिलोपे पञ्चदिति । दशन्शब्दाद् डति दशदिति वैकल्पिकं रूपं वर्गेऽभिधेये निपातितं वेत्युक्तेः पक्षे संख्यानिमित्ते "संख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः" [६.४.१३.] इति के पञ्चक इति ॥६।४।१७५॥

स्तोमे डट् ॥६।४।१७६॥

त० प्र०-संख्यावाचिनः प्रथमान्तात् तदस्य मानमित्यस्मिन् विषये स्तोमेऽभिधेये डट् प्रत्ययो भवति । ऋगादीनां समूहः स्तोमः । पञ्चदश ऋचो मानमस्य पञ्चदशः स्तोमः । विंशः। पञ्चविंशः । त्रिंशः । पञ्चदशी पङ्क्तिः । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः । टकारो ङ्यर्थः ॥१७६॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-स्तोमे० । तदस्य मानमिति संबध्यते । "संख्यायाः संघसूत्रपाठे" [६.४.१७१.] इति सूत्रात् संख्याया इति पदमपि धाराप्रवाहेणानुवर्तत एव, निपातनपरेषु सूत्रेषु संख्यावाचिप्रकृतिविशेषाश्रयणात् तधूंत्तौ स्पष्टतयाऽनुक्तमपि अर्थतः संबद्धमेव । अत्र च संख्यावाचिप्रकृतिविशेषानुपादानात् सामान्यतः संख्यावाचिन एव प्रकृतित्वम् । स्तोमशब्दस्य सामान्यतः समूहार्थत्वेऽपि प्रकृतसूत्रे वैदिकसंप्रदायप्रसिद्धस्य स्तोमस्य ग्रहणमित्याह-ऋगादीनां समूहः स्तोम इति । ऋचो यजूंषि सामानि च तत्तद्देदपरिभाषाणां ज्ञापकानि । तत्रामेकार्थसंबद्धः स्तुत्यादेरुपः मन्त्रसमूहः स्तोमशब्देन

"Aho Shrutgyanam"

व्यवह्रियते इत्यर्थः। डित्त्वादन्त्यस्वरादिलोपे पञ्चदश इत्यादि। अनुबन्धफलमाह–**डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थ** इति **टकारो ङ्यर्थ** इति च। यद्यपि स्तोमे इत्युक्तत्वात् स्तोमस्य च पुंल्लिङ्गत्वात् स्त्रियामप्रयोग एव। तथापि पङ्क्तिरूपे स्तोमे पञ्चदशी पङ्क्तिरिति स्त्रीत्वं समुदाद्धृतमिति बोध्यम् ॥६।४।१७६॥

तमर्हति ॥६।४।१७७॥

त० प्र०–तमिति द्वितीयान्तादर्हदर्थे यथाविधि प्रत्ययो भवति। श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः। वैधिकः। वाधिकः। वाध्ययुगिक। भिषेचनिकः। बालीवर्दिकः। चामारिकः। शत्यः, शतिकः। साहस्रः। भोजनमर्हतीत्यादावनभिधानान्न भवति ॥१७७॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—तम०। तमिति द्वितीयान्तोपस्थापकं पदम्। तथा च द्वितीयान्तस्येह समर्थत्वमिति लभ्यते। यथाविधि इत्युक्तत्वात् येभ्यो विशिष्य प्रत्ययो विहितस्तेभ्यः स एव प्रत्ययोऽन्येभ्यः प्रकरणप्राप्त इकणिति विवेकः, इति श्वेतच्छत्रादिभ्य इकण् शतात् येकौ, सहस्रादण् च भवति। प्रकृतिविशेषानुपादानात् सर्वस्मादेव नाम्नः प्रत्ययोऽयं भवतीति लभ्यते, तथा च भोजनमर्हति पानमर्हतीत्याद्यर्थेऽपि इकण् प्राप्नोतीति भौजनिकः, पानिकः इत्याद्यनभिहितप्रयोगाणामतिप्रसङ्गमाशङ्क्याह – **भोजनमर्हतीत्यादि**। अभिहितान्वाख्यानस्यैव शास्त्रेण क्रियमाणत्वादेतादृशेऽर्थे प्रत्ययस्याभिधानशक्तेरदृष्टत्वान्न प्रत्ययोत्पत्तिरिति भावः ॥६।४।१७७॥

दण्डादेर्यः ॥६।४।१७८॥

त० प्र०–दण्डादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्योऽर्हत्यर्थे यः प्रत्ययो भवति। इकणोऽपवादः। दण्डमर्हति दण्ड्यः। मुसल्यः।

दण्ड मुसल मेधा वध मधुपर्क अर्घ मेघ (थ) उदक इभ कशा युग इति दण्डादिः ॥१७८॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—दण्डा०। तमर्हतीति संबध्यते। तथा च सूत्रार्थमाह–**दण्डादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्य** इत्यादिना। इकणोऽपवाद इति। पूर्वसूत्रेण सामान्यतः प्राप्तस्येकणो बाधकोऽयं य इत्यर्थः। दण्डं दण्डेन ताडनमर्हति योग्यतया प्राप्नोतीति **दण्ड्यः**, एवं मुसलं मुसलेन ताडनमर्हतीति यथोपयोगं दण्डादीनां तत्संबद्धक्रियोपलक्षकत्वं ज्ञेयम् ॥६।४।१७८॥

यज्ञादियः ॥६।४।१७९॥

त० प्र०– यज्ञशब्दाद् द्वितीयान्तादर्हत्यर्थे इयः प्रत्ययो भवति। यज्ञमर्हति यज्ञियो देशः। यज्ञियो यजमानः। यज्ञो नाम क्रियासमुदायः कश्चित् तदभिव्यङ्ग्यं वापूर्वं इत्याहुः ॥१७९॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्–यज्ञा०। तमर्हतीति संबध्यते। यज्ञमर्हतीति, यज्ञशब्दोऽत्रापि यज्ञक्रियानुष्ठानपरः, तत्र यज्ञक्रियानुष्ठानाधिकरणतार्हे याज्ञियो देश इति प्रयोगः, तत्क्रियानुष्ठानयोग्ये कर्तरि यज्ञियो यजमान इति प्रयोगः, क्रियासमुदायरूपत्वे यज्ञस्य। अपूर्वरूपत्वे च **यज्ञियो देश** इति न प्रयोगस्तस्यापूर्वेण संबन्धायोगात्। तथा चार्थद्वयपरत्वमाश्रित्यैवोदाहरणद्वयम्, यज्ञियो देश इति क्रियासमुदायपरत्वे, यज्ञियो यजमान इत्यपूर्वपरत्वे इति विवेकः। तदर्थमेव यज्ञपदार्थं द्विवाह–**यज्ञो नाम क्रियासमुदाय** इत्यादिना। यज्ञो याग इत्यादयः पर्यायशब्दाः "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः स्मृतः" इत्यमरकोशात्।

यद्यपि यजनं यज्ञः, यजन्त्यनेनेति यज्ञः, यजन्त्यत्र वेति विग्रहेषु यज्ञशब्दो व्युत्पाद्यते, एवं च देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः, तदुद्देशेन द्रव्यत्यागसाधनम्, तदुद्देशेन द्रव्यत्यागाधिकरणं वा यज्ञशब्दार्थो लभ्यते, तथापि, देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागविषयकक्रियासमुदाय एव तस्य रूढिः संकल्पावधिपूर्णाहुतिपर्यन्तं क्रियासमुदाये प्रवर्तमाने यज्ञः प्रवर्तते इति प्रयोगदर्शनात्। तत्र यज्ञानां स्वर्गादिसुखप्राप्तिसाधनत्वं तत्र तत्र शास्त्रेषु वर्णितम्। परन्तु आशुतरविनाशिनां कर्मणां कालान्तरभावि स्वर्गादिसुखरूपफलसाधनत्वमनुपपन्नमिति 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यविहितकर्मणां तत्तत्फलसाधनत्वेऽवगते आशुतरविनाशिनां यागादिकर्मणां कालान्तरभाविफलसाधनत्वोपपत्तयेऽन्तरा पुण्यरूपमपूर्वं कल्प्यते। तदाह–"चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना" इति। अतिशयः अपूर्वम्, अदृष्टमित्यादयः पर्यायाः।

अयमाशयः–क्रियासमुदायरूपो यज्ञो ध्वंसतां नाम, तज्जन्यमपूर्वमाफलोदयं तिष्ठति, तदेव च स्वर्गादि साधनम्। तथा च यज्ञादेरपूर्वद्वारा क्रि...साधनत्वं न साक्षात्। केचित्

"Aho Shrutgyanam"

तु तादृशमपूर्वमेव यशशब्दवाच्यं न क्रियासमुदाय इत्याहुस्तन्मतेनोक्तं तदभिव्यङ्ग्यं वाऽपूर्वमिति। तदिति पदं क्रियासमुदायपरम्, तेनाभिव्यङ्ग्यं स्वजन्यत्वेनुमापितम् 'अपूर्वम्' अपूर्वशब्दवाच्यं पुण्यम्, आत्मनि यशस्कर्तरि आश्लोदयं समवायेन वर्तमानमेव यशपदार्थ इत्यर्थः ॥६।४।१७९॥

पात्रात् तौ ॥६।४।१८०॥

त० प्र०-पात्रशब्दाद् द्वितीयान्तादर्हत्यर्थे तौ य इय इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। पात्रमर्हति पाञ्यः। पात्रियः ॥१८०॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-पात्रात्०। तमर्हतीति संबध्यते, तथा च सूत्रार्थमाह-पात्रशब्दाद् द्वितीयान्ताद् इत्यादिना। पात्रमर्हतीत्यस्य स्वोपयोगयोग्यजलादिपात्रं व्यवहर्तुमर्हतीत्यर्थः। ये किल पात्राद् बहिष्कृताः, अस्पृश्यत्वेन व्यवहृताः ते न पात्रार्हाः, तत्संसर्गेण पात्रेष्वव्यवहार्यत्वदोषापातस्य पूर्वायातमर्यादया प्राप्तत्वश्रवणात्। तदतिरिक्ता एव पात्रार्हाः इति तत्रैवायं प्रयोगः ॥६।४।१८०॥

दक्षिणा-कडङ्गर-स्थालीबिलादीययौ ॥६।४।१८१॥

त० प्र०-दक्षिणा कडङ्गर स्थालीबिल इत्येतेभ्यो द्वितीयान्तेभ्योऽर्हत्यर्थे इय य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। दक्षिणामर्हति दक्षिणीयो दक्षिण्यो गुरुः। कडङ्गरीयो कडङ्गर्यो गौः। कडङ्गरं माषादिकाष्ठम्। स्थालीबिलीयाः। स्थालीबिल्यास्तण्डुलाः पाकार्हा इत्यर्थः॥१८१॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्-दक्षिणा०। तमर्हतीति संबध्यते। दक्षिणाशब्दः कृतस्य कर्मणः प्रतिष्ठार्थं वितीर्यमाणे (दीयमाने) द्रव्ये रूढ एव। स्वयं चाचार्येण ऋत्विगादेः पारिश्रमिकरूपेण दीयमाने द्रव्ये तस्य शक्तिः पूर्वमुक्ता। कडङ्गरशब्दस्याप्रसिद्धत्वादाह - कडङ्गरं माषादिकाष्ठम् इति। माषादिद्विदलान्नानामन्नांशो पृथक्कृते शिष्यमाणं तदीयलतादिकाष्ठं कडङ्गरमिति तदर्थः। पत्रांशस्तु चूर्णीभूत इव पृथग् भवति, ततोऽवशिष्टः कठिनोंऽश इति यावत्। स्थाली रन्धनपात्रम्, तस्याविलमन्तःप्रदेशः। दक्षिणामर्हतीत्यस्य दक्षिणादानयोग्य इत्यर्थः। कडङ्गरमर्हतीत्यस्य कडङ्गरभक्षणयोग्य इत्यर्थः। स्थालीविलमर्हतीत्यस्य च पाकायोपयुक्ताः, न तत्र संस्कारान्तरस्यापेक्षेति भावः, तदाह-पाकार्हा इत्यर्थः। सर्वथा संस्कृतत्वे स्थालीविलप्रक्षेपयोग्या इति प्रतीतेः ॥६।४।१८१॥

छेदादेर्नित्यम् ॥६।४।१८२॥

त० प्र०-नित्यमित्यर्हतीत्यस्य विशेषणम्। छेदादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो नित्यमर्हत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। छेदं नित्यमर्हति छैदिकः। भैदिकः ॥

छेद भेद द्रोह दोह नर्त गोनर्त कर्ष विकर्ष प्रकर्ष विप्रकर्ष प्रयोग विप्रयोग संप्रयोग प्रेक्षण संप्रश्न विप्रश्न इति छेदादिः ॥१८२॥

श० म० न्यासानुसन्धानम्—छेदा०। तमर्हतीति संबध्यते। नित्यमिति पदं सूत्रे पठ्यते। शाश्वतस्तु "ध्रुवो नित्यः सदातन-सनातनाः" इत्यमरकोशेन, "नित्यं स्यात् संततेऽपि च" इति मेदिनीकोशेन च, सदातनत्वं संततत्वं (पौनःपुन्यं) च नित्यशब्दार्थः। तत्र सदातनार्थस्य नित्यशब्दस्येह केनापि संबन्धो न घटते। तथाह्यत्र त्रयः सन्निहिताः संबन्धयोग्याः, प्रकृतिः, प्रत्ययः, प्रत्ययार्थश्च। तत्र प्रकृतेर्विशेषणत्वं संभवति भिन्नभिन्नविभक्तिकत्वात्। प्रत्ययविशेषणभूतेनापि तेन न प्रयोजनम्। तथाहि नित्यग्रहणं प्रत्ययान्तरप्रवृत्तिवारणार्थमपि न संभवति, तस्याप्राप्तत्वात्। नापि प्रत्ययार्थविशेषणं तत् संभवति नित्यं छेदमर्हतीत्यस्यार्थस्यासंभवात्। न हि कश्चित् पदार्थः सदा छेदमर्हति। योऽपि वेतसादिः पदार्थश्छिन्नश्छिन्नः प्ररोहति, सोऽपि न सदा छेदमर्हति, कस्यचित् कालस्य व्यवधानेन छेदप्रयोगादेव पुनस्तस्य कार्ययोग्यत्वम्, अतो नित्यग्रहणानर्थक्यं स्यादिति पौनःपुन्यार्थकस्य नित्यशब्दस्येह ग्रहणं, तस्य च प्रत्ययार्थविशेषणत्वं घटत इत्याशयवानाह- नित्यमर्हतीत्यस्य विशेषणमिति। तथा च पौनःपुन्येन छेदमर्हतीत्येवंरूपेण प्रत्ययार्थः पर्यवस्यतीति न दोषः। छेदमर्हति छैदिकः, एवं भेदमर्हति भैदिक इत्यपि ॥६।४।१८२॥

विरागाद् विरङ्गश्च ॥६।४।१८३॥

त० प्र०-विरागशब्दाद् द्वितीयान्तान्नित्यमर्हत्यर्थे यथाविधि प्रत्ययः, तत्संनियोगे च विरागशब्दस्य विरङ्गादेशो भवति। नित्यं विरागमर्हति वैरङ्गिकः ॥१८३॥

"Aho Shrutgyanam"

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—विरागाद्०। तमर्हतीति संबध्यते। विरागोऽप्रीतता, तमर्हतीत्यस्य अप्रीतियोग्यतां भजते इत्यर्थः। **वैरङ्गिक** इत्यस्य सहेतुकाप्रीतिमानित्यर्थः ॥६।४।१८३॥

शीर्षच्छेदाद् यो वा ॥६।४।१८४॥

त० प्र०-शीर्षच्छेदाद् द्वितीयान्तान्नित्यमर्हत्यर्थे यः प्रत्ययो वा भवति। पक्षे इकण् शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्यः चौरः। शैर्षच्छेदिकः ॥१८४॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—शीर्ष०। तमर्हतीत्यर्थे शीर्षच्छेदशब्दाद् यः, याभावपक्षे च औत्सर्गिक इकण्। नित्यमित्यस्यापि संबन्ध इष्ट एवेति, तदनुसारं विग्रहमाह-**शीर्षच्छेदं नित्यमर्हतीति।** यद्यपि एकवारमेव शीर्षच्छेदे सति शिरसः प्ररोहाभावान्नित्यं पौनःपुन्येन शीर्षच्छेदासंभवः, तथाऽप्यपराधगुरुत्वनिबन्धनमेकैकस्यापराधस्य कृते शीर्षच्छेददण्डस्यौचित्येन पुनः पुनरपराधे पौनःपुन्येन तद्योग्यताया अक्षतत्वमेव। योग्यतानिबन्धनैव प्रत्ययप्रवृत्तिर्न तु फलोपधायकतानिबन्धनेति न दोषः ॥६।४।१८४॥

शालीन-कौपीनार्त्विजीनम् ॥६।४।१८५॥

त० प्र०-शालीन कौपीन आर्त्विजीन इत्येते शब्दास्तमर्हत्यर्थे ईनञ्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। नित्यमिति निवृत्तम्। निपातनस्येष्टविषयत्वात्। शालीन इति शालाप्रवेशनशब्दादीनञ् उत्तरपदस्य च लुक्। शालाप्रवेशनमर्हति शालीनः अकारस्य वृद्धिनिमित्तत्वात् पुंवद्भावो न भवति। शालीनाभार्यः। शालीनशब्दोऽधृष्टपर्यायः। कौपीन इति कूपप्रवेशनमर्हति कौपीनः। कौपीनशब्दः पापकर्मणि गोपनीयपायूपस्थे तदावरणे च चीवरखण्डे वर्तते। आर्त्विजीन इति ऋत्विज्शब्दात् ऋत्विक्कर्मशब्दाद् वा ईनञ्प्रत्ययः कर्मशब्दलोपश्च निपात्यते। ऋत्विजमर्हत्यार्त्विजीनो यजमानः। ऋत्विक्कर्माऽर्हति आर्त्विजीनः ऋत्विगेव ॥६।४॥ ॥१८५॥

शा० म० न्यासानुसन्धानम्—शालीन०। तमर्हतीत्यर्थे प्रकृतप्रयोगाणां निपातनपरं सूत्रम्। तत्र कुत्र वा का प्रकृतिः किं निपात्यमिति स्वयमेव वक्ष्यति। पूर्वत्र नित्यमिति प्रत्ययार्थविशेषणत्वेनोक्तमनुवर्तमानमासीत् तस्येह सूत्रार्थे समावेशः कुतो न दृश्यत इत्याशङ्कायामाह-**नित्यमिति निवृत्तमिति।** तत्र **हेतुमाह-निपातनस्येष्टविषयत्वादिति।** निपातनं हीष्टेऽर्थे तत्प्रयोगो यथा स्यादिति-न च शालिनादिप्रयोगे नित्यार्थप्रतीतिरिष्टेति न तस्य संबन्ध इति भावः। यद्यपि च शालीनादिशब्देषु न प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थयोः सम्यक्प्रतीतिः, तथापि प्रकृति-प्रत्ययानुशासनप्रकरणपठितत्वादर्थानुकूलां प्रकृति-प्रत्ययादिकल्पनामाह-**शालाप्रवेशनशब्दादित्यादिना।** शालाऽत्रान्तःपुरम्, गृहान्तःप्रदेशो वा अधृष्टत्वादन्तःपुरेऽपि स्थातुं योग्य इति, अप्रगल्भत्वाद् गृहे प्रविश्यैव स्थातुं योग्यो न तु सभादिषु गोष्ठीषु वा स्थितियोग्य इति वाऽर्थः। शालाशब्दस्य वृद्ध्यादित्वादेतद्विषये प्रत्यये ञित्वं व्यर्थमित्याशङ्कामपनेतुमाह-**अकारस्य वृद्धिनिमित्तत्वादिति।** शालीना भार्या यस्येत्यर्थे बहुव्रीहौ पूर्वपदस्य पुंवद्भावो न भवति। तथा च वृद्धेः स्वतः सत्त्वेऽपि *पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या* पुनर्वृद्धिर्भवतीति तस्य (अकारस्य) वृद्धिनिमित्तत्वं भवति। तथा च "तद्धितः स्वरवृद्धि०" [३.२.५५.] इति सूत्रेण पुंवत्वं प्रतिषिध्यते। शालीनशब्दस्य रूढ्यर्थमाह-**शालीनशब्दोऽधृष्टपर्यायश्च** इति। "स्यादधृष्टस्तु शालीनः" इत्यमरकोशादिति भावः।

"कौपीनं स्यादकार्येऽपि चीर-गुह्यप्रदेशयोः।"

इति विश्वकोशानुसारं कौपीनशब्दस्यार्थत्रये प्रसिद्धत्वात् तदनुसारं विग्रहमाह-**कूपप्रवेशनमर्हतीति।** यदकार्यं तद् गोपनीयत्वाद् दृष्टिविषयदूरे गमनमर्हतीति तात्पर्यम्-अकार्ययोग्यत्वात् पुरुषलिङ्गं स्त्रीलिङ्गं च कौपीनमुच्यते। आच्छादनीयत्वाच्च पायुरपि कौपीनमेव। तदाच्छादनत्वात् तत्संबद्धत्वाच्च वस्त्रखण्डमपि कौपीनमित्याशयवानाह-**कौपीनशब्दः पापकर्मणीत्यादि।** पायुर्गुदम्, उपस्थः पुं-स्त्रीलिङ्गे।

"उपस्थः शेफसि क्रोडे तथा मदनमन्दिरे" इति विश्व-मेदिनीकोशाभ्याम्। पायुश्चोपस्थं च पायूपस्थं, गोपनीयं तत्, तस्मिन्निति विग्रहः। आर्त्विजीनशब्दस्य

इत्याचार्य श्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ षष्ठस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः

"Aho Shrutgyanam"

ऋत्विजि यजमाने च प्रयुक्तत्वात् तदनुरूपं विग्रहमाह- **ऋत्विजमर्हति, ऋत्विक्कर्माऽर्हतीति**। पूर्वत्र यजमानः प्रत्ययान्तार्थः, परत्र ऋत्विक्। अत्र सर्वत्र प्रवेशनकर्मादिशब्दानां निपातनादेव लोपः स्वीकार्य इति शम्॥ ६।४।१८५॥

इत्याचार्यश्रीविजयलावण्यसूरिसंगृहीते शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धाने षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः संपूर्णः॥ संपूर्णश्चायमध्यायोऽपि॥

भूमिं कामगवि स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा मुक्ता स्वस्तिकमातनुध्वमुडुप! त्वं पूर्णकुम्भीभव। धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणान्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः॥

स्वप्रवर्तकसिद्धराजनृपस्य विजयमभिनन्दयति-भूमिं कामगवि इति। 'हे कामगवि! स्वगोमयरसैः भूमिम् आसिञ्च, हे रत्नाकराः! मुक्तास्वस्तिकम् आतनुध्वम्, हे उडुप! त्वं पूर्णकुम्भीभव, हे दिग्वारणाः! कल्पतरोः दलानि सरलैः स्वकरैः धृत्वा तोरणानि आधत्त, ननु जगतीं विजित्य सिद्धाधिपः एति' इत्यन्वयः। विजयाभिनन्दनाय तद्योग्यं क्रियाकलापं दिव्यैरेव संभारैः कर्तुं कामधेन्वादीनादिशति- हे **कामगवि**!- कामधेनो! **स्वगोमयरसैः** स्वकीयभुक्तविकारभूतवस्तुद्रवैः भूमिं सिद्धनृपागमनमार्गम् **आसिञ्च** आर्द्रीकुरु, येन रजःसमुत्पत्तिर्न भवेदिति भावः। दृष्टं हि शुभावसरे गोमयोपलेपनेन भूमिसम्मार्जनम्। हे **रत्नाकराः**!-समुद्राः (स्वमौक्तिकैः) **मुक्तास्वस्तिकं** मुक्ताभिर्निर्मितं स्वस्तिकाकारम् **आतनुध्वं**, सर्वत्र तद्दृष्टिपातयोग्यस्थाने विस्तारयध्वम्। स्वस्तिकचिह्नस्यापि शुभावसरे क्रियमाणत्वाचारात्। हे **उडुप**!-चन्द्र! **त्वं पूर्णकुम्भीभव** पूर्णकुम्भस्थाने तिष्ठ, एतमवसरे नगरादिद्वारेषु पूर्णकुम्भस्थापनस्य व्यवहारसिद्धत्वाद् अमृतपूरितस्त्वमेव तत्स्थाने तिष्ठेति भावः। हे **दिग्वारणाः**!-दिक्षु स्थिताः महागजाः! **कल्पतरोः** सुरपादपस्य **दलानि** पत्राणि सरलैः ऋजुभिः **स्वकरैः** स्वशुण्डादण्डैः धृत्वा अवलम्ब्य **तोरणानि** पत्रमालाः **आधत्त**-विरचयत। कुत इति चेत्? यतः **सिद्धाधिपः** सिद्धराजो नृपतिः, **जगतीं** पृथ्वीं, **विजित्य** स्वाधीनां कृत्वा-**एति** आगच्छति। ननु इति कोमलालापसूचकम्॥ १॥

इति षष्ठोऽध्यायः

"Aho Shrutgyanam"